रमेश चंद्र दत्त लिखित

प्राचीन भारत की
सभ्यता का इतिहास

HISTORY OF CIVILISATION IN
ANCIENT INDIA

का सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

श्री गोपाल दास एवं कमलाकर तिवारी

प्रकाशक

इतिहास प्रकाशन संस्थान

४९२ मालवीय नगर

इलाहाबाद

प्रथम परिवर्द्धित संस्करण] मार्च १९६३ [मूल्य १५.००

ग्रन्थकार की भूमिका

प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि "यदि मुझसे पूँछा जाय कि उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य जाति के प्राचीन इतिहास के विषय में सबसे अधिक आवश्यक कौन सी बात विदित हुई है तो इसका उत्तर मैं नीचे लिखी हुई पंक्ति में दूंगा।

"संस्कृत, द्यौश पितर=युनानो, जिउस पेट=लेटिन, जुपिटर=ओल्ड नोर्स, टिर"

और वास्तव में योरप के विद्वानों ने पिछले सौ वर्षों के भीतर प्राचीन आर्य भाषा से, जो कि अब तक भारतवर्ष में रक्षित है, जिन बातों का पता लगाया है वे मानवी विद्या की उन्नति के इतिहास में अत्यन्त सुन्दर अध्याय हैं।

मेरा अभिप्राय यहाँ पर उस इतिहास को वर्णन करने का नहीं है। परन्तु थोड़ी सी बातें जो कि भारतवर्ष के पुरातत्व से सम्बन्ध रखती हैं, उनका उल्लेख यहाँ पर मनोरंजक होगा।

इस बात को लगभग एक सौ वर्ष हुए कि सर विलियम जोन्स ने शकुन्तला का अनुवाद करके योरप के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। यह शकुन्तला जैसा कि उन्होंने अपनी भूमिका में कहा है "एशिया के साहित्य में एक बड़ी भारी अद्‌भुत वस्तुओं में से है जो कि अब तक प्रगट की गई हैं और वह मनुष्य की कल्पना शक्ति की उन रचनाओं में सबसे कोमल और सुन्दर है जो कि किसी युग या किसी देश में कभी की गई हों।

योरप के विद्वानों का ध्यान संस्कृत के साहित्य के माहात्म्य और उत्तमता की ओर आकर्षित हुआ और आज कल के सबसे बड़े ग्रन्थकर्ता ने इस हिन्दू नाटक के सम्बन्ध में अपनी सम्मति निम्नलिखित पंक्तियों में दी है जो कि इतनी अधिकता से उद्धृत की जाती हैं।

"Wouldst thou the life's young blossoms and the fruits of its decline,

And by whieh the soul is pleased, enraptured, feasted, fed,—

Wouldst thou the earth and heaven itselfn one sweet name combine ?

I name thee, O Sakuntala, and all at once is said.'—Coethe

सर विलियम जोन्स साहब ने मनु का अनुवाद किया, उन्होंने एशियाटिक सोसायटी को स्थापित किया और संस्कृत साहित्य के भण्डार की खोज करके उसमें से अमूल्य बातों का पता लगाया। परन्तु वे जो भारतवर्ष के "प्राचीन इतिहास को कि जिसमें कल्पित कथा का कुछ भी मेल न हो" ढूंढते थे, उसकी कुंजी न पा सके। इसका कारण यह है कि उन्होंने केवल पीछे के समय के, अर्थात् बुद्ध के समय के बाद के संस्कृत ग्रन्थों ही में परिश्रम किया और इसके पहले के ग्रन्थों पर ध्यान नहीं दिया जिनमें कि खजाना भरा हुआ है।

कोलब्रूक साहब ने भी सर विलियम जोन्स के ही ढंग पर काम किया। वे गणित के विद्वान थे और योरप में संस्कृतके सबसे बड़े दक्ष और अप्रमत्त पण्डित थे। प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों में कोई बात ऐसी नहीं थी जो कि उनसे छिपी हो। उन्होंने हिन्दू वेदान्त कबड़ा अच्छा और सच्चा वृत्तान्त लिखा, हिन्दू बीजगणित और गणित पर पुस्तकें लिखीं और सन् १८०५ में उन्होंने पहले-पहल योरप वासियों को आर्य जाति के सबसे प्राचीन ग्रन्थ अर्थात् वेदों से परिचित किया। परन्तु कोलब्रूक साहब यह न जान सके कि उन्होंने कितनी अनमोल वस्तु प्राप्त की है। उन्होंने कहा है कि वेदों के पढ़ने से "अनुवादकर्ता के श्रम का फल तो दूर रहा पर पाठकों को भी उनके श्रम का फल कठिनता से मिलेगा।"

डाक्टर एच० एच० विल्सन साहब ने कोलब्रूक का अनुकरण किया। यद्यपि उन्होंने ऋग्वेद संहिता का अंगरेजी में अनुवाद किया है परन्तु वे अधिकतर पीछे के समय के संस्कृत साहित्य ही में अपना समय लगाते थे। उन्होंने संस्कृत के उत्तमोत्तम नाटकों तथा कालिदास के सुन्दर काव्य 'मेघदूत' का ललित अंगरेजी में अनुवाद किया। उन्होंने विष्णु पुराण का भी अनुवाद किया और हिन्दुओं के उत्तर काल के इतिहास को ठीक करने का यत्न किया एवं बहुत सी बातों का सन्तोष दायक रीति से निर्णय भी किया।

इसी समय में फ्रान्स में एक बड़े विद्वान हुए। उनसे बढ़कर पूर्व देशीय

विषयों के विद्वानों में और कोई नहीं हुआ। उनका नाम बर्नफ साहब है। उन्होंने ज़न्द और वैदिक संस्कृत के परस्पर सम्बन्ध का पता लगाया और अपने लिये एक तारतम्यात्मक व्याकरण बनाया। जर्मनी के विद्वानों ने इनके बाद तारतम्यात्मक व्याकरण बनाए हैं। इस प्रकार उन्होंने जन्द भाषा और लेखों को पढ़कर स्पष्ट किया। ऋग्वेद की व्याख्या की और यह दिखलाया कि आर्य जाति के इतिहास में उसकी क्या स्थिति है। उन्होंने सीरिया के शङ्कु रूपी लेखों को पढ़ कर स्पष्ट किया और इस प्रकार से वे योरप में अपना चिरस्मरणीय नाम छोड़ गए। फिर उन्होंने अपनी "बुधिज़्म" नामक पुस्तक की भूमिका में पहले पहल इस बड़े धर्म का दार्शनिक और स्पष्ट वर्णन दिया है। उनकी शिक्षा ने योरप में लगभग २५ वर्षों तक (१८२५-१८५२) बड़ा आन्दोलन उत्पन्न किया और पेरिस नगर के अनुरागी और उत्साही शिष्यों पर इसका बड़ा असर पड़ा। इनमें से राथ साहब और मेक्समूलर साहब की तरह कुछ लोग हमलोगों के समय में वेदों के बड़े पण्डित हुए हैं।

इसी बीच में जर्मनी के विद्वानों ने भी परिश्रम करना आरम्भ किया और जब उन्होंने इस विषय में कार्यारम्भ किया तो शीघ्र ही भारतवर्ष के पुरातत्व की खोज करने वालों में वे सबसे बढ़ गए। रोजन साहब ने, जो कि राजा राममोहन राय के समकालीन थे ऋग्वेद के पहले अष्टक को लेटिन भाषा में अनुवाद सहित प्रकाशित किया था परन्तु उनकी अकाल मृत्यु ने इस कार्य को रोक दिया।

परन्तु उस समय के प्रसिद्ध विद्वानों ने इससे भी अधिक कार्य करना आरम्भ किया और वाप, ग्रिम और हमबोल्ट ऐसे-ऐसे विद्वानों की बुद्धि और उनके दृढ़ परिश्रम से शीघ्र ही ऐसा फल प्राप्त हुआ कि जो उस शताब्दी की नवीन आविष्कृत बातों में सबसे प्रथम श्रेणी में गिने जाने योग्य हैं, उन लोगों ने सारे इण्डो--आर्यन भाषाओं अर्थात् संस्कृत, जन्द, ग्रीक, लेटिन, स्लेव, ट्यूटन, और केल्टिक भाषाओं में परस्पर सम्बन्ध का पता लगाया। उन्होंने यह स्थिर किया कि ये सब भाषाएँ किसी एक ही भाषा से निकली हैं और उन्होंने उन नियमों का पता लगा लिया जिनसे कि एक भाषा से दूसरी भाषा में जाते हुए शब्द का रूप बदल गया है। उस समय के साहित्य के विद्वान जिनका कि यह मत था कि सब उन्नति और सभ्यता का प्रारम्भ ग्रीक और लेटिन से हुआ है, पहले-पहल इस सिद्धान्त पर हँसते थे परन्तु फिर वे लोग आश्चर्यित हुये और अन्त में उन्हें सत्य के आगे क्रोध और दुःख के साथ हार माननी पड़ी।

इस प्रकार विद्वान लोग जैसे-जैसे संस्कृत की पूरी-पूरी कदर को जानने लगे

वैसे ही वैसे उनमें प्राचीन हिन्दू साहित्य और इतिहास की व्याख्या करने की रुचि बढ़ती गई। अतएव उस शताब्दी के बड़े भारी पंडित राथ साहब ने यास्क को अपनी बहुमूल्य टिप्पणी के साथ सम्पादित किया। इसके पीछे उन्होंने व्हिटनी साहब के साथ अथर्ववेद को सम्पादित किया और बॉहलिक साहब के साथ संस्कृत भाषा का एक सर्वोत्तम और पूर्ण कोष तैयार किया। इसके पश्चात लेसन साहब ने अपना वृहद् ग्रन्थ Indische Alterthumskunde प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने ऐसी विद्वता और योग्यता दिखलाई है कि जिसकी समता बहुत कम लोग कर सके हैं। वेबर साहब ने शुक्ल यजुर्वेद और उसके ब्राह्मणों और सूत्रों को प्रकाशित किया, अपने Indische Studien में बहुत से संदिग्ध विषयों की व्याख्या की और अपने हिन्दू साहित्य इतिहास में प्रथम बार संस्कृत साहित्य का स्पष्ट और पूर्ण वृत्तान्त प्रकाशित किया। बेनफी साहब ने सामवेद के एक बहुमूल्य संस्करण को प्रकाशित किया, जिसका अनुवाद सहित एक संस्करण स्टिवेन्सन और बिल्सन साहब पहले निकाल चुके थे। म्योर साहब ने संस्कृत साहित्य में से अत्यन्त व्यंजक और ऐतिहासिक पाठों का एक संग्रह पांच भागों में प्रकाशित किया जो कि उनके परिश्रम और विद्या का अब तक चिन्ह है। अन्त में प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने समस्त प्राचीन संस्कृत साहित्य को समय के क्रम से सन् १८५९ में ठीक किया।

परन्तु इस वृहद् ग्रन्थ से कहीं बढ़ कर अमूल्य—विद्वान प्रोफेसर मेक्समूलर साहब के भाषा, धर्म और देवताओं के सम्बन्ध की असंख्य पुस्तकों और लेखों से हिंदुओं के लिए ऋग्वेद संहिता का संस्करण है जिसे कि उन्होंने सायन की टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया है। इस पुस्तक का भारतवर्ष में कृतज्ञता और हर्ष के साथ आदर किया गया। यह वृहद् और प्राचीन ग्रन्थ जो कि गिनती के कुछ विद्वानों को छोड़ कर और लोगों के लिए सात तालों के भीतर बन्द था उसका मार्ग अब हिन्दू विद्यार्थियों के लिए खुल गया और उसने उन लोगों के हृदय में भूत काल का इतिहास जानने को, अपने प्राचीन इतिहास और प्राचीन धर्म को जानने की अभिलाषा उत्पन्न कर दी।

भारतवर्ष में जोन्स, कोलब्रूक और बिल्सन साहब के उत्तराधिकारी योग्य हुये परन्तु उनमें से सर जेम्स प्रिन्सेप साहब सब से बढ़ कर हुए। भारतवर्ष में स्तूपों और चट्टानों पर अशोक के जो लेख खुदे हुये हैं वे लगभग १००० वर्ष तक लोगों की समझ में नहीं आए और सर विलियम जोंन्स साहब तथा उनके उत्तराधिकारी लोग भी उनका पता नहीं लगा सके। जेम्स प्रिन्सेप साहब ने जो कि उस समय एशियाटिक सोसाइटी के मंत्री थे, इन शिलालेखों को पढ़ा और इस प्रकार से बौद्ध पुरात

और प्राचीन बौद्ध इतिहास प्रगट किया गया। यह प्रिन्सेप साहब ही थे कि जिन्हों प्राचीन समय के बौद्ध राजाओं के सिक्कों से जो कि सारे पश्चिमी भारतवर्ष में पाये जाते हैं बहुत सी बातों का अत्यन्त पांडित्य के साथ वर्णन किया। उनके पीछे बहुत से योग्य विद्वानों ने इस कार्य को किया। डाक्टर हांग साहब ने ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद किया और पार्सियों का इतिहास प्रगट किया। डाक्टर बर्नेल साहब ने दक्षिणी भारतवर्ष की प्राचीन लिपि के विषय में लिखा। डाक्टर बुहलर साहब ने प्राचीन धर्मशास्त्र के विषय में बड़ी योग्यता से लिखा है और गत वर्ष में डाक्टर थीबों साहब ने प्राचीन हिन्दू रेखागणित को प्रकाशित किया है।

हमारे स्वदेशियों में से दो बड़े सुधारकों अर्थात् राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन संस्कृत साहित्य की ओर ध्यान दिया। राजा राममोहन राय ने तो कई उपनिषदों का अंगरेजी में अनुवाद किया और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद संहिता का हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित किया। सर राजा राधाकान्त देव ने संस्कृत विद्या पर विशेष ध्यान दिया और उन्होंने एक बहुत ही उत्तम और पूर्ण कोष 'शब्दकल्पद्रुम' के नाम से प्रकाशित किया। डाक्टर भाऊदाजी और प्रोफेसर भंडारकर, डाक्टर के० एम० बेनर्जी और डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने भी पुरातत्व के सम्बन्ध में अच्छा काम किया है। मेरे योग्य मित्र पंडित सत्यव्रत समक्षमी ने सायन की व्याख्या के सहित सामवेद का एक अच्छा संस्करण प्रकाशित किया है। उन्होंने महीधर की व्याख्या के सहित शुक्ल यजुर्वेद को भी सम्पादित किया है और अब वे यास्क के निरुक्त का एक विद्वतापूर्ण संस्करण निकाल रहे हैं। अन्त में, मेरे विद्वान मित्र, मिस्टर आनन्दराम बरुआ ने जो कि बंगाल सिविल सर्विस में थे एक छोटा और बहुत उत्तम अंगरेजी—संस्कृत का कोष प्रकाशित किया हैं और वे संस्कृत का बहुत भारी और विद्वतापूर्ण एक व्याकरण बना रहे हैं।

जेनरल कनिंघम साहब ने, पुरातत्व तथा भारतवर्ष के प्राचीन भूगोल के सम्बन्ध में जो कुछ परिश्रम किया है वह बहुमूल्य है। इसी प्रकार बरगेस और फर्गुसन साहब ने भारतवर्ष की घर बनाने की विद्या पर लिखा है। इस विषय में फर्गुसन साहब के ग्रन्थ प्रामाणिक माने जाते हैं।

योरप में डाक्टर फाँसबोल साहब पाली भाषा के अध्ययन की जड़ डालने वाले कहे जा सकते हैं। उन्होंने सन् १८५५ में धर्मपद को सम्पादित किया था और उसके उपरान्त जातक की कथाओं को प्रकाशित किया है। डाक्टर ओडनवर्ग ने

विनय के पाठों को सम्पादित किया है। इन विद्वानों ने तथा राइज डेविड्स और मेक्समूलर ने 'सेक्रेड बुक्स आफ दी इस्ट' नाम की अमूल्य ग्रन्थावली में बौद्ध ग्रन्थों के सब से मुख्य-मुख्य भागों का अंगरेजी में अनुवाद हम लोगों के सामने उपस्थित किया है।

मैं इस ग्रन्थावली के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ क्योंकि मैं इसका विशेष अनुग्रहीत हूँ। प्राचीन हिन्दू साहित्य और इतिहास को स्पष्ट करने के विषय में प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने जीवित विद्वानों में सब से अधिक उपकार किया है। उनका यह विचार बहुत उत्तम है कि अंगरेजी जानने वाले पूर्वदेशीय मूल ग्रन्थों के अक्षरानुवाद से सहायता ले सकें।

संस्कृत, जन्द, पहलवी, पाली, अर्बी आदि के ३० से अधिक ग्रन्थ इसमें छप चुके हैं तथा और ग्रन्थों के छपने की आशा की जाती है। यहां पर मैं यह कह देना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थावली का मैं ऋणी हूँ। मैंने इन ग्रन्थों में से बहुत से वाक्य उद्धृत किए हैं और कहीं-कहीं पर उनमें एकाध शब्द को अदल बदल कर दिया है और जिन मूल संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद इस ग्रन्थावली में दिया है उन्हें देखने की मुझे बिरलेही कहीं आवश्यकता पड़ी है।

अब मैं अपनी इस पुस्तक के विषय में दो चार शब्द कहूँगा। मैंने अपने मन में कई बार यह प्रश्न किया है कि अब तक हम को जो सहायता मिल सकती है उससे क्या प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का एक छोटा स्पष्ट ऐतिहासिक वृत्तान्त लिखा जा सकता है जो कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हो और जो इतनी सरल रीति से लिखा जाय कि सर्वसाधारण उसे समझ सकें। मैं ऐसे ग्रन्थ के लिखे जा सकने में कोई सन्देह नहीं करता था पर मैं प्रायः यही चाहता था (जब मैंने इस ग्रन्थ का लिखना प्रारम्भ कर दिया था उस समय भी) कि यह किसी योग्य विद्वान द्वारा और ऐसे महाशय द्वारा लिखा जाता जो कि मेरी अपेक्षा इस कार्य में अधिक ध्यान और समय दे सकता।

जिन विद्वानों ने अपना जीवन भारतवर्ष के पुरातत्व के अध्ययन में बिताया है और जिन्होंने इस अमूल्य भंडार से बहुमूल्य रत्न प्राप्त किए हैं वे लोग उन रत्नों के आभूषण बनाकर उन्हें सर्वसाधारण के काम के लिए करने में जी लगाते उपस्थित हुये नहीं दिखाई देते। अतएव यह स्पृहारहित कार्य कम योग्यता के लोगों द्वारा ही किया जाना चाहिये।

सर्वसाधारण के लिए ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता है, इस बात को कोई

अस्वीकार नहीं करेगा। हिन्दू विद्यार्थी के लिये भारतवर्ष के इतिहासका समय, सच पूछिये तो मुसलमानों के आक्रमण से आरम्भ होता है। हिन्दुओं के राज्य के समय से वे लोग पूरे अनभिज्ञ हैं। स्कूल के उस विद्यार्थी को जो कि महमूद के बारहों आक्रमणों को अच्छी तरह जानता है उन आर्य लोगों के आक्रमणों और विजयों का बहुत ही थोड़ा वृत्तान्त मालूम होगा जिन्होंने कि महमूद के ३००० वर्ष पहले पंजाब को जीता था और वहां आकर बसे थे। वह शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का दिल्ली और कन्नौज के जीतने का वृत्तान्त पढ़ता है परन्तु उसे उन्हीं देशों में कुरु और पांचाल लोगों की प्राचीन राजधानी का कुछ भी ऐतिहासिक वृत्तान्त नहीं मालूम होगा। वह जानता है कि शिवाजी के समय में दिल्ली में कौन बादशाह राज्य करता था परन्तु जिस समय में गौतम बुद्ध अपने धर्म पर व्याख्यान देता था उस समय मगध में कौन राज्य करता था इसका पता उसे नहीं होगा। वह अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के इतिहास से अभिज्ञ होगा पर उसने आन्ध्र, गुप्त और चालुक्य राजाओं के विषय में नहीं सुना होगा। वह नादिरशाह के भारतवर्ष पर आक्रमण करने की तिथि अच्छी तरह जानता होगा परन्तु उसे यह नहीं मालूम होगा कि इस घटना के पूर्व ५०० वर्ष के भीतर ही शक लोगों ने भारतवर्ष पर कब आक्रमण किया और उनको विक्रमादित्य ने हरा कर कब भगा दिया। वह आर्यभट्ट अथवा भवभूति के समय की अपेक्षा फरदोसी और फरिश्ता की तिथियों को भली भाँति जानता है। वह बतला सकता है कि ताजमहल को किसने बनाया पर इस बात का उसे ध्यान भी नहीं होगा कि सांची के स्तूप, कर्ली और अजन्ता की गुफाएँ, एलोरा, भुवनेश्वर और जगन्नाथके मन्दिर कब बने।

यह भाग्य का फेर जान पड़ता है कि ऐसे देश के प्राचीन समय के इतिहास के पृष्ठ कोरे रहें कि जिसमें हजारों वर्ष तक प्राचीन ऋषि लोगों ने दन्तकथाओं और बड़ी-बड़ी रचनाओं को हमें क्रमशः प्राप्त कराया है और जहां कि एक पीढ़ी के पीछे दूसरी पीढ़ी ने इनको बराबर कंठाग्र रख कर सुरक्षित रक्खा है। यदि उन रचनाओं से प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास का साधारण वृत्तान्त विदित न हो जाय तो इन हजारों प्राचीन समय के विद्यार्थियों और विद्वानों का परिश्रम करके इन्हें संरक्षित रखना ही व्यर्थ हुआ। फिर पिछली शताब्दी में योरप के जिन प्रख्यात विद्वानों और पुरातत्व वेत्ताओं ने जो कार्य किया है उनकी विद्वतापूर्ण खोजों का फल यदि हम अब भी शृङ्खलाबद्ध इतिहास के रूप में इस प्रकार से न रख सकें कि वह सर्वसाधारण और साधारण विद्यार्थी की समझ में आ सकें तो उन विद्वानों का परिश्रम ही व्यर्थ हुआ।

परन्तु का हर्ष विषय है कि ऐसी बात नहीं है। यद्यपि भारतवर्ष के इतिहास के बहुत से भाग अब तक भी संदिग्ध हैं, यद्यपि बहुत सी बात अब तक विवाद योग्य है परन्तु हिन्दू राज्य के समय का एक साधारण इतिहास तैयार करना अब कोई असम्भव कार्य नहीं है। यद्यपि मैं इस कार्य के लिए अपने को अयोग्य पाता हूँ तथापि मैं इस आशा से इस कार्य को आरम्भ कर देने का साहस करता हूँ कि योग्य विद्वान लोग मेरी त्रुटियों को क्षमा करेंगे, मेरी अनिवार्य भूलों को सुधारेंगे और जिन बातों को मैंने असावधानी से किया हो अथवा जिन्हें मैं छोड़ गया होऊं उन्हें वे योग्यता पूर्वक भली भांति करेंगे।

इस बड़े कार्य को करने में मैं यह प्रगट कर देता हूँ कि पूर्व देश सम्बन्धी विद्याओं के विद्वानों ने खोज कर जो बातें जानी है उनके सिवाय मैंने अपनी ओर से किसी नई बात का पता नहीं लगाया है। इस विषय में मेरा परिमित ज्ञान मुझे यह बहाना करने से रोकेगा। और इस ग्रन्थ के उद्देश्य का ख्याल करके भी यह बात असम्भव है कि इसमें किसी नई बात का पता लगाया जा सके। मैंने केवल यह उद्योग किया है कि योग्य विद्वानों के परिश्रम से जो बातें विदित हुई हैं उन सब को सिलसिलेवार मिलाकर सर्वसाधारण के लिए एक पढ़ने योग्य ग्रन्थ बन जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति करने में यदि मैंने कहीं-कहीं पर अपनी ओर से कुछ अनुमान अथवा कल्पना कर दी हैं तो उसके लिए मैं पाठकों से प्रार्थना करता हूँ कि वे उन्हें अनुमान और कल्पना ही समझें, उन्हें ऐतिहासिक आविष्कार न समझें।

आज दस वर्ष हुये मैंने अपनी देश भाषा में स्कूल के विद्यार्थियों के लिए एक छोटी पुस्तक बनाने के अभिप्राय से उस समय मुझे जो मसाले मिले उनका सिलसिलेवार संग्रह कर दिया था और वह बंगाल के बहुत से स्कूलों में पाठ्य पुस्तक रही है। तब से मैं अपने अवकाश के अनुसार इस कार्य को बराबर करता रहा। इसके तीन वर्ष के उपरान्त मैं बंगाल गवर्मेण्ट की उदारता से ऋग्वेद संहिता का एक पूरा बंगला अनुवाद अपने स्वदेशियों के सम्मुख उपस्थित कर सका। उस समय से मेरी यह इच्छा बहुत ही सबल हो गई कि हमारे प्राचीन साहित्य में जो ऐतिहासिक मसाले मिलते हैं उन्हें स्थायी रूप में फिर से श्रेणी बद्ध करूँ। इस अभिप्राय से मैंने कलकत्ता रिव्यू में समय-समय पर कुछ लेख प्रकाशित किए हैं और इन लेखों को तथा इस विषय में और जो कुछ मसाले मैंने इकट्ठे किए हैं उन्हीं को मैंने इस ग्रन्थ में सिलसिलेवार वर्णन किया है।

जिस ढंग पर यह ग्रन्थ लिखा गया है वह बहुत ही सरल है। इसका मुख्य

अभिप्राय सर्वसाधारण के सामने भारतवर्ष का एक उपयोगी और छोटा ग्रन्थ उपस्थित करने का रहा है, भारतवर्ष के पुरातत्व के विवाद का बृहद् ग्रन्थ बनाने का नहीं। ऐसे ग्रन्थ का स्पष्टता और सविस्तार के साथ अध्ययन करना कुछ सहज काम नहीं है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय में जिन विषयों का वर्णन है उनके सम्बन्ध में बहुत सी छान बीन हुई है और भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ लिखी गई हैं। मुझे सन्तोष होता यदि मैं पाठकों के लिये प्रत्येक वादाविवाद का इतिहास, पुरातत्व के सम्बन्ध में जो बातें जानी गई हैं, उनमें से प्रत्येक का वृत्तान्त और प्रत्येक सम्मति के पक्ष और विपक्ष की बातों को लिख सकता। परन्तु ऐसा करने में इस ग्रन्थ का आकार तिगुना अथवा चौगुना बढ़ जाता और जिस अभिप्राय से यह ग्रन्थ लिखा जाता है उसकी पूर्ति न होती। अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये मैंने अनावश्यक वादविवाद को बचाया है और प्राचीन समय की हिन्दू सभ्यता और हिन्दू जीवन की प्रत्येक अवस्था को जितना स्पष्ट और अविस्तृत वर्णन मुझसे हो सका है, दिया है।

परन्तु यद्यपि इस ग्रन्थ में मेरा मुख्य उद्देश्य अविस्तृत वर्णन देने ही का है तथापि मैंने यह उद्योग किया है कि इस पुस्तक को समाप्त कर लेने के उपरान्त भी पाठकों के हृदय पर उसका स्पष्ट प्रभाव बना रहे। इस हेतु मैंने विस्तृत वर्णनों को जहाँ तक हो सका बचाया है और प्रत्येक काल के मुख्य-मुख्य विषयों को स्पष्ट रूप और पूरी तरह से वर्णन करने का उद्योग किया है। उन मुख्य मुख्य घटनाओं को अर्थात् हिन्दू सभ्यता की कथा की प्रधान बातों को-अपने पाठकों के हृदय पर अङ्कित करने के लिये जहाँ कहीं पुनरुक्ति की आवश्यकता पड़ी है वहाँ मैंने पुनरुक्ति को बचाया नहीं है।

संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों से जो बहुत से वाक्य मैंने उद्धृत किए हैं वे पहले पहल मेरे अविस्तृत वर्णन के सिद्धान्त के विरुद्ध जान पड़ेंगे। परन्तु इन उद्धृत वाक्यों का देना बहुत ही उचित था क्योंकि पहले तो ऐसे विषय में जिसमें कि बहुत सी भिन्न भिन्न सम्मतियाँ हो सकती हैं, यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपने पाठकों के सम्मुख उन मूल पाठों को उपस्थित कर दें कि जिनके आधार पर हैंने अपनी सम्मति स्थिर की है। पाठक लोग उस पर स्वयं विचार करें और यदि मैंने जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं उनमें भूल हो तो उसे सुधार सकें। दूसरे, हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों के मूल ग्रन्थों से पाठकों को परिचित कराना ऐतिहासिक विद्या के लिये लाभदायक होगा। यह आशा नहीं की जा सकती कि कार्य व्यस्त

विद्यार्थी इन प्राचीन और कठिन ग्रन्थों के मूल पाठों को अथवा उनके पाण्डित्यपूर्ण अनुवादों को पढ़ने का समय निकाल सकेगा और वह इतिहासकार जो अपने पाठकों का इन प्राचीन ग्रन्थों के कम से कम कुछ भागों से परिचय कराया चाहता हो, वह इस विषय में अपने पाठकों की विज्ञता बढ़ावेगा। अन्त में, यह ठीक कहा गया है कि विचार ही भाषा है और भाषा ही विचार है। अतः यदि कोई इतिहासकार प्राचीन समय के विचारों को प्रगट किया चाहता हो--यदि वह यह बतलाना चाहता हो कि प्राचीन समय के हिन्दू लोगों के विचार और विश्वास कैसे थे--तो उसके लिये इससे अच्छी कोई बात नहीं होगी कि वह उन शब्दों को उद्धृत करे जिसके द्वारा कि प्राचीन समय के लोगों ने अपने विचार प्रगट किए हैं। अतः इन थोड़े से वाक्यों को उद्धृत कर देने से पाठकों को प्राचीन हिन्दू समाज, उनके चाल व्यवहार और उनके विचारों का जितना ज्ञान हो सकता है उतना यदि मैं उसका पूरा विस्तृत वर्णन लिखूं तो उससे भी नहीं होगा। मैंने इसी अभिप्राय से अपने पाठकों से रिचाओं और सूत्रों के बनाने वालों का सामना करा देने का और उन्हें अपनी सम्मति स्थिर कर लेने का अवसर दिया है कि उसमें वे प्राचीन हिन्दुओं के स्वभाव और आन्तरिक जीवन को जान सकें।

प्राचीन लोगों के विचारों ओर आन्तरिक जीवन से इस भाँति पूरी तरह से विज्ञ होना ही सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान की जड़ है और मैंने इन प्राचीन लोगों के शब्दों को छोड़ कर और किसी प्रकार से इसका सच्चा और अविस्तृत वर्णन देने में अपने को असमर्थ पाया है। इसी मुख्य कारण से तथा विस्तार न बढ़ाने ही की इच्छा से मैंने अधिकता से प्राचीन ग्रन्थों के वाक्य उद्धृत किए हैं।

अन्त में पाठकों से मेरी यह प्रार्थना है कि वे मुझे उन त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे जो कि निस्सन्देह इस ग्रन्थ में हैं क्योंकि एक तो मैंने इसे उस समय में लिखा है जिसे कि मैं सरकारी कामों से कठिनता से बचाता था और दूसरे यह ऐसे स्थानों पर लिखा गया है जहाँ कोई उत्तम पुस्तकालय नहीं था। परन्तु ऐसी क्षमा बहुत कम प्रदान की जाती है और पाठक लोग यह पूछते हैं कि जब किसी ग्रन्थकार के पास ग्रन्थ लिखने के लिये सब प्रकार की सामग्री ही प्रस्तुत नहीं थी तो उसे ग्रन्थ के लिखने में हाथ ही क्यों लगाना चाहिये। परन्तु मैं इन बातों को इसलिये लिखता हूँ कि जिससे इस ग्रन्थ की त्रुटियों का यदि बचाव नहीं तो उनका कारण अवश्य विदित हो जाय। इस पुस्तक के लेखक का समय उसका नहीं है। उसके ऊपर बंगाल के एक जिले का भार है जिसका क्षेत्रफल ६ हजार वर्ग मील के ऊपर है और जिसमें तीस लाख से अधिक मनुष्यों की बस्ती है। इससे उसको और

कामों के करने का बहुत ही कम समय मिलता है। इन अवस्थाओं में इस पुस्तक को सिलसिलेवार लिखना मेरे लिये एक कठिन काम रहा है और मैं अपने विचारवान पाठकों से केवल यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि वे उन भूलों और त्रुटियों के लिये जो कि इस पुस्तक में रह गई हों कृपा कर मुझे क्षमा करें।

जिला—मैमनसिंघ--बंगाल।

१२ अगस्त--१८८८

रमेश चन्द्र दत्त

विषय सूची

—०—

विषय		पृष्ठ

विषय | | पृष्ठ

दार्शनिक काल

बौद्ध काल

प्रस्तावना

युग और समय

प्राचीन आर्यावर्त का इतिहास पिछली ३० शताब्दी में मनुष्यों की उन्नति का इतिहास है। यह इतिहास कई कालों में बांटा गया है जिनमें से हर एक काल की अवधि आजकल की बहुत सी जातियों के परे इतिहास की अवधि के बराबर है।

दूसरी जातियां हिन्दुओं के बराबर अथवा उनसे भी अधिक पुरानी होने का घमंड करती हैं। मिस्र के विद्वान लोग कहते हैं कि वहां ईसा के ४००० वर्ष प्रथम पहला राज्यवंश स्थापित हुआ था। पहले सौरागन का समय, जिसने सेमेटिक राज्य के समय सुमिर और अकद में मेल कराया था, असीरिया के विद्वान लोग उसे ईसा के ३००० वर्ष पहले बतलाते हैं और सेमेटिक लोगों के चेलडिया जीतने के पहले की अकद की तूरानी सभ्यता को इस से भी पहले का कहते हैं। चीन के रहने वाले अपने यहां के राज्य वंशों का प्रामाणिक इतिहास ईसा से २००० वर्ष पहले का मानते हैं। आज कल के विद्वान ऋग्वेद के सूक्तों का समय २००० वर्ष से पहले का नहीं समझते। पर इन सूक्तों के संग्रह होने के समय हिन्दुओं की सभ्यता कई सौ अथवा कई हजार वर्ष पुरानी होगी।

पर हिन्दुओं के इतिहास की सामग्री दूसरी जातियों के इतिहास की सामग्री के ऐसी नहीं है। मिस्र के पुराने निवासियों के जीवाक्षरों से राजाओं और पिरामिड बनाने वालों के नाम, तथा राज्यवंशों और युद्धों के हाल के सिवाय और कुछ पता नहीं लगता। बेबिलन और असीरिया के पत्थर के शिलालेखों से भी इतना ही पता लगता है और चीन की सामग्री से भी वहां के आदमियों की सभ्यता और बुद्धि की धीरे धीरे उन्नति होने का कुछ हाल नहीं जाना जाता।

पुराने समय की हिन्दुओं की पुस्तकें दूसरे तरह की हैं। उनमें कुछ दोष बेशक पाए जाते हैं। पर ये दोष राज्यवंशी युद्धों और अन्य बातों में हैं जिन्हें ऐतिहासिक कहते हैं। लेकिन साथ ही इसके इन पुस्तकों में सभ्यता के बढ़ने और बुद्धि की उन्नति होने का ऐसा पूरा सिलसिलेवार और साफ हाल मिलता है कि ऐसा दूसरी किसी पुरानी जाति के इतिहास में ढूढने से नहीं मिलता। हर समय के साहित्य में उस समय की हिन्दू सभ्यता का मानो एक अच्छा चित्र वा फोटो पाया जाता है

और हर एक समय की पुस्तकों में सिलसिलेवार तीन हजार वर्षों का ऐसा साफ और पूरा इतिहास पाया जाता है कि जिसके जानने के लिये अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं है।

पत्थर, ताम्रपत्र और पपिराई के लेख उस समय की बातों की यादगारी के लिये बनाये गये थे। किसी के गीत, भजन और धार्मिक उद्गार उस जाति की सभ्यता और विचारों का सच्चा और स्वाभाविक पता लगाते हैं। हिन्दुओं के सब से पुराने उद्गार लेख द्वारा नहीं प्रकट किए गए और इसी कारण वे अपूर्ण और अविरुद्ध है। वे इस जाति के विचारों और भावों के स्वाभाविक और सच्चे बचन हैं। वे पत्थरों पर नहीं खोदे गए पर केवल कण्ठ करके बचाये गए हैं। और जिन लोगों ने इसे कण्ठ करके बचा रक्खा उन्होंने ऐसी अच्छी तरह से ज्यों का त्यों बचा रक्खा है कि जो आज कल एक करामात समझी जा सकती है।

जिन विद्वानों ने वेदों के सूक्तों को इतिहास की दृष्टि से पढ़ा हें वे जानते हैं कि उनसे सामाजिक इतिहास तैयार करने के लिये जो सामग्री मिलती है वह पत्थर या पत्रों के लेखों से अधिक और ठीक है। और जिन लोगों ने हिन्दुओं के पुराने इतिहास के हर एक समय की पुस्तकों को पढ़ा है वे भी जानते हैं कि इनमें हिन्दुओं की सभ्यता, विचार और धर्म के तीन हजार वर्ष तक बढ़ने और बदलने का पूरा पूरा हाल है और आदमियों की सभ्यता के इतिहास जाननेवालों को यह देखने के लिये हिन्दू ही होना जरूरी नहीं है कि हिन्दुओं ने इतिहास लिखने के लिये पूरी, सरल और सच्ची बातें बचा रक्खी हैं।

हमारी बातों का मतलब आप कहीं और का और न समझ लें। हमने ऊपर जो बातें लिखी हैं वह खाली इस भ्रमयुक्त विश्वास को दूर करने के लिये लिखी है कि भारतवर्ष का कोई भी पुराना इतिहास पढ़ने लायक नहीं है। पुराने समय का कोई भी सिलसिलेवार और विश्वास के लायक वृतान्त ऐसा नहीं है कि जो आज कल के पढ़ने वालों को रोचक या शिक्षा देने वाला हो।

पुराने आर्यावर्त का भी सिलसिलेवार इतिहास है जिसमें सबसे बड़ी बात यह है कि रूखा होने के बदले वह बहुत ही रोचक है। इस पुराने इतिहास से यह जाना जाता है कि एक गुणसम्पन्न आर्य जाति ने संयोगवश बाहरी दुनिया से अलग होकर, अपनी अनुकूल प्राकृतिक अवस्था में अपनी सभ्यता किस तरह से बनाई। हम उनके युग युगान्तर के मानसिक आविष्कारों को देखते हैं, उनकी एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में जो धर्म में उन्नति और वृद्धि हुई उसको निरखते हैं, उनके राजनीति के ब्यवहार को देखते हैं कि जब वे धीरे-धीरे भारत में फैलते हैं और नए राज्य और राज्यवंश स्थापित करते हैं। हम पुरोहितों के बल के मुकाबले में उनकी कोशिशों को,

उनकी जीत और हार को जांचते हैं। हम उनके समाज और धर्म के उलट फेरों को और उनके प्रभावोत्पादक फलों को मन लगा कर पढ़ते हैं और एक जाति के मानसिक जीवन की यह बड़ी कहानी जो शाह अरजदी की कहानियों से भी अधिक रंजकहै, कहीं नहीं टूटती और न उसका सिलसिला हीं कहीं भङ्ग होता है। जिन सब कारणों से समाज और धर्म के बड़े-बड़े उलट फेर हुए वे सब पाठकों को मालूम हो जाते हैं और वे देखने लगते हैं कि हिन्दुओं की पुरानी सभ्यता ने ईसा के २००० वर्ष पहले से ईसा के १००० वर्ष पीछे तक तीस शताब्दियों में धीरे-धीरे किस तरह से उन्नति की।

हिन्दुओं की सभ्यता में जो दोष है उनसे यदि यूनान और रोम के पीछे की सभ्यता से मिलान किया जाय तो इस समय के पढ़ने वालों को शिक्षा मिलती है। हमारे गुणों से ऐसी शिक्षा नहीं मिलती जैसी हमारे दोषों से। विश्वामित्र के सूक्तों, कपिल के तत्वदर्शन और कालिदास के काव्यों के पढ़ने से उतनी शिक्षा नहीं मिलती जैसी हमारे राजनैतिक जीवन के गिरने और पुरोहितों के प्रभुत्व से। गौतम बुद्ध और अशोक के नायक होने में लोगों के धर्म की उन्नति के हाल में उतनी शिक्षा नहीं मिलती जितनी कि सर्व-साधारण में स्वतन्त्रता के लिये यत्न करने के बिल्कुल अभाव से। दुनिया के मानसिक जीवन के आरम्भ में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की बुद्धि जो बढ़ी चढ़ी थी उससे इतनी बात नहीं सूझती और इतनी शिक्षा नहीं मिलती जितनी कि मामूली काम काज और व्यापार में, यन्त्र और समुद्र की विद्या की नई बातों का पता लगाने में, संगतराशी, शिल्प विद्या, और कलाकौशल में, जातीय जीवन के प्रादुर्भाव और जातीय सबलता में।

प्राचीन हिन्दुओं के मानसिक और धार्मिक जीवन का इतिहास अनुबन्धता, पूर्णता और गम्भीर भावों में अनुपम है। परन्तु वह इतिहास = वेत्ता जो इस मानसिक जीवन का केवल चित्र उतारता है, अपने कर्तव्य को आधा करता है। हिन्दू इतिहास का एक दूसरा और अधिक खेदजनक भाग भी है और कथा के इस भाग को भी ठीक-ठीक कह देना आवश्यक है।

हम पहले कह चुके हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास कई एक विशिष्ट और लम्बे कालों अथवा युगों में विभाजित होता है। प्रत्येक काल का जुदा-जुदा साहित्य है और प्रत्येक की सभ्यता में दूसरे कालों के महान राजनैतिक और सामाजिक कारणों से बड़ा भेद हो जाता है। हमारी इच्छा है कि पहले हम इन ऐतिहासिक युगों का और जो बड़ी-बड़ी घटनाएं हों उनका संक्षेप में वर्णन कर दें जिससे हमारे पाठकों को इस ग्रन्थ का उद्देश्य विदित हो जाय और जब हम इन कालों का सविस्तार वृतान्त लिखें तो शायद उनको प्रत्येक युग की

सब बातों के समझने में सरलता होगी। हम सबसे पहले के काल से आरम्भ करते हैं अर्थात् उस समय से जब कि आर्यो ने पञ्जाब देश में आकर निवास किया था। इस काल के इतिहास का पता ऋग्वेद के सूक्तों से मिलता है।

प्रथम युग

इस अमूल्य ग्रन्थ अर्थात् ऋग्वेद में हम लोग आर्यों को सिन्ध और उसकी पांचों सहायक नदियों के तट की भूमि को विजय करते हुए और उसमें बसते हुए पाते हैं। सतलज के परे की भूमि से वे प्रायः अनभिज्ञ थे। ये लोग विजय करने वाले थे और इनमें कार्यदक्षता के प्रबल प्रेम और उत्साह युक्त आमोद-प्रमोद के साथ-साथ तरुण जातीय जीवन का पुरुषार्थ और आत्मगौरव भरा हुआ था। इस विषय में उनसे और उनके पीछे के समय के चिन्ताशील और कार्यक्षम हिन्दुओं से बड़ा अन्तर था। वे धन, पशु, समूह और खेतों से आनन्दित होते थे। उन्होंने अपने बाहुबल से नए अधिकार और नए देश को यहां के आदि निवासियों से छीन लिया और ये आदि निवासी व्यर्थ इन अजय विजयी लोगों के विरुद्ध अपना स्वत्व रखने की कोशिश करते थे। निदान यह युग इन लोगों का आदि निवासियों के साथ युद्ध और विजय करने का था और ये आर्य वीर अपनी विजय को अभिमान और हर्ष के साथ भजनों में गाते थे और देवताओं से प्रार्थना करते थे कि वे उन्हें धन और नए अधिकार दे और असभ्यों का नाश करें। प्रकृति में जो उज्वल आनन्दमय और तेजस्वी था उसकी आर्य लोग प्रशंसा करते थे और वह सब उनके हर्ष का कारण था। प्रकृति की ऐसी विभूति की वे लोग पूजा करते थे और उनको देवता मान कर उनका आवाहन करते थे।

इसके लिखने की आवश्यकता नहीं है कि उस समय आर्य लोग एक ही जाति के थे और जाति का भेद केवल आर्यों और आदि निवासियों में था। उस समय व्यवसाय का भेद भी स्पष्ट नहीं था। कई एकड़ भूमि का अधिकारी जो शान्ति के समय खेती करता था और पशुओं को पालता था वही युद्ध के समय अपने प्राण की रक्षा करता था। आदि निवासियों को लूटने लिये बाहर जाता और बहुधा भक्ति में आकर युद्ध के देवताओं की स्तुति में ओजस्वी भजन बनाता। उस समय न मन्दिर थे न मूर्तियां। कुल में जो बड़ा होता वह अपने अग्नि कुण्ड में यज्ञ की अग्नि जलाये रहता और अग्नि का हवन दूध और चावल या मांस अथवा सोमरस से करता और अपने बच्चों के कुशल, स्वास्थ्य और

पुरोहित होता परन्तु न तो राजा होता और न उसकी ओर से यज्ञ करने और भजन करने के लिये पुरोहितों की ही कोई जाति थी और न राजाओं ही की। लोग स्वतन्त्र थे और स्वतन्त्र और उत्साही पशु रखने वालों और खेती करने वालों में जो आनन्द होता है उसको वे भोगते थे।

अब आर्यों के पञ्जाब में बसने का समय क्या है ? हम समझते हैं कि यदि हम इसको ईसा से २००० वर्ष पहले से १४०० वर्ष पहले तक रक्खें तो हम प्रायः सब लोगों से सहमत रहेंगे। इस समय का नाम हम सुबीते के लिये वैदिक युग (काल) रखेंगे।

दूसरा युग

अब हिन्दू आर्य लोग सतलज तक आ पहुँचे और उनको सतलज पार करके गंगा की घाटी में पहुँचने में कुछ देर न लगी। गंगा और यमुना का नाम ऋग्वेद में बहुत कम आया है। इससे जान पड़ता है कि प्रथम अर्थात् वैदिक युग में ये नदियां उस समय तक जानी नहीं गई थीं यद्यपि कुछ साहसी अधिवासी पञ्जाब से निकल कर इन नदियों के तट पर आ बसे होंगे। दूसरे युग में इन बस्तियों की संख्या बढ़ी होगी, यहां तक कि कुछ शताब्दी में गंगा की सारी घाटी आजकल के तिरहुत तक प्रबल राजधानियों और जातियों का निवास स्थान हो गई। इन जातियों ने विद्या और साहित्य की वृद्धि की और नवीन रूप से धर्म और सभ्यता को संस्थापित किया जो कि वैदिक समय से बिलकुल ही भिन्न हो गये थे।

उन जातियों में से गंगा की घाटी में जो रहती थीं विख्यात के नाम भारतवर्ष के महाकव्यों में अब तक वर्तमान हैं। कौरवों की राजधानी वर्तमान दिल्ली के निकट कहीं पर थी। पांचाल लोग दक्षिण पूरब की ओर वर्तमान कन्नौज के समीप बसे। गंगा और गंडक के बीच की विशाल भूमि में जिसके अन्तर्गत वर्तमान अवध है, कोशल लोग बसे। गंडक के पार उस भूमि में जिसे आजकल तिरहुत कहते हैं विदेह लोग रहने लगे और काशी जाति वर्तमान बनारस के आस-पास स्थित हुई। दूसरे युग में ये ही बड़ी विख्यात जातियां थीं। पर इनसे कम बलवान जातियां भी समय-समय पर हुईं और अपना अधिकार बढ़ाती रहीं।

जब प्रथम कुरु और पांचाल लोग द्वाब में ठहरे उस समय उनके एक प्रतापशालिनी जाति होने के चिन्ह मिलते हैं। उनके परस्पर युद्ध का वृत्तान्त आर्यावर्त के प्रथम जातीय महाकाव्य अर्थात् महाभारत में दिया है और यद्यपि यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में पीछे के समय का अथवा यों कहिये कि पीछे के कई भिन्न-

भिन्न समयों का बना हुआ है, पर इसमें भी गङ्गा की घाटी के प्राचीन विजयी लोगों के उद्धत और कट्टर वीर्य और वीरोचित ईर्षाद्वेष के चिन्ह मिलते हैं। परन्तु इस घाटी की नरम आबहवा में हिन्दू लोग बहुत शताब्दियों तक नहीं रहे और वे अपना उत्साह और पुरुषार्थ खो बैठे। परन्तु विद्या और सभ्यता में उन्होंने उन्नति की। ज्यों-ज्यों ये लोग इस नदी की ओर बढ़ने लगे त्यों-त्यों उनमें वह तत्परता कम होने लगी जो कि विजयिनी जातियों में होती है। विदेह और काशी लोगों की राजसभा के लोग विद्वान और व्युत्पन्न थे परन्तु उस समय के ग्रन्थों में उन लोगों में वीरोचित गुणों के प्रमाण नहीं मिलते। कोशल लोग सुसभ्य थे परन्तु इस जाति की कथा से जो कि आर्यावर्त के दूसरे महाकाव्य अर्थात् रामायण में दी हुई है, (जो वर्तमान रूप में पीछे के समय की बनी हुई है) इन लोगों में सांसर्गिक कर्तव्य और कुलाचार से प्रेम होने का, और ब्राह्मणों के आज्ञापालन तथा धर्म में बाहरी आडम्बरों पर अधिक ध्यान करने का परिचय महाभारत के कठोर पराक्रम और तीक्ष्ण उत्साह की अपेक्षा अधिक मिलता है।

इस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दुओं की शक्ति हीन होने के कारण धार्मिक और सामाजिक नियमों में बड़े-बड़े अदल-बदल हुए। धर्म ने दूसरा ही रूप धारण किया। गंगा तट के उत्साहहीन और आडम्बरप्रिय हिन्दुओं को पंजाब के पराक्रमी योधाओं के वीरोचित और सीधे-साधे भजन रुचिकर न हुए। उन भजनो का पाठ तो अब भी होता था परन्तु उनके भाव और आशय लुप्त हो गये और सीधी-साधी विधियों के स्थान पर बड़े-बड़े आडम्बर प्रचलित हो गए। पुजारियों की संख्या और उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा, यहां तक कि उनकी परम्परागत एक जाति हो गई। गंगा तट के राजा ओर योद्धा उज्ज्वल भवनों में रहने लगे और उनके चारो ओर पंजाब के सीधे खेती करने वाले योधाओं की अपेक्षा अधिक चमक-दमक थी और ये राजा लोग समाज से तुरन्त जुदे हो गए और उन्होंने अपनी एक जाति बना ली। सर्व साधारण अर्थात् वैश्य-अथवा ऋग्वेद के अनुसार विस-अपने पंजाब निवासी पुरुषाओं से निर्बल हो गए थे और उन लोगो ने बिना विरोध के उन बन्धनों को स्वीकार कर लिया जिनसे पुरोहितों और योधाओं अर्थात् ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने उन्हें बाँधा था। परन्तु अधीनता से आचार भ्रष्टता आती है इस कारण हिन्दू शासन में लोग फिर अभी वैसे न हुए जैसा कि योरप के लोगों ने प्राचीन और वर्तमान समय में होने की चेष्टा की है। अन्त में आदि निवासी जो आर्यों के अधीन हो गए थे और जिन्होंने आर्यों की सभ्यता स्वीकार कर ली थी, नीच जाति अर्थात् शूद्र हो गए और उनको आर्यों के धार्मिक संस्कारों को करने और धर्म सम्बन्धी विद्या उपार्जन करने का निषेध कर दिया गया।

इस प्रकार से हिन्दू इतिहास के दूसरे युग में आर्यावर्त में जातिभेद की उत्पत्ति हुई। यह रीति लोगों में उत्साह हीनता और निर्बलता से उत्पन्न हुई और किसी अंश में इसने इन दोषों को सदा के लिये स्थायी कर दिया।

निदान दूसरा युग ऐसा था कि जिसमें लोग ब्राह्मण और क्षत्रियों के अधीन हो गए और क्षत्रियों ने भी ब्राह्मणों की अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु इस युग के अन्त में कुछ प्रत्याघात-सा होने लगा और अभिमानी क्षत्री भी विद्या और धर्म में अपने को ब्राह्मणों के समान सिद्ध करने लगे। पुरोहितों की निरर्थक रीतियों और संस्कारों से खिन्न होकर क्षत्रियों ने भी सत्य की खोज में नये विचार और निर्भय अनुसन्धान आरम्भ कर दिए। पर यह प्रयत्न अकारथ गया। पुरोहितों की बढ़ी-चढ़ी ही रही परन्तु क्षत्रियों के ये ओजस्वी विचार ही इस समय के रसशून्य और निर्जीव साहित्य को रोचक बना देते हैं। और ये विचार जाति में पैतृक धन की तरह रहे और पिछले वर्षों में हिन्दू दर्शनशास्त्र धार्मिक परिवर्तनों की जड़ हुए।

इसी समय में जब कि आर्य लोग गंगा की घाटी में फैले ऋग्वेद और तीनों दूसरे वेद अर्थात् साम, यजुर और अथर्व, भी संग्रहीत और सम्पादित हुए। तब एक दूसरे प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई जो 'ब्राह्मण' नाम से पुकारे जाते हैं। इन ग्रन्थों में यज्ञों की विधि लिखी है। यह निस्सार और विस्तीर्ण रचना सर्व साधारण के क्षीण शक्ति होने और ब्राह्मणों के स्वमताभिमान का परिचय देती है। संसार छोड़ कर बनों में जाने की प्रथा, जो पहले नाम को भी नहीं थी, चल पड़ी और ब्राह्मणों के अन्तिम भाग अर्थात् आरण्यक में बन की विधि क्रियाओं का ही वर्णन है। अन्त में क्षत्रियों के निर्भय विचार जो उपनिषदों के नाम से प्रख्यात है, आरम्भ हुए और ये इस युग के साहित्य के अन्तिम भाग हैं और इन्हीं से भारत के उस साहित्य का अन्त होता है जिन्हें ईश्वर कृत कहते हैं।

विद्वानों का मत है कि-इस युग के सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों में कम से कम चार या पांच सौ वर्ष लगे होंगे। इतने समय में गंगा की घाटी के उपबन तिरहुत तक साफ किए गए, बसाए गए और हिन्दू आचार व्यवहार प्रचलित हुए एवं यहां प्रतापशालिनी राजधानियां स्थापित हुईं। धार्मिक रीति बहुत ही बढ़ गई, सामाजिक नियम बदल गए, जाति भेद का प्रचार हुआ, पुरोहितोंका प्रभुत्व स्थापित होकर दृढ़ हुआ और अन्त में क्षत्रियों ने उसमें शंका की। इसी समय में विविध प्रकार के विस्तीर्ण ग्रन्थ भी रचे गए। इस कारण इस युग का समय लगभग ईसा से १४०० वर्ष पहले से १००० वर्ष पहले तक नियत कर सकते हैं।

यहां एक दो बात जो इस काल निर्णय को दृढ़ करती है लिख देनी चाहिये। इस समय की मुख्य ऐतिहासिक बात कुरु और पांचालों का युद्ध है जिसका

वर्णन महाभारत में है और जिसके विषय में हम आगे चलकर कुछ कहेंगे। इस समय की साहित्य सम्बन्धी मुख्य बात वेदों का संग्रह करना है। पुराणों और महाभारत से भी पता लगता है कि वेदों के संग्रहकर्ता इस युद्ध के समय में हुए हैं परन्तु इस बात को चाहे हम माने अथवा न माने। हम इन दोनों बातों पर अलग विचार करेंगे। दन्त कथाओं में लिखा है कि जब वेद संग्रहीत किए गए तो उसकी तिथि नियत करने के हेतु अयनान्त का स्थान निश्चय करके लिख लिया गया था। ज्योतिष के जिस ग्रन्थ में निश्चित स्थान लिखा मिलता है वह पीछे का ग्रन्थ है अर्थात् ईसा से ३०० वर्ष के पहले का नहीं है पर यह विचार निस्सन्देह पहले का है और बेंटले और आर्कडीकन प्रेट दोनों विद्वान गणितज्ञों ने इसको जांच कर ईसा से ११८१ वर्ष पहले बतलाया है।

इस आविष्कार के विरुद्ध इन दिनों यूरोप, अमेरिका और भारतवर्ष में बहुत कुछ लिखा गया है परन्तु इन विवादों में हमें कोई बात भी ऐसी नहीं मिली कि जिससे हमें इस विचार की सत्यता में सन्देह हो। हम इसे ही वेदों के अन्तिम संग्रह का समय मानते हैं और कई पीढ़ी तक कितने ही आचार्यों ने संग्रह का काम किया होगा, इस कारण हम अनुमान कर सकते हैं कि वेद ईसा से १४०० अथवा १३०० वर्ष पहले सम्पादित किए गये और यही काल हमने दूसरे युग का निश्चय किया है।

कुरु पांचालों के युद्ध के विषय में भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न राजधानियों के इतिहासों में इस युद्ध का नाम आया है और इनमें से बहुत से इतिहास विश्वास योग्य भी हैं। बौद्ध धर्म के आचार्य ईसा से ६०० वर्ष पहले हुए और देश के दूसरे इतिहासों से पता लगा है कि कुरु पांचाल युद्ध के समय से बुद्ध तक ३५ राजाओं ने राज्य किया। यदि प्रत्येक राज्य का समय २० वर्ष मान लें तो महाभारत का समय ई० से १३०० वर्ष पहले निकल आता है। फिर हमको सिक्कों से मालूम होता है कि कनिष्क ने काश्मीर में ईसवी की पहली शताब्दी में राज्य किया और उसके उत्तराधिकारी अभिमन्यु ने शायद उस शताब्दी के अन्त के लगभग। काश्मीर देश का इतिहासवेत्ता लिखता है कि कुरु पांचाल युद्ध से अभिमन्यु के समय तक ५२ राजाओं ने १२६६ वर्ष तक राज्य किया। इससे महाभारत युद्ध का समय ईसा से १२०० वर्ष पहले निर्धारित होता है।

हम अपने पाठकों से यह नहीं कहते कि ऊपर दी हुई तिथियों में से वे किसी को मान ही लें। भारतवर्ष के इतिहास में सिकन्दर के यहां आने के पहले की किसी बात का काल निर्णय करना प्रायः असम्भव-सा है और जब ज्योतिष की गणना भी कोई वर्ष विशेष बतावे अथवा कोई ऐतिहासिक बात किसी शताब्दी विशेष में प्रगट करे तब भी हम उसके मानने में भली प्रकार संकोच कर सकते हैं।

हम केवल यही कहते हैं और इसके कहने का हमको अधिकार भी है कि अब पाठकों का यह मानना सम्भव है कि वेदों का संग्रह और कुरु-पांचाल युद्ध ईसा से लगभग १३०० अथवा १२०० वर्ष पहले हुआ।

और जब कुरु-पांचाल युद्ध ईसा से १२०० वर्ष पहले (अर्थात् ट्रोजन युद्ध से एक शताब्दी पहले) हुआ तो हम इस दूसरे युग का समय ईसा से १४०० वर्ष पूर्व के पीछे कदापि नियत नहीं कर सकते क्योंकि कुरु-पांचाल युद्ध के समय वर्तमान दिल्ली और कन्नौज की निकटस्थ भूमि प्रबल जातियों का निवास स्थान थी जिन्होंने अपना साहित्य और अपनी सभ्यता निर्माण कर ली थी और हम आर्यों के पंजाब से चल देने के समय और उनके गंगा की घाटी में बस कर ऐसी उन्नति करने के बीच के समय को दो शताब्दी मान सकते हैं।

आर्यों के पंजाब से चलने के समय को ईसा से १४०० वर्ष पहले मान लेने में वैदिक समय अर्थात् प्रथम युग का समय जो हमने दिया है (ईसा से २००० वर्ष से पहले तक) निश्चित हो जाता है।

फिर, कई एक ब्राह्मण ग्रन्थों से आन्तरिक प्रमाण मिलते हैं कि ये ग्रन्थ कुरु और पांचालों के समय में अथवा उसके पीछे बने। इसलिये इनका समय भी हम ईसा से १३०० अथवा १४०० वर्ष पूर्व का निश्चय कर सकते हैं और उपनिषद जो ब्राह्मण ग्रन्थों की समाप्ति प्रगट करते हैं, ईसा से ११०० वर्ष पूर्व बने होंगे। विदेह लोगों के राजा जनक ने उपनिषदों का प्रचार कराया इसलिये हम विदेह और कोशल लोगों का समय ईसा से १२०० से १००० वर्ष पूर्व तक अनुमान कर सकते हैं क्योंकि कुरु और पांचाल ईसा से १४०० से १२०० वर्ष पहले तक हुए।

सुबीते के लिये हम इस युग का नाम ऐतिहासिक काव्य काल रखते हैं। इसी समय में वे जातियां जिनका वर्णन जातीय काव्यों में आया है, हुईं और लड़ीं, जब कि गंगा की घाटी में कुरु और पांचाल, कोशल और विदेह लोग राज्य करते थे।

तीसरा युग

तीसरा युग आर्यावर्त के इतिहास में शायद सबसे उज्वल समय है। इसी समय में आर्य लोग गंगा की घाटी से भी आगे बढ़े, दूर-दूर तक फैले और भारतवर्ष के दक्षिण तक उन्होंने हिन्दू राजधानियाँ स्थापित कीं। मगध अर्थात् दक्षिण बिहार जिससे कि ऐतिहासिक काव्य काल में भी हिन्दू लोग विज्ञ थे, तीसरे युग में पूरी तरह से हिन्दुओं का हो गया। यहां की नई और प्रबल राजधानी ने गंगा तट का प्राचीन राज्य दबा दिया, बौद्ध धर्म मगध के आस-पास की राजधानियों में फैला और

चन्द्रगुप्त ने जो सिकन्दर का समकालीन था, सारे उत्तरी भारतवर्ष को पंजाब से बिहार तक मगध के राज्याधीन बनाया। इस बड़ी राजनैतिक घटना अर्थात् सारे उत्तरी भारत के एक साम्राज्य के अधीन एकत्रित होने के साथ ही साथ तीसरे युग की समाप्ति होती है और चौथा युग आरम्भ होता है।

आर्य अधिवासी बंगाल तक पहुँचे और उन्होंने आदि निवासियों में भी हिन्दू धर्म और सभ्यता का प्रचार किया। दक्षिण में जो राजधानियाँ स्थापित हुईं उन्होंने और भी गौरव पाया। आन्ध्र लोगों ने दक्षिण में एक प्रबल राजधानी स्थापित की और विद्या की बड़ी वृद्धि की। और भी दक्षिण में आर्य लोगों का प्राचीन द्रविड़ सभ्यता से संसर्ग हुआ। सुसम्पन्न हिन्दू सभ्यता की जय हुई, द्रविड़ लोग भी हिन्दू बना लिए गए और उन्होंने ऐसी राजधानियाँ स्थापित कीं जो विद्या और प्रताप में विख्यात हो गईं। चोल, चेर और पांड्य की राजधानियां ईसा से ३०० वर्ष पूर्व अपना प्रताप जमा चुकी थीं और चोल की राजधानी कांची (कांजीवरम) पिछले दिनों मे विद्या का मुख्य स्थान हो गई।

पश्चिम में सौराष्ट्र (जिसके अन्तर्गत गुजरात और महाराष्ट्र देश भी हैं) के लोगों ने भी हिन्दू सभ्यता स्वीकार की और समुद्र में लंका से विज्ञप्ति प्राप्त की जो कि हिन्दू व्यापारियों के आने जाने का स्थान हुआ।

इस समय का व्यवसाय और उत्साह उनके साहित्य और राष्ट्रीय विजय से प्रगट होता है। ब्राह्मण और आरण्यकों की बहु-वाक्यमय शिक्षा और धर्मक्रिया सूत्रों में संक्षिप्त की गई जिसमें कि यज्ञों में प्रयोग करने के लिये पुस्तकें बन जांय। कुलाचार और सामाजिक व्यवहार के नियमों के भी सूत्र बनाये गये। सूत्र सम्प्रदाय भारतवर्ष में अधिक फैल गये। उत्तर में और दक्षिण में ग्रन्थों की संख्या बढ़ने लगी। इन धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त शिक्षाशास्त्र, छन्द, व्याकरण और कोशों का अध्ययन होने लगा। यास्क ने निरुक्त और पाणिनि ने इसी समय अपना व्याकरण लिखा। निश्चित नियमानुसार यज्ञों की बेदी बनाने के कारण रेखागणित की उत्पत्ति हुई जो पहले-पहले भारतवर्ष ही में जानी गई!

उपनिषदों की शिक्षा वृथा न गई। इन ग्रन्थों का अवलोकन बराबर होता रहा। यहां तक कि कपिल ने सांख्य दर्शन का आविष्कार किया जो कि संसार के तत्व दर्शनों में गूढ़ युक्ति युक्त होने में सबसे प्रथम है। इसके सिवाय और आचार्यों ने भी दूसरे दर्शन रचे परन्तु सांख्य दर्शन ही को भारत के भविष्य काल पर सबसे अधिक प्रभाव डालना था। क्योंकि ईसा से ६०० वर्ष पहले गौतम बुद्ध का जन्म हुआ और उसने सांख्य की रूखी युक्ति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्, के विचार

जोड़ दिये जिसके कारण उसका धर्म सारी मनुष्य जाति में से तिहाई लोगों में प्रचलित हो गया।

इस युग का समय निश्चित करने में कोई कठिनाई नहीं है। सिकन्दर के समकालीन चन्द्रगुप्त ने उत्तरीय भारत को ईसा से ३२० वर्ष पहले एक किया था। इस कारण हम तीसरे युग का काल ई० से १००० वर्ष पहले से ३२० वर्ष पहले तक मान सकते हैं। सुबीते के लिये हम इसको दार्शनिक अथवा युक्तिसिद्ध काल कहेंगे।

इस समय की राजनैतिक विद्या सम्बन्धी और धार्मिक घटनाओं को ७०० वर्ष लगे होंगे। जितना बड़ा हमने यह काल बतलाया है और जितनी बातें हम जानते हैं वे इस काल को प्रमाणित करती हैं। गौतम, बौद्धायन, वसिष्ट और अपस्तम्ब के सूत्रों का जो समय डाक्टर बुहलर ने निश्चय किया है वह ऊपर दिए हुए ही समय में पड़ता है। डाक्टर थीबो सुल्व सूत्रों अर्थात् रेखा गणित का काल ईसा से ८ शताब्दी पहले बतलाते हैं। सांख्य दर्शन पर लिखने वालों ने कपिल के दर्शनों को ७०० वर्ष पहले का कहा है और गौतम बुद्ध जैसा कि हम कह चुके हैं ईसी से ६०० वर्ष पहले हुए।

यह काल जो प्रायः निश्चित रूप से निर्णीत हुआ है पिछले अर्थात् ऐतिहासिक काव्य काल के समय को भी प्रमाणित करता है क्योंकि यदि कपिल के दर्शन जो कि उपनिषदों के दूरस्थ और परिपक्व परिणाम हैं, सातवीं शताब्दी में रचे गये तब उपनिषद तो इसके कई शताब्दी पहले ही निर्माण किये गये होंगे। और हम उपनिषदों का काल, जिनसे कि ऐतिहासिक काव्य काल समाप्त होता है ईसा से १००० वर्ष पहले बतलाने में सम्भवतः सत्य ठहरेंगे।

चौथा युग

यह युग चन्द्रगुप्त के प्रभावशाली राज्य के समय से आरम्भ होता है। चन्द्रगुप्त के पोते अशोक ने बौद्ध धर्म को भारतवर्ष का राजकीय धर्म बनाया, पटने के महान संघ के सम्मुख बौद्धों के धर्म-ग्रन्थों का निर्णय किया और अपनी परोपकारी आज्ञाओं को पत्थर के स्तम्भों और चट्टानों पर खुदवाकर प्रकाशित करवाया। उसने जीव हिंसा का निषेध किया और अपने सारे राज्य में मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया। उसने नगरवासियों और कुटुम्बियों के कर्तव्यों को निर्धारित किया और बौद्ध उपदेशकों को पृथ्वी के अन्त तक जाने की आज्ञा दी जिससे कि वे धनी और दरिद्र सबसे मिलें और सत्य का उपदेश करें। उसके लेखों से प्रगट होता है कि उसने सीरिया देश के एण्टिओकस, मिश्र देश के टोलेमी, मैसीडन के एण्टीओकस सीरीन के मगस और एपिरस के अलक्षेन्द्र से सन्धि की और इन राजधानियों में बौद्ध धर्म का उपदेश करने के निमित्त उपदेशक भेजे। अशोक ने कहा है कि इस

देश और विदेश में देवप्रिय के धर्म के सिद्धान्तों पर, जहां कहीं वह पहुँचता है, लोग चलते हैं। एक ईसाई लेखक कहता है "बौद्ध उपदेशकों ने सीरिया में अपना धर्म-प्रचार, उत्तरी पेलेस्टाइन में ईसा की शिक्षा (जो उससे बहुत कुछ मिलती जुलती है) के सुने जाने के दो शताब्दी पहले किया। यह बड़ा ही सत्य बचन है कि प्रत्येक महान ऐतिहासिक परिवर्तन का एक अग्रसर होता है।"

आर्यवंश का राज्य अशोक के दादा चन्द्रगुप्त के समय से ईसा से लगभग ३०० वर्ष पहले आरम्भ हुआ। अशोक के पीछे वह चिरकाल तक न रहा। इसके पीछे दो राज्यवंश अर्थात् संग और काण्व ईसा से १८३ से २६ वर्ष पहले तक हुए। इसके उपरान्त आन्ध्र लोगों ने, जिन्होंने कि दक्षिण में एक प्रबल राज्य स्थापित किया था, मगध को जीता और ये साढ़े चार शताब्दियों तक (ईसा से २६ वर्ष पहले से ४२० वर्ष पीछे तक) उत्तरी भारतवर्ष के अधिपति बने रहे। ये लोग प्रायःबौद्ध थे परन्तु ब्राह्मणों और धर्मात्मा हिन्दुओं का आदर करते थे। इस बौद्ध काल में दोनों धर्म साथ ही साथ प्रचलित थे और उपद्रव नाम का भी नहीं हुआ। आन्ध्रों के पीछे बड़े-बड़े गुप्तवंशी राजा हुये जो ५०० ईस्वी तक भारतवर्ष में प्रधान थे और इसके पीछे उनके राज्य का नाश हुआ। गुप्तवंशी प्रायः धर्म परायण हिन्दू थे परन्तु वे बौद्ध धर्म पर भी अनुग्रह रखते थे और बौद्ध मंदिरों और मठों में धन की सहायता करते थे।

इसी समय में पश्चिमी भारतवर्ष में विदेशी लोग बराबर चढ़ाई करते रहे। बैकटीरिया के यूनानी लोग तुरेनियन शत्रु दल से निकाले जा कर ईसा से दूसरी और पहली शताब्दी पहले भारतवर्ष में आ घुसे। इन लोगों ने यहां राजधानियां स्थापित की, यूनानी सभ्यता और विद्या का प्रचार किया और ईसा के कितनी ही शताब्दी पीछे तक भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इनकी भिन्न-भिन्न दशा रही। कहते हैं कि ये लोग उड़ीसा तक पहुँच गये थे। इनके पीछे यू-ची जाति के तुरेनियम लोगों ने आक्रमण किया और उन्होंने काश्मीर में एक सबल राज्य स्थापित किया। ईसा की पहली शताब्दी में काश्मीर के यू-ची राजा कनिष्क का विस्तृत राज्य था जो काबुल, काशगर के यारकन्द से लेकर गुजरात और आगरे तक फैला हुआ था। वह बौद्ध था और उसने काश्मीर में उत्तरी प्रान्त के बौद्धों की एक महासभा की। तब कम्बोजियन और काबुल की अन्य जातियां भारत में आने लगीं और उनके पीछे क्रम से उन लोगों का टिड्डीदल पहुँचा जो ईसा की ५ वीं शताब्दी में सारे पश्चिमी भारतवर्ष में फैल गया। अशोक के पीछे कई शताब्दी तक भारत को विदेशी आक्रमणों से चैन नहीं मिला परन्तु ये आक्रमण करने वाले जब अन्त में यहां बस गये तो उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और वे भारतवासियों में सम्मिलित हो गये।

बौद्ध धर्म का भी क्रमशः सन् ईस्वी के पीछे की शताब्दियों में ऐसा ही

अस्त हुआ जैसा कि ऐतिहासिक काव्य काल में हिन्दुओं के गंगा की घाटी में बसने पर ऋग्वेद के हिन्दू धर्म का हुआ था। बौद्ध वैरागियों के वृहत् और अशासनीय दल बन गये जिनके मठ के अधिकार में कई एकड़ भूमि होती थी और जिनका निर्वाह लोगों की आय से होता था। बौद्ध संस्कार और रीतियां बुद्ध की पूजा और मूर्तिपूजा के अधिक निकट पहुँचने लगी और इनमें से बहुत सी रीतियां जो सर्व-साधारण को प्रिय थीं, उस समय के हिन्दू धर्म से मिल गई और इस प्रकार से ईसा के ६०० वर्ष पीछे एक नवीन रूप का हिन्दू धर्म बन गया। इसके अनन्तर भारत के किसी-किसी प्रान्त में कई शताब्दी तक जर्जरित रूप से हिन्दू धर्म चला आया और अन्त में भारत के मुसलमान विजयी लोगों ने उसे बिल्कुल निर्मूल कर दिया।

हमको अशोक के समय से लेकर ईसा की पांचवीं शताब्दी तक बौद्ध लोगों की चट्टानों में खुदी हुई गुफाएँ, चैत्य अर्थात् मन्दिर और विहार अथवा मठ सारे भारत में मिलते हैं परन्तु पीछे के समय के बौद्ध शिल्प का एक भी नमूना नहीं मिलता। मन्दिर निर्माण करने और हिन्दू शिल्प की प्रथा ईसा की छठी शताब्दी से लेकर मुस-लमानों के भारत विजय के बहुत पीछे तक रही।

बौद्ध साहित्य का जो भाग हमको आजकल मिलता है उसमें सबसे बहुमूल्य वे धर्मशास्त्र हैं जिन्हें अशोक ने पटने की महासभा में निश्चित करके सारे भारतवर्ष में भेज दिया था। ये धर्मशास्त्र जो पाली भाषा में हैं और लङ्का (सिंघल द्वीप) में संर-क्षित हैं, प्राचीन बौद्धधर्म के इतिहास की सबसे अच्छी सामग्री हैं। यह साहित्य नए रूप में नैपाल, तिब्बत, चीन, जापान और सारे उत्तरीय बौद्ध प्रदेशों में मिला है।

हम कह चुके हैं कि बौद्ध धर्म का हिन्दू धर्म पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। बौद्धधर्म ने वेदों की पवित्रता में सन्देह किया था और आधुनिक अर्थात् पौराणिक हिन्दू धर्म यद्यपि नाम को वेदों का सम्मान करता है परन्तु वह इन प्राचीन ग्रन्थों से पूर्णतया पृथक भाव रखने और छुटकारा पाने का परिचय देता है। हिन्दू ज्योतिष, गणित, धर्मशास्त्र और दार्शनिक विचार वेदों और वैदिक यज्ञों से उत्पन्न हुए थे और भिन्न-भिन्न वैदिक सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते थे। पर बौद्ध समय के पीछे के हिन्दू, विज्ञान और शास्त्र का अवलम्बन नहीं लेते और न किसी वैदिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं। पौराणिक हिन्दू धर्म वैदिक यज्ञों का धर्म नहीं है वरन् उसमें मूर्ति और देवताओं की पूजा है जिसका कि वेदों में नाम भी नहीं है।

मनु के धर्मशास्त्र में बौद्ध युग के हिन्दू विचारों और रीतियों का वर्णन है। यह धर्मशास्त्र दार्शनिक काल के प्राचीन धर्म सूत्रों अथवा सामाजिक नियमों पर निर्धारित है। परन्तु धर्म सूत्र भिन्न भिन्न वैदिक सम्प्रदायों के हैं। मनु संहिता किसी

वैदिक सम्प्रदाय की नहीं है और उसके नियम आर्य मात्र के नियम हैं। इसके विपरीत मनु वैदिक यज्ञों को मानता है, मूर्ति पूजा को त्याज्य समझता है और पौराणिक हिन्दू वैदिक धर्म की त्रिमूर्ति (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) से अनभिज्ञ है। इस प्रकार मनु वैदिक हिन्दू धर्म से पौराणिक धर्म के परिवर्तन की दशा दिखलाता है।

उपरोक्त बातों से यह प्रकट हो जायगा कि हमारे चतुर्थ युग का समय ईसा से ३२० वर्ष पहले से लेकर ५०० वर्ष पीछे तक नियत करने का क्या कारण है।

पाँचवां युग

हिन्दू इतिहास का पांचवां अर्थात् अन्तिम युग हिन्दुओं के पुनरुत्थान का है जिसका विस्तार ५०० ई० से १००० ई० तक है, जब कि महमूद गजनवी ने पहला आक्रमण किया था।

यह काल राजनीति और साहित्य में महान कार्यों से आरम्भ होता है। कई शताब्दी पूर्व से विदेशी आक्रमणों ने भारत को दुखी कर रक्खा था परन्तु अन्त में एक बड़ा प्रतिहिंसक उत्पन्न हुआ। उज्जैन का विक्रमादित्य उत्तरी भारत का अधिपति था। उसने कोरूर के घोर युद्ध में शक नाम के आक्रमण करने वालों को हरा कर भगा दिया और हिन्दू स्वाधीनता को पुनः जीवित किया। हिन्दू कल्पना, निर्माण-शक्ति और साहित्य का इसके प्रसाद से पुनरुत्थान हुआ और हिन्दू धर्म एक नए रूप में प्रकट हुआ। तीन शताब्दी का समय जो विक्रमादित्य के समय से आरम्भ होता है (५०० से ८००) ई०) पीछे के संस्कृत साहित्य का महान युग कहा जा सकता है और प्रायः जितने बड़े-बड़े ग्रन्थ जो आज भारत में सर्वप्रिय हैं, सब इसी समय के हैं। कालिदास ने अपने अद्वितीय नाटक और काव्य विक्रम की सभा ही में लिखे। अमरसिंह कोषकार इसी सभा के नवरत्नों में से था। और भारवी कालिदास का समकालीन था अथवा कुछ ही पीछे हुआ। विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी दूसरे शिलादित्य ने ६१० से ६५० ई० तक राज्य किया। यह रत्नावली का कर्त्ता समझा जाता है। दंडी जिसने दसकुमार चरित रचा है, दूसरे शिलादित्य के समय वृद्ध था और कादम्बरी का रचयिता बाणभट्ट इसकी सभा में रहता था। वासवदत्ता बनाने वाला सुबन्धु भी इसी समय हुआ और यह भी युक्तियुक्त है कि शतक के रचयिता भर्तृहरि ने इसी शासन में भट्टी काव्य बनाया।

दूसरी शताब्दी में यशोवर्मन ने ७०० ई० और ७५० ई० के बीच के समय में राज्य किया और विख्यात भवभूति ने अपने ओजस्वी नाटकों की रचना इसी काल में की। पर भवभूति प्राचीन आर्यावर्त के कवियों और विद्वानों की मण्डली में

अन्तिम था और आठवीं शताब्दी के अनन्तर भारतवर्ष में कोई भी अद्भुत बुद्धि सम्पन्न विद्वान नहीं हुआ।

इसी काल में भारतवर्ष के वृहुत् जातीय महाकाव्य जो बहुत पूर्व रचे जा चुके थे, बढ़ाए और शुद्ध किए गए और इस प्रकार उन्होंने अपना अन्तिम स्वरूप धारण किया और उन वृहद् पुराणों की रचना जिनके कारण इस युग का नाम पौराणिक युग रक्खा गया है, वर्तमान रूप में आरम्भ हुई।

इन तीन शताब्दियों में भी आधुनिक हिन्दू विज्ञान शास्त्र में हमको प्रबल नाम मिलते हैं। आर्यभट्ट जिसने आधुनिक ज्योतिष शास्त्र की नींव डाली है, सन् ४७९ ई० में पैदा हुआ और उसने अपने ग्रन्थ छठी शताब्दी के आरम्भ में लिखे। उसका उत्तराधिकारी बराहमिहिर विक्रम की सभा के नवरत्नों में था। ब्रह्मगुप्त का जन्म ५९८ ई० में हुआ और इसलिये वह उपन्यास लेखक बाणभट्ट का समकालीन था। छठी शताब्दी में लगभग और भी विख्यात ज्योतिषी हुए हैं।

इन तीन शताब्दियों (५०० से ८०० ई० तक) के पीछे की दो शताब्दियां घोर अन्धकार की हुई। उत्तरी भारत का इतिहास ८०० से १००० ई० तक निरा कोरा है। उसमें न तो कोई राज्यवंश पराक्रमशील हुआ, न किसी विद्वान अथवा वैज्ञानिक ने ख्याति पाई और न उत्तरी भारत में कोई बड़ा कारीगरी अथवा शिल्प का काम निर्माण किया गया। इन दोनों निःसत्व शताब्दियों के विषय में इतिहास मौन हैं।

पर उस समय जो कुछ हो रहा था उसके चिन्ह हमें कुछ मिलते हैं। इन्हीं दोनों अन्धकारमय शताब्दियों में प्राचीन राज्यवंशों का पतन और प्राचीन राजधानियों का नाश हुआ। वे योरप के (Dark Ages) के समान हैं कि जिसमें रोमन राज्य की क्षति हुई और जो फ्यूडल प्रणाली के उठते ही दूर हो गया। भारतवर्ष में भी अन्धकार के समय में प्राचीन राज्यवंशों और जातियों का प्रभाव धीरे-धीरे नाश हो गया और फिर जब प्रकाश होता है तो हम देखते हैं कि हिंदू फ्यूडल बेरन (Feudal Barons) की एक नवीन जाति (अर्थात् वर्तमान राजपूत लोग) भारत में अधिपति हो जाती है।

इस प्राचीन राज्य के विध्वंस और नवीन अधिकार के प्रयत्न के समय में सबसे तरुण और सबसे प्रबल जाति आगे बढ़ गई। लगभग १००० ई० तक हम राजपूत राज्यवंशों को उत्तरी भारत में सर्वत्र राज्य करते पाते हैं। वे उज्जैनी और कन्नौज में विक्रमादित्य और उसके उत्तराधिकारियों के राज्य के अधिकारी हुए। उन्होंने गुजरात और पश्चिमी भारत के प्रबल वल्लभी राजाओं का राज्य छीन लिया, बङ्गाल और

दक्षिण में अपना राज्य जमाया और सुबुक्तगीन और महमूद को पंजाब में आगे बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया ।

राजपूत लोगों की उत्पति के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रगट किये गये हैं । विलसन और अन्य विद्वानों का मत है कि ये लोग सीदियन आक्रमण करने वालों के वंश में हैं, कि जो कई शताब्दियों तक निरन्तर भारतवर्ष में आते रहे, जिन्हें विक्रमादित्य ने एक बार पीछे हटा दिया था परन्तु जो अन्य आक्रमण करने वालों की तरह पश्चिमी भारत के मरुस्थलों में बस गए और जहां-जहां उनसे हो सका, विजय करते और शासन करते रहे । चाहे जो कुछ हो राजपूत लोग निस्सन्देह हिन्दू सभ्यता के नये मानने वाले हुए क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में उनका कहीं नाम भी नहीं है । समस्त नवीन परिवर्तित लोगों की तरह उन्होंने हिन्दू धर्म को असाधारण उत्साह से अङ्गीकार किया । वे सूर्य और चन्द्रवंशी क्षत्री कहे जाने पर गौरवान्वित होते । जहां जहां वे विजय पाते हिन्दू मन्दिर स्थापित करते । पुरोहितों का घोर रूप का अधिकार और वर्तमान हिन्दूधर्म के अत्यन्त हानिकारक बन्धन इसी समय से आरम्भ हुए और मुसलमानी शासन में सात शताब्दियों के जातीय निरुत्साह से वे चिरस्थायी हो गए ।

योरप और भारतवर्ष के इतिहास में प्राचीन काल की समाप्ति की घटनाओं में समानता देखकर आश्चर्य होता है । जिस प्रकार विक्रमादित्य ने शक जाति को निकाल भगाया उसी प्रकार अन्तिम रोमन राज्याधिकारियों और उनकी सेना ने उन असभ्य जातियों को जो कड़े उत्साह से विजय प्राप्त करने के हेतु आगे बढ़ रही थीं, पीछे हटा दिया । कई शताब्दी तक हिन्दू और रोमन लोग विजय पाते रहे परन्तु अन्त में आक्रमणों और विजय की लहरों ने भारतवर्ष और इटली के शासन को ग्रस्त कर लिया और प्राचीन राज्यासनों और प्रणालियों का अधःपतन हुआ । इस घटना के शताब्दियों पीछे का पश्चिमी यूरोप और उत्तरी भारतवर्ष का कोई इतिहास नहीं है । यदि है भी तो उन्हीं घोर संग्रामों और अत्याचारों का कि जब से प्राचीन युग का अन्त और वर्तमान काल का उदय होता है । अन्त में जब अन्धकार निवृत होता है तो योरप और भारत दोनों में फ्यूडल राज्य स्थापित होते हैं और योरप के नये राज्य वंश ईसाई धर्म ग्रहण कर उस समय के पुरोहितों के पक्ष में उसी उत्साह और अनुराग से प्रयत्न करने लगे कि जैसे नवीन परिवर्तित राजपूत लोगों ने ब्राह्मणों और नवीन प्रणाली के हिन्दूधर्म के हेतु किया ।

परन्तु इस समानता की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती । भारत के नवीन अधिकारियों को मुसलमानों के आक्रमणों की लहरों के विरुद्ध उतना ही प्रचण्ड संग्राम करना पड़ा जैसा कि योरप के नवीन सम्राटों को फ्रान्स, स्पेन और सीरिया

में। सिंह हृदय रिचर्ड और दिल्लीश्वर पृथुराय एक ही समय में उसी बढ़ती हुई जाति से लड़ रहे थे। योरप में राज्याधिकारियों ने अपनी स्वतन्त्रता को रक्षित रक्खा और अन्त में मुसलमानों को स्पेन से भी निकाल दिया। भारत में हिन्दू राज्याधिकारियों ने विरोध तो किया परन्तु वह निष्फल हुआ। शहाबुद्दीन गोरी ने दिल्ली, अजमेर, कन्नौज और बनारस के राजपूत राज्यवंशों को सन् ११९३ और ११९४ में नाश कर दिया और राजपूतों के बड़े-बड़े योद्धा भी अपने मरुस्थल के दुर्गों में भाग गये जहां अब तक वे अङ्गरेजी गवर्मेन्ट की दयालुता के कारण एक प्रकार की स्वतन्त्रता भोग रहे हैं।

हमने पौराणिक युग का काल सन् ५०० से १००० ईसवी तक रक्खा है परन्तु उपरोक्त बातों से विदित हो जायगा कि पौराणिक युग सन् ८०० में समाप्त हो गया है। प्राचीन भारत का इतिहास इसी काल में समाप्त होता है और उसके पीछे की दो शताब्दियां अन्धकारमय हैं।

समय

भारतवर्ष में दो संवत्सर प्रचलित हैं। विक्रम संवत् ईसा से ५६ वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है और शकाब्द ७८ ईसवी से। विद्वानों को इस बात के निश्चय करने में बड़ी कठिनाई हुई है कि ये दोनों संवत्सर किन विख्यात घटनाओं के स्मरणार्थ स्थापित हुये थे और जो सिद्धान्त कि वे अब तक निश्चय कर सके हैं वे वादाविवाद की सीमा के परे नहीं हैं।

यह अब निश्चय हुआ है कि शकाब्द शाक्य राजा कनिष्क का चलाया हुआ है जिसने ईसा से एक शताब्दी पीछे काश्मीर और पश्चिमी भारत को विजय करके आस-पास के देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। शकाब्द आरम्भ में बौद्धों का संवत्सर था। जब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म था तो इसका प्रयोग होने लगा और बौद्धों के देश में अर्थात् तिब्बत, ब्रह्मा, लंका और जावा में सर्वत्र इसका प्रचार था। छठी शताब्दी में हिन्दुओं के पुनरुत्थान के पीछे उन्होंने इसका प्रयोग करना आरम्भ किया और वे यह कहने लगे कि इस शकाब्द का आरम्भ बौद्ध शक राजा के समय से नहीं है वरञ्च उस समय से है जब एक हिन्दू राजा ने शक लोगों पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु प्राचीन लेखकों ने जहां कहीं शक संवत् का वर्णन किया है तो इसे शक राजाओं का ही शकाब्द बतलाया है ※ और आज की घड़ी तक हमारे

※ ७० वर्ष हुए विद्वान कोलब्रुक ने लिखा था कि वराहमिहिर ने जो ईसा की छठी शताब्दी में हुआ, शक संवत् "शकभूपकाल" अथवा "शकेन्द्रकाल" अर्थात् शक राजाओं का

पत्रों में यह शकाब्द ही लिखा जाता है अथवा पूर्ण रूप में इसे यों लिखते हैं "शकनरपेतर अतीताब्द" जिससे अभिप्राय यह है कि शक राजाओं का संवत्सर, और न कि हिन्दू राजा का शकों को नाश करने का समय।

विक्रम संवत् का निश्चय करना इससे भी कठिन है। साधारणतः इसका आरम्भ विक्रमादित्य के किसी बड़े विजय के काल से समझते हैं परन्तु इतिहास में ईसा से ५६ वर्ष पहले किसी विक्रमादित्य का वर्णन नहीं आया है और अब निश्चय हो गया है कि कालिदास का गुणग्राहक विक्रमादित्य ईसा से छ सौ वर्ष पीछे हुआ था।

इससे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि संवत् का प्रयोग अभी थोड़े ही काल से होने लगा है। सन् ईसवी के तुरन्त पीछे इसके प्रयोग किये जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। भारतवर्ष में बौद्धों के काल के अथवा तिब्बत, ब्रह्मा, लंका, जावा आदि दूसरे बौद्ध देशों के शिला लेखों पर यह संवत नहीं मिलता।

संवत्सर जो सन् ईस्वी से ५६ वर्ष पहले प्रचलित हुआ था ऐतिहासिक अन्धकार से आच्छादित है। यह किसी ऐसे राजा का चलाया हुआ जान पड़ता है कि जिसका इतिहास में कहीं वर्णन भी नहीं है और जिस काल से इसका आरम्भ समझा जाता है इसके बहुत पीछे तक इसका प्रयोग नहीं हुआ।

कदाचित संवत्सर की उत्पत्ति का ठीक-ठीक निर्णय मिस्टर फ्लीट ने अपनी रची हुई गुप्त राजाओं के शिलालेखों के विषय की पुस्तक में किया है। ऐसा जान पड़ता है कि यह संवत्सर आरम्भ में मालवा जाति का एक अप्रसिद्ध संवत् था जो पीछे से विक्रमादित्य के नाम के साथ संयुक्त किया गया और जिसने सन् ईसवी से ६०० वर्ष पीछे मालवा जाति को भारतवर्ष की प्रधान जाति बनाया।

अब हम सुगमता के हेतु भिन्न-भिन्न कालों की एक सूची देते हैं परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि इन तिथियों को केवल यथार्थता के सन्निकट पहुँचती हुई समझना चाहिये और पहले दी हुई तिथियों में यदि भेद है तो २ या ३ ही सौ वर्ष का होगा।

संवत्सर लिखा है। उसके टीकाकारों ने इसका अर्थ उस संवत्सर से किया है जब कि विक्रमादित्य ने शक लोगों को हराया था। फिर ब्रह्मगुप्त ज्योतिषी ने जो ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ इसको 'शक नृपान्ते' अर्थात् शक राजा के पीछे का लिखा है। उसके टीकाकारों ने भी उसका यह अर्थ किया है कि विक्रमादित्य के पीछे का, जिसने असभ्य शक जाति का दमन किया। (कोलब्रुक कृत 'संस्कृत की बीजगणित इत्यादि' देखो।)

१. वैदिक काल

ईसा से २००० वर्ष पहले से १४०० वर्ष पहले तक।

आर्यों का सिन्ध की घाटी में अधिनिवास--ऋग्वेद के सूक्तों का निर्माण--ईसा से २००० वर्ष पहले से १४०० वर्ष पहले तक।

२. ऐतिहासिक काव्य काल

ईसा से १४०० वर्ष पहले से १००० वर्ष पहले तक।

गंगा की घाटी में आर्यों का अधिनिवास—ईसा से १४०० वर्ष पहले से १००० वर्ष पहले तक।

चन्द्रराशि-चक्र का स्थिर किया जाना, ज्योतिषिक वेध, वेदों का सम्पादन—ईसा से १४०० वर्ष पहले से १२०० वर्ष पहले तक।

कुरू और पंचालों की उन्नति का समय—ईसा से १४०० वर्ष पहले से १००० वर्ष पहले तक।

कुरु—पांचालों का युद्ध—ईसा से १२५० वर्ष पहले।

कोशल, काशी और विदेह लोगों का उन्नति काल—ईसा से १२०० वर्ष पहले से १००० वर्ष पहले तक।

ब्राह्मणों और आरण्यकों का निर्माण काल—ईसा से १३०० वर्ष पहले से ११०० वर्ष पहले तक। उपनिषदों का निर्माण काल—ई० से ११०० वर्ष पहले से १००० वर्ष पहले तक।

३. दार्शनिक काल

ईसा से १००० वर्ष पहले से ३२० वर्ष पहले तक।

आर्यों का भारत विजय--ईसा से १००० वर्ष पहले से ३२० वर्ष पहले तक।

यास्क—ईसा के पहले नवीं शताब्दी में।

पाणिनि—ईसा के पहले आठवीं शताब्दी में।

सूत्रकार—ईसा से ८०० वर्ष पहले से ४०० वर्ष पहले तक।

सुल्व सूत्र (रेखागणित)—ईसा के पहले आठवीं शताब्दी में।

अन्य दार्शनिक—ईसा के ६०० वर्ष पहले से ईस्वी सन् तक।

गौतम बुद्ध—ईसा से ५५७ वर्ष पहले से ४८५ वर्ष पहले तक। बिम्बसार, मगध का राजा—ईसा से ५३७ वर्ष पहले से ४८५ वर्ष पहले तक।

अजातशत्रु—ईसा से ४८५ वर्ष पहले से ४५३ वर्ष पहले तक।

प्रथम बौद्ध संघ—ईसा से ४७७ वर्ष पहले।

द्वितीय बौद्ध संघ—ईसा से ३७७ वर्ष पहले।

नौ नन्द, मगध का राजा—ईसा से ३७० वर्ष पहले से ३२० वर्ष पहले तक।

४. बौद्ध काल

ईसा से ३२० वर्ष पहले से ५०० ई० तक।

चन्द्रगुप्त, मगध का राजा--ईसा से ३२० वर्ष पहले से २९० वर्ष पहले तक।

विन्दुसार—ईसा से २९० वर्ष पहले से २६० वर्ष पहले तक।

अशोक—ईसा से २६० वर्ष पहले से २२२ वर्ष पहले तक।

तृतीय बौद्ध संघ—ईसा से २४२ वर्ष पहले।

मगध में मौर्य वंश का अन्त—ईसा से १८३ वर्ष पहले।

मगध में सुङ्ग वंश—ईसा से १८३ वर्ष पहले से ७१ वर्ष पहले तक।

मगध में काण्व वंश—ईसा से ७१ वर्ष पहले से २६ वर्ष पहले तक।

मगध में आन्ध्रवंश—ईसा से २६ वर्ष पहले से ४३० ईसवी तक।

गुप्तवंशी राजा—सन् ३०० से ५०० ई० तक। बक्टेरिया के ग्रीक लोगों का भारत पर आक्रमण—ईसा के पहले दूसरी और पहली शताब्दियों में।

यू--ची जाति का भारत पर आक्रमण—ईसा की पहली शताब्दी में।

काश्मीर के यू--ची राजा कनिष्क ने शक संवत् चलाया—सन् ७८ ई० में।

सौराष्ट्र देश में शाह वंशी राजाओं का राज—सन् १५० से ३०० ई० तक।

कम्बोजी लोगों का भारत पर आक्रमण—ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दियों में। हुन लोगों का भारत पर आक्रमण—ईसा की पाँचवीं शताब्दी में।

५. पौराणिक काल

सन् ५०० ई० से १००० ई० तक

उज्जैन और उत्तरी भारत का राजा विक्रमादित्य—सन् ५०० से ५५० ई० तक। कालिदास, अमरसिंह, वररुचि आदि—सन् ५०० से ५५० ई० तक।

भारवी—लगभग ५५० ई० से ६०० ई० तक। आधुनिक हिन्दू ज्योतिष-शास्त्र का संस्थापक आर्यभट्ट— सन् ४७६ से ५३० ई० तक।

बराहमिहिर--सन् ५०० से ६६० ई० तक। ब्रह्मगुप्त--सन् ५९८ से ६५० तक।

द्वितीय शिलादित्य, उत्तरी भारत का सम्राट---सन् ६१० से ६५० ई० तक।

दण्डी---सन् ५७० से ६२० तक।

वाणभट्ट और सुबन्धु, भर्तृहरि और भट्टिकाव्य--सन् ६१० से ६५० ई० तक।

भवभूति---सन् ७०० से ७५० ई० तक।

शङ्कराचार्य---सन् ७८८ से ८५० ई० तक।

उत्तरी भारत का अन्धकारमय समय---सन् ८०० से १००० ई० तक।

प्राचीन भारत की
सभ्यता का इतिहास

—०—

वैदिक काल

[सन् ई० से २००० वर्ष पूर्व से १४०० वर्ष पूर्व तक]

पहला अध्याय

आर्य लोग और उनका साहित्य

आर्य लोगों के रहने की पहली जगह * के बारे में विद्वान लोगों का बड़ा मतभेद है। अपने देश को प्यार करने वाले और उत्साही हिन्दू विद्वान यह कभी नहीं मानते कि आर्य लोगों की पहली रहने की जगह आर्यावर्त के कहीं बाहर रही हो और इसी तरह अपने देश से प्रीति रखने वाले योरप के विद्वान लोग भी आर्यों की पुरानी रहने की जगह बाल्टिक सागर के किनारे बतलाते हैं। अस्तु जो कुछ हो हमारा काम इस झगड़े में पड़ने का नहीं है। हम यहां सिर्फ पक्षपात रहित लोगों के विचार लिख देते हैं कि आर्यों की पहली रहने की जगह एशिया के बीच में कहीं पर थी।

---

* आजकल की खोज से मालूम हुआ है कि जो जातियाँ आर्य भाषाएँ बोलती थीं वे सब एक ही जाति से नहीं पैदा हुईं और न वे कभी एक ही जाति की थीं। लेकिन साथ ही इसके यह भी माना जाता है कि इन सब जातियों के पूर्व पुरुषों ने किसी एक ही भन्डार से अपनी अपनी भाषाओं को पाया होगा। वे सब एक ही बड़ी जाति के अधीन रही होंगी। जब हम 'आर्य लोगों' की सबसे पहली रहने की जगह लिखें तो उससे वही देश समझना चाहिए जहाँ ये लोग एक साथ रहते थे और जब हम 'आर्य लोगों' का वर्णन करें तो हमारा मतलब उन्हीं जातियों से होगा जो आर्य भाषाएँ बोलती थीं।

जिन प्रमाणों से यह बात सिद्ध की गई है उन्हें प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपनी एक पुस्तक में दिया है, जिसे छपे अभी थोड़े ही दिन हुये हैं। हम नीचे अपने पाठकों के लिये उसका अनुवाद उद्धृत कर देते हैं।

(१) भाषा के दो स्रोत हैं। एक का प्रवाह तो दक्षिण-पूरब की ओर आर्यावर्त को है और दूसरे का उत्तर-पश्चिम की ओर यूरप को। वह जगह जहां ये दोनों स्रोत एक-दूसरे से मिलते हैं, एशिया ही जान पड़ती है।

(२) सभ्यता के सबसे पुराने स्थान एशिया ही में थे और सब आर्य भाषाओं का सबसे पहला रूप (अर्थात् पुरानी आर्य जातियां जो भाषा बोलतीं थीं उससे बहुत मिलती हुई भाषा) पुराने आर्यावर्त की वैदिक संस्कृत ही है।

(३) पीछे के समय में मध्य एशिया से यूरप में कई दूसरी जातियां जाकर उपद्रव करने और अपना अधिकार जमाने लगीं--जैसे ईसवी की चौथी शताब्दी में हुन जाति और तेरहवीं शताब्दी में मंगोल जाति।

(४) यदि आर्य लोग योरप से और विशेष कर स्कैंडिनेविया से एशिया में आये होते तो उनकी मामूली बोल-चाल की भाषा में समुद्र की चीजों के नाम पाये जाते। पर ऐसा नहीं है। यद्यपि उसमें विशेष प्रकार के जानवरों और चिड़ियों के नाम पाये जाते हैं पर उसमें विशेष प्रकार की मछलियों के या मछली मात्र के लिये कोई नाम नहीं मिलता और न समुद्र ही के लिये कोई एक साधारण नाम मिलता है।

संसार में भिन्न-भिन्न आर्य जातियों के मामूली बोल-चाल में जो शब्द पाये जाते हैं, उन्हीं के निर्बल और सूक्ष्म सहारे से बहुत से विद्वानों ने आर्य लोगों की पुरानी सभ्यता का उस समय कुछ न कुछ कल्पित हाल लिखा है जब कि वे लोग एक-दूसरे से अलग नहीं हुये थे। पिक्टेट साहब ने सन् १८५९-६३ में पेरिस में दो बड़े-बड़े भागों में जो पुस्तक छपवाई थीं, वह उसके पहले की छपी हुई इस विषय की और पुस्तकों से बहुत अच्छी हुई। इसके पीछे सन् १८६८ में डाक्टर फिक की बनाई पुस्तकें और सन् १८७० में डा० हेन की पुस्तक छपी। यहां पर हमारा मतलब ऐसे वृत्तान्तों को लिखने का नहीं है। हम पुराने आर्य लोगों के बारे में सिर्फ वहीं बातें लिखेंगे जिनमें कोई मतभेद नहीं है।

पुराने आर्य लोगों के घर का काम-काज कुछ वैसा ही था जैसा कि आजकल आर्य जातियों में है। इतिहास जानने वाले लोग आर्यों के इतिहास में पुरुष और स्त्री में बिना विवेक के सम्बन्ध हो जाने का, या स्त्रियों को अपनी मां के वंश में गिने जाने का या स्त्रियों के वारिस होने का, कोई चिन्ह नहीं पाते। वरन इस के विपरीत बाप कुटुम्ब का पालने और रक्षा करने वाला होता था, मां बच्चों को

खिलाती पिलाती और उनकी खबर लेती थी, बेटी दूध दुहती थी और ब्याह का सम्बन्ध माना जाता था। कदाचित पुराने आर्य लोग सभ्यता की इतनी ऊंची स्थिति पर पहुंच गए थे जिसमें स्त्री और पुरुष में बिना विवेक के सम्बन्ध नहीं हो सकता। जाति की जगह पर उस समय कुटुम्ब होता था और बाप कुटुम्ब का मुखिया माना जाता था।

बहुत से काम के जानवर पालतू कर लिए गए थे और लोगों के काम में लाए जाते थे। गाय, बैल, सांड, बकरी, भेड़, सूअर, कुत्ते ये सब पालतू कर लिए गए थे। जङ्गली रीछ, भेड़िये, खरगोश और डरावने सर्प, ये सब उस समय मालूम तक हो चुके थे। इसी तरह चिड़ियों में राजहंस, बत्तक, कोयल, कौआ, लावा, सारस, और उल्लू भी पुराने आर्य लोगों को मालूम थे।

हर एक तरह के उद्यम तब तक भी शुरू की दशा में थे, लेकिन शिल्प विद्या का आरम्भ हो गया था। आर्य लोग घर, गांव, नगर और सड़कें बनाते थे और जल से आने-जाने और व्यापार करने के लिये नाव भी बनाते थे। वे लोग सूत कातना, कपड़े बुनना, और उनकी तह लगाना भी जानते थे और रोएं, चमड़े और ऊन के कपड़े बनाते थे। बढ़ई के काम ने जरूर उस समय बड़ी उन्नति की होगी। आर्य लोग रंगना भी जानते थे।

कदाचित यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पहले के आर्य लोग खेती करते थे और इसी काम करने के कारण उनका नाम आर्य (किसान) पड़ा। सब आर्य जातियों की मामूली बोल-चाल के बहुत से किसानी शब्दों से, जैसे हल, गाड़ी, छकड़ा, पहिया, धुरा, जूआ, आदि से यह जान पड़ता है कि वे एक ही शब्द भण्डार से निकले हैं। वे अनाज को कूट पीस कर उसे कई तरह से पकाते थे और हर एक कुटुम्बी भेड़ और गायों के झुण्ड रखता था जिससे दूध और मांस मिलता था। यद्यपि उस समय खेती की जाती थी पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि बहुतेरे कुलपति जानवरों के लिये नई-नई चरने की जगहों की खोज में अपने साथियों और जानवरों को लेकर एक जगह से दूसरी जगह घूमा करते थे और पहले के बहुत से आर्य लोग इसी तरह से घूम-घूम कर रहते थे। इस बात का कुछ पता ऋग्वेद में भी मिलता है, जैसा कि हम आगे चलकर दिखलायेंगे।

उस समय अस्त्र शस्त्रों की भी कमी नहीं थी। हड्डी, लकड़ी, पत्थर, और धातु के हथियार बनाये जाते थे। ऐसा जान पड़ता है कि तीर, धनुष, तलवार और भाला युद्ध के हथियार थे।

पहले के आर्य लोगों को सोने और चाँदी का प्रयोग जरूर मालूम था जिससे जान पड़ता है कि उन लोगों में सभ्यता कुछ बढ़ी हुई थी। पहले की जातियों

के सादेपन से वे सोने को "पीला" (हिरण्य) और चाँदी को "सफेद" (रजत) कहते थे। वे लोग एक तीसरी धातु (अयस) को भी जानते थे लेकिन यह धातु लोहा था या कोई दूसरी चीज इसमें सन्देह है।

कदाचित इसका अनुमान करना सम्भव नहीं है कि उस पुराने जमाने में राज्य की प्रणाली किस तरह की थी। इसमें संन्देह नहीं कि जातियों के सरदार और मनुष्यों के मुखिया लोग अधिकार पाते थे और सीधी सादी प्रजा उन्हें लड़ाई और अमन चैन के दिनो में अपना बचाने वाला या पालने वाला (पति, बिस्पति, राजा) कहती और मानती थी। सभ्य लोगों के मामूली विचारों से उचित या अनुचित में फरक समझा जाता था। उस समय की जो रीति थी और जिन बातोंमें जाति की भलाई समझी जाती थीं वे ही उस समय कानून की तरह मानी जाती थीं।

जो बातें सुन्दर और अचम्भे की थीं उन्हीं को आर्य लोगों ने अपने पुराने धर्म की जड़ माना। आसमान या चमकीला आसमान अजम्भे और पूजा की एक पुरानी चीज थी। सूर्य, उषा, अग्नि, पृथ्वी, आंधी, बादल और बिजली इन सब की पूजा की जाती थी। पर धर्म फिर भी सीधा और पुराना था। देवताओं और उनके बारे की गढ़ी हुई कथाएं अब तक नहीं बढ़ीं थीं और न बहुत से विधानों की रीतें ही बनाई गई थीं। आर्य जातियों के वीर पुरखा लोग सृष्टि की सुन्दर और अचम्भे की बातों को पुरुषोचित सत्कार की दृष्टि से देखते थे और ऐसी बातों को ईश्वर से व्याप्त समझते थे एवं धन्यवाद और उत्साह के साथ उसकी स्तुति और प्रार्थना करते थे।

समय-समय पर आर्य लोगों के साहसी दल भोजन, चरागाह, राज्य, या लूट की खोज में अपनी पुरानी रहने की जगह छोड़ देते थे। जिस क्रम से जुदी-जुदी जातियों ने अपने रहने की जगह छोड़ी है वह मालूम नहीं है और न कभी मालूम हो सकेगा। प्रोफेसर मैक्समूलर का यह विचार है कि पहले-पहले आर्य जातियों के दो हिस्से हुए, एक तो उत्तर-पश्चिमी या यूरोपी और दूसरा दक्षिण-पूर्वी या एशियाई। ये दोनों हिस्से एक तरह से अलग होकर फिर कभी नहीं मिले। उत्तर पश्चिमी की शाखा योरप की ओर गई और पांच जुदी-जुदी जातियां उसके पांच जुदे-जुदे हिस्सों में जाकर बसीं, जिसका समय मालूम नहीं किया जा सकता। केल्ट लोग यूरप के बहुत हो पश्चिम में यानी फ्रान्स, आयरलेंड, ग्रेट ब्रिटेन और बेलजियम में जाकर या सम्भव है कि दूसरी जातियों से आगे भगाये जाकर बसे। बलवान ट्यूटन लोग यूरप के उत्तर और बीच के हिस्सों में बसे जहां से कि रोम के अधःपतन के पीछे वे लोग सारे यूरोप को जीत लेने के लिये निकले। स्लाव लोग यूरप के पूरब में यानी एशिया आदि में बसे और इटेलिक और ग्रीक जातियां योरप के दक्षिण में बसीं।

एशियाई शाखा दक्षिण की ओर गई और मेक्समूलर का विचार है कि तब तक आपस में मिले हुये हिन्दू-ईरानी लोग पंजाब की इंडस नदी तक आये। यहां इंडस और उसकी सहायक नदियों के आस-पास दक्षिण-पूर्वी आर्य लोग एक पुरानी भाषा बोलते थे जो कि संस्कृत या जिन्द के भी पहले की है। इसके पहले धर्म के झगड़ों ने उन्हें अलग कर दिया। देवों के पूजने वाले अर्थात् ईरानी लोग फ्रान्स को गये।

इन्हीं देवों के पूजने वाले हिन्दू आर्यों ने वे सूक्त बनाए हैं जिन्हें ऋग्वेद कहते हैं। हम यहां पर इस पुराने ग्रन्थ के बारे में दो चार बातें कहेंगे। शायद किसी जाति के साहित्य में ऐसा मनोहर या शिक्षा देने वाला और ऐसा अपूर्व दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। इस पुराने ग्रन्थ का बहुत ही पुराना होना, इसमें आर्य लोगों की सबसे पहले की सभ्यता का जो चित्र खींचा है और इससे सब आर्य जातियों के धर्म और गढ़ी कथाओं के बारे में जो बातें मालूम होती हैं, इन सब बातों के कारणों से ऋग्वेद बहुत ही मनोरंजक है।

लेकिन यह ग्रन्थ इससे भी ज्यादे काम का है और इससे और भी अधिक गूढ़ बातें मालूम होती है। इस ग्रन्थ से मनुष्य जाति के दार्शनिक इतिहास जानने वालों को मालूम होता है कि धर्म सम्बन्धी विश्वास और विचार किस तरह पर पैदा हुए। इससे मालूम होता है कि मनुष्य का मन पहले उन चीजों की पूजा किस तरह से करने लगता है जो कि सृष्टि में उत्तम और श्रेष्ठ हों और जो बलवान और अचम्भे की हों। कम सुखी जातियों में धर्म-रोगों और बुराइयों के डर से पैदा होता था, क्योंकि इनके चित्त पर उसका सबसे ज्यादा असर पड़ता था। पर आर्य लोगों में सृष्टि के सबसे ज्यादा मनोहर और सुन्दर दृश्यों ने, जैसे साफ आसमान, खिला हुआ सवेरा, उगते हुए सूर्य और दहकती हुई आग ने सबसे ज्यादा असर पैदा किया और उन लोगों ने कृतज्ञता से इनकी प्रशंसा और पूजा के गीत बनाए। यही ऋग्वेद संहिता है। आर्यों के धर्म का सबसे पहला रूप जो हम लोगों को मालूम है, यही है।

पर ऋग्वेद से इससे भी ज्यादा बातें मालूम होती हैं। उससे जाना जाता है कि मन सृष्टि के देवता की ओर कैसे जाता है। ऋग्वेद के ऋषी लोग सृष्टि के दृश्यों का पूजन करके सदा सन्तुष्ट नहीं हुए। वे कभी-कभी इससे भी ऊँचे और गूढ़ विचार की ओर गए और यह विचारने लगे कि ये सब चीजें (सूर्य, आकाश, आंधी और बिजली आदि) सिर्फ उसी एक के काम हैं जो कि अगम और अगोचर है।

जब कि ऋग्वेद मनुष्य जाति के इतिहास जानने वालों के इतने काम का ग्रन्थ है तो वह आर्य जाति के इतिहास जानने वालों के लिये तो जरूर ही इससे भी

ज्यादा काम का होना चाहिए। वह आर्यों का सबसे पुराना ग्रन्थ है और इसमें आर्यों की सबसे पुरानी सभ्यता का हाल मिलता है। साथ ही इसके जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं संसार भर की आर्य जातियों के धर्म और गढ़ी हुई कथाओं की जो बातें समझ में नहीं आतीं वे इस ग्रन्थ से मालूम हो जाती हैं। यहां पर इस बात का उदाहरण देकर साबित करना हमारे काम की बात होगी, लेकिन कुछ बातें इतनी अच्छी तरह से लोगों को मालूम हैं कि हमारे विचारों को साबित करने के लिये उन बातों के इशारा कर देने की जरूरत होगी।

जिउस अथवा जुपिटर वही है जो कि वेद का 'द्यु' या प्रकाश। डेफ्ने और एथिना शायद वेद के 'दहना' और 'अहना' अर्थात् प्रभात हैं। यूरेनस वरुण या आकाश है और प्रोमेथिअस शायद वेद का 'प्रमन्थ' अर्थात् वह अग्नि है जो रगड़ से पैदा होती है।

हिन्दुओं के लिये ऋग्वेद और भी ज्यादा काम का ग्रन्थ है। हिन्दू धर्म में आगे चलकर जो बातें गढ़ी गईं वे सब उससे मालूम हो जाती हैं और पुराणों का उलझन भी उससे साफ हो जाता है। उससे हिन्दू हृदय की सबसे पहली दशा का इतिहास मालूम होता है। हिन्दुओं के इस पुराने और अनमोल ग्रन्थ से मालूम होता है कि परम पालक विष्णु और उनके तीन पद से जिन्होंने सब सृष्टि को छेंक लिया है, मतलब है उदय होते हुए शिरो बिन्दु पर और अस्त होते हुए सूर्य से। परम नाशक भयानक देवता रुद्र से पहले पहल बिजली या उस बादल से मतलब था जिससे बिजली पैदा होती है और सृष्टि रचने वाले ब्रह्मा से असल में स्तुति या स्तुति के देवता से मतलब है।

ऋग्वेद में १०२८ सूक्त हैं जिनमें दस हजार से ज्यादा रिचाएँ हैं। बहुत करके ये सूक्त सरल हैं और इनसे उन देवताओं में बालकों की तरह सरल विश्वास झलकता है जिन्हें बलि दिया जाता था, सोम रस चढ़ाया जाता था और जिनसे सन्तान, पशु और धन के लिये स्तुति की जाती थी। पञ्जाब के काले आदिवासियों के साथ जो अब तक लड़ाई होती थी उसमें आर्यों की मदद करने के लिये प्रार्थना की जाती थी।

ऋग्वेद के सूक्त १० मण्डलों में बँटे हैं। कहा जाता है कि पहले और अन्त के मण्डलों को छोड़ कर बाकी जो आठ मण्डल हैं उनमें से हर एक को एक-एक ऋषी (अर्थात् उपदेश करने वालों के एक-एक घराने) ने बनाया है। जैसे दूसरे मण्डल को गृत्समद ने, तीसरे को विश्वामित्र ने, चौथे को बामदेव ने, पांचवे को अत्रि ने, छठे को भारद्वाज ने, सातवें को बशिष्ठ ने, आठवें को कण्व ने और नवें को अङ्गिरा ने, बनाया है। पहले मण्डल में १९१ सूक्त हैं जिनमें से कुछ सूक्तों को छोड़ कर और

बाकी को पन्द्रह ऋषियों ने बनाया है। दसवें मण्डल में भी १९११ सूक्त हैं और इनके बनाने वाले प्रायः कल्पित हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों को कई सौ वर्ष तक पुत्र अपने पिता से या चेले अपने गुरु से सीखते चले आए। लेकिन उनका सिलसिले वार संग्रह बहुत पीछे अर्थात् पौराणिक काल में हुआ। दसवें मण्डल का सब अथवा बहुत-सा हिस्सा इसी काल का बना हुआ जान पड़ता है, जो कि पुराने सूक्तों में मिला कर रक्षित रक्खा गया।

ऋग्वेद का क्रम और संग्रह जैसा कि अब है, पौराणिक काल में समाप्त हो गया होगा। ऐतरेय आरण्यक (२,२) में मण्डलों के क्रम से ऋग्वेद के ऋषियों के नाम की कल्पित उत्पत्ति दी है और इसके पीछे सूक्तों की, ऋक् की, अर्द्धऋक् की, पद की और अक्षरों तक की गिनती दी है। इससे जान पड़ता है कि पौराणिक काल में ऋग्वेद संहिता का मण्डल-मण्डल करके केवल क्रम ही नहीं कर लिया गया वरन् सावधानी से उसका भाग उपभाग भी कर लिया गया।

पौराणिक काल के अन्त तक ऋग्वेद की हर एक रिचा, हर एक शब्द और हर एक अक्षर तक की गिनती कर ली गई थी। इस गिनती के हिसाब से रिचाओं की संख्या १०४०२ से लेकर १०६२२ तक, शब्दों की संख्या १५३८२६ और अक्षरों की ४३२,००० है।

दूसरा अध्याय

खेती और व्यापार

आज कल के हिन्दुओं की तरह पुराने हिन्दुओं का भी प्रधान काम खेती था और, जैसी कि आशा की जा सकती है, ऋग्वेद में बहुत-सी जगहों से इसका हाल झलकता है। 'आर्य' शब्द ही, जिस नाम से आर्यावर्त के जीतने वाले लोग अपने को वहां के पुराने रहने वालों अर्थात् दासों से अलग करते थे, उसी की उत्पत्ति एक ऐसे शब्द से कही जाती है जिसका अर्थ 'खेती करना' है। ऐसा प्रोफेसर मेक्समूलर का मत है कि इसी शब्द के चिन्ह ईरान वा फारस से लेकर एरिन वा आयरलैंड तक बहुत से आर्य देशों के नामों से मिलते हैं। वे कहते हैं कि आर्य लोगों ने अपनी सबसे पहली रहने की जगह में इस शब्द को खेती में अपनी प्रीति दिखलाने के लिये और

उन घुमन्तू तूरानियों से (जिनका नाम, विश्वास किया जाता है कि, उनकी शीघ्र यात्रा और उनके घोड़ों की तेजी जाहिर करता है) अपने को अलग करने के लिये, गढ़ा। चाहे जो हो पर इसमें तो सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद में 'आर्य' ही एक शब्द है जिससे जीतने वाली जाति यहां के असल पुराने रहने वालों से अलग समझी जाती थी। साथ ही इसके बहुत से ऐसे वाक्य भी पाये जाते हैं जिनसे जान पड़ता है कि यहां के नए रहने वाले लोग अपने को 'आर्य' पुकारने में इस शब्द के मतलब को बिलकुल भूल नहीं गए थे। हम यहां पर इसका एक उदाहरण दे देते हैं जो कि काफी होगा।

हे दोनों अश्विन ! तुमने आर्यों को हल जोतना और बीज बोना सिखा कर और अनाज पैदा करने के लिये वृष्टि देकर एवं अपनी बिजली से दस्यु का नाश करके अपना प्रताप दिखलाया है। (१,११७,२१)

ऋग्वेद में दो और शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ 'आर्य' जाति से नहीं बल्कि सब मनुष्यों से है। ये शब्द 'चर्षन' और कृष्टि' हैं और ये दोनों शब्द एक ही शब्द भंडार के रूप भेद 'कृष' या चृष' से बने हैं।

इस तरह आर्यावर्त के जीतने वाले आर्य अपने को जिस नाम से पुकारते थे खुद वही नाम उस लाभदायक काम अर्थात् खेती को जाहिर करता है जिससे कि सभ्य लोग असभ्यों से अलग समझे जाते थे।

ऋग्वेद में बहुत सी जगहों से खेती का हाल साफ झलकता है पर उनमें से एक सूक्त सबसे अच्छा हैं जिसमें खेती के एक कल्पित देवता "क्षेत्रपति" की स्तुति है और जिसका पूरा-पूरा अनुवाद हम नीचे देते हैं।

(१) हम लोग इस खेत को "क्षेत्रपति" की मदद से जोतेंगे (बोएंगे)। वह हमारे जानवरों और घोड़ों की रक्षा करके हमें सुखी करे।

(२) हे क्षेत्रपति ! जिस तरह गाएं दूध देती हैं उसी तरह के मीठे, साफ घृत की तरह, अच्छे स्वाद की बहुत-सी बरसात हम लोगों को दे। पानी के देवता हम लोगों को सुखी करे।

(३) पेड़ हमारे लिए मीठे हों। आकाश, वर्षा और अंतरिक्ष मिठास से भरे हों। क्षेत्रपति हम लोगों पर दयालु हों और हम लोग उनका अनुगमन शत्रुओं से बिना सताए जाकर करेंगे।

(४) बैल आनन्द से काम करें, मनुष्य आनन्द से काम करें, हल आनन्द से चलें। जोत को आनन्द से बांधों और पैने को आनन्द से चलाओ।

(५) हे शुन और हे सीर ! इस सूक्त को स्वीकार कीजिए। जो मेह आपने आकाश में बनाया है उससे इस पृथ्वी को सींचिये।

(६) हे सुभग सीते ! आगे बढ़ो, हम लोग तुझसे विनती करते हैं। हम लोगों को धन और अच्छी फसल दे।

(७) इन्द्र इस सीता को स्वीकार करें। पूषन उसे आगे बढ़ावें। वह पानी से भर जाय और हम लोगों को हर साल अनाज दें।*

(८) हल के फाल जमीन को आनन्द से खोदें। मनुष्य बैलों के पीछे आनन्द से चलें। पर्जन्य पृथ्वी को मीठे मेह से तर करें। हे शुन और सीर ! हम लोगों को सुखी करो। (४, ५७)

अहा ! इसमें सीधे सादे किसानों की विनीत आशाएं और इच्छाएं कैसी अच्छी तरह से वर्णन की गई हैं, ऐसे वाक्य पीछे के समय की संस्कृत की पुस्तकों में कहीं नहीं पाये जाते हैं। ऋग्वेद में यही अपूर्वता है। ऋग्वेद के सूक्तों में चाहे आदिम-वासियों के साथ लड़ाई का वर्णन हो, चाहे इन्द्र से एक प्याला सोम अङ्गीकार करने की प्रार्थना हो और चाहे सीधे-सादे किसानों का गीत हो, लेकिन उनमें सब जगह हम लोगों को सीधे सादे वीरों के काम मिलते हैं जो कि पीछे के समय की पुस्तकों में नहीं पाये जाते।

हम यहाँ एक दूसरे सूक्त का अनुवाद, जिसका सम्बन्ध भी खेती से है, देते हैं—

(३) हलों को बांधो, जूओं को फैलाओ, और इस तैयार की हुई भूमि पर बीज बोओ। अनाज हम लोगों के सूक्तों के साथ बढ़े। आस-पास के उन खेतों में हंसुए चलें जहां कि अनाज पक गया है।

(४) हल बांध दिये गये हैं। मजदूरों ने जूए फैला दिये हैं। बुद्धिमान लोग देवताओं की प्रार्थना कर रहे हैं।

(५) जानवरों के पीने के लिये कठड़ा तैयार करो, चमड़े की रस्सी बांधो और हमलोग इस गहरे और अच्छे कुएं से जो कभी सूखता नहीं, जल निकालें।

(६) जानवरों के लिये कपड़े तैयार हो गये हैं। गहरे अच्छे और कभी न सूखने वाले कुँए में चमड़े की रस्सी चमक रही है और पानी सहज में निकल रहा हैं। कुएं में से पानी निकालो।

---

* इन दोनों रिचाओं में सीता अर्थात किआरी एक स्त्री की तरह मानी गई है और उससे बहुतायत से फसल देने की प्रार्थना की गई है। यजुर्वेद में भी सीता की इसी तरह से पूजा की गई है। जब आर्य लोगों ने धीरे-धीरे करके सारे भारत वर्ष को जीत लिया और जब पहले के जंगलों और उजाड़ भूमियो में भी कियारियाँ बनाई गई तो किआरी या सीता ने और भी अधिक मनुष्य का रूप धारण किया और वह उस बड़े महाकाव्य की नायिका बनाई गई जिसमें कि आर्यों के दक्षिणी भारतवर्ष के जीतने का वर्णन है।

(७) घोड़ों को ठंढा करो। खेत में ढेरी लगाए हुए अनाज को उठाओ और एक गाड़ी बनाओ जिसमें कि वह सहज में जा सके। यह कुआं जो कि जानवरों के पानी पीने के लिये पानी से भरा हुआ है, विस्तार में एक द्रोण है और उसमें एक पत्थर का चक्र है। मनुष्यों के पीने का कुँड एक स्कन्द है। इसे पानी से भरो। (१०,१०१)

पंजाब में सिंचाई और खेती सिर्फ कुओं ही से हो सकती है। मनुष्यों और जानवरों के पीने के लिये जल भी कुओं ही से मिलता है। इसीलिये ऋग्वेद में कुओं का जो उल्लेख मिलता है वह कोई आश्चर्य की बात नहीं। दूसरी बात जो ऊपर के अनुवाद से जान पड़ती है, यह है कि उस समय खेती में घोड़े काम में लाये जाते थे। यह चाल आज कल भारत वर्ष से उठ गई है, पर योरप में अब तक भी यह रीत पाई जाती है।

मंडल १० सूक्त २५ रिचा ४ से और कई दूसरे स्थानों से कुओं का हाल जाना जाता है। म० १० सू० ९३ रि० १३ में लिखा गया है कि सिंचाई के लिये कुएँ से पानी किस तरह निकाला जाता था। इसकी रीति थी जो कि उत्तरी भारतवर्ष में अब तक पाई जाती है, अर्थात् एक रस्से में कई घड़े बांध दिये जाते थे। ये घड़े एक चक्कर से खींचे जाते थे। इन्हें कुओं में से भर कर ऊपर खींच लेते थे और तब उनका पानी उझाल कर उन्हें कुओं में फिर ढील देते थे। इसको 'घटिचक्र' कहते थे और अब तक भी कहते हैं।

मं० १० सू० ९९ रि० ४ से दूसरा पता नालियों से खेती की सिंचाई का लगता है। इन नालियों में 'द्रोण' से पानी भरा जाता था। म० १२ सू० ६८ रि० १ में लिखा है कि खेतों की सिंचाई करने वाले किसान लोग बड़ा हल्ला करके चिड़ियों को खेतों से दूर रखते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चराहगाहों के उल्लेख उतने नहीं पाये जाते जितने कि खेतों के। गड़ेरियों का देवता पूषण था, वे लोग उसे सूर्य समझते थे और यह विचार करते थे कि वह भ्रमण करने में उन लोगों की तथा और सब मुसाफिरों की रक्षा करता है। पूषण की स्तुति के सूक्तों में कहीं-कहीं देखने में आता है कि आर्यावर्त के आर्य लोग अपने साथ उन भ्रमणों की यादगार और गीत भी लेते आये थे जिन्हें यद्यपि वे आर्यावर्त में बसने के पीछे चाहे न गाते हों पर अपने सबसे पहले के रहने की जगह में बहुधा गाया करते थे। हम ऐसे एक सूक्त का भी अनुवाद नीचे देते हैं—

(१) हे पूषण! हम लोगों को अपनी यात्रा पूरी करने में मदद दे और सब आपत्तियों को दूर कर! हे बादलों के पुत्र, तू हमलोगों के आगे चल।

(२) हे पूषण ! तू हमारे रास्ते से ऐसे लोगों को दूर रख जो कि हम लोगों को बहकाने वाले हों और जो लूट मार और अनुचित काम करते हों।

(३) तू उन दुष्ट लुटेरों को दूर कर जो यात्रा में उपद्रव करते हों।

(४) अपने पैरों के नीचे उसके अपवित्र मुर्दे को कुचल जो हमें दोनों प्रकार से लूटते और (अर्थात् चोरी से और जबरदस्ती) हम पर अत्याचार करते हैं।"

(५) हे बुद्धिमान पूषण, शत्रुओं के नाश करने वाले ! हम तुझसे उस रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं जिससे तू हमारे पुरखाओं को बचाता और उन्हें उत्साहित करता था।

(६) हे पूषण, जिसकी बड़ी सम्पति, जिसके सोने के अस्त्र हैं और जो जीवों में प्रधान है, हमें धन दे।

(७) हमें मार्ग बता जिसमें वे शत्रु जो मार्ग में टूट पड़ते हैं हमें हानि न पहुंचा सकें। हमें सीधे और सुगम मार्ग से ले चल। हे पूषण, इस यात्रा में हमारी रक्षा के उपाय निकाल।

(८) हमें ऐसे सुहावने स्थानों में ले चल जो हरी घास से भरे हों, मार्ग में अधिक गर्मी न हो। हे पूषण, इस यात्रा में हमारी रक्षा के उपाय निकाल।

(९) रक्षा करने में शक्तिमान हो, हमें धन सम्पन्न कर, हमें सम्पत्ति दे, हमें मजबूत बना दे, इस यात्रा में हमारी रक्षा के उपाय निकाल।

(१०) हम पूषण को दोष नहीं लगाते पर सूक्तों से उसकी प्रशंसा करते हैं। हम सुन्दर पूषण से धन माँगते हैं।" (१,४२)

एक दूसरा बहुत ही अच्छा सूक्त जानवरों को चराई पर ले जाने और उन्हें घर वापस ले आने के बारे में है, जिसकी कुछ रिचाएँ भी अनुवाद करने योग्य हैं—

(४) हम आभीर को बुलाते हैं, वह गौओं को ले जाय, उन्हें चराए, वह जानवरों को पहचाने और उन्हें चुन सके। वह उन्हें घर लौटा लावे। वह उन्हें सब ओर चरावे।

(५) आभीर गौओं को खोजता है और इन्हें घर लौटा लाता है। वह उन्हें सब ओर चराता है। वह घर सकुशल लौट आवे।

(८) हे आभीर, गौओं को अब और चरावो और उन्हें लौटा लाओ। पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में उन्हें चराओ और तब उन्हें लौटा लाओ। (१०,१९)

ऊपर के बचनों में उन लुटेरों का हाल भी पाया जाता है जो देश के बाहरी हिस्सों में रहते थे। ये लोग कदाचित् यहां के पुराने रहने वालों में से, चारे और पशु उठा ले जाने वाले थे जो आर्यों के गांव आदि के आस-पास ताक-झांक लगाए

रहते थे और अनाज आदि को रास्ते में लूट कर अपना जीवन बिताते थे। हम इन लोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे चल कर करेंगे।

देवताओं के सूक्तों में वाणिज्य का वर्णन अवश्य ही बहुत कम है पर फिर भी उनमें कहीं-कहीं पर ऐसे बचन मिलते हैं जो उस समय की चाल-ढाल का अपूर्व वर्णन देकर हम लोगों को आश्चर्य में डालते हैं। उधार देना और ब्याज खाना उस समय अच्छी तरह से मालूम था और ऋषी लोगों ने (याद रखना चाहिये कि ये ऋषी उस समय गृहस्थ थे, योगी या संसार त्यागी नहीं थे) उस पुराने समय की सिधाई से अपने ऋण की दशा पर प्रायः शोक दिखलाया है। एक दूसरी अद्भुत रिचा से हम लोगों को जान पड़ता है कि जब कोई चीज एक बार बेंच दी जाती थी तो वह बिक्री सदा के लिये पक्की समझी जाती थी।

"कोई मनुष्य बहुत-सी चीज थोड़े दाम पर बेच डालता है और तब वह खरीदने वाले के यहां जाकर बिक्री को अस्वीकार करता और अधिक दाम मांगने लगता है। पर एक बार जो दाम तय हो गया उससे अधिक वह यह कर नहीं ले सकता कि मैंने थोड़े दाम में बहुत-सी चीज दी है। चाहे दाम कम हो या अधिक पर जो बेचने के समय तय हो गया वही ठीक है।" (४,२४,९)

ऐसे ही ऐसे बचनों से यह भी जान पड़ता है कि उस समय खरीदने और बेचने के लिये सोने का सिक्का भी जारी था। मं० ५ सू० २७ रि० २ आदि स्थानों पर ऋषियों के एक सौ सोने का सिक्का पाने के उदाहरण मिलते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी एक बँधे हुये दाम के सोने के टुकड़े सिक्के की तरह पर काम में लाए जाते थे, जैसा कि इन वाक्यों से जाना जाता था। साथ ही इसके यह भी जानना चाहिए कि ऋग्वेद में सिक्के का हाल साफ तरह पर कहीं नहीं मिलता। ऋग्वेद में (म० १ सू० १२६ रि० २) 'निषक' शब्द कई जगह पर संदिग्ध अर्थ में आया है। कहीं-कहीं पर उसका अर्थ 'सिक्का' है और कहीं-कहीं पर 'गले का एक सोने का एक गहना'। यह न समझना चाहिये कि ये दोनों अर्थ जरूर एक दूसरे के उलटे होंगे, क्योंकि आर्यावर्त में बहुत पहले के समय से सोने के सिक्के बराबर गले के गहनों के काम में लाए जाते थे।'

ऋग्वेद में समुद्र की यात्रा का वर्णन साफ तरह पर मिलता है----पर उनमें जो शब्द आये हैं उनका अर्थ 'समुद्र' न होकर केवल 'नदी' भी हो सकता है। म० १ सू० ११६ रि० ३ आदि स्थानों में भुज्यु के जहाज डूब जाने का और अश्विन देवाताओं के उसे बचाने का वर्णन भी पाया जाता है और म० १ सू० २५ रि० ७ में लिखा है कि वरुण देवता आकाश में चिड़ियों का रास्ता और समुद्र में जहाजों का मार्ग जानते हैं। म० ४ सू० ५५ रि० ६ में कवि धन कमाने की इच्छा रखने वाले

उन मनुष्यों का वर्णन करता है जो जलयात्रा करने के पहले समुद्र की स्तुति करते हैं। म० ७ सू० ८८ रि० ३ में वशिष्ठ कहते हैं :

"जब वरुण और मैं नाव पर चढ़ कर समुद्र में गए तो मैं उस नाव पर रहा जो पानी पर तैरती थी और मैं उसमें सुखी था। मैं आनन्द से (लहरों पर) इधर-उधर हिलता था।"

ऋग्वेद में समुद्र यात्रा के ऐसे-ऐसे बहुत से साफ वर्णन मिलते हैं पर उसमें समुद्र यात्रा की मनाही कहीं पर भी नहीं पाई जाती।

तीसरा अध्याय

भोजन, कपड़े और शान्ति के व्यवसाय

जौ और गेहूँ खेत की मुख्य पैदावार और भोजन की मुख्य वस्तु जान पड़ती है। ऋग्वेद में अनाज के जो नाम मिलते हैं वे कुछ सन्देह उत्पन्न करने वाले हैं क्योंकि पुराने समय में उनका जो अर्थ था वह आजकल बदल गया है। आजकल संस्कृत में 'यव' शब्द का अर्थ केवल 'जौ' है पर वेद में इसी शब्द का मतलब गेहूं और जौ से लेकर अन्न मात्र से है। इसी तरह आजकल 'धान' शब्द का अर्थ कम से कम बङ्गाल में, चावल से है पर ऋग्वेद में यह शब्द भुने हुये जौ के लिये आया है, जो भोजन के काम में आता था और देवताओं को भी चढ़ाया जाता था। ऋग्वेद में व्रीहि (चावल) का कहीं उल्लेख नहीं है।

हम लोगों को इन्हीं अनाजों की बनी हुई कई तरह की रोटियों का भी वर्णन मिलता है जो कि खाई जाती थीं और देवताओं को भी चढ़ाई जाती थीं। 'पक्ति' (पच् = पकाना) का अर्थ है 'पकी हुई रोटी'। इसके सिवा कई दूसरे शब्द, जैसे पुरोदास 'अपूप' और 'करम्भ' आदि भी (म० ३ सू०५२ रि० १ और २, म० ४ सू० २४ रि० ७ आदि में) पाये जाते हैं।

यह बात बहुत सहज में विचारी जा सकती है कि पञ्जाब के पुराने हिन्दू लोग विशेष करके मांस आदि खाते थे। हम लोगों को गऊ, भैंसे और बैलों को बलि चढ़ा कर पकाए जाने का कई जगह वर्णन मिलता है (म० १ सू० ६१ रि० १२; म० २ सू० ७ रि० ५; म० ५ सू० २९ रि० ७ और ८; म० ६ सू० १७ रि० ११; म० ६ सू० १६ रि०

४७; म० ६ सू० २८ रि० ४; म० १० सू० २७ रि० २; म० १० सू० २८ रि० ३) आदि।

म० १० सू० ८९ रि० १४ में ऐसी जगह का वर्णन है जहां गोमेध किया जाता था और म० १० सू० ९१ रि०१४ में घोड़ों, बैलों और भेड़ों के बलिदान का वर्णन है। घोड़ों के बलिदान का उल्लेख बहुत कम आया है जिससे जान पड़ता है कि यद्यपि पुराने आर्य लोग यह चाल अपने पहले रहने की जगह से आर्यावर्त में ले आये थे पर घोड़ों के मांस खाने की यह चाल यहां पर बहुत जल्दी उठ गई। यहां पर पीछे के समय में तो घोड़े का बलिदान अर्थात् 'अश्वमेध' विरलेही कभी होता था। अर्थात् जब कोई बड़ा प्रतापी राजा अपने आस-पास के सब राजाओं को जीत कर सम्राट की पदवी लेता था, उस समय वह बड़ी धूम धाम से अश्वमेघ करता था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि राजाओं की यह बड़ी प्रथा उसी पुराने समय की घोड़ों के मारने की सीधी-सादी चाल से निकली है जब कि घोड़े का मांस खाया जाता था। पीछे के समय में अश्वमेध जिस धूमधाम और कुछ जघन्य रीतियों के साथ किया जाता था वे सब बातें वैदिक काल में नहीं थीं।

वैदिक काल में घोड़ों के मारने का पूरा हाल ऋग्वेद के पहले मंडल के १६२वें सूक्त में पाया जाता है। घोड़े की देह पर बेंत से निशान किया जाता था और फिर वह इसी निशान की हुई लकीर पर से काटा जाता था। उसकी पसलियां और सब अंग अलग-अलग कर दिये जाते थे। फिर उसका मांस सेंक कर उबाला जाता था और यह समझा जाता था कि घोड़ा देवताओं को पहुंच गया।

यह कौन विश्वास कर सकता था कि ऋग्वेद का सीधा-सादा अश्ववध अर्थात् पूजा और भोजन के लिये घोड़े की बोटी-बोटी काट कर और उसे सेंक कर उबालने की रीति आगे चल कर इतनी बढ़ जायगी और अन्त में राजाओं का अश्वमेध हो जायगी? पर वेद की बहुत-सी सीधी-सादी और स्वाभाविक बातें पीछे के समय में इसी तरह से बढ़ कर विविध विधानों की बड़ी-बड़ी रीतें हो गई हैं। वेद के बहुत से रूपकों ने जो कि सृष्टि के अद्भुत दृश्यों के विषय में हैं, पुराणों में बड़ी लम्बी चौड़ी कथाओं का रूप धारण किया है। वेद की सच्ची प्रतिष्ठा इसी में है कि उससे हम लोगों को हिन्दुओं की रीति व्यवहार की और साथ ही उनके धर्म की उत्पत्ति का पता लगता है।

ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक समय में नशे की पीने वाली चीज केवल एक मात्र सोम वृक्ष का उबला हुआ रस ही था। पुराने आर्य लोगों को इसका इतना व्यसन था कि आर्यावर्त और ईरान में (ईरान में 'हओम' के नाम से) जल्दी ही इसकी पूजा देवता की तरह होने लगी और ऋग्वेद के एक पूरे मंडल में इस देवता

का वर्णन है। जान पड़ता है कि हिन्दू आर्य लोगों को उनके शान्त ईरानी भाइयों की अपेक्षा इस सोम मदिरा का अधिक व्यसन था। जंदवस्था में हिन्दुओं की इस बुरी लत का कई जगह उल्लेख है। पुरानी बातों की खोज करने वाले बहुत से विद्वानों का यह भी मत है कि दक्षिणी आर्यों में बिगाड़ होकर हिन्दुओं और ईरानियों के अलग हो जाने का एक बड़ा भारी कारण यह सोम पान भी है।

सोमरस जिस तरह से बनाया जाता था उसका पूरा ब्योरा म० ९ सू० ६६ और दूसरे कई सूक्तों में भी दिया है। हम यहां इस सूक्त की कुछ रिचाओं का अनुवाद देते हैं—

(७) हे सोम ! तुम कुचले गये हो। तुम चारों ओर खुशी फैलाते हुए, इन्द्र के लिये नदी की तरह बहते हो। तुम अक्षय आहार देते हो।

(८) सात स्त्रियां तुम्हारा गीत गाती हुई, अपनी अंगुलियों से तुम्हें हिलाती हैं। तुम यज्ञ करने वाले को यज्ञ में उसके कर्मों का स्मरण दिलाते हो।

(९) तुम प्रसन्न करने वाली आवाज से पानी में मिलते हो और अंगुलियां तुम्हें एक ऊनी छन्ने के ऊपर हिलाकर छानती हैं। तब तुम्हारे छींटे उड़ते हैं और ऊनी छन्ने में से आवाज निकलती है।

(१०)ऊनी छन्ना एक बर्तन पर रक्खा जाता है और अंगुलियां सोम को बराबर हिलाती रहती हैं, जिससे एक मीठी धार बर्तन में गिरती है।

(१३) हे सोम ! तब तुम दूध में मिलाये जाते हो। पानी तुम्हारी ओर प्रसन्न करने वाली आवाज के साथ जाता है।

इस वर्णन से जान पड़ता है कि सोम रस दूध के साथ मिला कर पिया जाता था, जिस तरह आज कल भांग पी जाती है। ऋग्वेद के कवि लोग सोम के गुणों और उसकी आन्नद देने वाली शक्ति का वर्णन करते-करते मारे खुशी के उन्मत्त हो जाते हैं। उनके कुछ वर्णनों ने आगे के समय में चल कर पुराणों में अजीब कथाओं का रूप धारण किया है। इस बात का उदाहरण देकर समझाने के लिये दो एक रिचाएं बहुत होंगी---

हे सोम ! तेरे समान दिव्य कोई चीज नहीं हैं। जब तू गिराया जाता है तो तू सब देवताओं को अमरत्व देने के लिये निमन्त्रित करता है। (९,१०८,३)

प्रशंसा के योग्य सोम पुराने समय से देवताओं के पीने के काम में चला आता है। वह आकाश के गुप्त स्थानों से निकाला गया है। वह इन्द्र के लिये बनाया गया और उसकी प्रशंसा हुई। (९,११०,८)

हे सोम जिस लोक में अक्षय ज्योति होती है और जहां स्वर्ग स्थित है उसी अमर और मरण विहीन लोक में तू मुझे ले चल ! इन्द्र के लिये बह। (९,११३,७)

ऐसे-ऐसे वाक्य ऋग्वेद के नवें मण्डल भर में पाए जाते हैं। यह कौन अनुमान कर सकता था कि समुद्र मथ कर उसमें से अमृत के निकलने की अजीब पौराणिक कथाएँ सोम के इन्हीं वेद के सीधे सादे वर्णनों से निकली होंगी। वेद में आकाश जलमय समझा गया है और इसीलिये वह अक्सर समुद्र के अर्थ में भी आया है। सोम के आकाश में से मिलने का अर्थ पुराण में अमृत के लिये समुद्र का मथना किया गया है।

ऋग्वेद के बहुत से वाक्यों से जाना जाता है कि उस समय बहुत-सी शिल्पविद्याओं की बहुत अच्छी उन्नति हो गई थी। कपड़ा बुनना जरूर ही बहुत अच्छी तरह से मालूम हो चुका था और स्त्रियों की निपुण उंगलियां पुराने समय में भी ताना-बाना बुनना वैसा ही जानती थीं जैसा कि आजकल लोग जानते हैं (म० २ सू० ३ रि० ६; म० २ सू० ३८ रि० ४ आदि)। एक अपूर्व पद में (म० ६ सू० ९ रि० २) एक ऋषी अपने धर्म के क्रिया कर्मों के गूढ़ अर्थ को न जानने का इस तरह वर्णन करता है कि "मैं धर्म के क्रिया कर्मों के ताने और बाने नहीं जानता।" एक दूसरी जगह (म० १० सू० २६ रि० ६) ऊन बुनने और रङ्ग उड़ाने का देवता पूषण कहा गया है, जिसे हम ऊपर दिखला चुके हैं कि वह चरवाहों का देवता है।

आजकल की तरह सम्भवतः उस समय में भी आर्यों के हर एक गांव में एक नाई होता था। एक जगह पर (म० १ सू० १६४ रि० ४४) आग लगा कर जङ्गल के साफ करने को 'पृथ्वी का मुंडन करना' कहा गया है। बढ़ई का काम भी बहुत अच्छी तरह मालूम था और छकड़े और रथ बनाए जाने का हाल कई जगह मिलता है। (म० ३ सू० ५३ रि० १९; म० ४ सू० २ रि० १४; म० ४ सू० १६ रि० २० इत्यादि) लोहे, सोने और दूसरी धातुओं का व्यवहार भी अच्छी तरह से मालूम था। म० ५ सू० १५ रि० ५ में एक लोहार के काम का उल्लेख और म० ६ सू० ३ रि० ४ में सोनारों के सोना गलाने का भी वर्णन मिलता है।

पर वैदिक काल की धातुओं के व्यापार का इससे भी ज्यादा हाल हम लोगों को उन सब सोने के गहनों और लोहे के बर्तनों और हथियारों से मालूम होता है जिनका हाल सारे ऋग्वेद में पाया जाता है। इनका हाल अनगिनती जगहों पर आया है। इसलिये हम यहां सिर्फ उतने ही का वर्णन कर सकते हैं जितने से कि हम लोगों को उस समय की बनी हुई चीजों का साधारण ज्ञान हो जाय। म० १ सू० १४० रि० १०; म० २ सू० ३९ रि० ४; म० ४ सू० ५३ रि० २ और कई दूसरी जगहों में लड़ाई के हथियारो का वर्णन है। म० २ सू० ३४ रि० ३ में सिर के सोनहले शस्त्र का उल्लेख है और म० ४ सू० ३४ रि० ९ में कन्धों या भुजाओं के लिये कवच का वर्णन है जिसका मतलब शायद ढाल से है। म० ५ सू० ५२ रि० ६;

म० ५ सू० ५४ रि० ११ और म० ५ सू० ५७ रि० २ में तलवार वा बाण को तथा तीर धनुष और तूर्णार को, बिजली की उपमा दी गई है । म० ६ सू० २७ रि०.६ में तीन हजार कवचधारी योद्धाओं का उल्लेख है; म० ६० सू० ४६ रि० ११ में तेज चमकते हुए बाणों का वर्णन है और म० ६ सू० ४७ रि० १० में तेज धार वाली तलवारों का उल्लेख है और इसी सूक्त की २६ वीं और २७ वीं रिचाओं में लड़ाई के रथों और दुन्दुभी का भी वर्णन है और अन्त में छठें मण्डल के ७५ वें सूक्त में लड़ाई के हर्बे हथियार और साज सामान का एक उत्तेजना देने वाला वर्णन है, जिसका अनुवाद हम अपने पाठकों के लिये आगे चल कर देंगे ।

म० ४ सू० २ रि० ८ में सुनहले साज के घोड़ों का उल्लेख है और म० ४ सू० ३७ रि० ४, म० ५ सू० १९ रि० ३ और दूसरे कई स्थानों पर 'निष्क,' अर्थात् गले में पहरने के एक सोने के गहने का उल्लेख है । म० ५ सू० ५३ रि० ४ में मरुत् के चमकीले आभूषणों को रत्न (अञ्जि), गले के गहने (स्रक), सुनहले कवच (रुक्म) और हाथ के गहने तथा नूपुर (खादि) की उपमा दी गई है । म० ५ सू० ५१ रि० ११ में फिर पैर के नूपुरों, छाती के कवचों और सिर के सोने के मुकुट (शिप्राः हिरणमयाः) का वर्णन है ।

इस तरह पर यह बात जानी जाती है कि उस समय हर्बे हथियार और सब तरह के गहनों आदि के बनाने में बहुत कुछ उन्नति हो गई थी । हम लोगों को (म० ६ सू० ४८ रि० १८ में) चमड़े और (म० ५ सू० ३० रि० १५ में) लोहे के बर्तनों का उल्लेख भी मिलता है । इसके सिवाय और कई जगहों पर (म० ७ सू० ३ रि० ७; म० ७ सू० १५ रि० १४, म० ७ सू० ९५ रि० १ आदि में) लोहे के नगरों आदि का भी वर्णन है, जिससे हम लोगों को बड़े मजबूत किले समझने चाहिये । म० ४ सू० ३० रि० २० आदि कई जगहों पर पत्थर के बने हुए सैकड़ों नगरों का भी वर्णन है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुराने समय के हिन्दू लोग पथरीले और पहाड़ी देशों में भी जाकर बसे और पत्थरों को सस्ता और टिकाऊ पाकर उन्हें घर बनाने के काम में लाने लगे । इस बात के विश्वास करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि हिन्दुओं के बहुत से नगरों के बहुतेरे भवन और चारों ओर की दीवारें पत्थरों की थीं । हजारों खम्भों के भवनों के जो कई जगह पर (म० २ सू० ४१ रि० ५, म० ५ सू० ६२ रि० ६ आदि में) वर्णन मिलते हैं उनसे जान पड़ता है कि घर बनाने की विद्या भी उन्नति पर पहुँच गई थी । पर साथ ही इसके यह बात भी माननी पड़ेगी कि ऋग्वेद में सङ्ग तराशी की विद्या का कहीं पर साफ उल्लेख नहीं मिलता । पुरानी बातों का पता लगाने वाले लोग भी आर्यावर्त के किसी हिस्से में बौद्ध संवत

के बहुत पहले की बनी हुई कोई पत्थर की मूर्ति अब तक नहीं पा सके हैं । योरप के अगणित बड़े-बड़े अजायब घरों में, जो कि इजिप्ट और बेबिलन के बने हुए पुराने पत्थरों से भरे हुये हैं, भारतवर्ष के बने हुए कोई ऐसे पत्थर नहीं हैं जिनका समय बुद्ध से बहुत पहले का हो ।

आजकल के बहुत से पालतू जानवर ऋग्वेद के समय में भी आर्यावर्त में पालतू कर लिए गये थे । कई जगहों में (म० ६ सू० ४६ रि० १३ और १४ आदि) हम लोगों को युद्ध के घोड़ों के जोश दिलाने वाले वर्णन मिलते हैं।

वास्तव में आर्य लोग वहां के पुराने रहने वालों के साथ लड़ाई के लिये इन घोड़ों को अच्छे काम का समझते थे और वे लोग शीघ्र ही 'दधिक्रा' के नाम से घोड़ों की पूजा करने लग गए । इस देवतुल्य पशु की जो पूजा की जाती थी उसका एक जोश दिलाने वाला वर्णन म० ६ सू० ३० रि० १३ में दिया है ।

म० ४ सू० ४ रि० १ में एक राजा का अपने मन्त्रियों के साथ हाथी पर सवार होने का हाल है । पालतू जानवरों में से गाय, बकरे, भेड़, भैंस और कुत्तों का उल्लेख कई जगहों पर मिलता है । ये कुत्ते बोझा ढोने के काम में लाए जाते थे ।

चौथा अध्याय

लड़ाइयाँ

ऊपर कहा जा चुका है कि पुराने हिन्दुओं ने सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के किनारे की उपजाऊ जमीन को पंजाब के पुराने रहने वालों से छीन लिया । पर इन पुराने वासियों ने अपने पुरखों की जमीन बिना युद्ध किये ही नहीं दे दी । यद्यपि वे लड़ाई के मैदान में हिन्दुओं की सभ्य सेना और वीरता के आगे नहीं ठहर सकते थे, पर फिर भी वे लोग करीब करीब सब ही हिन्दुओं की बस्ती और गांव के आस-पास किलों और बनों के निकट आया जाया करते थे । हिन्दुओं को बाहर आने-जाने में दुःख देते थे, उनकी घात में बैठे रह कर जभी मौका पाते तभी उन्हें लूट लेते थे, उनके पशु चुरा लेते थे और बड़े-बड़े दल बांध कर प्रायः उन पर चढ़ाई करते थे । अतएव स्काटलेंड की गाल जातियों की तरह जिनसे सेक्सन लोगों ने उनकी उपजाऊ जमीन इसी तरह से छीन ली थी और जो कि इसी तरह से उजाड़ किलों

में जाकर बसे थे, ये लोग भी अपनी दशा इस तरह वर्णन कर सकते थे---

ये समथर उर्वरा, और यह नरमी घाटी ।
रही एक दिन गेल जाति ही केरि बपौती ॥
आय बिदेसी घोर-कर्म-कारी कर-वारो ।
मम पुरखन सों छीनि लियो भूभाग हमारो ॥
रहत कहां हम अबै ? अहो देखहु तंह अड़बड़ ।
पड़े सैल पै सैल और बीहड़ पै बीहड़ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

पचि, यहि उत्तर खंड केर परकोटे माहीं ।
तू समुझत क्या कबहुं निकरिहैं हम सब नाहीं ॥
लूटन वारे कंह लूटन को ज्यौं हौं सकिहौं ।
और छीनवे हेत शिकारहिं वह डांकू सों ?
सौंह आतमा केरि ! तहां समथर पर जावत् ।
सैक्सन एकहु अन्न रासि खलिहान रखावत ॥
जब लौं, एकहु, दसों सहस पशुवृन्द सम्भारी ।
भटकत, वह वहि नदी नीर की भूलन वारी ।
गेल नदी मैदान करे सधरम अधिकारी ।
फेर लेइहैं प्रवल भुजा सो (निज) पट्टीदारी ॥❀

पर अभाग्यवश उन लोगों में कोई ऐसा कवि नहीं था जो हम लोगों को उनका हाल सुनाता । हम लोगों को इन हजारों वर्ष के युद्ध का जो कुछ हाल मिलता है वह केवल जीतने वाले हिन्दुओं ही से मिलता है । यहां पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये विजयी लोग आदिवासियों को वैसी ही अनादर और घृणा की दृष्टि से देखते थे जैसे कि सब जीतने वाली जातियां देखती आई हैं, चाहे वे जातियां ईसा के सत्रह सौ वर्ष पहले सिन्धु नदी के किनारे पर रही हों या ईसा के सत्रह सौ वर्ष पीछे मिसिसिपी नदी के तट पर ! इतिहास की घटनाएं घूम फिर कर एक सी होती हैं । पंजाब उसी तरह अनार्य आदिवासियों से विहीन हो गया जैसा कि आज कल के समय में अमेरिका का यूनाइटेड स्टेटस् उन प्रतापी और वीर इंडियन जातियों से विहीन कर दिया गया है, जो कि उसके पुराने जङ्गलों के भीतर बसती, शिकार खेलती और राज्य करती थीं ।

ऋग्वेद में आदिवासियों के साथ इन युद्धों के बहुत से वर्णन पाये जाते हैं ।

❀ इस पद्यमय अनुवाद के लिये मैं बाबू काशीप्रसाद का अनुगृहीत हूँ ।--अनु०

इन युद्धों का वर्णन हम स्वयम् न लिखकर यदि इन्हीं वर्णनों में से कुछ का अनुवाद कर दें तो इन अगणित वैरियों का अधिक ज्ञान हो जायगा। ये वर्णन इतने अधिक हैं कि कठिनाई केवल उनके चुनने में है।

इन्द्र जिसका आवाहन बहुतों ने किया है और जिसके साथ उसके शीघ्रगामी साथी हैं, उसने अपने वज्र से पृथ्वी पर रहने वाले दस्युओं और सिम्यों का नाश करके खेतों को अपने गोरे मित्रों (आर्यों) में बांट दिया। वज्र का पति सूर्य का प्रकाश करता है और जल बरसाता है। (१,१००,१८)।

इन्द्र ने अपने वज्र और अपनी शक्ति से दस्युओं के देश का नाश कर दिया और अपनी इच्छा के अनुसार भ्रमण करने लगा। हे वज्री! तू हम लोगों के सूक्तों पर ध्यान दे, दस्युओं पर अपने शस्त्र चला, और आर्यों की शक्ति और यश बढ़ा। (१,१०३,३)।

इसके पीछे ही के सूक्त में हम लोगों को उन आदिवासी लुटेरों का एक अद्भुत वर्णन मिलता है जो कि शिफा, अंजसी, कुलिसी और वीरपत्नी नाम की नदियों के किनारे पर रहते थे। ये नदियां कहां हैं सो अब जाना नहीं जा सकता। ये लुटेरे अपने किलों में से निकल कर सभ्य आर्यों के गावों को उसी तरह दुःख देते थे जैसे कि हम लोगों के समय में इन आदिवासियों की एक सच्ची सन्तान, तांतिया भील मध्य प्रदेश के सुखी गांवों को सताता था! हम इन दोनों रिचाओं का अनुवाद नीचे देते हैं---

कुयव दूसरे के धन का पता पाकर उसे अपने काम में लाता है। वह पानी में रह कर उसे खराब करता है। उसकी दोनों स्त्रियां, जो नदी में स्नान करती हैं, शीफा नदी में डूब मरें।

अयु पानी में एक गुप्त किले में रहता है। वह पानी की बाढ़ में आनन्द से रहता है। अंजसी, कुलिशी और वीरपत्नी नदियों के पानी उसकी रक्षा करते हैं। (१,१०४,३ और ४)।

हम कुछ वाक्य और उद्धृत करते हैं---

इन्द्र लड़ाई में अपने आर्य पूजकों की रक्षा करता है। वह जो कि हजारों बार उनकी रक्षा करता है, सब लड़ाइयों में भी उनकी रक्षा करता है। जो लोग प्राणियों (आर्यों) के हित के लिये यज्ञ नहीं करते, उन्हें वह दमन करता है। शत्रुओं की काली चमड़ी को वह उधेड़ डालता है, उन्हें मार डालता और जला कर राख कर डालता है। जो लोग हानि पहुंचाने वाले और निर्दयी हैं उन्हें वह जला डालता है।" (१,३०,८)

हे शत्रुओं के नाश करने वाले। इन सब लुटेरों के सिर को इकट्ठा करके उन्हें अपने चौड़े पैर से कुचल डाल ! तेरा पैर चौड़ा है।

हे इन्द्र ! इन लुटेरों का बल नष्ट कर ! उन्हें उस बड़े और घृणित खड्डे में फेंक दे।

हे इन्द्र ! तूने ऐसे-ऐसे पचास से भी तिगुने दलों का नाश किया है। लोग तेरे इस काम की प्रशंसा करते हैं। पर तेरी शक्ति के आगे यह कुछ भी बात नहीं है।

हे इन्द्र ! उन पिशाचों का नाश कर जो कि लाल रंग के हैं और भयानक हल्ला मचाते हैं। इन सब राक्षसों का नाश कर। :-: (१,१३३,२-५)।

हे इन्द्र ! कवि तुझसे अच्छे भोजन की प्रार्थना करता है। तूने इस पृथ्वी को दासों की शय्या (समाधि स्थान) बनाया है। इन्द्र ने अपने दान से तीनों भुवन को सुशोभित किया है। उसने राजा दुर्योणी के लिये कुयवाच को मारा है।

हे इन्द्र : ऋषी लोग अब तक शक्ति के उस पुराने कार्य की प्रशंसा करते हैं ! तूने युद्ध का अन्त करने के लिये बहुत लुटेरों का नाश किया है, तूने देवताओं की पूजा न करने वाले शत्रुओं के नगरों को नष्ट किया है और देवताओं के पूजने वाले वैरियों के शस्त्रों को नीचा कर दिया है। (१,१७४,७ और ८)।

हे अश्विनो ! उन लोगों का नाश करो जो कुत्तों की तरह भयानक रीति से भूक रहे हैं और हम लोगों का नाश करने के लिये आ रहे हैं। उन लोगों को मारो जो हमलोगों से लड़ने की इच्छा रखते हैं। तुम उन लोगों के नाश करने का उपाय जानते हो। जो लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हैं उनके हर एक शब्द के बदले उन्हें धन मिले। हे सत्य देव ! हम लोगों की प्रार्थना स्वीकार करो।

जगत प्रसिद्ध और दयावान इन्द्र मनुष्यों (आर्यों) पर दया रखता है। नाश करने वाले और शक्तिमान इन्द्र ने दुष्ट दास का सिर नीचे गिरा दिया है।

वृत्र को मारने वाले और नगरों का नाश करने वाले इन्द्र ने काले दासों के झुंडों का नाश किया है और मिट्टी और जल मनु ※ के लिये बनाया है। वह होम करने वाले की इच्छाओं को पूरा करे (२,२०,६ और ७)।

हमलोग जानते हैं कि अमेरिका जीतने वाले स्पेन देश वासियों की जीत का

:-: पिशाचों और राक्षसों से कदाचित कल्पित भूतों का तात्पर्य है। परन्तु हमारा विचार यह है कि यहाँ पर उनका तात्पर्य आदिम निवासियों से है।

※ यहाँ पर तथा अन्यत्र भी "मनु" आर्य जाति का पूर्व पुरुष कहा गया है। बहुत से स्थानों पर वह कृषि विद्या तथा अग्निपूजा का जिनके लिये कि आर्य लोग प्रसिद्ध हैं, चलाने वाला कहा गया है।

कारण अधिक करके उनके घोड़े ही थे, जिनको अमेरिका के आदिवासी लोग काम में लाना जानते थे और इस कारण से उन्हें डर की दृष्टि से देखते थे। ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन हिन्दू आर्यों के घोड़ों ने भी आर्यावर्त के आदिवासियों में ऐसा ही डर उत्पन्न किया। अतएव नीचे लिखा हुआ वर्णन जो कि दधिक्रा अर्थात् देवतुल्य युद्ध के घोड़ों के सम्बन्ध में एक सूक्त का अनुवाद है, मनोरंजक होगा।

जिस तरह लोग किसी कपड़ा चोरी करने वाले चोर पर चिल्लाते और हल्ला करते हैं, उसी तरह शत्रु दधिक्रा को देखकर चिल्लाते हैं। जिस तरह झपटते भूखे बाज को देख कर चिड़ियाँ हल्ला करती हैं उसी तरह शत्रु लोग भोजन और पशु लूटने की खोज में फिरते हुये दधिक्रा को देखकर हल्ला करते हैं।

शत्रु लोग दधिक्रा से डरते हैं जो कि बिजली की तरह दीप्तिमान और नाश करने वाला है। जिस समय वह अपने चारों ओर के हजारों आदमियों को मार भगाता है उस समय वह जोश में आ जाता है और अधिकार के बाहर हो जाता है। (४,३८,५ और ८)।

ऋग्वेद के अनेक वाक्यों से जाना जाता है कि कुत्स एक प्रतापी योधा और काले आदिवासियों का एक प्रबल नाश करने वाला था। म० ४ सू० १६ में लिखा है कि इन्द्र ने कुत्स को धन देने के लिये मायावी तथा पापी दस्यु का नाश किया, उसने कुत्स की सहायता की और आप दस्यु को मारने के लिये उसके घर आया और उसने लड़ाई में पचास हजार "काले शत्रुओं" को मारा। म० ४, सू० २८, रि० ४ से जाना जाता है कि इन्द्र ने दस्यु को गुणहीन तथा सब मनुष्यों का घृणा पात्र बनाया है। म० ४ सू० ३० री० १५ से जाना जाता है कि इन्द्र ने एक हजार पाँच सौ दासों का नाश किया।

म० ५ सू० ७० रि० ३ में, म० ६ सू० १८ रि० ३ में, और म० ६ सू० २५ रि०२ में दस्यु लोगों तथा दासों के दमन करने और नाश करने के इसी तरह के वर्णन हैं। म० ६ सू० ४७ रि २० में दस्यु लोगों के रहने की एक अज्ञात जगह का विचित्र वर्णन है जो कि अनुवाद करने योग्य है---

हे देवता लोग! हमलोग यात्रा करते हुये अपना रास्ता भूल कर ऐसी जगह आ गये हैं जहां पशु नहीं चरते। यह बड़ा स्थान केवल दस्युओं को ही आश्रय देता है। हे बृहस्पति! हम लोगों को अपने पशुओं की खोज में सहायता दो। हे इन्द्र! मार्ग भूले हुए अपने पूजने वालों को ठीक रास्ता दिखला।

यह जान पड़ता है कि आर्य कवि लोग आदिवासी असभ्यों के चिग्घाड़ और हल्ले का वर्णन करने में बहुत ही निंदक हैं। ये सभ्य विजयी लोग यह बात कठिनता से विचार सकते थे कि ऐसी चिग्घाड़ भी भाषा हो सकती है, अतएव उन्होंने इन

असभ्यों को कहीं-कहीं बिना भाषा का लिखा है (म० ५ सू० २९ रि० १०, आदि)।

हम दो आदि वासी लुटेरों अर्थात् कुयव और अयु का हाल लिख चुके हैं, जो कि नदियों से घिरे हुए किलों में रहते थे और गांवों में रहने वाले आर्यों को दुःख दिया करते थे। कई जगह एक तीसरे आदिवासी प्रबल मुखिया का भी वर्णन मिलता है जो कि कदाचित काला होने के कारण कृष्ण कहा गया है। उसके सम्बन्ध का वर्णन अनुवाद करने योग्य है—

तेज कृष्ण अंशुमती के किनारे दस हजार सेना के साथ रहता था। इन्द्र अपने ज्ञान से इस चिल्लाने वाले सरदार की बात जान गया। उसने मनुष्यों (आर्यों) के हित के लिये इस लुटेरी सेना का नाश कर डाला।

इन्द्र ने कहा मैंने तेज कृष्ण को देखा है। जिस तरह सूर्य बादलों में छिपा रहता है उसी तरह वह अंशुमती के पास वाले गुप्त स्थान में छिपा है। मरुत्स मेरा मनोरथ है कि तुम उससे लड़कर उसका नाश कर डालो।

तब तेज कृष्ण अंशुमती के किनारे पर चमकता हुआ दिखाई पड़ा। इन्द्र ने बृहस्पति को अपनी सहायता के लिये साथ लेकर उस तेज और बिना देवता की सेना का नाश कर दिया। (८, ९६, १३-१५)।

आदिवासी लोग केवल चिल्लाने वाले तथा बिना भाषा के ही नहीं लिखे गए हैं, परन्तु कई जगह पर तो वे मुश्किल से मनुष्यों की गिनती में समझे गये हैं एक जगह पर लिखा है।

हम लोग चारों ओर दस्यु जातियों से घिरे हुए हैं। यज्ञ नहीं करते, वे किसी चीज में विश्वास नहीं करते, उनकी रीति व्यवहार भिन्न हैं, वे मनुष्य नहीं हैं! हे शत्रुओं के नाश करने वाले, उन्हें मार। दास जाति का नाश कर। (१० २२,८)

म० १० सू० ४९ में इन्द्र कहता है कि मैंने दस्यु जाति को "आर्य" के नाम से रहित रक्खा है (रि० ३), दास जाति के नववास्तव और बृहद्रथ का नाश किया है (रि० ६) और दासों को काट कर दो टुकड़े कर डालता हूँ----उन लोगों ने इसी गति को प्राप्त होने के लिये जन्म लिया है। (रि० ७)

ये आदिवासी जिनसे प्राचीन हिन्दू लोग बराबर युद्ध करते रहे, इस प्रकार के थे, और हिन्दू अपने असभ्य पड़ोसियों अर्थात् भारतवर्ष की भूमि के प्राथमिक अधिकारियों की इस तरह दुर्गत करते थे। यह बात भली-भांति स्पष्ट है कि विजयी लोगों और पराजित लोगों में कोई प्रीति नहीं थी। विजयी लोग अपने नए जीते हुए देश में निरन्तर युद्ध करके ही अपनी रक्षा करते थे, धीरे-धीरे कृषि की सीमा को बढ़ाते थे, नये नये गांव बनाते थे, प्राथमिक जङ्गलों में नई बस्तियां बनाते थे, और सभ्यता तथा अपने

प्रताप की कीर्ति चारों ओर फैलाते थे। वे तिरस्कृत्त असभ्यों को पूरी घृणा की दृष्टि से देखते थे, जब मौका पाते तो उनके झुण्डों को मार डालते थे, अपने घोड़ों द्वारा उनकी सैन्य-पंक्तियों को कम कर देते थे, उन्हें भूँकने वाले कुत्ते तथा बिना भाषा का मनुष्य कहते थे और उन्हें मनुष्य नहीं वरन् पशु की श्रेणी में गिनते थे और समझते थे कि वे लोग मारे जाने ही के लिये जन्मे हैं, उन लोगों ने इसी गति को प्राप्त होने के लिये जन्म लिया है ? परन्तु हठी असभ्य लोग भी बिना अपना बदला लिये नहीं रहते थे। यद्यपि वे हिन्दुओं की अधिक सभ्य वीरता के आगे हार जाते थे, परन्तु वे नदियों के प्रत्येक मोड़ और प्रत्येक किले के निकट लगे रहते थे, और घात में लगे रह कर पथिकों को लूटते थे, गांवों में आकर उपद्रव मचाते थे, पशुओं को मार डालते वा चुरा ले जाते और कभी-कभी बड़े-बड़े झुडों में हिन्दुओं पर आक्रमण करते थे, वे लोग प्रत्येक इंच भूमि देने के पहले उस कठोर दृढ़ता के साथ लड़ते थे जो कि असभ्य जातियों का विशेष गुण है। वे विजयी लोगों के धर्म कर्म में बाधा डालते थे, उनके देवताओं का अनादर करते थे, तथा उनका धन लूट लेते थे। परन्तु इन सब बाधाओं के होते हुए भी, सभ्य जातियों की नई बस्तियां चारों ओर बढ़ती ही गई, सभ्यता का क्षेत्र फैलाता ही गया, जंगल और मरु भूमियों में खेती होने लगी, गांव और नगर बनते गये, और पंजाब भर में प्राचीन हिन्दुओं का राज्य हो गया। असभ्य जातियां या तो निर्मूल ही कर दी गई और या आर्य सभ्यता की बढ़ती हुई सेना से भाग कर उन पहाड़ियों और दुर्गों में जा बसीं जहां कि उनके सन्तान अब तक हैं।

यह कल्पना की जा सकती है कि निर्बल असभ्य जातियों में से कुछ लोगों ने निर्मूल किये जाने या देश से निकाले जाने की अपेक्षा अधम अधीनता स्वीकार करना अच्छा समझा होगा। इसके अनुसार ऋग्वेद में ऐसे दस्यु लोगों का वर्णन मिलता है जिन्होंने अन्त में प्रतापी जातियों का प्रभुत्व स्वीकार किया और उनकी सभ्यता और भाषा को ग्रहण किया। अतएव ये लोग भारतवर्ष के प्रथम आदि वासी थे जो हिन्दू हो गये।

आदिवासियों और आर्य लोगों के युद्ध के विषय में हम बहुत से वर्णन उद्धृत कर चुके हैं। अब हम दो एक ऐसे वाक्य उद्धृत करेंगे जिनसे जान पड़ेगा कि विजयी आर्य लोग स्वयं आपस में सदा मेल मिलाप से नहीं रहते थे। सुदास एक आर्य राजा तथा विजयी था। उसके विषय में प्रायः यह वर्णन आया है कि अनेक आर्य जातियां और राजा लोग मिलकर उससे लड़े, पर उसने उन सभी को पराजित किया। आर्य जातियों के बीच इन विनाशी युद्धों के, तथा जो जातियां सुदास से लड़ी थीं उनके वर्णन ऋग्वेद में इतिहास के ध्यान से बड़े मूल्यवान हैं।

(८) धूर्त शत्रुओं ने नाश करने का उपाय सोचा और अदीन नदी का बांध तोड़ डाला। परन्तु सुदास अपनी शक्ति से पृथ्वी पर स्थित रहा और चयमान का पुत्र कवि मरा।

(९) क्योंकि नदी का पानी अपने पुराने मार्ग से ही बहता रहा, उसने महा मार्ग नहीं किया और सुदास का घोड़ा समस्त देश में घूम आया। इन्द्र ने लड़ाके और बतक्कड़ वैरियों और उनके बच्चों को सुदास के अधीन कर दिया।

(११) सुदास ने दोनों प्रदेशों के २१ मनुष्यों को मार कर यश प्राप्त किया। जिस तरह यज्ञ के घर में युवा पुरोहित कुश काटता है उसी तरह सुदास ने अपने शत्रुओं को काट डाला। वीर इन्द्र ने उसकी सहायता के लिये मरुत्स को भेजा।

(१४) अनु और द्रुह्य के छांछठ हजार छ सौ छांछठ योद्धा लोग, जिन्होंने पशुओं को लेना चाहा था और सुदास के शत्रु थे सब मार डाले गये। ये सब कार्य इन्द्र का प्रताप प्रगट करते हैं।

(१७) इन्द्र ने ही बिचारे सुदास को इन सब कामों के करने योग्य किया। इन्द्र ने बकरे को इस योग्य बनाया कि वह जोरावर शेर को मारे। इन्द्र ने बलिदंड को एक सुई से गिरा दिया। उसने सब सम्पत्ति सुदास को दी। (७,१८)

कवि तृत्सु वा वशिष्ठ, जिसने सुदास के इस यश का वर्णन किया है, वह अपनी चिरस्थायिनी कविता के लिये बिना पुरस्कार पाये ही नहीं रहा। क्योंकि २२ और २३ रिचाओं में वह कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता है कि वीर सुदास ने उसे दो सौ गाय, दो रथ और सोने के गहनों से सजे हुए चार घोड़े दिये। नीचे सुदास के सम्बन्ध का एक दूसरा सूक्त उद्धृत किया जाता है--

(१) हे इन्द्र और वरुण ! तुम्हारे पूजने वाले तुम्हारे ऊपर भरोसा करके पशु जीतने के अभिप्राय से अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर पूरब की ओर गये हैं। हे इन्द्र और वरुण, अपने शत्रुओं का, चाहे वे दास हों वा आर्य, नाश करो और सुदास को अपनी रक्षा से बचाओ।

(२) जहाँ पर लोग झंडा उठा कर लड़ते हैं, जहां हम लोगों की सहायता करने वाली कोई वस्तु नहीं दिखाई देती, जहां लोग आकाश की ओर देखकर भय से कांपते हैं, वहां पर, हे इन्द्र और वरुण ! हम लोगों की सहायता करो और हमें धीरज दो।

(३) हे इन्द्र और वरुण ! पृथ्वी के छोर खो गए से जान पड़ते हैं और हल्ला आकाश तक पहुँचता है। शत्रुओं की सेना निकट आ रही है। हे इन्द्र और वरुण ! तुम सदा प्रार्थनाओं को सुनते हो, हमारे निकट आकर रक्षा करो।

(४) हे इन्द्र और वरुण ! तुमने अभी तक अपराजित भेद को मार कर

सुदास को बचाया। तुमने तृत्सुओं की प्रार्थनाओं को सुना। उनकी दीन प्रार्थना लड़ाई के समय फलीभूत हुई।

(५) हे इन्द्र और वरुण! शत्रुओं के हथियार हम पर चारों ओर से आक्रमण करते हैं, शत्रु लोग हमें लूटते हैं। तुम दोनों प्रकार की सम्पत्ति के स्वामी हो! युद्ध के दिन हमारी रक्षा करो।

(६) युद्ध के समय दोनों दल सम्पत्ति के लिये इन्द्र और वरुण की प्रार्थना करते थे। पर इस युद्ध में तुमने तृत्सुओं के सहित सुदास की रक्षा की, जिन पर दस राजाओं ने आक्रमण किया था।

(७) हे इन्द्र और वरुण! वे दस राजे जो कि यज्ञ नहीं करते थे, मिलकर भी सुदास को हराने में समर्थ नहीं हुए।

(८) हे इन्द्र और वरुण! जिस समय सुदास दस सरदारों से घिरा हुआ था और जिस समय सफेद वस्त्र पहने हुए, जटा जूट धारी तृत्सु लोगों ने नैवेद्य और सूक्तों से तुम्हारी पूजा की थी तो तुमने सुदास को शक्ति दी थी। (७,८३)

एक दूसरे सूक्त में उस समय में जो हथियार काम में लाए जाते थे उनका वर्णन मिलता है। हम उसका कुछ भाग नीचे उद्धृत करते हैं।

(१) जब युद्ध का समय निकट पहुँचता है और योद्धा अपना कवच पहन कर चलता है तो वह बादल के समान देख पड़ता है। योद्धा, तेरा शरीर न छिदे, तू जय लाभ कर, तेरे शस्त्र तेरी रक्षा करें!

(२) हम लोग धनुष से पशु जीत लेंगे, हम लोग धनुष से जय प्राप्त करेंगे, हम लोग धनुष से भयानक और घमन्डी शत्रुओं की अभिलाषा को नष्ट करें! हम-लोग धनुष से अपनी जीत चारों ओर फैलावेंगे।

(३) जब धनुष की प्रत्यंचा खींची जाती है तो वह युद्ध में आगे बढ़ते हुये तीर चलाने वाले के कान तक पहुँचती है, उसके कान में धीरज के शब्द कहती है और वह तीर को इस तरह गले लगाती है जैसे कोई प्यार करने वाली स्त्री अपने पति को गले लगाती है।

(५) तरकस बहुत से तीरों के पिता के समान है, बहुत से तीर उसके बाल बच्चों की तरह हैं। वह आवाज करता हुआ, योद्धा की पीठ पर लटकता है, लड़ाई में उसे तीर देता है और शत्रु को जीतता है।

(६) चतुर सारथी अपने रथ पर खड़ा होकर जिधर चाहता है उधर अपने घोड़ों को हांकता है, रास घोड़ों को पीछे से रोके रहती है, उनका यश गाओ!

(७) घोड़े जोर से हिनहिनाते हुए अपने खुरों से धूल उड़ाते हैं और रथों

को लेकर क्षेत्र पर जाते हैं। वे हटते नहीं वरन् लुटेरे शत्रुओं को अपने पैरों के नीचे कुचल डालते हैं।

(१३) तीर में पर लगे हैं, उसकी नोक हरिन (के सींग) की है। अच्छी तरह से खींची जाकर तथा तांत से छोड़ी जाकर वह शत्रु पर गिरती है। जहां पर मनुष्य इकट्ठा वा जुदे-जुदे खड़े रहते हैं वहां पर तीर लाभ उठाती है।

(१४) चमड़े का बन्धन कलाई को धनुष की तांत की रगड़ से बचाता है और कलाई के चारों ओर सांप की तरह लपटा रहता है। वह अपना काम जानता है, गुणकारी है और हर तरह से योद्धा की रक्षा करता है।

(१५) हम उस तीर की प्रशंसा करते हैं जो कि जहर से बुझी हुई है, जिसकी नोक लोहे ❀ की है और जो पर्जन्य की है। (६७५)

अपने इन उद्धृत वाक्यों को समाप्त करने के पहले हम एक वाक्य और उद्धृत करेंगे जिसमें विजयी राजाओं के गद्दी पर बैठने का वर्णन है।

(१) हे राजा ! मैं तुम्हें राजा की पदवी पर स्थित करता हूँ। तुम इस देश के राजा हो। स्थिर और चिरस्थाई हो ! सब प्रजा तुम्हें चाहें ! तुम्हारा राज्य नष्ट न हो !

(२) तुम यहाँ पहाड़ की तरह स्थिर रहो; राज्य सिंहासन पर से उतारे मत जाओ, इन्द्र की तरह चिरस्थायी रह कर राज्य का पोषण करो।

(३) इन्द्र ने यज्ञ का भाग पाया है और वह राज सिंहासन पर बैठा हुआ नए राजा की सहायता करता है ! सोम उसको आशीर्वाद देती है।

(४) आकाश अचल है, पृथ्वी अचल है, पर्वत अचल है, यह लोक अचल है। वह भी अपनी प्रजा के बीच राजा की तरह अचल है।

(५) राजा वरुण तुम्हें अचल करें ! अच्छे बृहस्पति तुम्हें अचल करें; इन्द्र और अग्नि तुम्हारी सहायता करके तुम्हें अचल करें।

(६) देखो मैं इस अमृत तुल्य नैवेद्य को अमृत सोम के रस के साथ मिलाता हूँ। इन्द्र ने तुम्हारी प्रजा को तुम्हारे आधीन करके उनसे तुम्हें कर दिलवाया है। (१०, १७३)

इतना वर्णन बहुत होगा। हम पहले दिखला चुके हैं कि योद्धा लोग केवल

❀ इससे प्रगट होता है कि तीर का सिरा लोहे का होता था। पर्जन्य वृष्टि का देवता है। अतएव पर्जन्य की शाखा से कदाचित उन नरकटों से तात्पर्य है जो वृष्टि में उत्पन्न होते हैं। ग्यारहवीं रिचा से प्रगट होता है कि तीर के सिरे कभी-कभी हरिन के भी होते थे।

कवच और शिरोऽस्त्र ही नहीं काम में लाते थे वरन् वे लोग कंधों के लिये भी एक शस्त्र, कदाचित् ढाल, रखते थे। वे तीर धनुष के सिवाय भाले, फरसे तथा तीखी धार की तलवारों को भी काम में लाते थे। पुराने समय में युद्ध के जो जो शस्त्र दूसरे देशवासियों को मालूम थे उन सब को भारतवासी चार हजार वर्ष पहले जानते थे। युद्ध में वे लोग दुन्दुभी बजा कर मनुष्यों को इकट्ठा करते थे, झंडियां लेकर दृढ़ झुन्डों में आगे बढ़ते थे और वे लोग युद्ध के घोड़ों और रथो का प्रयोग भी भली-भाँति जानते थे। पालतू हाथी भी काम में लाये जाते थे और राजाओं का अपने मंत्रियों के साथ सजे हुये हाथियों पर सवार होने के वर्णन पाये जाते हैं (म० ४ सू० ४ रि० १)। परन्तु ऐसा जान नहीं पड़ता है कि वैदिक काल में हाथी युद्ध में नियम पूर्वक व्यवहार में लाये जाते हों, जैसा कि ईसा की पहली, तीसरी और चौथी शताब्दियों में होता था, जब कि ग्रीक लोग भारतवर्ष में आये थे।

अब केवल यही कहना है कि वह समय, जब कि वैदिक योद्धा लोग रहते और लड़ते थे, अशान्तमय था, उन लोगों को केवल आदिम निवासियों ही से निरन्तर युद्ध नहीं करना पड़ता था, वरन् हिन्दू राज्य भी कई अनुशासकों के बीच बटा हुआ था और बलवान अनुशासक लोग अपने पड़ोसियों के राज्य को अपने में मिला लेना चाहते थे। ऋषी लोग भी जो कि यज्ञादि करते थे बलवान होने की कामना रखते थे अथवा देवताओं से ऐसे पुत्र मांगते थे जो युद्ध में जय लाभ करें। प्रत्येक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य योद्धा होता था और अपने घर, खेतों तथा पशुओं की अपनी बलिष्ट दाहिनी भुजा से रक्षा करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहता था। प्रत्येक हिन्दू की बस्ती अथवा जाति, यद्यपि देवताओं की पूजा और शान्ति के भिन्न-भिन्न व्यवसायों की उन्नति में दत्तचित्त थी पर साथ ही इसके इस बात से भी सचेत थी कि उसका जातीय जीवन सदैव युद्ध के लिये प्रस्तुत रहने ही पर निर्भर है और हिन्दू जाति के बड़े समूह में, सिन्धु के किनारे से लेकर सरस्वती के किनारे तक फैला था। ऐसे ही ऐसे कट्टर, और रणप्रिय लोग थे जिन्होंने निरन्तर युद्ध से भूमि पर अपनी स्थिति, अपनी स्वाधीनता, तथा अपने जातीय जीवन को स्थिर कर रक्खा था और जो जय प्राप्त करने अथवा देह ही त्याग देने का दृढ़ संकल्प रखते थे।

ऐसी अवस्था का स्मरण करना शोक जनक है। परन्तु क्या कोई ऐसा भी देश है जहाँ प्राचीन काल में जातियों को अपनी उन्नति या अपने जीवन के लिये भी निरन्तर युद्ध न करना पड़ा हो ? अथवा आधुनिक समय में ही, अर्थात् उन दो हजार वर्षों में जो कि गौतम बुद्ध और ईसूमसीह को अपने शान्तिमय संदेश के उपदेश करने के समय से आज तक हो गए, क्या कोई ऐसी भी जाति देखने में आती है जो बिना अपने पड़ोसियों से निरन्तर युद्ध किये ही अपने शान्तिमय व्यवसाय के फल

प्राप्त करने की आशा कर सकती हो ? कुछ देशों को छोड़ कर जो अच्छे मौके पर स्थित हैं, योरप की सब जातियाँ सिर से लेकर पैर तक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हैं। बड़ी-बड़ी राजधानियों का प्रत्येक व्यक्ति सदा युद्ध के लिये इतना प्रस्तुत रहता है कि केवल एक सप्ताह की सूचना पर अपना घर द्वार तथा काम काज छोड़ कर रणक्षेत्र की यात्रा कर सके। सभ्यता ने मनुष्यता के हित के लिये बहुत कुछ किया है। परन्तु सभ्यता ने तलवार को हंसुआ नहीं बना दिया अथवा मनुष्यों को इस योग्य नहीं कर दिया कि वे अपने पड़ोसियों से अन्तिम श्वास पर्यन्त बिना लड़े ही अपने शान्तिमय व्यवसायों का फल भोग सकें।

———

पांचवां अध्याय

सामाजिक जीवन

आर्य लोगों ने आदिवासियों के साथ इसी तरह लगातार युद्ध करके ही, अन्त को सारा पंजाब अर्थात् सिन्धु से लेकर सरस्वती तक और पर्वतों से लेकर सम्भवतः समुन्द्र तक जीत लिया।

जैसा कि आशा की जा सकती है, हमलोगों को सिन्धु और उसकी पात्रा सहायक नदियों का उल्लेख कई जगह पर मिलता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल का ७५ वाँ सूक्त इसका एक अच्छा उदाहरण है और हम अपने पाठकों के लिये यहां पर इस पूरे सूक्त का अनुवाद कर देते हैं—

(१) हे नदियों ! कवि, भक्त के घर में तुम्हारी शक्ति बड़ी की प्रशंसा करता है। उनकी तीन प्रणाली है, प्रत्येक प्रणाली में सात सात नदियाँ हैं। सिन्धु की शक्ति और सब नदियों से अधिक है।

(२) हे सिन्धु ! जब तुम ऐसी भूमि की ओर दौड़ी जहाँ कि अन्न बहुत होता है, तो वरुण ने तुम्हारे लिये मार्ग खोल दिया। तुम भूमि पर एक विस्तृत मार्ग से बहती हो। तुम सब बहती हुई नदियों से अधिक चमकती हो।

(३) सिन्धु का घोर नाद पृथ्वी से आकाश तक पहुँचता है ! वह चमकती हुई बड़े बेग से बहती है। उनका घोर नाद ऐसा जान पड़ता है जैसे बादल में से

बड़ी आवाज के साथ पानी बरसता हो। सिन्धु सांढ़ की तरह गरजती हुई आती है।

(४) जैसे गाय अपने बछड़ों को दूध देती है, हे सिन्धु वैसे ही दूसरी नदियाँ तेरे निकट अपना जल लेकर आती हैं! जैसे कोई राजा अपनी सेना सहित युद्ध में जाता है उसी प्रकार तू भी अपने अगल-बगल बहती हुई नदियों ❀ की दो प्रणालियों को लेकर आगे-आगे चलती है!

(५) हे गंगा, हे यमुना, सरस्वती, शतुद्रि (सतलज) और परुष्णी (रावी)! मेरी इस प्रशंसा को अपने में बाँट लो! हे असिक्नी (चनाब) से मिलने वाली नदी! हे वितस्ता (झेलम)! हे आर्जीकीया (व्यास), जो कि सुषोमा (सिन्धु) से मिली है! मेरी बात सुनो।

(६) हे सिन्धु! तू पहले तृष्टामा से मिलकर और फिर सुसतु, रसा और श्वेती से मिलकर बहती है। तू क्रुमु (कुरुम) और गोमती (गोमल) को कुभा (काबुल) और मेहत्नु से मिलाती है। तू इन सब नदियों को साथ लेकर बहती है।

(७) प्रबल सिन्धु सफेद और चमकती हुई सीधी बहती है। यह बड़ी है और उसका जल चारों ओर बड़े वेग से भरता है। सब बहने वाली नदियों में से उसके समान कोई भी नहीं बहती! वह घोड़ों की तरह प्रबल और प्रौढ़ा की तरह सुन्दरी है!

(८) सिन्धु सदा यौवना और सुन्दरी रहती है। उसके पास बहुत से घोड़े, रथ और वस्त्र हैं! उसके पास बहुत सा स्वर्ण है और वह सुन्दर वस्त्र पहने है। उसके पास बहुत अन्न, ऊन और तृण हैं और उसने अपने को मृदु फूलों से ढँक रक्खा है।

(९) सिन्धु ने अपने सुख से जाने वाले रथ में घोड़े बांधे हैं और उसमें रख कर हम लोगों के लिये भोजन लाती है। इस रथ की महिमा बड़ी है, इसका यश बहुत है और वह बड़ा और अजित है।

यह रिचा बहुत ही मनोहर और हृदयग्राहिणी है और कवि की विस्तृत दृष्टि को भी प्रकाशित करती है। प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि यह कवि एक ही बार में नदियों के तीन बड़े प्रवाहों का वर्णन करता है, अर्थात् वे जो उत्तर-पश्चिम से बह कर सिन्धु में मिलती हैं, वे जो उत्तर-पूर्व से उसमें मिलती है और अपनी शाखों सहित दूरस्थ गंगा और जमुना में। "यह वैदिक कवि विस्तृत भौगोलिक ज्ञान को प्रका-

❀ अर्थात् पश्चिम में काबुल की सहायक नदियाँ और पूरब में वे सहायक नदियाँ जो कि पंजाब में बहती हैं और जिनका नाम नीचे की दो रिचाओं में है।

शित करता है, जो ज्ञान उत्तर में हिमाचल से, पश्चिम में सिन्धु नदी और सुलेमान पहाड़ से, दक्षिण में सिन्धु नदी या समुद्र से और पूर्व में गंगा जमुना नदियों से सीमावद्ध है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी के अन्य भागों का वैदिक कवि को ज्ञान नहीं था।

पञ्जाब की सब नदियाँ मिल कर कहीं-कहीं पर "सप्तनदी" के नाम से पुकारी गई हैं और एक जगह पर यह भी कहा गया है कि "सप्तनदी" की माता सिन्धु है और उसमें सातवीं नदी सरस्वती है (म० ७ सू० ३६ रि० ६)। सिन्धु और उसकी पाँचो शाखें आदिम हिन्दुओं के प्राचीन निवास स्थान में अब तक बहती हैं। परन्तु सरस्वती, जो कि प्राचीन नदियों में सबसे पवित्र थी और जो उस प्राचीन समय में भी देवी की तरह पूजी जाती थी, अब नहीं बहती। उसैका मार्ग कुरुक्षेत्र और थाने-श्वर के निकट अब तक दिखाई पड़ता है और इन स्थानों को हिन्दू लोग अब तक पवित्र मानते हैं।

एक किञ्चित अपूर्व स्थान पर ऋषी विश्वामित्र को, सुदास के दिए हुए रथों, घोड़ों और अन्य पुरस्कारों के साथ, व्यास और सतलज नदी के संगम के पार करने में कठिनाई पड़ी, और उन्होंने गरजते हुये जल के कोप को शान्त करने के लिये एक पूरा सूक्त बना डाला (म०३ सू०३३)। हम ऊपर कह आये हैं कि यह सुदास एक प्रतापी विजयी था और आस-पास के दस राजाओं को हरा चुका था। उसने कई लड़ाइयां जीती थीं, जिनका वर्णन कई उत्तेजित सूक्तों में किया गया है। यह प्रतापी विजयी विद्या और धर्म की रक्षा करने वाला भी जान पड़ता है। उसने 'विश्वामित्र और वशिष्ठ के घराने के ऋषियों को उदारता से बराबर पुरस्कार दिया। इसका फल यह हुआ कि इन दोनों ऋषियों के वंशों में आपस में द्वेष हो गया, जिसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे।

यद्यपि पंजाब की नदियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है, पर गंगा और यमुना का उल्लेख बहुत कम मिलता है। हम ऊपर एक सूक्त का अनुवाद दे चुके हैं जिसमें इन दोनों नदियों का नाम आया है।

ऋग्वेद भर में दूसरा स्थान, जहां गंगा का उल्लेख आया है, केवल छठे मंडल के ४५ वें सूक्त की ३१ वीं रिचा में है। वहाँ पर गंगा के ऊँचे तटों की उपमा दी गई है। यमुना तट पर के चरागाहों के प्रसिद्ध पशुओं का वर्णन (म० ५ सू० ५२ रि० १७ में) है।

इस तरह, भारत वर्ष में आर्य अधिवासियों के रहने की सब से पहली जगह पाँच नदियों की भूमि थी। इसके सिवाय यह भी जान पड़ता है कि पाँचों नदियों पर बसने वालों की धीरे-धीरे करके पाँच जातियाँ हो गईं। म० १ सू० ७ रि० ९ में, म० १ सू० १७६ रि० ३ में, म० ६ सू० ४६ रि० ७ में तथा कई दूसरे स्थानों पर

"पाँच भूमियों" (पंच-क्षिति) का उल्लेख है। इसी प्रकार म० २ सू० २ रि० १० और म० ४ सू० ३८ रि० १० में "खेती करने वाली पाँच जातियों" (पञ्च-कृष्टि) का वर्णन है, और म० ६ सू० ११ रि० ४, म० ६ सू० ५१ रि० ११, म० ८ सू० ३२ रि० २२, म० ९ सू० ६५ रि० २३ आदि स्थानों में "पाँच जनों" (पञ्च-जन) का उल्लेख मिलता है।

सरल, वीर और उद्योगी आर्य लोगों की इन्हीं "पाँच जातियों" ने, जो कि सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के उपजाऊ तटों पर खेती और चराई करके रहती थीं, अपनी सभ्यता हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तकफै लाई है।

अब हम पंजाब की इन पाँच जातियों के सामाजिक और घरेलू आचार व्यवहारों के तथा उनके घरेलू जीवन के मनोरंजक और रम्य विषय का वर्णन करेंगे। पहली बात जो कि हम लोगों को विस्मित करती है, यह है कि उस समय में वे बुरे नियम और रुकावट, और एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में तथा एक जाति और दूसरी जाति में स्पष्ट भेद नहीं थे, जो कि आज कल के हिन्दू समाज के बड़े दुःख-जनक लक्षण हैं। हम लोग देख चुके हैं कि वैदिक समय के बलिष्ठ हिन्दू लोग गो मांस को काम में लाने में कोई बाधा नहीं समझते थे और वे लोग अपने व्यापारियों की समुद्र यात्रा का वर्णन अभिमान के साथ करते हैं। हमलोग यह भी देख चुके हैं कि ऋषियों की कोई अलग जाति नहीं होती थी और न वे अपना जीवन केवल तपस्या और ध्यान में संसार से अलग ही रह कर बिताते थे। इसके विपरीत, ऋषी लोग संसार के व्यवहारी मनुष्य होते थे जो कि बहुत से पशुओं के स्वामी होते थे, खेती करते थे, युद्ध के समय में आदिवासी शत्रुओं से लड़ते थे और देवताओं से धन के लिये, पशु के लिये, युद्ध में विजय पाने के लिये, और अपनी स्त्री और बाल-बच्चों की मंगल कामना के लिये प्रार्थना करते थे। वास्तव में प्रत्येक कुटुम्ब का मुखिया, एक प्रकार से ऋषी ही होता था और अपने देवताओं की पूजा अपने घर में अपनी ही नम्र रीति से करता था। कुटुम्ब की स्त्रियाँ भी पूजा में सम्मिलित होकर कार्य के सम्पादन करने में सहायता देती थी। परन्तु समाज में कुछ लोग सूक्त बनाने और बड़े-बड़े होम करने में अवश्य प्रधान थे और राजा तथा धनी लोग ऐसे लोगों को बड़े-बड़े अवसरों पर बुला कर उदारता से पुरस्कार देते थे। परन्तु इन महान रचयिता लोगों की—ऋग्वेद के इन महान् ऋषी लोगों की—भी कोई अन्य साधारण जाति नहीं थी। वे लोग भी सांसारिक मनुष्य थे जो सर्व-साधारण के साथ मिले हुये थे, उनसे विवाहादि करते थे उनके साथ सम्पत्ति के भागी होते थे, उनके युद्धों में लड़ते थे और सारांश यह कि उन्हीं में के होते थे।

जैसे एक रणप्रिय ऋषी एक ऐसे पुत्र के लिये आराधना करता है (म० ५

सू० २३ रि० २) जो युद्ध में शत्रुओं को जीते । दूसरा ऋषी (म० ६ सू० २० रि० १ में) धन, खेत तथा ऐसे पुत्र के लिये प्रार्थना करता है जो उसके शत्रुओं का नाश करे । एक तीसरा ऋषी (म० ९ सू० ६९ रि० ८ में) धन और स्वर्ण के लिये, घोड़े और गौओं के लिये, प्रचुर अन्न और उत्तम सन्तति के लिये आराधना करता है । एक चौथा ऋषी बहुत ही सिधाई के साथ कहता है कि मेरे पशु ही मेरे धन और मेरा इन्द्र हैं (म० ६ सू० २८ रि० ५) । ऋग्वेद भर में ऋषी लोग साधारण मनुष्य हैं । इसका तनिक भी प्रमाण नहीं मिलता है कि ऋषियों की कोई अलग जाति होती थी जो कि योद्धाओं वा किसानों से भिन्न थी ॐ ।

निष्पक्ष विचार के लोग इसे जाति भेद न होने का एक अच्छा प्रमाण समझेंगे । यह अभाव रूप प्रमाण बहुतेरे भावरूप प्रमाणों की अपेक्षा भी अधिक दृढ़ है । सूक्तों के ऐसे बड़े संग्रह में जो कि छ सौ वर्षों से भी अधिक समय में बनाया गया था, और जो लोगों की चाल-ढाल और रीति-व्यवहार के वर्णनों से भरा हुआ है—जो कि कृषि, चराई और शिल्पनिर्मित वस्तुओं के, आदिवासियों के युद्धों के, विवाह और घरेलू नियमों के, स्त्रियों की स्थिति तथा धर्मों के, धर्म विषय के और उस समय की ज्योतिष विद्या के वर्णनों से भरा हुआ है—हम लोगों को एक भी ऐसा वाक्य नहीं मिलता जिससे प्रगट होता हो कि उस समय समाज में जाति भेद वर्तमान था । क्या इस बात का विचारना सम्भव है कि उस समय जाति भेद वर्तमान था और भी ऋग्वेद की दस हजार रिचाओं में समाज के इस प्रधान सिद्धान्त का कहीं उल्लेख नहीं है ? क्या उत्तर काल की एक भी ऐसी धर्म पुस्तक का मिलना सम्भव है जो विस्तार में ऋग्वेद का दसवाँ ही भाग हो और उसमें जाति भेद का कहीं वर्णन न हो ?

यहाँ तक हमने अभावरूप प्रमाणों को केवल उसी प्रकार से सिद्ध किया है जिस पर से कि कोई अभावरूप प्रमाण सिद्ध किया जा सकता है । परन्तु

ॐ म० १० सू० ९० रि० १२ में जो चार जातियों का वर्णन आया है उसे हमारे प्रमाणों का खण्डन न समझना चाहिये । यह सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों के सैकड़ों वर्ष पीछे का बना है जैसा कि उसकी भाषा और विचार से ही प्रगट होता है । वह ऋक्, साम, तथा यजुर्वेदों के जुदे-जुदे किए जाने के (रिचा ९) उपरान्त का, तथा जिस समय हिन्दू धर्म में परमेश्वर ने (जिसका कि उल्लेख ऋग्वेद में है ही नहीं) स्थान पा लिया था, उसके भी उपरांत का बना हुआ है । अर्थात् कोलब्रुक के कथनानुसार वह उस समय का बना हुआ है, जब कि ऋग्वेद की असंस्कृत रिचाओं के उपरान्त उत्तर काल में अधिक सोहावने छन्द बनने लग गए थे । इस बात पर तो सब ही विद्वान सहमत हैं कि यह बहुत ही उत्तर काल का बना हुआ है ।

बड़े आश्चर्य का विषय है कि इस बात के भाव रूप प्रमाण भी मिलते हैं और ऋग्वेद के कई वाक्यों से प्रगट होता है कि उस समय जाति भेद नहीं था। स्वयं "वर्ण" शब्द कि जिसका अर्थ आज कल की संस्कृत में "जाति" से है, ऋग्वेद में केवल आर्यों और अनार्यों में भेद प्रगट करने के लिये आया है और कहीं भी आर्यों की भिन्न-भिन्न जातियों को प्रगट करने के लिये नहीं आया (म० ३ सू० ३४ रि० ९ आदि)। वेद में "क्षत्रिय" शब्द का, जिसका अर्थ आजकल की संस्कृत में "क्षत्री जाति" से है, प्रयोग केवल विशेषण की भाँति देवताओं के सम्बन्ध में हुआ है और उसका अर्थ "बलवान" है (म० ७ सू० ६४ रि० २; सू० ७ सू० ८९ रि० १, आदि)। "विप्र" जिसका अर्थ आज कल "ब्राह्मण जाति,' से है, वह भी ऋग्वेद में केवल विशेषण की भाँति देवताओं के सम्बन्ध में आया है और वहाँ पर उसका अर्थ "बुद्धिमान" है। (म० ८ सू० ११ रि० ६ आदि)। और "ब्राह्मण" शब्द जो आज कल की संस्कृत में "ब्राह्मण जाति" प्रगट करता है, उसका प्रयोग ऋग्वेद में सैकड़ों जगह पर केवल "सूक्तकार" के अर्थ में हुआ है (म० ७ सू० १०३ रि० ८ आदि)।

हम खुशी से इसके और भी अनेक प्रमाण दे सकते हैं, परन्तु हमारी सीमा यह सा करने से रोकती है। परन्तु हम एक और प्रमाण दिए बिना नहीं रह सकते। उस मनोरम सरलता के साथ जो कि ऋग्वेद का साधारण सौन्दर्य है, एक ऋषी अपने विषय में करुणा से यों कहता है—

"देखो, मैं सूक्तों का रचयिता हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पत्थर पर अनाज पीसती है। हम सब जुदे-जुदे कामों में लगे हुए हैं। जिस तरह गौएँ (भिन्न-भिन्न दिशाओं में) चारागाह या भूमि में आहार के लिये घूमती हैं उसी तरह, हे सोम ! हमलोग (भिन्न-भिन्न व्यवसायों में) तेरी पूजा धन के लिये करते हैं। तू इन्द्र के लिये बह !" (म० ९ सू० ११२ रि० ३)। जो लोग कल्पना करते हैं कि वैदिक समय में जाति भेद था, उन्हें ऊपर के इन वाक्यों को स्पष्ट करने में तनिक कठिनता होगी, जहाँ कि पिता, माता, और पुत्र, वैद्य, पिसनहारी और सूक्त-कार वर्णन किए गये हैं !

उत्तर काल के जाति भेद के पक्षपाती लोगों ने कभी-कभी इन बचनों को निरूपण करने का यत्न किया है और इसका फल बहुत ही अद्भुत हुआ है। ऋग्वेद के बहुत से ऋषियों की तरह (जिन्हें हम ऊपर देख चुके हैं कि वे योद्धा पुत्र होने के लिये निरन्तर आराधना करते थे) विश्वामित्र भी योद्धा और सूक्त कार थे। उत्तर काल के हिन्दू इस पर घबड़ाये और उन्होंने एक सुन्दर पौराणिक कथा गढ़ दी कि विश्वामित्र पहले क्षत्रिय थे और फिर ब्राह्मण हो गये। परन्तु ये सब निरर्थक प्रयत्न हैं। विश्वामित्र न तो क्षत्री ही थे और न ब्राह्मण। वे एक वैदिक ऋषी, अर्थात्

योद्धा तथा पुजेरी थे, जो कि "ब्राह्मण" और "क्षत्रियों" के होने के बहुत पहले हुये थे। ॐ

अस्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्रत्येक कुटुम्ब का पिता स्वयं अपना ही पुरोहित होता था और उसका घर ही उसका मन्दिर होता था। ऋग्वेद में मूर्ति का, अथवा मन्दिरों अर्थात् पूजा करने के उन स्थानों का जहाँ पर लोग इकट्ठे होते थे, कहीं कोई उल्लेख नहीं है। प्रत्येक कुटुम्बी के घर में पवित्र अग्नि सुलगाई जाती थी और वह उन सुन्दर और सरल सूक्तों को गाता था, जिन्हें कि अब हम लोग ऋग्वेद में संग्रह किया हुआ देखते हैं। हम लोगों को उन स्त्रियों का एक मनोहर वर्णन मिलता है जो कि इन यज्ञों में सहायता देती थीं, जो आवश्यक सामग्रियों को जुटाती थीं, उन्हें ओखली और मूसल से तैयार करती थीं, सोम का रस निकालती थीं, उसे अपनी अंगुलियों से हिलाती थीं और ऊनी छन्ने से छानती थीं। हम लोगों को अनेक स्थानों पर स्त्रियों के अपने पति के साथ यज्ञ करने का वर्णन मिलता है। वे लोग मिल कर हवन देते थे और इस प्रकार एक साथ ही स्वर्ग को जाने की आशा रखते थे (म० १ सू० १३१ रि० ३, म० ५ सू० ४३ रि० १५ आदि)।

ॐ यहाँ पर हमको उन तीनों विद्वानों की सम्मति उद्धृत करते हुए बड़ा हर्ष होता है जिन्होंने कि अपना जीवन काल वेद ही के देखने में व्यतीत कर दिया है और जिन्हें योरप के वैदिक विद्वानों का त्रियंविराट कहना चाहिए—

"तब यदि हम लोग इन सब प्रमाणों पर ध्यान देकर यह प्रश्न करें कि जाति, जैसा कि मनु के ग्रन्थों में अथवा आजकल है, वेद के प्राचीन धर्म का अंग है अथवा नहीं, तो हमको इसके उत्तर में निश्चय करके 'नहीं' कहना पड़ेगा" Maxmuller, Chips from a German Workshop Vol II (1867). p. 307.

"अब तक जातियां नहीं थीं। लोग अब तक एक में मिलकर रहते थे और एक ही नाम से (अर्थात् 'विसस' के नाम से) पुकारे जाते थे।" Weber's Indian Literature (translation) p 38.

और अन्त में डाक्टर रोथ साहब ने यह दिखलाया है कि वैदिक समय में छोटे-छोटे राजाओं के घराने के पुजारी ब्राह्मण कहलाते थे परन्तु तब तक उनकी कोई अलग जाति नहीं हो गई थी। इस बड़े विद्वान ने यह भी दिखलाया है कि आगे चल कर अर्थात् महाभारत के समय में किस प्रकार से छोटे-छोटे राजाओं के घराने के पुजारियों के प्रबल दल हो गए और उनके घरानों ने किस प्रकार से जीवन के प्रत्येक विभाग में सबसे अधिक प्राबल्य प्राप्त किया और उनकी एक जुदी जाति हो गई। Quoted in Muir's Sanskrit Texts, Vol I (1872) p. 291.

इस विषय में एक पवित्र सूक्त की कुछ रिचाएँ निस्सन्देह हमारे पाठकों को मनोरंजक होगी।

(५) हे देवता लोग! जो दम्पत्ति एक साथ मिल कर नैवेद्य तैयार करते हैं और सोम के रस को साफ करके दूध के साथ मिलाते हैं।

(६) वे अपने खाने के लिये भोजन पावें और दोनों साथ-साथ यज्ञ में आवें। उनको भोजन की खोज में कभी न घूमना पड़े।

(७) वे देवताओं से बलि चढ़ाने की झूठी प्रतिज्ञा कभी नहीं करते और न तुम्हारी स्तुति करने में चूकते हैं। वे तुम्हारी पूजा सबसे अच्छे नैवेद्य से करते हैं।

(८) वे युवा और बढ़ती हुई अवस्था में पुत्र से सुखी हो कर स्वर्ण प्राप्त करते हैं और दोनो दीर्घ आयु तक जीते हैं।

(९) स्वयम् देवता लोग ऐसे दम्पति द्वारा पूजा किए जाने की लालसा रखते हैं जो कि यज्ञ करने के अनुरागी हों और देवताओं को कृतज्ञता से नैवेद्य चढ़ाते हों। वे अपना वंश चलाने के लिये एक दूसरे को गले लगाते हैं और वे अपने देवताओं की पूजा करते हैं! (८,३१)

हम लोगों के लिये उन बुद्धिमती स्त्रियों का वर्णन और भी रमणीय है जो स्वयं ऋषी थीं और पुरुषों की तरह सूक्त बनाती और होम करती थीं। क्योंकि उस समय में स्त्रियों के लिये कोई बुरे बन्धन, अथवा समाज में उनके उचित स्थान से उन्हें अलग परदे में अथवा अशिक्षित रखने की रीतें नहीं थीं। घूंघट काढ़े हुई स्त्रियों और दुलहिनों का वर्णन मिलता है पर स्त्रियों के पर्दे में रक्खे जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके विपरीत हम लोग उन्हें उनके कार्यों को उचित स्थिति में, उन्हें होम में सम्मिलित होते हुए और समाज पर अपना प्रभाव डालते हुये पाते हैं। हम लोग सुशिक्षित स्त्री, विश्ववारा का वृत्तान्त अब तक स्मरण करते हैं, जो कि हजारों वर्षों से हम सुनते आते हैं। यह धार्मिक स्त्री सूक्त बनाती थी, होम करती थी और अग्नि देवता से विवाहित दम्पति के परस्पर सम्बन्धों को स्थिर करने और सदाचार से रहने के लिये सच्चे उत्साह के साथ प्रार्थना करती थी (म० ५ सू० २८ रि० ३)। हम लोगां को ऐसी दूसरी स्त्रियों के भी नाम मिलते हैं जो ऋग्वेद की ऋषी थीं।

ऐसे सरल समाज में, जैसा कि वैदिक समय में था, जीवन के सम्बन्ध प्राणियों की आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित किए जाते थे और न कि बज्र समान नियमों के अनुसार, जैसा कि उत्तर काल में होता था। अतएव उस समय में यह कोई धर्म सम्बन्धी आववयक बात नहीं थी कि प्रत्येक कन्या का विवाह हो ही। इसके विपरीत हम लोगों को ऐसी बिन ब्याही स्त्रियों के भी वर्णन मिलते हैं जो

अपने पिता ही के घर रहती थीं और स्वाभाविक रीति से अपने पिता की सम्पत्ति के कुछ अंश का स्वत्व मांग कर, उसे पाती थीं (म० २ सू० १७ रि० ७)। इसके सिवाय चतुर और मेहनती पत्नियों का भी वर्णन मिलता है जो घर के कामों को देखती भालती थीं और प्रभात की तरह सवेरे घर के सब प्राणियों को जगा कर, उन्हें अपने-अपने कामों में लगाती थीं (म० १ सू० १२४ रि० ४) और जो गृहस्थी के उन गुणों को रखती थीं जिनके लिये हिन्दू स्त्रियाँ सबसे पहले के समय से लेकर आज तक प्रसिद्ध रही हैं। परन्तु बहुधा बुरी स्त्रियों के जो कुमार्ग पर चलती थीं, (२,२९,१) ऐसी बिन ब्याही स्त्रियों के जिन्हें उनके चरित्र की रक्षा करने के लिये भाई नहीं थे, और ऐसी स्त्रियों के भी (म० ४ सू० ५, रि० ५; म० १० सू० ३४ रि० ४) जो अपने पति से सच्चा प्रेम नहीं रखती थी, उल्लेख मिलते हैं। एक स्थान पर एक क्षीणधन जुआरी की स्त्री का उल्लेख भी है जो कि दूसरे पुरुषों की लालसा की वस्तु हुई थी [म० १० सू० ३४ रि० ४]।

ऐसा जान पड़ता है कि कन्याओं को भी अपना पति चुनने में कुछ अधिकार होता था। उनका यह चुनाव सदा सुखी ही नहीं होता था। क्योंकि "बहुत सी स्त्रियाँ अपने चाहने वाले के धन की लालच में आ जाती हैं। परन्तु मृदु स्वभाव और सुन्दर रूप की स्त्री अनेकों में से केवल अपने ही प्रियतम को अपना पति चुनती है" [म० १० सू० २७ रि० १२]। हमलोग ऊपर के इस वाक्य में उत्तर काल के स्वयम्बर की छाया देखने की कल्पना कर सकते हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि पिता भी अपनी कन्या का पति चुनने में एक उपयुक्त प्रभाव का प्रयोग करता था, और आज कल की तरह वह अपनी कन्याओं को सुन्दरता से सजाकर और सोने के गहने पहना कर, देता था [म० ९ सू० ४६ रि० २; म० १० सू० ३९ रि० १४]।

विवाह की रीति बहुत ठीक होती थी और वे प्रतिज्ञाएँ जो वर और कन्या एक दूसरे से करते थे, इस अवसर योग्य होती थीं। हम यहाँ पर ऋग्वेद के अन्तिम भाग के एक सूक्त की कुछ रिचाओं का अनुवाद देते हैं, जिसमें इस रीति का एक मनोहर वर्णन है। नीचे लिखी रिचाओं में से पहली दो रिचाओं से जान पड़ेगा कि बाल-विवाह की स्वभाव विरुद्ध रीति उस समय नहीं ज्ञात थी और कन्याओं का विवाह उनके युवा होने पर किया जाता था

(२१) हे विश्वावसु ! (विवाह के देवता) इस स्थान से उठो, क्योंकि इस कन्या का विवाह समाप्त हो गया। हम लोग सूक्तों से और दंडवत करके विश्वावसु की स्तुति करते हैं। अब किसी दूसरी कुमारी के पास जाओ, जो कि अब

तक अपने पिता के घर हो और विवाह करने की अवस्था के चिन्हों को प्राप्त कर चुकी हो। वह तुम्हारा भाग होगी, उसे जानो।

(२२) हे विश्वावसु ! इस स्थान से उठो। हम तुम्हें दंडवत करके तुम्हारी पूजा करते हैं। अब किसी दूसरी कुमारी के पास जाओ जिसका अंग प्रौढ़ता को प्राप्त होता हो, उसे एक पति से मिलाकर पत्नी बनाओ।

(२३) जिस मार्ग से हमारे मित्र लोग विवाह के लिये कुमारी ढूँढने को जाते हैं उस मार्ग को सीधा और कांटों से रहित करो। हे देवता लोग ! पति और पत्नी अच्छी तरह से मिलें।

(२४) हे कुमारी ! सुन्दर सूर्य ने तुझे (कुँआरेपन के) बन्धनों से बांधा है, अब हम लोग तुझे उन बन्धनों से छुड़ाते हैं। हम तुझे तेरे पति के साथ ऐसे स्थान में रखते हैं जो कि सच्चाई और पुण्य का घर है।

(२५) हम इस कुमारी को इस जगह (उसके पिता के घर) से मुक्त करते हैं, परन्तु दूसरी जगह (उसके पति के घर) से नहीं। हम उसका सम्बन्ध अच्छी तरह से दूसरे स्थान से करते हैं। हे इन्द्र ! वह भाग्यशालिनी और योग्य पुत्रों की माता हो।

(२६) पूषण इस जगह से तेरा हाथ पकड़कर तुझे ले चले। दोनों अश्विन तुझे एक रथ में ले चलें। अपने (पति के) घर जा और उस घर की मालकिन हो। उस घर में सब चीजों की मालकिन हो और सब पर अपना प्रभुत्व कर।

(२७) तुझे सन्तान हो और वहां तुझे आशीर्वाद मिले। अपने घर का काम काज सावधानी से कर। अपना शरीर अपने इस पति के शरीर के साथ एक कर और बुढ़ापे तक इस घर में प्रभुत्व कर।

(४०) पहले सोम तुझे अङ्गीकार करता है, तब तुझे गन्धर्व अङ्गीकार करता है, तेरा तीसरा स्वामी अग्नि है और तब चौथी बार मनुष्य का पुत्र तुझे अङ्गी कार कराता है ❀।

(४१) सोम ने यह कन्या गन्धर्व को दी, गन्धर्व ने उसे अग्नि को दिया, और अग्नि ने उसे धन और सन्तति के साथ मुझे दिया है।

(४२) हे दम्पति ! तुम दोनों यहां साथ मिल कर रहो, जुदे मत हो। नाना प्रकार के भोजन का सुख भोगो ; अपने ही घर में रहो और अपने पुत्र और पौत्र के साथ आनन्द भोगो।

❀ इससे तथा इसके नीचे की रिचाओं से जाना जाता है कि कन्या का वर से विवाह किए जाने के पहले वह इन तीनों देवताओं को अर्पण की जाती थी।

(४३) [पति और पत्नी कहते हैं] प्रजापति हम लोगों को सन्तान दें, अर्यमन हमलोगों को बुढ़ापे तक एक साथ रक्खें। (पत्नी के प्रति) हे प्रिये, अपने पति के घर में शुभ पौरे से प्रवेश कर। हमारे दास दासियों और पशुओं का हित करो।

(४४) तेरी आंखें क्रोध से रहित रहें और तू अपने पति के सुख के लिये यत्न करे, और हमारे पशुओं का हित करे। तेरा मन प्रसन्न रहे और तेरी सुन्दरता शोभा-समान हो। तू वीर पुत्रों की माता और देवताओं की भक्त हो। हमारे दास, दासियों और पशुओं का हित करे।

(४५) हे इन्द्र! इस स्त्री को भाग्यवती और योग्य पुत्रों की माता बना। उसके दस पुत्र हों, जिसमें घर में पति क ेलेकर ग्यारह पुरुष हो जाँय।

(४६) (स्त्री के प्रति) तेरे सास और ससुर पर तेरा प्रभाव रहे और तू अपनी ननद और देवर पर रान ी की तरह शासन करे।

(४७) (पति और पत्नी कहते हैं) सब देवता लोग हमारे हृदय को एक करें। मातरिश्वन, धातृ और वाग्देवी हम लोगों को एक करें (१०, ८५)

ऊपर का उद्धृत भाग कुछ अधिक लम्बा चौड़ा है परन्तु इस उद्धृत भाग से विवाह विधि की उपयुक्तता और नई बहू की अपने पति के घर में स्थिति और उसके स्वामी का अनुराग एक बार ही प्रगट होता है।

वैदिक समय में राजा और अमीर लोग एक साथ कई स्त्रियों से विवाह करते पाते थे और यह रीति पुराने जमाने में सब देशों और सब जातियों में थी। ऐसी दशा में घरेलू झगड़े स्वाभाविक ही होते थे और ऋग्वेद के अन्तिम भाग में ऐसे सूक्त पाये जाते हैं जिसमें स्त्रियां अपनी सौतों को शाप देती हैं (म० १० सू० १४५; म० १० सू० १५९)। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यह कुरीति वैदिक युग के अन्तिम भाग में ही चली थी, क्योंकि प्राथमिक सूक्तों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

दो अपूर्व रिचाएं ऐसी भी मिलती हैं जिनसे उत्तराधिकारी होने के नियम प्रगट होते हैं। अतएव वे विशेष मनोहर हैं। हम उनका अनुवाद नीचे देते हैं।

(१) जिस पिता के पुत्र नहीं होता वह पुत्र उत्पन्न करने वाले अपने दामाद को मानता है और अपनी पुत्री के पुत्र के पास जाता है (अर्थात् अपनी सम्पति उसे देता है। बिना पुत्र का पिता अपनी पुत्री की सन्तति पर भरोसा करके सन्तोष करता है।

(२) पुत्र अपने पिता की सम्पति का कोई भाग अपनी बहिन को नहीं देता। वह उसे उसके पति को पत्नी की भांति दे देता है। यदि किसी माता को

पुत्र या पुत्री, दोनों हो तो एक (अर्थात् पुत्र) तो अपने पिता के काम-काज में लगता है और दूसरा (अर्थात् पुत्री) सम्मान पाती है।' (८३,३१)

यह हिन्दुओं के उत्तराधिकारी होने के नियम का पहला सिद्धान्त है जिससे कि पुत्र और न कि पुत्री, अपने पिता की सम्पत्ति और धर्म कार्यों का उत्तराधिकारी होता था और जिससे केवल पुत्र सन्तान न होने ही पर सम्पत्ति नाती को मिलती थी। हमारा विचार है कि नीचे लिखे हुए वाक्यों से हिन्दुओं के पुत्र गोद लेने के नियम के प्रथम सिद्धान्तों का भी पता लगता है--

जिस तरह से, जिस मनुष्य को ऋण नहीं होता वह बहुत धन पाता है उसी तरह हम लोग भी उस धन को पावेंगे जो दृढ़ रहता है। (अर्थात् पुत्र) हे अग्नि ! हमें दूसरों का जन्मा हुआ पुत्र न ग्रहण करना पड़े। मूर्खों की रीति पर मत चलो।

"दूसरों का जन्मा हुआ पुत्र हमें सुख दे सकता है, परन्तु कभी अपने पुत्र की तरह नहीं हो सकता। और वह अन्त में अपने ही घर चला जाता है। इससे हम एक नया पुत्र जन्में जो कि हमें अन्न दे और हमारे शत्रुओं का नाश करे (७,४,७ और ८)

हमने इस अध्याय में विवाह और उत्तराधिकारी होने के विषय में लिखा है। अब हम अपने गृहस्थी के रीति व्यवहारों के वर्णन को अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी कुछ वाक्यों को उद्धृत करके, समाप्त करेंगे। ऋग्वेद में यम, नर्क का देवता नहीं है वरन् स्वर्ग का देवता है जो कि पुण्यात्मा मनुष्यों को मरने के पीछे सुखी भूमि में पुरस्कार देता है। केवल उसके दो कुत्ते ऐसे हैं कि जिनसे बचना चाहिए या जिन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये।

(७) हे मृतक ! जिस मार्ग से हमारे पुरखा लोग जिस स्थान को गये हैं उसी मार्ग से तुम भी उसी स्थान को जाओ। यमराज और वरुण, दोनों नैवेद्यों से प्रसन्न हैं। जाकर उनका दर्शन करो।

(८) उस सुखी स्वर्ग में जाकर पूर्वजों में मिलो। यम से अपनी पुण्याई के फलों के साथ मिलो। पाप को पीछे छोड़ो, अपने घर में प्रवेश करो।

(९) हे प्रेत लोग ! इस स्थान को छोड़ कर यहाँ से चले जाओ। क्योंकि पितरों ने मृतक के लिये एक स्थान तैयार किया है। वह स्थान दिन से, चमकते हुए जल से, और प्रकाश से सुशोभित है। यम इस स्थान को मृतक के लिये नियत करता है।

(१) हे मृतक। इन दोनों कुत्तों में से प्रत्येक की चार-चार आंखें हैं और इनका रङ्ग विचित्र है। उनके निकट से जल्दी से निकल जाओ। तब उस सुन्दर

मार्ग से उन बुद्धिमान पितरों के पास जाओ जो कि अपना समय यम के साथ प्रसन्नता और सुख में बिताते हैं (१०,१४)।

इन रिचाओं से हमें वैदिक समय के हिन्दुओं का आने वाले सुख में विश्वास प्रकट होता है। अन्त्येष्टि क्रियाओं का उल्लेख नीचे लिखें वाक्यों में आया है—

'हे अग्नि! इस मृतक को भस्म मत कर डाल, उसे दुःख मत दे, उसके चमड़े या शरीर को टुकड़े-टुकड़े मत कर डाल। हे अग्नि! ज्योंही उसका शरीर तेरी ज्वाला से जल जाय त्योंही उसे हमारे पितरों के लोक में भेज दे (१०,१६, १)।

(१०) हे मृतक! उस विस्तृत भूमि पर जा जो कि माता की तरह है। वह विस्तृत और सुन्दर है। उसका स्पर्श ऊन या स्त्री की तरह मृदु हो। तुमने यज्ञ किए हैं अतएव वह तुम्हें पाप से बचावे।

(११) हे पृथ्वी! उसके पीछे उठो, उसे दुःख मत दो। उसे अच्छी चीजें दो। उसे धीरज दो। जैसे माता अपने पुत्र को अपने आंचल से ढकती है वैसे ही तुम इस मृतक को ढँको।

(१२) उसके ऊपर मिट्टी का जो ढूहा उठाया जाय वह उसके लिये हलका हो। मिट्टी के हजारों कण उसके ऊपर पड़ें। वे सब उसके लिये मक्खन से भरे हुये घर की तरह हों, वे उसको आश्रय दें। (१०, १८)

अब इस सूक्त की केवल एक अद्भुत रिचा का उल्लेख बाकी रह गया है, जिसमें कि विधवा विवाह का होना स्पष्ट लिखा है—

'हे स्त्री, उठ, तू ऐसे के निकट पड़ी है जिसका प्राण निकल गया है। जीवित लोगों की सृष्टि में आ, अपने पति से दूर हो, और उसकी पत्नी हो जो कि तेरा हाथ पकड़े हुए है और तुझसे विवाह करने को तैयार है (१०,१८,८)।'

यह अनुवाद तैतरीय आरण्यक से सायन के अनुसार है और इसके शुद्ध होने में बहुत कम सन्देह हो सकता है, क्योंकि 'दिधिषु' शब्द का संस्कृत भाषा में केवल एक ही अर्थ है अर्थात् 'स्त्री का दूसरा पति'। हम यहां नीचे लिखे वचन उद्धृत करते हैं जो कि डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने प्राचीन भारतवर्ष में अन्त्येष्टि क्रिया के विषय के एक लेख के अन्त में दिये हैं—'वैदिक समय में विधवा विवाह की चाल थी, यह बात अनेक प्रमाणों और वितरकों से सिद्ध की जा सकती है। प्राचीन काल से संस्कृत भाषा में ऐसे शब्दों का रहना जैसे कि 'दीधिषु' अर्थात् वह मनुष्य जिसने विधवा से विवाह किया हो, 'परपूर्व' अर्थात् जिस स्त्री ने दूसरे पति से विवाह किया हो, 'पौनर्भव' अर्थात् किसी स्त्री का उसके दूसरे पति से उत्पन्न हुआ पुत्र, आदि इस बात को सिद्ध करने के लिये बहुत हैं।

यहां हमको दुःख और पश्चाताप के साथ, इस सूक्त के सम्बन्ध में एक-दूसरे वचन का वर्णन करना पड़ता। यह वचन ऋग्वेद में पूरी तरह से अनिष्ट रहित है परन्तु जिसका अनुवाद सती होने की निष्ठुर रीति को प्रमाणित करने के लिए उत्तरकाल में उसको बदल कर उल्टा किया गया है। इस महानिष्ठुर आधुनिक हिन्दू रीति का ऋग्वेद में कोई प्रमाण नहीं है। उसमें केवल एक पूर्णतया अनिष्ट रहित वर्णन है (म० १० सू० १८ रि० ७) जिसमें अन्त्येष्टि क्रिया में स्त्रियों के प्रस्थान का हाल है। इसका अनुवाद यों किया जा सकता है।

ईश्वर करे ये स्त्रियां विधवापन के दुःखों को न सहें, इन्हें अच्छे और मन-माने पति मिलें और ये उनके घरों में नेत्रांजन और मक्खन सहित प्रवेश करें। इन स्त्रियों को बिना रोए हुए और बिना दुःख के, अमूल्य आभूषण पहन कर पहले उस घर को जाने दो।

ऊपर के वाक्यों में विधवाओं के जलाए जाने के सम्बन्ध का एक शब्द भी नहीं है। परन्तु इसमें के एक शब्द 'अग्रे' का 'अग्ने' करके मिथ्यानुवाद किया गया और यह वाक्य बङ्गाल में विधवाओं के जलने की आधुनिक रीति का प्रमाण दिया गया है। प्रोफेसर मेक्समूलर कहते हैं कि यह इस बात का कदाचित सबसे निन्दित उदाहरण है कि अशंकित प्रोहितों द्वारा क्या-क्या बातें हो सकती हैं। केवल एक छिन्न-भिन्न किए हुए, मिथ्यानुवादित और मिथ्याप्रयुक्त वाक्य के प्रमाण पर हजारों जीव आहुति दिए गए और इसी के कारण धर्मोन्मत्त राजविद्रोह भी हुआ चाहता था।

छठवां अध्याय

वैदिक धर्म

ऋग्वेद का धर्म सुप्रख्यात है---वह प्रधानतः बड़े गम्भीर और उच्च रूप में प्रकृति की पूजा है। वह आकाश जो चारों ओर घेरे हुए है, वह सुन्दर और विकसित प्रभात जो काम काजी गृहणी की तरह मनुष्यों को नींद से जगा कर उनके कामों पर भेजता है, वह चमकीला उष्ण सूर्य जो पृथ्वी को सजीव करता है, वह वायु जो संसार भर में व्याप्त है, वह अग्नि जो हम लोगों को प्रसन्न और सजीव करती है,

और वो प्रचण्ड आंधियाँ जो भारतवर्ष में भूमि को उपजाऊ करने वाली वृष्टि का आना प्रगट करती हैं--ये ही सब देवता थे जिनकी प्राचीन हिन्दू लोग पूजा करते थे। और जब कोई प्राचीन ऋषी श्रद्धा और भक्ति के साथ इन देवताओं में से किसी एक की स्तुति करने लगता था तो वह बहुधा उस समय यह भूल जाता था कि इस एक देवता के अतिरिक्त और कोई देवता भी है। इसलिये उसके उक्त सूक्तों में सृष्टि के एक मात्र ईश्वर की स्तुति के उत्कर्ष और लक्षण पाये जाते हैं। यही कारण है कि बहुत से विद्वान वैदिक धर्म को अद्वैत वादी कहने में बहुधा रुकते और हिचकिचाते हैं। वास्तव में ऋषी लोग बहुधा प्रकृति-पूजा से ऊँचे और गूढ़ विचारों की ओर गए हैं और उन लोगों ने साफ-साफ कहा है कि भिन्न-भिन्न देवता लोग केवल एक ही आदिकरण के भिन्न-भिन्न रूप अथवा नाम हैं। उन लोगों ने प्रकृति-पूजा और अद्वैत-वाद के बीच की सीमा का उल्लंघन कर डाला है और ऋग्वेद के बड़े-बड़े ऋषी लोग प्रकृति के देवताओं की ओर बढ़े हैं।

आकाश स्वभावतः ही पूजा की सब से मुख्य वस्तु थी। आकाश के भिन्न-भिन्न रूप धारण करने के कारण उसे भिन्न-भिन्न नाम दिये गये थे और इसी लिये भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की गई थी। इनमें से सबसे प्राचीन कदाचित 'द्यु' (जिसका अर्थ 'चमकता हुआ, है) है, जो कि ग्रीक लोगों का 'जीउस', रोमन लोगों के जुपिटर का प्रथम अक्षर ('जु'), सेक्सन लोगों का 'टिउ', और जर्मन लोगों का 'जिओ' है। बहुत सी आर्य भाषाओं में इस नाम के मिलने से ऐसा जान पड़ता है कि इन सब जातियों के पूर्व पुरुष लोग अपने प्रथम प्राचीन निवास स्थान में इस देवता की पूजा करते थे।

परन्तु, यद्यपि ग्रीस और रोम देश के देवताओं में जीउस और जुपिटर प्रधान रहे, परन्तु भारतवर्ष में उसकी स्थिति शीघ्र ही जाती रही और आकाश की अपनी एक विशेष शक्ति ने उसका स्थान ग्रहण किया। क्योंकि भारतवर्ष में नदियों की वार्षिक बाढ़, पृथ्वी का उपजाऊपन, और फसल का अच्छा होना, हम लोगों के ऊपर चमकने वाले आकाश पर निर्भर नहीं हैं वरन् बरसने वाले मेघ पर निर्भर है। अतएव इन्द्र जिसका अर्थ 'वृष्टि करने वाला' है, वैदिक देवताओं में शीघ्र ही प्रधान हो गया।

अकाश का एक दूसरा नाम वरुण था, जो कि ग्रीक लोगों का 'उरेनस' है। इस शब्द का अर्थ 'ढांकना' है, और वरुण, वह आकाश, .कदाचित बिना प्रकाश का अथवा रात्रि का आकाश--था जो पृथ्वी को ढांके हुए है, क्योंकि दिन के उज्वल आकाश के लिये हम लोगों को एक दूसरा शब्द 'मित्र' 'मिलता है, जो कि जंदवस्ता

का 'मिथ्र' है। संस्कृत भाष्यकार लोग स्वभावतः ही वरुण को रात्रि और मित्र को दिन बतलाते हैं और ईरानी लोग मिथ्र के नाम से सूर्य को पूजते हैं और 'वरुण' को यदि आकाश नहीं तो एक सुखमय लोक कहते हैं।

इन सब बातों से प्रगट होता है कि आकाश के देवता वरुण का नाम और उसकी कल्पना आर्य जातियों के पूर्व पुरुषों को उनसे अलग होकर यूनान, फारस और भारतवर्ष में जाने के पहले से ज्ञात थी। वास्तव में प्रख्यात जर्मन विद्वान डाक्टर राथ का मत है कि हिन्दू--आर्य और ईरानियों के जुदा होने के पहले वरुण उन लोगों के देवताओं में सबसे श्रेष्ठ और पवित्र था और उनके धर्म के आध्यात्मिक अंश को निरूपण करता था। उनके अलग होने के पीछे यह साधुवृत्त का देवता ईरानियों का परम देवता 'अहुरमज्द' हो गया और भारतवर्ष में यद्यपि वरुण ने देवताओं में अपना प्रधान स्थान युवा और प्रबल वृष्टि के देवता इन्द्र को दे दिया परन्तु फिर भी उसने उस पवित्रता को कदापि नहीं खोया जो उसकी पहली कल्पना मे वर्तमान थी और ऋग्वेद के सबसे पवित्र सूक्त उसी के हैं, न कि इन्द्र के। यह सम्मति चाहे जैसी हो, परन्तु ऋग्वेद में वरुण की प्रधान पवित्रता तो अस्वीकार नहीं की जा सकती और इसके उदाहरण के लिये हम वरुण के सूक्तों में से कुछ का अनुवाद देते हैं--

(६) हे वरुण! जो चिड़ियाँ उड़ती हैं उन्होंने तुम्हारा बल या तुम्हारी शक्ति नहीं पाई है। निरन्तर बहने वाला पानी और चलती हुई हवा भी तुम्हारी गति का मुकाबला नहीं कर सकते।

(७) निष्कलंकित शक्ति का राजा वरुण आकाश में रहता है और ऊपर प्रकाश की किरणों को पकड़े रहता है। ये किरणें नीचे की ओर उतरती हैं, परन्तु आती हैं ऊपर ही से। उनसे हमारा जीवन बना रहे।

(८) राजा वरुण ने सूर्य की परिक्रमा के लिये मार्ग फैला दिया है। उसने मार्ग रहित आकाश में सूर्य के लिये मार्ग बना दिया है। वह हमारे उन शत्रुओं को निन्दित करे जो कि हमारे हृदय को दुखित करते हैं।

(९) हे राजा वरुण! सैकड़ों, हजारों जड़ी बूटी तेरी हैं। तेरी दया अधिक और विस्तृत हो। हम लोगों से पाप को दूर रख। जो पाप हमने किए हैं उनसे हमारा उद्धार कर।

(१०) वे सब तारे * जो कि ऊपर स्थित हैं और रात को दिखाई देते हैं,

---

* यहाँ पर "रिक्ष" शब्द आया है जिसका अभिप्राय या तो नक्षत्र मात्र से अथवा सप्तर्षि के नक्षत्र से भी हो सकता है। 'रिच' धातु का अर्थ 'चमकना' है। अतएव समय

दिन में कहाँ चले जाते हैं ? वरुण के कार्य अनिवार्य हैं, चन्द्रमा उसी की आज्ञा से शोभायमान होकर चमकता है। (१, २४)

(३) हे वरुण ! मैं उत्सुक हृदय से तुझसे अपने पापों के विषय में पूछता हूँ। मैं पण्डितों के पास इसकी पूछ ताछ के लिये गया हूँ। सब पण्डितों ने मुझसे यही कहा है कि वरुण तुझसे अप्रसन्न हैं।

(४) हे वरुण ! मैंने ऐसा क्या किया है कि जिससे तू ने अपने मित्र, अपने पूजने वाले का नाश किया है ? हे महाशक्तिमान्, तू मुझे इसका वृत्तान्त कह जिससे कि मैं तुझे शीघ्र दन्डवत करूँ और तेरी शरण आऊँ।

(५) हे वरुण ! हमलोगों का हमारे पितरों के पापों से उद्धार कर, जो पाप हमलोगों ने स्वयं किये हैं उनसे हमारा उद्धार कर। हे वरुण, वशिष्ट का उद्धार कर जैसे एक बछड़े को रस्सी से और चोर को जिसने चुराये हुए जानवर को भोजन किया है उद्धार होता है।

(६) हे वरुण ! ये सब पाप हमने जान बूझ कर नहीं किये हैं। भूल, मद्य, क्रोध, द्यूत, अथवा अविकार से पाप होते हैं। एक बड़ा भाई भी छोटे को कुमार्ग पर लगाता है। स्वप्नों में पाप होता है।

(७) पाप से मुक्त होकर दास की भाँति मैं उस वरुण की सेवा करूंगा जो हमारे मनोरथों को पूरा करता और हमें सहायता देता है। हम अज्ञ हैं। आर्य देवता हमें ज्ञान दें। बुद्धिमान देवता हमारी प्रार्थना स्वीकार करें और हमें धन दें। (७, ८६)

(१) हे वरुण राजा ! मैं कभी भौमिक गृह में न जाऊँ। हे महदशक्ति, दया कर, दया कर।

(२) हे शस्त्र सज्जित वरुण ! मैं काँपता हुआ आता हूँ जैसे वायु के आगे मेघ आता है। हे महदशक्ति, दया कर, दया कर।

पाकर 'रिच' शब्द का दो अर्थ हो गया अर्थात् एक तो किसी विशेष नक्षत्रपुंज के चमकते हुए तारे और दूसरे एक जानवर जिसकी चमकीली आँखें और चमकते हुए चिकने बाल होते हैं। इन दोनों अर्थों के स्वाभाविक गड़बड़ से स्वयम् के नक्षत्र ही 'रिच' कहलाने लगे। इस विषय पर मेक्समूलर साहब ने अपनी बनाई Science of Language नामक पुस्तक में बहुत स्पष्टता और पाण्डित्य के साथ विचार किया है। वे कहते हैं बहुतेरे विचारवान पुरुषों ने जो इस बात पर आश्चर्य करते रहे हैं कि इन सातों नक्षत्रों का नाम रिच क्यों रक्खा गया उनका समाधान मनुष्य की पहले की भाषा पर ध्यान देने से हो जाता है।'

(३) हे धनी और पवित्र वरुण ! दृढ़ता के अभाव से मैं सत् कर्मों से विमुख रहा हूँ। हे महदशक्ति, दया कर, दया कर।

(४) तेरी पूजा करने वाला पानी में रह कर भी प्यासा रहा है। हे महदशक्ति, दया कर, दया कर।

(५) हे वरुण ! हम नाशवान हैं। जिस किसी तरह हमने देवताओं के विरुद्ध पाप किया हो, जिस किसी भाँति हमने अज्ञान से तेरा काम न किया हो—इन पापों के लिये हमें नष्ट न कर। (७,८९)

इन अनेक सूक्तों से विदित होता है कि भारतवर्ष में वरुण की वह पवित्र भावना अपहरण नहीं हो गया, जिससे कि उसकी आदि में पूजा की जाती थी। परन्तु फिर भी 'द्यु' की तरह वरुण का प्रभाव युवा इन्द्र के सामने हट गया। यह इन्द्र विशेषतः भारतवर्ष ही का देवता है, अन्य आर्य जातियों में इस देवता का पता नहीं चलता।

इन्द्र के विषय की एक बड़ी प्रसिद्ध कथा, जो कि आर्य संसार में कदाचित् सबसे अधिक प्रसिद्ध है, वृष्टि करने के सम्बन्ध की है। वे काले घने बादल जिन्हें मनुष्य उत्कण्ठा से देखते हैं परन्तु जो उन्हें अकाल में बहुधा निराश करते हैं, उन्हें "वृत्र" का प्राचीन नाम दिया गया है।

ऐसी कल्पना की जाती है कि वृत्र जल को रोक लेता है और नीचे नहीं आने देता, जब तक कि आकाश या वृष्टि का देवता इन्द्र इस दुष्ट को अपने वज्र से न मारे। तब यह रुका हुआ जल अनेक धाराओं में नीचे आता है। नदियां शीघ्र ही बढ़ने लगती हैं तथा मनुष्य और देवता लोग प्रकृति की इस बदली हुई आकृति से प्रसन्न होते हैं। ऋग्वेद में बहुत से उत्तेजित सूक्त हैं जिनमें इस युद्ध का वर्णन बड़ी प्रसन्नता और हर्ष के साथ किया गया है। इस युद्ध में आंधी के देवता मरुत्स इन्द्र की सहायता करते हैं और गरजने के शब्द से पृथ्वी और आकाश कांपने लगते हैं। वृत्र बहुत देर तक युद्ध करता है और तब गिर कर मर जाता है, अकाल का अन्त हो जाता है और वृष्टि प्रारम्भ हो जाती है।

हम कह आये हैं कि इन्द्र विशेषतः भारतवर्ष ही का देवता है और अन्य आर्य जातियां इसे नहीं जानतीं। परन्तु ऊपर की कथा और वृत्र का नाम भिन्न-भिन्न आर्य जातियों में भिन्न-भिन्न रूप से पाया जाता है। वृत्रघ्न अथवा वृत्र का मारने वाला, जन्दवस्ता में 'वेरेथ्रघ्न' के नाम से पूजा गया है और इसी पुस्तक में अहि (जो कि वेद में वृत्र का दूसरा नाम है) के नाश होने का वृत्तान्त दिया है। अहि का मारने वाला थ्रयेतन है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान वर्नाफ ने अपनी बुद्धि से इस बात का पता लगाया है कि यह थ्रयेतन फिर्दौसी के शाहनामे का 'फरु-

हीन है। कदाचित् पाठकों को यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि विद्वानों ने वेद और जन्दवस्ता के इस अहि का पता यूनानी पुराण के 'एचिस' और 'एशिडना' नामक पर वाले सांप में पाया है। एशिडना की सन्तान ओरथ्रोस (Orthros) में उन लोगों ने हमारे वृत्र अथवा मेघ को पहचान लिया है और इसलिए ओथ्रोस का मारनेवाला हर्क्युलीज जन्दवस्ता के थ्रेयेतन अथवा ऋग्वेद के इन्द्र का समगुणापन्न है।

इन कथाओं का बढ़ाना बहुत सहज होगा परन्तु स्थानाभाव से हम ऐसा नहीं कर सकते। इसलिये हम यहां एक और कथा, अर्थात् रात्रि के अन्धकार के पीछे इन्द्र द्वारा पूरे प्रकाश के आने की कथा का साधारणतः उल्लेख करेंगे। प्रकाश के किरणों की उन पशुओं से समानता की गई है जिन्हें अन्धकार की प्रबलता ने चुरा लिया है और जिनकी खोज इन्द्र (आकाश) व्यर्थ कर रहा है। वह सरमा अर्थात् प्रभात को उनकी खोज के लिये भेजता है और सरमा उस बिलु अर्थात् किले को पा लेती है जिसमें कि पनिस अर्थात् अन्धकार की प्रबलता ने पशुओं को चुरा रक्खा है। पनिस सरमा को ललचाता है लेकिन उसका ललचाना सब व्यर्थ हुआ। सरमा इन्द्र के पास लौट कर आई, इन्द्र ने अपनी सेना सहित कूच किया और उस किले को नष्ट करके वह पशुओं को ले आया—अन्धकार दूर हो गया और अब प्रकाश हो गया। यह एक प्रसिद्ध वैदिक कथा है और इन्द्र के सूक्तों में इसके बराबर उल्लेख आये हैं।

प्रोफेसर मेक्समूलर इस बात का समर्थन करते हैं कि ट्राय का युद्ध इसी सीधी-सादी वैदिक कथा को बढ़ा कर लिखा गया है और यह केवल उसी युद्ध की पुनरुक्ति है जो नित्यप्रति पूर्व दिशा में सूर्य द्वारा हुआ करती है जिसका कि अति दीप्तमान धन प्रति दिन सन्ध्या को पश्चिम दिशा में छीन लिया जाता है। उक्त प्रोफेसर साहब के अनुसार इलिअम (Ilium)) ऋग्वेद का बिलु अर्थात् किला अथवा गुफा है, पेरिस (Paris) वेद का पनिस है जो कि ललचाता है और हेलेना (Helena) वेद की सरमा है जो कि वेद में लालच को रोकती है परन्तु यूनानी पुराण में लालच में आ जाती है।

हम यह नहीं कह सकते कि मेक्समूलर ने अपने सिद्धान्त को प्रमाणित कर दिया है परन्तु ट्राय के ऐतिहासिक मुहासरे का होना इस बात का खण्डन नहीं करता। क्योंकि प्राचीन समय के इतिहास में पौराणिक नामों और घटनाओं को बहुत करके ऐतिहासिक घटनाओं से मिला देते थे। कुरु और पाञ्चालों के ऐतिहासिक युद्ध का नायक अर्जुन कल्पित है और यह वृष्टि के देवता इन्द्र का दूसरा नाम है। अतएव यह असम्भव नहीं है कि जिस कवि ने ट्राय के ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन किया है

उसने इसकी घटनाओं और नामों में शौर्य कथाओं को मिला दिया हो। अब हम इन कथाओं को स्पष्ट दिखाने के लिये ऋग्वेद से कुछ थोड़े से वाक्य उद्धृत करेंगे—

(१) हम उन वीरोचित कार्यों का वर्णन करेंगे जिन्हें कि वज्र धारण करने वाले इन्द्र ने किया है। उसने अहि का नाश किया और पानी बरसाया तथा पहाड़ी नदियों के बहने का मार्ग खोल दिया।

(२) इन्द्र ने पहाड़ों पर विश्राम करते हुए अहि को मार डाला, त्वष्टि ने उसके लिये दूर तक पहुँचनेवाले वज्र को बनाया था। पानी की धाराएं समुद्र की ओर इस भांति बहने लगीं जैसे गाय उत्सुक हो कर अपने बछवों की ओर दौड़ती हैं।

(३) सांड़ की तरह कुपित होकर इन्द्र सोम रस को पी गया। उसको तीन यज्ञों में जो द्रव पदार्थ चढ़ाए गए उन्हें उसने पिया। तब उसने वह वज्र लिया और उससे सबसे बड़े अहि को मार डाला॥

(४) जब तुमने सबसे बड़े अहि को मारा उस समय तुमने चतुर उपाय रचने वालों की युक्तियों का नाश कर दिया। तुमने धूप, प्रभात तथा आकाश को साफ कर दिया और किसी शत्रु को छोड़ नहीं रक्खा।

(५) इन्द्र ने अपने सर्वनाशी वज्र से अन्धकार करने वाले वृत्र (बादल) को मार डाला और उसके हाथ पैर काट डाले! अहि अब पृथ्वी पर इस तरह से पड़ा है जैसे कोई कुदाल से गिराए हुए पेड़ का धड़।

(६) घमण्डी वृत्र ने समझा कि हमारी बराबरी का कोई नहीं है और उसने नाश करने वाले तथा विजयी इन्द्र को युद्ध के लिये ललकारा। परन्तु वह मृत्यु से नहीं बचा और यह इन्द्र का शत्रु गिरा और उसके गिरने से नदियाँ नष्ट हो गईं।

(८) प्रसन्नचित्त पानी उसके पड़े हुए शरीर के ऊपर से कूदता हुआ इस भांति बह रहा है जैसे गिरे हुए तटों के ऊपर से नदियां बहती हों। वृत्र जब जीवित था तो उसने अपने बल से पानी को रोक रक्खा था। अहि अब उस पानी के नीचे पड़ा हुआ है।

(९) उसका शरीर निरन्तर बहते हुए चंचल पानी के नीचे अज्ञान छिपा पड़ा है और पानी उसके ऊपर बहता है। यह इन्द्र का शत्रु अब चिरकाल के लिये सो रहा है। (१,३२)

ऊपर का सूक्त वृत्र की कथा के सम्बन्ध का है। अब हम एक दूसरा सूक्त उद्धृत करते हैं जो कि सरमा से सम्बन्ध रखता है—

(१) पनिस कहता है—"हे सरमा! तू यहां क्यों आई है? वह स्थान बहुत दूर है। जो पीछे की ओर देखेगा वह इस मार्ग से नहीं आ सकता। हम लोगों के

पास क्या है जिसके लिये तू आई है ? तूने कितनी दूर यात्रा की है ? तू ने रसा नदी को कैसे पार किया ?

(२) सरमा उत्तर देती है—मैं इन्द्र की भेजी हुई हूँ। हे पनिस ! तुमने जो बहुत से पशुओं को छिपा रक्खा है उनको प्राप्त करना ही मेरा उद्देश्य है। जल ने मेरी सहायता की है, मेरे पार होने पर जल ने भय माना और इस प्रकार मैं रसा को पार करके आई हूँ।

(३) पनिस—वह इन्द्र किसके समान हैं जिसकी भेजी हुई तू इतनी दूर से आती है ? वह किसके समान देख पड़ता है ? (वे परस्पर कहते हैं—) इसको आने दो, हमलोग इसे मित्र भाव से स्वीकार करेंगे। इसको हमारी गायें ले लेने दो।

(४) सरमा—मैं किसी को ऐसा नहीं देखती जो उस इन्द्र को जीत सके जिसकी भेजी हुई मैं बहुत दूर से आती हूँ। वही सब को जीतने वाला है। बड़ी-बड़ी नदियां उसके मार्ग को नहीं रोक सकतीं। हे पनिस ! तुम निस्सन्देह इन्द्र से मारे जाकर नीचे गिरोगे।

(५) पनिस—हे सुन्दर सरमा ! तुम आकाश के सबसे दूर के छोर से आई हो। हम तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हें यह सब गाय बिना झगड़ा किए हुए दे देंगे। दूसरा और कौन इन गायों को बिना झगड़ा किए हुए दे देता ? हम लोगों के पास बहुत से चोखे हथियार हैं।

(९) पनिस—हे सरमा ! तुमको उस देवता ने धमका कर भेजा है इसलिये तुम यहां आई हो। हम लोग तुमको अपनी बहन की तरह स्वीकार करेंगे। तुम लौट कर मत जाओ। हे सुन्दर सरमा, हम तुमको इन पशुओं में से एक भाग देंगे।

(१०) सरमा—मेरी समझ में नहीं आता कि तुम कैसा भाई और बहन कहते हो। इन्द्र और अङ्गिरस के प्रबल पुत्र यह सब जानते हैं। जब तक ये पशु न प्राप्त हो जाँय तब तक उन पर दृष्टि रखने के लिये उन्होंने मुझको भेजा है। मैं उन्हीं की रक्षा के लिये यहां आई हूँ। हे पनिस ! यहां से दूर, बहुत दूर भाग जाओ। (१०,१०८)

जो थोड़े से वाक्य ऊपर उद्धृत कये गए हैं उनसे जान पड़ेगा कि इन्द्र के सूक्तों में बल और शक्ति की विशेषता पाई जाती है, जैसा कि वरुण के सूक्तों में सदाचार के भावों की विशेषता है। सच पूछिये तो इन्द्र वैदिक देवताओं में सबसे प्रबल है जो कि सोम मदिरा का अनुरागी, युद्ध में प्रसन्नता प्राप्त करने वाला, अपने साथी मरुत्सों का नायक बनकर अनावृष्टि से लड़ने वाला, काले आदिवासियों से लड़ने वाले आर्य लोगों के दलों का नेता और पञ्जाब की पांचों नदियों के तट पर से उपजाऊ भूमियों को खोदने में उनका सहायक है। पृथ्वी और आकाश ने उसे

शत्रुओं को दण्ड देने के लिए उत्पन्न किया है (३,४९,१)। यह बलवान बच्चा जब अपनी माता अदिति के पास आहार के लिये गया तो उसने उसकी छाती पर सोम का रस देखा और अपनी माता का दूध पीने के पहले उसने सोम का ही पान किया (३,४८,२ और ३)। और यह बड़ा पान करने वाला तथा लड़ने वाला बहुधा इस विचार में पड़ जाता है कि वह यज्ञ में जाय जहां कि सोम रस उसे चढ़ाया जाता है, अथवा घर पर रहे जहां कि एक सुन्दर पत्नी उसके निकट रहती है। (३,५३,४-६)

हमने यहाँ तक 'द्यु' वरुण, मित्र और इन्द्र का ऋग्वेद के मुख्य मुख्य आकाश के देवताओं की भांति वर्णन किया है। परन्तु ये सब देवता प्रकाश के देवता भी समझे जा सकते हैं क्योंकि इन सब देवताओं की (कहीं-कहीं पर वरुण की भी) कल्पना में आकाश के उज्वल प्रकाश का ध्यान आता है। परन्तु अब हम कुछ ऐसे देवताओं का वर्णन करेंगे जो साफ-साफ सौर्य गुण सम्पन्न हैं और जिनमें से कुछ आदित्य (अर्थात् अदिति के पुत्र) के साधारण नाम से पुकारे जाते हैं। यह नाम ऋग्वेद की कथाओं में बड़ा अद्भुत है। इन्द्र शब्द से इन्द निकला है जिसका अर्थ वृष्टि होना है और द्यु शब्द का अर्थ चमकना है, परन्तु 'अदिति' शब्द इन दोनों ही से अधिक मिश्रित विचार रखता है। अदिति का अर्थ अभिन्न, अपरिमित और अनन्त है। यह कहा जा चुका है कि वास्तव में यह पहला नाम है जिसे कि मनुष्य ने अनन्त को,—अर्थात् दृश्यमान अनन्त, वा उस अनन्त विस्तार को जो कि पृथ्वी, मेघ और आकाश से भी परे है—प्रगट करने के लिये गढ़ा था। यह बात देवता की कल्पना में पाई जाती है। इसी से प्रगट होता है कि प्राचीन हिन्दुओं की सभ्यता और उनके विचारों में बहुत ही अधिक उन्नति हुई थी। दूसरी आर्य जातियों के देवताओं में ऐसा शब्द नहीं पाया जाता और यह अवश्य आर्यों के इस देश में बस जाने के उपरान्त गढ़ा गया होगा। जर्मनी के प्रसिद्ध डाक्टर राथ के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'अनादि' और अनिवार्य सिद्धान्त अर्थात् ईश्वरी प्रकाश है।

ऋग्वेद में यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि इस ईश्वरी प्रकाश के पुत्र, आदित्य लोग कौन हैं। म० २ सू० २७ में वरुण और मित्र के सिवाय जिनका कि उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अर्यमन, भग, दक्ष और अंस का नाम दिया है। म० ९ सू० ११४ तथा म० १० सू० ७२ में आदित्यों की संख्या ७ कही गई है परन्तु उनका नाम नहीं लिखा गया। हम देख चुके हैं कि इन्द्र अदिति का एक पुत्र कहा गया है। सवितृ अर्थात् सूर्य भी बहुधा आदित्य कहा गया है और इसी भाँति पूषण और विष्णु भी, जो कि सूर्य के दूसरे नाम हैं। आगे चल कर जब वर्ष १२ महीनों में बांटा गया तो आदित्यों की संख्या १२ स्थिर की गई और वे बारहों महीने के सूर्य हुए।

ऋग्वेद में 'सूर्य' और 'सवितृ' ये दोनों सूर्य के नाम बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इनमें से पहला नाम ठीक वही काम देता है जो कि ग्रीक हेलिओस (Helios), लेटिन सोल (Sol) और ईरानी खुरशेद (Khorshed)। भाष्यकारों ने सवितृ और सूर्य में यह भेद किया है कि सवितृ ऊगते हुए अथवा बिना ऊगे हुए सूर्य को कहा गया है और सूर्य ऊगे हुए प्रकाशित सूर्य को कहा है। सूर्य की सुनहली किरणों का दृष्टान्त स्वभावतः ही हाथों से दिया गया है यहाँ तक कि हिन्दुओं के पुराणों में यह कथा भी हो गई है कि सवितृ का हाथ एक यज्ञ में जाता रहा और उसके स्थान पर उसको एक सुनहला हाथ लगाया गया। यही कथा जर्मन देश के पुराणों में भी दूसरे रूप में पाई जाती है जिसमें यह वर्णन है कि सूर्य देवता अपना हाथ एक बाघ के मुँह में रख कर हस्त रहित हो गया।

अब हम सूर्य के विषय का जो एक मात्र सूक्त उद्धृत करते हैं वह ऋग्वेद के सूक्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध, अर्थात् गायत्री वा उत्तर काल के ब्राह्मणों का सबेरे के समय का सूक्त है। परन्तु ऋग्वेद में ब्राह्मण लोग नहीं माने गए हैं, उस समय जाति भेद ही नहीं हुआ था और यह उत्कृष्ट सूक्त उन प्राचीन हिन्दुओं की जातीय सम्पत्ति थी जो कि सिन्धु के तटों पर रहते थे। हम मूल सूक्त को तथा डाक्टर विल्सन के अनुसार उनके अनुवाद को नीचे देते हैं—

"तत्सवितुर्वरेण्यंभर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"

हम लोग उस दिव्य सवितृ के मनोहर प्रकाश का ध्यान करते हैं जो हम लोगों को पवित्र कर्मों में प्रवृत्त करता है। (३,६२,१०)

पूषन उन गोपों का सूर्य है जो नए-नए चराहगाहों की खोज में घूमा करते थे। वह बकरों से जुते हुये रथों पर चढ़ कर चलता है, मनुष्यों और पशुओं की यात्रा अथवा भ्रमण में उनको मार्ग दिखाता है, और पशुओं के झुंडों को जानता है तथा उनकी रक्षा करता है। अतएव पूषन के सूक्तों में बहुधा बड़ी सरलता पाई जाती है। ऐसे कुछ सूक्तों का अनुवाद पहले दिया जा चुका है।

विष्णु ने आज कल के हिन्दू धर्म में सर्वोच्च देवता होने के कारण ऐसा प्रधान स्थान पा लिया है कि आज कल के कट्टर हिन्दू उसे उसके वैदिक रूप में अर्थात् केवल एक सूर्य देवता की भाँति स्वीकार करने में स्वभावतः हिचकते हैं। परन्तु ऋग्वेद में वह ऐसा ही है और वैदिक देवताओं में वह बहुत ही तुच्छ देवता है, जिसका पद इन्द्र वा वरुण, सवितृ अथवा अग्नि से कहीं नीचा है। पौराणिक समय में अर्थात् ईसा के बहुत पीछे आ कर विष्णु परमात्मा समझा जाने लगा, इसके पीछे वह ऐसा नहीं समझा जाता था। वेद में लिखा है कि विष्णु तीन पद में अर्थात् उगते हुये, शिरोविन्दु पर तथा अस्त होते हुए आकाश को पार कर देता है। पुराणों

में इस सादे रूपक की एक बड़ी लम्बी चौड़ी कथा बना डाली गई है।

सब पुरानी जातियों में अग्नि एक पूजने को वस्तु थी परन्तु भारतवर्ष में होमाग्नि सबसे अधिक सत्कार की दृष्टि से देखी जाती थी। अग्नि के बिना कोई होम किया ही नहीं जा सकता था अतएव अग्नि देवताओं का आवाहन करने वाली कही जाती थी। वह 'यविष्ठ' अर्थात् देवतावों में सबसे छोटी भी कही जाती थी क्योंकि हर बार होम के समय वह अरनी को रगड़ कर नये सिरे से उत्पन्न की जाती थी। इसी कारण से वह 'प्रमन्थ' अर्थात् रगड़ से उत्पन्न होने वाली भी कही गई है। ❀

ऋग्वेद के देवताओं में अग्नि का इतना बड़ा सत्कार है कि जब प्राचीन भाष्यकार यास्क ने वैदिक देवताओं की संख्या कम करके उनकी संख्या ३३ कर देने का यत्न किया तो उसने अग्नि को पृथ्वी का देवता रक्खा, इन्द्र अथवा वायु को अन्तरिक्ष का देवता, और सूर्य को आकाश का देवता रक्खा।

परन्तु ऋग्वेद में अग्नि केवल इस पथ्वी ही पर की अग्नि नहीं है वरन् वह बिजली तथा सूर्य में की आग भी है और उसका निवास स्थान अदृश्य स्वर्ग में है। भृगु ऋषियों ने उसे वहां पाया, मातरिश्वन उसे नीचे ले आये और अथर्वन तथा अङ्गिरा लोगों ने जो कि सबसे प्रथम यज्ञ करने वाले थे उसे इस पृथ्वी पर मनुष्यों के रक्षक की भाँति स्थापित किया।

वायु ने वैदिक कवीश्वरों से कम सम्मान पाया है और उसके सम्बन्ध में बहुत थोड़े सूक्त पाये जाते हैं परन्तु हम देख चुके हैं कि मरुत्स अर्थात् आंधी के देवताओं को बहुधा आवाहन किया गया है जिसका कारण सम्भवतः यह है कि वे अधिक भय उत्पन्न करते थे और यह ख्याल किया जाता है कि रुष्ट मेघों से वृष्टि प्राप्त करने में वे इन्द्र के साथी होते थे। जब वे अपने हरिण जुते हुए रथ पर सवार होकर चलते थे तो पृथ्वी कांपने लगती थी और मनुष्य उनके शस्त्रों तथा उसके

❀ कॉक्स साहब का मत है कि बहुत से ग्रीक और लेटिन देवताओं की उत्पत्ति अग्नि के संस्कृत नामों से हुई है। "अग्नि का जो 'यविष्ठ' नाम है वह किसी वैदिक देवता को नहीं दिया गया परन्तु इस नाम को हम Hllenic Hesphaistos में पाते हैं। नोट—इस प्रकार से 'अग्नि' को छोड़ कर आग वा आग के देवताओं के और सब नामों को पश्चिम के आर्य लोग भी अपने साथ ले गये। हम लोग 'प्रमन्थ' को 'प्रोमेथिअस' के रूप में; 'भरण्यु' को 'फोरोनस' के रूप में और संस्कृत के 'उल्का' को लैटिन में 'वल्केनस' के रूप में पाते हैं।" Cox's Mythology of Aryan Nations.

"आग का देवता 'अग्नि' लैटिन में इग्निस् (Ignis) और सालवोनियन लोगों में ओग्नि (Ogni) के रूप में पाया जाता है" Muir's Sanskrit Textes.

आभूषणों की चमक को बिजली के रुप में देखते थे परन्तु यह सब होने पर भी वे परोपकारी थे और मनुष्यों के हित के लिये अपनी माता पृश्नि (बादलों) के स्तन से बहुत सी वृष्टि दूहते थे ।

रुद्र, जो कि एक भयानक देवता है, मरुत्स का पिता है, वह बड़ा कोलाहल करने वाला है जैसा कि उसके नाम ही से प्रगट होता है । यास्क और सायन भाष्यकारों ने उसका रूप अग्नि बतलाया है । अतएव डाक्टर राथ के इस कथन में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि इस जोर से शब्द करने वाली अग्नि का, आंधियों के इस देवता का असल अर्थ बिजली से है । ऋग्वेद में विष्णु की तरह रुद्र भी एक छोटा सा देवता है और उसके सम्बन्ध में केवल बहुत थोड़े से सूक्त पाये जाते हैं । विष्णु ही की तरह रुद्र ने भी उत्तर काल में विख्याति प्राप्त की है और वह पुराणों की त्रिमूर्ति में से एक है, अर्थात् परमेश्वर का एक अंश है । कुछ उपनिषदों में काली करार्ली, इत्यादि नाम अग्नि का भिन्न-भिन्न प्रकार से आया है और स्वेत यजुर-संहिता में 'अम्बिका' रुद्र की बहिन कही गई है । परन्तु पुराणों में जब रुद्र ने अधिक स्पष्टता प्राप्त की तो ये सब नाम उसकी पत्नी के भिन्न-भिन्न नाम कर दिए गये ! अब हमको केवल इतना ही कहना है कि इनमें से किसी देवी का अथवा लक्ष्मी का (जो कि पौराणिक विष्णु की पत्नी है) नाम तक भी ऋग्वेद में नहीं है ।

दूसरा देवता जिसका चरित्र पुराणों में बदल गया है 'यम' अर्थात् मृतकों का देवता है । पुराणों में वह सूर्य का पुत्र कहा गया है और इस बात के विचारने के कुछ कारण हैं (जिन्हें प्रोफेसर मेक्समूलर अपने स्वाभाविक फसाहत से वर्णन करते हैं) कि ऋग्वेद में यम की आदि कल्पना अस्त होते हुये सूर्य से की गई है । सूर्य उसी तरह अस्त होकर लोप हो जाता है, जैसे कि मनुष्य के जीवन का अन्त हो जाता है । किसी सीधी सादी जाति का विचार सहज ही में एक भविष्यत लोक में विश्वास करने लगेगा जहाँ कि यह देवता मरे हुये प्राणियों की आत्माओं पर अधिष्ठान करता है ।

ऋग्वेद के अनुसार विवस्वत अर्थात् आकाश यम का पिता है, सरन्यु अर्थात् प्रभात उसकी माता और यमी उसकी बहन है ।

आकाश और प्रभात का पुत्र सिवाय सूर्य अथवा दिन के और कौन हो सकता है ? यम और यमी की आदि कल्पना दिन और रात से है, इस विचार का विरोध करना कठिन है । ऋग्वेद में एक अद्‌भुत वर्णन जिसमें कि कामी बहिन यमी, यम से अपने पति की तरह आलिंगन किया चाहती है परन्तु उसका भाई ऐसे अपवित्र समागम को स्वीकार नहीं करता । इस बात के तात्पर्य को समझ लेना बहुत कठिन नहीं है । दिन और रात यद्यपि सदा एक-दूसरे का पीछा किया करते हैं । परन्तु उनका परस्पर समागम् नहीं हो सकता ।

परन्तु यम की असल कल्पना चाहे जो कुछ हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में इस देवता ने एक अलग रूप प्राप्त कर लिया है अर्थात् उसमें वह मृतकों का राजा है। यहाँ तक तो उसका वैदिक चरित्र उसके पौराणिक चरित्र से मिलता है परन्तु इसके आगे इस समानता का अन्त हो जाता है। वेद में वह उस सुखी लोक का परोपकारी राजा है जहाँ कि पुण्यात्मा लोग मृत्यु के उपरान्त रहते और सुख भोगते हैं। तेजवान शरीर धारण करके वे लोग प्रकाश तथा चमकीले पानियों के प्रदेश में यम के अगल-बगल बैठते हैं, वहां अनन्त सुख भोगते हैं और यहां इस पृथ्वी पर उनकी पूजा 'पितरों' के नाम से की जाती है। परन्तु पुराण में यम का जो वर्णन पापियों के निष्ठुर और भयानक दण्ड देने वाले की तरह किया गया है वह वेद से कितना विपरीत है।

(१) विवस्वत के पुत्र यम की पूजा भोगादि सहित करो। सब उसी के पास जाते हैं। जिन लोगों ने पुण्य किया है उन्हें वह सुख के देश में ले जाता है। वह बहुतों के लिये मार्ग कर देता है।

(२) यम ही ने पहले-पहल हम लोगों के लिये मार्ग खोजा। वह मार्ग अब नष्ट नहीं होगा। सब जीवधारी लोग अपने कर्म के अनुसार उसी मार्ग से जायेंगे जिससे कि हमारे पितर लोग गए हैं। (१०, १४)

हम यहाँ पर सोम के विषय का भी एक सूक्त उद्धृत करेंगे जिसमें कि परलोक का इससे अधिक वर्णन दिया है। यह बात तो भली भांति विदित है कि सोम एक पौधे का रस था और वह यज्ञों में तर्पण के काम में आता था। सोम ने जल्दी ही देवता का पद प्राप्त कर लिया और नवें मण्डल के सब सूक्त उसी की स्तुति और प्रशंसा में बनाए गए हैं।

(७) हे बहते हुए सोम। मुझे उस अमर और नाश न होने वाली भूमि में ले चलो जहाँ सदा प्रकाश वर्तमान रहता है और जो स्वर्ग में है। हे सोम! इन्द्र के लिये बहो।

(८) मुझे वहाँ ले चलो जहाँ का राजा यम है, जहाँ स्वर्ग के फाटक हैं और जहाँ बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती हैं। मुझे वहाँ ले चल कर अमर बना दो। हे सोम! इन्द्र के लिये बहो।

(९) मुझे वहाँ ले चलो जहाँ कि तीसरा स्वर्ग है, जहाँ आकाश के ऊपर प्रकाश का तीसरा लोक है और जहाँ मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार घूम सकते हैं। मुझे वहाँ ले चलो और अमर बना दो। हे सोम! तुम इन्द्र के लिये बहो।

(१०) मुझे वहाँ ले चलो जहाँ कि सब इच्छाएँ तृप्त हो जाती हैं, जहाँ प्रध

का निवास स्थान है, जहाँ भोजन और सन्तोष है। मुझे वहाँ ले चलकर अमर बना दो। हे सोम ! तुम इन्द्र के लिये बहो।

(११) मुझे वहाँ ले चलो जहाँ कि सुख, हर्ष और सन्तोष है जहाँ उत्सुक हृदय की सब इच्छाएँ तृप्त हो जाती हैं। मुझे वहाँ ले चलो और अमर बनाओ। हे सोम ! तुम इन्द्र के लिये बहो। (९,११३)।

हम ऊपर कह चुके हैं कि विवस्वत अर्थात् आकाश और सरण्यु अर्थात् प्रभात से यम और यमी ये दो सन्तान हुए। लेकिन यह एक अपूर्व बात है कि उन्हीं दोनों माता पिता से और एक यमज अर्थात् दोनों अश्विन हुए। इसमें संदेह नहीं हो सकता कि यम और यमी की भाँति इन दोनों की भी असल कल्पना दिन और रात से अथवा प्रभात और सन्ध्या से हुई है।

परन्तु अश्विनों की असल कल्पना चाहे जो कुछ हो पर ऋग्वेद में हम उन्हें बड़े भारी वैद्य पाते हैं जो कि रोगियों और घायलों की औषधि करने वाले और बहुतों का बड़ी मेहरबानी के साथ उपचार करने वाले वर्णन किए गये हैं। दोनों अश्विनों के बहुत से दयालु कार्यों का कई सूक्तों में वर्णन किया गया है और उनकी चिकित्साओं का बार-बार उल्लेख है। ये दोनों अश्विन अपने तीन पहिये वाले रथ पर सवार होकर पथ्वी की परिक्रमा प्रति दिन करते हैं और दुखी लोगों का उपकार करते हैं।

बृहस्पति अथवा ब्रह्मनस्पति सूक्तों के स्वामी हैं क्योंकि ऋग्वेद में ब्रह्मन का अर्थ सूक्त से है। इस देवता की कल्पना की उत्पत्ति उसी तरह हुई जिस तरह कि अग्नि और सोम देवताओं की कल्पना की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार से अग्नि और यज्ञ के हवन में शक्ति है उसी प्रकार स्तुति के सूक्तों में भी शक्ति है और स्तुति की इस शक्ति का रूप वैदिक देवता ब्रह्मनस्पति में कर दिया गया है।

ऋग्वेद में वह बिलकुल छोटा सा देवता है परन्तु उसका भविष्यत बहुत ऊँचा है क्योंकि कई शताब्दियों के पीछे उपनिषदों के तत्वज्ञों ने एक सर्वव्यापक परमात्मा की कल्पना की और उसको वैदिक नाम "ब्रह्मन" दिया। उसके उपरान्त जब देश में बौद्ध मत फैला तब बौद्ध मत वालों ने अपने देवताओं में '"ब्रह्मा" को एक कोमल और उपकारी देवता की तरह रक्खा ? और फिर जब पौराणिक हिन्दूधर्म ने भारतवर्ष में बौद्ध मत को दबा दिया तो पौराणिक काल के तत्वज्ञों ने सारे विश्व के रचने वाले को 'ब्रह्मा' का नाम दिया। इस प्रकार से अपनी जातीय पुस्तकों की सब से पुरानी बातों के देखने से हमको पुराणों की उन चटकीली भड़कीली कथाओं की उत्पत्ति के सीधे सादे कारण मालूम होते हैं, जिन्होंने कि एक हजार वर्ष से ऊपर हुए हमारे करोड़ों देश भाइयों और देश भगिनियों के विश्वास और आचरण पर

अपना प्रभुत्व जमाया है। यह कार्य उसी तरह का है जैसा कि हमारे भारतवर्ष की किसी ऐसी नदी के सोते का पता लगाना है जो कि अपने मुहाने के निकट कई मील तक फैली हुई हो परन्तु जो अपने सोते के पास केवल एक छोटी सी परन्तु साफ और चमकीली धारा से अनादि पहाड़ों से निकल रही हो। काल पाकर विचार भी उसी तरह बढ़ कर परिपक्व हो जाते हैं जैसे कि नदियाँ अपने मार्ग में नया पानी पाकर बढ़ती जाती हैं और यहां तक कि वे अपने पहले रूप को बिलकुल ही खो देती हैं यद्यपि उनका नाम वही रहता है। हम वैदिक ब्रह्मन, वैदिक विष्णु, वैदिक सूर्य और वैदिक रुद्र को पुराण के विश्वकर्ता, पालक और संहारक के रूप में उसी भाँति नहीं पहचान सकते जैसे कि हम हरिद्वार की चमकीली छोटी धारा को गंगा के उस समुद्रवत फैलाव में नहीं पहचान सकते जो कि बङ्गाल की खाड़ी में मिलने के स्थान पर है।

ये ऋग्वेद के मुख्य देवता हैं। देवियों में केवल दो हैं जिन्होंने कि कुछ स्पष्ट रूप पाया था अर्थात् उषस् व प्रभात, और सरस्वती जो कि इस नाम की नदी थी परन्तु पीछे से वाग्देवी हुई।

ऋग्वेद में प्रभात से सुन्दर और कोई कल्पना नहीं है। प्रभात के सम्बन्ध में जो सूक्त हैं उनसे अधिक वास्तविक कवितामय सूक्त वेद भर में कोई नहीं है और किसी प्राचीन जाति के सांगीत काव्य में इससे अधिक मनोहर कोई वस्तु नहीं पाई जाती। यहाँ पर हम इस सम्बन्ध के केवल कुछ सूक्त उद्धृत कर सकते हैं।

(२०) हे अमर उषस्! तू हमारी प्रार्थना की अनुरागिनी है। तुझे कौन जानता है! हे तेजस्विनी, तू किस पर दयालु है?

(२१) हे दूर तक फैली हुई नाना रंगों की चमकीली उषस्। हम लोग तेरा निवास स्थान नहीं जानते, चाहे वह निकट हो या दूर।

(२२) हे आकाश की पुत्री! इन भेटों को स्वीकार कर और हमारे सुखों को चिरस्थायी कर। (१,३०)

(७) आकाश की वह पुत्री जो युवती है, श्वेत वस्त्र धारण किये है और सारे सांसारिक खजाने की मालिक है, वह अन्धकार को दूर करके हम लोगों को प्रकाश देती है। हे शुभ उषस्! इस स्थान पर हम लोगों पर प्रकाश कर।

(८) जिस मार्ग से बहुतेरे प्रभात बीत गये हैं और जिस मार्ग से अनन्त प्रभात आने वाले हैं उसी मार्ग से चलती हुई तेजस्विनी उषस् अन्धकार को दूर करती है और जो लोग मृतकों की तरह नींद में बेखबर पड़े हैं उन सब को जीवित करके जगाती है।

(१०) कितने दिनों से बराबर प्रभात होता रहा है और कितने दिनों तक वह

बराबर होता रहेगा ? आज का प्रभात उन सब का पीछा करता है जो कि बीत गए हैं, आगामी प्रभात आज के चमकीले उषस् का पीछा करेगा।

(११) जिन प्राणियो ने प्राचीन उषस् को देखा था वे अब नहीं हैं, हम लोग उसे इस समय देखते हैं, और हमारे उपरान्त भी लोग होंगे जो कि भविष्य में उसे देखेंगे। (२,११३)

(४) अहना धीरे से सबके घर में प्रवेश करती है वह फैलने वाली प्रभा आती है और हम लोगों को आर्शीर्वाद दे कर हमारी भेंट स्वीकार करती है।

(११) अपनी माता के द्वारा सिंगारी हुई नववधू की तरह शोभायमान हो कर तू अपना शरीर प्रगट करती है। हे शुभ उषस्। इस आच्छादित अन्धकार को दूर कर; तेरे सिवाय और कोई इसे छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता। (१,१२३)

प्रभात बहुत से नामों से विख्यात था और इनमें से बहुत से नाम तथा उनके सम्बन्ध की कथाओं को हिन्दू लोग अपने आदि निवास से ले आए थे क्योंकि इन नामों के समानार्थवाची शब्द तथा इनमें से बहुत-सी कथाओं की पुनरुक्ति भी यूनानी पुराण में पाई जाती है। उषस् को हम यूनानी भाषा में इओस (Eos) और लैटिन भाषा में अरोरा (Aurora) के नाम से पाते हैं। भाषातत्ववेत्ताओं के अनुसार अर्जुनी वही है जो कि यूनानी अर्जिनोरिस् (Argynoris), वृसया, यूनानी ब्रिसेइस (Briseis) और दहना यूनानी दफने (Daphne) है। सरमा, ध्वनि के अनुसार वही जो कि यूनानी लोगों की हेलेना (Helena)। यम और अश्विनी माता सरण्यु यूनानी में एरिनिस् (Erinys) है, और अहना प्रसिद्ध देवी एथिना (Athena) है।

हम सरण्यु की कथा का उल्लेख ऊपर ही कर चुके हैं कि वह अपने पति विवस्वत के यहां से निकल गई और तब उसने दोनों अश्विनो को जना। यही कथा हम ग्रीक लोगों में भी पाते हैं। उनका विश्वास है कि इरिनिस डेमेटर (Erinys Demeter) इसी भांति अपने पति के यहां से निकल गई थी और तब उसने एरिअन (Areion) और डेस्पोइना (Desposina) को जना था। दोनों कथाओं का आशय एक ही है। वह यह है कि जब दिन अथवा रात आती है तो प्रभात निकल भागती हैं। इसी आशय पर यूनान की दूसरी कथा की भी उत्पत्ति हुई है और इसकी उत्पत्ति का पता भी ऋग्वेद से लगता है। बहुत से स्थानों में (जैसे १,११५,२ में) हम लोग सूर्य को प्रभात का पीछा करते हुए पाते हैं जिस तरह से कि कोई मनुष्य किसी स्त्री का पीछा करता हो। इसी तरह से यूनानी एपोलो (Apollo) दफने का पीछा करता है यहां तक कि अन्त में उसका रूप बदल जाता है अर्थात् प्रभात का लोप हो जाता है।

सरस्वती, जैसा कि उसके नाम ही से प्रगट होता है, इस नाम की नदी की देवी थी। यह नदी इस कारण से पवित्र मानी जाती थी कि उसके तटों पर धार्मिक कार्य किए जाते थे और वहाँ पवित्र सूक्तों के उच्चारण किए जाते थे। परन्तु विचारों की स्वाभाविक प्रगति से यह देवी उन्हीं सूक्तों की देवी समझी जाने लगी अर्थात् यह वाणी की देवी हो गई और इसी भांति से उसकी अब भी पूजा की जाती है। इसके और सब साथी अर्थात् दुर्गा, काली, लक्ष्मी, इत्यादि सब आधुनिक समय की रचना हैं।

ऋग्वेद की प्रकृति पूजा इस प्रकार की है। जिन देवताओं और देवियों की पूजा हमारे पुरखे लोग चार हजार वर्ष पहले सिन्ध के तटों पर करते थे वे इस प्रकार के थे। प्रकृति के देवताओं की कल्पना तथा जिस एक मात्र भक्ति के साथ उनकी पूजा की जाती थी उससे एक वीर जाति की सरलता तथा शक्ति प्रकट होती है और इससे उन लोगों की उन्नति तथा सविचारता भी प्रगट होती है जिन्होंने कि सभ्यता में बहुत कुछ उन्नति कर ली थी। वैदिक देवताओं की केवल कल्पना ही से एक उच्च भाव प्रगट होता है जिससे विदित होता है कि जिन लोगों ने इन देवताओं की कल्पना की होगी वे बड़े ही सदाचारी रहे होंगे। एम० बार्थ साहब बहुत ठीक कहते हैं कि वैदिक देवता निकटवर्ती स्वामियों की तरह हैं और वे मनुष्यों से अपने धर्म का उचित प्रतिपालन चाहते हैं। 'लोगों को उनसे निष्कपट होना चाहिये क्योंकि उनको धोखा नहीं दिया जा सकता। नहीं, स्वयम् वे भी किसी को धोखा देते अतएव यह उनका हक है कि वे मित्र, भाई और पिता की भांति अपने ऊपर लोगों का विश्वास तथा प्रीति प्राप्त करें।...मनुष्यों को बुरे होने की अनुज्ञा कैसे दी जा सकती है जब कि स्वयम् देवता लोग अच्छे हैं। सूक्तों में निस्सन्देह यह एक अद्भुत बात है कि उनमें कोई दुष्ट प्रकृति के देवता नहीं पाये जाते, कोई नीच और हानिकारक बात नहीं पाई जाती...अतएव हम लोगों को यह स्वीकार करना चाहिए कि सूक्तों में एक उच्च और विस्तृत नीति की शिक्षा पाई जाती है और उनसे यह विदित होता है कि वैदिक कवीश्वरों को अदिति और आदित्यों के सामने निर्दोष होने का यत्न करने के सिवाय इस बात का भी ज्ञान था कि देवताओं को भेंट चढ़ाने के सिवाय उनके और भी कर्तव्य थे।

ऋग्वेद में मनुष्यों के बनाये हुये ऐसे मन्दिरों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता जो कि पूजा के काम में लाये जाते हों। इसके विरुद्ध प्रत्येक गृहस्थ, जो प्रत्येक घराने का मालिक था अपने घर ही में होमाग्नि प्रगट करता था और अपने घराने के सुख के लिये, बहुत से धन धान्य और पशु के लिये, रोग रहित रहने के लिए, और काले आदिवासियों पर जय पाने के लिये, देवताओं से प्रार्थना करता

था। पुजारियों की कोई अलग जाति नहीं थी और न लोग धर्म पर विचार करने और इन सूक्तों को बनाने के लिये बन ही में निकल जाया करते और वहाँ तपस्या करते थे। इसके विरुद्ध प्राचीन ऋषि लोग—अर्थात् वे सच्चे ऋषि लोग जिनका कि वर्णन ऋग्वेद में है और न कि वे कल्पित ऋषि जिनकी बनावटी कथाएँ पुराणों में पाई जाती हैं—सांसारिक मनुष्य थे अर्थात् वे ऐसे मनुष्य थे जिनके पास अन्न और पशु के रूप में बहुत सा धन था, जो कि बड़े-बड़े घरानों में रहते थे, समय पड़ने पर हल के बदले भाला और तलवार धारण करते थे और काले असभ्यों से सभ्यता के उन सुखों की रक्षा करते थे जिनको कि वे अपने देवताओं से मांगा करते थे और जिन्हें उन लोगों ने इतने कष्ट से प्राप्त किया था।

परन्तु यद्यपि प्रत्येक गृहस्थ स्वयं पुजारी, योद्धा और कृषक तीनों ही होता था, फिर भी हम इस बात के प्रमाण पाते हैं कि राजा लोग बहुत करके ऐसे लोगों की सहायता से धर्म विधानों को करते थे जो लोग कि सूक्तों के गाने में विशेष निपुण होते थे, और इन लोगों को वे इस कार्य के लिये द्रव्य भी दे देते थे। जब हम ऋग्वेद के उत्तर काल के सूक्तों को देखते हैं तो हम इस प्रकार के पुजारियों की प्रसिद्धि धन में बढ़ते हुये, सरदारों और राजाओं के यहाँ प्रतिष्ठा प्राप्त करते हुए, तथा पशु और रथों का पुरस्कार पाते हुये देखते हैं। हम कुछ घरानों को धार्मिक विधानों के करने में और सूक्तों के बनाने में विशेष निपुण पाते हैं और यह बहुत सम्भव है ऋग्वेद के वर्तमान सूक्त इन्हीं घरानों के लोगों के बनाये हुये हों और इन्हीं घरानों में बाप से बेटे को सिखाये जाकर वे रक्षित रक्खे गए हों।

ऋग्वेद के सूक्त दस मण्डलों में बंटे हैं और वे उनके रचयिता ऋषियों के नाम के क्रम से हैं। पहला मण्डल और अन्तिम मण्डल कई ऋषियों का बनाया हुआ है। परन्तु बाकी के आठ मण्डलों में से प्रत्येक किसी एक ऋषि, अथवा यों कहिये कि ऋषियों के किसी एक घराने वा शाखा का बनाया हुआ है। हम पहले कह चुके हैं कि दूसरे मण्डल के सूक्त भृगुबंशी गृत्समद के बनाये हुये हैं, तीसरा मण्डल विश्वामित्र का, चौथा वामदेव का, पाँचवा अत्रि का; छठां भारद्वाज का, सातवाँ वशिष्ठ का, आठवाँ कन्व का, और नवाँ अङ्गिरा का बनाया हुआ है। ये सब नाम आधुनिक हिन्दुओं को उन अगणित कथाओं द्वारा परिचित हैं जो कि पौराणिक समय में रची गई थी और आधुनिक हिन्दू लोग अब भी इन प्राचीन और पूज्य घरानों से अपनी उत्पत्ति बताना पसन्द करते हैं। हम इन ऋषियों और उनके सम्बन्ध की कथाओं के विषय में आगे के अध्याय में लिखेंगे।

इन्हीं तथा कुछ अन्य पूज्य घरानों हीं के द्वारा आर्य जाति की सबसे पुरानी रचना आज तक रक्षित है। लगातार कई शताब्दियों तक ये सूक्त जबानी सिखाये

गये और पुजारियों के घराने के युवक लोग अपने जीवन के प्रथम भाग को अपने वृद्ध पिता से इन पवित्र सूक्तों के सीखने में व्यतीत करते थे। इस प्रकार से ऋग्वेद का अमूल्य खजाना सैकड़ों वर्ष तक रक्षित रक्खा गया।

काल पाकर पुजारी लोग बेधड़क सृष्टि की अधिक गूढ़ बातों पर विचार करने लगे और उन्होंने प्रकृति के देवताओं को परमेश्वर में निश्चित किया।

(१) उस सर्वज्ञ पिता ने सब स्पष्ट देखा और उचित विचार के उपरान्त उसने आकाश और पृथ्वी को उनके द्रव रूप में एक दूसरे को छूते हुये बनाया। जब इनकी सीमाएँ दूर-दूर खींचीं गई तो पृथ्वी और आकाश अलग-अलग हो गये।

(२) वह जो सब का स्रष्टा है, बड़ा है। वह सब को उत्पन्न करने वाला और पालन करने वाला है। वह सब के ऊपर है और सबको देखता है। वह सातों ऋषियों के स्थान से भी ऊपर है। ज्ञानी लोग ऐसा ही कहते हैं और ज्ञानी लोगों की सब कामनाएं परिपूर्ण होती हैं।

(३) वह जो हम लोगों को जीवन देता है, वह जो हम लोगों का बनाने वाला है, वह जो इस सृष्टि के सब स्थानों का बनाने वाला है वह एक ही है, यद्यपि वह अनेक देवताओं के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे लोग भी उसको जानने की इच्छा रखते हैं।

(७) तुम इन सब चीजों के बनाने वाले का चिन्तन नहीं कर सकते। वह तुम्हारे लिये अचिन्त्य है। लोग अन्धकार से घिरे रह कर केवल अनुमान करते हैं। वे अपने जीवन को रखने के लिये भोजन करते हैं और सूक्तों का पाठ करते हुए इधर उधर घूमते फिरते हैं। (१०,८२)

इस उच्च सूक्त से हमको बिना किसी सन्देह के यह विदित होता है कि वेद के भिन्न-भिन्न देवता लोग केवल एक ही अचिन्त्य ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं। हम ऐसा ही एक दूसरा सूक्त नीचे उद्धृत करते हैं।

(१) इस समय जो चीजें हैं वे उस समय नहीं थीं और जो इस समय नहीं हैं वे भी उस समय नहीं थीं। पृथ्वी नहीं थी और दूर तक फैला हुआ आकाश भी नहीं था। तो फिर कौन सी चीज ढके हुई थी? कौन स्थान किस चीज के लिये नियत थी, क्या उस समय अलंघ्य और गहरा जल था?

(२) उस समय न तो मृत्यु थी और न अमरत्व, दिन और रात का भेद भी नहीं था। उस समय केवल वही एक था जो बिना हवा के सांस लेता था और अपनी आप रक्षा करता था। उसके सिवाय और कुछ नहीं था।

(३) पहले अन्धकार अन्धकार ही में ढका हुआ था। कोई चीज अपनी

अपनी सीमा में न थी, सब जल के रूप में थी। सृष्टि बिलकुल शून्य थी और जो वस्तुएँ नहीं थीं उनसे ढकी थी, और उसकी रचना ध्यान द्वारा हुई।

(४) मन में इच्छा प्रगट हुई और इस प्रकार से सृष्टि रचना का कारण उत्पन्न हुआ। ज्ञानी लोग विचार करते हैं और अपने ज्ञान के द्वारा, जो वस्तुएँ नहीं हैं उनसे वर्तमान वस्तुओं की उत्पत्ति निश्चित करते हैं।

(५) पुरुष लोग वीर्य के सहित उत्पन्न किए गये और शक्तियाँ भी उत्पन्न की की गईं। उनकी किरणें दोनों ओर तथा ऊपर और नीचे की ओर फैलीं, एक स्वयं रक्षित सिद्धान्त नीचे और एक शक्ति ऊपर।

(६) यथार्थ बात कौन जानता है? कौन वर्णन करेगा? सब की उत्पत्ति कब हुई? इन सब की उत्पत्ति कहाँ से हुई? देवता लोग सृष्टि के उपरान्त बनाये गये। यह कौन जानता है कि वे कहाँ से बनाये गये?

(७) ये सब वस्तुएँ कहाँ से बनाई गईं, उनकी उत्पत्ति किससे हुई, किसी ने उनको बनाया वा नहीं,—यह केवल उसी को ज्ञात है जो कि हम सब का ईश्वर हो कर सर्वोच्चतम स्थान में स्थित है। यदि वह भी न जानता हो तो और कोई इसको नहीं जानता। (१०, १२०)

सृष्टि के भेद का पता लगाने के विषय में यह संसार की आर्य जातियों का सबसे पहला यत्न है जो कि लिखा हुआ पाया जाता है। इस सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में हजारों वर्ष पहले हमारे पुरुषों के हृदय में इस प्रकार के अभीत और उच्च, यद्यपि संदिग्ध, विचार उत्पन्न हुए थे।

हम यहाँ पर एक अद्भुत सूक्त को और उद्धृत करेंगे जिससे जान पड़ेगा कि उत्तर काल के ऋषी लोग किस प्रकार से प्रकृति के देवताओं की कल्पना से आगे बढ़ कर केवल एक मात्र परमेश्वर के उच्च विचार में प्रवृत्त हुये।

(१) पहले पहल हिरण्यगर्भ था! वह अपने जन्म से ही सब का स्वामी था। उसने इस पृथ्वी और आकाश को अपने अपने स्थान में रक्खा। हम लोग हव्य से किसकी पूजा करें?

(२) उसकी, जिसने कि जीवन और शक्ति दी है, जिसकी आज्ञा का सब देवता पालन करते हैं, जिसकी परछाहीं अमरत्व है और मृत्यु जिसका दास है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें?

(३) उसकी जो कि देखने और चलने वाले समस्त प्राणियों का एक मात्र अधिपति है, उसकी जो कि समस्त दो पैर वालों तथा चौपायों का मालिक है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें?

(४) उसकी जिसकी शक्ति से कि ये बरफवाले पहाड़ बने हैं और जिसकी

रचना यह पृथ्वी और उसमें के समुद्र हैं। उसकी जिसके कि हाथ ऋक्ष के अंश हैं। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

(५) उसकी जिसने कि इस आकाश और इस पृथ्वी को अपने-अपने स्थान पर स्थित किया है, उसकी जिसने कि आकाश को नापा है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

(६) उसकी जिसने कि शब्दमय आकाश और पृथ्वी को स्थित करके विसृत किया है, उसकी जिसको कि चमकीला आकाश तथा पृथ्वी सर्व शक्तिमान मानती है, उसकी जिसकी सहायता से सूर्य ऊगता और प्रकाश प्राप्त करता है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

(७) प्रवल जल सारे विश्व में व्याप्त था। उसने अपने गर्भ में अग्नि को धारण करके उसे उत्पन्न किया। तब वह एक मात्र ईश्वर जो कि देवताओं का जीवन है, प्रगट हुआ। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

(८) वह जिसने कि अपनी शक्ति से जल को (जिससे कि शक्ति उत्पन्न हुई) प्रगट किया, वह जो कि सब देवताओं का मालिक है, वह एक ही है। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

(९) वह सत्यधर्म्मा जो कि इस पृथ्वी का रचने वाला है, इस आकाश का रचने वाला है और हर्षजनक तथा प्रवल जल का रचनेवाला है, वह हम लोगों की हिंसा न करे। हम लोग हव्य से किस देवता की पूजा करें ?

(१०) हे प्राणियों के स्वामी ! तेरे सिवाय और किसी ने इन सब वस्तुओं को नहीं उत्पन्न किया। जिस मनोरथ से हम लोग पूजा करते हैं वह पूरा हो। हम लोग धन और सुख को प्राप्त करें। (१०, १२१)

अब हम लोग इस कथन के भाव को समझते हैं कि ऋग्वेद का धर्म प्रकृति से प्रकृति के देवताओं की ओर जाता है। पूजा करने वाला प्रकृति के अद्भुत दृश्यों को समझता है और इन दृश्यों से सृष्टिकर्ता के भेदों को समझने का यत्न करता है।

सातवां अध्याय

वैदिक ऋषि

हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि वैदिक काल में कुछ धार्मिक और विद्वान वंशों को यज्ञ आदि की विधि जानने और सूक्त बनाने की शक्ति होने के कारण, श्रेष्ठता दी जाती थी। राजा लोग ऐसे वंशों का आदर करते थे और उन्हें पुरस्कार देते थे। इसके सिवाय, आर्य लोग वैदिक सूक्तों को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाते रहने के कारण, इन्हीं वंशों के अनुग्रहीत हैं। आज कल के हिन्दू लोग इन पुराने वंशों से अपनी उत्पत्ति बताने में अपना गौरव समझते हैं और उनके नाम आधुनिक हिन्दू समाज में प्रसिद्ध हैं। अतएव इन प्राचीन ऋषियों,—अर्थात् हिन्दू धर्म के पूज्य मार्गदर्शकों का कुछ वृत्तान्त हिन्दू पाठकों को अप्रिय न होगा।

वैदिक ऋषियों में, या यों कहिए कि ऋषिकुलों में, सबसे प्रधान विश्वामित्र और वशिष्ठ हैं। विद्वान और उद्योगी डाक्टर म्योर ने अपने संस्कृत टेक्स्ट्स' (Sanskrit texts) के पहले भाग में उत्तर काल की संस्कृत पुस्तकों में से इन ऋषियों के विषय में बहुत-सी कल्पित कथाओं का संग्रह किया है। परन्तु ऐसा कोई बिरला ही हिन्दू होगा, जिसने इन पूज्य ऋषियों के विषय में इस प्रकार की अनेक कथा बचपन से ही न सुनी हों।

प्रबल विजयी सुदास, वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों ही को बड़ा मानता था। इन दोनों ऋषि कुलों में स्वाभाविक ही कुछ द्वेष था और ये आपस में एक-दूसरे को कटुवचन भी कहते थे। यह कहा जाता है कि मण्डल ३ सूक्त ५३ की नीचे लिखी रिचाओं में वशिष्ट के कुल को ही कटुवचन कहा गया है—

(२१) हे इन्द्र! आज तू हम लोगों के पास बहुत-सी उत्तम सहायताओं के साथ आ; हम लोगों का मंगल कर। जो कोई हम लोगों से घृणा करता हो उसका अधोपतन हो और जिस किसी से हम लोग घृणा करते हैं उसके जीवन प्राण उससे निकल जांय।

(२२) जिस तरह से पेड़ को फरसे से हानि पहुँचती है, जिस तरह से सिम्बल का फूल तोड़ लिया जाता है, जिस तरह खौलते हुए कड़ाहे में से फेन निकलता है, वही दशा, हे इन्द्र शत्रुओं की भी हो।

(२३) नाशकर्ता की शक्ति नहीं देख पड़ती। लोग ऋषियों को इस तरह

दुरदुराते हैं जैसे कि वे पशु हों। बुद्धिमान लोग मूढ़ों की हँसी करने पर नहीं उतारू होते। वे लोग घोड़ों के आगे गदहों को नहीं ले चलते।

(२४) इन आर्यों ने (वशिष्ठों के साथ) हेल मेल करना नही सीखा वरन् दुराव करना सीखा है। वे शत्रुओं की तरह उन लोगों के विरुद्ध घोड़ों को दौड़ाते हैं। वे युद्ध में धनुष धारण करते हैं।

ऐसा विचारा जाता है कि वशिष्ठ ने म० ७ सू० १०४ की नीचे लिखी रिचाओं में इसी कुवाक्य का उत्तर दिया है—

(१३) सोम बुरे लोगों को अथवा उस शासक को आशीर्वाद नहीं देता जो अपनी शक्ति को बुरी तरह से काम में लाता है। वह राक्षसों का नाश करता है; वह झूठे आदमियों का नाश करता है; दोनों इन्द्र के बन्धनों से बँधे हैं।

(१४) हे जातवेदस्, यदि मैंने झूठे देवताओं की पूजा की होती अथवा यदि मैंने देवताओं का आह्वान झूठ मूठ किया होता,--परन्तु तू मुझसे अप्रसन्न क्यों है? वृथा बकवाद करने वाले तेरे संहार के नीचे पड़े।

(१५) यदि मैं यातुधान होऊँ वा यदि मैंने किसी के जीव को दुःख दिया हो, तो मैं अभी मर जाऊँ। पर जिसने मुझे झूंठ मूठ यातुधान कहा हो वह अपने दस मित्रों के बीच से उठ जाय।

(१६) यदि मैं यातुधान नहीं हूँ और कोई मुझे यातुधान कहता है अथवा सुन्दर राक्षस कहता है, तो इन्द्र उसे अपने बड़े शस्त्र से मारे। वह सब जीवों से अधम हो।

यहाँ तक तो इन दोनों कुपित ऋषियों का द्वेष समझ में आने लायक और स्वाभाविक है, यद्यपि वह उनकी विद्या और पवित्रता के योग्य नहीं है। परन्तु जब हम लोग इसके पीछे के समय की संस्कृत पुस्तकों की ओर देखते हैं तो इन मानुषी और स्वाभाविक घटनाओं को अद्भुत और विलक्षण कथाओं के बादल से ढँका हुआ पाते हैं।

इन उत्तर काल की कथाओं में शुरू से यह माना गया है कि वशिष्ठ एक ब्राह्मण और विश्वामित्र एक क्षत्रिय था, यद्यपि ऋग्वेद में ऐसा कहीं नहीं माना गया और न उसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय की कोई जाति ही मानी गई है। इसके विरुद्ध, विश्वामित्र ने बहुत से श्रेष्ठतम सूक्त बनाये हैं, जिन्हें कि उत्तर काल के ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और जिनमें आजकल के ब्राह्मणों का प्रातःकाल का भजन अर्थात् गायत्री भी है।

यह मान कर कि विश्वामित्र ने क्षत्रिय कुल में जन्म लिया था, महाभारत,

हरि वंश, विष्णु पुराण तथा उत्तर काल की दूसरी-दूसरी पुस्तकों में उनके ब्राह्मण हो जाने की एक मनोरंजक कथा लिखी है। सत्यवती एक क्षत्राणी कन्या थी। उसका विवाह ऋचीक नाम ब्राह्मण से हुआ। ऋचीक ने अपनी स्त्री के लिये एक भोजन बनाया, जिसके खाने से उसे एक ब्राह्मण के गुणवाला पुत्र होता और एक दूसरा भोजन अपनी सास के लिये बनाया जिसके खाने से उसे एक क्षत्री के गुणवाला पुत्र होता। परन्तु इन दोनों स्त्रियों ने अपने भोजन बदल लिये। अतएव क्षत्राणी को ब्राह्मण के गुण वाले विश्वामित्र हुये और ब्राह्मणी सत्यवती को जमदग्नि हुये जिनके पुत्र क्रोधी परशुराम, यद्यपि ब्राह्मण थे, परन्तु एक प्रसिद्ध और नाश करने वाले योद्धा हुए। उत्तर काल के लेखक गण, वैदिक ऋषियों की एक विशेष जातिमान कर और इस तरह से अपने को उलझन में डाल कर, इस उलझन को सुलझाने के लिये ऐसी-ऐसी कथाएँ गढ़ते थे।

राजा हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा में विश्वामित्र का एक लोभी ब्राह्मण की तरह वर्णन किया गया है। उसने राजा से केवल उसका राज्य ही नहीं ले लिया वरन् अपनी निष्ठुर दक्षिणा लेने के लिये उसे अपनी स्त्री, पुत्र और अपने को भी दास की तरह बेचने के लिये विवश किया! यदि ये कथाएँ ब्राह्मणों की भक्ति और मान सिखलाने के लिये गढ़ी गई हैं तो वे अपने उद्देश्य को पूरा नहीं करतीं वरन् दूसरे ही भाव उत्पन्न करती हैं। वियोग से संतप्त हरिश्चन्द्र को अन्त में इसका अच्छा फल मिला। विश्वामित्र ने उसके पुत्र को राजगद्दी पर बैठाया और हरिश्चन्द्र स्वर्ग को गया। वशिष्ठ इससे कुपित हुआ और उसने विश्वामित्र को शाप दिया कि वह बक हो जाय और विश्वामित्र ने भी वसिष्ठ को अरि पक्षी बना दिया। इन दोनों पक्षियों में आपस में इतना युद्ध हुआ कि सारा ब्राह्मांड कांप उठा और अन्त में ब्रह्मा को मध्यस्थ होना पड़ा अर्थात् उन्होंने इन दोनों ऋषियों को उनके असल रूप में करके उनमें मेल मिलाप करा दिया।

फिर तृशङ्कु की कथा सुनिये। यह राजा सदेह स्वर्ग में जाना चाहता था। वशिष्ठ ने उसके इस मनोरथ को असम्भव कहा और जब राजा इस बात पर कुपित हुआ तो उसने उसे चाण्डाल बना दिया। अब क्रोधी विश्वामित्र इस स्थान पर आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजा की इच्छा को पूर्णतया सम्भव कहा। उन्होंने एक बड़ा यज्ञ प्रारम्भ किया और वशिष्ठ के न सम्मिलित होने पर भी उसे किया। तृशङ्कु स्वर्ग को चढ़ा परन्तु इन्द्र ने उसे ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया और उसका सिर नीचे और पैर ऊपर करके उसे पृथ्वी की ओर फेंका। परन्तु विश्वामित्र ने इन्द्र, देवताओं और तारों के सहित एक दूसरा स्वर्ग बनाने को धमकाया। अतएव देवताओं को हार मानना पड़ा और तृशङ्कु पुनः स्वर्ग को चढ़ा और सूर्य के रास्ते से

दूर तारे की तरह चमकने लगा, यद्यपि कुछ असुखी स्थिति में अर्थात् उसका सिर अब तक भी नीचे की ओर था।

ऐसी ही ऐसी बहुतेरी कथाएँ पाई जाती हैं जो हिन्दुओं के लड़के और लड़कियों के लिये घरेलू कहानियाँ ही हो गई हैं और जिनमें ये दोनों ऋषी काल क्रम का अनादर करके सदैव एक-दूसरे से वैर भाव में देख पड़ते हैं जो एक दूसरे से बीस-बीस, तीस-तीस; अथवा पचास पचास पीढ़ी के अन्तर पर हुये हैं। किसी राज्यवंश या किसी दूसरे नायक की ऐसी ही कोई संस्कृत की लेख रचना होगी जिसमें हमें वशिष्ट और विश्वामित्र सदैव एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी न मिलें, यथा विष्णुपुराण में वशिष्ठ को इक्ष्वाकु के पुत्र निमि का पुरोहित कहा गया है और वहसगर का भी जो इक्ष्वाकु से ३७ वीं पीढ़ी में हुआ, पुरोहित कहा गया है। फिर रामायण में वशिष्ठ राम का पुरोहित कहा गया है, जो कि इक्ष्वाकु से ६१ वीं पीढ़ी में हुआ। उत्तर काल की गढ़ी हुई कथा बनाने वाले लोग ऋग्वेद की सीधी सादी बातों को इस तरह पर काम में लाये हैं और उन्होंने पुराने वेद की सामान्य, स्वाभाविक और मानुषी बातों के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी झूठी-झूठी कथाएँ गढ़ डाली हैं। केवल वेद के ऋषियों ही की नहीं, वरन् प्रत्येक देवता और प्राकृतिक अद्भुत बातों के विषय की लगभग प्रत्येक उपमा वा रूप की भी उत्तर काल के कल्पनाशील हिन्दुओं ने ऐसी दशा की है।

परन्तु यद्यपि उत्तर काल में विश्वामित्र के ब्राह्मण हो जाने के विषय में सैकड़ों कथाएँ गढ़ी गई हैं, पर इस बात का प्रत्यादेश करने का किसी ने विचार भी नहीं किया। महाभारत से लेकर मनुस्मृति और पुराणों तक की प्रत्येक कथा, प्रत्येक विद्याविशिष्ठ लेख, प्रत्येक बालोचित कहानी और प्रत्येक बड़े-बड़े ग्रन्थ में यही लिखा है कि विश्वामित्र क्षत्री और ब्राह्मण दोनों ही थे। महाभारत के अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा है कि वशिष्ठ केवल ब्राह्मण ही नहीं वरन् इस बड़े कुशिक वंश का संस्थापक कैसे हुआ जिसमें कि ब्राह्मण और सैकड़ों ऋषी भी हुये। इस प्रश्न का उत्तर देना उस पौराणिक काल में कठिन होगा जिसमें कि महाभारत रचा गया था। परन्तु उस काल में इसका उत्तर कठिन न होगा जब कि जातिभेद अदृढ़ था और स्वयम् विश्वामित्र के, अर्थात् वेद के, काल में जब कि जातिभेद था ही नहीं, तो यह प्रश्न ही न उठता।

अब अंगिरा, वामदेव भारद्वाज और भृगु ऋषियों के हाल भी सुनिये, जो कि विश्वामित्र और वशिष्ठ से कम प्रसिद्ध नहीं हैं। ये सब वैदिक ऋषि, अर्थात् वैदिक सूक्तों के रचने वाले थे। अतएव उत्तर काल के लेखकों को इनकी जाति के विषय में कुछ संदेह जान पड़ता है। ये लोग कभी तो क्षत्री गुणवाले ब्राह्मण कहे गए हैं, और

कभी ब्राह्मण गुण वाले क्षत्री। कहीं कहीं पर निर्भयता से यह भी सत्य अनुमान किया गया है कि ये सब ऋषि उस समय रहते थे जब कि जाति भेद नहीं था।

अंगिरा ऋग्वेद के नवें मण्डल के बनाने वाले हैं। इनके विषय में विष्णुपुराण (म० ४, अ० २, श्लो० २) में यों लिखा है:—"नभाग का पुत्र नाभाग था, उसका पुत्र अम्बरीष था, उसका पुत्र विरूप था, उससे पृषदश्व उत्पन्न हुआ और उससे रथीनर।" इस विषय में यह कहा है--"ये लोग, जो कि क्षत्री वंश से उत्पन्न हुये और पीछे अङ्गिरा कुल के कहलाये, रथीनरों के सरदार थे, अर्थात् ये लोग ब्राह्मण थे जिनमें क्षत्रियों के गुण भी थे।"

वामदेव और भारद्वाज ऋग्वेद के चौथे और छठें मंडलों के बनाने वाले हैं। मत्स्यपुराण में (अध्याय १३२) इन्हें अङ्गिरा वंश का ही ठहराया है, जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं।

गृत्समद ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के सूक्तों के बनानेवाले कहे जाते हैं। इनके विषय में भाष्यकार सायन यह कहते हैं कि वह पहले अङ्गिरा के कुल के थे, परन्तु पश्चात् वे भृगुवंश के गृत्समद हो गए। इस अद्भुत कथा की टीका महाभारत के अनुशासन पर्व में इस तरह से की गई है। उसमें लिखा है कि वीतहव्य एक क्षत्री राजा था और उसने भृगु के आश्रम में शरण ली थी। भृगु ने इस शरणागत की, उसके पीछा करने वाले से रक्षा करने के लिये कहा—"यहां कोई क्षत्री नहीं है, ये सब ब्राह्मण हैं।" भृगु के वाक्य झूठे नहीं हो सकते थे, अतएव शरणागत क्षत्री वीतहव्य तुरन्त ब्राह्मणत्व को प्राप्त होकर गृत्समद हो गया। यह बात अवश्य स्वीकार करने योग्य है कि ब्राह्मण हो जाने का यह रास्ता विश्वामित्र की अपेक्षा सहज है, जिसे कहा जाता है कि हजारों वर्ष तपस्या करनी पड़ी—उसके अतिरिक्त कि उसकी माता ने एक ब्राह्मण की पत्नी से भोजन का बदला कर लिया है।

परन्तु गृत्समद के जाति बदलने की बात सब जगह स्वीकार नहीं की गई है। विष्णुपुराण और वायुपुराण ने सच-सच कह ही दिया कि गृत्समद जाति भेद होने के पहले रहता था—"गृत्समद से सैनिक उत्पन्न हुआ, जिसने कि चारों जातियां बनाई।" (विष्णुपुराण ४,८)

अन्त में कन्व और अत्रि का वृत्तान्त भी सुन लीजिये। कन्व ऋग्वेद के आठवें मण्डल के बनाने वाले हैं। इनकी जाति के विषय में भी हम लोगों को वैसा ही सन्देह है। विष्णुपुराण (४,१९) और भागवत पुराण (४,२०) में लिखा है कि कन्व पुरु की सन्तान था, जो कि क्षत्री था। परन्तु फिर भी कन्व के वंश वाले ब्राह्मण समझे जाते थे। "अजमीध से कन्व उत्पन्न हुआ और उससे मेधा तिथि, जिससे कि कन्वनय ब्राह्मण उत्पन्न हुए (वि० पु० ४,१९)।"

अत्रि ऋग्वेद के पाँचवे मण्डल के बनाने वाले कहे जाते हैं, परन्तु उनकी जाति के विषय में भी ऐसा ही सन्देह पाया जाता है । विष्णुपुराण (४, ६) में अत्रि पुरुरवा के दादा कहे गए हैं, जो कि क्षत्री था ।

इतने उद्धृत वाक्य बहुत हैं । ये सब ऐसे ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं जो वैदिक ऋषियों के दो तीन हजार वर्ष पीछे के बने हुए हैं । परन्तु इन उद्धृत वाक्यों से हमलोग वैदिक धर्माचार्यों और योधाओं की दशा और स्थिति का विचार कर सकते हैं, अतएव वैदिक काल के वृत्तान्त में इनका उद्धृत करना अनुचित नहीं है । वैदिक काल के इतने पीछे के समय के लेखकों ने प्रायः प्राचीन बातों और कथाओं का असल तत्व नहीं समझा । परन्तु फिर भी पिछले समय की बातों में दृढ़ भक्ति होने के कारण, उन लोगों ने ऐसी-ऐसी कथाओं में हस्तक्षेप नहीं किया । ये कथाएँ ऐसे समाज की थीं जिनको हुए बहुत काल हो गया था और जो अब अस्पष्ट हो गया । पुराणों के जानने वाले यह नहीं सोच सकते थे कि धर्माचार्य और योधा दोनों एक ही कुल से उत्पन्न हो सकते हैं, ऋषि भी योद्धा हो सकता है, अथवा योद्धा भी धर्माचार्य हो सकता है । अतएव उन लोगों ने इन कथाओं की हजारों तरह की कल्पनाओं और उपाख्यानों द्वारा व्याख्या करने का उद्योग किया है । पर फिर भी उन लोगों ने इन कथाओं को बिना विकार वा परिवर्तन के भक्ति और निष्कपटता के साथ लिखा है । इसके उदाहरण के लिये हम एक वाक्य और उद्धृत करेंगे । मत्स्यपुराण में ९१ वैदिक ऋषियों के वर्णन के बाद अन्त में यों लिखा है (अध्याय १३२) "इस तरह ९१ मनुष्यों का वर्णन किया गया है जिन्होंने कि सूक्तों को रचा । ये ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य सब ऋषियों के पुत्र थे ।"

इस तरह से इस पुराण में को यह पुरानी बात ठीक-ठीक लिखी गई है कि वैदिक सूक्त सब आर्य जाति मात्र के बनाए हुए हैं और जब ग्रन्थकार यह कहता है कि इन सूक्तों के बनाने वाले ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य थे तो इससे हम लोगों के यह अनुमान करने में बहुत कठिनाई नहीं पड़ती कि ये सूक्त इन जातियों के संयुक्त पूर्वपुरुषों द्वारा बनाए गये थे ।

आजकल के ग्रन्थकारों ने ऋषियों के तीन भेद किए हैं, देवर्षि अर्थात् नारद की तरह देवताओं के तुल्य ऋषि लोग, ब्रह्मर्षि अर्थात् शकुन्तल नाटक के कन्व की तरह साधु ब्राह्मण और राजर्षि अर्थात् विदेह के राजा जनक की तरह पुण्यात्मा क्षत्री लोग । पुराने वैदिक समय के ऋषि लोग इन तीनों में से किसी एक खास तरह के नहीं थे और इसी कारण आजकल के ग्रन्थकारों को उनके विषय में कठिनाई पड़ती थी । इसलिए उन लोगों ने एक ऐसी बात का कारण बतलाने के लिये कि जिसका कारण है ही नहीं, लाखों कथाएँ गढ़ डालीं । परन्तु फिर भी उनके इन निराले अनु-

मानों में यह यथार्थ अनुमान भी पाया जाता है कि वैदिक ऋषि लोग जाति भेद होने के पहले रहे होंगे। इसलिये हम इन सब कल्पनाओं और कथाओं पर आश्चर्य नहीं करते वरन् उनके इस साहस की प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने कभी-कभी इस बात का भी अनुमान किया है।

अन्त में इन अनमोल बातों से—कि धर्माचार्य और योधा लोग एक ही जाति के थे और प्रायः एक ही ऋषि धर्माचार्य और योधा दोनों था—हम लोगों को वैदिक ऋषियों की सच्ची स्थिति समय में आती है। क्योंकि इन कथाओं की अद्भुत गढ़ी हुई बातों पर ध्यान न दिया जाय तो उनसे क्या विदित होता है? उनसे यह विदित होता है कि पुराने समझ में वशिष्ठ, विश्वामित्र अंगिरा और कन्व आदि की तरह पूज्यवंशों में विद्वान, पुरोहित और उसके साथ ही बड़े-बड़े योधा लोग भी होते थे। जिस तरह परसी (Percy) अथवा डगलस (Douglas) के खानदान का कोई मनुष्य चाहे उत्साही पादरी वा चाहे कट्टर योधा हो सकता है उसी तरह कन्व या अंगिरा के वंश के लोगों का भी हाल था। यह बात निश्चित है कि जिस तरह से योरप के लोग विशेष करके बड़े विख्यात योद्धा होते थे उसी तरह हिन्दू लोग विशेष करके बड़े विख्यात पुरोहित होते थे, परन्तु जाति भेद जैसे योरप निवासियों में नहीं था उसी तरह हिन्दुओं में भी नहीं था। योरप में मध्य समय (Mediaeval Europe) में उन जमींदारों (Barons) में से बहुतेरों के पिता, चाचा, पुत्र वा भतीजे पवित्र मठों के एकान्त में निवास करते थे, जिनका कि नाम अब तक धर्मार्थ युद्ध (Crusades) के इतिहास में पाया जाता है। इसी तरह से वशिष्ठ अथवा विश्वामित्र के जिनके धार्मिक सूक्तों को हम लोग अब तक स्मरण करते और सत्कार की दृष्टि से देखते हैं उनके पुत्र अथवा भतीजे वैदिक काल के उन युद्धों में लड़े थे जो कि आदिम निवासियों से भूमि लेने के लिये निरन्तर हुआ करते थे। ये बातें स्वयम् ऋग्वेद से सिद्ध होती हैं जिसके कुछ भाग हम एक पहले के अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं और वे कथाएँ भी इनकी पुष्टि करती हैं जिन्हें हमने इस अध्याय में उत्तर काल के संस्कृत ग्रन्थों से उद्धृत किया है। वैदिक काल के ऋषि लोग सूक्त बनाते थे, वे युद्धों में लड़ते थे और खेतों में हल जोतते थे, परन्तु न तो ब्राह्मण थे, न क्षत्री थे और वैश्य ही थे। वैदिक समय के बड़े-बड़े ऋषियों के वंश में भी पुरोहित और योद्धा दोनों ही उत्पन्न होते थे, परन्तु वे इसी तरह से न तो ब्राह्मण और क्षत्री थे, जिस तरह से कि मध्य समय में योरप में परसी वा डगलस लोग ब्राह्मण व क्षत्री नहीं थे।

———

ऐतिहासिक काव्य काल

[ईसवी से १४०० वर्ष पूर्व से १००० वर्ष पूर्व तक]

आठवाँ अध्याय

इस काल के ग्रन्थ

हम वैदिक काल का वृत्तान्त समाप्त कर चुके जब हिन्दू आर्य लोग उस सारी भूमि को जीत कर बस गये थे, जो कि सिन्ध और उसकी पांचों सहायक नदियों से सींची जाती है। हम दिखला चुके हैं कि उस समय का एक मात्र ग्रन्थ जो हम लोगों को प्राप्त है, केवल ऋग्वेद संहिता है और साथ ही इसके यह भी दिखला चुके हैं कि इस संहिता के सूक्तों से वैदिक काल की सभ्यता का पता किस भांति लगता है। अब हम उस काल की सभ्यता का वर्णन करेंगे जब हिन्दू लोग सतलज के आगे गंगा और जमुना के गर्भ में बढ़े और उन्होंने आधुनिक बनारस और उत्तरी बिहार तक बड़े-बड़े राज्य स्थापित किए। वैदिक काल की तरह इस काल का वृत्तान्त भी हम उस समय के ग्रन्थों में से देंगे।

परन्तु इस काल के कौन से ग्रन्थ हैं और उसके पीछे जो दार्शनिक काल हुआ, उस समय के कौन-कौन से ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् जिसमें गंगा की घाटी में रहने वाले कुरु, पाञ्चालों, कोशलों और विदेहों का बराबर वर्णन है, इस काल के ग्रन्थ है हैं। इसी तरह से सूत्र, जिसमें भारतवर्ष में न्यायवाद के बढ़ने के चिन्ह मिलते हैं और जो कि उस समय बनाए गये थे जब कि आर्य लोग सारे भारतवर्ष में फैल गए थे, दार्शनिककाल के ग्रन्थ हैं।

तीस वर्ष के करीब हुआ कि प्रोफेसर मेक्समूलर ने संस्कृत ग्रन्थों के बारे में एक पुस्तक छपाई थी। उसमें उन्होंने वे सब कारण दिखलाये हैं जिनसे कि सूत्र ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थों के पीछे समझना चाहिये, और ये कारण प्रायः माने भी गए हैं। उन्होंने दिखलाया है कि सूत्र ग्रन्थों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को मान लिया है और उनसे उद्धृत भी किया है। परन्तु इसके विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थों में सूत्र ग्रन्थों का कोई

चिन्ह नहीं मिलता। उन्होने यह भी दिखलाया है कि ब्राह्मण ग्रन्थों से यह झलकता कि धर्माचार्यों का उस समय बड़ा प्रभुत्व था और उनमें लोगों की निसंशय आज्ञा-परता थी, जो कि सूत्र ग्रन्थों के व्यवहारिक, दार्शनिक और संसयात्मवादी समय के पहले थी। फिर उन्होंने यह भी दिखलाया है कि उपनिषदों के समय तक ब्राह्मण ग्रन्थों को लोग भारतवर्ष में दैविक प्रकाश द्वारा प्राप्त मानते थे। परन्तु सूत्र ग्रन्थ मनुष्यों के बनाए समझे जाते हैं। प्रोफेसर मेक्समूलर ने इन सब बातों को उदाहरण के साथ ऐसे पांडित्य से वर्णन किया है जिससे बढ़ कर अब हो ही नहीं सकता। ⊛

यह कहने की कोई जरूरत नहीं है कि हम यहाँ पर इन झगड़ों को विस्तार के साथ नहीं लिख सकते। इस ग्रन्थ के उद्देश्यों के अनुसार हम ऊपर लिखी हुई बातों के विषय में कुछ साहित्य के सम्बन्ध की नहीं वरन् इतिहास के सम्बन्ध की बातें कहेंगे। भिन्न-भिन्न श्रेणियों के पुराने संस्कृत ग्रन्थों में इस अनुक्रम का ऐतिहासिक कारण क्या है? प्राचीन हिन्दुओं ने कई शताब्दी तक अपने ग्रन्थ एक विशेष रूप में अर्थात् वैदिक सूक्तों के रूप में क्यों बनाये? फिर उन्होंने धीरे-धीरे इस प्रणाली को छोड़कर, कई आगे की शताब्दियों में सुविस्तर

⊛ इसके उपरान्त की खोज ने इस बात को और भी पुष्ट कर दिया है। केवल किसी विशेष संप्रदाय के सूत्र उस संप्रदाय ही के ब्राह्मण के पीछे नहीं बनाये गए वरन् सब सूत्र ग्रन्थ मात्र ब्राह्मण ग्रन्थों के पीछे बनाए गये हैं। इसके केवल एक उदाहरण के लिये हम डाक्टर बुलहर के वाक्य उद्धृत करते हैं जो कि इस विषय में मेक्समूलर से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। उन्होंने अपने "धर्मसूत्र" नामक पुस्तक की भूमिका में दिखलाया है कि उन सूत्रों में अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न ब्राह्मणों के विचार उद्धृत किए गये हैं। उन्होंने दिखलाया है कि गौतम का धर्म सूत्र जो कि सबसे प्राचीन है उसमें स्यामयजुर्वेद के एक आरण्यक के, सामबेद के एक ब्राह्मण के और अथर्ववेद के भी एक उपनिषद के विचार पाये जाते हैं। उन्होंने दिखलाया है कि बशिष्ठ के धर्मसूत्र में ऋग्वेद के एक ब्राह्मण का, श्यामयजुर्वेद के एक आरण्यक का और स्वेतयजुर्वेद के एक ब्राह्मण का विचार उद्धृत किया गया है और उसमें अथर्ववेद के एक उपनिषद का भी उल्लेख है। इसी प्रकार से बौधायन के धर्मसूत्र में श्याम और स्वेत यजुर्वेद के ब्राह्मणों से उद्धृत विचार पाये जाते हैं। इसके विरुद्ध किसी ब्राह्मण गून्थ में कहीं पर भी किसी सूत्र गून्थ के विचार उद्धृत नहीं पाये जाते।

कोई विद्वान भी इस बात को नहीं मानता कि सबसे अन्तिम ब्राह्मण गून्थ सबसे प्रथम सूत्रगून्थ के लिखे जाने के पहले बना हो। परन्तु इन सब प्रमाणों से अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि एक समय ऐसा था जब कि लेख प्रणाली ब्राह्मण गून्थों के ढंग की थी और उसके उपरान्त लिखने का ढंग सूत्रों का सा हो गया।

और गद्य में ब्राह्मणों को क्यों लिखा ? और फिर धीरे-धीरे इस प्रणाली को भी बदल कर इसके आगे की कई शताब्दियों में उन्होंने संक्षिप्त सूत्रों की प्रणाली क्यों ग्रहण की ? ऐसी क्या बात थी कि जिससे प्राचीन हिन्दुओं ने अपने इतिहास के भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न प्रणाली में लेख लिखे हैं और इस तरह पर वे भविष्य में इतिहास बनाने वालों के लिये अपने लेखों के काल का पता लगाने का मार्ग छोड़ गये हैं ?

इन प्रश्नों का पूछना जितना सहज है उतना ही सहज इनका उत्तर देना नहीं है। परन्तु इसका उत्तर इसी की भाँति एक प्रश्न पूछने से दिया जा सकता है। क्या ऐसी बात थी कि जिससे योरप के मध्य काल के इतिहास और कल्पित कथाएँ उसी प्रणाली में नहीं बनाई गई जिस प्रणाली में चौदहवीं और पन्द्रवीं शताब्दियों के ग्रन्थ बनाये गये हैं ? ह्यूम और गिबन ने मध्यकाल की प्रणाली के अनुसार इतिहास क्यों नहीं लिखा ? और फील्डिङ्ग और स्काट ने मध्यकालीन कल्पित कथाएँ क्यों नहीं लिखी ? फिर भी इन सबके विषय एक ही थे। तो फिर लेख प्रणाली में इतना अन्तर क्यों है कि यदि योरप के इतिहास का नाम भी मिट जाय तो भी केवल इन्हीं साहित्य की पुस्तकों से हमलोग आजकल के समय से फ्यूडल समय का विभाग कर सकते हैं ?

कोई अंगरेज इन प्रश्नों का उत्तर यों देगा कि एलिजबेथ के राज्यकाल के, शेक्सपियर और बेकन के लेखों के पीछे भी मध्यकाल के इतिहासों और कल्पित कथाओं की प्रणाली में लेख लिखना असम्भव था, क्योंकि इसके पीछे योरप में एक नया प्रकाश उदय हो गया था, मनुष्यों की बुद्धि बढ़ गई थी, धर्म संशोधित हो गया था, पूर्वी गोलार्द्ध का पता लग गया था, आजकल की फिलासोफी (न्याय-शास्त्र) की उत्पत्ति हो गई थी, वाणिज्य और समुद्री व्यवसाय में अद्भुत उन्नति हो गई थी और सैनिक काश्तकारी पूरी तरह से उठ गई थी। सारांश यह कि योरोपियन सृष्टि ही बदल गई थी।

यदि पाठकों के सामने हिन्दू सभ्यता का इतिहास वैसी ही स्पष्टता से उपस्थित करना सम्भव होता जैसा कि उनके सामने योरप की सभ्यता का इतिहास है, तो वे भारतवर्ष के ऐतिहासक कालों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही उत्तर दे सकते। ऐतिहासिक काव्य के काल में हिन्दुओं की विस्तृत सभ्यता और उनकी धार्मिक क्रियाओं के आडम्बर होने के पीछे यह बात असम्भव थी कि ग्रन्थ वैदिक सूक्तों की प्रणाली में लिखे जाते। वह सीधी-सादी भक्ति जिससे कि पंजाब के आर्य लोग आकाश, प्रभात अथवा सूर्य को देखते थे, सदैव के लिए लोप हो गई थी। अब

प्रकृति की वे सहज शोभाएं, गङ्गा की घाटी में रहने वाले सभ्य आर्यों की, जो कि अब बड़े आडम्बर के आचारों और यज्ञों में लिप्त थे धार्मिक प्रशंसा विस्मय को आकर्षित नहीं करती थीं। अब इस काल में वृष्टि के देवता इन्द्र की अथवा प्रभात की देवी उषा की भक्ति के साथ स्तुति करना सम्भव नहीं था, प्राचीन सरल सूक्तों का अर्थ और उद्देश्य ही भूल गया था और अब का मुख्य धर्म सादे प्रभात और सांयकाल के अर्घ्य से लेकर बड़े-बड़े विधान के राजसूय यज्ञों तक, जो कई वर्षों में समाप्त होते थ, नाना प्रकार के यज्ञों ही में था। यज्ञों के नियम, छोटी-छोटी बातों का गुरुत्व और उद्देश्य और तुच्छ रीतों के नियम, ये ही अब लोगों के धार्मिक हृदय में भरे थे। ये ही अब विद्वान राजाओं और राजगुरुओं में विचार के विषय थे और इन्हीं का ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख है। इसलिये इस समय के सभ्य ग्रन्थकारों और विद्वानों की पुरानी प्रणाली के अनुसार वैदिक सूक्तों की प्रणाली में लिखना वैसा ही असम्भव था जैसा कि योरप के मध्य काल के विद्वानों का पुराने समय की वन्य और सादी नारवेजियन प्रणाली में लिखना।

फिर, डेकार्ट और बेकन के लेखों के पीछे योरप में मध्य कालीन दर्शन शास्त्रों की विवेचना असम्भव थी। इसी प्रकार से और इसी कारण से, भारतवर्ष में कपिल और गौतम बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे ब्राह्मणों की विस्तृत किन्तु व्यर्थ की बकवाद भी असम्भव थी। भारतवासियों के हृदय में एक नया प्रोत्साहन उदय हो गया था। विन्ध्याचल के आगे एक नई भूमि भी ज्ञात हो गई थी, यद्यपि उस मनुष्य का नाम जिसने कि पहले पहल इस दक्षिणी भूमि को ज्ञात किया, भूल गया है। उत्साह और भक्ति से पूर्ण उपनिषद् लिखे जा चुके थे, जो ब्राह्मणों के विद्याभिमान के बड़े विरोध में थे। कपिल ने, जो की भारतवर्ष का एक बड़ा भारी दार्शनिक था, अपने सांख्यदर्शन से भारतवर्ष में हलचल मचा दी थी और गौतम ने, जो भारतवर्ष का बड़ा भारी सुधारक था, दीन-दुखियों के लिये एक संशोधित धर्म चलाया और ब्राह्मण के विशेषाधिकारों का दृढ़ विरोध किया। उस समय कई नये-नये विज्ञान भी आविष्कृत हो गए थे और भारतवर्ष में एक नया प्रकाश उदय हो गया था।

ब्राह्मण साहित्य का लोप साधारणतः हुआ। विस्तृत और अर्थ विहीन नियमों पर अन्धकार छा गया और भिन्न-भिन्न प्राचीन धर्म सम्बन्धी कर्मों के नियम संक्षिप्त रूप में लिखे गए। दार्शनिक शास्त्रों के सूत्र बनाये गये और विद्या के प्रत्येक विभाग का रूप संक्षिप्त किया गया। मानवी विद्या के प्रत्येक विभाग पर संक्षिप्त रूप से ग्रन्थ लिखे गये जिसमें गुरू सुगमता से पढ़ा सके और विद्यार्थी उसे कह सके। और यही कारण है कि दर्शन काल का समस्त साहित्य सूत्रों के रूप में लिखा गया।

इन तीनों प्रकार के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का, जो हिन्दू इतिहास के तीन भिन्न-भिन्न कालों का वर्णन करते हैं, ऐतिहासिक गुरुत्व यह है कि सूक्तों से वैदिक समय की वीरोचित सरलता प्रगट होती है, ब्राह्मण ऐतिहासिक काव्य काल के आडम्बर युक्त आचार प्रगट करते हैं और सूत्रों से विवेकमय काल की विद्या, शास्त्र और अविश्वास प्रगट होते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि इनमें से प्रत्येक काल में हिन्दुओं का अधिनिवेश पूरब और दक्षिण की ओर बढ़ता गया, और जिन संस्कृत ग्रन्थों का ऊपर वर्णन हुआ है उनसे भी ये बातें प्रमाणित होती हैं। योरप में इटली, जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड में फ्यूडल समय के ग्रन्थों और आज कल के साहित्य की एक ही स्थल में वृद्धि हुई, परन्तु भारतवर्ष में ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि आर्य लोग प्रत्येक काल में विजय करते हुए आगे बढ़ते गये और प्रत्येक काल के ग्रन्थों में भारतवर्ष के केवल उतने ही भाग का उल्लेख है जितने में कि उस काल में आर्य लोगों का अधिकार और राज्य था। केवल इसी बात से हम लोगों को भिन्न-भिन्न श्रेणी के ग्रन्थों के समय का बहुत कुछ पता लग सकता है।

ऋग्वेद के सूक्तों में केवल पंजाब का उल्लेख है, उसमें पंजाब के आगे के भारतवर्ष का कुछ समाचार नहीं है। उसमें दूरस्थ गंगा और यमुना के तटों का कहीं बिरले ही उल्लेख है। उसमें सब युद्धों सामाजिक संस्कारों और यज्ञों के स्थान केवल सिन्धु नदी, उसकी शाखाएँ और सरस्वती के तट ही हैं। अतएव जिस समय ये सूक्त बनाये गये थे उस समय हिन्दुओं को भारतवर्ष का केवल इतना ही भाग मालूम था।

परन्तु हिन्दू लोग शीघ्र ही उत्तरी भारतवर्ष भर में जा बसे और कुछ ही शताब्दियों में इन लोगों ने उन्नति कर के बड़े-बड़े राज्य स्थापित कर लिए और अपनी उन्नति और विद्या से अपनी जन्मभूमि पंजाब को दबा दिया। ब्राह्मणों में, आधुनिक दिल्ली के आस पास के देश में प्रबल कुरुओं का, आधुनिक कन्नौज के आस पास के देशों में प्रतापी पांचालों का, आजकल के उत्तरी विभाग में विदेहों का, अवध में कोशलों का और आधुनिक बनारस के आस पास के देश में काशिओं का उल्लेख मिलता है। इन लोगों ने बड़े आडम्बर के यज्ञादि कर्मों को बढ़ाया और इनमें जनक, अजातशत्रु, जनमेजय और परीक्षित की भांति प्रतापी और विद्वान राजा हुए। उन लोगों ने ग्रामों और नगरों में परिषद् अर्थात् पाठशालाएं स्थापित कीं और जातिभेद की एक नई समाजिक रीति चलाई। ब्राह्मण ग्रन्थों में हम लोग ज्यादा करके इन्हीं लोगों का तथा इनकी सभ्यता का उल्लेख पाते हैं। पंजाब उस समय प्रायः भूल

सा गया था और दक्षिणी भारतवर्ष ज्ञात नहीं हुआ था। यदि दक्षिणी भारतवर्ष का उल्लेख कहीं पर मिलता है तो वहां पर वह जंगली मनुष्यों और पशुओं का निवास स्थान कहा गया है। अन्त में सूत्र ग्रन्थों में हम लोगों को दक्षिणी भारतवर्ष के बड़े बड़े राज्यों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार से भिन्न भिन्न ग्रन्थों में जिन देशों जातियों का वर्णन है उससे उनके समय का पता लगता है !

हम इस पुस्तक के पहिले खण्ड में वैदिक काल के तथा ऋग्वेद के सूक्तों के विषय में लिख चुके हैं। अब इस दूसरे खण्ड में हम ऐतिहासिक काव्य काल के और ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में और तीसरे में दर्शन काल के तथा सूत्र ग्रन्थों के विषय में लिखेंगे।

हम ऊपर दिखला चुके हैं कि ऋग्वेद के सूक्त वैदिक काल में बनाए गए थे, परन्तु वे आखीर में ऐतिहासिक काव्य काल में संग्रहीत किए गए थे। अन्य तीनों वेद, अर्थात् सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद भी इसी काल में संग्रहीत किए गए थे।

सामवेद और यजुर्वेद के संग्रहीत होने के कारण, वे कुछ निश्चित रूप से जाने जा सकते हैं। हम लोगों को ऋग्वेद के सूक्तों में भिन्न भिन्न प्रकार के धर्माचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें यज्ञ में जुदे जुदे कार्य करने पड़ते थे। अध्वर्युओं को यज्ञ के सब प्रधान काम करने पड़ते थे, जैसे उन्हें भूमि नापनी पड़ती थी, मूर्त्ति और यज्ञ कुण्ड बनाना पड़ता था, लकड़ी और पानी लाना पड़ता था और पशुओं को बलिदान करना पड़ता था। पुरानी रीति के अनुसार यज्ञ में गाना भी होता था और यह गाने का काम उद्गात्री लोग करते थे। होत्री लोगों को वेद की ऋचाएं पढ़नी पड़ती थी और ब्राह्मण लोग यज्ञ में सब अधिष्ठान करते थे।

इन चारों प्रकार के धर्माचार्यों में न तो ब्राह्मणों और न होत्रियों को किसी विशेष पुस्तक की आवश्यकता थी क्योंकि ब्राह्मणों को केवल सब यज्ञकर्म जानने की आवश्यकता थी, जिसमें कि वे यज्ञ का अधिष्ठान कर सकें, दूसरे धर्माचर्यों को संदिग्ध विषयों में उनका कर्तव्य बता सकें और उनकी भूलों को सुधार सकें। होत्रियों को भी केवल ऋचाएं पढ़नी पड़ती थीं और यदि वे ऋग्वेद के सूक्तों को जानते हों तो उन्हें किसी दूसरी पुस्तक की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु अध्वर्युओं और उद्गात्रियों को विशेष शिक्षा की आवश्यकता थी। वैदिक समय में अध्वर्युओं के लिए कुछ विशेष याज्ञिक मंत्र अवश्य रहे होंगे और ऋग्वेद में उद्गात्रियों के लिए कुछ स्वर-ताल-बद्ध सूक्त भी अवश्य रहे होंगे क्योंकि ऋग्वेद में 'यजुस' और 'सामन' नाम पाये जाते हैं। इसके पीछे अर्थात् ऐतिहासिक काव्य काल में इन मंत्रों और गीतों का एक अलग संग्रह किया गया और इन्हीं संग्रहों के

जो अन्त में रूप हो गए वे हमारे इस समय के यजुर्वेद और सामवेद हैं।

सामवेद के संग्रह करने वाले का हमलोगों को कोई पता नहीं लगता। डाक्टर स्टिवेन्सन का जो अनुमान था उसे प्रोफेसर बेनफे ने सिद्ध कर दिखला दिया है कि सामवेद की कुछ ऋचाओं को छोड़ कर और सब ऋग्वेद में पाई जाती हैं। साथ ही इसके यह भी विचार किया जाता है कि ये बाकी की थोड़ी ऋचाएं भी ऋग्वेद की किसी प्रति में, जो कि अब हमलोगों को अप्राप्त है, अवश्य रही होंगी। अतएव वह बात स्पष्ट है कि सामवेद केवल ऋग्वेद में से ही संग्रह किया गया है और वह एक विशेष कार्य के लिये सुर-ताल-बद्ध किया गया।

यजुर्वेद के संग्रह करने वालों का हमें कुछ पता लगता है। श्याम-यजुर्वेद तित्तिरि के नाम से तैतिरीय संहिता कहलाता है, और कदाचित इसी तित्तिरि ने इसे इसके आधुनिक रूप में संग्रहीत या प्रकाशित किया था। इस वेद की आत्रेय प्रति की अनुक्रमणी में यह लिखा है कि यह वेद वैशम्पायन से यास्क पिङ्गि को प्राप्त हुआ, फिर यास्क से तित्तिरि को, तित्तिरि से उख को, और उख से आत्रेय को प्राप्त हुआ। इससे प्रगट होता है कि याजुर्वेद की जो इस समय सबसे पुरानी प्रति मिलती है वह आदि प्रति नहीं है।

स्वेत-यजुर्वेद के विषय में हमें इससे भी अधिक पता लगता है। यह वेद अपने संग्रह करने वाले अथवा प्रकाशित करने वाले याज्ञवल्क्य बाजसनेय के नाम से वाजसनेयी संहिता कहलाता है। याज्ञवल्क्य, विदेह के राजा जनक की सभा में प्रधान पुरोहित थे और यह नया वेद कदाचित इसी विद्वान राजा की सभा से प्रकाशित हुआ। श्याम और स्वेत-यजुर्वेदों के विषयों के क्रम में सबसे बड़ा भेद यह है कि पहिले में तो यज्ञिक मंत्रों के आगे उनका व्याख्यान और उनके सम्बन्धी यज्ञकर्म का वर्णन दिया है, परन्तु दूसरी संहिता में केवल मंत्र ही दिए हैं, उनका व्याख्यान तथा यज्ञकर्म का वर्णन एक अलग ब्राह्मण ग्रन्थ में दिया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः पुराने क्रम को सुधारने और मन्त्रों को व्याख्या से अलग करने के लिये जनक की सभा के याज्ञवल्क्य ने एक नई वाजसनेयी सम्प्रदाय खोली और इसके उद्योगों का फल एक नई (वाजसनेयी) संहिता और एक पूर्णतया भिन्न (सतपथ) ब्राह्मण का बनाया जाना हुआ।

परन्तु यद्यपि स्वेत-यजुर्वेद के प्रकाशक याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं, पर इस वेद को देखने से जान पड़ेगा कि यह किसी मनुष्य वा किसी एक ही समय का भी संग्रह किया हुआ नहीं है। इसके चालीसो अध्यायों में से केवल प्रथम १८ अध्यायों के मंत्र सतपथ ब्राह्मण के प्रथम नौ खंडों में पूरे पूरे उद्धृत किये गए हैं और यथा क्रम उन पर टिप्पणी भी दी गई है। पुराने श्याम-यजुर्वेद में इन्हीं अट्ठारहों अध्याओं के

मन्त्र पाये जाते हैं। इसलिए ये अट्ठारहों अध्याय श्वेत यजुर्वेद के सबसे पुराने भाग हैं और सम्भवतः इन्हें याज्ञवल्क्य वाजसनेय ने संकलित वा प्रकाशित किया होगा। इसके आगे के सात अध्याय सम्भवतः उत्तरकाल के हैं और शेष १५ अध्याय तो निस्सन्देह और भी उत्तर काल के हैं जिनका साफ तरह से परिशिष्ट द्वारा उल्लेख किया गया है।

अथर्व वेद के विषय में हमें केवल यह कहने ही की आवश्यकता है कि जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं, उसके बहुत पीछे तक भी इस ग्रन्थ की वेदों में गिनती नहीं की जाती थी। हां, ऐतिहासिक काव्य काल में एक प्रकार के ग्रन्थों की जिन्हें अथर्वाङ्गिर कहते हैं उत्पत्ति अवश्य हो रही थी जिसका उल्लेख कुछ ब्राह्मणों के उत्तर कालीन भागों में है। हिन्दू इतिहास के तीनों कालों में और मनु की तथा दूसरी छन्दोबद्ध स्मृतियों में भी, प्रायः तीन ही वेद माने गये हैं। यद्यपि कभी कभी अथर्वन, वेदों में गिने जाने के लिए उपस्थित किया जाता था, परन्तु फिर भी ईस्वी सन् के बहुत पीछे तक यह ग्रन्थ प्रायः चौथा वेद नहीं माना जाता था। जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं उस काल की पुस्तकों में से बहुतेरे वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमें केवल तीन ही वेद माने गये हैं, परन्तु स्थान के अभाव से हम उन वाक्यों को यहाँ उद्धृत नहीं कर सकते। हम अपने पाठकों को केवल इन ग्रन्थों के निम्नलिखित भागों को देखने के लिए कहेंगे, अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण ५, ३२, सतपथ ब्राह्मण ४, ६, ७, ऐतरेय आरण्यक ३, २, ३, बृहदारण्यक उपनिषद् १, ५, और छान्देग्य उपनिषद् ३ और ७। इस अन्तिम पुस्तक में तीनों वेदों का नाम लिखने के पीछे अथर्वाङ्गिर की गिनती इतिहासों में की है। केवल अथर्ववेद ही के ब्राह्मण और उपनिषदों में इस पुस्तक को वेद माने जाने का बराबर उल्लेख मिलता है। यथा गोपथ ब्राह्मण का मुख्य उद्देश्य एक चौथे वेद की आवश्यकता दिखलाने का है। उसमें यह लिखा है कि चार के पहियों बिना गाड़ी नहीं चल सकती, पशु भी चार टांगों के बिना नहीं चल सकता, और न यज्ञ ही चार वेदों बिना पूरा हो सकता है। ऐसी विशेष युक्तियों से केवल यही सिद्ध होता है कि गोपथ ब्राह्मण के बनने के समय तक भी चौथा वेद प्रायः नहीं गिना जाता था।

अर्थवन और अङ्गिरा जैसा कि प्रोफेसर व्हिटनी कहते हैं, प्राचीन और पूज्य हिन्दू वंशों के अर्द्ध पौराणिक नाम हैं और इस आधुनिक वेद का इन प्राचीन नामों से किसी प्रकार सम्बन्ध करने का यत्न किया गया। इस वेद में २० कांड हैं, जिनमें लगभग ६ हजार ऋचाएँ हैं। इसका छठां भाग गद्य में है और शेष अंश का छठां भाग ऋग्वेद के, प्रायः दसवें मंडल के, सूक्तों में मिलता है। १९वां कांड एक प्रकार से पहले अट्ठारह कांड का परिशिष्ट है और २०वें कांड में ऋग्वेद के उद्धृत भाग हैं।

इस सारे वेद में खास करके दैवी शक्तियों की हानि से, रोग से, हिंसक जानवरों से और शत्रुओं के शाप से मनुष्यों को अपनी रक्षा करने के लिये मंत्र हैं। इसमें बहुत से भूतों और पिशाचों का उल्लेख है और उनकी स्तुति दी है जिसमें वे कोई हानि न करें। यह कल्पना की गई है कि ये मंत्र देवताओं से उन आवश्यक चीजों को भी दिलवाते हैं, जिनके देने के लिये उन देवताओं की इच्छा नहीं होती। इस पुस्तक में दीर्घायु होने, धन प्राप्त करने अथवा रोग से अच्छे होने के लिये मन्त्र और यात्रा, जुए आदि में सफलता प्राप्त करने के लिये स्तुतियाँ भरी हैं। ये मन्त्र उन्हीं मंत्रों की तरह हैं जो कि ऋग्वेद के आखरी मंडल में दिए हैं। परन्तु, जैसा कि प्रोफेसर वेबर ने दिखलाया है, उनमें भेद केवल इतना ही है कि ऋग्वेद में वे साफ उस समय के बनाए हुए हैं जिस समय कि ऋग्वेद बना था, पर अथर्ववेद में वे आधुनिक समय के बनाये हुए हैं।

अब हम ब्राह्मण रचना का वृतान्त देंगे जिसके कारण इस काल के ग्रन्थ ब्राह्मणों का साहित्य कहलाते हैं। हम दिखला चुके हैं कि श्याम यजुर्वेद में मूल के आगे सदा उसकी व्याख्या भी दी है। ऐसा विचारा जाता था कि यह व्याख्या मूल को स्पष्ट करती है और उसके छिपे हुए अर्थ को प्रगट करती है। इन व्याख्याओं में कई पीढ़ियों के धर्माचार्यों के विचार हैं। इस प्रकार की व्याख्या को "ब्राह्मण" कहते थे और उत्तर काल में इन व्याख्याओं के संग्रह अथवा उनके सारांश को 'ब्राह्मण' कहने लगे।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं अर्थात् ऐतरेय और कौशीतकि। इनमें से पहले के बनाने वाले इतरा के पुत्र महिदास ऐतरेय कहे जाते हैं और कौशीतकि ब्राह्मण में कौशीतक ऋषि का विशेष आदर किया गया है और इन्हीं का कथन निश्चित समझा गया है। सब बातों में ये दोनों ब्राह्मण, एक ही ग्रन्थ की केवल दो प्रतियाँ जान पड़ते हैं, जिन्हें क्रम से ऐतरेय और कौशीतकि लोग व्यवहार करते थे। ये ब्रह्मण एक दूसरे से अनेक बातों में मिलते हैं, सिवाय इसके कि ऐतरेय के अन्तिम दस अध्याय कौशीतकि में नहीं हैं, और कदाचित ये उत्तर काल के हैं।

सामवेद के टाण्ड्य वा पञ्चविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण, और सुप्रसिद्ध छान्दोग्य हैं।

श्याम यजुर्वेद वा तैत्तिरीय संहिता का तैत्तिरीय ब्राह्मण है और स्वेत यजुर्वेद वा वाजसनेयी संहिता का एक बड़ा भारी सतपथ ब्राह्मण है। हम ऊपर कह आये हैं कि सतपथ ब्राह्मण के बनाने वाले याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं, पर यह अधिक सम्भव है कि उन्होंने जो सम्प्रदाय स्थापित की थी उसी ने इसे बनाया हो, क्योंकि इस पुस्तक

में कई स्थान पर उसका उल्लेख किया गया है। परन्तु यह पूरा ग्रन्थ किसी एक ही सम्प्रदाय का एक ही समय का बनाया हुआ नहीं है वरन् स्वेत यजुर्वेद संहिता की भाँति, इस ब्राह्मण के भी भिन्न-भिन्न समयों में बनाये जाने के प्रमाण मिलते हैं। इस संहिता के पहले १८ अध्याय सबसे पुराने हैं और इस ब्राह्मण के पहले ९ कांड, जिनमें इन अट्ठारहों अध्यायों की व्याख्या दी है, सबसे पुराने हैं। इसके शेष ५ कांड प्रथम ९ कांडों के पीछे के समय के हैं।

अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण है जो कि बहुत ही थोड़े समय का बना हुआ जान पड़ता है। इसके लेख नाना प्रकार के मिश्रित हैं और अधिकांश भिन्न-भिन्न स्थानों से लिए गए हैं।

ब्राह्मणों के पीछे आरण्यक बने, जो कि वास्तव से ब्राह्मणों के अन्तिम भाग समझे जा सकते हैं। सायन ने लिखा कि वे आरण्यक इसलिये कहे जाते थे क्योंकि वे अरण्य अर्थात् बन में पढ़े जाते थे, परन्तु ब्राह्मण उन यज्ञों में व्यवहार किये जाते थे जिन्हें गृहस्थ लोग अपने घरों में करते थे।

ऋग्वेद के कौशीतकि आरण्यक और ऐतरेय आरण्यक हैं जिनमें से ऐतरेय आरण्यक महिदास ऐतरेय का बनाया हुआ कहा जाता है। श्याम यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक है। सतपथ ब्राह्मण का अन्तिम अध्याय भी उसका आरण्यक कहा जाता है। सामवेद और अथर्व वेद के आरण्यक नहीं हैं।

इन आरण्यकों का विशेष गुरुत्व इसलिये है कि वे उन प्रसिद्ध धार्मिक विचारों के विशेष भंडार हैं जो उपनिषद कहलाते हैं। जो उपनिषद सुप्रसिद्ध और निस्सन्देह प्राचीन है वे ये हैं—ऋग्वेद के ऐतरेय और कौशीतकि उपनिषद जो इन्हीं नामों के आरण्यकों में पाये जाते हैं, सामवेद के छान्दोग्य और तनलवकार (वा केन) उपनिषद, स्वेत यजुर्वेद के वाजसनेयी (वा ईश) और बृहदारण्यक, श्याम यजुर्वेद के तैत्तिरीय, कठ और श्वेताश्वतर, और अथर्ववेद के मुण्डक, प्रश्न और माण्डूक्य। ये बारह प्राचीन उपनिषद हैं और शंकराचार्य ने अपने वेदान्त सूत्रों के भाष्य में मुख्यतः इन्हीं उपनिषदों से प्रमाण लिया है। परन्तु जब उपनिषद पवित्र और प्रामाणिक गिने जाने लगे तो इस श्रेणी के नये नये ग्रन्थ बनने लगे यहाँ तक कि इनकी संख्या दो सौ से भी अधिक हो गई। उत्तर काल में उपनिषद जो प्रायः अथर्ववेद उपनिषद कहे जाते हैं, पौराणिक काल तक के बने हुये हैं। उनमें प्राचीन उपनिषदों की तरह ब्रह्मज्ञान के विषय की वर्ता न होकर साम्प्रदायिक विचार पाये जाते हैं। वास्तव में उत्तर काल के उपनिषद, भारतवर्ष में मुसलमानों के आने के बहुत पीछे तक के भी बने हैं और सम्राट अकबर जो एक सार्वभौम धर्म स्थापित करना चाहता था उसका विचार एक उपनिषद में पाया जाता है, जिसका नाम

अल्लाह उपनिषद हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम इस पुस्तक में उत्तरकाल के उपनिषदों का नहीं वरन् केवल प्राचीन उपनिषदों का ही उल्लेख करेंगे।

उपनिषदों के साथ ही ऐतिहासिक काव्य काल का अन्त होता है और भारतवर्ष के इश्वरप्राप्त साहित्य भंडार का भी अन्त होता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल में निसन्देह दूसरी श्रेणियों के भी ग्रन्थ थे जो अब लुप्त हो गये हैं अथवा उनमें से अधिकांश की जगह पर अब नये-नये ग्रन्थ हो गये हैं। इस काल के बड़े भारी ग्रन्थ समूह का केवल एक अंश हम लोगों को प्राप्त है और इस अंश के मुख्य ग्रन्थों का उल्लेख ऊपर किया गया है।

स्वयम् ऐतिहासिक काव्यों में से मुख्य महाभारत और रामायण का वर्णन हम अगले दो अध्यायों में करेंगे।

नवां अध्याय

कुरु और पांचाल

विजयी आर्य लोग आगे बढ़ते गये। यदि पाठक भारतवर्ष का नकशा लेकर देखेंगे तो उन्हें विदित होगा कि सतलज के किनारे से लेकर गंगा और यमुना के किनारों तक यात्रा करने के लिये कोई बहुत ही बड़ी भूमि नहीं है। आर्य लोगों के लिये, जो सारे पंजाब में बस गए थे, सतलज अथवा सरस्वती के ही तटों पर चुपचाप पड़ा रहना सम्भव नहीं था। वैदिक काल में ही उद्योगी अधिवासियों के कई झुन्ड इन नदियों को पार करके यमुना और गंगा के दूरस्थ तटों की छानबीन कर चुके थे और ये नदियां अविदित नहीं थीं, यद्यपि सूक्तों में इनका हिन्दू संसार के पूर्णतया अन्त में होने की भांति उल्लेख आया है। कुछ में इन दोनों नदियों के उपजाऊ तटों पर के अधिवासी लोग संख्या में बहुत बढ़ गए होंगे यहां तक कि अन्त में उन्होंने आधुनिक दिल्ली के निकट एक बड़ा राज्य, अर्थात् कुरु लोगों का राज्य स्थापित किया।

ये अधिवासी वे ही भारत लोग थे जो सुदास के युद्धों में प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनके राजा कुरुवंशी थे और इसलिये उनकी जाति भारत और कुरु दोनों ही नामों से प्रसिद्ध है। कुरु लोग पञ्जाब के जिस भाग से आए इसका अभी पता नहीं लगा है। ऐतरेय ब्राह्मण (७, १४) में यह उल्लेख है कि उत्तर कुरु तथा उत्तर माद्रलोग हिमालय के उस पार रहते थे। उत्तरकाल के ग्रन्थों अर्थात् महाभारत (१,४७,१९

इत्यादि) और रामायण (.४,४४,८८ इत्यादि) में तो उत्तर कुरु लोगों की भूमि कल्पित देश सी हो गई है। यह स्थिर किया गया है कि टालमी का 'ओट्टोर कोर' उत्तर कुरु ही और लेसेन उनका आधुनिक काशगर के पूर्व में किसी स्थान पर बतलाता है। परन्तु जिन उत्तर कुरु लोगों का ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है उनका स्थान हमारे विचार में हिमालय की छोटी-छोटी चोटियों के कहीं उत्तर अर्थात् काश्मीर में कहीं पर था। हम यह मान लेते हैं कि ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहले इन कुरु लोगों की राजधानी गंगा के तट पर उन्नति को प्राप्त हुई।

जब एक बार हिन्दू लोग जमुना और गंगा के तटों पर आकर बस गए तो फिर झुन्ड के झुन्ड लोग आकर इन नदियों के तटों पर बसने लगे और शीघ्र ही इन दोनों नदियों के बीच की उस सारी भूमि में बस गए जिसको द्राब कहते हैं। जिस समय हम लोग कुरु अथवा भारत लोगों को आधुनिक दिल्ली के निकट बसते हुए पाते हैं उसी समय एक दूसरी उद्योगी जाति अर्थात् पांचालों को आधुनिक कन्नौज के निकट भी बसते हुए पाते हैं। पांचालों के आदि स्थान के विषय में कुरु लोगों की अपेक्षा और कम पता लगा है और यह कल्पना कर ली गई है कि वे लोग कुरु लोगों की तरह उत्तरी पहाड़ियों से आकर बसे। पांचाल के अर्थ 'पांच जातियां हैं और इससे यह प्रगट होता है कि वे कदाचित् उस पञ्चकृष्टि अथवा पञ्चजनों में से थे जिनका उल्लेख ऋग्वेद में कई जगहों पर आया है।

सम्भवतः पांचालों के राज्य की अभिवृद्धि उसी समय हुई जिस समय कि कुरु लोगों के राज्य की हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन दोनों राज्यों का हिन्दू संसार के केन्द्र की तरह कई जगह पर उल्लेख है, जो कि अपने पराक्रम, विद्या और सभ्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। बहुतेरे ब्राह्मण ग्रन्थों में इन लोगों के विद्याभिवृद्धि का, इनके पुरोहितों की पवित्रता का, इनके राजाओं के आडम्बरयुक्त यज्ञों का तथा और लोगों के दृष्टान्त योग्य जीवनों का उल्लेख है।

आर्यों को सिन्ध के तट पर आकर बसे कई शताब्दियां हो गई थीं और उन्होंने इन शताब्दियों में उन्नति और सभ्यता में बहु कुछ किया था। कुरु और पांचाल लोग अब उन खेतिहर योधाओं की तरह नहीं थे जिन्होंने कि सिन्ध और उसकी सहायक नदियों के किनारों की भूमि को काले आदिम निवासियों से लड़ लड़ कर जीता था। अब रीति व्यवहार बदल गए थे, समाज अधिक सभ्य हो गया था और विद्या तथा कलाकौशल में बहुत कुछ उन्नति हो गई थी। राजा लोग.पंडितों, को अपनी सभा में बुलाते थे, अपने पुरोहितों से पाण्डित्यपूर्ण वादविवाद करते थे, उस समय के नियमानुसार बड़े आडम्बरयुक्त यज्ञ करते थे, रणक्षेत्र में माननीय और शिक्षित सेनाओं के नेता होते थे, सुयोग्य पुरुषों को कर उगाहने और न्याय करने के

लिये नियुक्त करते थे और सभ्य शासकों को जो जो कार्य करने चाहिए वे सब करते थे। राजा के सम्बन्धी तथा मित्र लोग और जाति के सब योधा लोग बचपन ही से धनुष चलाना और युद्ध में रथ हांकना सीखते थे और वेदों को तथा उस पवित्र विद्या को भी पढ़ते थे जो कि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जबानी सिखाई जाती थी। पुरोहित लोग धर्म-सम्बन्धी क्रिया कर्मों के विधानों को बढ़ाए जाते थे, देश के प्राचीन साहित्य को रक्षित रखते थे और लोगों को उनके धार्मिक कर्मो में शिक्षा और सहायता देते थे। लोग नगरों और ग्रामों में रहते थे, अपने घर में पवित्र होमाग्नि स्थापित रखते थे, शान्ति के उपायों का अवलम्बन करते थे और अपने लड़कों को बचपन से वेदों की धार्मिक और सामाजिक रीतियों को पुष्ट करते थे जो कि भारतवर्ष में कानून की तरह पर हैं। समाज में स्त्रियों का उचित प्रभाव था और उनके लिए किसी प्रकार की कैद अथवा रुकावट नहीं थी। भारतवर्ष में वैदिक काल की अपेक्षा, ईसा के चौदह सौ वर्ष पहले समाज बहुत कुछ सभ्यता और उन्नति की अवस्था में था और उत्तरकाल की अपेक्षा उसमें बहुत कुछ स्वस्थ्य और ओजस्विन रहन सहन थी।

परन्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि जहां सभ्यता हो वहां लड़ाई झगड़ा न हो। अस्तु, कुरुओं और पांचालों में भी लड़ाई झगड़े होते थे, परन्तु हम लोगों को उनमें से केवल एक ही भयानक युद्ध का वर्णन मिलता है जिसमें कि बहुत सी आस पास की जातियां सम्मिलित हुई थीं और जो कि भारतवर्ष के दो महा-काव्यों में से एक का प्रसंग है।

महाभारत में युद्ध की जिन घटनाओं का वर्णन है वे उसी प्रकार की कल्पित हैं जैसा कि ईलिअड (Iliad) की घटनाएं कल्पित हैं। पांचों पांडव और उन सब की एक मात्र पत्नी, एचिलस (Achilles), पेरिस (Paris) और हेलन (Helen) की तरह कल्पित हैं। परन्तु फिर भी यह महाकाव्य बड़े भारतों के एक सच्चे युद्ध के आधार पर बनाया गया है और इसमें प्राचीन हिन्दुओं की चाल व्यवहार का वर्णन वैसा ही ठीक ठीक किया गया है जैसा कि प्राचीन यूनान वासियों का वर्णन इलिअड में किया गया है।

महाभारत की कथा से प्राचीन हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था का बहुत अच्छा पता लगता है। अतएव मैं यहां पर इस कथा का संक्षेप में वर्णन कर देना आवश्यक समझता हूँ। पाठकों को नामों पर अथवा कथा पर, जो कि अधिकतर कल्पित हैं, ध्यान नहीं देना चाहिए, वरन् उन्हें इस कथा में से ऐतिहासिक काव्य काल में (अर्थात् उस समय जब कि आर्य लोग गंगा की घाटी में फैल रहे थे) हिन्दू लोगों के जीवन का एक चित्र खींचने का यत्न करना चाहिए।

जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय कुरु लोगों की राजधानी हस्तिनापुर में थी, जिसका अनुमानित खंडहर गंगा के ऊपरी भाग में, दिल्ली से लगभग ६५ मील उत्तर-पूरब में मिला है। हस्तिनापुर का वृद्ध राजा शान्तनु मर गया। उसके दो पुत्र हुए, एक तो भीष्म जिसने कुंआरे रहने का प्रण कर लिया था, और दूसरा छोटा भाई जो राजा हुआ। कुछ काल में यह युवा राजा मर गया। इसके दो पुत्र हुए, पहला धृतराष्ट्र जो अन्धा था, और दूसरा पाण्डु जो राजगद्दी पर बैठा।

पाण्डु अपने पांच पुत्रों को छोड़ मर गया और येही पांचो पुत्र इस महाकाव्य के नायक हैं। पांचों पांडवों तथा अपने लड़कों की बाल्यावस्था में धृतराष्ट्र वस्तुतः राजा था और धृतराष्ट्र का चचा, प्रसिद्ध योधा भीष्म, प्रधान मंत्री और राज्य का शुभचिन्तक था।

युवा पाण्डवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों की शस्त्र विद्या के वर्णन से राज्यवंशों की चाल व्यवहार का बहुत कुछ पता लगता है। द्रोण एक ब्राह्मण और प्रसिद्ध योधा था, क्योंकि अभी तक जाति भेद पूरी तरह से नहीं माना जाता था, अभी तक क्षत्रियों को शस्त्र प्रयोग करने का और ब्राह्मणों को धार्मिक शिक्षा का ठेका नहीं मिल गया था। द्रोण का उसके मित्र अर्थात् पांचालों के राजा ने अनादर किया था। इसलिये वह घृणा से कुरुओं के यहां आकर रहा और राजकुमारों को शस्त्र चलाने में शिक्षा देने का भार लिया।

पाण्डवों में सबसे बड़े युधिष्ठर कोई बड़े योधा नहीं हुए परन्तु उन्होंने उस समय की धार्मिक शिक्षा में बड़ी निपुणता प्राप्त की और वे इस महाकाव्य के बड़े धर्मात्मा पुरुष हैं। दूसरे पाण्डव भीम ने गदा चलाना बहुत अच्छी तरह से सीखा और वह अपने बड़े भारी शरीर और बहुत ही अधिक बल के लिए प्रसिद्ध थे (और वह इस महाकाव्य के एजाक्स हैं)। तीसरे, अर्जुन शस्त्र चलाने में सब राजकुमारों से बढ़ गए और इसी कारण से धृतराष्ट्र के पुत्र, बाल्यावस्था में भी, इनसे द्वेष तथा घृणा रखते थे। चौथे नकुल ने घोड़ों को अधीन करना सीखा और पांचवें सहदेव ज्योतिष में बड़े निपुण हुए। धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन गदा चलाने में निपुण था और वह भीम का प्रतिद्वन्दी था।

अन्त को राजकुमारों ने शस्त्र चलाने में जो निपुणता प्राप्त की थी उसे सब लोगों को दिखलाने का दिन आया। एक बड़ी भारी रंगभूमि बनाई गई और इसके चारों ओर प्राचीन योधाओं, सरदारों, स्त्रियों और सभासदों के बैठने के लिये स्थान बनाया गया। कुरुभूमि के सब निवासी अपने राजकुमारों की निपुणता देखने के लिये चारों ओर से इकट्ठे हुए। अन्धा राजा धृतराष्ट्र अपने स्थान पर बैठाया

गया और स्त्रियों में अग्रसर धृतराष्ट्र की रानी गान्धारी और प्रथम तीन पाण्डवों की माता कुन्ती थीं। अन्तिम दोनों पाण्डव, पाण्डु की दूसरी स्त्री से हुए थे।

एक निशाने पर तीर चलाई गई और ढाल, तलवार और गदाओं से युद्ध हुआ। दुर्योधन और भीम शीघ्र ही बड़े जोश से लड़ने लगे और एक दूसरे की ओर मदान्ध हाथियों की तरह झपटे। हल्ला आकाश तक पहुँचने लगा और शीघ्र ही लड़ाई का परिणाम दुःखान्त जान पड़ने लगा। अन्त को ये दोनों क्रोधान्ध युवा छुड़ा दिए गये और शान्ति हो गई।

तब अर्जुन अपने अद्‌भुत धनुष के साथ इसमें सम्मिलित हुआ। उसकी धनुष चलाने की निपुणता ने उसकी प्रशंसा करने वालों को बड़ा आश्चर्यित कर दिया और उसकी माता के हृदय को हर्ष से भर दिया। लोग प्रशंसा करके समुद्र की गरज की तरह हल्ला मचा रहे थे। तब उसने तलवार चलाई जो कि बिजली की तरह चमकती थी, फिर चोखा चक्र चलाया जिसका निशाना कभी खाली नहीं गया। अन्त में उसने पाश से घोड़ों और हरिणों को भूशायी किया और एकत्रित लोगों की जयध्वनि के बीच अपने योग्य गुरु द्रोण को दंडवत करके खेल की समाप्ति की।

इससे धृतराष्ट्र के पुत्रों को बड़ा द्वेष हुआ। इसलिये वे रंगभूमि में एक अपरिचित योद्धा कर्ण को लाये जो धनुर्विद्या में अर्जुन का प्रतिद्वंदी था। योरप के प्राचीन योद्धाओं (Knights) की भांति राजपुत्र लोग केवल अपने बराबरवालों के साथ लड़ सकते थे, इसलिये धृतराष्ट्र ने इस अपरिचित योद्धा को उसी स्थान पर राजा बनाया, जिसमें अर्जुन को लड़ाई अस्वीकार करने का कोई बहाना न मिले। कर्ण से जो बेढब प्रश्न किये गये उसका उत्तर उसने यह दिया कि नदियाँ और योद्धा लोग अपनी उत्पत्ति और जन्म के विषय में कुछ नहीं जानते, उनका बल ही उनकी वंशावली है। परन्तु पांडवों ने युद्ध अस्वीकार किया और घमंडी कर्ण चुपचाप क्रोधित होकर चला गया।

द्रोण ने अब अपनी गुरुदक्षिणा माँगी। प्राचीन वीर योद्धाओं की भाँति वह बदला लेने में सबसे अधिक प्रसन्न होता था। इसलिये उसने अपनी दक्षिणा में पाञ्चालों के राजा द्रुपद से जिसने कि उसका अपमान किया, था बदला लेने के लिये कुरुओं की सहायता माँगी। उसने जो कुछ मांगा वह अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। द्रोण सेना सहित लड़ाई करने को चला, उसने पांचाल के राजा को पराजित किया, और उसका आधा राज्य छीन लिया। द्रुपद ने भी इसका बदला लेंने का संकल्प कर लिया।

कौरव देश को अब भयानक मेघों ने आ घेरा। अब यह समय आ गया था कि धृतराष्ट्र एक युवराज को अर्थात् उस राजकुमार को जो कि उसकी वृद्धावस्था में

राज करेगा, चुने। युधिष्ठिर का अपने पिता के राज्य पर स्वत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता था और वही युवराज बनाया गया। परन्तु घमन्डी दुर्योधन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया और धृतराष्ट्र को उसकी इच्छा के अनुसार काम करना पड़ा। उसने पाँचों पाण्डवों को वारणावत में जो आधुनिक इलाहाबाद के निकट कहा जाता है और जो उस समय हिन्दू राज्य का सीमा प्रान्त था, निकाल दिया। परन्तु दुर्योधन के द्वेष ने उनका वहाँ भी पीछा किया। जिस घर में पांडव लोग रहते थे उसमें आग लगा लगा दी गई। पांडव लोग तथा उनकी माता एक सुरंग के मार्ग से बच गए और बहुत दिनों तक ब्राह्मणों के वेष में घूमते रहे।

इस समय देश-देश में दूत लोग जाकर यह प्रकाशित कर रहे थे कि पांचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या इस समय के सबसे निपुण योद्धाओं में से अपना पति चुनेगी। जैसा कि ऐसे स्वयम्बर के अवसर पर हुआ करता था, सब बड़े-बड़े राजा राजकुमार और योद्धा लोग चारों ओर से द्रुपद की सभा में इकट्ठे हो रहे थे। इनमें से प्रत्येक यह आशा करता था कि मैं इस सुन्दरी राजकुमारी को जो कि युवा हो चुकी है और अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध हैं, पाऊँगा। वह सबसे निपुण योद्धा से ब्याही जाने वाली थी और इसके लिये जो परीक्षा नियत की गई थी वह कुछ कठिन थी। एक बहुत बड़े भारी धनुष को चलाना था और तीर एक चक्र में से होकर एक सोने की मछली की आँख में लगने को था, जो कि बहुत ऊँचे एक डंडे के सिरे पर लगाई गई थी।

पांचालों की राजधानी काम्पिल्य में केवल राजकुमार और योद्धा ही नहीं, वरन् देश के सब हिस्सों से देखनेवालों के झुन्ड के झुन्ड भी इकट्ठे हो रहे थे। बैठने के स्थान में राजकुमार लोग भरे हुये थे और ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे थे। तब द्रौपदी अपने हाथ में हार लिए आई, जो कि आज के विजयी को पहनाने के लिये था। उसके साथ उसका भाई धृष्टद्युम्न था और उसने आज की परीक्षा का कार्य कहा।

राजा लोग एक-एक करके उठे और उन्होंने उस धनुष को चलाना चाहा, परन्तु उनमें से कोई भी कृतकार्य नहीं हुआ। तब घमन्डी तथा निपुण कर्ण परीक्षा के लिये उठा परन्तु वह रोका गया।

तब अचानक एक ब्राह्मण उठा और उसने धनुष तान कर चक्र में से सोने की मछली की आँख में तीर मारा। इस पर जयध्वनि उठी! और क्षत्री की कन्या द्रौपदी ने वीर ब्राह्मण के गले में जयमाल डाल दिया और यह ब्राह्मण उसे अपनी पत्नी की भाँति ले चला। परन्तु एक ब्राह्मण के विजय प्राप्त करने और योद्धाओं के मान भंग होने के कारण क्षत्री लोग तूफानी समुद्र की तरह असन्तोष से क्षुन-

झुलाने लगे। वे कन्या के पिता को घेर कर मार पीट करने को धमकाने लगे। अब पांडवों ने अपना भेष उतार दिया और आज के विजयी ने अपने को सच्चा क्षत्रिय अर्जुन प्रकाशित किया।

इसके आगे एक अद्भुत कल्पित कथा दी है कि पाण्डव लोग अपनी माता के पास गये और बोले कि हमने एक बहुमूल्य वस्तु जीती है। उसकी माता ने यह जान कर कि यह वस्तु क्या है, अपने पुत्रों से उसे बांट लेने के लिये कहा। माता की आज्ञा का उल्लङ्घन न करने के कारण पांचों भाइयों ने द्रौपदी से विवाह किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि द्रौपदी और पांचों पांडवों की कथा बनावटी है। पांडवों ने अब पांचालों के प्रबल राजा के साथ संधि करके अन्धे राजा धृतराष्ट्र को इस बात के लिये विवश किया कि वह कुरु देश को उन लोगों में और अपने पुत्रों में बाँट दे। परन्तु, बँटवारा बराबर नहीं किया गया। यमुना और गंगा के बीच की उपजाऊ भूमि तो धृतराष्ट्र के पुत्रों के पास रही और पांडवों को पश्चिम का जंगल दिया गया। यह खान्डवप्रस्थ जङ्गल शीघ्र ही आग लगा कर साफ कर दिया गया और इसमें एक नई राजधानी इन्द्रप्रस्थ बनाई गई, जिसका अनुमानित खंडहर आधुनिक दिल्ली जाने वालों को दिखलाया जाता है।

अब पांडवों ने चारों ओर सेना लेकर आक्रमण किया। परन्तु इन आक्रमणों का वर्णन हम नहीं करेंगे, विशेषतः इस कारण से कि ये दूर-दूर के आक्रमण, आधुनिक समय के जोड़े हुए हैं। जब हमको महाभारत में लंका अथवा बङ्गाल के आक्रमणों का उल्लेख मिलता है तो हम बिना संशय के कह सकते हैं कि ये उत्तर काल के जोड़े हुये लेख हैं।

अब युधिष्ठिर राजसूय अर्थात् राज्याभिषेक का उत्सव करने को था। उसने सब राजाओं को, और अपने हस्तिनापुर के कुटुम्बियों को, भी निमंत्रण दिया। सबसे पूज्य स्थान गुजरात के यादवों के नायक कृष्ण को दिया गया। चेदिवंश के शिशुपाल ने इसका बड़ा विरोध किया; और कृष्ण ने उसे वहीं मार डाला। महाभारत के प्राचीन भागों में कृष्ण केवल एक बड़ा नायक है, कोई देवता नहीं है, और उसकी कथा से विदित होता है कि ऐतिहासिक काव्य काल में गुजरात को यमुना तटों से जाकर लोगों ने बसाया था।

यह कोलाहल शान्त होने पर नवीन राजा पर पवित्र जल छिड़का गया और ब्राह्मण लोग दान से लदे हुये बिदा किए गये।

परन्तु नवीन राजा के भाग्य में बहुत दिनों तक राज्य भोगना नहीं बदा था। सब सदाचारों के रहते भी युधिष्ठिर को उस समय के दूसरे नायकों की भाँति जुआ खेलने का व्यसन था और दीर्घद्वेषी कठोरचित्त दुर्योधन ने जुआ खेलने

के लिये उसे ललकारा। युधिष्ठिर राज्य, धन, अपने को, अपने भाइयों को, और अपनी स्त्री को भी बाजी लगा कर हार गया और अब पाँचों पांडव और द्रौपदी दुर्योधन के गुलाम हो गए। अभिमानिनी द्रौपदी ने अपनी इस दशा में दबना अस्वीकार किया, परन्तु दुःशासन उसके झोंटे पकड़ कर उसे सभा भवन में घसीट ले गया और दुर्योधन ने मुग्ध सभा के सामने उसे बलात् अपने चरणों पर गिराया। पांडवों का क्रोध बढ़ रहा था, परन्तु इस समय वृद्ध धृतराष्ट्र के सभागृह में आने से यह कोलाहल शान्त हो गया। यह निश्चय हुआ कि पांडव लोग अपना राज्य हार गए, परन्तु वे दास नहीं हो सकते। उन्होंने बारह वर्ष के लिये देश से निकल जाना, और इसके पीछे एक वर्ष तक छिप कर रहना स्वीकार किया,। यदि धृतराष्ट्र के पुत्र उस वर्ष में उनका पता न लगा सकें तो उन्हें उनका राज्य फिर मिल जायगा।

इस प्रकार से पांडव लोग दूसरी बार देश से निकाले गये और बारह वर्ष तक भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमने के पीछे तेरहवें वर्ष में भेष बदल कर उन्होंने विराट के राजा के यहाँ नौकरी कर ली। युधिष्ठिर का काम राजा को जुआ सिखलाने का था। भीम प्रधान रसोइयाँ था, अर्जुन राजपुत्री को नाचना और गाना सिखलाता था, नकुल और सहदेव यथाक्रम घोड़ों और पशुओं के अध्यक्ष थे, और द्रौपदी रानी की परिचारिका थी। परन्तु इसमें एक कठिनाई उपस्थित हुई। रानी का भाई इस नई परिचारिका के अत्यन्त सौन्दर्य पर मोहित हो गया। वह उसे कुबचन कहता था और उसने उससे विवाह करने का संकल्प कर दिया था। अतएव भीम ने इसमें हस्तक्षेप करके उसे गुप्त रीति से मार डाला।

उस समय के राजाओं में पशुओं की चोरी कोई असामान्य बात नहीं थी। हस्तिनापुर के राजकुमार विराट से कुछ पशु चोरा ले गये। नृत्यशिक्षक अर्जुन इसे न सह सका। उसने अपने शस्त्र लिये रथ पर सवार होकर वहाँ गया और पशुओं को ले आया। परन्तु ऐसा करने से प्रगट हो गया। उसके प्रगट होने के समय उनके छिप कर रहने का वर्ष समाप्त हो गया था अथवा नहीं, सो कभी निर्णय नहीं हुआ।

अब पाडवों ने अपने राज्य को फिर से पाने के लिये दूत को हस्तिनापुर भेजा। परन्तु उनका स्वत्व अस्वीकार किया गया और दोनों दल युद्ध की तैयारियाँ करने लगे! यह ऐसा युद्ध था कि जिसके समान भारतवर्ष में कभी कोई युद्ध नहीं हुआ था। इस युद्ध में सब प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजा लोग एक अथवा दूसरे दल में सम्मिलित हुये और यह दिल्ली के उत्तर कुरुक्षेत्र में अट्ठारह दिन तक हुआ इसका परिणाम भयानक बध और हिंसा हुई।

युद्ध की लम्बी कथा और अगणित उपकथाओं का वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे। भीष्म जिस समय युद्ध से रुकने के लिये विवश हुये उस समय अर्जुन ने

उन्हें अन्याय से मार डाला। द्रोण ने अपने अभेद्य चक्रव्यूह से अपने पुराने शत्रु द्रुपद को मार डाला, परन्तु द्रुपद के पुत्र ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया और द्रोण को अनुचित रीति से मार डाला। भीम का दुःशासन से सामना हुआ, जिसने जुआ खेलनेवाले गृह में द्रौपदी का अपमान किया था। भीम ने उसका सिर काट डाला और बदला लेने के क्रोध में उसका रक्त पान किया। अन्त में कर्ण और अर्जुन में, जिनमें कि जन्म भर द्वेष था, बड़ा भारी युद्ध हुआ। जिस समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धँस गया था और वह न हिल सकता था और न लड़ सकता था उस समय अर्जुन ने उसे अनुचित रीति से मार डाला। अन्तिम अर्थात् अट्ठारहवें दिन दुर्योधन भीम के आगे से भागा परन्तु बोली ठोली और ताने से वह फिर कर लड़ने को विवश हुआ। भीम ने एक अनुचित आघात से (क्योंकि आघात कमर के नीचे किया गया था, उस जंघे को चकनाचूर कर डाला जिस पर दुर्योधन ने एक समय द्रौपदी को खींचा था और यह घायल योद्धा मर जानेके लिये वहीं छोड़ दिया गया। अभी नरहत्या का अन्त नहीं हुआ, क्योंकि द्रोण के पुत्र ने रात्रि के समय शत्रु के दल पर आक्रमण करके द्रुपद के पुत्र को मार डाला, और इस प्रकार से पुराने कलह को रक्त बहा कर शान्त किया।

शेष कथा अब बहुत थोड़ी रह गई है। पांडव हस्तिनापुर को गये और युधिष्ठर राजा हुआ। कहा जाता है कि उसने आर्यावर्त के सब राजाओं को पराजित किया और अन्त में अश्वमेध यज्ञ किया। एक घोड़ा छोड़ा गया जो अपनी इच्छा के अनुसार एक वर्ष तक घूमता रहा और किसी राजा ने उसे रोकने का साहस नहीं किया। इससे सब आस-पास के राजाओं का वशवर्ती होना समझा गया और वे लोग इस बड़े अश्वमेध में निमंत्रित किये गए। हम लोग देख चुके हैं कि वैदिक काल में घोड़ा केवल खाने के लिये मारा जाता था। ऐतिहासिक काव्य काल में अश्वमेध पापों के प्रायश्चित के लिये किया जाने लगा और राजाओं में इससे आधिपत्य की कल्पना की जाने लगी।

महाभारत की, उसके अगणित उपाख्यानों उपकथाओं, और अमानुषी प्रसंगों और वृत्तान्तों को छोड़ कर, यह कथा है! कृष्ण द्वैपायन, (यादवों के नायक कृष्ण नहीं) जिन्होंने वेदों को सङ्कलित किया था उस कुमारी कन्या के पुत्र कहे जाते हैं जिसने पीछे से शान्तनु से विवाह किया। अतएव वह भीष्म के अर्धभ्राता थे। वह आकस्मात् अमानुषिक रीति से दिखलाई पड़ते हैं और उपदेश और शिक्षा देते हैं। इस कथा से एक ऐतिहासिक बात विदित होती है। वह यह कि वेद कुरु और पांचालों के युद्ध के पहले सङ्कलित किए गये थे।

ऊपर के संक्षिप्त वृत्तान्त से जान पड़ेगा कि गङ्गा की घाटी के प्रथम हिन्दू

अधिवासियों ने उस समय तक वैदिक काल की वह प्रबल वीरता और दृढ़ रणप्रिय विचार नहीं खोये थे। अब, राजा लोग अधिक देशों और लोगों पर राज्य करते थे, आचार व्यवहार अधिक सभ्य हो गए थे, सामाजिक और युद्ध के नियम अधिक उत्तमता से बढ़ गए थे, और स्वयं युद्ध शास्त्र अच्छी तरह से बन गया था। परन्तु फिर भी कुरुओं और पांचालों के सभ्य आचारों में वैदिक योधाओं की कठोर और निर्दय वीरता झलकती है और उन जातियों ने, यद्यपि सभ्यता प्राप्त की थी, पर जातीय जीवन की वीरता बहुत नहीं खोई थी। इन कठोर जातियों में जातिभेद कैसी अधूरी तरह से था सो कई बातों से विदित होता है, जो उत्तर काल के लेखकों के जोड़े हुए लेखों के रहते भी अब तक मिलती हैं। हस्तिनापुर के प्राचीन राजा शान्तनु का भाई देवापि एक पुरोहित था। महाभारत का सबसे विद्वान् नायक, युधिष्ठर क्षत्री है और सबसे निपुण योद्धा ब्राह्मण है। वेदों को सङ्कलित करने वाले स्वयं पूज्य कृष्णद्वैपायन ब्राह्मण थे अथवा क्षत्री?

दसवां अध्याय

विदेह, कोशल और काशी

आर्यों के जीते हुए देश की सीमा बढ़ती गई। जब जमुना और गङ्गा के बीच का देश पूरी तरह से जीता जाकर बस गया और हिन्दुओं का हो गया, तो उद्योगी अधिवासियों के नए झुन्डों ने गंगा को पार करके नए-नए अधिनिवेशों और हिन्दू राज्यों को स्थापित करने के लिये पूरब की ओर और आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। इस प्रकार से उन्होंने एक-एक नदियों को पार किया, एक-एक जङ्गल को ढूँढ़ कर के साफ किया और एक-एक देश को धीरे-धीरे जीता, बसाया और हिन्दूओं का बनाया। इन देशों में दीर्घकाल तक लड़ाइयों और धीरे-धीरे हिन्दुओं का अधिकार होने का इतिहास अब हम लोगों अप्राप्त है और जो ग्रन्थ इस समय तक बचे हैं उनसे हम लोगों को गंगा के पूरब में प्रबल और सभ्य हिन्दू राज्यों के अर्थात् आधुनिक अवध देश में कोशलों के राज्य, उत्तरी बिहार में विदेहों के राज्य और आधुनिक बनारस के आस-पास काशियों के राज्य, स्थापित होने का पता लगता है।

विदेहों के पूरब की ओर बढ़ने का कुछ अस्पष्ट-सा हाल नीचे उद्धृत किए हुए सतपथ ब्राह्मण के वाक्यों में मिलता है --

(१०) माधव विदेघ के मुँह में अग्नि वैस्वानर थी। उसके कुल का पुरोहित ऋषि गौतम राहूगण था। जब यह उससे बोलता था तो माधव इस भय से कोई उत्तर नहीं देता था कि कहीं अग्नि उसके मुँह से गिर न पड़े।

(१३) फिर भी उसने उत्तर नहीं दिया। (तब पुरोहित ने कहा) 'हे घृतस्न, हम तेरा आवाहन करते हैं। (ऋग्वेद म० ५ सू० २६ रि० २)। उसका इतना कहना था कि घृत का नाम सुनते ही अग्नि वैश्वानर राजा के मुँह से निकल पड़ी। वह उसे रोक न सका। वह उसके मुंह से निकल कर इस भूमि पर गिर पड़ी।

(१४) माधव विदेघ उस समय सरस्वती नदी पर था। वहां से वह (अग्नि) इस पृथ्वी को जलाते हुए पूरब की ओर बढ़ी और ज्यों-ज्यों वह जलाती हुई बढ़ती जाती त्यों-त्यों गौतम राहूगण और विदेघ माधव उसके पीछे-पीछे चले जाते थे उसने इन सब नदियों को जला डाला (सुखा डाला) अब वह नदी जो सदानीर (गण्डक) कहलाती है। उत्तरी (हिमालय) पर्वत से बहती है। उस नदी को उसने नहीं जलाया। पूर्व काल में ब्राह्मणों ने इस नदी को यही सोच कर पार नहीं किया क्योंकि अग्निवैश्वानर ने उसे नहीं जलाया था।

(१५) परन्तु इस समय उसके पूरब में बहुत से ब्राह्मण हैं। उस समय वह (सदानीर के पूरब की भूमि) बहुत करके जोती बोई नहीं जाती थी और बड़ी दल-दलही थी, क्योंकि अग्निवैश्वानर ने उसे नहीं जलाया था।

(१६) परन्तु इस समय वह बहुत जोती बोई हुई हैं क्योंकि ब्राह्मणों ने उसमें होमादि करके उसे अग्नि से ठीक किया है। अभी भी गरमी में यह नदी उमड़ चलती है। वह इतनी ठंढी है, क्योंकि अग्नि वैश्वानर ने उसे नहीं जलाया।

(१७) माधव विदेघ ने तब अग्नि से पूछा कि मैं कहां रहूँ ?' उसने उत्तर दिया कि "तेरा निवास इस नदी के पूरब हो।" अब तक भी यह नदी कोशलों और विदेहों की सीमा है, क्योंकि ये माधव की सन्तति है (सतपथ ब्राह्मण १, ४,१)

ऊपर के वाक्यों में हम लोगों को कल्पित कथा के रूप में अधिवासियों के सरस्वती के तट से गण्डक तक धीरे-धीरे बढ़ने का वृत्तान्त मिलता है। यह नदी दोनों राज्यों की सीमा थी। कोशल लोग उसके पश्चिम में रहते थें और विदेह लोग उसके पूरब में।

वर्षों में, सम्भवतः कई शताब्दियों में विदेहों का राज्य शक्ति और सभ्यता में बढ़ा, यहां तक कि वह उत्तरी भारतवर्ष में सब से प्रधान हो गया।

भारतवर्ष के ऐतिहासिक काव्य काल के इतिहास में विदेहों का राजा जनक कदाचित् सबसे प्रधान व्यक्ति है। इस सम्राट ने केवल भारतवर्ष के हिन्दू राज्य की

दूरतम सीमा तक अपना प्रभुत्व ही नहीं स्थापित कर लिया था वरन् उसने अपने निकट उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों को रक्खा था, उनसे वह शास्त्रार्थ किया करता था और जगदीश्वर के बिषय में उन्हें शिक्षा दिया करता था। यही कारण है कि जनक के नाम ने अक्षय कीर्ति प्राप्त की है। काशियों के राजा अजातशत्रु ने जो कि स्वयन् एक विद्वान था और विद्या का एक प्रसिद्ध फैलानेवाला था, निराश होकर कहा कि "सचमुच, सब लोग यह कह कर भागे जाते है कि हमारा रक्षक जनक है!" (बृहदारण्यक उपनिषद ११,३१)

जनक के बड़े यश का कारण कुछ अंश में उसकी सभा के प्रधान पुरोहित याज्ञवल्क्य वाजसनेयी की बुद्धि और विद्या है। राजा जनक के आश्रय में इस पुरोहित ने उस समय यजुर्वेद को दोहराने, मन्त्रों को व्याख्यानों से अलग करने, उनको संक्षिप्त करके नये यजुर्वेद (शुक्ल यजुर्वेद) के रूप में बनाने, तथा इसका विस्तृत वर्णन एक ब्राह्मण (सतपथ ब्राह्मण) में करने का साहस किया। इस महतकार्य में ब्राह्मणों ने कई पीढ़ी तक श्रम किया, परन्तु इस कार्य को आरम्भ करने का गौरव इस शाखा के संस्थापक याज्ञवल्क्य वाजसनेयी और उसके विद्वान आश्रयदाता, विदेहों के राजा जनक को ही प्राप्त है।

परन्तु जनक इससे भी अधिक सत्कार और प्रशंसा किए जाने योग्य है। जब कि ब्राह्मण लोग क्रिया संस्कारों को बढ़ाए जाते थे और प्रत्येक क्रिया के लिये स्वमतानुसार कारण बतलाते जाते थे तो क्षत्री लोग ब्राह्मणों के इस पाण्डित्य दर्प से कुछ अधीर से जान पड़ते हैं। विचारवान और सच्चे लोग यह सोचने लगे कि क्या धर्म केवल इन्हीं क्रिया संस्कारों और विधियों को सिखला सकता है। विद्वान क्षत्री लोग, यद्यपि अब तक ब्राह्मणों के बनाए हुए क्रिया संस्कारों को करते थे, परन्तु उन्होंने अधिक पुष्ट विचार प्रचलित किए और आत्मा के उद्देश्य और ईश्वर के विषय में खोज की। ये नये तथा कृतोद्यम विचार ऐसे वीरोचित, पुष्ट और दृढ़ थे कि ब्राह्मण लोगों ने, जो कि अपने ही विचार से अपने को बुद्धिमान समझते थे, अन्त को हार मानी और वे क्षत्रियों के पास इस नई सम्प्रदाय के पाण्डित्य को समझने के लिये आये। उपनिषदों में ये ही दृढ़ तथा पुष्ट विचार हैं जो ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में प्रचलित हुए थे और विदेह के राजा जनक का उपनिषदों के इन विचारों को उत्पन्न करने के कारण, उस समय के अन्य राजाओं की अपेक्षा बहुत अधिक सत्कार किया जाता है।

उपनिषदों की शिक्षा के विषय में पूरा-पूरा वर्णन हम आगे चलकर किसी अध्याय में करेंगे, परन्तु जनक तथा उस समय के और राजाओं का वृतान्त पूरा न होगा जब तक कि हम यहाँ उनमें से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत न करें जिनसे ब्राह्मणों

का उनसे सम्बन्ध तथा कृतोद्यम वेदान्तिक विचारों के लिये भारतवर्ष में उनके उद्योग, प्रगट होते हैं।

विदेह के जनक की भेट कुछ ऐसे ब्राह्मणों से हुई जो कि अभी आए थे। ये स्वेत केतु आरुणेय, सोमसुष्म सत्ययज्ञि, और याज्ञवल्क्य थे। उसने पूछा कि 'आप अग्निहोत्र कैसे करते हैं ?

तीनों ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया, पर किसी का उत्तर ठीक नहीं था। याज्ञवल्क्य का उत्तर यथार्थ बात के बहुत निकट था, परन्तु वह पूर्णतया ठीक नहीं था। जनक ने उनसे ऐसा कहा और वह रथ पर चढ़ कर चला गया।

ब्राह्मणों ने कहा "इस राजन्य ने हम लोगों का अपमान किया है।" याज्ञ-वल्क्य रथ पर चढ़ कर राजा के पीछे गया और उससे शंका निवारण की (सतपथ ब्राह्मण ११,४,५) "अब से जनक ब्राह्मण हो गया" (सतपथ ब्राह्मण ११,६,२१)

छान्दोग्य उपनिषद (५,३) में लिखा है कि ऊपर के तीनों ब्राह्मणों में से एक अर्थात् स्वेतकेतु आरुणेय, पांचालों की एक सभा में गया और प्रवाहन जैवलि नामक एक क्षत्री ने उससे कुछ प्रश्न किए, जिसका उत्तर वह न दे सका। वह उदास चित्त अपने पिता के पास आया और बोला—"उस राजन्य ने मुझसे पांच प्रश्न किये और मैं उनमें से एक का भी उत्तर न दे सका।" उसका पिता गौतम भी स्वयम् इन प्रश्नों को न समझ सका और वह अपना समाधान करने के लिये उस क्षत्री के पास गया। प्रवाहन जैवलि ने उत्तर दिया कि "हे गौतम, यह ज्ञान तुम्हारे पहले और किसी ब्राह्मण ने नहीं प्राप्त किया और इसीलिये यह शिक्षा इस सृष्टि भर में केवल क्षत्री जाति की ही है।" और तब उसने गौतम को वह ज्ञान दिया।

इस उपनिषद में एक दूसरे स्थान पर, इसी प्रवाहन ने दो घमण्डी ब्राह्मणों को निरुत्तर कर दिया और तब उन्हें परमेश्वर के विषय में सच्चा ज्ञान दिया।

सतपथ ब्राह्मण (१०,६,१,१) में यह कथा लिखी है और वही छान्दोग्य उपनिषद (५,२) में लिखी गई है कि पाँच ब्राह्मण गृहस्थों और वेदान्तियों को इस बात की जिज्ञासा हुई कि 'आत्मा क्या है और ईश्वर क्या है ?' वे लोग यह ज्ञान प्राप्त करने के लिये उद्दालक आरुणी के पास गये। परन्तु आरुणी को भी इनमें सन्देह था और इसलिये वह उन्हें क्षत्री राजा अश्वपति कैकेय के पास ले गया जिसने उन्हें उस यज्ञ में विनयपूर्वक ठहरने को निमंत्रित किया जिसे वह किया चाहता था। उसने कहा "मेरे राज्य में कोई चोर, कंजूस, शराबी, कोई ऐसा मनुष्य जिसके यहाँ मूर्ति न हो, कोई मूर्ख, व्यभिचारी अथवा व्यभिचारिणी नहीं है।

महाशयों, मैं यज्ञ करता हूँ और जितना धन मैं प्रत्येक ऋत्विक को दूँगा उतना आप लोगों को भी दूंगा। कृपा कर आप यहां ठहरिये।"

वे लोग ठहरे और उन्होंने अपने आने का अभिप्राय कहा और दूसरे दिन प्रातः काल वे लोग अपने हाथों में ईंधन लिये (शिष्यों की भाँति) उसके निकट गए और उसने बिना किसी संस्कार की विधि के उन्हें वह ज्ञान दे दिया जिसके लिए वे आये थे।

यह बात आश्चर्यजनक है कि भिन्न भिन्न उपनिषदों में पुनः पुनः एक ही नाम और भिन्न भिन्न रूपों में एक ही कथाएं मिलती हैं, जिससे प्रगट होता है कि प्राचीन उपनिषद् लगभग एक ही समय में बनाए गए थे। उद्दालक आरुणी, जिसका नाम गौतम भी है, उसके पुत्र स्वेतकेतु का वर्णन फिर कौशनीकि उपनिषद में भी मिलता है। उसमें पिता और पुत्र हाथ से ईंधन लेकर चित्रगांग्यायनी के पास ज्ञान सीखने को गये। क्षत्री राजा चित्र ने कहा "हे गौतम तुम ब्राह्मण होने योग्य हो, क्योंकि तुम में अभिमान नहीं आया। यहाँ आओ, हम तुम्हारा समाधान कर देंगे।" (१,१)

कौशीनकि उपनिषद में (४) प्रसिद्ध विद्वान गार्ग्य बालाकि और काशियों के विद्वान राजा अजातशत्रु के वादविवाद के विषय में एक प्रसिद्ध कथा लिखी है। इस घमंडी ब्राह्मण ने राजा को ललकारा, परन्तु इस पर जो शास्त्रार्थ हुआ उसमें उसकी हार हुई और वह निरुत्तर हो गया। अजातशत्रु ने उससे कहा 'हे बालाकि, तुम यहीं तक जानते हो?' बालाकि ने उत्तर दिया 'केवल यहीं तक'। अब अजातशत्रु ने उससे कहा कि 'तुमने मुझे व्यर्थ ही यह कह कर ललकारा कि क्या मैं तुम्हें ईश्वर के विषय का ज्ञान दूँ?' 'हे बालाकि, वह जो उन वस्तुओं का (जिसका तुमने वर्णन किया है) कर्ता है, वह जिसका यह सब माया है, केवल उसी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।'

तब बालाकि अपने हाथ में ईंधन लेकर यह कहता हुआ आया कि 'क्या मैं आपके निकट शिष्य की भांति आऊँ?' अजातशत्रु ने उसे कहा 'मैं इसे अनुचित समझता हूँ कि कोई क्षत्री किसी ब्राह्मण को शिष्य बनावे। आओ, मैं तुम पर सब बात स्पष्ट कर देता हूँ।'

यह कथा, तथा स्वेतकेतु अरुणेय और क्षत्री राजा प्रवाहन जैवलि की कथा भी बृहदारण्यक उपनिषद में पुनः दी है।

उपनिषदों में से अगणित वाक्य मिलते हैं जिनमें क्षत्री लोग सच्चे धार्मिक ज्ञान के सिखलाने वाले लिखे गये हैं। परन्तु यहाँ पर अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। जितना हम ऊपर कह आए हैं वह यह दिखलाने के लिये

बहुत है कि हिन्दू धर्म तथा वेदान्त के इतिहास में ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में क्षत्री लोग किस अवस्था में थे। मानुषी ज्ञान के इतिहास में उपनिषद् एक नया समय स्थिर करते हैं। यह ज्ञान, जिसका समय ईसा के लगभग १००० वर्ष पहले है "पहले किसी ब्राह्मण ने नहीं प्राप्त किया था। वह इस सृष्टि में केवल क्षत्रियों ही का था।"

ये ही यथार्थ कारण हैं जिससे हम लोगों को विदेह के राजा जनक की प्रशंसा करनी चाहिये और उनका कृतज्ञ होना चाहिये। यह बड़े कौतूहल की बात है कि हम लोग जनक, विदेहों तथा कोशलों से एक कल्पित कथा द्वारा भी परिचित हैं, जो कि इन पूज्य नामों के विषय में कही गई है। यह कल्पित कथा आर्य लोगों के दक्षिणी भारतवर्ष को विजय करने से सम्बन्ध रखती है। परन्तु उत्तरकाल के कवियों ने भक्ति और कृतज्ञता में चूर होकर इस बड़ी ऐतिहासिक घटना का सम्बन्ध उन प्राचीन राजाओं के नाम से कर दिया है जिनका इस विषय से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। योरप में उस अन्धकारमय समय का भी इतिहास कभी ऐसा अस्पष्ट नहीं था कि कोई कवि जेरुसलेम का प्रत्युद्धार शर्लमेगन अथवा एल्फ्रेड दी ग्रेट द्वारा वर्णन करता। परन्तु भारतवर्ष का दूसरा महाकाव्य लंका विजय होना एक कोशिलों के राजा द्वारा वर्णन करता है। जिसका विवाह विदेहों के राजा जनक की कन्या से हुआ था।

हमारे आधुनिक ज्ञान से इस बात का निर्णय करना सम्भव नहीं है कि रामायण पहले-पहले कब बनाई गई। हम लोगों को सूत्र ग्रन्थों में महाभारत के उल्लेख मिलते हैं परन्तु उनमें रामायण का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ईसा के पांच शताब्दी पहले बङ्गाल के विजय नामी राजा ने लंका का पता लगाया था और उसे जीता था। अतएव पहले-पहल लोगों का यह विचार हो सकता है कि यह महाकाव्य उसी समय में रचा गया होगा। परन्तु इसके विरुद्ध ही इस टापू का होना, विजय के कई शताब्दी पहले से हिन्दुओं को मालूम था। अतएव रामायण, जिसमें कि विजय की जीत का उल्लेख कहीं पर नहीं आया है, विजय के पहले उस समय में बनी होगी जब कि यह द्वीप हिन्दुओं को बहुत ही अस्पष्ट रीति से ज्ञात था।

इस अनुमान का अधिक सम्भव होना इस बात से भी प्रगट होता है कि विन्ध्य पर्वत के दक्षिण का भारतवर्ष का भाग रामायण में एक अनन्त वन की भांति वर्णन किया गया है और वहां के आदिवासियों का बन्दरों और भालुओं की तरह उल्लेख है। हम लोगों को यह मालूम है कि आर्य लोग गोदावरी और कृष्णा नदी के तट पर दर्शनकाल के आदि में बसे और ईसा के कई शताब्दि पहले आन्ध्र आदि वंशों के बड़े बड़े राज्य विभव को प्राप्त हुए और शास्त्र तथा विद्या के नए नए सम्प्रदाय

स्थापित हुए। अतएव रामायण, दक्षिण में इन सब बातों के होने के पहले ही रची गयी होगी, क्योंकि उसमें विन्ध्या के दक्षिण आर्य लोगों की सभ्यता का उल्लेख कहीं भी नहीं है। अतः आदि महाभारत की तरह आदि रामायण भी ऐतिहासिक काव्य काल ही में बनी थी।

महाभारत की तरह रामायण में भी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन नहीं है वरन् उसी की भांति इसके नायक भी कल्पित मात्र हैं।

ऋग्वेद के समय ही से खेत की हल रेखा, सीता ने देवी की ख्याति प्राप्त की थी और उसकी पूजा भी देवी की भांति की जाती थी। अतएव जब दक्षिणी भारतवर्ष में धीरे धीरे कृषि फैलती गई तो कवियों के लिये यह रचना करना कुछ कठिन नहीं था कि लोग सीता को चुरा कर दक्षिण में ले गये और जब इस देवी तथा स्त्री ने, जोकि मानुषी कल्पना की सबसे उत्तम रचना है, ख्याति तथा स्नेह प्राप्त कर लिया था, तो वह स्वभावतः ही राजाओं में सबसे पुण्यात्मा और विद्वान, विदेहों के राजा जनक की कन्या कही गई।

परन्तु इस महाकाव्य में जिस सीता के पति और कोशलों के राजा राम का वर्णन है, वह कौन है? उत्तरकाल के पुराणों में लिखा है कि वे विष्णु का अवतार थे। परन्तु जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय तक स्वयम् विष्णु ने श्रेष्ठता नहीं प्राप्त की थी। उस समय भी ऐतिहासिक काव्य काल के देवताओं में इन्द्र प्रधान माना जाता था और सूत्र ग्रन्थों (यथा पारस्कर गृह्य सूत्र २, १७, ९) में हल रेखा की देवी, सीता इन्द्र की पत्नी कही गई है। तो क्या यह अनुमान ठीक नहीं है कि महाभारत के नायक अर्जुन की तरह रामायण के नायक राम की रचना, केवल दूसरे रूप में अनावृष्टि के दैत्यों से लड़ते हुए इन्द्र की कथा से की गई हो? इस प्रकार से इस महाकाव्य का जो उत्तरी भारतवर्ष के ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन करता है और उस महाकाव्य का सम्बन्ध, जो दक्षिणी भारतवर्ष की ऐतिहासिक विजय वर्णन करता है, इन्द्र की कथा के द्वारा कर दिया गया है।

परन्तु यद्यपि रामायण ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णन की भांति बिलकुल निरर्थक है, फिर भी महाभारत की तरह उससे भारतवर्ष की पुरानी सामाजिक दशा का पता लगता है। अतएव यहां पर उसकी कथा का संक्षेप में लिखना आवश्यक जान पड़ता है। परन्तु इसके केवल पहले इतना और कहना है कि जीवन के दृश्य के लिये भी रामायण, महाभारत के समय से बहुत पीछे की अर्थात् ऐतिहासिक काव्य काल के बिलकुल अन्त की है। रामायण में महाभारत के क्षत्रियों की प्रचण्ड वीरता तथा आत्मरक्षा नहीं पाई जाती। उसमें लोग ब्राह्मणों के अधिक आधीन पाये जाते हैं।

स्वयम् जनक, क्षत्रियों की विद्या और गौरव का अभिमानी प्रति-पादक नहीं, वरन् ब्राह्मणों का एक नम्र सेवक वर्णन किया गया है। इस महाकाव्य का नायक, स्वयम् राम, यद्यपि एक क्षत्री योद्धा परशुराम से सामना करके उसे पराजित करता है, परन्तु वह इसे अनेक क्षमा-प्रार्थनाओं के साथ करता है। कदाचित परशुराम की कथा में एक बड़ी ऐतिहासिक बात है। यह वर्णन किया गया है कि उसने क्षत्रियों से लड़ कर उस जाति को निर्मूल कर दिया और फिर इस महाकाव्य के नायक राम ने उसे पराजित किया। ऐसा जान पड़ता है कि यह कथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वास्तविक विरोध और द्वेष को प्रगट करती है, जिसके चिन्ह हम लोग कथा के रूप में उपनिषदों में देख चुके हैं।

सारांश यह कि रामायण के पढ़ने से यह विदित होता है कि भारतवर्ष की सच्ची सूरता का समय बीत गया था और आर्यलोग गङ्गा की घाटी में कई शताब्दियों तक पड़े रहने के कारण शिथिल से हो गये थे। उसमें महाभारत की वे वीरोचित, यद्यपि कुछ अशिष्ट और आचार व्यवहार की बातें नहीं मिलती। उसमें सच्ची वीरता के मनुष्य और सच्ची दृढ़ता और संकल्प के साथ लड़े हुये युद्ध नहीं मिलते। उसमें कर्ण, दुर्योधन और भीम की भांति शारीरिक बल के तथा अभिमानी और दृढ़चित्त मनुष्य नहीं मिलते। रामायण में उन्नति को प्राप्त नयिकाएँ हैं, जैसे अभिमानिनी और भीतरी मार करने वाली कैकेयी, अथवा शान्ति और सदा दुःख सहती हुई सीता। रामायण के नायक लोग किंचित सीधे और साधारण मनुष्य हैं जो कि ब्राह्मणों को बड़े मानने वाले एवं शिष्टाचार धर्म के नियमों का पालन करने में बड़े उत्सुक और बड़े युद्ध करने वाले हैं, परन्तु उनमें सच्चे लड़ने वालों की दृढ़ता नहीं है। जाति की सूरता में परिवर्तन हो गया था और यदि राजा प्रजा बहुत सभ्य और नियमानुसार चलने वाले हो गए थे तो उनमें दृढ़ता और वीरता भी कम हो गई थी। ई० पूर्व तेरहवीं शताब्दी के, अर्थात् जब दृढ़ और विजयी कुरु और पांचाल लोग द्वाब में राज्य करते थे उस समय के हिन्दू लोगों का जीवन जानने के लिये हम अपने पाठकों को महाभारत पढ़ने को कहेंगे और ग्यारहवीं शताब्दी के अर्थात् जब कोशल और विदेह लोग गंगा की घाटी में अधिक काल तक रहने से नियमानुकूल चलनेवाले ब्राह्मणों के आधीन, विद्वान और शिथिल हो गए थे, उस समय के हिन्दुओं के जीवन का वृतान्त जानने के लिये हम पाठकों को रामायण पढ़ने को कहेंगे। ऐतिहासिक काव्य काल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक हिन्दू समाज में जो परिवर्तन हुआ वह इन दोनों महाकाव्यों से प्रगट होता है।

अब हम रामायण की कथा प्रारम्भ करते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि जो लोग गंगा और गंडक नदी के बीच के विस्तृत देश में रहते थे वे कोशलों के नाम

से प्रसिद्ध थे। इस जाति के एक प्रसिद्ध राजा दशरथ की राजधानी अयोध्या अथवा अवध में थी और इस प्राचीन नगर का खंडहर अब तक यात्री लोगों को कुछ ढूहों के रूप में दिखलाया जाता है। दशरथ की रानियों में से तीन का सबसे अधिक सत्कार किया जाता था। इनमें से कौशल्या से उसे उसका सबसे बड़ा पुत्र राम हुआ, कैकेयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न हुए। दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था में राम को युवराज बनाने का विचार किया परन्तु अभिमानिनी और सुन्दर कैकेयी ने यह हठ किया कि उसी का पुत्र युवराज बनाया जाय और दुर्बल वृद्ध राजा को अपनी पत्नी की इस दृढ़ इच्छा को मानना पड़ा।

उसके पहले ही राम ने एक स्वयम्बर में विदेहों के राजा जनक की कन्या सीता को प्राप्त किया था। इस स्वयम्बर में बहुतेरे राजे और राजकुमार इकट्ठे हुए थे, परन्तु उनमें से केवल राम ही भारी धनुष को उठा कर उसके दो टुकड़े कर सके थे। परन्तु इस समय जब कि राम के युवराज बनाये जाने की आशा में सारी अयोध्या में हर्ष हो रहा था, कैकेयी के महल में यह निश्चय हुआ कि भरत युवराज हों और राम १४ वर्ष के लिये देश से निकाल दिये जांय।

राम इतने आज्ञाकारी और धर्मज्ञ थे कि इस आज्ञा को टालना तो दूर रहा उन्होने इस पर रोष भी नहीं किया। उनके श्रद्धालू भाई लक्ष्मण भी उसके साथ हुए और सुशीला सीता तो अपने पति से अलग होने की बात ही नहीं सुनती थीं। अतः अयोध्या वासियों को दुःख में रोते छोड़कर राम, सीता और लक्ष्मण नगर से बाहर निकल गये।

ये लोग पहले प्रयाग वा इलाहाबाद में भारद्वाज मुनि के आश्रम में और फिर वहाँ से आधुनिक बुन्देलखन्ड के निकट चित्रकूट में वाल्मीकि के आश्रम में गये। वाल्मीकि रामायण के बनाने वाले कहे जाते हैं, ठीक उसी तरह से जैसे कि वेदों के संकलित करने वाले कृष्णद्वैपायन व्यास महाभारत के बनाने वाले कहे जाते हैं।

दशरथ राम के शोक में मर गये और भरत ने चित्रकूट में राम के पास जाकर पिता की मृत्यु का समाचार कहा और लौट चलने की प्रार्थना की। परन्तु राम ने प्रतिज्ञा की थी उससे उन्होंने अपने को बद्ध समझा और अन्त में यह स्थिर हुआ कि १४ वर्ष बीत जाने पर राम लौट कर राजगद्दी पर बैठें। भरत अयोध्या को लौट आये।

चित्रकूट छोड़कर राम दण्डक बन में और गोदावरी के उद्गम के निकट के बनों और अनार्य जातियों में घूमते रहे। क्योंकि अभी दक्षिणी भारतवर्ष में आर्य लोग आकर नहीं बसे थे। इस प्रकार से १३ वर्ष बीत गए।

लंका और दक्षिणी भारतवर्ष के राक्षसों के राजा रावण ने सीता की जो अब

बनों में थीं, सुन्दरता का समाचार पाया और राम की अनुपस्थिति में वह उन्हे उनकी कुटी से चुरा कर लंका को ले गया। राम ने बहुत खोज करने पर इसका पता पाया। उन्होंने दक्षिणी भारतवर्ष की अनार्य जातियों से जो बन्दर और भालू वर्णन किये गए हैं, मेल किया और लंका जाकर अपनी पत्नी को प्राप्त करने की तैयारियाँ कीं।

अनार्य जातियों में बाली एक राजा था। उसका भाई सुग्रीव उसका राज्य और उसकी स्त्री छीनना चाहता था। राम ने बाली से लड़ कर उसे मार डाला, सुग्रीव को राज्य और बाली की विधवा स्त्री को पाने में सहायता दी, और तब सुग्रीव ने अपनी सेना लेकर लंका को प्रस्थान किया।

हनुमान जो कि अनार्य सेना का प्रधान सेनापति था मार्ग दिखलाता हुआ चला। वह उस साठ मील के जलडमरू मध्य को लांघ गया जो भारतवर्ष को लंका से अलग करता है, वहां उसने सीता को पाया और उसे राम की भेजी हुई अंगूठी दी। तब उसने रावण की राजधानी में आग लगा दी और राम के पास लौट आया।

अब इस अन्तरीप में पत्थरों से एक सेतु बनाया गया। पाठक जानते होंगे कि इस अन्तरीप के लगभग आर पार एक प्राकृतिक सेतु है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस स्थान के प्राकृतिक रूप ने ही कवि के मन में यह विचार उत्पन्न किया कि यह सेतु राम की सेना के अमानुषी परिश्रम से बनाया गया था। तब सब सेना ने पार होकर रावण की राजधानी में घेरा डाला।

इसके पीछे जो युद्ध का वर्णन दिया है वह यद्यपि काव्यमय घटनाओं और उत्तेजक वर्णनों से भरा है, पर अस्वाभाविक और चित्त को उबा देनेवाला है। रावण ने इन आक्रमण करने वालों को भगाने के लिए एक-एक करके अपने सब सरदारों को भेजा। परन्तु वे सब राम के अमानुषी शस्त्रों और गुप्त मंत्रों से युद्ध में मारे गये। रावण के अभिमानी पुत्र इन्द्रजीत ने बादलों पर से युद्ध किया पर लक्ष्मण ने उसे मार डाला। रावण क्रोधित होकर आया और उसने लक्ष्मण को मार डाला, परन्तु यह मृतक वीर, दृढ़ भक्त हनुमान की लाई हुई किसी औषधि के प्रभाव से फिर जी उठा। रावण का एक भाई विभीषण अपने भाई को छोड़ कर राम से मिल गया था। उसने राम से वह भेद बता दिया था जिससे प्रत्येक योद्धा मारा जा सकता था और इस प्रकार से रावण की अभिमानी सेना के सब नायक एक-एक करके मरते जाते थे। अन्त में स्वयम् रावण आया और राम के हाथों मारा गया। सीता पुनः प्राप्त हो गईं परन्तु उन्हें अपने सतीत्व का प्रमाण जलती हुई चिता में कूद कर और फिर उसमें से बिना जले हुए निकल कर देना पड़ा।

अब चौदह वर्ष बीत गए थे, इसलिये राम और सीता अयोध्या को लौट आकर राजगद्दी पर बैठे। परन्तु लोग सीता पर सन्देह करते थे, क्योंकि वह रावण के यहाँ रही थीं और इसलिये वे लोग विचारते थे कि उनका सतीत्व अवश्य भ्रष्ट हो गया होगा। इसलिये राम ने अपने पिता की भाँति दुर्बल होकर, बिचारी दुःख सहती हुई सीता को, जो उस वक्त गर्भवती थीं, देश से निकाल दिया।

बाल्मीकि ने उनका चित्रकूट में स्वागत किया और वहाँ उन्हें दो पुत्र, लव और कुश हुए। बाल्मीकि ने रामायण बनाई और इन लड़कों को उसे कंठ कराया। इस प्रकार से कई वर्ष बीत गए।

तब राम ने अश्वमेध यज्ञ करना निश्चय किया और इसके लिये घोड़ा छोड़ा गया। वह वाल्मीकि के आश्रम तक आया और वहाँ इन लड़कों ने उसे खेलवाड़ में पकड़ कर रख लिया। राम की सेना ने व्यर्थ ही इस घोड़े को उनसे ले लेने का यत्न किया। अन्त को स्वयम् राम आए और उन्होंने इन राजकुमारों को देखा, परन्तु यह नहीं जाना कि ये कौन हैं। राम ने उनके मुख से रामायण का पाठ सुना और अन्त में उन्हें अपना पुत्र जानकर गले से लगाया।

परन्तु सीता के भाग्य में अब भी सुख नहीं था। लोगों का सन्देह अब तक भी शान्त नहीं हुआ था और राम इतने दुर्बल मन के थे कि लोगों के विरुद्ध काम नहीं कर सकते थे। जिस पृथ्वी ने सीता को जन्म दिया था वह फट गई और दीर्घ-काल तक दुःख सहती हुई उसमें समा गईं।

सीता की वैदिक कल्पना अर्थात् क्षेत्रों की हल रेखा की स्पष्टता इस अन्तिम घटना से प्रगट होती है। परन्तु लाखों हिन्दुओं के लिये सीता वास्तव में कोई मनुष्यधारी प्राणी हुई थीं जो स्त्री धर्म और आत्मनिग्रह की आदर्श हैं। अब तक हिन्दू लोग अपनी कन्या का नाम सीता रखते हुये डरते हैं क्योंकि यदि उसका नम्र स्वभाव, उसका पतिव्रत धर्म, उसका अविचल अनुराग और अपने पति के लिये उसका अजित प्रेम मानवी प्राणियों से बढ़ कर था तो उसका दुःख और संतोष भी उससे कहीं बढ़ कर था जैसा कि संसारी जीवों के भाग्य में प्रायः बदा होता है। समस्त भारतवर्ष में एक भी ऐसी स्त्री न होगी जिसे संतप्त सीता की कथा विदित न हो और जिसे उसका चरित्र आदर्शमय और अनुकरणशील न हो और राम भी चाहे वे चरित्र में सीता की बराबरी न कर सकते हों, मनुष्यों के लिये अपने सत्याचरण, आज्ञा पालन और पवित्रता में आदर्श हैं। इसी प्रकार से यह कथा लाखों भारतवासियों के लिये नीति शिक्षा का उपाय है और उसका गौरव इस कारण से बहुत है।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

आर्य और अनार्य लोग

उत्तरी भारतवर्ष की नदियां, आर्यों के विजय का मार्ग निश्चय करती हैं। जब कोई इन नदियों का मार्ग देखता है तो उसे आर्यों के विजय की दस शताब्दियों का इतिहास विदित होता है और जब कोई सिन्धु और उसकी सहायक नदियों का मार्ग और फिर बनारस और उत्तरी बिहार तब गंगा और यमुना का मार्ग देख चुकता है तो उसने ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त तक अर्थात् ईसा के १००० वर्ष पहले का हिन्दू आर्यों का सारा राज्य देख लिया। इन हिन्दुओं के राज्य की बड़ी भूमि के आगे का सारा भारतवर्ष आर्यों से बिना अनुसन्धान किया हुआ अथवा यों कहिये कि बिना विजय किया हुआ पड़ा था जिसमें भिन्न-भिन्न आदिवासिनी जातियाँ बसती थीं। इस अनार्य भूमि का एक चौड़ा भाग, जो हिन्दू राज्य को पूरब, दक्षिण और पश्चिम में घेरे हुए था, ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में हिन्दुओं को ज्ञात होता जाता था। दक्षिणी बिहार, मालवा, दक्षिण का एक भाग और राजपूताना मरुस्थल के दक्षिण के देश, यह एक अर्धमंडलाकार भूमि थी जो कि हिन्दुओं की नहीं हो गई थी परन्तु हिन्दुओं को धीरे-धीरे विदित हो गई थी। इसलिये इस भूमि का उल्लेख सब से उत्तरकाल के ब्राह्मणों में कहीं-कहीं पर आया है कि इसमें सत्व लोग अर्थात् जीवित लोग जो कि कठिनता से मनुष्य कहे जा सकते हैं, रहते थे। हम लोग साहसी अधिवासियों को इस अज्ञात और असभ्य भूमि में घुसते हुए, जहां-जहां वे गये वहां आदिवासियों पर अपना प्रभुत्व प्राप्त करते हुये, उपजाऊ नदियों के तटों पर जहाँ-जहाँ बस्तियाँ स्थापित करते हुए और विस्मित असभ्यों को सभ्य शासन और सभ्य जीवन के कुछ फल दिखलाते हुए, अनुमान कर सकते हैं। हमलोग पुण्यात्मा साधुओं को इन जंगलों में शान्ति से जाकर पर्वतों की चोटियों पर वा उपजाऊ घाटियों से जो कि विद्या और पवित्रता का स्थान थीं, आश्रम बना कर रहते हुए ख्याल कर सकते हैं। अन्त में साहसी राजकीय शिकारी भी बहुधा इन जंगलों में जाते थे और अभागे राजा लोग जिन्हें उनसे अधिक बलवान प्रतिद्वंद्वी लोग देश से निकाल देते थे वे भी बहुधा संसार से विरक्त होकर इन्हीं एकान्त जंगलों में आकर बसते थे। यह अनार्यों का देश जो धीरे-धीरे हिन्दुओं को विदित होता जाता था ऐसी दशा में था। हम यहाँ पर कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करेंगे जिससे जान

पड़ेगा कि हिन्दुओं को इस देश के विषय में कितना ज्ञान था और वे लोग उन भिन्न-भिन्न आदिवासियों को किस नाम से पुकारते थे, जो कि इसमें सम्भवतः ईसा के पहले ग्यारहवीं शताब्दी में रहते थे।

ऐतरेय ब्राह्मण की अन्तिम पुस्तक में एक ऐसा वाक्य है जिसमें उस समय के मुख्य-मुख्य राज्यों के वर्णन के साथ ही साथ दक्षिण और दक्षिण पश्चिमी की आदि वासिनी जातियों का भी उल्लेख है वह यहां पर उद्धृत करने योग्य है—

"तब पूरब दिशा में वासवों ने सारे संसार का राज्य पाने के लिये ३१ दिन तक इन्हीं तीनों ऋक् और यजु की रिचाओं और उन गम्भीर शब्दों से (जिनका वर्णन अभी किया जा चुका है) उस (इन्द्र) का प्रतिष्ठापन किया। इसीलिये पूर्वी जातियों के सब राजाओं को देवताओं के किए इस आदर्श के अनुसार सारे संसार के महाराजा की भाँति राज तिलक दिया जाता है और वे सम्राट् कहलाते हैं।"

"तब दक्षिण देश में रुद्र लोगों ने सुख भोग प्राप्त करने के लिये इन्द्र को ३१ दिन तक इन तीनों ऋकों अर्थात् यजुस् और उन गम्भीर शब्दों से (जिसका उल्लेख अभी हो चुका है) प्रतिष्ठापन किया। इसीलिये दक्षिण देश के जीवों के राजाओं को सुख भोग के लिये राजतिलक दिये जाते हैं और वे भोज अर्थात् भोग करने वाले कहलाते हैं।"

"तब पश्चिम देश में दैवी आदित्यों ने स्वतन्त्र राज्य पाने के लिये उसका उन तीनों ऋकों अर्थात् यजुस् की रिचाओं और उन गम्भीर शब्दों से प्रतिष्ठापन किया। इसीलिये पश्चिम देशों के नीच्यों और अपाच्यों के सब राजे स्वतंत्र राज्य करते हैं और 'स्वराट' अर्थात् स्वतंत्र राजा कहलाते हैं।"

"तब उत्तरी देश में विश्वदेवों ने प्रख्यात शासन के लिये उसका उन्हीं तीनों रिचाओं से प्रतिष्ठापन किया। इसीलिये हिमालय के उस ओर के उत्तरी देशों से सब लोग, जैसे उत्तर कुरुलोग, उत्तरमाद्र लेग, बिना राजा के बसने के लिये स्थिर किए गये और वे "विराज" अर्थात् बिना राजा के कहलाते हैं।"

"तब मध्य देश में, जो कि एक दृढ़ स्थापित स्थान है, साध्यों और अपत्यों ने राज्य के लिये इन्द्र का ३१ दिन तक प्रतिष्ठापन किया। इसीलिये कुरु, पांचालों तथा वसों और उसीनरों के राजाओं को राज्य तिलक दिया जाता है और वे 'राजा' कहलाते हैं।"

इन उद्धृत वाक्यों से हम एक दम से ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में जहाँ तक हिन्दुओं का राज्य था वह सब विदित हो जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सब से पूरब में विदेह, काशी और कोशल लोग रहते थे और ये सब से नए हिन्दू अधिवासी विद्या और प्रसिद्धता में अपने पश्चिम में रहने वाले भाइयों

से बढ़े हुए थे। उनके राजा लोग, यथा जनक, अजात शत्रु आदि गर्व से 'सम्राट' की पदवी ग्रहण करते थे और अपनी विद्या और बल से अपनी प्रतिष्ठा का निर्वाह योग्यता से करते थे।

दक्षिण में कुछ आर्य अधिवासी लोग चम्बल की घाटी तक जाकर आधुनिक मालवा देश में रहने वाले आदिम निवासियों से अवश्य परिचित हो गये होंगे। ये जातियाँ 'सत्व' अर्थात् ऐसे जीव जो मनुष्य कहे जाने योग्य नहीं हैं, कहलाती थीं। यहाँ पर यह लिख देना भी उचित है कि इस ओर का राज्य तो 'भोज' के नाम से कहलाता ही था (इस शब्द की उत्पत्ति चाहे कैसी ही कल्पित क्यों न दी गई हो) पर उत्तर काल में उस देश का नाम भी, जो कि विन्ध्य पर्वतों से सटा हुआ दक्षिण में चम्बल की घाटी में है, 'भोज' था।

इस स्थान से आर्य अधिवासी वा साहसी लोग पश्चिम की ओर बढ़े, यहाँ तक कि वे अरब के समुद्र के तटों तक पहुँच गए जिसके आगे वे नहीं बढ़ सकते थे। इन दूरस्थ देशों के आदिवासियों को सभ्य अधिवासी लोग कुछ तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और इसी अभिप्राय से उन्हें 'नीच्यों' और 'अपाच्यों का नाम दिया गया था और उनके शासक लोग 'स्वराट' अर्थात् स्वतन्त्र राजा कहलाते थे। ये ही लोग जो कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में बहुत कम प्रसिद्ध थे, उत्तर काल की सबसे अधिक अभिमानी और रणप्रिय हिन्दू जाति के अर्थात् मरहट्टों के पूर्व पुरुष थे।

लिखा है कि उत्तर में उत्तर कुरु लोग, उत्तर माद्र लोग तथा अन्य जातियां हिमालय के उस ओर रहती थीं, परन्तु इससे सम्भवतः यह तात्पर्य है कि वे नीची पर्वतश्रेणियों के उस ओर हिमालय की घाटियों में रहती थीं। अब तक भी इन पहाड़ियों के रहने वाले स्वतन्त्रता से प्राथमिक समाज में रहते हैं और सरदारों अथवा राजाओं से उनका सम्बन्ध बहुत कम होता है। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राचीन काल में वे बिना राजा के कहे जाते थे।

अतः हिन्दू सृष्टि के बिलकुल बीच में गंगा की घाटी में कुरु और पांचालों की प्रबल जातियाँ तथा वसों और उसीनरों की कम प्रसिद्ध जातियां रहती थीं।

पश्चिम में, राजपुताने के मरुस्थलों का आर्य लोगों ने कुछ भी अनुसंधान नहीं किया था। इन मरुस्थलों और पर्वतों के भील आदिवासी तब तक बिना छेड़ छाड़ किये ही छोड़ दिए गये थे जब तक कि ईस्वी सन् के पीछे नए तथा भयानक आक्रमण करने वाले भारतवर्ष में आकर इन भागों में नहीं बसे।

दूर पूरब में दक्षिणी बिहार तब तक हिन्दुओं के अधिकार में नहीं हुआ था।

प्रोफेसर बेबर ने अथर्ववेद में एक वाक्य दिखलाया है जिसमें अङ्गों और मगधों का एक विशेष, परन्तु उनके विरुद्ध, उल्लेख है। इस वाक्य से जान पड़ता है कि दक्षिणी बिहार के लोग तब तक हिन्दू जाति में सम्मिलित नहीं हुए थे, परन्तु आर्य लोग उनसे परिचित होते जाते थे। बङ्गाल प्रान्त अब तक ज्ञात नहीं हुआ था।

दक्षिणी भारतवर्ष अर्थात् विन्ध्य पर्वतों के उत्तर के भारतवर्ष में हिन्दू लोग तब तक नहीं बसे थे। ऐतरेय ब्राह्मण (७,१८) में कुछ नीच असभ्य जातियों का, और उनमें आन्ध्रों का भी, नाम दिया है। हम आगे चल कर दिखलावेंगे कि दर्शन काल में आन्ध्र लोगों ने बड़ी उन्नति की थी और दक्षिण में उनका एक बड़ा सभ्य हिन्दू राज्य हो गया था।

अब हम ऐतिहासिक काव्य काल की सब मुख्य-मुख्य आर्य जातियों और राज्यों का तथा उन अनार्य राज्यों का जो कि हिन्दू राज्य के दक्षिण में अर्द्धावृत्त में थे, वर्णन कर चुके। आगे के अध्यायों में हम इन लोगों की सामाजिक रीतियों और गृहाचारों का वर्णन करेंगे। परन्तु राजाओं का वृत्तान्त समाप्त करने के पहले, ऐतिहासिक राज्याभिषेक की बृहद् रीति का कुछ वर्णन करेंगे, जैसा कि ऐतिहासिक काव्य काल के बहुत से ग्रन्थों में दिया है। यह रीति तथा अश्वमेध, ये दोनों प्राचीन भारतवर्ष की बड़ी ही गम्भीर और आडम्बरयुक्त राजकीय रीतें हैं और इनका कुछ वर्णन हम हिन्दुओं के दोनों महाकाव्यों के सम्बन्ध में कर चुके हैं। यहां पर राज्याभिषेक के सम्बन्ध के केवल एक दो वाक्य ही उद्धृत करने की आवश्यकता है।—

वह सिंहासन पर व्याघ्र का चर्म इस प्रकार से बिछाता है कि रोएं ऊपर की ओर हों और उसकी गर्दन के ऊपरवाला भाग पूरब की ओर हो, क्योंकि व्याघ्र बन के पशुओं का क्षत्र है। क्षत्र राजकीय पुरुष है। इस क्षत्र के द्वारा राजा अपने क्षत्र की समृद्धि करता है। राजा सिंहासन पर बैठने के लिये अपना मुँह पूरब की ओर किये हुए उसके पीछे से आता है, पैर पर पैर रख कर घुटने के बल इस प्रकार से बैठता है कि उसका दाहिना घुटना पृथ्वी से लगा रहता है और अपने हाथों से सिंहासन को पकड़ कर उसकी प्रार्थना यथोचित मंत्र द्वारा करता है।

तब पुरोहित राजा के सिर पर पवित्र जल छिड़कता है और यह कहता है— "इसी जल को, जो कि शुभ, सब रोगों को अच्छा करने वाला और राज्य की समृद्धि करने वाला है, अमर प्रजापति ने इन्द्र पर छिड़का था, इसी को सोम ने वरुण राज पर छिड़का था, और मनु पर यम ने छिड़का था, सो इसी को हम तेरे ऊपर छिड़कते हैं। तू इस संसार के राजाओं का राजा हो। तेरी प्रख्यात माता ने तुझे संसार भर के मनुष्यों का महाराजा होने के लिये जन्म दिया है। भाग्यवती माता ने तुझे

जन्म दिया है, इत्यादि ।' फिर पुरोहित राजा को सोम की मदिरा देता है और क्रिया समाप्त होती है ।" (ऐतरेय ब्राह्मण ८,६-०)

इसके आगे लिखा है कि पुरोहितों ने इसी रीति से कई राजाओं का अभिषेक किया, जिसके नाम से कि हम परिचित हो चुके हैं। कवष के पुत्र तुर ने इसी प्रकार से परीक्षित के पुत्र जनमेजय का अभिषेक किया था। 'वहाँ से जनमेजय सब जगह गया, उसने पृथ्वी के छोर तक विजय प्राप्त किया और अश्वमेध के घोड़े का बलिदान किया।' पर्वत और नारद ने इसी प्रकार से उग्रसेन के पुत्र युधंस्रौष्टि का राज्याभिषेक किया था। इसी प्रकार से वशिष्ठ ने ऋग्वेद के महा विजयी सुदास का और दीर्घतमस् ने दुष्यन्त के पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया था।

श्वेत यजुर्वेद में भी राज्याभिषेक की रीति का एक दूसरा अच्छा वर्णन मिलता है। उसमें से हम यहाँ एक अद्भुत वाक्य उद्धृत करते हैं जिसमें पुरोहित नए राजा को आशीर्वाद देता है। "वह ईश्वर जो जगत का राज्य करता है, तुम्हें अपनी प्रजा का राज्य करने की शक्ति दे। वह अग्नि जो गृहस्थों से पूजी जाती है, तुम्हें गृहस्थों पर प्रभुत्व दे। वृक्षों का स्वामी सोम तुम्हें बनों पर प्रभुत्व दे। वाणी का देवता बृहस्पति तुम्हें बोलने में प्रभुत्व दे। देवताओं में सबसे बड़ा इन्द्र, तुम्हें सबसे बड़ा प्रभुत्व दे। जीवों का पालक रुद्र तुम्हें जीवों पर प्रभुत्व दे। मित्र, जो कि सत्य का अवतार है, तुम्हें सत्यता में अति श्रेष्ठ बनावे। वरुण जो पुण्य कार्यों का रक्षक है, तुम्हें पुण्य के कार्यों में अति श्रेष्ठ बनावे।"

इसके आगे प्रजा को जो बचन कहे गए हैं उसमें पुरोहित उन्हें कहता है—"हे अमुक अमुक जातियाँ, यह तुम्हारा राजा है।" काण्व में यह पाठ है कि "हे कुरु और पांचाल लोग, यह तुम्हारा राजा है।"

हम इस अध्याय को वह उत्तम उपदेश देकर समाप्त करेंगे जो कि इसी वेद में आगे चल कर राजाओं के लिये दिया है और जिसे यदि आज कल के शासक लोग स्मरण रक्खेंगे तो बहुत लाभ होगा। "यदि तुम शासक हुआ चाहते हो तो आज से समर्थों और असमर्थों पर बराबर न्याय करो। प्रजा पर निरन्तर हित करने का दृढ़ विचार कर लो और सब आपत्तियों से देश की रक्षा करो।" (१०,२७)

———

बारहवां अध्याय

जाति भेद

हिन्दू आर्य लोग सैकड़ों वरन् हजारों वर्ष तक बाहरी लोगों से बिलकुल अलग रहे जैसा कि हमलोग और किसी जाति के इतिहास में नहीं पाते। इस प्रकार से अलग रहने में लाभ और हानि दोनों ही थी। इसके अन्य फलों में एक यह भी फल हुआ कि सामाजिक नियम अधिक दृढ़ और कठोर होते गए और इससे लोगों की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता पूर्वक कार्य करने की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती गई। गंगा और जमुना के उपजाऊ और रमणीक तटों पर चार पांच शताब्दियां तक शान्ति पूर्वक रहने के कारण ये सभ्य राज्य स्थापित कर सके थे, दर्शन, विज्ञान तथा शिल्प की उन्नति कर सके थे और अपने समाज तथा धर्म की भी उन्नति कर सके थे पर इन्हीं शान्त, परन्तु दुर्बल करनेवाले प्रभावों से लोग उन सामाजिक वर्गों में भी अलग हो गए जो 'जातियां' कहलाते हैं।

हम देख चुके हैं कि वैदिक काल के अन्त के लगभग धर्माध्यक्ष लोगों का एक जुदा व्यवसाय ही हो गया था और पुत्र लोग भी अपने पिता ही का काम करने लग गए थे। ऐतिहासिक काव्य काल में जब धार्मिक रीतों में बड़ा आडम्बर हो गया और जब उपजाऊ दोआब में नए नए राज्य स्थापित हो गये और राजा लोग अनगिमती रीति विधानों के बड़े बड़े यज्ञ करने ही में अपना गौरव समझने लगे तो ऐसी अवस्था में यह बहुत सीधी बात है कि केवल धर्माध्यक्ष लोगों के ही ऐसे कठिन विधानों को कर सकने के कारण लोग उन्हें सत्कार की दृष्टि से देखने लगे. यहाँ तक कि वे अन्त में स्वभावतः ही सामान्य लोगों से अलग तथा श्रेष्ठतर श्रेणी के अर्थात् एक अलग जाति के समझे जाने लगे। वे अपना जीवन केवल इन्हीं विधानों के सीखने में बिताते थे और केवल वे लोग ही उन्हें विस्तार पूर्वक कर सकते थे और इसलिये लोग सम्भवतः यह विचारने लगे कि केवल वे ही इन पवित्र कर्मों को करने के पात्र हैं। जब वंश परम्परागत पुरोहित लोग इन आडम्बर युक्त विधानों के वास्तविक ज्ञान और लोगों की कल्पित पवित्रता के कारण पूर्णतया जुदे हो गए तो उनके लिये अपनी श्रेणी के लोगों को छोड़ कर किसी अन्य से सम्बन्ध करना अच्छा नहीं समझा जाता था। फिर भी वे किसी किसी कुल की कन्याओं से विवाह करके

उसका मान बढ़ा सकते थे। परन्तु पुरोहितों के घर की कन्या अपनी श्रेणी के लोगों को छोड़ कर और किसी से विवाह नहीं कर सकती थी। आज कल के हिन्दुओं की जो भावना और रीति है वह शीघ्र ही गंगा के तटों पर रहने वाले हिन्दुओं का जो नियमानुसार चलने वाले थे और बाहरी सृष्टि से अलग थे धार्मिक तथा अलंघ्य नियम हो गई।

ठीक ऐसे ही कारण राजकीय जाति की उत्पत्ति के भी थे। पंजाब के हिन्दुओं में राज्याधिकार ने बहुत ही अधिक प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त की थी। रणप्रिय सरदार लोग अपनी जाति को एक के पीछे दूसरी को विजय के लिये आगे बढ़ाते थे और उनमें से वशिष्ठों और विश्वामित्रों के आश्रयदाता सुदास की भाँति बड़े बड़े सरदार लोग प्रबल राजा ही की तरह नहीं समझे जाते थे वरन् वे मनुष्यों के नायक और जातियों के रक्षक के भांति समझे जाते थे। परन्तु गंगा के तटों पर रहने वाले हिन्दुओं में यह बात नहीं थी। सम्भवतः रणप्रिय कुरुओं और पांचालों के समय के आरम्भ में जाति भेद पूरी तरह से नही हो गया था। परन्तु इसके पीछे शान्त कोशल और विदेह लोगों को जो कि सब राजसी ठाठ बाट से युक्त थे, प्रजा देवतुल्य समझती थी। इसलिए ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं था कि राजकीय वा क्षत्री जाति की कन्याएँ दूसरी स्थिति के मनुष्यों से विवाह करें। ऐसे अनुचित विवाह तो सारे संसार ही में दूषित समझते जाते हैं, परन्तु भारतवर्ष में यह एक अलंघनीय नियम हो गया। इस प्रकार से जब ब्राह्मण और क्षत्री लोग दृढ़ और अलंघनीय नियमों द्वारा अन्य लोगों से जुदे हो गए, यहाँ तक कि ब्राह्मण जाति की दीनातिदीन कन्या भी वैश्यों के सब से बड़े और धनाढ्य मनुष्य से भी विवाह नहीं कर सकती थी।

योरप के सामाजिक इतिहास में भारतवर्ष के जाति भेद के समान कोई भी उल्लेख मिलना कठिन है। फिर भी योरप में एक समय ऐसा था जब कि भारतवर्ष के जाति भेद ही के समान रीति वहाँ उन्हीं कारणों से प्रचलित हुई थी जिनसे कि भारतवर्ष में हुई थी। अर्थात् जनसाधारण की दुर्बलता और योधाओं और धर्माध्यक्षों की प्रबलता के कारण जब रोम का राज्य टूटा और सरदार और बैरन लोग योरप के सब से अच्छे भाग ले रहे थे, उस समय जन साधारण में राजनैतिक उत्साह तथा स्वतंत्रता नहीं थी। योरप में प्रबल पादरियों तथा सैनिकों और निरुत्साही और दुर्बल जन साधारण में सैनिक राज्य प्रणाली के दिनों में जितना अधिक भेद था, उतना और कभी नहीं रहा। योरप भर में बड़े बड़े मठ बने, प्रत्येक नाव चलने योग नदी पर और प्रत्येक तुच्छ गाँव में सैनिक दुर्ग देख पड़ते थे और ग्रामीणों

तथा छोटे छोटे नगरों के दीन शिल्पकारों के साथ गुलामों का सा बर्ताव किया जाता था। मध्यकाल में योरप के पादरी, योधा (Knights) और जन साधारण लोग भारतवर्ष के ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्यों के कुछ कुछ समान थे।

परन्तु यह समता केवल देखने ही में है। सैनिक योरप के पादरी लोग विवाह नहीं करते थे और जन साधारण में जो सब से योग्य, सब से बुद्धिमान और सब से विद्वान होते थे उन्हीं में से पादरी बनाये जाते थे। नाइट लोग भी जन साधारण में से शूर पुरुष और वीर योधाओं को अपनी श्रेणी में प्रसन्नता से सम्मिलित कर लेते थे। जन साधारण ने भी अपने वाणिज्य की रक्षा के लिये शीघ्र ही एकाकर लिया, लुटेरे सरदारों से सामना करने के लिये अपने नगरों को सुरक्षित कर लिया, म्युनिसिपैलिटियां बनाई और उस भययुक्त काल में अपनी रक्षा करने के लिये शस्त्र चलाना सीखा। उमंगी बैरन लोग भी बहुधा जन साधारण में मिल जाते थे और मंत्रणा के लिए सभा तथा रणक्षेत्र में उनकी सहायता करते थे। इस सुखकर हेलमेल ने, जिसे कि भारतवर्ष में जाति भेद ने रोक दिया था, योरप के लोगों को पुनर्जीवित और दृढ़ बना दिया। ज्यों ज्यों जन साधारण में व्यापार और राजनैतिक जीवन की उन्नति होती गई त्यों त्यों सैनिक राज्य प्रणाली तथा पादरियों की प्रबलता नष्ट होती गई और इस प्रकार से योरप में लोगों के तीन जातियों में बंट जाने का यदि कोई भय था तो वह सदा के लिए जाता रहा।

जाति भेद की उत्पत्ति का जो स्पष्ट कारण ऊपर दिखलाया गया है वह हिन्दुओं के ग्रन्थों में विचित्र कल्पित कथाओं में वर्णन किया गया है। परन्तु इन अद्भुत कल्पित कथाओं के रहते उत्तर काल के हिन्दू ग्रन्थकार लोग इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ कभी नहीं हुए थे कि जाति भेद वास्तव में केवल व्यवसाय ही के कारण हुआ था। जाति भेद की उत्पत्ति का यह स्पष्ट और स्वाभाविक कारण कई स्थानों पर उन्हीं पुराण में पाया जाता है जो कि दूसरे स्थानों पर इनकी उत्पत्ति के विषय में अद्भुत और विचित्र कल्पित कथाएं वर्णन करते हैं। यहां पर हमको केवल एक ही दो ऐसे वाक्यों के उद्धृत करने का स्थान है।

वायु पुराण में लिखा है कि आदि वा कृत युग में जाति भेद नहीं था और इसके उपरान्त ब्रह्मा ने मनुष्यों के कार्य के अनुसार उनमें भेद किया। "उनमें से जो लोग शासन करने योग्य थे और लड़ाई भिड़ाई के काम में उद्यत थे उन्हें औरों की रक्षा करने के कारण उसने क्षत्री बनाया। वे निःस्वार्थी लोग जो उनके साथ रहते थे, सत्य बोलते थे और वेदों का उच्चारण भली भांति करते थे ब्राह्मण हुए। जो लोग पहिले दुर्बल थे, किसानों का काम करते थे, भूमि जोतते बोते थे और उद्यमी थे, वैश्य अर्थात् कृषक और जीविका उत्पन्न करने वाले हुए। जो लोग सफाई करने

वाले थे और नौकरी करते थे और जिनमें बहुत ही कम बल वा पराक्रम था वे शूद्र कहलाये।" ऐसे ही ऐसे वर्णन और पुराणों में भी पाए जाते हैं।

रामायण अपने आधुनिक रूप में बहुत पीछे के काल में बनाई गई थी, जैसा कि हम ऊपर दिखला चुके हैं। उत्तर काण्ड के ७४ वें अध्याय में लिखा है कि कृत युग में केवल ब्राह्मण ही लोग तपस्या करते थे, त्रेता युग में क्षत्री लोग उत्पन्न हुए और तब आधुनिक चार जातियां बनी। इस कथा की भाषा का ऐतिहासिक भाषा में उल्था कर डालने से इसका यह अर्थ होता है कि वैदिक युग में हिन्दू आर्य लोग संयुक्त थे और हिन्दुओं के कृत्य करते थे परन्तु ऐतिहासिक काव्य काल में धर्माध्यक्ष और राजा लोग जुदे होकर जुदी जुदी जाति के के हो गये और जनसाधारण भी वैश्यों और शूद्रों की नीचस्थ जातियों में बंट गए।

हम यह भी देख चुके हैं कि महाभारत भी अपने आधुनिक रूप में बहुत पीछे के समय का ग्रन्थ है। परन्तु उसमें भी जाति की उत्पत्ति के प्रत्यक्ष और यथार्थ वर्णन पाए जाते हैं। शान्ति पर्व के १८८ वें अध्याय में लिखा है कि "लाल अंग वाले द्विज लोग जो सुख भोग में आसक्त थे, क्रोधी और साहसी थे और अपनी यज्ञादि की क्रिया को भूल गए थे, वे क्षत्री के वर्ण में हो गए। पीत रंग के द्विज लोग जो गौओं और खेती बारी से अपनी जीविका पाते थे और अपने धार्मिक क्रियाओं को नहीं करते थे वे वैश्यवर्ण में हो गए। काले द्विज लोग जो अपवित्र दुष्ट, झूठे और लालची थे और जो हर प्रकार के काम करके अपना पेट भरते थे, शूद्र वर्ण के हुए इस प्रकार से द्विज लोग अपने अपने कर्मों के अनुसार जुदे होकर, भिन्न भिन्न जातियों में बंट गए।

इन वाक्यों के तथा ऐसे ही दूसरे वाक्यों के लिखने वाले निःसन्देह इस कथा को जानते थे कि चारों जातियों की उत्पत्ति ब्रह्मा की देह के चार भागों से हुई है। परन्तु उन लोगों ने इसे स्वीकार न करके इसे कवि का अलंकारमय वर्णन समझा है जैसी कि वह यथार्थ में है भी। वे बराबर इस बात को लिखते हैं कि पहले पहल जातियाँ नहीं थीं और वे बहुत ही अच्छा तथा न्याय संगत अनुमान करते हैं कि काम काज और व्यवसाय के भेद के कारण पीछे से जाति भेद हुआ। अब हम इस प्रसंग को छोड़ कर इस बात पर थोड़ा विचार करेंगे कि ऐतिहासिक काव्य काल में जाति भेद किस प्रकार का था।

हम ऊपर कह चुके हैं कि पहले पहल जाति भेद गङ्गा के तटों के शान्त वासियों ही में हुआ। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस रीति के बुरे फल तब तक नहीं दिखाई दिये, और न तब तक दिखाई दे ही सकते थे, जब तक कि हिन्दू

लोगों के स्वतन्त्र जाति होने का अन्त नहीं हो गया। ऐतिहासिक काव्य काल में भी लोग ठीक ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भांति धर्म विषयक ज्ञान और विद्या सीखने के अधिकारी समझे जाते थे एवं ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में किसी-किसी अवस्था में परस्पर विवाह भी हो सकता था। इसलिये प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास पढ़नेवाले इस जाति भेद की रीति के आरम्भ होने के लिये कितना ही दुःख क्यों न करें पर उन्हें याद रखना चाहिये कि इस रीति के बुरे फलभारतवर्ष में मुसलमानों के आने के पहले दिखाई नहीं पड़े थे।

स्वेत यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में कई व्यवसायों के नाम मिलते हैं जिससे उस समय के समाज का पता लगता है जिस समय इस अध्याय का संग्रह किया गया था। यह बात तो स्पष्ट है कि इसमें जो नाम दिये हैं वे जुदे-जुदे व्यवसायों के नाम हैं कुछ जुदी-जुदी जातियों के नाम नहीं हैं। जैसे २० और २१ कण्डिका में भिन्न-भिन्न प्रकार के चोरों का उल्लेख है और २६वीं में घोड़सवारों, सारथियों और पैदल सिपाहियों का। इसी प्रकार से २७वीं कण्डिका में जो बढ़इयों, रथ बनाने वालों, कुम्हारों और लोहारों का उल्लेख है वे भी भिन्न-भिन्न कार्य करनेवाले हैं, कुछ भिन्न जातियां नहीं हैं। उसी कण्डिका में निषाद और दूसरे-दूसरे लोगों का भी वर्णन है। यह स्पष्ट है कि ये लोग यहां की आदि देशवासिनी जातियों में से थे और आजकल की तरह उस समय के हिन्दू समाज में सबसे नीचे थे।

इसी ग्रन्थ में आगे यह नामावली बहुत बढ़ा कर दी गई है। हम पहले दिखला चुके हैं कि यह अध्याय बहुत पीछे के समय का है और वास्तव में उपोद्घात है। पर इसमें भी बहुत से नाम ऐसे मिलते हैं जो केवल व्यवसाय प्रकट करते हैं और बहुत से ऐसे हैं जो निस्सदेह आदिवासियों के हैं इसमें तो कहीं प्रमाण ही नहीं मिलता कि वैश्य लोग कई जातियों में बटे थे। उसमें नाचनेवाले, वक्ताओं और सभासदों के नाम, रथ बनानेवालों, बढ़इयों, कुम्हारों, जौहरियों, खेतिहरों, तीर बनाने वालों और धनुष बनाने वालों के नाम, बौने, कुबड़े, अन्धे, और बहरे लोगों के, वैद्य और ज्योतिषियों के, हाथी घोड़े और पशु रखने वालों के, नामादि खोदने वालों के, धोबी, रङ्गरेज और नाइयों के, विद्वान मनुष्य, घमन्डी मनुष्य और कई प्रकार की स्त्रियों के, चमार, मछुआहे, व्याधे और बहेलियों के, सोनार व्यापारी और कई तरह के रोगियों के, नकली बाल बनाने वालों, कवि और कई प्रकार के गवैयों के नाम मिलते हैं। यह स्पष्ट है कि ये सब नाम जातियों के नहीं हैं। इसके सिवाय मागध, सूत, भीमल, मृगयु, स्वनिन्, दुर्मेद आदि जो नाम आए हैं वे स्पष्टतः आदिवासियों के नाम हैं जो आर्य समाज की छाया में रहते थे। यहां पर हमें केवल इतना ही

और कहना है कि करीब करीब यही नामावली तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी दी है।

ऊपर की नामावली से जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय के समाज और व्यवसाय का कुछ हाल जाना जाता है। पर इस नामावली से और जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐतिहासिक काव्य काल में और इसके पीछे भी मुसलमानों के यहां आने के समय तक बराबर आर्यों में से बहुत ही अधिक वैश्य थे, यद्यपि वे कई प्रकार का व्यवसाय करते थे। वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्री यही तीन मिलकर आर्य जाति बनाते थे और वे इस जाति के सब स्वत्व के और पौत्रिक विद्या और धर्म सीखने के अधिकारी थे। केवल पराजित अदिवासी ही, जो शूद्र जाति के थे, आर्यों के स्वत्वों से अलग रक्खे गए थे।

पुराने समय की जाति-रीति और आज कल की जाति-रीति में यही मुख्य भेद है। पुराने समय में जाति ने ब्राह्मणों को कुछ विशेष अधिकार और क्षत्रियों को भी कुछ विशेष अधिकार दिया था, पर आर्यों को कदापि बांट कर अलग अलग नहीं कर दिया था। ब्राह्मण, क्षत्री और साधारण लोग यद्यपि अपना जुदा-जुदा पैत्रिक व्यवसाय करते थे, पर वे सब अपने को एक ही जाति का समझते थे, एक ही धर्म की शिक्षा पाते थे, एक ही पाठशाला में पढ़ने जाते थे, उन सब का एक ही साहित्य और कहावतें थीं, सब साथ ही मिलकर खाते-पीते थे, सब प्रकार से आपस में मेल मिलाप रखते थे और एक दूसरे से विवाह भी करते थे और अपने को पराजित आदिवासियों से भिन्न "आर्य जाति" का कहने में अपना बड़ा गौरव समझते थे। पर आज कल जाति ने वैश्य आर्यों को सैकड़ों सम्प्रदायों में जुदा-जुदा कर दिया है, इन सम्प्रदायों ने जाति भेद बहुत ही बढ़ा दिया है, उनमें परस्पर विवाह और दूसरे सामाजिक हेल-मेल को रोक दिया है, सब लोगों में धर्मज्ञान और साहित्य का अभाव कर दिया है और उन्हें वास्तव में शूद्र बना दिया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत से ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि पहले समय में जाति भेद ऐसा कड़ा नहीं था जैसा कि पीछे के समय में हो गया। उदाहरण के लिये ऐतरेय ब्राह्मण (६,२९) में एक अपूर्व वाक्य मिलता है। जब कोई क्षत्री किसी यज्ञ में किसी ब्राह्मण का भाग खा लेता है तो उसकी सन्तान ब्राह्मणों के गुण वाली होती है, जो "दान लेने में तत्पर, सोम की प्यासी और भोजन की भूखी होती है और अपनी इच्छा के अनुसार सब जगह घूमा करती है और दूसरी वा तीसरी पीढ़ी में वह पूरी तरह ब्राह्मण होने के योग्य हो जाता है।" जब वह वैश्य का भाग खा लेता है तो "उसे वैश्य के गुणवाली सन्तान होगी जो दूसरे राजा को कर देगी और दूसरी वा तीसरी पीढ़ी में लोग वैश्य जाति के होने के

योग्य हो जाते हैं।" जब वह शूद्र का भाग ले लेता है तो उसकी सन्तान में "शूद्र के गुण होंगे; उन्हें तीनों उच्च जातियों की सेवा करनी होगी और वे अपने मालिकों के इच्छानुसार निकाल दिये जांयगे और पीटे जायेंगे।" और "दूसरी व तीसरी पीढ़ी में वे शूद्रों की गति पाने के योग्य हो जाते हैं।"

किसी पहले के अध्याय में हम दिखला चुके हैं कि विदेहों के राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को ऐसा ज्ञान दिया कि जो इसके पहले ब्राह्मण लोग नहीं जानते थे और तब से वह ब्राह्मण समझा जाने लगा (सतपथ ब्राह्मण ११,६,२,१)। ऐतरेय ब्राह्मण (२, १९) में इलुषा के पुत्र कवष का वृत्तान्त दिया है, जिसमें उसे और ऋषियों को यह कह कर सत्र से निकाल दिया था कि "एक धूर्त दासी का पुत्र, जो कि ब्राह्मण नहीं हैं, हम लोगों में कैसे रह कर दीक्षित होगा।" परन्तु कवष देवताओं को जानता था और देवता लोग कवष को जानते थे और इसीलिये वह ऋषियों की श्रेणी में हो गया। इसी प्रकार से छान्दोग्य उपनिषद (४,४) में सत्यकाम जबाला की सुन्दर कथा में यह बात दिखलाई गई है कि उन दिनों में सच्चे और विद्वान लोगों का ही सब से अधिक आदर किया जाता था और वे ही सबसे ऊँची जाति के समझे जाते थे। यह कथा अपनी सरलता और काव्य में ऐसी मनोहर है कि हम उसको यहाँ लिख देना उचित समझते हैं:—

(१) जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता को बुलाकर पूछा कि 'हे माता मैं ब्रह्मचारी हुआ चाहता हूँ। मैं किस वंश का हूँ।'

(२) उसने उससे कहा 'पुत्र' मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरी युवावस्था में जब मुझे बहुत करके दासी का काम करना पड़ता था उस समय मैं ने तुझे गर्भ में धारण किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है, तू सत्यकाम है, इसलिये यह कह कि मैं सत्यकाम जवाला हूँ।

(३) वह गौतम हरिद्रुमत के पास गया और उनसे बोला 'महाशय मैं आप के पास ब्रह्मचारी हुआ चाहता हूँ। महाशय क्या मैं आपके पास आ सकता हूँ?

(४) उसने उससे कहा 'मित्र तू किस वंश का है।' उसने उत्तर दिया, 'महाशय, मैं यह नहीं जानता कि मैं किस वंश का हूँ। मैंने अपनी माता से पूछा था, उसने उत्तर दिया कि मेरी युवावस्था में जब मुझे बहुत करके दासी का काम करना पड़ता था उस समय मैंने तुझे गर्भ में धारण किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है, तू सत्यकाम है, इसलिये महाशय मैं सत्यकाम जबाला हूँ।'

(५) उसने कहा 'सच्चे ब्राह्मण के सिवाय और कोई इस प्रकार से नहीं

बोलेगा। मित्र, जाओ ईंधन ले आवो मैं तुझे दीक्षा दूँगा। तुम सत्य से नहीं टले।

इसलिये यह सत्य-प्रिय युवा दीक्षित किया गया और उस समय की रीति के अनुसार अपने गुरू के पशु चराने के लिये जाया करता था। कुछ समय में उसने प्रकृति और पशुओं से भी उन बड़ी-बड़ी बातों को सीखा जो कि ये लोग सीखने वाले मनुष्यों को सिखलाते थे। वह जिस झुण्ड को चराता था उसके बैल से, जिस अग्नि को जलाता उससे और सन्ध्या समय वह अपनी गौओं को बाड़े में बन्द करने और सन्ध्या की अग्नि में लकड़ी डालने के पीछे उसके पास बैठता था तो उसके पास जो राजहंस और अन्य पक्षी उड़ते थे उनसे भी बातें सीखता था। तब वह युवा शिष्य अपने गुरू के पास गया और उसने उससे तुरन्त पूछा "मित्र, तुम्हारे में ऐसा तेज है जैसे कि तुम ब्रह्म को जानते हो। तुम्हें किसने शिक्षा दी है ?" युवा शिष्य ने उत्तर दिया "मनुष्य ने नहीं"। जो बात युवा शिष्य ने सीखी थी वह यद्यपि उस समय के मनगढ़न्त शब्दों में छिपी हुई थी पर वह यह थी कि चारों दिशा पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और जीवों की इन्द्रियां तथा मन, सारांश यह कि सारा विश्व ही ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है।

उपनिषदों की ऐसी शिक्षा है और यह शिक्षा इसी प्रकार की कल्पित कथाओं में वर्णित है जैसा कि हम आगे चल कर दिखलायेंगे। जब कोई विद्वान ब्राह्मणों के नियमों विधानों के अरोचक और निरर्थक पृष्ठों को उलटता है तो उसे उस सत्यकाम जबाला के ऐसी कथाएँ जो कि मानुषी भावना एवं करुणा और उच्चतम सुचरित्र की शिक्षाओं से भरी हैं, धीरज देती और प्रसन्न करती हैं। पर इस कथा को यहां पर लिखने में हमारा तात्पर्य यह दिखलाने का है जिस समय ऐसी कथाएँ बनी थीं उस समय तक जाति भेद के नियम इतने कड़े नहीं हो गए थे। इस कथा से हमको यह मालूम होता है कि एक दासी का लड़का जो कि अपने बाप को भी नहीं जानता था, केवल सचाई के कारण ब्रह्मचारी हो गया, प्रकृति तथा उस समय के पंडित लोग उसे जो कुछ सिखला सकते थे उन सब बातों को उसने सीखा और अन्त में उस समय के सबसे बड़े धर्म शिक्षकों में हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय की जाति प्रथा में बड़ी ही स्वतन्त्रता थी। पीछे समय की भांति उस समय रुकावटें नहीं थीं जब ब्राह्मणों को छोड़ कर और सब जाति को धर्म का ज्ञान ही नहीं दिया जाता था, वह ज्ञान जो कि जाति का मानसिक भोजन और जाति के जीवन का जीव है।

यज्ञोपवीत का प्रचार ऐतिहासिक काव्य काल ही से हुआ है। सतपथ ब्राह्मण में (२, ४, २) लिखा है कि जब सब लोग प्रजापति के यहां आए तो देवता और

पितृलोग भी यज्ञोपवीत पहने हुए आए और कौशीतकि उपनिषद (२, ७) में लिखा है कि सब को जोतने वाला कौशीतकि यज्ञोपवीत पहन कर उदय होते हुए सूर्य को पूजा करता है।

इस प्राचीन काल में यज्ञोपवीत को ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य तीनों ही पहनते थे, लेकिन केवल यज्ञ करते समय। पर अब उस प्राचीन काल की सब बातें बदल गई हैं। अब तो केवल एक ही जाति के लोग, अर्थात् ब्राह्मण लोग ही यज्ञोपवीत को हर समय रीति और आडम्बर के लिये धारण किए रहते हैं और ये लोग वैदिक यज्ञ करना भी भूल गए हैं।

———

तेरहवां अध्याय

सामाजिक जीवन

वैदिक समय के समाज और ऐतिहासिक काव्य काल के समाज में बड़ा भेद यह था कि वैदिक समय में तो जाति भेद था ही नहीं परन्तु इस काल में यह था। पर केवल यही एक भेद नहीं है। सैकड़ों वर्ष की सभ्यता और उन्नति का भी समाज पर प्रभाव पड़ा। ऐतिहासिक काव्य काल के सभ्य हिन्दू लोगों की सामाजिक चाल व्यवहार वैनिक समय के योधा-खेतिहरों से उतनी ही भिन्न थी जितनी कि पेरिकलीज के समय की ग्रीस देश निवासी अगामेमन और युलीसिस से भिन्न थी।

जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय के हिन्दू लोग सभ्य और शिष्ट हो गए थे और उन्होंने अपने घर के तथा सामाजिक काम करने के लिये सूक्ष्म नियम तक बना लिए थे। राजाओं की सभा, विद्या का स्थान थी और उसमें सब जाति के विद्वान और बुद्धिमान लोग बुलाये जाते थे, उनका आदर सम्मान किया जाता था और उन्हें इनाम दिया जाता था। विद्वान अधिकारी लोग न्याय करते थे और जीवन के सब काम नियम के अनुसार किये जाते थे। सब जातियों में मजबूत दीवारों और सुन्दर मकानों के नगर बहुतायत से ह गये थे, जिनमें न्यायाधीश, दण्ड देने वाले और नगर रक्षक लोग होते थे। खेती की उन्नति की जाती थी और राज्याधिकारी लोगों का काम कर उगाहने और खेतिहरों के हित की ओर ध्यान देने का था।

हम कह चुके हैं कि विदेहों, काशियों और कुरु पंचालों की तरह सभ्य और विद्वान राजाओं की सभाएं उस समय में विद्या की मुख्य जगह थीं। ऐसी सभाओं

में यज्ञ करने और विद्या की उन्नति करने के लिए विद्वान पंडित लोग रक्खे जाते थे और बहुत से ब्राह्मण ग्रन्थ जो कि हमलोगों को आज कल प्राप्त हैं उन्हीं सम्प्रदायों के बनाये हुये हैं जिनकी नींव इन पंडितों ने डाली थी। बड़े बड़े अवसरों पर विद्वान लोग बड़े बड़े दूर के नगरों और गांवों से आते थे और शास्त्रार्थ केवल क्रिया संस्कार ही के विषय में नहीं होता था, वरन् ऐसे ऐसे विषयों पर भी जैसे कि मनुष्य का मन, मरने के पीछे आत्मा का उद्देश्य स्थान, आनेवाली दुनियां, देवता, पितृ और भिन्न भिन्न तरह के जीवों के विषय में तथा उस सर्वव्यापी ईश्वर के विषय में जिसे हम सब चीजों में देखते हैं।

पर विद्या का स्थान केवल सभा ही नहीं थी। विद्या की उन्नति के लिये परिषद अर्थात् ब्राह्मणों के विद्यालय होते थे, जो कि योरप के विद्यालयों का काम देते थे और इन परिषदों में युवा लोग विद्या सीखने जाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद (६,२) में इसी प्रकार से लिखा है कि स्वकेतु विद्या सीखने के लिये पांचालों के परिषद में गया। प्रोफेसर मेक्समूलर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में ऐसे वाक्य उद्धृत किए हैं जिनसे जान पड़ता है कि इसके ग्रन्थकारों के अनुसार परिषद में २१ ब्राह्मण होने चाहिये जो दर्शन, वेदान्त और स्मृति शास्त्रों को अच्छी तरह जानते हों। पर उन्होंने यह दिखलाया है कि ये नियम पीछे के समय की स्मृति की पुस्तकों में दिए हैं और ऐतिहासिक काव्य काल के परिषदों का वर्णन नहीं करते। पराशर कहता है कि किसी गांव के तीन या चार योग्य ब्राह्मण भी जो वेद जानते हों और होमाग्नि रखते हों, परिषद् बना सकते हैं।

इन परिषदों के सिवाय अकेले एक एक शिक्षक भी पाठशालाएं स्थापित करते थे जिनकी तुलना योरप के प्राइवेट स्कूलों से दी जा सकती है और इनमें बहुधा देश के भिन्न भिन्न भागों से विद्यार्थी लोग इकट्ठे हो जाते थे। ये विद्यार्थी रहने के समय तक दास की तरह गुरू की सेवा करते थे और बारह वर्ष या इससे भी अधिक समय के पीछे गुरू को उचित दक्षिणा देकर अपने घर अपने लालायित सम्बन्धियों के पास लौट जाते थे। उन विद्वान ब्राह्मण लोगों के पास भी जो वृद्धावस्था में संसार से जुदा होकर बनों में जा बसते थे, बहुधा विद्यार्थी लोग इकट्ठे हो जाते थे और उस समय की अधिकतर कल्पनाएं इन्हीं बन में, रहने वाले विरक्त साधू और विद्वान महात्माओं की है। इस तरह से हिन्दू लोगों में हजारों वर्ष तक विद्या की उन्नति और रक्षा हुई है और इन लोगों में विद्या और ज्ञान की जितनी कदर थी उतनी कदाचित किसी दूसरी जाति में प्राचीन अथवा नवीन समय में भी नहीं हुई। हिन्दुओं के धर्म के अनुसार अच्छे काम तथा धर्म की क्रियाओं के करने से

उचित फल और जीवन में सुख ही मिलता है, पर ईश्वर में मिलकर एक हो जाना, यह केवल सच्चे ज्ञान ही से प्राप्त हो सकता है।

जब विद्यार्थी लोग इस तरह से किसी परिषद् में अथवा गुरू से उस समय की परम्परागत विद्या सीख लेते थे तो वे अपने घर आकर विवाह करते थे और गृहस्थ होकर रहने लगते थे। विवाह के साथ ही साथ उनके गृहस्थी के धर्म भी आरम्भ होते थे और गृहस्थ का पहला धर्म यह था कि वह किसी शुभ नक्षत्र में होमाग्नि को जलादें, सबेरे और सन्ध्या के समय अग्नि को दूध चढ़ाया करें, दूसरे धर्म के और गृहस्थी के कृत्य किया करें। सब से बढ़ कर यह कि अतिथियों का सत्कार किया करे। हिन्दुओं के कर्तव्य का सार नीचे लिखे ऐसे वाक्यों में समझा है गया था—

"सत्य बोलो! अपना कर्तव्य करो! वेदों का पढ़ना मत भूलो! अपने गुरू को उचित दक्षिणा देने के पीछे बच्चों के जीव का नाश न करो। सत्य से मत टलो! कर्तव्य से मत टलो! हितकारी बातों की उपेक्षा मत करो! पढ़ाई में आलस्य मत करो! वेद के पढ़ने पढ़ाने में आलस्य मत करो।

"देवताओं और पितरों के कर्मों को मत भूलो। अपनी माता को देवता की तरह मानो, अपने पिता को देवता की तरह मानो, अपने गुरू को देवता की तरह मानो। जो काम निष्कलंक हैं उन्हीं के करने में चित्त लगाओ, दूसरों में नहीं। जो जो अच्छे काम हम लोगों ने किए हैं उन्हें तुम भी करो (तैत्तिरीय उपनिषद् १,२)।

इस समय के ग्रन्थों में समाज की सुखी दशा के वर्णन भी अनेक स्थानों में मिलते हैं। एक अश्वमेध में पुरोहित कहता है कि "हमारे राज्य में ब्राह्मण लोग धर्म के साथ रहें, हम लोगों के योधा लोग बलवान और शस्त्र चलाने में चतुर हों, हम लोगों की गौवें बहुत सा दूध दें, हमारे बैल बोझा ढोएँ और हमारे घोड़े तेज हों। हम लोगों की स्त्रियाँ अपने घर की रक्षा करें और हमारे योधा लोग जय लाभ करें। हमारे युवा लोग अपने रहन सहन में सभ्य हों...परजन्य प्रत्येक घर और प्रत्येक देश में वृष्टि करें, हम लोगों के अनाज के वृक्षों में अन्न उत्पन्न हो और पकें, हम लोगों के मनोरथ सिद्ध हों और हम लोग सुख से रहैं (शुक्ल यजुर्वेद २२,२२)।

धनवानों का धन सोना, चाँदी और जवाहर, गाड़ी, घोड़ा, गाय, खच्चर और दास, घर और उपजाऊ खेत, और हाथी भी होता था (छान्दोग्य उपनिषद् ५, १३, १७, १९, ७, २४; सतपथ ब्राह्मण ३, २, ४८; तैत्तिराय उपनिषद् १,५, १२ आदि)। यज्ञों में सोना उचित दान समझा जाता था और उनमें चांदी का दान देने का बहुत ही निषेध किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में जैसे और सब बातों

के कारण दिये हैं वैसे ही इसका कारण भी बड़ा ही विलक्षण दिया है—जब देवताओं ने अग्नि को सौंपा हुआ धन उससे फिर मांगा तो अग्नि रोई और उसके जो आंसू बहे वे चांदी हो गये। इसी कारण से यदि चांदी दक्षिणा में दी जाय तो उस घर में रोना मचेगा। पर यह कारण ब्राह्मणों के लालच को नहीं छिपा लेता, जो कि सोना दान का मुख्य कारण है।

लोगों को उस समय केवल सोने और चांदी ही का प्रयोग नहीं मालूम था वरन् शुक्ल यजुर्वेद (१८, १३) में कई दूसरी धातुओं का भी वर्णन है। छान्दोग्य उपनिषद के निम्न लिखित वाक्य से उस समय की कुछ धातुओं का पता लगता है—

जिस तरह कोई सोने को लवण (सोहागे) से जोड़ता है, चाँदी को सोने से, टीन को चाँदी से, जस्ते को टीन से, लोहे को जस्ते से, काठ को लोहे अथवा चमड़े से जोड़ा जाता था (४, १७, ७)।

ऐतरेय ब्राह्मण (८, २२) में लिखा है कि अत्रि के पुत्र ने दस हजार हाथियों और दस हजार दासियों को दान दिया था जो कि "गले में आभूषणों से अच्छी तरह से सज्जित थीं और सब दिशाओं से लाई गई थीं," पर यह बात स्पष्टतः बहुत बढ़ा कर लिखी गई है।

वैदिक काल की तरह इस समय में भी लोग कई प्रकार का अन्न और पशुओं का मांस भोजन करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद में (६, ३, १३) दस चीजों के दानों का नाम लिखा है, अर्थात् चावल और जव (बृहियवास्) का, तिल और माष (तिलमाषास्) का, अणु और पियंगु का, गेहूँ (गोधूमस्) का, मसूर का, खल्वास और खलकुलास का।

श्वेत यजुर्वेद (१८, १२) में इन अनाजों के सिवाय मुद्ग, नीवार और श्यामक का भी नाम दिया है। अन्न पीसा जाता था और इसमें दही, शहद और घी मिला कर कई तरह की रोटियाँ बनाई जाती थीं। दूध और उसकी बनाई हुई सामग्रियाँ भारतवर्ष में सदा से खाने की बड़ी प्रिय वस्तुएँ होती आई हैं।

ऐतिहासिक काव्य काल में मांस खाना प्रचलित था और इसके लिये गाय और बैल की बहुधा आवश्यकता पड़ती थी। ऐतरेय ब्राह्मण (१, १५) में लिखा है कि किसी राजा या प्रतिष्ठित मेहमान का सत्कार किया जाता था तो बैल वा गाय मारी जाती थी और बहुत हाल की संस्कृत में भी प्रतिष्ठित मेहमान को 'गाय मारने वाला' कहते हैं।

श्याम यजुर्वेद के ब्राह्मण में यह ब्योरेवार लिखा है कि छोटे-छोटे यज्ञों में विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिये किस प्रकार का पशु मारना चाहिये। उसे

किस प्रकार से काटना चाहिये सो भी ब्राह्मण में लिखा है और गोपथ ब्राह्मण से यह भी मालूम होता है कि उसका भिन्न-भिन्न भाग किसको मिलता था। पुरोहित लोग जीभ, गला, कंधा, नितम्ब, टांग इत्यादि पाते थे, घर का मालिक (चतुराई से) अपने लिये पीठ का भाग लेता था और उसकी स्त्री को पेडू के भाग से सन्तोष करना पड़ता था ! मांस के धोने के लिये बहुत सी सोम मदिरा की प्रसादी चढ़ाई जाती थी।

सतपथ ब्राह्मण (३,१,२,२१) में इस विषय का एक मनोहर वादानुवाद दिया है कि बैल का मांस खाना चाहिये अथवा गाय का ! परन्तु अन्त में जो परिणाम निकाला है वह बहुत निश्चिय रूप से नहीं निकाला—'उसे (पुरोहित को) गाय और बैल का मांस न खाना चाहिये।' फिर भी याज्ञवल्क्य कहता है कि 'यदि वह मृदु हो तो हम तो उसे खाते हैं !'

कदाचित याज्ञवल्क्य ने फलाहार और मांसाहार के परिणाम का विचार न किया हो जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद (६,४,१७,१८) के निम्नलिखित वाक्यों से प्रगट होता है—

और यदि कोई मनुष्य चाहता है कि उसे विद्वान कन्या उत्पन्न हो और वह कन्या दीर्घायु हो तो तिल और मक्खन के साथ चावल को पकाकार उन दोनों (पति और स्त्री) को खाना चाहिये जिसमें वे सन्तान उत्पन्न करने योग्य हो जांय।

और यदि कोई मनुष्य चाहता है कि उसे विद्वान, प्रसिद्ध, उपकारी, बड़ा प्रसिद्ध वक्ता, सब वेदों का जानने वाला, और दीर्घजीवी पुत्र हो तो उन दोनों (पति और स्त्री) को मांस और मक्खन के साथ चावल पका कर खाना चाहिये, जिसमें वे सन्तान उत्पन्न करने योग्य हो जांय। मांस किसी जवान या वृद्ध बैल का होना चाहिए।

हम नहीं समझ सकते कि वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों के पूज्य बनाने वाले कभी भी बैल के मांस खाने में और प्रसिद्ध वक्ता होने में कोई भी सम्बन्ध सोचते हों, जैसा कि पीछे के समय में सोचा गया है।

अब हमारे पाठकों को ऐतिहासिक काव्य काल के हिन्दुओं के अर्थात् हस्तिनापुर , काम्पिल्य , अयोध्या और मिथिला के निवासियों के तीन हजार वर्ष पहले के सामाजिक जीवन का अपनी आंखों के सामने चित्र खींचना चाहिए। उस समय नगर दीवारों से घिरे रहते थे, उनमें सुन्दर-सुन्दर भवन होते थे और गलियां होती थीं। वे आज कल के मकानों और सड़कों के समान नहीं होते थे वरन् उस प्राचीन समय में सम्भवतः बहुत ही अच्छे होते थे। राजा का महल सदा नगर के

बीच में होता था जहाँ कोलाहलयुक्त सरदार, असभ्य सिपाही, पवित्र साधु संत और विद्वान पुरोहित प्रायः आया करते थे। बड़े-बड़े अवसरों पर लोग राजमहल के निकट इकट्ठे होते थे, राजा को चाहते थे, मानते थे और उसकी पूजा करते थे एवं राज-भक्ति से बढ़कर और किसी बात को नहीं मानते थे। सोना, चांदी और जवाहर, गाड़ी, घोड़ा, खच्चर और दास लोग तथा नगर के आस-पास के खेत ही गृहस्थों और नगरवासियों का धन और सम्पति थे। उन लोगों में सब प्रतिष्ठित घरानों में पवित्र अग्नि रहती थी। वे अतिथियों का सत्कार करते थे, देश के कानून के अनुसार रहते थे, ब्राह्मणों को सहायता से बलि इत्यादि देते थे और विद्या की कदर करते थे। प्रत्येक आर्य बालक छोटेपन से ही पाठशाला में भेजा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य एक ही साथ पढ़ते थे एक ही पाठ और एक ही धर्म की शिक्षा पाते थे और फिर आकर विवाह करते थे और गृहस्थों की भाँति रहने लगते थे। पुरोहित तथा योद्धा लोग भी जनसाधारण के एक अंग ही थे, जनसाधारण के साथ परस्पर विवाह आदि करते थे और जनसाधारण के साथ खाते पीते थे। अनेक प्रकार के कारीगर सभ्य समाज की विविध आवश्यकताओं को पूरा करते थे और पुश्तैनी व्यव-साय को पीढ़ी दर पीढ़ी करते थे, परन्तु वे लोग जुदे जुदे होकर भिन्न-भिन्न जातियों में नहीं बँट गये थे। खेतिहर लोग अपने पशु तथा हल इत्यादि लेकर अपने अपने गाँवों में रहते थे और हिन्दुस्तान की पुरानी प्रथा के अनुसार प्रत्येक गाँव का प्रबन्ध और निपटारा उस गाँव की पंचायत द्वारा होता था। इस प्राचीन जीवन का वर्णन बहुत बढ़ाया जा सकता है पर सम्भवतः पाठक लोग इसकी स्वयम् ही कल्पना कर लेंगे। हम अब प्राचीन समाज के इस साधारण वर्णन को छोड़ कर इस बात की जाँच करेंगे कि उस समाज में स्त्रियों की कैसी स्थिति थी।

यह तो हम दिखला ही चुके हैं कि प्राचीन भारतवर्ष में स्त्रियों का बिलकुल परदा नहीं था। चार हजार वर्ष हुए कि हिन्दू सभ्यता के आदि से ही हिन्दू स्त्रियों का समाज में प्रतिष्ठित स्थान था, वे पैत्रिक सम्पत्ति पाती थीं और सम्पत्ति की मालिक होती थीं। वे यज्ञ और धर्मों के काम में सम्मिलित होती थीं, वे बड़े-बड़े अवसरों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में जाती थीं, वे खुल्लम खुल्ला आम जगहों में जाती थीं, वे बहुधा उस समय के शास्त्र और विद्या में विशेष योग्यता पाती थीं और राजनीति तथा शासन में भी उनका उचित अधिकार था। यद्यपि वे मनुष्यों के समाज में इतनी स्वाधीनता से नहीं सम्मिलित होती थीं जितना कि आजकल योरप की स्त्रियाँ करती हैं, पर फिर भी उन्हें पूरे-पूरे परदे और कैद में रखना हिन्दू लोगों की चाल नहीं थी। यह चाल भारतवर्ष में मुसलमानों के आने के समय तक नहीं थी और अब

तक भारतवर्ष के कुछ भागों में जैसे महाराष्ट्र में यह चाल नहीं है, जहाँ की मुसलमानों का राज्य बहुत थोड़े दिनों तक रहा है। किसी प्राचीन जाति में हिन्दुओं से बढ़कर स्त्रियों को प्रतिष्ठा नहीं मिली थी, पर हिन्दुओं के साथ कुछ ऐसे ग्रन्थकारों ने चूक और अन्याय किया है जो कि उनके ग्रन्थों से अनभिज्ञ हैं और जिन्होंने यहाँ की स्त्रियों के विषय में अपना विचार तुर्क और अरब लोगों की रीति से पाया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत से ऐसे वाक्य उद्धृत किए जा सकते हैं जिनसे जान पड़ेगा कि स्त्रियों की उस समय बड़ी प्रतिष्ठा थी, पर हम यहाँ केवल एक या दो ऐसे वाक्य उद्धृत करेंगे। इनमें से पहला वाक्य, जिस दिन याज्ञवल्क्य घर बार छोड़ कर बन में गए उस सन्ध्या को याज्ञवल्क्य और उनकी स्त्री की प्रसिद्ध बात चीत है।

(१) जब याज्ञवल्क्य दूसरी वृत्ति धारण करने वाला था तो उसने कहा-मैत्रेयी, मैं अपने इस घर से सच-सच जा रहा हूँ। इसलिये मैं तुझ में और कात्यायनी में सब बात ठीक कर दूँ।

(२) मैत्रेयी ने कहा 'मेरे स्वामी, यदि यह धन से भरी हुई सब पृथ्वी ही मेरी होती तो कहिये कि क्या मैं उससे अमर हो जाती। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'नहीं, तेरा जीवन धनी लोगों के जीवन की भाँति होता। पर धन से अमर हो जाने की कोई आशा नहीं है।

(३) तब मैत्रेयी ने कहा 'मैं उस वस्तु को लेकर क्या करूं जिससे मैं अमर ही नहीं हो सकती ? मेरे स्वामी, आप अमर होने के विषय में जो कुछ जानते हों सो मुझसे कहिए।'

(४) याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'तू मुझे सचमुच प्यारी है, तू प्यारे वाक्य कहती है। आ, यहाँ बैठ, मैं तुझे इस बात को बताऊँगा। जो कुछ मैं कहता हूँ उसे सुन।

और तब उसने उसे यह ज्ञान दिया जो कि बारम्बार उपनिषदों में बहुत जोर देकर वर्णन किया गया है, कि सर्वव्यापी ईश्वर पति में, स्त्री में, पुत्रों में, धन में, ब्राह्मणों और क्षत्रियों में, और सारे संसार में, देवों में, सब जीवों में, सारांश यह है कि सारे विश्व भर ही में है। मैत्रेयी ने, जो कि बुद्धिमान, गुणवती और विद्वान स्त्री थी, इस बड़े सिद्धान्त को स्वीकार किया समझा और वह इसकी कदर संसार की सब सम्पत्ति से अधिक करती थी (बृहदारण्यक उपनिषद)।

हमारा दूसरा उद्धृत भाग भी उसी उपनिषद से है और यह विदेहों के राजा जनक के यहाँ पंडितों की एक बड़ी सभा से सम्बन्ध रखता है—

जनक विदेह ने एक यज्ञ किया जिसमें (अश्वमेध के) याज्ञिकों को बहुत सी दक्षिणा दी गई। उसमें कुरुओं और पंचालों के ब्राह्मण आए थे और जनक यह जानना चाहते थे कि उनमें से कौन अधिक पढ़े हैं। अतएव उन्होंने हजार गौओं को घिरवाया और प्रत्येक की सींगों में (सोने के) दस पद बाँधे।

तब जनक ने उन सबों से कहा 'पूज्य ब्राह्मणों, आप लोगों में जो सबसे बुद्धिमान हो वह इन गौओं को हांके। इस पर उन ब्राह्मणों का साहस न हुआ, पर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा 'मेरे प्यारे, इन्हें हांक ले जाओ।' उसने कहा 'श्रीमन् की जय !' और वह उन्हें हांक ले गया।

इस पर ब्राह्मणों ने बड़ा क्रोध किया और वे घमन्डी याज्ञवल्क्य से प्रश्न पर प्रश्न पूछने लगे। पर याज्ञवल्क्य अकेले उन सब का मुकाबला करने योग्य थे। होत्री अस्वल, जारत्करव आरतभाग, भुज्यु लाह्यायनि, उषस्त चाक्रायन, केहाल कौशीनतकया, उद्दालक आरुनि, तथा अन्य लोग याज्ञवल्क्य से प्रश्न पर प्रश्न करने लगे, पर याज्ञवल्क्य किसी बात में कम नहीं निकला और सब पंडित एक-एक करके शान्त हो गए।

इस बड़ी सभा में एक व्यक्ति ऐसा था जो उस समय की विद्या और पांडित्य में कम नहीं था, क्योंकि वह व्यक्ति एक स्त्री थी (यह एक ऐसी अपूर्व बात है जिससे उस समय की रहन-सहन का पता लगता है)। वह इस सभा में खड़ी हुई और बोली कि "हे याज्ञवल्क्य, जिस प्रकार से काशी अथवा विदेहों के किसी योद्धा का पुत्र अपनी ढीली धनुष में डोरी लगा कर और अपने हाथ में दो नुकीली शत्रु को बेधनेवाली तीर लेकर युद्ध करने के लिये खड़ा होता था, उसी प्रकार से मैं भी दो प्रश्नों को लेकर तुम से लड़ने के लिये खड़ी हुई हूँ। मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दो।" ये प्रश्न किए गये और इनका उत्तर भी दिया गया और गार्गी चुप हो गई।

क्या इन वाक्यों तथा ऐसे ही अन्य वाक्यों से यह प्रगट नहीं होता कि प्राचीन भारतवर्ष में स्त्रियों की इतनी प्रतिष्ठा थी जितनी कदाचित दुनियाँ के किसी भाग में भी किसी प्राचीन जाति में नहीं थी?

हिन्दू स्त्रियाँ अपने पति की बुद्धि विषयक साथिनी, इस जीवन में उनकी प्यारी सहायक, और उनके धर्म विषयक कामों की अभिन्न भागिनी समझी जाती थीं और इसी के अनुसार उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान भी था। वे सम्पत्ति और बपौती की भी मालिक होती थीं, जिससे प्रगट होता है कि उनका कैसा आदर था। इन प्राचीन रीति व्यवहारों की तुलना, आज कल की सभ्यता के रीति व्यवहारों से करना कदाचित अन्याय नहीं होगा। पर भारतवर्ष के इतिहास जाननेवाले को, जिसने

प्रचीन हिन्दुओं के ग्रन्थ पढ़े हों यह कहने में कुछ भी सोच विचार न होगा कि तीन हजार वर्ष पहले भारतवर्ष में स्त्रियों का जितना अधिक मान्य था उतना ग्रीस अथवा रोम में सबसे सभ्य समय में भी कभी नहीं था।

हम ऊपर कह चुके हैं कि ऐतिहासिक काव्य काल तक भी बाल विवाह नहीं होता था और महाकाव्यों में तथा अन्य पुस्तकों में लड़कियों का विवाह उचित वय में होने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। विधवा विवाह केवल अवर्जित ही नहीं था वरन् उसके करने की स्पष्ट आज्ञा थी और विधवाओं को दूसरा विवाह करने के पहले जो विधान इत्यादि करने पड़ते थे वे भी साफ-साफ दिए हैं। चूंकि जाति भेद अब तक पूरा-पूरा नहीं माना जाता था इसलिये एक जाति के लोग बहुधा दूसरी जाति की विधवाओं से विवाह कर लेते थे और ब्राह्मण लोग बिना किसी सोच विचार के दूसरी जाति की विधवाओं को ब्याह लेते थे। "यदि किसी स्त्री के दस पति, जो ब्राह्मण न हों, हो चुके हों और यदि इसके उपरान्त कोई ब्राह्मण उससे विवाह करे तो केवल वही उसका पति है (अथर्व वेद ५, १७, ८)।"

बहुत सी दूसरी प्राचीन जातियों की तरह हिन्दुओं में भी बहुभार्यता प्रचलित थी, परन्तु यह बात केवल राजाओं और बड़े-बड़े धनाढ्य लोगों ही में थी। आजकल के पाठकगण को जो कि इस रीति के प्रचलित होने के कारण प्राचीन हिन्दू सभ्यता के विरुद्ध विचार करेंगे, यह याद रखना चाहिये कि प्राचीन समय में प्रायः सब जातियों के धनाढ्य लोगों में यह रीति प्रचलित थी। उदाहरण के लिये, सिकन्दर आज़म और उसके उत्तराधिकारी लिसिमकस, सिल्युकस, टालेमी, डेमिट्रियस, पिर्हस तथा अन्य लोग सब अनेक पत्नी रखनेवाले थे। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आर्यावर्त में अनेक पति रखने की रीति नहीं थी—"क्योंकि एक मनुष्य के कई स्त्रियां होती हैं, पर एक स्त्री के एक साथ ही कई पति नहीं होते।"

(ऐतरेय ब्राह्मण ३, २३)

ऐतरय ब्राह्मण (१, ८, ३, ६) में एक अद्‌भुत वाक्य है जिसमें तीन या चार पीढ़ी तक आत्मीय सम्बन्धियों में विवाह करने की मनाही है, "इसीलिये भोगनेवाले (पति) और भोगने वाली (स्त्री) दोनों एक ही मनुष्य से उत्पन्न होते हैं।" "क्योंकि सम्बन्धी यह कहते हुए हंसी खुशी से इकट्ठे रहते थे कि तीसरी या चौथी पीढ़ी में हम लोग फिर सम्मिलित होंगे।" यह मनाही का नियम पीछे के समयों में अधिक कड़ा होता गया।

भारतवर्ष की स्त्रियाँ अपने पति से स्नेह और भक्ति के लिये सदा से प्रसिद्ध हैं। उनके विश्वासघात करने के ऐसे कोई बिरले ही उदाहरण मिलते हैं। यह जान

पड़ेगा कि रोमन केथोलिक पादरियों की तरह हिन्दू ब्राह्मणों ने भी दुर्बल स्त्रियों के गुप्त से गुप्त रहस्यों को जानने के लिये एक उपाय निकाला था। निम्नलिखित वाक्य केथोलिक लोगों के नियम की भाँति हैं—

इस पर प्रतिप्रस्थातृ वहाँ जाता है जहाँ यज्ञ करने वाले की स्त्री बैठी रहती है। जब वह स्त्री को ले जाया चाहता है तब उससे पूछता है 'तू किससे संसर्ग रखती है ?' अब, यदि किसी की स्त्री किसी दूसरे मनुष्य से संसर्ग रखती है तो वह निस्सन्देह वरुण की अपराधिनी होती है। इसलिये वह उससे पूछता है कि जिसमें वह मन ही मन में बेदना के साथ यज्ञ न करे, क्योंकि पाप कह देने से कम हो जाता है और तब वह सत्य हो जाता है, इसीलिये वह उससे इस प्रकार पूछता है। और यदि वह संसर्ग नहीं कबूलती तो वह उसके सम्बन्धियों के लिये हानिकारक होगा। (सतपथ ब्राह्मण २, ५, २, २०)

————

चौदहवां अध्याय

स्मृति, ज्योतिष और विद्या

अपराधियों को दण्ड देना और कानून का उचित पालन करना ये ही दोनों नीव हैं जिस पर कि सब सभ्य समाज बनाए जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ वाक्यों में कानून की सच्ची गुणग्राहकता पाई जाती है—"कानून क्षत्र का क्षत्र (बल) है, इसलिये कानून से बढ़ कर कोई चीज नहीं है। तदुपरान्त, राजा की सहायता की तरह कानून की सहायता से दुर्बल मनुष्य भी प्रबल मनुष्य पर शासन कर सकता है। इस प्रकार से कानून वही बात है जिसे कि सत्य कहते हैं। जब कोई मनुष्य सत्य बात को कहता है तो लोग कहते हैं कि वह कानून कहता है; और यदि वह कानून कहता है तो लोग कहते हैं कि वह वही कहता है जो कि सत्य है। इस प्रकार से दोनों एक ही हैं (बृहदारण्यक १, ४, १४)।" संसार भर के कानून जाननेवाले कानून की इससे बढ़ कर व्याख्या नहीं कर सके हैं।

परन्तु न्याय करने की रीति उस समय भी अपक्व थी और दूसरी प्राचीन जातियों की तरह बहुधा अपराधी लोगों की परीक्षा अग्नि द्वारा ली जाती थी।

"लोग एक मनुष्य को पकड़ कर यहां ले आते हैं और कहते है कि उसने कोई वस्तु ले ली है, उसने चोरी की है।" (जब वह मनुष्य इसे स्वीकार नहीं

करता तो वे लोग कहते है) 'इसके लिये कुल्हाड़ी तपाओ।' यदि उसने चोरी की हो तो वह...कुल्हाड़ी को पकड़ने से जल जाता है और मारा जाता है। परन्तु यदि उसने चोरी न की हो तो वह...जलती हुई कुल्हाड़ी को पकड़ लेता है, जलता नहीं, और छोड़ दिया जाता है (छान्दोग्य ६, १६)। हत्या, चोरी, सुरापान और व्यभिचार ये बड़े भारी दोष समझे जाते हैं।

अब हम ज्योतिष के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे। ज्योतिष शास्त्र का साधारण ज्ञान पहले पहल स्वयं ऋग्वेद में मिलता है। वर्ष १२, चन्द्र मासों में बँटा था और चन्द्र वर्ष को सूर्य वर्ष से मिलाने के लिये एक तेरहवां अर्थात् अधिक मास जोड़ दिया था (१, २५, ८)। वर्ष की छ ऋतुओं के नाम मधु, माधव, सूक्र, सुचि, नभ और नभस्य थे और उनका सम्बन्ध भिन्न-भिन्न देवताओं से कर दिया गया था (२,२६)। चन्द्रमा के भिन्न-भिन्न रूप उन लोगों को मालूम थे और ये देवताओं के अवतार माने जाते थे। पूर्ण चन्द्रमा राका है, नवचन्द्र का पहला दिन सिनीवालि है, और नव चन्द्र गुङ्गु है (२, ३२)। नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्रमा की स्थिति का भी उल्लेख (८,३, २० में) आया है और (१०, ८५, १३ में) नक्षत्रों की कुछ राशियों के नाम भी दिए हैं इससे यह जान पड़ेगा कि वैदिक काल में नक्षत्र देखे गये थे और उनका नाम भी पड़ गया था और ऐतिहासिक काव्य काल में राशिचक्र अन्तिम रूप से निश्चित हो गया था।

जैसी कि आशा की जा सकती है ऐतिहासिक काव्य काल में बहुत ही उन्नति हुई। उस काल में ज्योतिष एक जुदा शास्त्र समझा जाने लगा और जो लोग ज्योतिषी का काम करते थे वे नक्षत्रादर्श और गणक कहलाते थे (तैत्तिरीय ब्राह्मण ४, ५ और शुक्ल यजुर्वेद ३०, १०, २०)। श्याम यजुर्वेद में (२८ नक्षत्रों के नाम दिए हैं और दूसरे तथा इसके पीछे के समय के नाम अथर्व संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिए हैं। सतपथ ब्राह्मण (२, १, २) में एक मनोहर वृत्तान्त है जिससे यह जान पड़ता है कि इन नक्षत्रों के सम्बन्ध से जो चन्द्रमा की स्थिति होती थी उससे यज्ञ के विधान किस प्रकार किए जाते थे। परन्तु वह पूरा वृत्तान्त बहुत ही बड़ा है इसलिये हम यहां पर केवल उसका कुछ भाग उद्धृत करेंगे।

(१) वह कृत्तिका नक्षत्र में दो अग्नि जला सकता है, क्योंकि वे कृत्तिका निस्सन्देह अग्नि के नक्षत्र हैं...।

(६) वह रोहिणी में भी आग जला सकता है, क्योंकि प्रजापति को जिस समय संतति की इच्छा हुई, उस समय उन्होंने रोहिणी ही में अग्नि जलाई थी...।

(८) वह मृगशीर्ष नक्षत्र में भी अग्नि जला सकता है क्योंकि मृगशीर्ष

निस्सन्देह प्रजापति का सिर है...। वह फाल्गुणी में भी अग्नि जला सकता है। ये फाल्गुणी इन्द्र के नक्षत्र हैं और इनका नाम भी उसी के अनुसार है। क्योंकि यथार्थ में इन्द्र का गुप्त नाम अर्जुन भी है, और ये (फाल्गुणी) भी अर्जुनी कहलाते हैं...।

(१२) जो कोई यह चाहता है कि उसे दान मिले उसको हस्ता नक्षत्र में अग्नि जलानी चाहिए। तब निस्सन्देह उसकी सिद्धि तुरन्त होगी। क्योंकि जो कुछ हाथ (हस्त) से दिया है वह यथार्थ में उसे ही दिया जाता है।

(१३) वह चित्रा में भी अग्नि जला सकता है। इत्यादि।

इससे जान पड़ेगा कि होमाग्नि नक्षत्रों के अनुसार जलाई जाती थी। इसी प्रकार से जो यज्ञ एक वर्ष तक होते थे वे सूर्य की वार्षिक चाल से स्थिर किए जाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुवादक और प्रकाशक, डाक्टर हांग ने इस विषय में अपनी बहुत अच्छी सम्मति लिखी है जो यहां उद्धृत करने योग्य है :—

"बड़े-बड़े यज्ञ प्रायः वसन्त ऋतु में चैत्र वैसाख के महीनों में होते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के चौथे भाग को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने वालों को विदित होगा कि सूत्र, जो कि एक वर्ष तक होता था, केवल सूर्य के वार्षिक मार्ग का अनुकरण है। उसके दो स्पष्ट भाग होते थे, प्रत्येक भाग में तीस-तीस दिन के छः महीने होते थे। इन दोनों के बीच में विषुवत् अर्थात् समदिन होता था जो कि सत्र को दो भागों में बांटता था। इन दोनों अर्द्ध भागों के विधान बिलकुल एक ही थे, परन्तु दूसरे अर्द्ध भाग में वे उलटे क्रम से किए जाते थे। इसके उत्तरायन होने से दिनों का बड़ा होना और दक्षिणायन होने से उनका छोटा होना प्रकट किया जाता है, क्योंकि बढ़ना और घटना दोनों एक ही हिसाब से होता है।

हम कह चुके हैं कि भारतवर्ष में राशिचक्र अन्तिम बार ऐतिहासिक काव्य काल के प्रारम्भ में अर्थात ईसा के लगभग १४०० वर्ष पहले ठीक किया गया था। प्रसिद्ध कोल्ब्रूक साहब (Colebrooke) का पहले पहल यह मत था कि हिन्दुओं ने नक्षत्रों को अपने ही विचार से ठीक किया था और इसके पीछे वैदिक विधानों में और नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्रमा की स्थिति में जो घना सम्बन्ध है उस पर ध्यान पूर्वक विचार करने से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दू ज्योतिष की उत्पत्ति हिन्दुस्तान ही से हुई थी परन्तु फिर भी योरप के कुछ विद्वान लोग यह मिथ्या अनुमान करते हैं कि हिन्दू ज्योतिष की उत्पत्ति दूसरे देश से हुई है और इस विषय में यूरप और अमेरिका में बड़ा विवाद हुआ है, जिसे पुस्तकों का युद्ध कह सकते हैं।

प्रसिद्ध फरासीसी विद्वान वायोट (Biot) ने सन् १८६० में चीन की सिउ प्रणाली की उत्पत्ति चीन देश से ही होनी लिखी है और उससे परिमाण यह निकाला

है कि हिन्दू-नक्षत्र और अरब मंज़िल चीन ही से लिए गये थे। जर्मनी के विद्वान लसन (Lassen) ने भी यह राय मान ली थी। परन्तु प्रोफेसर वेबर (Weber) ने इस विषय पर विचार किया और सन् १८६० और १८६१ में दो बड़े ही अच्छे लेख प्रकाशित किए जिनमें उन्होंने यह सिद्ध किया कि चीनी सिउ और अरबों की मंज़िल, नक्षत्रों के विषय में हिन्दुओं के आधुनिक सिद्धान्तों से क्रम, संख्या, सीमाबद्ध तारों और दूरी की समानता में मिलती है। प्रोफेसर वेबर ने नक्षत्रों की उत्पत्ति चीन देश से होने का इस प्रकार खन्डन किया है और यह भी सिद्ध किया है कि अरब मंज़िल भी अरब लोगों ने भारतवर्ष ही से ली थी। ठीक यही राय कोलब्रूक साहब ने भी सन् १८०७ में स्थिर की थी, जब कि उन्होंने लिखा था कि "हिन्दुओं का क्रान्ति मण्डल जान पड़ता है कि उन्हीं का है। उसे अरब वालों ने निस्सन्देह लिया था।"

इस प्रकार से चीनी और अरबी सिद्धान्तों का खन्डन करके प्रोफेसर वेबर को एक अपना ही सिद्धान्त अवश्य ही स्थापित करना पड़ा, जिसे कि हम लोग चालडियन सिद्धान्त कह सकते हैं। उनका अनुमान है कि कदाचित् हिन्दू प्रथा किसी दूसरे देश से, सम्भवतः बेबिलन से, उद्धृत की गई थी। परन्तु यह केवल अनुमान और सन्देह ही है, क्योंकि असीरियन विद्वानों ने बेबिलन की प्राचीन विद्या की पुस्तकों में अभी तक राशिचक्र का कहीं भी चिन्ह नहीं पाया। परन्तु अमेरिका के प्रोफेसर व्हिटने (Whitney) इस 'सन्देह' का समर्थन करते हैं क्योंकि वे विचारते हैं कि हिन्दू लोग 'ऐसी प्रकृति के लोग नहीं थे' कि आकाश की ये सब बातें देखते और राशिचक्र स्थिर करते। यह तर्क वितर्क इतना मनोहर है कि उसे हमारे विद्वान प्रोफेसर स्वयम् यह कह कर लगभग फेर ही लेते हैं कि यह युक्ति ऐसी नहीं है कि उस पर अवश्य विश्वास ही हो।

जब विद्वान लोग ऐसे ऐसे बे सिर पैर के तर्कों पर उतारू हो जाते हैं तो उन पर वादविवाद करना केवल समय का नष्ट करना होगा। इसलिये हम इस विषय को प्रोफेसर मेक्समूलर के कुछ वाक्यों को उद्धृत करके समाप्त करेंगे जिसमें उन्होंने इस विषय को साधारण रीति से वर्णन किया है। "२७ नक्षत्र जो कि भारतवर्ष में एक प्रकार के चन्द्र राशिचक्र की भांति चुने गए थे वे बेबिलन से आए हुए बिचार किए जाते थे। परन्तु बेबिलन का राशिचक्र सौर्य हैं और वहां के शिलालेखों में जिनसे कि बहुत सी बातें प्रगट हुई हैं, बार बार खोज करने पर भी चन्द्र राशिचक्र का कोई चिन्ह तक नहीं मिला। इस पर भी यदि यही कल्पना की जाय कि बेबिलन में चन्द्र राशिचक्र पाया गया है तो भी जिस मनुष्य ने वैदिक

ग्रन्थों और प्राचीन वैदिक संस्कारों को पढ़ा है वह कदापि इस बात को सहज में न मान लेगा कि आकाश का यह सरल विभाग हिन्दुओं ने बेबिलन देश निवासियों से लिया था।"×

चन्द्र राशिचक्र को स्थिर करने के सिवाय इस काल में हिन्दुओं ने बड़ी-बड़ी घटनाओं की तिथि नियत करने के लिये अयनान्तों को जाना और वर्ष को महीनों में बाँटा। प्रत्येक महीने का नाम उस नक्षत्र के हिसाब से रक्खा जिस नक्षत्र में कि उस महीने का पूर्ण चन्द्र होता था। बेंटले साहब (Bentley) के अनुसार चन्द्र राशिचक्र ईसा के १४२६ वर्ष पहिले स्थिर किया गया था और महीनों का नाम ईसा के ११८१ वर्ष पहिले रक्खा गया था।※ ईस्वी सन् के उपरान्त सौर राशिचक्र का ज्ञान ग्रीस देशवासियों से उद्धृत किया गया, जैसा कि हम आगे चल कर दिखलावेंगे।

ऐतिहासिक काव्य काल में ज्योतिष के सिवाय दूसरी विद्याओं की भी उन्नति हुई। छान्दोग्य उपनिषद् (७, १, २) में नारद सनत-कुमार से कहते हैं "महाशय, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्वन वेद, पांचवें इतिहास पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण) जानता हूँ। पित्र्य (पितरों के श्राद्धादि के नियम), राशि (गणित शास्त्र), दैव (अशुभ लक्षणों का शास्त्र), निधि (समय का शास्त्र), वाकोवाक्य (तर्क शास्त्र) एकायन, (नीति विद्या), देव विद्या (शब्दों के उत्पत्ति की विद्या), ब्रह्मविद्या (उच्चारण तथा छन्द निर्माण आदि का शास्त्र), भूत विद्या, क्षत्र विद्या (शस्त्र चलाने की विद्या), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष शास्त्र), सर्प देवजन विद्या, यह सब मैं जानता हूँ।"

बृहदारण्यक (२, ४, १०) में लिखा है कि "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरा, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान (टीका), व्याख्यान, ये सब परमेश्वर के मुख से निकले हैं।"

फिर सतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें कांड में तीनों वेदों, अथर्वाङ्गिरों, अनुशासनों, विद्याओं, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण नरसंसियों और गाथाओं का उल्लेख आया है।

प्रोफेसर वेबर कहते हैं कि यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि ऐतिहासिक काव्य काल में इन नामों के जुदे जुदे ही ग्रन्थ हों जो कि अब हम लोगों को प्राप्त

× What India can it teach us (1883) P. 126.

※ Hindu Astronomy (London 1825) pp 3 & 10.

नहीं है। वे कहते हैं कि इनमें से बहुत से शास्त्रों से केवल उन्हीं भिन्न भिन्न विषयों से तात्पर्य होगा जिन्हें कि हम लोग अब तक ब्राह्मण ग्रन्थों में पाते हैं। ये भिन्न-भिन्न विषय जो ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलते हैं, इसके पीछे अर्थात् दर्शन काल में अध्ययन के जुदे-जुदे विषय हुए और वे भिन्न-भिन्न सूत्र के ग्रन्थों में पढ़ाए जाते थे, जो कि अब तक हमें प्राप्त हैं।

ऊपर के विचार में कुछ युक्ति है। परन्तु साथ ही इसके, ऊपर लिखे हुए शास्त्रों में से बहुत से ऐसे हैं कि जो उन शास्त्रों की विशेष पुस्तकों की सहायता बिना, केवल गुरु के मुख ही से शिष्यों को नहीं पढ़ाए जा सकते। इसलिये हमारा यह विश्वास है कि ऐतिहासिक काव्य काल में ऐसे ग्रन्थ थे जो अब हम लोगों को प्राप्त नहीं हैं क्योंकि इसके पीछे के समय में उनके स्थान पर अधिक उत्तम और उच्च ग्रन्थ बनाए गए थे।

———

पन्द्रहवां अध्याय

ब्राह्मणों के यज्ञ

ऐतिहासिक काव्य काल के समय के धर्म में तथा उसके पहले के समय के धर्म में मुख्य भेद यह था कि इस काल में यज्ञादि आवश्यक समझे जाने लगे। वैदिक काल के आरम्भ में लोग सृष्टि के सबसे अद्भुत आविष्कारों की स्तुति में सूक्त बनाते थे। वे सृष्टि के इन भिन्न-भिन्न आविष्कारों को न मान कर इन आविष्कारों के देवताओं को इन्द्र वा वरुण और अग्नि वा मरुत्स के नाम से पूजने लगे। इस पूजा ने धीरे-धीरे यज्ञ (अर्थात् देवताओं को दूध, अन्न, जीव या सोमरस चढ़ाने) का रूप धारण किया।

वैदिक काल के अन्त से इसमें धीरे-धीरे परिवर्तन होने का पता लगता है और ऐतिहासिक काव्य काल में तो यज्ञ के विधान इत्यादि इतने प्रधान हो गये कि उसकी और सब बातें भूल गईं। ब्राह्मण लोगों की एक जुदी जाति हो जाने के कारण यह परिणाम आवश्यक ही था। वे लोग विधानों को बढ़ाए जाते थे और प्रत्येक छोटी-छोटी बातों पर भी बहुत ही जोर देते थे, यहाँ तक कि ऐसा करते-करते स्वयं

वे तथा पूजा करने वाले दोनों ही इन भारी विधानों में उन देवताओं को लगभग भूल ही गए जिनकी पूजा की जाती थी।

यज्ञों में बहुधा पशुओं, सोने, गहने और अन्न के दान दिये जाते थे। पशु का बलिदान भी किया जाता था। सतपथ ब्राह्मण (१, २, ३, ७ और ८) में पशुओं के बलिदान के विषय में एक अद्भुत वाक्य है जो यहां उद्धृत करने योग्य है —

"पहले पहल देवताओं ने मनुष्य को बलि दिया। जब वह बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से निकल गया और उसने घोड़े में प्रवेश किया। तब उन्होंने घोड़े को बलि दिया। जब घोड़ा बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से निकल गया और उसने बैल में प्रवेश किया। तब उन्होंने बैल को बलि दिया। जब बैल बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से निकल गया और उसने भेंड़ी में प्रवेश किया। जब भेंड़ी बलि दी गई तो यज्ञ का तत्व उसमें से भी निकल गया और उसने बकरे में प्रवेश किया। तब उन्होंने बकरे को बलि दिया। जब बकरा बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्व उसमें से भी निकल गया और तब उसने पृथ्वी में प्रवेश किया। तब उन्होंने उसे खोजने के लिये पृथ्वी को खोदा और उसे चावल और जौ के रूपों में पाया। इसीलिये अब भी लोग इन दोनों को खोद कर तब पाते हैं। जो मनुष्य इस कथा को जानता है उसको (चावल आदि) का हव्य देने से उतना ही फल होता है जितना कि इन सब पशुओं के बलि करने से।"

प्रोफेसर मेक्समूलर ऊपर के उद्धृत भाग से यह सिद्धान्त निकालते हैं कि प्राचीन हिन्दुओं में मनुष्य बध प्रचलित था, परन्तु यह ऐतिहासिक काव्य काल अथवा वैदिक काल में नहीं, वरन् उससे भी बहुत पहले था। हमें खेद है कि डाक्टर राजेन्द्र-लाल मित्र ने भी प्रोफेसर मेक्समूलर का अनुकरण करके इसी काल के ग्रन्थों में से कुछ और वाक्य भी उद्धृत किये हैं और उनसे स्थिर किया है कि बहुत प्राचीन समय में यह अमानुषी प्रथा प्रचलित थी। हम इन दोनों विद्वानों के सिद्धान्तों में शंका करते हैं।

यदि भारतवर्ष में यह प्रथा ऋग्वेद के सूक्तों के बनने के पहले प्रचलित होती तो उसका उल्लेख उत्तर काल के ब्राह्मण ग्रन्थों से कहीं अधिक मिलता। परन्तु उनमें इसका उल्लेख ही नहीं है। ऋग्वेद में जो सुनहसेफ की कथा है वह मनुष्य बध का कोई प्रमाण नहीं हो सकती और ऋग्वेद में और कहीं भी कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिससे कि इस कथा के प्रचलित रहने का अनुमान किया जाय। यह विचार करना असम्भव है कि ऐसी भयानक प्रथा प्रचलित रह कर धीरे-धीरे उठ गई हो और

उसका कुछ भी चिन्ह उन वैदिक सूक्तों में न पाया जाय जिनमें कुछ तो बहुत ही प्राचीन समय के हैं।

फिर ऐतिहासिक काव्य काल ही के किस ग्रन्थ में इस प्रथा का उल्लेख पाया जाता है? सामवेद का संग्रह वैदिक सूक्तों ही से किया गया है और इस वेद में भी मनुष्यों के बलिदान किए जाने का कहीं वर्णन नहीं है। सिवाय इसके श्याम यजुर्वेद और मूल शुक्ल यजुर्वेद में भी इसका कहीं उल्लेख नहीं है। ऐतिहासिक काव्य काल के केवल सब से अन्तिम ग्रन्थों में अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद के खिल वा उपोद्घात में, श्याम यजुर्वेद ब्राह्मण में, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में और सतपथ ब्राह्मण के अन्तिम भाग के पहले वाले भाग में, मनुष्य का बलिदान किए जाने का हाल मिलता है। तो क्या यह सम्भव है कि यह प्रथा भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय में रही हो और उसका उल्लेख ऋग्वेद, सामवेद, श्याम या शुक्ल यजुर्वेद में कहीं न आवे और फिर एक हजार वर्ष पीछे वेदों के ब्राह्मणों और खिलों में एकाएक उसका स्मरण हो आवे? इसके विपरीत, क्या यह अधिक सम्भव नहीं है कि ऐतिहासिक काव्य काल के अंतिम ग्रन्थों में मनुष्य बलि दिए जाने के जो उल्लेख मिलते हैं वे उसी प्रकार की ब्राह्मणों की कल्पनाएँ हैं जैसा कि स्वयम् ईश्वर के बलि दिये जाने की कल्पनाएँ मिलती हैं? और यदि ब्राह्मणों को इस कल्पना में किसी सहारे की आवश्यकता हो तो वह सहारा उन्होंने उन अनार्य जातियों की रीति व्यवहार से पाया होगा, जिससे कि वे ऐति-हासिक काव्य काल में परिचित हुये थे।

अब, इस समय जो मुख्य-मुख्य यज्ञादि होते थे उनको हम संक्षेप में वर्णन करेंगे। इन यज्ञादि का पता यजुर्वेद से लगता है।

जिस दिन नवचन्द्र अथवा पूर्णचन्द्र होता था उसके दूसरे दिन दर्श पूर्णमास किया जाता था और इन दोनों दिनों को हिन्दू लोग आज तक पवित्र मानते हैं। पिण्डपितृ यज्ञ मृत पूर्वजों के लिये किया जाता था और यह आज तक भी किया जाता है।

अग्निहोत्र नित्य सन्ध्या और सबेरे किया जाता था जिसमें अग्नि को दूध चढ़ाया जाता था। चातुर्मास्य यज्ञ हर चौथे महीने किया जाता था।

अग्निष्टोम, सोम का यज्ञ होता था और अधिक सोमपान करने के प्रायश्चित में सौत्रामणि किया जाता था। बड़े-बड़े राजा लोग जब विजय करके प्रताप और कीर्ति प्राप्त कर लेते थे तो वे राजसूय यज्ञ करते थे, अश्वमेध भी बड़े-बड़े युद्धों और विजयों के पीछे किया जाता था। इन सबसे अधिक नम्र, परन्तु हमारे काम के लिये बहुत ही मुख्य, अग्न्याधान अर्थात् होमाग्नि का जलाना होता था, जिसका

कि प्रत्येक हिन्दू के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और इसलिये इसका थोड़ा-सा वर्णन यहाँ कर देना उचित है।

यह पहले कहा जा चुका है कि अश्वपति इस बात का अभिमान करता था कि उसके राज्य में कोई चोर, कृपण, शराबी, मूर्ख, व्यभिचारी व व्यभिचारिणी अथवा कोई "ऐसा मनुष्य जिसके घर में वेदी न हो" नहीं था। उन दिनों, वेदी में पवित्र होमाग्नि रखना प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक धर्म समझा जाता था और उसको न करना पाप और अधर्म समझा जाता था। जो विद्यार्थी अपने शिक्षक अथवा परिषद् में शिक्षा समाप्त करके घर लौट जाता था, तो वह यथा समय विवाह करता था और तब होमाग्नि प्रज्वलित करता था। यह प्रायः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को किया जाता था परन्तु कभी-कभी, कदाचित नवदम्पति को धर्म कार्यों में शीघ्र सम्मिलित करने के लिये, पूर्णिमा को भी किया जाता था। अग्न्याधान को करने में प्रायः दो दिन लगते थे। होम करने वाला अपने चारों विप्रों अर्थात् ब्राह्मण, होतृ, अध्वर्यु, और अग्नीध्र को चुनता था और गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियों के लिये दो अग्नि कुण्ड बनाता था। गार्हपत्य अग्नि के लिये एक वृत्त बनाया जाता था और आहवनीय अग्नि के लिये समचतुर्भुज, और यदि दक्षिणाग्नि की आवश्यकता होती थी तो उसके लिये इन दोनों के बीच की जगह के दक्षिण में एक अर्धवृत्त बनाया जाता था।

तब अध्वर्यु गांव में से कुछ विशेष रीति से अथवा रगड़ कर आग उत्पन्न करता था और गार्हपत्य के अग्नि कुण्ड को पांच प्रकार से शुद्ध करके उस पर अग्नि रखता था। सन्ध्या होने के समय होम करने वाला देवताओं और पितरों का आह्वाहन करता था। तब वह और उसकी पत्नी गार्हपत्य गृह में प्रवेश करते थे और अध्वर्यु उसे दो काठ की अरणी दूसरे दिन प्रातः काल आहवनीय अग्नि उत्पन्न करने के लिये देता था। होम करने वाला और उसकी पत्नी इनको अपनी गोद में रख कर शान्ति से क्रियाओं को करते थे और रात भर जाग कर अग्नि को जलती रखते थे। सवेरे अध्वर्यु अग्नि को बुझा देता था अथवा यदि दक्षिणाग्नि होने को होती थी तो उसके लिये अग्नि जलाने तक इसको रहने देता था। यह अग्न्याधान की रीति का सक्षेप में वर्णन हुआ। इस प्राचीन समय में जब कि सब लोग अपने-अपने अग्निकुण्ड में देवताओं की पूजा करते थे और जब मन्दिर तथा मूर्तियाँ नहीं थीं तो अग्न्याधान प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ का बड़ा आवश्यक धर्म समझा जाता था।

प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर राथ ने ऋग्वेद के एक वाक्य (१०, १८, ११) से सन् १८५४ ईसवी में पहले-पहले यह बात दिखलाई है कि प्राचीन समय में हिन्दू लोग

मुर्दों को गाड़ते थे। इसके पीछे मृतक लोग जलाये जाने लगे और उनकी राख गाड़ी जाने लगी। यह दूसरी प्रथा ऋग्वेद के समय में प्रचलित थी जिसका पता ऋग्वेद के अन्य वाक्यों (यथा १०, १५, १४ और १०, १६, १) से मिलता है। ऐतिहासिक काव्य काल में, जिसका कि हम अब वर्णन कर कर रहे हैं, मृतक को गाड़ने की चाल बिलकुल उठ गई थी, मृतक जलाये जाते थे और उनकी राख गाड़ी जाती थी। इसका वर्णन शुक्ल यजुर्वेद के ३५वें अध्याय में मिलता है। मृतक की हड्डियाँ एक बर्तन में इकट्ठी करके किसी नदी के निकट की भूमि में गाड़ दी जाती थीं और उस पर घुटने तक ऊंचा एक चबूतरा उठा कर घास से ढांक दिया जाता था। तब मृतक के सम्बन्धी स्नान करके कपड़े बदलते थे और उस स्थान से चले आते थे। इसी रीति का वर्णन अधिक विस्तारपूर्वक श्याम यजुर्वेद के आरण्यक में भी दिया है। यहाँ पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दुओं में आज कल केवल जलाने की रीति प्रचलित है, राख और हड्डियां गाड़ी नहीं जाती। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के अनुसार यह आधुनिक प्रथा ईस्वी सन् के आरम्भ के होने से कुछ ही पीछे से चली है।

दूसरा यज्ञ जो वर्णन करने योग्य है—पिण्डपितृ यज्ञ है जिसमें मृत पितरों को पिण्ड दिया जाता था। ये पिण्ड अग्नि और सोम कोदिये जाते थे और पित्तर लोगों का, उनका भाग देने के लिये आवाहन किया जाता था। तब पितरों को वर्ष की छ ऋतुओं के अनुसार सम्बोधन किया जाता था। तब पूजा करने वाला अपनी पत्नी की ओर देखकर कहता था "हे पितृगण! आपने हम लोगों को गृहस्थ बनाया है। हम लोग अपनी शक्ति के अनुसार आपके लिये ये वस्तुएँ ले आये हैं।" तब वह कुछ डोरा तथा ऊन वा बाल रखकर कहता था "हे पितृगण! यह आपका वस्त्र है, इसे पहनो" तब स्त्री पुत्र होने की इच्छा से एक पिण्ड खाती थी और कहती थी-- "हे पितर! मुझे इस ऋतु में एक पुत्र दो। तुम इस गर्भ में उस पुत्र की सब रोगों से रक्षा करो।" हिन्दूधर्म के अनुसार मृत पित्तर लोग अपनी जीवित सन्तति से पिण्ड आदि पाते हैं और उनका वंश लुप्त हो जाने पर यह उन्हें नहीं मिलता। इसीलिए हिन्दू लोग बिना पुत्र के निस्सन्तान मरने में इतना अधिक भय करते हैं और पुत्र का जन्माना अथवा गोद लेना उनके धर्म का एक भाग समझा जाता है।

हम यहाँ दूसरे यज्ञादि का वर्णन नहीं करना चाहते। जितना ऊपर लिखा जा चुका है उतने ही से पाठकगण समझ जांयेगे कि यज्ञादि किस प्रकार से होते थे। अब हम ब्राह्मणों की कुछ कथाओं का वर्णन करेंगे जो कि बहुत ही अद्भुत और रोचक हैं। मनु के विषय में एक बहुत ही अद्भुत कथा कही जाती है। वैदिक सूक्तों

में मनु मनुष्यों का प्राचीन उत्पन्न करने वाला कहा गया है जिसने कि खेती तथा अग्नि की पूजा प्रचलित की। सतपथ ब्राह्मण की कथा (१,८,१) पुरानी बायबिल की तरह है। जब मनु अपने हाथ धो रहा था तो उसके निकट एक मछली आई और बोली कि "मुझे पालो तो मैं तेरी रक्षा करूँगी।" मनु ने उसे पाला और समय पाकर उसने उससे कहा कि "अमुक वर्ष में जल प्रलय होगी। इसलिये तू मेरा कहना मान कर एक जहाज तैयार कर।" जल प्रलय हुई और मनु ने उस जहाज में प्रवेश किया जिसे कि वह यथा समय बना चुका था। मछली उसके पास तैर कर आई और जहाज को उत्तरी पर्वत के उधर ले गई। वहाँ पर वह जहाज एक पेड़ में बांध दिया गया और जल प्रलय धीरे-धीरे शान्त होने लगी तो मनु धीरे-धीरे नीचे उतरा। जल प्रलय इन सब जीवों को बहा ले गई और केवल मनु यहाँ रह गया।"

इस संसार की सृष्टि के सम्बन्ध की कथा भी बड़ी रोचक है। वेद में एक बड़ा अच्छा रूपक है जिसमें प्रभात का पीछा करते हुये सूर्य की उपमा किसी कुमारी का पीछा करते हुए पुरुष से दी गई है। इसी से ब्राह्मणों की उस कथा (सतपथ १,७,४, ऐतरेय ३, ३३ आदि) की उत्पत्ति हुई जिसमें परमात्मा प्रजापति का अपनी पुत्री पर मोहित होना और इसी से सृष्टि की उत्पत्ति होना लिखा है। ब्राह्मणों की यह कथा पुराणों में भी अधिक बढ़ा दी गई है और उनमें ब्रह्मा का अपनी पुत्री पर मोहित होना लिखा है। ये सब विचित्र कथाएँ ऋग्वेद के उसी सरल रूपक से निकली हैं जो कि प्रभात का पीछा करते हुए सूर्य के विषय में है। इन सब पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति हिन्दू ऋषियों और भाष्यकारों को मालूम भी थी जैसा कि बौद्ध धर्म के बड़े भारी विपक्षी और शङ्कराचार्य के पूर्वाधिकारी कुमारिल के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्यों से जान पड़ेगा—

यह एक कल्पित कथा है कि सृष्टि के कर्ता प्रजापति ने अपनी पुत्री के साथ प्रीति की परन्तु, इसका अर्थ क्या है? 'प्रजापति' अर्थात् 'सृष्टि का करने वाला सूर्य का एक नाम है क्योंकि वह सब जीवों की रक्षा करता है। इसकी पुत्री उषस् प्रभात है। अतएव जहाँ यह कहा गया है कि वह उस पर मोहित हो गया तो उसका तात्पर्य केवल यह है कि सूर्योदव के समय सूर्य प्रभात का पीछा करता है।' प्रभात सूर्य की पुत्री इसलिये कही गई है क्योंकि जब सूर्य निकट आता है तव वह उत्पन्न होती है। इसी भाँति यह कहा गया है कि इन्द्र अहिल्या पर मोहित हो गया इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन्द्र देवता ने ऐसा सचमुच पाप किया। परन्तु इन्द्र से सूर्य का और अहिल्या से रात्रि का तात्पर्य है। सबेरे के समय सूर्य रात्रि को मोहित करके नष्ट कर देता है, इसलिये इन्द्र का अहिल्या पर मोहित होना लिखा गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, १, ३, १) में सृष्टि की उत्पत्ति होने की एक दूसरी ही कथा लिखी है। पहले पहल सब जलमय था और उसमें से केवल एक पद्म निकला हुआ था। प्रजापति ने उसमें बराह का रूप धर कर गोता मारा और कुछ मिट्टी बाहर निकाल कर उसे फैलाया और उसे कंकड़ों के आधार पर रक्खा। यही पृथ्वी हुई।

ऐसी ही एक कथा सतपथ ब्राह्मण (२, १, १, ८) में भी लिखी है कि सृष्टि होने के पीछे देवता और असुर दोनों प्रजापति से उत्पन्न हुये और इन दोनों में प्रभुत्व पाने के लिये ऐसा युद्ध हुआ कि पृथ्वी कमल के पत्ते की तरह कांपने लगी। ऋग्वेद में "असुर" शब्द का प्रयोग विशेषण की भाँति हुआ है और उसका अर्थ है बलवान अथवा शक्तिमान। अन्तिम मण्डल के अन्त के कुछ सूक्तों को छोड़कर और सब जगह यह शब्द देवताओं के लिये आया है परन्तु ब्राह्मणों में इस शब्द का अर्थ बिलकुल ही बदल गया है अर्थात् वहाँ वह देवताओं के शत्रुओं के लिये आया है जिनके विषय में बहुत-सी नई कथाएँ गढ़ी गई हैं।

सतपथ ब्राह्मण में (२, ५, १) सृष्टि उत्पन्न होने की एक दूसरी कथा भी मिलती है। "पहले पहल निस्सन्देह यहाँ केवल प्रजापति ही था।" उसने प्राणियों, पक्षियों, कीड़ों मकोड़ों और सर्पों को उत्पन्न किया। परन्तु ये सब आहार के अभाव से मर गए। तब उसने उनके शरीर के अग्रभाग में छाती में दूध दिया जिससे कि सब जन्तु जीवित रह सके और इस प्रकार सृष्टि में पहले पहल जीव जन्तु बनाये गए॥

ऐतिहासिक काव्य काल में यद्यपि कथाएं और यज्ञादि इस प्रकार बढ़ रहे थे पर लोगों का धर्म वैसा ही था जैसा कि वैदिक काल में। ऋग्वेद के देवताओं की पूजा अब भी की जाती थी और ऋक्, सामन, और यजुस् के सूक्तों का पाठ अब तक किया जाता था। भेद केवल इतना ही था कि वैदिक काल में देवता लोगों की जितनी प्रतिष्ठा थी वह अब लोप हो गई और उसके स्थान में यज्ञ के विधानों की प्रतिष्ठा होने लगी।

परन्तु इस काल में धीरे-धीरे नए देवता भी हिन्दुओं के देवताओं की नामावली में स्थान पाते जाते थे और इन नए नामों ने आगे चल कर प्रधानता प्राप्त कर ली। हम देख चुके हैं कि सतपथ ब्राह्मण में भी 'अर्जुन' इन्द्र का दूसरा नाम है। शुक्ल यजुर्वेद ही के १६ वें अध्याय में हम रुद्र को अपना पौराणिक नाम धारण करते हुए तथा एक भिन्न रूप धारण करते हुये देखते हैं। हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद में रुद्र आंधियों का पिता अर्थात् बिजली है। शुक्ल यजुर्वेद में भी वह

बिजली उत्पन्न करने वाला मेघ कहा गया है, परन्तु वहां उसका वर्णन एक भयानक देवता की भांति किया गया है, जो कि चोरों और पापियों का देवता है और एक बिलकुल संहारक शक्ति है। वह 'गिरीश' कहा गया है क्योंकि मेघ पर्वतों के ऊपर होते हैं। वह (मेघ की रक्षा के कारण) ताम्र वा अरुण वा बभ्रु कहा गया है। वह (उसी कारण से) नीलकण्ठ वा नील गले वाला भी कहा गया है। उसका नाम 'कपर्दिन अथवा लम्बे केशवाला, 'पशु पति' अथवा पशुओं का रक्षक, 'शङ्कर' अथवा उपकारी, और 'शिव' अथवा हित करने वाला भी, मिलता है। इस प्रकार से ऐतिहासिक काव्य काल में हम रुद्र को परिवर्तन होने की अवस्था में पाते हैं और उसी काल में उसके विषय की कुछ पौराणिक कथाओं की उत्पत्ति भी दृष्टि गोचर होती है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में ये कथाएं अपने विस्तृत रूप से कहीं भी नहीं मिलती। रुद्र का पौराणिक शिव अर्थात् काली अथवा दुर्गा के पति की भांति कहीं भी वर्णन नहीं मिलता कौषीतकि ब्राह्मण में एक स्थान पर ईशान वा महादेव को बहुत ही प्रधानता दी गई है। सतपथ ब्राह्मण में निम्न लिखित वाक्य मिलते हैं—"हे रुद्र ! यह तेरा भाग है। कृपा कर इसे अपनी बहिन अम्बिका के साथ स्वीकार कर (२, ६, २, ९)।" अथर्व वेद का जो मण्डूक उपनिषद् है उसके एक प्रसिद्ध वाक्य में अग्नि की सात जिव्हाओं के ये नाम मिलते हैं अर्थात् काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूमवर्णा, स्फुलिङ्गिणी और विश्वरुपी। सतपथ ब्राह्मण (२, ४, ४, ६) में दक्ष पार्वती के एक यज्ञ करने का वर्णन है और केनोपनिषद् में एक उमा हेमवती नाम की स्त्री का वर्णन है जिसने कि इन्द्र के सामने आकर उसे ब्रह्म ज्ञान दिया। ये ब्राह्मण ग्रन्थों के उन वाक्यों के कुछ उदाहरण दे दिए गए जिनसे कि पुराण में शिव और उसकी पत्नी के विषय में इतनी भारी कथा गढ़ी गई है।

ऐतरेय ब्राह्मण (६, १५) और सतपथ ब्राह्मण (१, २, ५) में यह कथा है कि देवताओं ने असुरों से पृथ्वी का उतना भाग ले लिया जितना कि विष्णु ढँक सके और इस प्रकार से उन्होंने सारी पृथ्वी ले ली। सतपथ ब्राह्मण की अन्तिम पुस्तक में जाकर तब कहीं विष्णु ने और सब देवताओं से अधिक श्रेष्ठता पाई है और तब इन्द्र ने उसका सिर काट लिया। देवकी के पुत्र कृष्ण की तब तक भी देवताओं में गणना नहीं थी, वह छान्दोग्य उपनिषद में घोर आङ्गिरस का केवल एक शिष्य है (२, १७, ६)।

जिस प्रकार से इन इधर-उधर फैले हुए उल्लेखों में उन लम्बी चौड़ी पौराणिक कथाओं की रचना की सामग्री पाई जाती है जो कि आगे चलकर हुई, वैसे ही ऐतिहासिक काव्य काल में ब्राह्मणों के विधानों और धर्म में उस अविश्वास के भी

चिन्ह दिखाई देते हैं जो कि आगे चल कर बौद्ध सिद्धान्तों के रूप में प्रगट हुए। सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण में व्रात्य-स्तोम दिये हुए हैं जिनसे व्रात्य लोग (अर्थात् वे लोग जो ब्राह्मणों की रीत से नहीं रहते थे) उस सम्प्रदाय में सम्मिलित हो सकते थे। उनमें से कुछ इस प्रकार से हैं—वे खुले हुये युद्ध के रथों पर सवारी करते हैं, धनुष और भाले साथ रखते हैं, पगड़ी, ढीले ढाले लाल किनारे वाले कपड़े, जूता और दोहरी भेड़ी की खाल पहनते हैं, उनके नायक लोग भूरे कपड़े और गले में चांदी के गहने पहनते हैं, वे न तो खेती करते हैं और न वाणिज्य, उनके कानून भी बहुत ही गड़बड़ हैं, वे ब्राह्मणों के संस्कार पाये हुए लोगों की ही भाषा बोलते हैं, परन्तु जिसका उच्चारण सहज में हो सकता है उसे उच्चारण में कठिन बतलाते हैं।" परन्तु व्रात्य तब तक घृणा की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे और प्रष्ण उपनिषद् में स्वयम् परमेश्वर व्रात्य कहा गया है।

— ———

सोलहवां अध्याय

उपनिषदों का धर्मपथ

ब्राह्मणों के विधानों और कथाओं को छोड़ कर उपनिषदों के प्रबल विचारों का उल्लेख करना तनिक सुखद है। बृहद ब्राह्मणों में जो बड़े-बड़े, परन्तु निरर्थक विधान हैं, जो निर्देशरूप परन्तु बालोचित व्याख्यान हैं, जो गुप्त और हंसने योग्य उक्तियां हैं, उनसे लोगों को कुछ असन्तोष सा जान पड़ता है। बुद्धिमान लोग बिचारने लगे कि क्या धर्म में यही सब शिक्षा हो सकती है, एकाग्रचित पुरुष यद्यपि ब्राह्मणों के विधानों के अनुसार चलते थे पर वे आत्मा के उद्देश्य तथा परमात्मा के विषय में विचार करने लगे। अवश्यमेव विद्वान क्षत्रियों ही ने इन उत्तम विचारों को चलाया होगा वा कम से कम तब तक तो उन्हें पौरुष और सफलता के साथ अवश्य ही चलाया होगा जब तक कि ब्राह्मणों ने इस नए सम्प्रदाय का कुछ ज्ञान न प्राप्त कर लिया हो। इन उपनिषदों में दिए हुए धर्म पथ की प्रबलता, एकाग्रता, और दर्शनिकता ऐसी है कि यद्यपि उनको तीन हजार वर्ष हो गए परन्तु अब तक भी यह असम्भव है कि उनके देखने से आश्चर्य न हो। इनमें से सबसे मुख्य ये हैं (१) सर्वगत आत्मा का सिद्धान्त (२) सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त (३) आत्मा के

पुनर्जन्म का सिद्धान्त और (४) अन्तिम मुक्ति पाने का सिन्द्धान्त।

पहले पहल हम सर्वगत आत्मा का सिद्धान्त वर्णन करेंगे जो कि उपनिषदों के दर्शन शास्त्र की जड़ है। यह सिन्द्धात उत्तर काल के अद्वैतवाद से कुछ भिन्न है क्योंकि इस अद्वैतवाद में सृष्टिकर्ता ईश्वर अपनी रचीहुई सृष्टि से अलग समझा जाता है। परन्तु उपनिषदों के अद्वैतवाद में जो सदा से हिन्दू धर्म का एकेश्वरवाद सिद्धान्त रहा, ईश्वर सर्वात्मा समझा गया है अर्थात् सब वस्तुएँ इसी से उत्पन्न हुई हैं, उसी की अंश हैं और अन्त में उसी में मिल.जायगी, किसी वस्तु का उससे भिन्न जीवन नहीं है। यही शिक्षा सत्यकाम जबालि ने प्रकृति से पाई थी और इसी शिक्षा को याज्ञवल्क्य ने अपनी अपनी प्यारी और माननीय स्त्री मैत्रेयी को दिया था। यही शिक्षा उपनिषदों में सैकड़ों रुपकों, कहानियों और उत्तम कथाओं में वर्णित है जो कि उपनिषदों को सारे संसार के ग्रन्थों में सबसे श्रेष्ठ बनाती हैं।

यह सब ब्रह्म है। मनुष्य को इस संसार की उत्पत्ति, नाश और स्थिति उसी ब्रह्म के रूप में बिचारनी चाहिए...।

वह सर्वज्ञ, जिसका शरीर आत्मा है, जिसका रूप ज्योति है, जिसके विचार सत्य हैं, जो आकाश की भाँति (अर्थात् सर्वव्यापी और अदृश्य) है, जिससे सब कर्म, इच्छाएँ, सब सुगन्धि और स्वाद उत्पन्न होते हैं, जो इन सभों में व्याप्त है और जो कभी बोलता नहीं और न कभी आश्चर्य करता है।

वही मेरे हृदय के भीतर मेरी आत्मा है, जो कि चावल के दाने से छोटी, यव के दाने से छोटी, सरसों के दाने से छोटी, कनेरी के दाने से छोटी और कनेरी के दाल के दाने से भी छोटी है। वही मेरे हृदय के भीतर की आत्मा है जो कि पृथ्वी से बड़ी, आकाश से बड़ी, स्वर्ग से बड़ी और इन सब लोकों से भी बड़ी है।

वह जिससे सब कार्य, सब इच्छाएँ, सब सुगन्धि और स्वाद उत्पन्न होते हैं, जो सब में व्याप्त है, जो कभी बोलता नहीं और न आश्चर्य करता है, वही मेरे हृदय के भीतर की आत्मा ब्रह्म है। जब मैं इस संसार से कूच करूँगा तब उसे प्राप्त करूँगा। (छान्दोग्य ३, १४)

प्राचीन समय के हिन्दू लोगों ने सूक्ष्म और सर्वव्यापी परमात्मा के विषय के जिसे कि वे ब्रह्म कहते थे, अपने उच्च विचारों को ऐसी उच्च भाषा में प्रगट किया है।

हम यहाँ छान्दोग्य के कुछ और उदाहरण उद्धृत करेंगे। हम पहले देख चुके हैं कि स्वेतकेतु अपने गुरु के साथ बारह वर्ष की अवस्था से लेकर चौबीस वर्ष की अवस्था तक रहा और तब "सब वेदों का अध्ययन करके ज्ञानी तथा अपने को पंडित

और दृढ़ समझता हुआ" घर लौट आया। परन्तु अब तक भी उसे कुछ बातें सीखनी बाकी थीं जो कि उस समय की पाठशालाओं में नहीं सिखाई जाती थीं। अतएव उसके पिता उद्दालक आरुणेय ने उसे सुन्दर रूप को परमात्मा के ज्ञान की शिक्षा दी -

हे पुत्र, जिस प्रकार मधुमक्खियाँ दूर-दूर के वृक्षों के रस इकट्ठा करके मधु बनाती हैं और इन रसों को एक रूप में कर देती हैं और जिस प्रकार से इन रसों में कोई विवेक नहीं रहता जिससे कि ये कहें कि मैं इस वृक्ष का रस हूँ और मैं उस वृक्ष का, उसी प्रकार ये सब जीव जब परमात्मा में मिल जाते हैं तो उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि हम परमात्मा में मिल गए......।

हे पुत्र, ये नदियाँ बहती हैं, पूर्वी नदी (जैसे गङ्गा) पूरब की ओर और पश्चिमी (जैसे सिन्ध) पश्चिम की ओर। वे समुद्र में से ही समुद्र में जाती हैं (अर्थात् मेघ समुद्र के जल को आकाश में उठा कर फिर उसे वृष्टि के रूप में समुद्र ही में भेजता है) और वास्तव में समुद्र ही हो जाती हैं, और जिस प्रकार से ये नदियाँ समुद्र में जाने के पीछे यह नहीं समझतीं कि मैं यह नदी हूँ और मैं वह नदी हूँ, वैसे ही ये सब जीव परमात्मा ही से उत्पन्न होकर यह नहीं जानते कि हम परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं......।

"त्र इस नमक को पानी में डाल दो और हमारे पास सवेरे आओ।"

पुत्र ने जैसी आज्ञा पाई वैसा ही किया। पिता ने उससे पूछा 'कल रात को जो नमक तुमने पानी में डाला था उसे मुझको दो।' पुत्र ने उसे ढूंढा पर न पाया, क्योंकि निस्सन्देह वह गल गया था।

पिता ने कहा 'इस जल को ऊपर से चखो। कहो, कैसा है।' पुत्र ने उत्तर दिया 'यह खारा है।' 'इसे बीच में से चखो। कहो, कैसा है ?' पुत्र ने उत्तर दिया 'खारा है।' उसे पेंदे से चखो। कैसा है ?' पुत्र ने उत्तर दिया 'खारा है।' पिता ने कहा 'इसे फेंक कर मेरे पास आओ।'

पुत्र पिता के पास गया और पिता ने उसे उपदेश दिया कि 'जल में जिस प्रकार से नमक था उसी से हम लोगों में परमात्मा रह कर अदृश्य है। (छान्दोग्य ६)

छान्दोग्य के इन वाक्यों से हमको परामात्मा के विषय में हिन्दुओं के विचार प्रगट होते हैं। अब हम केन और ईस में से दो तीन वाक्य उद्धृत करेंगे—

शिष्य ने पूछा "यह मन किसकी इच्छा से भेजा जाकर अपने कार्य में लगता है ? किसकी आज्ञा से पहले पहल सांस निकलती है ? किसकी इच्छा से हम लोग बोलते हैं। कौन देवता आख और कान का अधिष्ठाता है ?

गुरु उत्तर देता है—"वह कान का कान, मन का मन, वाणी की वाणी, स्वांस का स्वांस और आंख की आंख है...।

वह जिसका वर्णन वाणी नहीं कर सकती परन्तु उसी से वाणी वर्णन करती है...वह जिसे मन नहीं सोच सकता परन्तु जिससे मन सोचा जाता है...वह जो आंख से नहीं देखा जा सकता परन्तु जिससे आंख देखती है...वह जो कान से नहीं सुना जाता और जिससे कान सुना जाता है...वह जो स्वांस नहीं लेता और जिससे स्वांस लिया जाता है,—केवल वही ब्रह्म है, न कि वह जिसे लोग यहां पूजते हैं।

(केन उपनिषद् १)

ऊपर के वाक्य में कौन नहीं देखेगा कि उन निरर्थक विधानों के बन्धनों को दूर करने का यत्न किया गया है जिसे कि ब्राह्मण लोग सिखाते थे और "लोग यहां" करते थे तथा समझ में न आने वाले अर्थात् स्वांस के स्वांस और आत्मा की आत्मा के उच्चतम विषय के समझने का उद्योग किया गया है ? तीन हजार वर्ष पहले हिन्दू जाति ने अज्ञात सृष्टिकर्ता को जानने और ध्यान में न आने वाले ईश्वर को ध्यान में लाने का साहस के साथ जो उद्योग किया था उससे कौन आश्चर्य न करेगा ?

और जिसने ध्यान में आने वाले ईश्वर के विषय में कुछ भी समझ लिया है उसे जो आनन्द प्राप्त होता है वह बहुत अच्छी तरह से वर्णन किया गया है।

वह जो आत्मा ने सब प्राणियों की और सब प्राणियों में आत्मा को देखता है वह उससे कभी विमुख नहीं होता।

जब कोई ज्ञानी सब चीजों में आत्मा को समझने लगता हो तो फिर जिसने इस एकता को एक बार समझ लिया है उसे क्या कोई शोक अथवा कष्ट हो सकता है।

उस आत्मा ने जो प्रदीप्त, निराकार, अक्षत, स्नायुरहित, पवित्र, पाप से अस्पृष्ट, सर्वदर्शी, बुद्धिवान सर्वस्थायी और स्वयं है, सब बातों को सदा के लिये ठीक-ठीक निर्धारित किया है।

अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद में लिखा है कि सब देवता आत्मा वा पुरुष के ही स्वरूप हैं "क्योंकि वही सब देवता है" (१, ४, ६) और साथ ही इसके वह सब मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र में भी है (१, ४, १५)

हमने इस विषय में जो भाग उद्धृत किए हैं वे कुछ लम्बे चौड़े हैं परन्तु इसके लिए हमारे पाठकों को ऊबना नहीं पड़ेगा क्योंकि आत्मा का सिद्धान्त हिन्दू धर्म की जड़ है और इसलिये यह जानना आवश्यक है कि यह विचार भारतवर्ष में उपनिषदों में पहले पहल कैसे परिपक्व हुआ। अब हम दूसरे मुख्य सिद्धान्त अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त का वर्णन करेंगे।

इन प्राचीन विद्वानों के लिये सृष्टि की उत्पत्ति अभी तक एक गूढ़ विषय था इसलिये उसका वर्णन करने के जो यत्न किए गए वे अवश्य ही बड़े विचित्र और कल्पित थे। यहां पर हम कुछ वाक्य उद्धृत करेंगे—

"आदि में यह नहीं था। जब यह बढ़ा तब उसका अस्तित्व हुआ। वह एक अण्डे के रूप में हो गया। अण्डा एक वर्ष तक रहा। फिर अण्डा फूटा। इसके जो दो टुकड़े हुए उनमें एक चांदी का दूसरा सोने का था।

चांदी वाले टुकड़े की पृथ्वी और सोने वाले टुकड़े का आकाश, मोटी झिल्ली पर्वत और पतली झिल्ली के कोहिरे और मेघ, छोटी-छोटी नसों की नदियां और द्रव भाग का समुद्र बन गया।

और जो कुछ उससे उत्पन्न हुआ वह आदित्य अर्थात् सूर्य था। जब वह उत्पन्न हुआ तो जय-जय की ध्वनि होने लगी और उसी के साथ सब जीवों की तथा उन्हें जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी उनकी भी उत्पत्ति हुई। (छान्दोग्य ३, १९)

उसी उपनिषद् (६, २) में एक दूसरा भी वर्णन दिया है जिसमें लिखा है कि "आदि में केवल वही एक था जो कि अद्वैत है।" उससे अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से पानी और पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

ऐतरेय आरण्यक में लिखा है कि प्राण अर्थात् विश्वप्राण ने इस संसार को रचा और फिर उसमें इस बात पर विचार किया है कि संसार किन वस्तुओं से बना। ऋग्वेद (१०,१२९) के तथा यहूदी लोगों के सृष्टि उत्पन्न होने के वर्णन के अनुसार जल ही इसका प्रथम तत्व है।

क्या वह सचमुच पानी था? क्या वह पानी था? हां वास्तव में यह सब पानी था। पानी ही जड़ थी और पृथ्वी उसका अंकुर हुआ। वह जीव पिता है और वे (पृथ्वी अग्नि आदि) पुत्र है। महिदास ऐतरेय इस सिद्धान्त को जानता था। (२, १,८, १)

उसी उपनिषद् के दूसरे स्थान में सृष्टि की उत्पत्ति का नीचे लिखा वर्णन दिया है—

आदि में निस्सन्देह केवल एक आत्मा थी। उसके सिवाय और कुछ नहीं देख पड़ता था और उस आत्मा ने पानी (स्वर्ग के ऊपर) उत्पन्न किया जो कि आकाश है, नाशवान जीव जो कि पृथ्वी है और पृथ्वी के नीचे जल उत्पन्न किया। उसने तब पुरुष बनाया और उस पुरुष सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

इनमें से कुछ उद्धृत भागों में से किसी में तो एक आदि कर्त्ता, अर्थात् प्राण आत्मा या स्वयं को और किसी में एक तत्व अर्थात् पानी वा अग्नि को, सृष्टि का कारण माना है। हम आगे चल कर दिखलावेंगे कि आदि आत्मा वा आदि तत्व का

यह सिद्धान्त उत्तर काल के हिन्दुओं के वेदान्त में किस प्रकार से बढ़ाया गया है। अब हम पुनर्जन्म के बड़े प्रधान सिद्धान्त का वर्णन करेंगे। यह सिद्धान्त हिन्दुओं के लिये वैसा ही है जैसा कि ईसाइयों के लिये पुनरुजीवन का सिद्धान्त। इसाई लोगों का यह विश्वास है कि हमारी आत्माएं मृत्यु के पीछे दूसरी अवस्था में रहेंगी, परन्तु हिन्दुओं का यह विश्वास है कि हमारी आत्माएं पहले भी दूसरी अवस्था में रह चुकी हैं और फिर मृत्यु के पीछे दूसरी अवस्था में रहेगी।

इसका मुख्य विचार वही हैं जो कि हिन्दू धर्म का मुख्य सिद्धान्त माना गया है अर्थात् यह कि अच्छे कर्म करने से आने वाले जन्म में उनका अच्छा फल मिलता है, परन्तु परमात्मा में लीन हो जाना, केवल सच्चे ज्ञान से प्राप्त होता है। "जिस प्रकार से इस संसार में जो कुछ परिश्रम कर के उपार्जन किया जाता है उसका क्षय हो जाता है उसी प्रकार से इस संसार में यज्ञ तथा अच्छे कर्मों द्वारा उस संसार के लिये जो कुछ प्राप्त किया जाता है उसका भी क्षय हो जाता है। जो लोग परमात्मा और उन सच्ची इच्छाओं का ज्ञान बिना प्राप्त किए ही इस संसार से उठ जाते हैं वे किसी लोक में भी मुक्ति नहीं पाते। (छान्दोग्य ८, १, ६)

पुनर्जन्म का सिद्धान्त बृहदारण्यक में बहुत अच्छी तरह से तथा पूरी तरह से वर्णन किया गया है। हम यहाँ पर उस उपनिषद् का कुछ भाग उद्धृत करेंगे—

जिस प्रकार से कीड़ा किसी घास के पत्ते के अन्त तक पहुँच कर दूसरे पत्ते पर जाने के लिये अपने को बटोर के उस पर जाता है उसी प्रकार से आत्मा इस शरीर को छोड़ कर तथा सब अज्ञान को दूर करके दूसरे शरीर में जाने के लिये अपने को बटोर कर उसमें जाती है।

और जिस प्रकार से सोनार सोने के किसी टुकड़े को लेकर उसका एक नया और अधिक सुन्दर रूप बना देता है उसी प्रकार से आत्मा इस शरीर को छोड़ कर और सब अज्ञान को दूर करके अपने लिये एक नया और अधिक सुन्दर रूप बनाती है। चाहे वह रूप पितरों का हो, चाहे गन्धर्वों का, चाहे देवों का चाहे प्रजापति का, चाहे ब्रह्म के सदृश वा चाहे अन्य किसी की भाँति हो...।

यह सब तो उस मनुष्य के लिये हुआ जो इच्छा रखता है। परन्तु जो मनुष्य कोई इच्छा नहीं रखता, इच्छाओं से मुक्त तथा अपनी इच्छाओं में सन्तुष्ट है वा केवल परमात्मा ही की इच्छा रखता है, उसकी आत्मा और कहीं नहीं जाती, ब्रह्म हो कर वह ब्रह्म ही में जाती है...।

और जिस प्रकार से सांप की केचुली किसी टीले पर छोड़ी हुई मृत पड़ी

रहती है उसी प्रकार से शरीर रह जाता है, परन्तु उस शरीर से पृथक हुई अमर आत्मा केवल ब्रह्म और केवल प्रकाश ही है।

अब अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त को लीजिए। प्राचीन हिन्दुओं के ग्रन्थों में उन अंशों से उच्चतम और कोई बात नहीं है जिनमें उन लोगों ने बड़े उत्सुक हो कर यह आशा और विश्वास प्रगट किया है कि सब कलङ्कों और पापों से रहित तथा शरीर से अलग हुई आत्मा अन्त को परमात्मा में इस प्रकार से मिल जायगी जैसे कि प्रकाश में प्रकाश मिल जाता है। हम यहां बृहदारण्यक से एक अंश उद्धृत करते हैं—

वह जो शान्त, दबा हुआ, सन्तुष्ट, सहनशील और एकाग्रचित्त होकर आत्मा में अपने को देखता है वह आत्मा में सब वस्तुओं को देखता है। पाप उसे नहीं जीतता, वही सब पापों को जीत लेता है। पाप उसे नहीं जला सकता, वही सब पापों को जला देता है। सब पापों, कलंकों और सन्देहों से रहित होकर वह सच्चा ब्रह्म हो जाता है और ब्रह्म लोक में प्रवेश करता है।

इसी अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त को मृत्यु ने नचिकेतस् से एक उपनिषद के उस सुन्दर कविता में वर्णन किया है जो 'कथा' के नाम से प्रसिद्ध है। हम अब इसी उपनिषद का एक अंश, जो कि पवित्रता और कल्पना शक्ति की एक बहुत ही सुन्दर रचना है, उद्धृत करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

नचिकेतस् के पिता ने उसे मृत्यु को सौंप दिया और उसने यम वैवस्वत के निवास स्थान में प्रवेश किया और उससे तीन वर मांगे जिनमें से अन्तिम यह था—

जब मनुष्य मर जाता है तो यह शङ्का रहती है—कोई कहता है कि वह है और कोई कहता है वह नहीं है। यह मैं तेरे ही मुख से जानना चाहता हूँ यही मेरा तीसरा वर है।

परन्तु मृत्यु अपने भेद प्रगट करना नहीं चाहता था, इसलिए उसने नचिकेतस् से दूसरे-दूसरे वर मांगने के लिए कहा।

ऐसे पुत्रों और पौत्रों को मांग जिनकी आयु सौ-सौ वर्ष की हो। गाय, हाथी, घोड़े और सोना मांग। पृथ्वी पर बहुत काल तक का निवास मांग और जितने वर्ष तक तेरी इच्छा हो, जीवित रह।

यदि तू इसके समान और किसी वर की सोच सकता हो तो धनी और दीर्घ जीवी होने का वर माँग। हे नचिकेतस् सारी पृथ्वी का राजा हो। मैं तेरी सब इच्छाएँ पूरी कर सकता हूँ।

मृत्युलोक में जिन-जिन कामनाओं का पूरा होना कठिन है उनमें से जो तेरी

इच्छा हो माँग। ये सुन्दर कुमारियाँ जो कि अपने रथ और बाजे लिए हैं, निस्सन्देह मनुष्यों को ये प्राप्त नहीं होतीं। मैं इनको तुझे देता हूँ, इनकी सेवा का सुख माँग, परन्तु मुझसे मरने के विषय में मत पूछ।

नचिकेतस् ने कहा—हे मृत्यु, ये सब वस्तुएं केवल कल तक टिकेंगी, क्योंकि ये सब इन्द्रियों के बल को नाश कर देती हैं। समस्त जीवन भी थोड़ा है। तू अपने घोड़े और अपना नाच गाना अपने ही पास रख।

धर्मात्मा जिज्ञासु के इतने आग्रह करने पर मृत्यु ने अन्त को अपना बड़ा भेद प्रगट कर दिया। यह वही भेद है जो कि उपनिषदों का सिन्द्धान्त तथा हिन्दू धर्म का सिद्धान्त है—

वह बुद्धिमान है जो अपनी आत्मा का ध्यान करके उस आदि ब्रह्मको जान लेता है जिसका दर्शन कठिन है, जिसने अन्धकार में प्रवेश किया है, जो गुफा में छिपा है, जो गम्भीर गर्त में रहता है—वह निस्सन्देह सुख और दुःख को बहुत दूर छोड़ देता है।

एक नाशवान जीव जिसने यह सुना और माना है, जिसने उससे सब गुणों को पृथक कर दिया है और जो इस प्रकार उस सूक्ष्म आत्मा तक पहुँचा है, प्रसन्न होता है कि उसने उसे पा लिया जो आनन्द का कारण है। हे नचिकेतस् मैं विश्वास करता हूँ ब्रह्म का स्थान खुला है।

ऐसा कौन है जो आज कल भी पुरातन काल के इन शुद्ध प्रश्नों और पवित्र विचारों को पढ़कर अपने हृदय में नये भावों का उदय न अनुभव करता हो, अपनी आंखों के सामने नया प्रकाश न पाता हो। अज्ञात भविष्य का रहस्य मनुष्य की बुद्धि या विद्या से कभी प्रगट न होगा किन्तु प्रत्येक देशहितैषी हिन्दू और विचारवान पुरुष के लिये इस रहस्य को जानने के लिये जो प्रारम्भ में पवित्र उत्सुक और शुद्ध दार्शनिक भाव से उद्योग किए गए थे उनमें सदा अनुराग वर्तमान रहेगा।

प्रसिद्ध जर्मन लेखक और दार्शनिक स्कोपनहार ने ठीक लिखा है, "प्रत्येक पद से गहरे, नवीन और विचार उत्पन्न होते हैं। सब में उत्कृष्ट पवित्र और सच्चे भाव वर्तमान हैं। भारतीय वायु मंडल हमें घेरे हुये है और अनरूप आत्माओं के नवीन विचार भी हमारे चारों ओर हैं। समस्त संसार में मूल पदार्थों को छोड़ कर किसी अन्य विद्या का अध्ययन ऐसा लाभकारी और हृदय को उच्च बनाने वाला नहीं हैं जैसा कि उपनिषदों का। इसने मेरे जीवन को शान्ति दी है और यह मृत्यु के समय भी मुझे शान्ति देगा।"

सत्रहवाँ अध्याय

दार्शनिक काल

[ईसवी १००० वर्ष पूर्व से ३२० वर्ष पूर्व ईसवी तक]

इस काल का साहित्य

तीसरे युग में हिन्दुओं के स्वभाव में अन्तर हो गया और इस अन्तर की झलक भारतवर्ष के सूत्रग्रन्थों में मिलती है। ऐतिहासिक काव्य काल में हिन्दुओं की अन्तिम दक्षिणी सीमा विन्ध्य पर्वत थी पर अब उन लोगों ने इस पर्वत श्रेणी को पार किया और वे मध्य भारतवर्ष के जंगलों में घुसे और उन्होंने गोदावरी और कृष्णा के तटों पर बड़े-बड़े राज्य स्थापित किये जो कि समुद्र तट तक फैले हुए थे। पूरब में मगध का राज्य बड़ा प्रबल हुआ वहाँ से लोग बंगाल और उड़ीसा में जाकर बसे और पश्चिम में सौराष्ट्र का राज्य अरब के समुद्र तक फैल गया। हिन्दुओं के इस फैलाव का प्रभाव उनके स्वभाव पर भी पड़ा। वे अधिक साहसी हो गए और उनके विचार अधिक विस्तृत हो गए। प्राचीन समय से जो कुछ साहित्य यथाक्रम वंश परम्परा में रहा वह संक्षिप्त और प्रायोगिक रूप में लाया गया और विज्ञान के सब विभागों में उस साहस के साथ आविष्कार किए गए जो कि नए अन्वेषियों और विजेताओं में स्वभाविक होता है।

इस समय के साहित्य ने जो रूप धारण किया था उसी से इस काल की प्रायोगिक वृति प्रगट होती है कि सब विद्या, सब शास्त्र और सब धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों को संक्षिप्त करके पुस्तकें बनाई गईं। जिस प्रकार से ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्द बाहुल्य प्रधान है, उसी तरह सूत्रग्रन्थों में संक्षिप्त होना ही विशेष बात है। वास्तव में ग्रन्थकार लोग एक ओर की हद से दूसरी ओर की हद पर चले गए अर्थात् कहाँ तो उनके लेखों में इतना शब्द बाहुल्य होता था और कहाँ इतने संक्षिप्त सूत्रों में ही वे लिखने लगे। सूत्रों के विषय में यह कहावत बहुधा कही जाती है कि "ऋषियों को अर्द्धह्रस्व स्वर ही को कम कर देने में इतनी प्रसन्नता होती थी जितनी कि एक पुत्र के जन्म में होती है।"

इतने अधिक संक्षिप्त ग्रन्थों के बनने का एक प्रधान कारण यह था कि बालक विद्यार्थियों को बचपन में ये सूत्र रटाए जाते थे। आर्य बालक लोग आठ, दस या बारह वर्ष की अवस्था में किसी गुरू को करते थे और बारह वर्ष अथवा इससे अधिक समय तक वे गुरु ही के यहाँ रहते थे। उनकी सेवा करते थे। उनके लिये भिक्षा मांगते थे और अपने पुरखाओं के धर्म को नित्य कण्ठाग्र करके सीखते थे। अतएव विस्तृत ब्राह्मणों के संक्षिप्त छोटे-छोटे ग्रन्थ बनाए गए, जिसमें वे सुगमता से पढ़ाये और कण्ठाग्र किए जा सकें। इस प्रकार से प्रत्येक सूत्रचरण अर्थात् प्रत्येक पाठशालाओं के जुदे-जुदे सूत्रग्रन्थ तैयार हो गये। इन सूत्रों के बनाने वालों में से बहुतों के नाम हम लोगों को विदित हैं। जिस प्रकार वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ ईश्वरकृत माने जाते हैं, उसी प्रकार सूत्रग्रन्थ नहीं कहे जाते वरन ये मनुष्य के बनाए हुए स्वीकार किए जाते हैं। भारतवर्ष में जो ईश्वरकृत ग्रन्थ कहे जाते हैं उनकी समाप्ति उपनिषदों से होती है जो कि ब्राह्मणों के उत्तर काल के भाग है।

जब एक बार सूत्र बने तो इस प्रणाली का प्रचार भारतवर्ष में बहुत शीघ्र फैल गया और सूत्र चरण बढ़ने लगे। चारण्यव्यूह से ऋग्वेद के ५ चरण, कृष्ण-यजुर्वेद के २७ चरण, शुक्लयजुर्वेद के १५, सामवेद के १२, और अथर्ववेद के ९ चरण लिखे हैं। प्रत्येक सूत्र चरण के जुदे-जुदे सूत्रग्रन्थ रहे होंगे और जिस चरण के जो अनुयायी थे वे भारतवर्ष के चाहे किसी भाग में क्यों न रहते हों पर उसी चरण के सूत्र पढ़ते थे और उसे ही विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इस प्रकार से धीरे-धीरे भारतवर्ष में इन सूत्र ग्रन्थों का एक वृहद भण्डार हो गया। पर दुःख का विषय है कि इन बहुत से चरणों में जो बहुत से सूत्र ग्रन्थ बने और पढ़ाए जाते थे उनमें से अब बहुत ही थोड़े हम लोगों को प्राप्त हैं। जो दशा ब्राह्मण ग्रन्थों की है वही सूत्र ग्रन्थों की भी है कि प्राचीन संस्कृत भण्डार में से केवल गिनती के ग्रन्थ अब बच रहे हैं। अब हम शीघ्रता से उन शास्त्रों की आलोचना कर जाँयगे जिन्होंने धीरे-धीरे सूत्रों का रूप धारण किया और पहले हम धर्म शास्त्र को लेंगे जिनमें वैदिक बलि-दानों के सम्बन्ध की रीतियों के विस्तार पूर्वक वर्णनों के संक्षिप्त ग्रन्थ बनाये गये जो स्रौतसूत्र कहे जाते हैं। उन स्रौतसूत्रों में से ऋग्वेद का दो सूत्र अर्थात् आस्व-लायन और साङ्खायन, सामवेद के तीन अर्थात् मासक, लात्यायन और द्राह्मयन; कृष्णयजुर्वेद के चार अर्थात् बौद्धायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशिन और शुक्लयजुर्वेद के पूरे-पूरे प्राप्त हैं। इन स्रौतसूत्रों का वर्णन हमारे पाठकों को रोचक न होगा फिर भी इनके विषय में कुछ बातें उल्लेख करने योग्य हैं।

आस्वलायन प्रसिद्ध सौनक का शिष्य कहा जाता है और ऐसा कहा जाता है कि

इन गुरु और शिष्य दोनों ने मिलकर ऐतरेय आरण्यक की अन्तिम दो पुस्तकें बनाई। इस बात से यह मनोहर वृत्तान्त विदित होता है कि सबसे पहले के सूत्र ग्रन्थों का ऐतिहासिक काव्य काल के ब्राह्मणों की अन्तिम दो पुस्तकों से लगाव है।

वास्तव में सौनक ऐतिहासिक काव्य काल में एक ध्यान के योग्य व्यक्ति है। यह कहा जाता है कि वही पूर्व जन्म में गृत्समद था जो ऋग्वेद की द्वितीय पुस्तक का वक्ता था। इससे कदाचित् यह अनुमान किया जा सकता है कि सौनक उसी के कुल में हुआ था जिस कुल ने ऋग्वेद को कई शताब्दियों तक रक्षित रक्खा था। फिर जनमेजय के प्रसिद्ध अश्वमेध में भी हम इन्हीं सौनक को पुरोहित के रूप पाते हैं। इससे हम लोग यह निश्चय कर सकते हैं कि ऐतिहासिक काव्य काल में सौनक वंश प्रसिद्ध पुरोहितों और विद्वानों का एक कुल था। आश्चर्य नहीं कि सब से पहले के सूत्रों के बनाने वाले इस पूज्य कुल से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहते हों।

यह अनुमान किया जाता है कि साङ्खायन स्रौतसूत्र भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का है तथा आस्वलायन पूर्वी भाग का।

सामवेद के मासक स्रौत सूत्र में भिन्न-भिन्न विधानों के भजनों का उल्लेख है और लात्यायन में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत दिये हैं। ये दोनों सूत्र सामवेद के बृहत ताण्ड्य तथा पञ्चविंश ब्राह्मण से सम्बन्ध रखते हैं।। द्राह्यायन में लात्यायन से बहुत थोड़ा अन्तर है। कृष्णयजुर्वेद के सूत्र उनके लिखे जाने के समय के अनुसार इस क्रम में रक्खे गए हैं अर्थात् बौद्धायन, भारद्वाज, आपसतम्ब, और हिरण्यकेशिन्। अप्राप्य भारद्वाज सूत्र का उद्धार करने वाले डाक्टर बुहलर साहब ने यह बहुत ठीक कहा है कि बौद्धायन और आपस्तम्ब के समयों में दशाब्दियों का नहीं वरन् शताब्दियों का अन्तर है। उन्होंने आपस्तम्ब के धर्म सूत्र का जो अनुवाद किया है उसकी बहुत ही उत्तम भूमिका में वे लिखते हैं कि सन् ईस्वी के पहले दक्षिणी भारतवर्ष में एक प्रबल हिन्दू राज्य अर्थात् आन्ध्रों का राज्य स्थापित हो गया था, इस राज्य की राजधानी कृष्णा नदी के तट पर आज कल की अमरावती के निकट कहीं पर थी। इसी राजधानी में सम्भवतः आपस्तम्ब ने जन्म लिया अथवा यहाँ पर वह आकर बसा और यहीं उसने अपना सूत्र चरण स्थापित किया और उसका समय ईसा के पहले तीसरी शताब्दी के उपरान्त नहीं रक्खा जा सकता। आपस्तम्ब ने केवल छ वेदाङ्गों का ही नहीं वरन् पूर्व मीमांसा और वेदान्त लेखकों का भी उल्लेख किया है जिससे कि हम यह निश्चय करते हैं कि उसके समय के पहले भारतवर्ष में दार्शनिक लेखकों ने अपना काम प्रारम्भ कर दिया था।

शुक्लयजुर्वेद का स्रौतसूत्र कात्यायन ने बनाया है, जो प्रसिद्ध सौनक का

शिष्य होने का भी दावा रखता है। कात्यायन वैय्याकरण पाणिनीय का समालोचक था और मैक्समूलर के अनुसार उसका समय ईसा के पहले चौथी शताब्दी में है। पाणिनीय के समय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है परन्तु हम इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे क्योंकि यह कार्य्य बड़े-बड़े विद्वानों का है। हम केवल प्रचलित मत को मान लेंगे कि यह वैय्याकरण अपने समालोचक के कुछ शताब्दी पहले ही हुआ होगा। कात्यायन सूत्र ने सतपथब्राह्मग का पूरी तरह से अनुकरण किया है और इस सूत्र के प्रथम १८ अध्याय इस ब्राह्मग के प्रथम नौ अध्यायों से मिलते हैं। लात्यायन की भाँति कात्यायन में भी मगध देशीय ब्रह्म बन्धुओं का उल्लेख मिलता है जो कि सब से पहले के बौद्ध समझे गये हैं।

अब स्रौतसूत्रों के उपरान्त हम धर्मसूत्रों का प्रसन्नता पूर्वक वर्णन करते हैं। इनमें इस समय के चाल व्यवहार और कानून का वर्णन है और इसलिये वे हमारे इतिहास के लिये बड़े ही काम के हैं। स्रौतसूत्रों में हम हिन्दुओं को बलिदान करते हुए पाते हैं, परन्तु धर्मसूत्रों में हम नगरवासियों को भाँति उनका वर्णन पाते हैं।

केवल इतना ही नहीं वरन् प्राचीन समय के ये धर्मसूत्र।इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि ये ही मूल ग्रन्थ हैं जिनको उत्तर काल में सुधार कर पद्य में स्मृतियाँ बनाई गई हैं जिनसे आज कल के हिन्दू परिचित हैं। जैसे मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। आज तीस वर्ष हुये इस बात को मेक्समूलर साहब ने दिखलाया था और तब से जो खोज हुई है उससे यह बात पूरी तरह से सिद्ध हुई है। मनुस्मृति के विषय में पहले जो यह मिथ्या अनुमान किया जाता था कि वह कानून बनाने वालों और शासकों की बनाई हुई है यह भ्रम इस आविष्कार से पूरी तरह जाता रहा और अब हम लोग यह जान गये कि ये स्मृतियाँ क्या हैं और वे कैसे और क्यों बनाई गईं? वे मूल सूत्र के रूप में (जो कि बहुधा गद्य में हैं और कहीं कहीं गद्य-पद्य-मय भी हैं, परन्तु कहीं भी स्मृतियों की तरह लगातार पद्य में नहीं हैं) स्रौत सूत्रों की भाँति सूत्र चरणों के संस्थापकों द्वारा बनाई गईं थीं और वे युवा हिन्दुओं को इसलिये रटाई जाती थीं जिसमें वे अपने पीछे के जीवन में यह न भूलें कि नगरबासी तथा समाज के सभ्य की भाँति उनके क्या कर्तव्य हैं। समाज के प्रत्येक जन के हृदय पर उनके धार्मिक, सामाजिक और स्मृतियुक्त धर्मों को अंकुरित करने के लिये हिन्दुओं ने जो उद्योग किया था उससे बढ़कर किसी जाति ने नहीं किया है।

जो धर्मसूत्र खो गए हैं और अब तक कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं उनमें एक तो

मानवसूत्र अर्थात मनु का सूत्र है जिससे कि पीछे के समय में पद्यमय मनुस्मृति बनाई गई है। ऐसा जान पड़ता है कि सूत्र काल में मनु का धर्मसूत्र इसी भांति सत्कार की दृष्टि से देखा जाता था जैसे कि आज कल पद्यमय मनुस्मृति देखी जाती है। सूत्रग्रन्थों में मनु का बहुधा उलेख किया गया है और डाक्टर बुहलर साहब ने बशिष्ठ और गौतम के धर्मसूत्रों में दो स्थानों पर मनु के उद्धृत वाक्य दिखलाए हैं।

जो धर्मसूत्र अभी तक मिले हैं उनमें से डाक्टर बुहलर ने ऋग्वेद के वाशिष्ठसूत्र, सामवेद के गौतमसूत्र, और कृष्णयजुर्वेद के बौद्धायन और आपस्तम्ब सूत्रों का अनुवाद किया है।

समय के विचार से गौतम के धर्मसूत्र सब से प्राचीन हैं और हमें बौद्धायन के सूत्र में गौतम का एक पूरा अध्याय उद्धृत मिलता है और फिर वशिष्ठ ने वही अध्याय बौद्धायन से उद्धृत किया है। हम यह भी देख चुके हैं कि आपस्तम्ब बौद्धायन के पीछे हुआ है।

हम स्रौतसूत्रों का उल्लेख कर चुके हैं जिसमें कि पूजा करनेवालों के धर्म दिए हैं और धर्मसूत्रों का भी वर्णन कर चुके हैं जिसमें कि नगरवासियों के धर्म हैं। परन्तु मनुष्य के पूजा करने और नगरवासी होने के अतिरिक्त और भी धर्म और कर्तव्य हैं। उसे अपने घर के लोगों पर, पुत्र, पति, अथवा पिता की भाँति धर्म पालन करना पड़ता है। घरेलू घटनाओं के सम्बन्ध में उसे बहुत ही थोड़े विधान करने पड़ते थे और वे स्रौतसूत्रों के विस्तृत विधानों से बहुत भिन्न थे। इन गृह विधानों के लिये एक अलग नियम बनाने की आवश्यकता पड़ी और ये नियम "गृहसूत्रों" में दिए हुए है।

इन सीधे सादे गृह्यविधानों में, जो कि घर की अग्नि के निकट किए जाते थे और जिनमें बड़े-बड़े यज्ञों की भाँति विशेष चूल्हे नहीं जलाए जाते थे, बहुत-सी मनोरंजक बातें हैं। घर की अग्नि प्रत्येक गृहस्थ अपने विवाह पर जलाता था और उसमें पाकयज्ञ के सीधे सादे विधान सुगमता से किए जाते थे। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब कहते हैं कि "चूल्हे की अग्नि में एक लकड़ी रखना, देवताओं को अर्घ देना, और ब्राह्मणों को दान देना, यही पाकयज्ञ में होता था।" गौतम ने सात प्रकार के पाकयज्ञ लिखे हैं—(१) अष्टका जो कि जाड़े में चार महीने तक किए जाते थे (२) पार्वण जो कि पूर्णिमा और अमावस्या को किए जाते थे (३) श्राद्ध अर्थात् पितरों को प्रति मास अर्घ देना (४) श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री और आस्वजुजी जो कि उन महीनों की पूर्णमासी को किए जाते थे, जिनसे कि उनका नाम पड़ा है। इन

विधानों का जो वृत्तान्त गृह्यसूत्रों में दिया है वह हिन्दुओं को बड़ा मनोरंजक लगा क्योंकि दो हजार वर्षों के बीत जाने पर भी हम लोग अब तक उन्हीं मनोरंजक विधानों को किसी को तो उसी प्राचीन नाम से और बहुतों को किसी दूसरे नाम और कुछ दूसरी तरह पर कर रहे हैं। गृह्यसूत्रों में उन सामाजिक विधानों के भी वृत्तान्त दिए हैं जो कि विवाह पर, पुत्र के जन्म में, उसके अन्नप्रासन पर, उसके विद्याध्ययन आरम्भ करने आदि में होते थे। इस प्रकार से इन अमूल्य गृह्य-सूत्रों से हमें प्राचीन हिन्दुओं के घरेलू जीवन का पूरा-पूरा वृत्तान्त विदित हो जाता है।

ऋग्वेद के साङ्खायन और आस्वलायन गृह्यसूत्रों और शुक्लयजुर्वेद के पारस्कर गृह्यसूत्र का हर्मन ओडनवर्ग साहब ने अनुवाद किया है। एक दूसरे ग्रन्थ का विज्ञापन दिया गया है जिसमें गोभिल आदि का अनुवाद है।

स्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, और गृह्यसूत्र को मिलाकर कल्पसूत्र कहते हैं। वास्तव में, ऐसा समझा जाता है कि प्रत्येक सूत्र चरण में एक पूरा कल्पसूत्र होता था जिनके विभागों का उल्लेख ऊपर किया गया है। परन्तु जितने थे उनमें से बहुत से खो गए हैं और अब सूत्रग्रन्थों के केवल बहुत थोड़े अंश हम लोगों को प्राप्त हैं। आपस्तम्ब का पूरा कल्पसूत्र अब तक है और वह ३० प्रश्नों अथवा भागों में है। इनमें से पहले २४ में स्रौतयज्ञों का वर्णन है। पच्चीसवें में व्याख्या करने के नियम हैं, छब्बीसवें और सत्ताईसवें में गृह्य विधानों का उल्लेख है, अट्ठाईसवें और उनतीसवें में धर्मसूत्र हैं और तीसवें प्रश्न अर्थात् सुल्व सूत्र में रेखागणित की उन रीतियों का वर्णन है जिससे कि स्रौतयज्ञों के लिए वेदियाँ बनाई जाती थीं। डाक्टर थीबो साहब ने इन मनोरंजक सुल्वसूत्रों से पाश्चिमात्य देशों को परिचित किया है। उनके ग्रन्थ के छपने से वानसेडर का यह मत दृढ़ होता है कि पिथेगोरस ने केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही नहीं वरन अपना गणित शास्त्र भी भारतवर्ष ही से ईसा के पहले छठीं शताब्दी में सीखा था।

हमने यहाँ तक कल्पसूत्रों का वर्णन किया है, क्योंकि कल्पसूत्र इस समय के ग्रन्थों में सबसे मुख्य और इतिहास के लिये सबसे बहुमूल्य हैं। हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने पांच अन्य वेदाङ्गों अर्थात् वैदिक विभागों की गणना की है और हम यहां संक्षेप में उनका उल्लेख करेंगे।

'शिक्षा'—उच्चारण करने का शास्त्र। इस बात को मानने के प्रमाण हैं कि इस शास्त्र के नियम पहले आरण्यकों में और ऐतिहासिक काव्य काल के ब्राह्मणों

में भी थे परन्तु दार्शनिक काल में इस शास्त्र पर अधिक उत्तम ग्रन्थ बनने के कारण उनका लोप हो गया। ये ग्रन्थ प्रातिसाख्य कहलाते हैं और इसमें वेद की प्रत्येक शाखा के सम्बन्ध में उनके उच्चारण करने के नियम हैं।

परन्तु बहुत से प्रातिसाख्य खो गए हैं और (सामवेद को छोड़कर) प्रत्येक वेद का केवल एक-एक प्रातिसाख्य हम लोगों को अब तक प्राप्त है। ऋग्वेद का प्रातिसाख्य प्रसिद्ध सौनक का बनाया कहा जाता है। इसी भाँति शुक्लयजुर्वेद का एक प्रातिसाख्य भी वर्तमान है और वह कात्यायन का बनाया हुआ कहा जाता है। कृष्णयजुर्वेद और अथर्ववेद के भी एक-एक प्रातिसाख्य हैं परन्तु उनके ग्रन्थकारों के नाम अब विस्मृत हो गए हैं। हमारे पाठकों को यह बात बड़ी मनोरंजक होगी कि कृष्णयजुर्वेद के प्रतिसाख्य में जिन ऋषियों के नाम हैं उनमें एक वाल्मीकि भी हैं।

छन्दों का उल्लेख वेदों में किया गया है और आरण्यकों और उपनिषदों में उसके लिये पूरे अध्याय के अध्याय लगाए गए हैं परन्तु जो दशा शिक्षा की है, वही छन्दों की है। अर्थात् छन्दों का शास्त्र की भाँति वर्णन पहले-पहल हमको सूत्रग्रन्थों ही में मिलता है। ऋग्वेद के छन्दों के विषय में इस वेद के प्रातिसाख्य के अन्त में कुछ अध्याय हैं। सामवेद के लिये प्रसिद्ध निदान सूत्र हैं।

व्याकरण के विषय में सुयोग्य पाणिनि के सुयश ने उस समय के और सब वैय्याकरणों को अन्धकार में डाल दिया है। पाणिनि भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमी कोने के छोर में था और ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का, जो कि अधिकतर गंगा और यमुना के किनारों पर बनाए गए थे, बहुत कम प्रचार तथा सत्कार था। अतएव पाणिनि भी इनसे बहुत कम परिचित था। डाक्टर गोल्डस्टूकर साहब का यह सिद्धान्त ठीक है कि पाणिनि बुद्ध के पहले हुआ था।

इसी भांति निरुक्तशास्त्र में यास्क के नाम ने (जो कि डाक्टर गोल्डस्टूकर तथा अन्य विद्वानों के मत से पाणिनि के पहले हुआ है) अपने पूर्वजों के नाम को अन्धकार में डाल दिया है और हमको उनके विषय में जो कुछ पता लगता है वह यास्क के ग्रन्थों से ही लगता है। लोग यह बहुधा भूल करते हैं कि यास्क के ग्रन्थ को 'निरुक्त' कहते हैं। सायन लिखता है कि निरुक्त एक ऐसे ग्रन्थ को कहते हैं जिसमें थोड़े शब्द दिए हों। यास्क ने ऐसा एक पुराना निरुक्त लेकर उस पर टीका लिखी है और यह टीका ही उसका ग्रन्थ है।

कोलब्रूक साहब ने प्रत्येक वेद के ज्योतिष पर भिन्न-भिन्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है और इनमें से एक को, जिसकी टीका भी है, वे 'ऋग्वेद का ज्योतिष' कहते

हैं। परन्तु प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने पता लगाया है कि ये सब ग्रन्थ एक ही ग्रन्थ की भिन्न-भिन्न प्रतियाँ हैं और उनका यह विश्वास है कि यह ग्रन्थ सूत्रों के समय के उपरान्त बनाया गया था, यद्यपि उसमें जो सिद्धान्त और नियम दिए हैं वे हिन्दू ज्योतिष के सबसे प्रथम समय के हैं। उसका प्रायोगिक उद्देश्य यह है कि नक्षत्रों के विषय में इतना ज्ञान हो जाय जिसमें कि यज्ञों के करने का समय नियत हो सके और धर्म सम्बन्धी कार्यों के लिये एक पंचाङ्ग बन सके। अतएव इस ग्रन्थ के बनने का समय चाहे कितना ही पीछे का क्यों न हो पर उसमें भारतवर्ष के ऐतिहासिक काव्य काल के अर्थात् जब कि वेद संग्रहीत करके ठीक किए गए थे उस समय के निरीक्षकों का फल दिया है और इसीलिये ये उस समय के प्रमाण हैं जिनका कि सहज में तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त छ वेदांगों के सिवाय एक दूसरी श्रेणी के ग्रन्थ भी हैं जो 'अनुक्रम' कहलाते हैं और ये भी सूत्रग्रन्थों से सम्बन्ध रखते हैं। ऋग्वेद की अनुक्रमणी कात्यायन की बनाई हुई कही जाती है और उसमें प्रत्येक सूक्त का पहला शब्द, ऋचा की संख्या, उसके बनाने वाले का नाम, छन्द और देवता का नाम दिया है। ऋग्वेद की कई प्राचीनतम अनुक्रमणियाँ भी थीं परन्तु उन सब का स्थान कात्यायन के अधिक पूर्ण ग्रन्थ ने ले लिया है।

यजुर्वेद की तीन अनुक्रमणियाँ हैं अर्थात् एक तो ऐतरेय कृष्णयजुर्वेद के लिये, दूसरी चरक के लिये और तीसरी माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद के लिये।

सामवेद की एक प्राचीन सूची अर्षेय ब्राह्मण में है और कुछ सूची परिशिष्टों में है। अथर्ववेद की एक अनुक्रमणी का पता बृटिश् म्यूजियम में लगा है।

हमको अभी दार्शनिक काल के सबसे उत्तम ग्रन्थों का वर्णन करना बाकी ही है। ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में उपनिषदों में जिन सिद्धान्तों और दार्शनिक खोजों का आरम्भ हो गया था उनसे उन गहरे अनुसंधानों और गूढ़ बिचारों का प्रारम्भ हुआ जो षट्दर्शनशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रोफेसर वेबर साहब ने यह बहुत ठीक कहा है कि हिन्दुओं के मत ने दर्शनशास्त्र और व्याकरण में अपनी विचारशील शक्ति का सबसे अद्भुत परिचय दिया है। भौतिक पदार्थ और जीव, सृष्टि की उत्पत्ति और पुनर्जन्म के गूढ़ से गूढ़ विषयों का वर्णन सांख्यदर्शन में उपनिषदों की तरह अनुमान की भांति नहीं, वरन् अविचल शास्त्रीय नियमों और तर्कशास्त्र के अटल सिद्धान्तों के साथ दिया है। अन्य लोगों ने भी सांख्यदर्शन का अनुकरण किया और जीव और मन, सृष्टि और सृष्टिकर्ता के भेदों को जानने के लिये अन्वेषण किया।

कट्टर हिन्दू लोग इन विचारों के प्रचार से भयभीत होने लगे और उन्होंने इसके विरुद्ध कार्य आरम्भ किया। उसका फल वह वेदान्त है जो कि उपनिषदों के मत का पुनरुल्लेख करता है और जो वर्तमान समय में हिन्दुओं के धर्म सम्बन्धी विश्वासों का मूल है। परन्तु इसी बीच में दार्शनिक सम्मतियों से एक अधिक प्रबल विचार वेग आरम्भ हो गया था। गौतम बुद्ध ईसा के पहले छठीं शताब्दी में हुआ और नीच लोगों को यह शिक्षा देने लगा कि वैदिक विधान निरर्थक हैं और पवित्र शान्त और परोपकारी जीवन ही धर्म का सार है और जो लोग पवित्रता और शुद्धता के लिये यत्न करते हैं उनमें जाति भेद नहीं रहता। इस विचार को हजारों मनुष्यों ने स्वीकार किया और इस प्रकार भारतवर्ष में बुद्ध का धर्म फैलने लगा। यहां तक कि समय पाकर वह समस्त एशिया का धर्म हो गया।

ऊपर इस काल के ग्रन्थों का जो संक्षिप्त वर्णन दिया गया है उससे पाठकों को हिन्दू सभ्यता के इस अति चमत्कृत काल के मानसिक उत्साह का कुछ बोध हो जायगा। इसमें गृहस्थों के लिये धार्मिक अधिकार और कर्तव्य स्पष्टता और संक्षेप के साथ नियत किए गए हैं।

अठारहवां अध्याय

हिन्दुओं का फैलाव

दार्शनिक काल में भारतवर्ष के इतिहास का एक नया वृत्तान्त विदित होता है। अर्थात् इसी काल में यूनानी लोग भारतवर्ष में आए और उन्होंने यहां का वृत्तान्त लिखा। भारतवर्ष के वैदिककाल की शताब्दियों में यूनानियों की सभ्यता और उनका जातीय जीवन आरम्भ नहीं हुआ और ट्रोजन युद्ध के असभ्य योधाओं को भी अपने समकालीन और दूरदेशी सभ्य हिन्दुओं का बहुत कम वृत्तान्त विदित था। अतएव यूनानी साहित्य से भारतवर्ष के इतिहास के प्रथम दो कालों का कुछ वृत्तान्त विदित नहीं होता। जिस यूनान ने पहले पहल भारतवर्ष से विद्या प्राप्त की थी, वह दर्शन शास्त्रज्ञ पिथेगोरेस समझा जाता है। वह ईसा के पहले छठीं शताब्दी में हुआ, अर्थात् हिन्दू इतिहास के दार्शनिक काल में। उसके सिद्धान्तों और विचारों से उस समय के हिन्दुओं के विचारों का कुछ पता लगता है। उसने उपनिषदों तथा

हिन्दुओं के प्रचलित विश्वासों से पुनर्जन्म होने तथा अन्त में मुक्ति पाने का सिद्धान्त सीखा। उसने जिन कठोर नियमों का पालन करने तथा मांस न खाने के लिये लिखा है, यह भी उसने भारतवर्ष ही से सीखा था। उसने अपनी रेखागणित सल्वसूत्रों से सीखी है, संख्याओं के गुणों के विषय में उसके विचार सांख्य दर्शन से उद्धृत हैं और उसका पांच तत्वों का सिद्धान्त तो भारतवर्ष के सिद्धान्त से बिलकुल मिलता है।

प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस् ईसा से पांचवीं शताब्दी पहले हुआ। वह स्वयं भारतवर्ष में नहीं आया था। फिर भी उसने भारतवर्ष का जो इतिहास सुन कर लिखा है वह बड़ा बहुमूल्य है, यद्यपि उसने उसमें दन्त कथायें भी मिला दी हैं और प्रायः भ्रम से हिन्दुओं के स्थान पर उन असभ्य आदिमवासियों की चाल व्यवहार का वर्णन किया है जो कि भारतवर्ष के बड़े-बड़े भागों में उस समय तक बसे थे। हेरोडोटस् लिखता है "कि हिन्दू लोग उस समय की जातियों में सबसे बड़े थे, वे कई जातियों में बँटे हुए थे और जुदी-जुदी भाषाएं बोलते थे। उन्होंने अपने देश में बहुत-सा सोना एकत्रित किया था। भारतवर्ष में और देशों की अपेक्षा बड़े चौपाए और चिड़ियां अधिकता से होते थे और उसमें जङ्गली पौधे होते थे जिनमें ऊन (रुई) उत्पन्न होता था जिससे कि वे लोग अपने लिये कपड़ा बनाते थे (III. 94. 106)।" एक दूसरे स्थान पर थ्सियन के विषय में लिखता है-"कि वे लोग हिन्दुओं को छोड़कर और सब जातियों से बड़े थे (V,3)।" हेरोडोटस् और भी एक बात लिखता है जो कि कदाचित सच्ची ऐतिहासिक घटना है अर्थात् उसने लिखा है कि पारस के राजा दारा ने भारतवर्ष का कुछ भाग जीत लिया था और उसके जहाज सिन्धु नदी मे होकर समुद्र तक गये थे (IV,44)।

अन्त में, ईसा के पहले चौथी शताब्दी में मेगास्थनीज भारतवर्ष में आया था और पाटलिपुत्र अर्थात् प्राचीन पटना के राजा चन्द्र गुप्त के दरबार में रहा था। यद्यपि उसका बनाया हुआ मूल इतिहास अब नहीं मिलता तथापि उसके अंश बहुत-सी उत्तरकाल की पुस्तकों में उद्धृत मिलते हैं। इनका संग्रह बोन के डाक्टर स्वानबेक ने किया और मिस्टर मेकक्रिंडल ने उनका अङ्गरेजी में अनुवाद किया है। ये भारतवर्ष के इतिहास के लिये बड़े ही उपयोगी हैं और हमको इन्हें बहुधा उद्धृत करने का अवसर मिलेगा। पैथेगोरस, हेरोडोटस् और मेगास्थनीज दार्शनिक काल की इन तीनों शताब्दियों में अर्थात् ईसा के पहले छठीं, पांचवीं और चौथी शताब्दियों में भारतवर्ष की उच्च सभ्यता के साक्षी हैं।

हम देख चुके हैं कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त तक दिल्ली से लेकर

उत्तरी बिहार तक गङ्गा और यमुना की सारी घाटी जीती जा चुकी और हिन्दुओं की हो चुकी थी। हम यह भी देख चुके हैं कि उस काल के बिलकुल अन्त में अर्थात् ईसा के लगभग १००० वर्ष पहले हिन्दू अधिवासी, उद्योगी और यात्री लोग अज्ञात-भूमि में दूर-दूर अर्थात् दक्षिणी बिहार, मालवा, दक्षिण और गुजरात तक जा घुसे थे और हम यह भी देख चुके हैं कि वे अनार्य देश धीरे-धीरे हिन्दुओं को विदित होते जाते थे और ऐतिहासिक काव्यकाल के अन्त तथा दार्शनिक काल के प्रारम्भ में धीरे-धीरे हिन्दुओं के अधिकार में आते जाते थे।

हिन्दू लोग आगे की ओर विजय करते गए और आदिवासी उनकी उच्च सभ्यता और उत्तम धर्म को स्वीकार करते गये। उन्होंने नदियों को पार किया, जङ्गलों को साफ किया, भूमि को काम में लाने योग्य बनाया, उजाड़ भूमि को बसाया और उन नये देशों में जो अब तक आदिवासियों के थे, हिन्दू शासन और हिन्दू धर्म का प्रचार हुआ। जहाँ पहले थोड़े से लोग जा घुसे थे वहां नई प्रबल बस्तियां हो गई और जहां धार्मिक आचार्य लोग एकान्त में जा बसे थे उन स्थानों पर शान्त गांव और नगर हो गए। जिन स्थानों पर दो चार व्यापारी लोग किसी अविदित नदी द्वारा जा पहुँचे थे वहां अब सभ्य लोगों के काम की अमूल्य वस्तुओं से लदी हुई नावें आती थीं। जहां किसी राज्यवंश का कोई मनुष्य देश से निकाला जा कर अथवा शिकार के लिये आ बसा था, वहां अब एक हरा भरा राज्य दिखाई देता था जिसकी प्रजा वे ही आदिमवासी लोग थे जो कि जीते जाकर सभ्य और हिन्दू हो गये थे। जहां जङ्गलियों ने कुछ पेड़ गिरा कर जङ्गल का थोड़ा-सा भाग साफ कर लिया था वहां अब कोसों दूर तक फैले हुए सुहावने खेत दिखाई देते थे जिनमें कि हरे-भरे अनाज के पेड़ लहरा रहे थे और सभ्यता की उन्नति की साक्षी दे रहे थे।

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में तथा एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में आर्यों के विजय का इतिहास इस प्रकार है। प्रत्येक सूत्रग्रन्थ से यथाक्रम यही विदित होता है कि सभ्यता की उन्नति तथा असभ्यता की कमी होती गई। दार्शनिक काल के समाप्त होने अर्थात् ईसा के पहले चौथी शताब्दी के बहुत पहले ही हमलोग सारे भारतवर्ष को बसाया हुआ, सभ्य तथा हिन्दू बनाया हुआ पाते हैं और आदिम निवासी केवल उन पहाड़ियों और जंगलों में रह गए थे जिनको जीतने में आर्य लोग घृणा करते थे। इनमें केवल विजय करने का ही इतिहास नहीं है जो कि दर्शनशास्त्र जानने वालों के लिये मनोरञ्जक न हो। इनमें तब तक के अविदित देशों और आदिवासी जातियों में हिन्दू सभ्यता के प्रचार की भी कथा है। दक्षिण के आन्ध्रलोग, गुजरात के सौराष्ट्र लोग, दक्षिणी भारतवर्ष के चोल, चेरा और पांड्य लोग और पूर्वी

भारतवर्ष के मगध, अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग लोगों ने हिन्दू आर्यों के श्रेष्ठ धर्म, भाषा और सभ्यता को ग्रहण कर लिया था। यह दार्शनिक काल का सबसे बड़ा कार्य है।

बौद्धायन सम्भवतः ईसा के पहले छठीं शताब्दी में हुआ है जैसा कि हम पहले देख चुके हैं वह सबसे पहले के सूत्रकारों में से है। उसके समय में हिन्दुओं के राज्य और सभ्यता की सीमा दक्षिण में कलिङ्ग वा पूर्वी समुद्र तट तक थी और आधुनिक उड़ीसा से लेकर दक्षिण की ओर कृष्णा नदी के मुहाने तक फैली हुई थी। नीचे उद्धृत किए हुए वाक्य मनोरञ्जक हैं क्योंकि उनसे विदित होता है कि गङ्गा और यमुना की घाटी का प्राचीन आर्य देश तब तक भी आर्यों के लिये योग्य निवास स्थान समझा जाता था और वह देश जिसमें कि अनार्य जातियां अभी ही हिन्दू बनाई गई थीं, तुच्छता की दृष्टि से देखा जाता था।

(९) आर्यों का देश (आर्यावर्त्त) उस देश के पूरब में है जहां कि यह नदी (सरस्वती) लोप होती है, यह कालक बन के पश्चिम, पारिपात्र (विन्ध्यपर्वत) के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है। उस देश के चाल व्यवहार के नियम प्रामाणिक हैं।

(१०) कुछ लोग कहते हैं कि यमुना और गङ्गा के बीच का देश (आयावर्त्त) है।

(११) अब भाल्लविन लोग भी नीचे लिखे हुए वाक्य कहते हैं।

(१२) पश्चिम में सीमा की नदी, पूरब में वह देश जहाँ कि सूरज ऊगता है, उतनी दूर तक जहाँ कि काले हिरन घूमते हैं वहाँ तक धर्म की श्रेष्ठता पाई जाती है।

(१३) अवन्ति (मालवा), अङ्ग (पूर्वी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार), सौराष्ट्र (गुजरात), दक्षिण, उपावृत्त, सिन्ध और सौवीरस (दक्षिणी पंजाब) के निवासी लोग मिश्रित जाति के हैं।

(१४) जिसने आरत्तों (पंजाब में), कारस्करों (दक्षिणी भारतवर्ष में), पुन्ड्रों (उत्तरी बङ्गाल में), सौवीरों (पंजाब में), बंगों (पूर्वी बङ्गाल में), कलिंगों (उड़ीसा में), तथा प्रानूतों से भेंट की है उस को पुनस्तोम अथवा सर्वपृष्टयज्ञ करना चाहिये।

(बौद्धायन १, १, २)

उपरोक्त वाक्य मनोरंजक हैं क्योंकि उनसे हमको मालूम होता है कि दार्शनिक काल के आरम्भ में हिन्दुओं का फैलाव कहाँ तक था और उनसे यह भी विदित होता है कि हिन्दू लोग तीन श्रेणियों में विभाजित थे जो कि सत्कार की भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जाती थीं। पहली श्रेणी के लोग आर्यावर्त्त में रहते थे जो कि सरस्वती

से लेकर बिहार की सीमा तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल पर्वत तक था। यह बात विचित्र है कि पंजाब, जो कि वैदिक समय में आर्यों का सब से प्राचीन निवास स्थान था, वह आर्यावर्त्त में सम्मिलित नहीं है। यह देश तब से पीछे के समय में हिन्दुओं के धर्म और सभ्यता की उन्नति में पिछड़ता रहा है और उसका उल्लेख ऐतिहासिक काव्य काल के ग्रन्थों में भी बहुत ही कम पाया जाता है।

दूसरी श्रेणी के लोग, जो कि मिश्रित जाति के कहे गए हैं, उस देश में रहते थे जिसमें कि दक्षिणी पंजाब, सिंध, गुजरात, मालवा दक्षिण और पूर्वी बिहार सम्मिलित हैं। यदि पाठकगण हमारे दूसरे कांड के चौथे अध्याय को देखेंगे तो उनको विदित होगा कि ये वही देश हैं जो कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में हिन्दुओं को बहुत ही थोड़े अंश में मालूम होते जाते थे। दार्शनिक काल के प्रारम्भ में वे ही हिन्दुओं के देश हो गये थे और हिन्दुओं का अधिकार और उनकी सभ्यता का प्रचार इनके आगे के उन अन्य देशों में भी होने लगा था जिनके निवासी तीसरी श्रेणी के समझे जाते थे। इस तीसरी तथा अन्तिम श्रेणी के देश में पञ्जाब में भारत लोगों का देश, उड़ीसा, पूर्वी और उत्तरी बङ्गाल और दक्षिणी भारतवर्ष के कुछ भाग सम्मिलित हैं। इन देशों में जो लोग यात्रा करते थे उनको अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिये यज्ञ करना पड़ता था। यह ईसा के पहले छठीं शताब्दी.के लगभग, हिन्दुओं के देश की सब से अन्तिम सीमा थी।

दक्षिणी भारतवर्ष के भागों में इस समय तक हिन्दू लोग केवल बस ही नहीं गये थे परन्तु ये देश हिन्दू राज्य और न्याय और विद्या के सम्प्रदाय के मुख्य स्थान हो गए थे जैसा कि बौद्धायन के लिखने से विदित होता है। बौद्धायन स्वयं कदाचित् दक्षिण का रहने-वाला हो-कम से कम वह दक्षिणी भारतवर्ष की विशेष चाल व्यवहारों और रीतियों का सावधानी से वर्णन करता है।

हम उसका एक वाक्य उद्धृत करेंगे—

(१) दक्षिण और उत्तर में पाँच कर्मों में भेद है।

(२) हम दक्षिण की विशेषता को वर्णन करेंगे।

(३) वे ये हैं-अदीक्षित मनुष्य के सङ्ग खाना, अपनी पत्नी के सङ्ग खाना, बासी खाना, मामा या चाचा की कन्या से विवाह करना।*

(४) अब उत्तर देश की जिन रीतियों में विशेषता है वे ये हैं—ऊन

---

* डाक्टर बुहलर कहते हैं कि दक्षिण के देशस्थ और करहाड़ ब्राह्मणों में ऐसा विवाह अब तक प्रचलित है।

बेचना, शराब पीना, उन पशुओं को बेचना जिनके ऊपर और नीचे के जबड़े में दाँत होते हैं, शस्त्र का व्यवसाय करना और समुद्र यात्रा करना।❀

(५) जिस देश में ये व्यवहार प्रचलित हैं उसके अतिरिक्त दूसरे देश में वे पाप समझे जाते हैं।

(६) इनमें से प्रत्येक काम के लिये किसी देश का व्यवहार ही प्रमाण समझा जाना चाहिए।

(७) "गौतम कहते हैं कि यह झूठ है।" (बौद्धायन १, १, २)।

अब हम बौद्धायन को छोड़ कर भारतवर्ष के दूसरे सूत्रकार को लेते हैं। यदि बौद्धायन का समय ईसा के पहले छठीं शताब्दी में समझा जाय तो आपस्तम्ब सम्भवतः पांचवी शताब्दी में हुआ †। इसमें कदाचित् सन्देह नहीं है कि आपस्तम्ब आन्ध्रों के राज्य और समय में रहता था। इस बड़े साम्राज्य में गोदावरी और कृष्णा के बीच के सब देश सम्मिलित हैं। डाक्टर बुहलर साहब विचारते हैं कि इस साम्राज्य की राजधानी कृष्णा के तट पर आजकल की अमरावती के निकट थी। आपस्तम्ब तैत्तिरीय आरण्यक के आन्घ्र ग्रन्थ को मानता था और उसकी शिक्षा आजकल नासिक पूना, अहमदाबाद, सूरत, शोलापुर, कोल्हापुर और दक्षिण के दूसरे देशों के उन ब्राह्मणों में जो कि आपस्तम्बीय हैं बड़े सत्कार से मानी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिणी भारतवर्ष का विजय, जो कि ऐतिहासिक काव्यकाल के अन्त में आरम्भ किया गया था आगे की शताब्दियों में होता रहा। छठीं शताब्दी तक बंगाल, उड़ीसा, गुजरात और दक्षिण विजय कर लिया गया था और उनमें रहने वाले लोग आर्य बना लिए गए थे, और पांचवी शताब्दी तक दक्षिण में कृष्णा नदी तक एक बड़ा हिन्दुओं का साम्राज्य स्थापित हो गया था। ईसा के पहले चौथी शताब्दी तक कृष्णा नदी के दक्षिण का संपूर्ण दक्षिणी भारतवर्ष हिन्दुओं का हो गया था और उनमें कोलों, चेरों और पांड्यों के तीन बड़े २ हिन्दू सम्राज्य स्थापित हो गए थे जो कि दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हुये थे और लंका भी जानी जा चुकी थी। जब हम इस (चौथी) शताब्दी के अन्त में आते हैं तो हमको सूत्रग्रन्थों के फुटफाट वाक्यों के अन्धकार से यूनानियों का लिखा हुआ भारतवर्ष का प्रकाशमय इतिहास

❀ उत्तर काल के अधःपतन ने समुद्र यात्रा रोक दी है।

† डाक्टर बुहलर भाषातत्व के सिद्धान्तों के अनुसार आपस्तम्ब का समय ई० पू० तीसरी शताब्दी में स्थिर करते हैं। परन्तु दूसरे कारणों से वे उस सूत्रकार का समय १५०;- अथवा २०० वर्ष पीछे अर्थात् पांचवीं शताब्दी में कहते हैं।

मिलता है। क्योंकि इसी शताब्दी में सिल्यूकस का राजदूत मेगास्थनीज़ भारतवर्ष में आया था और पाटलिपुत्र (प्राचीन पटना) में ईसा के पहले सन् ३१७ से लेकर ३१२ तक चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था।

मेगास्थनीज़ ने भारतवर्ष की जातियों और राज्यों का पूरा और समझ में आने योग्य वृत्तान्त लिखा है और उससे हमको दार्शनिक काल के अन्त में भारतवर्ष की अवस्था का स्पष्ट ज्ञान होता है।

ईसा के पहले चौथी शताब्दी में भारतवर्ष में प्राच्य लोग, जिससे कि हम को मगध लोगों को समझना चाहिये, सब से प्रबल हो गए थे, जैसा कि ऐतिहासिक काव्यकाल में कुरु, पाञ्चाल, विदेह, और कोशल लोग हो गए थे।

उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी जो कि एक भरापूरा नगर था और ८० स्टडिया अर्थात् ९ मील लम्बा (१ स्टडिया = २०२$\frac{1}{4}$ अंगरेजी गज) और १५ स्टडिया अर्थात् लगभग दो मील चौड़ा कहा गया है। वह समचतुर्भुज के आकार का था और चारों ओर काठ की दीवार ⊛ से घिरा हुआ था जिसमें तीर चलाने के लिये छेद बने हुए थे और सामने रक्षा के लिये एक खाई थी।

⊛ यह काठ की दीवार ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी तक खड़ी थी, जब कि उसे चीन के यात्री फाहियान ने देखा था। फाहियान लिखता है "शहर में जो राजा के महल हैं उनकी दीवारों के पत्थरों का संग्रह देवों ने किया था; खिड़कियों पर शोभा के लिये सतराशी की जो चित्रकारी खुदी थी वैसी इस समय में कदापि नहीं बन सकती। वे अब तक वर्तमान हैं।"

फाहियान के थोड़े ही समय पीछे पाटलिपुत्र का पतन हो गया क्योंकि जब ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्वेनत्सांग यहां आया तो उसने सिवाय खण्डर और एक गांव के जिसमें दो-तीन सौ मकान थे और कुछ न देखा। सन् १८७६ में एक तालाब बनाने के लिये जो भूमि खोदी गई थी उसमें कुछ वस्तुएँ निकली हैं जो कि मेगास्थनीज का वर्णन की हुई काठ की दीवार का टूटन-फूटन समझी गई हैं। पटने में रेलवे स्टेशन और चौक के बीचो-बीच खोदने वालों ने जमीन से १२ या १५ फीट नीचे एक लम्बी ईंटों की दीवार पाई थी जो कि उत्तर पश्चिम कोण से लेकर दक्षिण पूरब कोण तक थी। इस दीवाल के समानान्तर एक कटघरों की पंक्ति थी जिसकी मजबूत लकड़ियां दीवार की ओर थोड़ी झुकी हुई थीं। एक स्थान पर एक रास्ता या फाटक मालूम होता था, जहाँ कि दो लकड़ी के खम्भे ८ अथवा ९ फीट ऊँचे उठे हुए थे परन्तु उनके ऊपर का चौखट नहीं था। कुछ कुएँ भी पाए गये थे जिनमें टूटे हुए मिट्टी के बर्तन भरे हुये थे। उनमें से एक कुआं साफ किया गया जिसमें साफ पीने

यह मालूम होगा कि सारा उत्तरी भारतवर्ष चन्द्रगुप्त के प्रबल और विस्तृत राज्य में सम्मिलित नहीं था, क्योंकि मथुरा और करसीबोरा में बहती हुई यमुना पाटलिपुत्र की राजधानी में कही गई है। यहाँ के लोग भारतवर्ष की और सब जातियों से बल और यश में प्रबल थे और उनके राजा चन्द्रगुप्त की सेना में ६,००,००० पैदल सिपाही, ३०,००० सवार और ९००० हाथी थे "जिससे कि उसके बल का अनुमान किया जा सकता है।"

दक्षिणी बंगाल के विषय में मेगास्थनीज लिखता है कि कलिंग लोग समुद्र के सबसे निकट रहते थे, मंडू और मल्ली लोग उसके ऊपर, गंगे शैव लोग गंगा के मोहाने पर और मध्य-कलिंग लोग गंगा के एक टापू में।

यह असम्भव है कि इनमें से पहले और अन्तिम नामों से हम लोग कलिंग का प्राचीन नाम न जान सकें जिसमें कि उड़ीसा और बंगाल का समुद्रतट सम्मिलित है। मेगास्थनीज कलिंग की राजधानी पार्थलिस बतलाता है। इसके प्रबल राजा के पास ६०,००० पैदल सिहाही, १००० घोड़े और ७०० हाथी थे।

गंगा नदी के एक बड़े टापू में मध्य-कलिंग लोगों का निवास कहा गया है और उनके आगे कई बड़ी-बड़ी जातियां एक राजा के राज्य में रहती थीं जिसके पास ५०,००० पैदल सिपाही, ४००० सवार और ४०० हाथी थे।

उनके आगे अंडरी लोग रहते थे जिससे कि दक्षिणी भारतवर्ष के आन्ध्र लोगों को न समझना असम्भव है।

आन्ध्र एक बहुत बड़ी जाति थी जो कि पहले-पहले गोदावरी और कृष्णा के बीच में आ बसी थी। परन्तु मेगास्थनीज के समय के पहले ही उसने अपना राज्य उत्तर में नर्बदा तक फैल दिया था। मेगास्थनीज लिखता है कि वह एक प्रबल जाति थी जिसके पास बहुत से गाँव और दीवारों से घिरे हुए ३० नगर थे और जिसके राजा के पास १,००,००० पैदल सिपाही, २००० सवार और १००० हाथी थे।

उत्तर पश्चिम की छोर पर मेगास्थनीज लिखता है कि ईसरी, कोसिरी और अन्य जातियाँ थीं जो कि कदाचित् काश्मीर या उसके आस-पास होंगी।

सिंध नदी प्राच्यों के देश की सीमा कही गई है जिससे यह समझना चाहिए

का पानी निकला और जो कूड़ा बाहर निकाला गया था उसमें बहुत से लोहे के भालों के सिर पाए गए थे। मेकक्रिण्डल साहब की "मेगास्थनीज ऐण्ड एरियन" नामक पुस्तक का पृष्ठ २०७ का नोट देखो।

कि मगध का प्रबल और विस्तृत राज्य पञ्जाब क 'सीमा तक फैला हुआ था और उसमें समस्त उत्तरी भारतवर्ष सम्मिलित था।

मेगास्थनीज़ के समय में आधुनिक राजपूताने के बहुत से भागों में आदिवासी जातियाँ अब तक भी थीं जो कि ऐसे जङ्गलों में रहतीं थीं जहाँ के चीते भयानकता के लिये प्रसिद्ध थे। उसमें उन जातियों का वर्णन लिखा है जो कि बियाबान से घिरी हुई उपजाऊ भूमि में रहती थीं और उन जातियों का भी वर्णन है जो कि समुद्र तट के समानान्तर की लगातार पर्वत श्रेणी पर रहती थीं। उसने उन जातियों का भी उल्लेख किया है जो सब से ऊँचे पर्वत कपितलिया—जिससे कि आबू समझना चाहिये—से घिरे हुये स्थान में रहती थी। फिर उसने हारेटी लोगों का उल्लेख किया है जो कि निस्सन्देह सौराष्ट्र लोग थे। उनकी राजधानी समुद्र तट पर थी और वह बड़ा वाणिज्य स्थान था एवं उनके राजा के पास १६००० हाथी, १,५०,००० पैदल सिपाही और ५००० सवार थे।

उसके उपरान्त पेड़ी जाति थी और यह भारतवर्ष में केवल एक ही ऐसी जाति थी जिसका शासन स्त्रियाँ करती थीं। वे कहते हैं कि हरक्यूलिज की केवल एक ही कन्या थी और इसलिये वह उसे बहुत सी प्रिय थी। उसने उसे एक बड़ा राज्य दिया। उसकी सन्तति २०० नगरों पर राज्य करती थी और उनके पास १५०,००० पैदल सिपाही और ५०० हाथी थे।

यह आधी कल्पित कथाओं से मिला हुआ मेगास्थनीज का वर्णन पाण्डव लोगों के विषय में है जो कि दक्षिणी भारतवर्ष के छोर पर राज्य करते थे। इन पाण्डवों का एक अद्भुत इतिहास है।

कृष्ण के साथ जो यादव लोग मथुरा को छोड़ कर गुजरात में द्वारिका में आ बसे थे वे वहाँ बहुत काल तक नहीं रहे। उनमें परस्पर लड़ाई होने लगी और मर कट कर जो बचे उन्होंने समुद्र के मार्ग से द्वारिका छोड़ दी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे लोग दक्षिणी भारतवर्ष में आये और वहाँ एक नया राज्य स्थापित किया। वे लोग अपने को पाण्डव सम्भवतः इसलिये कहते थे क्योंकि वे पाण्डवों की जाति के होने का दावा करते थे और उन्होंने अपनी नई दक्षिण की राजधानी का नाम मथुरा अथवा मदुरा रक्खा और वह आज तक इसी नाम से पुकारी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि हर क्युलीज के नाम से मेगास्थनीज का तात्पर्य कृष्ण से है उसने कदाचित् कृष्ण के विषय में अपनी कन्या के लिये दक्षिण में एक राज्य स्थापित करने के लिये कोई कथा सुनी होगी जो कि भारतवर्ष में उस समय प्रचलित रही हो।

अन्त में मेगास्थनीज के समय में लंका भी जानी जा चुकी थी। उसको मगध के एक राजकुमार ने जीता था जिसको कि ईसा के पहले पाँचवीं शताब्दी में उसके पिता ने उसके दुश्कर्मों के लिये देश से निकाल दिया था। जब मेगास्थनीज भारतवर्ष में आया उस समय लङ्का में हिन्दुओं का राज्य था। इस टापू को यूनानी लोग तप्रोबनी के नाम से पुकारते थे जो कि पाली भाषा के तम्ब पन्नी और संस्कृत के ताम्रपर्णी से मिलता है। मेगास्थनीज कहता है कि यह टापू भारतवर्ष से एक नदी के द्वारा अलग था और उसमें सोना और बड़े-बड़े मोती होते थे और वहाँ के हाथी भारतवर्ष से बहुत बड़े होते थे। ईलियन जिसने कि मेगास्थनीज के बहुत उपरान्त लिखा है परन्तु अन्य यूनानी और रोमन ग्रन्थकारों की तरह बहुत-सा वृत्तान्त मेगास्थनीज से लिया है, कहता है कि तप्रोबनी एक बड़ा टापू था जिसमें बहुत से पर्वत थे और उसमें बहुत अधिकता से खजूर के पेड़ थे। वहाँ के लोग नरकटों की बनी हुई झोपड़ी में रहते थे, अपने हाथियों को आर पार ले जाने के लिये नाव बनाते थे और उन्हें कलिंग के राजा के यहाँ ले जाकर बेचते थे।

हम दार्शनिक काल की सातों शताब्दियों का राज्य सम्बन्धी वृत्तान्त लिख चुके जैसा कि गत अध्याय में हमने उसके साहित्य का वर्णन किया था। इस काल में झुण्ड के झुण्ड हिन्दू लोग गङ्गा की घाटी से निकल कर अज्ञात देशों में गए, वहाँ की जातियों को पराजित किया और धीरे-धीरे उनमें अपनी भाषा, धर्म और सभ्यता का प्रचार किया। दक्षिण बिहार के मगध लोग केवल हिन्दू ही नहीं बना लिये गये थे वरन् वे भारतवर्ष में सब से प्रबल हो गए। गुजरात के राष्ट्र लोग और पूरब के अङ्ग, बङ्ग, और कलिंग लोग हिन्दू बना लिये गये थे। बड़ी आन्ध्र जाति ने केवल हिन्दू धर्म और सभ्यता ही को स्वीकार नहीं कर लिया था वरन् उसने हिन्दू-विद्या के ऐसे चरणों से अपने को विख्यात किया था जो कि गङ्गा की घाटी के बड़े-बड़े चरणों के बराबर के थे। उनके पीछे अन्य जातियों ने आर्यों की श्रेष्ठ सभ्यता, धर्म और भाषा को स्वीकार किया और भारतवर्ष की सब आर्य और अनार्य जातियों ने हिन्दू आर्य सभ्यता का कलेवर धारण कर लिया।

उन्नीसवां अध्याय

राज्य-प्रबन्ध, खेती और शिल्प

भारतवर्ष में दो हजार वर्ष पहले कैसा राज्य प्रबन्ध था यह बात हमारे पाठकों को स्वभावतः मनोरञ्जक होगी और यह हर्ष का विषय है कि इसका विश्वास योग्य वृत्तान्त हिन्दू सूत्र कारों और यूनानी लेखकों दोनों ही से हमको मिलता है। हम पहले सूत्र ग्रन्थों के कुछ वाक्यों से प्रारम्भ करेंगे। राजा के लिये अपना नगर और महल जिसका द्वार दक्षिण की ओर ही बनाने के लिये कहा गया है—

(३) महल नगर के बीचो बीच रहना चाहिये।

(४) उसके सामने एक दालान रहनी चाहिये। वह अतिथियों की दालान कहलाती है।

(५) नगर से कुछ दूर पर दक्षिण की ओर उसे एक सभागृह बनवाना चाहिये जिसके द्वार उत्तर और दक्षिण की ओर हों जिसमें कि लोग देख सकें कि उसके भीतर और बाहर क्या होता है।

अग्नि बराबर जला करे और उसमें शाकला डाला जाया करे और—

(८) दालान में उसे अतिथियों को कम से कम उन लोगों को जो वेद जानते हों बैठाना चाहिये।

(९) उनकी योग्यतानुसार उन्हें स्थान, आसन, माँस और मद्य देना देना चाहिये।

उसमें एक चौकी पर पाँसे भी रहने चाहिये और वहाँ ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों को खेलने देना चाहिये। राजा के नौकरों के घरों में शस्त्र के खेल, नाच और गाना बजाना हो सकता है और राजा को अपनी प्रजा का बराबर ध्यान रखना चाहिये।

(१५) वही राजा अपनी प्रजा के सुख का ध्यान रखता है जिसके राज्य में, चाहे यह गाँव में हो अथवा जंगल में, चोर का भय नहीं रहता। (आपस्तम्ब २,१०,२५)

वशिष्ठ राजा के धर्मों का यों वर्णन करता है—

(१) राजा का मुख्य धर्म सब प्राणियों की रक्षा करना है, इसको पूरा करने से उसे सफलता होती है।

(३) उसे गृहस्थों की रस्मों को करने के लिये एक पुरोहित नियत करना चाहिये।

(८) जो लोग धर्म के पथ पर न चलें उन्हें दंड देना चाहिए।

(११) जिन वृक्षों में फूल और फल होते हैं उनकी हानि उसे नहीं करनी चाहिए।

(१२) परन्तु खेती को बढ़ाने के लिए वह उनकी हानि कर सकता है।

(१३) गृहस्थों के लिये जिस नाप और तौल की आवश्यकता है उसको ठीक रखना चाहिए।

(१४) उसको अपने राज्य के लोगों की संपत्ति अपने लिये नहीं छीननी चाहिये।

(१५) इन संपत्तियों में से केवल कर की भाँति कुछ अंश लिया जा सकता है। (वशिष्ठ १४)

वशिष्ठ (१,४२) और बौद्धायन (१,१०,१८,१) कहते हैं कि राजा अपनी प्रजा की आय का छठां भाग कर की भाँति ले सकता है, परन्तु उसे उन लोगों को छोड़ देना चाहिये जो कर देने के अयोग्य हैं। गौतम कर के विषय में इस भाँति लिखता है—

(२४) खेती करने वालों को राजा को (पैदावार का) दसवां, आठवां या छठां भाग के रूप में चाहिये।

(२५) कुछ लोग कहते हैं कि पशु और 'सोने का पांचवा भाग कर देना चाहिए।

(२६) वाणिज्य में (बेचने वाले को) बीसवां भाग कर देना चाहिये।

(२७) कंद, फल, फूल, जड़ी, बूटी, मधु, मांस, घासपात और लकड़ी में छठां भाग।

(३१) हर एक शिल्पकार को महीने में एक दिन (राजा का) काम कर देना चाहिये।

(३२) इससे जो लोग मजदूरी करके अपना पालन करते हैं उनके कर का निर्णय हो गया।

(३३) और उनका भी जो लोग कि जहाज अथवा गाड़ी के मालिक हैं।

(३४) जब तक ये लोग उसके लिये काम करें तो उन्हें उसे खाना देना चाहिए। (गौतम १०)

जिस भांति राज्य का प्रबन्ध वास्तव में किया जाता था उसका वर्णन मेगास्थनीज ने बहुत अच्छी तरह लिखा है। उसके निम्नलिखित वाक्य मनोरंजक होंगे—

जिन लोगों के जिम्मे नगर का प्रबन्ध रहता है वे ६ श्रेणी के हैं जिनमें से प्रत्येक श्रेणी में पांच मनुष्य होते हैं, पहली श्रेणी के लोग शिल्प के विषय का सब प्रबन्ध करते हैं। दूसरी श्रेणी के लोग विदेशियों के सत्कार का प्रबन्ध करते हैं। इनके लिए वे ठहरने को स्थान देते हैं और जिन लोगों को उनकी सेवा के लिए नियत करते हैं उनके द्वारा उनकी चौकसी रखते हैं। जब वे लोग शहर से जाने लगते हैं तो उनको वे मार्ग में अपनी रक्षा के लिये ले जाते हैं और यदि उनकी मृत्यु हो जाय तो उनका माल असबाब उनके सम्बन्धियों के पास भेज देते हैं। यदि वे बीमार पड़ें तब भी उनकी सेवा करते हैं और यदि मर जाँय तो उनको गाड़ देते हैं। तीसरी श्रेणी के प्रबन्धकर्ता इस बात की खोज रखते हैं कि जन्म और मृत्यु कब और कैसे हुई। इस काम को केवल वह कर लगाने के लिये ही नहीं करते वरन् इसीलिए भी कि जिसमें बड़े या छोटे आदमियों की जन्म अथवा मृत्यु राज्य की जानकारी से बच न जाय। चौथी श्रेणी के प्रबन्धकर्ता वाणिज्य और व्यापार की देख भाल करते हैं। वे लोग नाप और बटखरों की देख भाल रखते हैं और इसकी जांच रखते हैं कि फस्ल की पैदावार राज्य की जानकारी के बिना बेची न जाय। कोई मनुष्य एक से अधिक वस्तु का व्यापार नहीं करने पाता जब तक कि वह दूना कर न दे। पांचवी श्रेणी के प्रबन्धकर्ता दस्तकारी की वस्तुओं की देख भाल करते हैं और उसे लोगों की जानकारी से बचते हैं। नई वस्तुएं पुरानी वस्तुओं से अलग बेची जाती हैं। यदि कोई उन्हें मिलाकर बेचें तो उसे दण्ड दिया जाता है। छठीं श्रेणी के प्रबन्धकर्ता का यह काम है कि बिक्री की वस्तुओं का जो मूल्य आवे उसका दशांश उगाहे।

सेना के पदाधिकारी "भी ६ श्रेणी के होते हैं जिनमें प्रत्येक श्रेणी में पांच मनुष्य होते हैं।

पहली श्रेणी के पदाधिकारी जंगी जहाज के सेनापति की सहायता के लिए होते हैं, दूसरी श्रेणी के उन छकड़ों की जो कि युद्ध के शस्त्रों को ले जाने के काम में आते हैं, सिपाहियों के भोजन की, पशुओं के लिए घास की, तथा सेना सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुओं की देख भाल करते हैं। तीसरी श्रेणी के लोगों पर पैदल सिपाहियों के प्रबन्ध का भार होता है। चौथी श्रेणी पर घोड़ों के प्रबन्ध का पांचवीं श्रेणी पर युद्ध के रथों का और छठीं श्रेणी पर हाथियों का। नगर और सेना के प्रबन्धकर्ताओं के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी के पदाधिकारी भी होते थे जो खेती, जल सींचने और जंगल तथा देहातों में राज्य का सब प्रबन्ध करते थे। कुछ लोग नदियों की देख भाल करते थे और भूमि को नापते थे जैसा कि ईजिप्ट देश में

होता है और उन फाटकों की देख भाल करते थे, जिनके द्वारा कि मुख्य नहर में से उनकी शाखाओं में पानी जाता था जिससे कि सबको बराबर पानी मिले । इन्हीं लोगों के जिम्मे शिकारियों का भी प्रबन्ध होता था और उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें पुरस्कार अथवा दण्ड देने का उन्हें अधिकार भी होता था । वे लोग कर उगाहते थे और भूमि से सम्बन्ध रखने वाले व्यापारों को, जैसे कि लकड़ी काटने वाले बढ़ई, लोहार और खान में काम करने वालों की देख भाल रखते थे । वे सड़क बनवाते थे और दस-दस स्टडिया पर दूरी दिखलाने के लिये पत्थर गड़वाते थे । (मेकक्रिण्डल का अनुवाद,) ।

राजाओं के निज की चाल व्यवहार के विषय में मेगास्थनीज ने जो वर्णन लिखा है वह संस्कृत साहित्य के वर्णन से मिलता है । राजा के शरीर की रक्षा का भार दासियों के ऊपर रहता था । ये लोग अपने बाप माँ से मोल ले लिये जाते थे और रक्षक तथा अन्य सिपाही लोग द्वार के बाहर रहते थे राजा नित्य राज-सभा करते थे और वहां बिना कार्य में रुकावट डाले दिन भर रहते थे । दूसरे अवसरों पर वे महल के बाहर केवल तब जाते थे जब कि या तो उन्हें यज्ञ करना हो अथवा शिकार को जाना हो । जब वे शिकार को जाते थे तो झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ उनके चारों ओर होती थीं और उनके उपरान्त भाला लिए हुए सिपाही होते थे । राजा के साथ जब कि यह हाथी पर बैठकर शिकार करता था रथों में, घोड़ों व हाथियों पर शास्त्र लिए हुए स्त्रियां होतीं थीं । कभी कभी वह एक कट-घरे के भीतर चबूतरे पर बैठकर तीरों से शिकार करता था और उस समय शस्त्र लिए हुए दो या तीन स्त्रियां चबूतरे पर खड़ी रहती थीं । इस वृत्तान्त से विदित होता है कि ऐतिहासिक काव्य काल के कुरु और पांचाल लोगों की बलवान और वीरोचित चाल व्यवहार के स्थान पर दार्शनिक काल में कुछ विलासप्रियता और स्त्रीवत चाल व्यवहार हो गई थी । वीरता का समय चला गया और विलास का समय आ गया था ।

हिन्दुओं का युद्ध के लिये तैयार होने का वर्णन एरियन इस भांति देता है, "पैदल सिपाही लोग अपनी ऊंचाई के बराबर धनुष धारण करते हैं । इसको वे भूमि पर टेक कर और अपने बायें पैर से उसको दबाकर कमान की डोरी को पीछे की ओर खींचकर तीर छोड़ते हैं । उनकी तीर तीन गज से कुछ ही कम लम्बी होती है और ढाल, कवच अथवा उससे भी बढ़कर रक्षा की कोई चीज नहीं है जो कि हिन्दू धनुष चलाने वाले के निशाने से बच सके । वे अपने बाएँ हाथ में बैल के चमड़े की ढाल लिये रहते हैं जो धारण करने वाले मनुष्य के इतनी चौड़ी नहीं रहती परन्तु उनके बराबर लम्बी रहती है । कोई-कोई सिपाही धनुष के बदले में भाला लिये रहते हैं और वे

एक तलवार भी लिए रहते हैं जिसकी धार चौड़ी रहती है, परन्तु वह तीन हाथ से अधिक लम्बी नहीं रहती और जब वे युद्ध करने लगते हैं तो अपनी रक्षा के लिये इस तलवार को दोनों हाथों से चलाते हैं। घोड़सवारों के पास दो भाले होते हैं जो कि सौनिया की भांति होते हैं और उनकी ढाल पैदल सिपाहियों से छोटी होती है। क्योंकि वे लोग घोड़ों पर जीन नहीं कसते और न वे यूनानियों वा केल्ट लोगों की भाँति लगाम लगाते हैं; परन्तु वे घोड़ों के मुँह के चारों ओर बैल के चमड़े को बांध देते हैं जिसके नीचे एक नुकीला लोहे अथवा पीतल का कांटा लगाते हैं, परन्तु वह बहुत तीखा नहीं होता। यदि कोई आदमी अमीर होता है तो वह हाथीदांत का कांटा लगाता है। (मेकक्रिण्डल का अनुवाद)

हिन्दुओं में युद्ध के नियम संसार की दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक अच्छे थे। "आर्य लोग उन लोगों को नहीं मारते थे जो कि अपना शस्त्र रख देते थे अथवा जो लोग बाल खोलकर अथवा हाथ जोड़ कर दया की प्रार्थना करते थे अथवा जो लोग भाग जाते थे (आपस्तम्ब २, ५, १०, ११)।" जो लोग भयभीत हों अथवा नशे में हों, पागल हों या आपे से बाहर हों अथवा जिन लोगों के पास शस्त्र न हो, उनसे तथा स्त्रियों, बच्चों, बुड्ढों और ब्राह्मणों से युद्ध न करना चाहिये।" (बौद्धायन १, १० १८, ११) "मृत सिपाहियों की स्त्रियों का निर्वाह करना चाहिए।"(वशिष्ट १९,२०) और मेगास्थनीज भी हिन्दुओं के युद्ध के अच्छे नियम होने की साक्षी देता है। "क्योंकि जहां अन्य जातियां युद्ध में भूमि को उजाड़ कर ऊसर की भांति कर डालती हैं इसके विरुद्ध हिन्दू लोग किसानों को एक पवित्र जाति समझते हैं और जमीन जोतने बोने वाले यदि उनके निकट ही युद्ध हो रहा हो तो वे किसी भय में नहीं रहते, क्योंकि दोनों दल के लड़ने वाले युद्ध में केवल एक-दूसरे को मारते हैं परन्तु खेती करने वालों से कुछ भी छेड़छाड़ नहीं करते। इसके अतिरिक्त वे न तो अपने शत्रु की भूमि में आग लगाते हैं और न वहां के पेड़ों को काट गिराते हैं।"

मेगास्थनीज कहता है कि हिन्दू जातियां गिनती में सब एक सौ अठारह थीं। भारतवर्ष के उत्तर में और हिमालय के उस पार के देश "वे सीदियन लोग रहते थे जो कि सकई कहलाते थे।" यह उस प्रबल जाति का संक्षेप में वर्णन है जो कि हिमालय पर्वत की उत्तरी ढाल पर काले बादलों की भांति ईसा के पहले चौथी शताब्दी में रहती थी और जो कुछ शताब्दी में पश्चिम में भारतवर्ष पर प्रबल आंधी की भांति आ पड़ी और जिसने हिन्दू राज्य को छिन्न-भिन्न कर डाला।

भारतवर्ष के शान्त और न्याय के अनुसार रहने वाले लोगों का मेगास्थनीज

जो वर्णन करता है उसे प्रत्येक हिन्दू घमण्ड से पढ़ सकता है । "वे बड़े सुख से रहते हैं और बड़े सीधे-सादे और कम खर्चीले होते हैं । वे यज्ञों को छोड़ कर और कभी शराब नहीं पीते । उनकी शराब जौ के बदले चावल से बनाई जाती है और उनका मुख्य आहार चावल ही होती है उनका सीधापन और उनकी प्रतिज्ञा इसी से समझ लीजिए कि वे बहुत ही कम न्यायाधीश के पास जाते हैं । गिरवी रखने तथा अमानत के विषय में उनका कभी कोई दावा नहीं होता और न उनको मोहर अथवा गवाहों की आवश्यकता होती है । वे अमानत रख देते हैं और एक-दूसरे पर विश्वास रखते हैं । वे अपने गृह और सम्पत्ति को बहुधा अरक्षित छोड़ देते हैं । इन बातों से उनका धीरज स्वभाव विदित होता है । वे सत्यता और धर्म को समान आदर की दृष्टि से देखते हैं । इसीलिये वे वृद्धों को यदि उनमें विशेष बुद्धि न हो तो कोई विशेष अधिकार नहीं देते ।" इसके अतिरिक्त मेगास्थनीज कहता है कि हिन्दू लोग विदेशियों को भी गुलाम नहीं बनाते, स्वदेशियों को तो भला वे क्यों बनाने लगे । उनमें चोरी विरले ही कभी होती थी । उनमें न्याय जबानी होता था और वे लिखना नहीं जानते थे । नियार्कस से हम लोगों को विदित होता है कि भारतवर्ष में दार्शनिक काल में लोग लिखना जानते थे । अतएव मेगास्थनीज के वर्णन से केवल यह समझा जाना चाहिए कि लिखने का प्रचार कम रहा होगा अर्थात् पाठशालाओं में बालकों को शिक्षा जबानी ही दी जाती थी और जबानी ही वे अपना धर्म पाठ कण्ठाग्र करते थे । न्यायालयों के विद्वान न्यायाधीश लोग भी धर्मसूत्रों को कंठस्थ रख कर उनके अनुसार न्याय करते थे ।

एरियन ने नियार्कस का एक वाक्य उद्धृत किया है और वह कहता है कि "भारतवासी नीचे रूई का एक वस्त्र पहनते हैं जो घुटने के नीचे आधी दूर तक रहता है और उसके ऊपर एक दूसरा वस्त्र पहनते हैं जिसे कुछ तो वे कन्धों पर रखते हैं और कुछ अपने सिर के चारों ओर लपेट लेते हैं......। वे सफेद चमड़े के जूते पहनते हैं और ये बहुत ही अच्छे बने हुए होते हैं । उनके तल्ले चित्र विचित्र तरह के तथा बड़े मोटे होते हैं ।" भारतवर्ष के अधिकांश लोग अन्न खाकर रहते हैं और भूमि जोतते बोते हैं परन्तु इनमें पहाड़ी लोग सम्मिलित नहीं हैं जो कि शिकारी जन्तुओं के मांस खाते हैं । हमारा सच्चा हाल बतलाने वाला मेगास्थनीज प्राचीन भारतवर्ष की खेती का भी वृत्तान्त लिखता है जो कि प्रायः आजकल की खेती की रीति से मिलता है । मेगास्थनीज ने जाड़े की वृष्टि को लगातार वृष्टि समझ कर लिखा है कि वर्ष में दो बार वृष्टि होती थी । वह कहता कि यहां "बहुत से बड़े-बड़े उपजाऊ और सुहावने मैदान थे और सब में बहुत-सी नदियां बहती थीं । भूमि का अधिक

भाग सिंचाई में था और इस कारण वर्ष में दो फसल होती थी। उसके साथ ही उसमें सब भांति के पशु, खेत के चौपाए और भिन्न-भिन्न आकार की चिड़ियां बहुतायन से होती थीं। इसके अतिरिक्त वहाँ बड़े बड़े हाथी भी अधिक थे अन्य अनाजों के अतिरिक्त भारतवर्ष में बाजरा भी बहुतायत से होता और वह नदियों के अधिक होने के कारण अच्छी तरह सींचा जाता है। वहां कई प्रकार की दाल और गेहूँ और "बासपोरम" तथा खाने के लिये दूसरे बहुत से पेड़ होते हैं जिनमें से बहुतेरे आप से आप उगते हैं। इसके सिवाय इस भूमि में जानवरों के खाने योग्य बहुत प्रकार की चीजें होती हैं जिनका ब्योरा लिखना कठिन है। कहा जाता है कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं आया और कभी खाने की चीजों की मँहगी नहीं हुई। इसका कारण यह है कि वर्ष में दो बार वृष्टि होती है--अर्थात् एक तो जाड़े में गेहूँ बोने के समय जैसा कि अन्य देशों में होता है और दूसरे गर्मी में जब कि चावल "बासपोरम", बाजरा और तिल बोने का ठीक समय है—भारतवर्ष के लोग प्रायः सदा ही वर्ष में दो फसल काटते हैं और यदि एक फसल कुछ खराब भी हो जाय तो उनको सदा निश्चय रहता है दूसरी फसल अच्छी होगी। इसके सिवाय आपसे होने वाले वृक्षों के फल और खाने योग्य कन्द जो कि नम जगहों में भिन्न-भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों के खाने के लिये बहुतायत से है।"

आज कल किसी हिन्दू के लिये असम्भव है कि वह दो हजार वर्ष पहले की हिन्दुओं के समय की भारतवर्ष की इस भाग्यवती दशा का वृत्तान्त जो कि इस बुद्धिमान और योग्य विदेशी ने पक्षपात रहित होकर लिखा है, बिना घमण्ड के न पढ़े। सुन्दर गाँवों में परिश्रमी और शान्त खेती करने वाले रहते थे और वे विस्तृत उपजाऊ खेतों को सावधानी और परिश्रम के साथ जोतते बोते और सींचते थे। नगर के शिल्पकार बड़ी ही उत्तमता के साथ भाँति-भाँति की वस्तुएँ बनाते थे। यह बिचारना असम्भव है कि ये सब फल राज्य की सावधानी और सुप्रबन्ध के बिना ही जान और माल की उत्तम रक्षा के बिना और उचित और उत्तम कानून की सहायता के बिना हो गये हों और जब कभी राजा लोगों में परस्पर युद्ध भी होता था और लड़ाके क्षत्री सरदार लोग रणभूमि में होते थे उस समय भी भारतवर्ष में एक ऐसी दयालु रीति प्रचलित थी जिसने कि युद्ध की भयानकता को कम कर दिया था और शान्त गाँव के रहने वालों और परिश्रमी खेती करने वालों को उपद्रव और विपत्ति से रक्षित रक्खा था। यह रीति प्राचीन समय में और कहीं प्रचलित नहीं थी।

भारतवर्ष की उत्तम शिल्प की वस्तुएँ ईसा के बहुत पहले फिनीशिया के व्यापारियों और पश्चिमी एशिया तथा ईजिप्ट के बाजारों में परिचित थीं। मेगा-

स्थिनीज कहता है कि भारतवासी "शिल्प में बड़े चतुर थे जैसा कि स्वच्छ वायु में रहने वाले और बहुत ही उत्तम जल पीने वाले लोगों से आशा की जा सकती है। भूमि के भी नीचे सब प्रकार की धातुओं की बहुत सी खानें थीं क्योंकि उसमें बहुत सा सोना और चाँदी, ताँबा और लोहा और टीन तथा अन्य धातुएँ भी होती हैं जो कि काम की चीज और गहने तथा युद्ध के हरबे हथियार और हर तरह के औजार बनाने के काम में आती थीं। गहनों और आभूषणों के विषय में मेगास्थिनीज कहता है कि उनकी सीधी सादी चाल पर ध्यान देते हुये उनको आभूषण और गहने बहुत प्रिय हैं। "उनके कपड़ों में सुनहला काम होता है और उनमें रत्न जड़े रहते हैं और वे सर्वोत्तम मलमल के फूलदार काम के कपड़े भी पहनते हैं। उनके पीछे नौकर लोग उन्हें छाता लगा कर चलते हैं, क्योंकि वे सुन्दरता पर बहुत ही अधिक ध्यान रखते हैं और अपनी सुन्दरता बढ़ाने के लिये सब प्रकार के उपाय करते हैं।"

परन्तु स्ट्रैबो ने जिस धूमधाम की यात्रा का वर्णन किया है वह बड़ा मनोरञ्जक है और ऐसी धूमधाम मेगास्थिनीज ने भी पाटलिपुत्र की गलियों में अवश्य देखी होगी।

"त्योहारों में उनके जो यात्रा प्रसङ्ग निकलते हैं उनमें सोने और चाँदी के आभूषणों से सज्जित बहुत से हाथियों की कतार होती है, बहुत सी गाड़ियाँ होती हैं जिनमें चार-चार घोड़े वा कई जोड़ी बैल जुते रहते हैं। उसके उपरान्त पूरी पोशाक में बहुत से नौकर चाकर रहते हैं जिनके हाथ में सोने के बर्तन, बड़े-बड़े बर्तन और कटोरे तामजान, ताँबे के पीने के प्याले और बर्तन जिनमें से बहुतों में पन्ने, फीरोजे, लाल इत्यादि रत्न जड़े रहते हैं, सुनहले कामदार वस्त्र, जङ्गली जानवर यथा भैंसे, चीते और पालतू शेर और अनेक प्रकार के पर वाले और मधुर गीत गाने वाले पक्षी रहते हैं (वान साहेब का स्ट्रैबो का अनुवाद ३ पृष्ठ ११७)।

———

बीसवां अध्याय

कानून

संसार के प्राचीन इतिहास में कहीं भी विजय करने वालों और पराजित लोगों में अथवा पुजारियों और सांसारिक मनुष्यों में बराबरी के कानून नहीं रहे हैं। प्राचीन समय में ग्रीक और हेलोट लोगों के लिये पेट्रीशियन और प्लिबिअन लोगों के लिये, जमींदारों और काश्तकारों के लिये पुजारियों और संसारी लोगों के लिये हवशियों के लिये, अथवा अंग्रेजों और अमेरिका के लाल मनुष्यों के लिये एक ही कानून नहीं थे। संसार के अन्य देशों की तरह भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगों के लिये भिन्न-भिन्न कानून थे। ब्राह्मणों के लिए एक कानून था। शूद्रों के लिये दूसरा। ब्राह्मणों से अनुचित उदारता के साथ बर्ताव किया जाता था और शूद्रों के साथ बहुत अधिक निर्दयता और कड़ाई के साथ। यदि कोई ब्राह्मण स्मृति में लिखे हुए चार या पांच महापातकों में से कोई पाप करे अर्थात् यदि वह किसी ब्राह्मण को मार डाले, अपने गुरू की स्त्री से व्यभिचार करे, किसी ब्राह्मण का द्रव्य चुरावे वा शराब पीये तो राजा उसके ललाट को गरम लोहे से दगवा कर उसे अपने देश से निकाल देता था। यदि कोई नीच जाति का मनुष्य किसी ब्राह्मण को मार डाले तो उसे फांसी दी जाती थी और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी। यदि कोई मनुष्य अपने बराबर की जाति या अपने से नीच जाति के मनुष्य को मार डाले तो उसको उपयुक्त दण्ड दिया जाता था (बौद्धायन १, १०, १८, १९)।

व्यभिचार भारतवर्ष में सदा से केवल दोष ही नहीं वरन् एक घोर पाप समझा जाता है। परन्तु उसके लिये भी जो दण्ड दिया जाता था वह दोषी की जाति के अनुसार दिया जाता था। यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्री या वैश्य किसी शूद्र स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो वह देश से निकाल दिया जाता था, परन्तु यदि कोई शूद्र प्रथम तीनों जाति की किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था (आपस्तम्ब २, १०, २७)।

परन्तु, कानून बनाने वाले ब्राह्मण इन बातों से जैसे बुरे समझे जा सकते हैं वैसे वे वास्तव में नहीं हैं। अपने और शूद्रों के बीच बड़ा भारी अन्तर दिखलाने के अभिप्राय से उन्होंने घमण्डी शूद्रों के लिये बड़े-बड़े दण्ड नियत किए हैं जिनके विषय में यह कह देना उचित होगा कि वे केवल धमकी मात्र रहे और केवल धमकी

ही के लिये बनाए गए थे। जो शूद्र प्रथम तीनों जातियों के किसी धार्मिक मनुष्य की बुराई करता था उसकी जीभ काट ली जाती थी और जो शूद्र उन जातियों की बराबरी करता था उसको कोड़े लगाए जाते थे (आपस्तम्ब २, १०, २७)

इसी प्रकार जो शूद्र किसी ब्राह्मण को गाली देता वा मारता था उसका वह अंग काट डाल जाता था जिससे कि उसने दोष किया हो। यदि उसने वेद का पाठ सुना हो तो उसके कान गलां हुई लाह वा टीन से बन्द कर दिए जाते थे, यदि उसने वेद का पाठ किया हो उसकी जीभ काट डाली जाती थी और यदि उसे वेद का पाठ स्मरण हो तो उसकी देह काट कर दो टुकड़े कर दी जाती थी (गौतम १२)।

पाठकगण यह बात सहज में समझ लेंगे कि सूत्रों के बनाने वाले ब्राह्मण लोग अपने और अन्य जातियों, और विशेषतः शूद्रों, के बीच अंतर प्रगट करने के लिये बड़े उत्सुक थे और इसीलिये उन्होंने कानूनों को उसका दस गुना कठोर दिखलाया है जैसा कि योग्य राजा, क्षत्री कर्मचारी तथा ब्राह्मण न्यायाधीश भी वास्तव में करते थे।

जो क्षत्री किसी ब्राह्मण को गाली दे उसे सौ कार्षापण देने पड़ते थे और जो ब्राह्मणों को मारे उसे दो सौ कार्षापण देने पड़ते थे। जो वैश्य किसी ब्राह्मण को गाली दे उसे डेढ़ सौ कार्षापण और कदाचित मारने के लिये तीन सौ कार्षापण देने पड़ते थे। परन्तु जो ब्राह्मण किसी क्षत्री को गाली दे तो उसे केवल पचास कार्षापण देने पड़ते थे, वैश्य को गालीं देने के लिये उसे २५ कार्षापण और शूद्र को गाली देने के लिये कुछ भी नहीं देना पड़ता था (गौतम १२, ८—१३)।

जान पड़ता है कि चोरी के लिये, कम-से-कम कुछ अवस्थाओं में प्राण दण्ड अथवा शारीरिक दण्ड दिया जाता था और कहा जाता था कि चोर राजा के सम्मुख खुले हुए बालों से अपने हाथ में एक लकड़ी लिए हुए उपस्थित होता था और अपने दोष को स्वीकार करता था। यदि राजा उसे क्षमा कर दे उसे प्राण दण्ड न दे अथवा न मारे तो अपराध का भागी राजा होता था। (गौतम १२, ४५)।

क्षमा करने का विशेष अधिकार केवल राजा ही को था। प्राणदण्ड के दोषों को छोड़ कर अन्य अवस्थाओं में दोषी के लिए गुरू, पुरोहित, कोई विद्वान गृहस्थ अथवा कोई राजकुमार बीच में पड़ सकता था (आपस्तम्ब २, १०, २७, २०)।

वशिष्ठ कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य किसी आततायी अर्थात् किसी घर जलाने वाले किसी कैदी किसी ऐसे मनुष्य से जो कि प्राण लेने के लिये अपने हाथमें शस्त्र लिए हो, किसी लुटेरे अथवा किसी ऐसे मनुष्य से जिसने कि किसी दूसरे

की भूमि ले ली हो अथवा किसी की स्त्री छीन ली हो—आक्रमण किया जाय तो वह आत्मरक्षा कर सकता है। यदि कोई आततायी किसी मनुष्य का प्राण लेने के लिये आवे तो उस मनुष्य को अधिकार है कि वह उसे मार डाले चाहे वह "समस्त वेदों और उपनिषदों का जाननेवाला" क्यों न हो (वशिष्ट ३, १५-१८)।

खेती और व्यापार लोगों की जीविका थी और खेती करने वाले की भूमि से अथवा किसी शिल्पकार के व्यापार के सम्बन्ध रखने वाले दोषियों को सब से अधिक कठोरता के साथ दण्ड दिया जाता था। हम दिखला चुके हैं कि भूमि की रक्षा करनी उन अवस्थाओं में से थी जिसमें कि आत्मरक्षा की जा सकती थी और भूमि के विषय में झूठी गवाही अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी। किसी छोटे जानवर के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से साक्षी देने वाला दस मनुष्यों के मारने के अपराध का भागी होता था। गाय, घोड़े अथवा मनुष्यों के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से वह क्रमशः एक सौ, एक हजार अथवा दस हजार मनुष्यों के मारने के अपराधी के बराबर होता था परन्तु भूमि के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से वह समस्त मनुष्य जाति को मार डालने के अपराधी के बराबर होता था। "भूमि की चोरी के लिये नर्क का दण्ड होता है (गौतम १३, १४, १७)।"

इसी प्रकार शिल्पकारों के विषय में मेगास्थनीज कहता है कि जो मनुष्य किसी शिल्पकार की आँख फोड़ डाले अथवा हाथ काट डाले उसे प्राणदण्ड होता था। जो मनुष्य आत्महत्या करना चाहता था उसके लिए एक कठोर प्रायश्चित नियत था और हत्या करने वाले के सम्बन्धियों के लिये उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करना वर्जित था (वशिष्ठ २३, १४, इत्यादि)।

दो हजार वर्ष पूर्व हिन्दुओं का दण्डक्रम इस प्रकार का था। अब हम दीवानी कानून के पेचीले विषय का वर्णन करेंगे जो कि सुगमता से पांच भागों में बांटा जा सकता है अर्थात् (१) खेती और चराई के कानून (२) सम्पत्ति के कानून (३) अधिक ब्याज खाने के कानून (४) उत्तराधिकारी होने के अत्यन्त आवश्यक कानून और (५) बटवारे के कानून। हम खेती और चराई के नियमों से आरम्भ करते हैं।

(१) यदि कोई मनुष्य किसी भूमि का ठेका ले और उसमें यत्न न करे और उसके कारण भूमि में अन्न न उपजै तो यदि वह मनुष्य अमीर हो तो उससे उतने अन्न का मूल्य ले लिया जायगा जो उस भूमि में उपज सकता था।

(२) खेती के काम में जो नौकर रक्खा जाय वह यदि अपना काम छोड़ दे तो उसे कोड़े लगाये जायेंगे।

(३) यही दण्ड उस चरवाहे को दिया जायेगा जो अपना काम छोड़ देगा।

(४) और जिन पशुओं की रखवारी उसके सुपुर्द होगी वे ले लिए जांयगे।

(५) यदि पशु अपना तबेला छोड़कर किसी का अन्न खा जाय तो अन्न का मालिक उन्हें हात में बन्द रख कर दुर्बल कर सकता है परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता।

(६) यदि कोई चरवाहा जिसने अपने जिम्में कुछ पशुओं को लिया हो उन पशुओं को नष्ट हो जाने अथवा खो जाने दे तो उसे पशुओं के स्वामी को उनके बदले में दूसरे पशु देने पड़ेंगे।

(७) यदि (राजा का बनरखा) ऐसे पशुओं को देखे कि जो असावधानी से जंगल में चले गए हों तो वह उन्हें गाँव में लाकर उनके स्वामियों दे देगा। (आपस्तम्ब २, ११, २८)।

फिर गौतम कहते हैं :—

(१९) यदि पशु कुछ हानि करें तो उनका दोष उनके मालिक पर होता है।

(२०) परन्तु यदि उन पशुओं के साथ कोई चरवाहा हो तो वही उसका उत्तरदाता होगा।

(१२) यदि किसी सड़क के निकट बिना घेरे हुए खेत में यह हानि हो तो उसका उत्तरदाता चरवाहा और उस खेत का स्वामी दोनों ही होंगे (गौतम १२)।

आजकल की भांति उस समय भी 'बिना घिरे हुए खेत पशुओं को चराने और लकड़ी काटने के लिए साधारणतः काम में आते थे।

यदि खेत घिरे न हों तो वह उसमें से गाय के लिये घास, अपनी अग्नि जलाने के लिये लकड़ी, तथा पेड़ और लताओं के फूल और फल ले सकता है (गौतम १२, २८)।

वशिष्ठ मार्ग के हक और अचल सम्पत्ति के विषय के झगड़ों में आवश्यक गवाही के लिए उचित नियम देते हैं।

(१०) स्मृति में सम्पत्ति के अधिकार के लिये तीन प्रकार के प्रमाण लिखे हैं अर्थात् दस्तावेज, गवाही और कब्जा। इन प्रमाणों से कोई मनुष्य उस सम्पत्ति को फिर से पा सकता है जो कि पहले उसके अधिकार में रही हो।

जिन खेतों में मार्ग का हक्क होता है उनमें सड़क के 'लिये आवश्यक जगह और इसी प्रकार गाड़ी घूमने के लिये जगह भी छोड़ देनी चाहिये।

(१२) नए बने हुए मकानों और इसी प्रकार की अन्य इमारतों के निकट तीन फुट चौड़ा रास्ता होना चाहिये।

(१३) किसी घर अथवा खेत के विषय के झगड़े में पड़ोसियों की साक्षी पर विश्वास करना चाहिए।

(१४) यदि पड़ोसियों की गवाही एक दूसरे के विरुद्ध हो तो कागज पत्र को प्रमाण मानना चाहिये।

(१५) यदि कागज पत्र झगड़े के हों तो गांव अथवा नगर के वृद्ध लोगों और शिल्पकारों अथवा व्यापारियों की पंचायतों की सम्मति पर भरोसा करना चाहिये। (वशिष्ठ १६)

और अब हम सम्पत्ति के कानून के विषय में लिखेंगे। सम्पत्ति नीचे लिखे अनुसार आठ प्रकार की कही गई है :—

(१६) पिता से मिली हुई सम्पत्ति, मोल ली हुई वस्तु, गिरों की सम्पत्ति, वह सम्पत्ति जो विवाह के उपरान्त स्त्री को अपने पति के घराने से मिलती है, दान की सम्पत्ति जो सम्पत्ति, यज्ञ करने के लिए मिली हो, पुनर्सम्मिलित साझीदारों की सम्पत्ति और आठवें मजदूरी।

(१७) इन आठों प्रकार की सम्पत्तियों में से किसी को भी यदि कोई दूसरा मनुष्य लगातार १० वर्षों तक भोगे तो उसका मालिक फिर उसे नहीं पा सकता।

(१८) दूसरे दल के लोग भी निम्न लिखित वाक्य उद्धृत करते हैं:— गिरों की वस्तु, सीमा, नाबालिग की सम्पत्ति, (खुली हुई) धरोहर, मोहर की हुई धरोहर, स्त्री, राजा की सम्पत्ति, श्रोत्रीय का धन, यह सब दूसरों से भोगे जाने पर भी उनका नहीं हो जाता!

(१९) जिस सम्पत्ति को उसका मालिक बिलकुल छोड़ दे वह राजा की होती है (वशिष्ठ १६)

गौतम भी इसी प्रकार का नियम लिखते हैं :—

(३७) जो मनुष्य न तो पागल हो और न नाबालिग, उसकी सम्पत्ति यदि उसके सामने दूसरा कोई मनुष्य भोगे तो वह सम्पत्ति भोग करनेवाले की हो जाती है।

(३८) परन्तु यदि वह श्रोत्रियों, सन्यासियों अथवा राज्य कर्मचारियों से भोगी जाय तो ऐसा नहीं होता।

(३९) पशु, भूमि, और स्त्रियों के दूसरों के अधिकार में रहने से भी उन पर उनके मालिक का स्वत्व छूट नहीं जाता। (गौतम १२)

उपरोक्त वाक्यों में स्त्रियों से दासियों का अर्थ है। नाबालिगों और विधवाओं इत्यादि के विषय में यह नियम है कि राजा उनकी सम्पत्ति का प्रबन्ध करे और

नाबालिग के बालिग होने पर उसकी सम्पत्ति उसे दे दे। (वशिष्ठ १६,८,९)

अब हम भारतवर्ष के प्राचीन समय के अधिक ब्याज के कानून को लिखेंगे। हमारे पाठकों में से बहुत से लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि वे उस कानून से बुरे नहीं थे जो कि केवल कुछ शताब्दी पहले यूरप में प्रचलित थे। "रुपए उधार देने वाले के लिये ब्याज की दर वशिष्ठ के वाक्यों में सुनिए, । बीस कार्षापण के लिए प्रतिमास पांच माशा लिया जा सकता है, और इससे नियम नहीं टूटता।" (वशिष्ठ २, ५१)

इसी प्रकार गौतम कहते हैं (१२, १९)—

जो रुपया उधार दिया जाय उसका उचित ब्याज बीस (कार्षापण) के लिये प्रति मास पाँच माशा है।

भाष्यकार हरदत्त कार्षापण का ब्याज बीस माशा कहते हैं जिससे कि ब्याज का दर प्रति मास सवा रुपये सैकड़े अथवा प्रति वर्ष पन्द्रह रुपये सैकड़े होता है। पंडित यह ठीक कहता है कि यह ब्याज उस द्रव्य के लिये है जो वस्तु गिरों ...ग्या जाय। मनु विशेषतः कहता है (८, १४०) कि यह ब्याज वशिष्ठ का ...हुआ है। गौतम कहता है कि जब मूल द्रव्य ब्याज मिला कर दूना हो ... उपरान्त ब्याज नहीं लगता और गिरों रक्खी हुई वस्तु का यदि भोग हो तो उस रुपये का बिलकुल ब्याज नहीं लगता। (१२, ३१ और ३२)

दूसरी वस्तुएं बहुत अधिक ब्याज पर भी दी जा सकती हैं, पर उसी अवस्था ... कि उसके पलटे में कोई वस्तु गिरों न रक्खी गई हो।

(४४) सोना जितना उधार दिया जाय उसका दूना लिया जा सकता है और अन्न तिगुना लिया जा सकता है।

(४५) स्वादिष्ट वस्तुओं के लिये भी अन्न का नियम कहा गया है।

(४६) और फूल, कंद, और फल के लिये भी।

(४७) जो वस्तुएं तोल कर बिकती हैं उनको उधार दे कर उनका अठगुना ले सकते हैं।

इसी प्रकार गौतम कहते हैं—

पशु, जात वस्तुएं, ऊँन, खेत की पैदावार और बोझा ढोने वाले पशुओं को उधार दे कर उनके पचगुने मूल्य से अधिक नहीं लिया जा सकता। (गौतम (१२, ३६)

इस प्रकार वस्तु गिरों रख कर द्रव्य उधार देने के अतिरिक्त अन्य वस्तु और

पैदावार, उनके पलटे में बिना कोई वस्तु गिरों रक्खे हुए, बड़े अधिक सूद पर उधार दिए जाते थे। द्रव्य की अवस्था में ब्याज केवल दूना हो सकता था, परन्तु अन्य अवस्थाओं में वह छगुना अथवा आठगुना तक हो सकता था।

गौतम छ भिन्न-भिन्न प्रकार के ब्याज लिखता है। अर्थात् ब्याज दर ब्याज, समय-समय पर दिए जाने वाला ब्याज, बन्धेज किया हुआ ब्याज, शारीरक ब्याज, दैनिक ब्याज और भोग बन्धक ब्याज (१२, ३४० और ३५)। वह कहता है कि मृत पुरुष के उत्तराधिकारी को उसका देना चुकाना चाहिए परन्तु किसी जमानत का द्रव्य, व्यापार सम्बन्धी ऋण, स्त्री के माता पिता का द्रव्य, अधर्म के लिये ऋण और दण्ड का द्रव्य मृतक के लड़कों को नहीं देना पड़ेगा। (१२, ४० और ४१)।

और अब हम दीवानी कानून की सबसे आवश्यक बात अर्थात् उत्तराधिकारी होने के कानून का उल्लेख करेंगे।

प्राचीन हिन्दू लोग पुत्र सन्तान का होना धर्म की बात समझते थे और इस कारण अपना पुत्र न होने पर प्राचीन समय में और प्रकार के पुत्र माने जाते थे।

निम्न लिखित वाक्यों में गौतम ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उन पुत्रों का वर्णन किया है जिन्हें कि वह उत्तराधिकारी समझता था और ऐसों का जिन्हें उत्तराधिकारी नहीं वरन् केवल वंशज समझता था—

(३२) अपना पुत्र (औरस), अपनी स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (क्षेत्रज), गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक), माना हुआ पुत्र (कृत्रिम), गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र (गूधज) और त्यागा हुआ पुत्र (अपविद्ध) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

(३३) अविवाहिता बालिका का पुत्र (कानीन), गर्भवती स्त्री का पुत्र (सहोध), दो बेर विवाहिता स्त्री का पुत्र (पौनर्भव), नियुक्त कन्या का पुत्र (पुत्रिकापुत्र), स्वयं दिया हुआ पुत्र (स्वयं दत्त) और मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) अपने वंश का होता है। (२८)

बौद्धायन और वशिष्ठ गौतम के बहुत पीछे हुए और उनकी सम्मतियां गौतम से तथा एक दूसरे से कुछ बातों में भिन्न हैं।

(१४) जिस पुत्र को पति अपनी जाति की विवाहिता स्त्री से उत्पन्न करे वह अपना निज का पुत्र होता है (औरस)।

(१५) पत्री को नियुक्त करने के पीछे उससे जो पुत्र उत्पन्न हो वह नियुक्त पुत्री का पुत्र (पुत्रिकापुत्र) होता है।

(१७) किसी मृत मनुष्य, किसी हिजड़े, तथा किसी रोगी मनुष्य की स्त्री से

यदि कोई दूसरा मनुष्य अनुमति ले कर पुत्र उत्पन्न करे तो वह स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (क्षेत्रज) कहलाता है।

(२०) गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक) वह कहलाता है जिसे कोई मनुष्य उसके माता पिता अथवा उनमें से किसी एक से लेकर अपने पुत्र के स्थान पर रखें।

(२१) वह बनाया हुआ पुत्र (कृत्रिम) कहलाता है जिसे कोई मनुष्य केवल (उस पुत्र की) सम्मति से अपना पुत्र बनावे और वह उसी की जाति का हो।

(२२) गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र (गूधज) वह कहलाता है जो घर में गुप्त रीति से उत्पन्न हो और उसका उत्पन्न होना पीछे से विदित हो।

(२३) त्यागा हुआ पुत्र (अपविद्ध) वह कहलाता है जिसे उसके पिता अथवा माता ने अथवा उनमें से किसी एक ने त्याग दिया हो और उसे कोई अपने पुत्र की भांति रख ले।

(२४) यदि कोई मनुष्य किसी अविवाहिता कन्या के साथ (उसके पिता अथवा माता की) आज्ञा के बिना, रहे तो ऐसी कन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र अविवाहिता कन्या का पुत्र (कानीन) कहता है।

(२५) यदि कोई जानकर अथवा बिना जाने किसी गर्भवती स्त्री से विवाह करे तो उससे उत्पन्न हुआ पुत्र स्त्री के साथ लिया हुआ (सहोध) कहलाता है!

(२६) मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) वह कहलाता है जिसे कोई मनुष्य उसके पिता माता अथवा उनमें से किसी एक से मोल ले कर अपने पुत्र की भांति रक्खे।

(२७) स्त्री के दूसरे विवाह का पुत्र (पौनर्भव) वह कहलाता है जो किसी स्त्री के दूसरे विवाह से अर्थात् जिस स्त्री ने अयोग्य पुरुष को छोड़ कर दूसरे पुरुष से विवाह कर लिया हो उससे उत्पन्न हुआ हो !

(२८) स्वयं दिया हुआ पुत्र (स्वयंदत्त) वह कहलाता है जिसे उसके माता-पिता ने त्याग दिया हो और वह किसी दूसरे के यहां अपने को स्वयं दे दे।

(२९) वह जो प्रथम द्विज जाति के मनुष्य और किसी शूद्र जाति की स्त्री से उत्पन्न हो, निषाद कहलाता है।

(३०) जो एक ही माता-पिता से कामातुरता होने के कारण उत्पन्न हो वह पार्सव कहलाता है। (बौद्धायन २, २, ३)।

उसके उपरान्त बौद्धायन कुछ वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिससे विदित होता है कि उपरोक्त चौदह प्रकार के पुत्रों में से प्रथम सात प्रकार के पुत्र अर्थात् औरस, पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूधज और अपविद्ध उत्तराधिकारी हो सकते थे। उनके

आगे के छ प्रकार के पुत्र अर्थात् कानीन; सहोध, क्रीत, पौनर्भव, स्वयं दत्त और निषाद वंशज समझे जाते थे। पार्सव वंशज भी नहीं समझा जाता था!

गौतम की तरह वशिष्ठ बारह प्रकार के पुत्र लिखते हैं :—

(१२) प्राचीन लोगों ने केवल बारह प्रकार के पुत्र माने हैं!

(१३) पहला पुत्र स्वयं पति द्वारा उसकी विवाहिता स्त्री से होता है (औरस)।

(१४) दूसरा पुत्र वह है जो उस स्त्री अथवा विधवा से उत्पन्न किया जाय जिसे औरस पुत्र न होने के कारण पुत्र उत्पन्न करने का अधिकार प्राप्त हो (क्षेत्रज)

(१५) तीसरा पुत्र नियत की हुई पुत्री (पुत्रिका पुत्र) है।

(१६) वेदों में यह कहा है कि 'वह कन्या जिसका कोई भाई न हो (अपने वंश के) पुरुष पूर्वजों में आ जाती है और इस प्रकार वह उनके लड़के के समान हो जाती है ※।

(१७) इसके सम्बन्ध में एक वाक्य है (जिसे पिता अपनी पुत्री को नियत करते समय कहता है) 'मैं तुझे एक बिना भाई की कन्या आभूषणों से सज्जित देता हूँ। उससे जो पुत्र हो मेरा पुत्र होगा।

(१८) चौथा विधवा के पुनर्विवाह का पुत्र (पौनर्भव) होता है।

(१९) पुनर्विवाहिता स्त्री (पुनर्भू) वह कहलाती है जो कि अपनी बाल्यावास्था के पति को छोड़ कर और दूसरों के साथ रहकर, फिर अपने वंश में आवे।

(२०) और वह पुनर्विवाहिता कहलाती है जो नपुन्सक, जाति से निकाले हुए वा पागल पति को छोड़ कर अथवा पति की मृत्यु के उपरान्त दूसरा पति करे :-:।

※ "वसिष्ठ यहां पर नियुक्त कन्या को जो पुत्र कहता है यह अद्भुत बात कदाचित उस रीति से विदित होगी जो कि अब तक भी काश्मीर में पाई जाती है. यद्यपि उसका प्रचार अब बहुत कम है, तथापि वह है। उस रीति के अनुसार बिना भाई की कन्या का पुरुष का नाम रक्खा जाता है। इस प्रकार की एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन राजतरंगिणी में दिया है। उसमें लिखा है कि गौड़ की राजकुमारी और जयापीड़ राजा की स्त्री कल्याणदेवी को उसके पिता कल्याणमल्ल कह कर पुकारते थे"—डा० बुहलर।

:-: इस वाक्य में वे अवस्थाएँ लिखी हैं जिनमें कि स्त्री का दूसरा विवाह किया जा सकता था। वे अवस्थायें ये हैं अर्थात पति का पागलपन, नपुंसकता, जाति से निकाला जाना, अथवा मृत्यु। इस प्रकार की पुनर्विवाहिता स्त्री के पुत्र को उत्तराधिकार मिलने के लिये वशिष्ट आज्ञा देते हैं।

(२३) पांचवां अविवाहिता कन्या का पुत्र (कानीन) होता है।

(२४) वह पुत्र जो घर में गुप्त रीति से उत्पन्न हो छठां (गूधज) है।

(२५) लोग कहते हैं कि ये छओं उत्तराधिकारी और वंशज हैं जो कि बड़ी आपत्तियों से रक्षा करने वाले हैं।

(२६) अब उन पुत्रों में जो कि उत्तराधिकारी नहीं है परन्तु वंशज हैं पहला पुत्र वह है जो गर्भवती स्त्री के साथ आया (सहोध) हो।

(२८) दूसरा गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक) है।

(२९) तीसरा मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) है।

(३३) चौथा पुत्र वह है जिसने अपने को स्वयं दिया हो (स्वयंदत्त)।

(३६) पाचवां निकाला हुआ (अपविद्ध) है।

(३८) लोग कहते हैं कि शूद्र जाति की स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (निषाद) छठां है (वशिष्ठ १७)

वसिष्ठ के अनुसार छओ प्रकार के पुत्र उत्तराधिकारी नहीं हो सकते, परन्तु वह एक वाक्य उद्धृत करता है कि "जब प्रथम छओं प्रकार का कोई उत्तराधिकारी न हो उस अवस्था में उनको उत्तराधिकार प्राप्त करने का" अधिकार होगा! गौतम, वशिष्ठ, और बौद्धायन के नियम इस भांति दिखलाए जा सकते हैं।

	गौतम	वशिष्ठ	बौद्धायन
वंशज और उत्तराधिकारी	१ औरस	१ औरस	१ औरस
	२ क्षेत्रज	२ क्षेत्रज	२ पुत्रिकापुत्र
	३ दत्तक	३ पुत्रिकापुत्र	३ क्षेत्रज
	४ कृत्रिम	४ पौनर्भव	४ दत्तक
	५ गूधज	५ कानीन	५ कृत्रिम
	६ अपविद्ध	६ गूधज	६ गूधज
			७ अपविद्ध
वंशज पर उत्तराधिकारी नहीं	७ कानीन	७ सहोध	८ कानीन
	८ सहोध	८ दत्तक	९ सहोध
	९ पौनर्भव	९ क्रीत	१० क्रीत
	१० पुत्रिकापुत्र	१० स्वयंदत्त	११ पौनर्भव
	११ स्वयंदत्त	११ अपविद्ध	१२ स्वयंदत्त
	१२ क्रीत	१२ निषाद	१३ निषाद
न वंशज और न उत्तराधिकारी	,,	,,	१४ पारसव

परन्तु शीघ्र ही अपने से उत्पन्न हुए तथा दूसरे से उत्पन्न हुए पुत्रों को मानने का विचाराविचार होना मृत्यु के पीछे नर्क के कष्ट से बचने के लिये भी, आरम्भ हो गया। आपस्तम्ब जो बौद्धायन के एक शताब्दी पीछे हुआ, भिन्न-भिन्न प्रकार के पुत्रों और उत्तराधिकारियों का विरोध करता है और कहता है कि प्राचीन समय में जो बातें की जाती थीं वे आज कल के पापी मनुष्यों में नहीं की जा सकतीं।

(१) जो मनुष्य ठीक समय में अपने जाति की उस स्त्री के पास जाता है जो कि किसी दूसरे मनुष्य की न रही हो और जिससे उसने नियमानुसार विवाह किया हो तो उससे जो पुत्र उत्पन्न हों तो वे अपनी जाति का व्यवसाय करने के अधिकारी हैं।

(२) और सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होने के भी।

(८) प्राचीन समय के लोगों में इस नियम का उल्लंघन भी पाया जाता है।

(९) ये लोग अपने बड़े प्रताप के करण पाप के भागी नहीं होते थे।

(१०) आज कल का जो मनुष्य उनकी बातों को लेकर उनका अनुकरण करेगा, वह पतित होगा।

(११) किसी लड़के का दान (वा स्वीकार करना) और उसको बेचना (वा मोल लेना) व्यवहार के अनुसार नहीं है। (आपस्तम्ब २, ६, १३) एक दूसरे स्थान पर आपस्तम्ब कहता है कि—

(२) किसी सभ्य पति को अपनी स्त्री को अपने कुटुम्ब को छोड़ कर, दूसरे किसी को अपने लिए पुत्र उत्पन्न करने के प्रयोजन से नहीं देनी चाहिये।

(४) इस बात का (आजकल) मनुष्यों की इंद्रियों की निर्बलता है, के कारण निषेध किया गया है।

(५) नियम के अनसार पति को छोड़ कर किसी सभ्य अथवा दूसरे मनुष्य का हाथ अज्ञात पुरुष की भांति समझना चाहिए।

(६) यदि विवाह के समय की प्रतिज्ञा भंग की जाय तो पति और पत्नी दोनों निस्सन्देह नर्क को जाते हैं। (आपस्तम्ब २, १०, २७)

इस प्रकार आपस्तम्ब केवल नियोग अर्थात् पुत्र उत्पन्न करने' केलिये स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ नियुक्त करने ही का निषेध नहीं करता वरन् वह पुत्र के गोद लेने अथवा मोल लेने का भी निषेध करता है। आजकल हिन्दू लोग केवल अपने पुत्र को और अपना पुत्र न होने की अवस्था में गोद लिये हुए पुत्र को छोड़ कर और किसी प्रकार के पुत्र को नहीं मानते।

अन्त में हम बटवारे के कानून का उल्लेख करेंगे। भाइयों में संपत्ति के बांटने के सम्बन्ध में भी मतभेद है। ज्येष्ठता का नियम भारतवर्ष में कभी नहीं रहा वरन् जब तक कुटुम्ब के एक में रहने की रीति प्रचलित थी तब तक सबसे ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था और पिता की भाँति सब का पालन करता था। परन्तु यह विदित होता है कि समस्त कुटुम्ब के मिल कर बड़े भाई के आधीन रहने की रीति भारतवर्ष में सदा से नहीं रही है और जिन सूत्रकारों के ग्रन्थ अब तक वर्तमान हैं उनमें से सब से प्राचीन सूत्रकार गौतम कहता है कि भाइयों में बटवारा हो जाना बहुत अच्छा है क्योंकि "बटवारा होने से आत्मीय योग्यता की वृद्धि होती है। (२८, ४)

गौतम के अनुसार सब से बड़े पुत्र को संपत्ति का बीसवां भाग, कुछ पशु और एक गाड़ी उसके हिस्से के अतिरिक्त मिलनी चाहिए। बिचले लड़के को कुछ घटिया पशु और सबसे छोटे को भेड़ी, अन्न, बर्तन, मकान, छकड़ा और कुछ पशु, मिलने चाहिए और शेष संपत्ति बराबर-बराबर बांट ली जाने चाहिये। अथवा वह सबसे बड़े पुत्र को दो हिस्से और शेष पुत्रों को एक एक हिस्सा लेने को कहता है। अथवा वह उनमें से प्रत्येक को उनकी बड़ाई के अनुसार अपने इच्छानुकूल एक एक प्रकार की संपत्ति लेने देता है अथवा उनकी माता सबके लिये विशेष हिस्सा कर दे सकती है। (२८, ५ - १७)

बशिष्ट सब से बड़े भाई को दो हिस्सा, कुछ गाय और घोड़े दिलवाता है, सबसे छोटे को बकरे, भेड़ी और मकान दिलवाता है और बिचले को बर्तन और असबाब दिलवाता है। और यदि ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य स्त्रियों से पुत्र उत्पन्न हुये हों तो वह पहले को तीन भाग, दूसरे को दो भाग, और तीसरे अर्थात् वैश्य स्त्री के पुत्र को एक भाग दिलवाता है (१७, ४२—५०)

बौद्धायन सब पुत्र को बराबर बराबर भाग अथवा सब से बड़े पुत्र को अपने भाग के अतिरिक्त संपत्ति का दसवाँ हिस्सा अधिक दिलवाता है। जब भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों से पुत्र हुए हों तो क्रम के अनुसार वह उन्हें चार, तीन, दो और एक भाग दिलवाता है (२, २, ३, २—१०)

आपस्तम्ब की सम्मति इस बात में भी अपने पूर्वजों से भिन्न है और वह संपत्ति के कमती बढ़ती भाग करने के बिरुद्ध है। वह ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्टता देने की सम्मति उद्धृत करता है, जिन बातों पर वे सम्मतियाँ दी गई हैं उन पर वादाविवाद करता है और कहता है कि उनमें केवल घटनाओं का उल्लेख है, नियमों का नहीं। और इसलिये वह ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठता देने में सहमत नहीं है। जो पुत्र धार्मिक

हों वे सब संपत्ति के उत्तराधिकारी हैं परन्तु वह जो अधर्म में रुपया व्यय करता हो, संपत्ति नहीं पा सकता, चाहे वह ज्येष्ठ पुत्र ही क्यों न हो। (२, ६, १४,१-५) स्त्री की सम्पत्ति अर्थात् जो आभूषण इत्यादि उसे व्याह के समय मिलते थे उनकी उत्तराधिकारिणी उसकी लड़कियाँ होती थीं। (गौतम, २८, २४; वशिष्ट, १७, ४६. बौद्धायन, २, ३, ४३)

दार्शनिक काल में ऐसे कानून थे। उनसे इस समय तथा ऐतिहासिक काव्य के समय महान् अन्तर निस्सन्देह प्रगट होता है और दार्शनिक काल की सभ्यता, शिक्षा और पेचीले विषयों में इस काल की प्रायोगिक रीति प्रगट होती है। ऐतिहासिक काव्य काल में जो बातें गड़बड़ थीं वे इस समय में ठीक और नियमबद्ध की गईं, जो बातें विस्तृत रूप में थीं वे संक्षिप्त की गईं और जो बातें अस्पष्ट और अनिश्चित थीं वे प्रायोगिक रीति पर लाई गईं। दीवानी और फौजदारी के मुकद्दमें अब विद्वानों और पुजारियों की भिन्न-भिन्न और अस्पष्ट सम्मतियों के द्वारा निर्णय नहीं किये जाते थे वरन् उनकी स्मृतियाँ सुधारी जा कर और संक्षिप्त बनाई जाकर स्मृति की पुस्तकों के रूप में लाई गई थीं और उनके अनुसार विद्वान लोग न्याय करते थे। जाति के नियम, जो कि ऐतिहासिक काव्य काल तक भी कोमल थे, वे अधिक कठोर और दार्शनिक काल के अभंग नियमों के अनुकूल बनाए गए और समस्त हिन्दू समाज का भी वैसा ही कठोर नियम बना। हम आगे दोनों अध्यायों में इन दोनों विषयों का वर्णन करेंगे और तब यह दिखलावेंगे कि विज्ञान और दर्शन-शास्त्र की भी ऐसी ही दशा हुई।

इक्कीसवाँ अध्याय

जाति

जाति भेद के कठोर नियम बनाने में उस समय के सूत्रकारों को बड़ी कठिनाई पड़ी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि पहले पहल मनुष्यों की चार जातियां थीं अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र। परन्तु अब उनके बीच में बहुत-सी दूसरी-दूसरी जातियाँ हो गई थीं अर्थात् जिन अनार्य लोगों ने हिन्दू होना स्वीकार कर लिया था उनमें से प्रत्येक की जुदी-जुदी हिन्दू जातियाँ हो गईं। अब ये नई

जातियाँ कहाँ से आईं और उनकी उत्पत्ति का क्या कारण है ? सूत्रकारों ने यह मान कर कि समस्त मनुष्य जाति में पहले केवल चार ही जातियाँ थीं। इन नई जातियों को उन्हीं चार मुख्य जातियों में से निकालने का यत्न किया गया। तब इस अद्भुत कथा की कल्पना की गई कि ये नई जातियाँ चारों मुख्य जाति में परस्पर विवाह होने के कारण उत्पन्न हुई हैं। यह कहना वैसा ही है जैसा कि पाँचवीं शताब्दी का कोई यूनानी पुरोहित कहे कि रोमन लोगों के पार्थियन स्त्रियों से विवाह करने के कारण हम लोगों की उत्पत्ति हुई, अथवा तेरहवीं शताब्दी का कोई पादरी यह कहे कि मोगलों की उत्पत्ति यूनानी बेरन लोगों के चीन देश की स्त्रियों से विवाह करने के कारण हुई। ऐसे कल्पित सिद्धान्त चाहे अज्ञानता के समय में भले ही स्वीकार कर लिये जाँय परन्तु ज्ञान की वृद्धि होने के साथ उनका लोप हो जायगा परन्तु भारतवर्ष में जहाँ कि लोगों की विद्या धीरे-धीरे कम होती गई है, इन सिद्धान्तों को पीछे के समय के सब लेखक बराबर मानते गए और उन पर आज तक भी भारतवर्ष में विश्वास किया जाता है।

वशिष्ठ कहते हैं कि :—

(१) लोग कहते हैं कि शूद्र पुरुष से ब्राह्मण जाति की स्त्री को जो पुत्र हो वह चाण्डाल होता है।

(२) क्षत्री जाति की स्त्री से शूद्र पुरुष का जो पुत्र हो वह वैन होता है।

(३) वैश्य जाति की स्त्री से शूद्र पुरुष का पुत्र अगत्यावसायिन होता है।

(४) वे कहते हैं कि ब्राह्मण जाति की स्त्री से वैश्य का जो पुत्र उत्पन्न हो वह रामक होता है।

(५) क्षत्रिय जाति की स्त्री से उसका (वैश्य का) जो पुत्र उत्पन्न हो वह पौलकश होता है।

(६) लोग कहते हैं कि ब्राह्मण जाति की स्त्री से क्षत्रिय का जो पुत्र उत्पन्न हो वह सूत होता है।

(८) ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य पुरुषों को अपने से नीचे की पहली, दूसरी और तीसरी जातियों की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हों वे क्रमात् अम्बष्ठ, उग्र, और निषाद होते हैं।

(९) ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से जो पुत्र हो वह पार्सव होता है। (वशिष्ठ, १८)

बौद्धायन का इस विषय में कुछ मतभेद है।

(३) ब्राह्मण का क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह ब्राह्मण होता

है, वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह अम्बष्ठ होता है और शूद्र जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह निषाद होता है।

(४) किसी-किसी के मत के अनुसार वह पार्सव होता है।

(५) क्षत्रिय का वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह क्षत्री और शूद्र स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह उग्र होता है।

(६) वैश्य का शूद्र जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह रथकार होता है।

(७) शूद्र का वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह मागध, क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ क्षत्री, परन्तु ब्राह्मण जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह चाण्डाल होता है।

(८) वैश्य का क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह अयोग्य और ब्राह्मण जाति की स्त्री के साथ सूत होता है। और इसी प्रकार उग्र पिता और क्षत्री माता से स्वपाक, वैदेहक पिता और अम्बष्ठ माता से वेन, निषाद पिता और शूद्र माता से पौलकश और शूद्र पिता और निषाद माता से कुक्कुटक होता है। "पण्डित लोग कहते हैं कि दो जातियों के सम्मिलन से जो सन्तान उत्पन्न हों, वे व्रात्य कहलाते हैं। (बौद्धायन १, ९, १७)।"

गौतम ने जो लिखा है वह समझ में आने के योग्य तथा संक्षिप्त है और हम उसे नीचे उद्धृत करेंगे—

(१६) उच्च जाति की उससे नीचे की पहली, दूसरी अथवा तीसरी जाति से जो सन्तति हो वह क्रमात् सवर्ण अर्थात् बराबर की जाति, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, दौश्यंत और पार्सव होती है।

(१७) उलटे क्रम से (उच्च जातियों की स्त्री से) जो पुत्र उत्पन्न हों वे सूत, मागध, आयोगव, क्षत्री, वैदेहक और चाण्डाल होते हैं।

(१८) कुछ लोगों का मत है कि ब्राह्मण जाति की स्त्री को चारों जाति के पुरुषों के साथ जो पुत्र हों वे क्रमात् ब्राह्मण, सूत, मागध और चाण्डाल होते हैं।

(१९) और उसी भाँति क्षत्री स्त्री को उनसे जो पुत्र उत्पन्न हों वे क्रमात् मूर्द्धाभिसिक्त, क्षत्रिय, धीवर और पौलकस होते हैं।

(२०) और वैश्य जाति की स्त्री को उनसे जो पुत्र हों वे भृज्ञकंथ, माहिश्य, वैश्य, और वैदेह होते हैं।

(२१) और शूद्र जाति की स्त्री को उनसे पार्सव, यवन, करन, और शूद्र उत्पन्न होते हैं। (गौतम, ४)

यहाँ हमने प्रामणिक वाक्य उद्धृत किए हैं जिससे कि कट्टर से कट्टर विश्वास

करने वाला भी डगमगा जाय ! मागध और वैदेह जो कि भिन्न-भिन्न जातियाँ थीं, चाण्डाल और पौलकस जो कि निस्सन्देह अनार्य जातियाँ थीं और यवन भी जो कि ब्याक्ट्रिया के यूनानी लोग तथा अन्य विदेशी लोग थे, सब उसी एक कठोर नियम में लाए गये थे जिसके बाहर कोई नहीं समझा जाता था और उन सबकी उत्पत्ति उन्हीं चार मुख्य जातियों से कही गई हैं । इसके उपरान्त जब अन्य विदेशी जातियों से हिन्दुओं का परिचय हुआ तो उनमें भी यही सिद्धान्त घटाया गया और मनु ने उन जातियों की भी उत्पत्ति उन्हीं चार मुख्य हिन्दू जातियों से कर डाली ।

परन्तु यह बात विलक्षण है कि उपरोक्त जातियों में जिनकी इस प्रकार उत्पत्ति बतलाई गई है, प्रायः सब ही आदि निवासी अथवा विदेशी जाति के अथवा ऐसे आर्य लोग थे जो कि नास्तिकता और बौद्ध धर्म का अवलम्बन करने के कारण घृणा के पात्र बन गये थे । हमको उनमें व्यवसाय की जातियों के यथा कायस्थ, वैद्य, सोनार, लोहार, कुह्मार, तांती और आजकल की ऐसी ही अन्य जातियों के नाम नहीं मिलते । भारतवर्ष में प्राचीन समय में यदि ये व्यवसाय करने वाले भिन्न-भिन्न जातियों में नहीं बँटे थे तो वे किस प्रकार जुदे समझे जाते थे ? इसका उत्तर सहज है । दार्शनिक काल में वैश्य जाति भिन्न-भिन्न जातियों में नहीं बँटी थी और ये सब भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले उसी एक जाति में सम्मिलित थे जो कि आजकल फूट कर कई जातियों में बंट गई है । * प्राचीन समय में आर्य वैश्य लोग भिन्न-भिन्न व्यापार और व्यवसाय करते थे परन्तु उनकी जुदी-जुदी जाति नहीं थी । वे लोग लेखक, वैद्य, सोनार, लोहार, कुम्हार और तांतीं का काम करते थे परन्तु फिर भी वे सब उसी एक वैश्य जाति के थे । इस प्रकार आर्य लोगों का बड़ा भाग अब तक

---

* इसका एक उदाहरण बहुत होगा । बङ्गाल की वैद्य जाति दार्शनिक काल में नहीं थी परन्तु पीछे के समय में उनके लिये भी वही बात गढ़ी गई जैसा कि दार्शनिक काल में किया गया था । यह कल्पना की गई कि वैद्य लोग भी दो भिन्न-भिन्न जातियों के स्त्री और पुरुष से उत्पन्न हुए हैं । और फिर भी बुद्धि हमें यह कहे देती है कि वे लोग आर्य जाति के एक भाग से अर्थात् वैश्यों से उत्पन्न हुए थे जिन्होंने कि अपने को वैद्यकशास्त्र में लगाया, ज्योंही कि यह शास्त्र विशेष ध्यान देने योग्य हुआ । इस प्रकार कुछ समय में उनकी एक जुदी जाति ही हो गई । बङ्गाल के वैद्य लोग जिस नाम से अब तक पुकारे जाते हैं उससे भी यह बात प्रमाणित होती है । सब वैद्य गुप्त (सेन गुप्त, दास गुप्त इत्यादि) होते हैं । अब सूत्र ग्रंथों में कई स्थान पर यह स्पष्ट लिखा है कि सब ब्राह्मण शर्म्मन् होते हैं, सब क्षत्री वर्म्मन होते हैं और सब वैश्य गुप्त होते हैं । हम ऐसे वाक्य अगले अध्याय में उद्धृत करेंगे ।

भी एक में था और वे अब तक भी धार्मिक ज्ञान और विद्या पाने के अधिकारी थे। वेद का पाठ, यज्ञों का करना, और दान देना, यह द्विज जाति के लिये अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये कहा गया है। ब्राह्मणों का विशेष कार्य यह था कि वे दूसरों के लिये यज्ञ करते थे और दान लेते थे वे खेती और व्यापार भी कर सकते थे, यदि वे उसमें अपने हाथों से कार्य न करें। (गौतम १०, ५) जातियों के विशेष अधिकारों से जो बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं वे दार्शनिक काल में ही प्रारम्भ हो गई थीं और ब्राह्मण लोगों ने, जिनका कि हाथ के परिश्रम से छुटकारा हो गया था, परिश्रमी जातियों के धन से खाना प्रारम्भ कर दिया था और वे उस विद्या को भी नहीं प्राप्त करते थे जिनके कारण कि परिश्रम से उनका छुटकारा होना ठीक समझा जाय। वशिष्ट ने इस बुराई और अन्याय को असह्य समझा और आलसी मनुष्यों के पोषण किए जाने का ऐसी भाषा में विरोध किया है जो केवल ऐसे समय में लिखी जा सकती थी जब कि हिन्दू धर्म एक जीवित जाति का धर्म था।

(१) जो (ब्राह्मण) लोग न तो वेद पढ़ते और न पढ़ाते हैं और न पवित्र अग्नि रखते हैं, वे शूद्र के बराबर हो जाते हैं।

(४) राजा को उस गांव को दण्ड देना चाहिये जहां ब्राह्मण लोग अपने पवित्र धर्म का पालन नहीं करते और वेद नहीं जानते एवं भिक्षा मांग कर रहते हैं, क्योंकि ऐसा गांव लुटेरों का पोषण करता है।

(६) मूर्ख लोग अज्ञानता और पवित्र नियमों को न जानने के कारण जिस पाप को धर्म कहते हैं वह पाप उन लोगों के सिर पर सौ गुना होकर गिरेगा जो लोग कि उसे धर्म बतलाते हैं।

(११) लकड़ी का बना हुआ हाथी, चमड़े का बना हुआ हिरन और वेद न न जानने वाला ब्राह्मण ये तीनों केवल नाम मात्र के लिये अपनी जाति के हैं।

(१२) जिस देश में मूर्ख लोग विद्वानों का धन खाते हैं उस देश में सूखा पड़ेगा अथवा कोई दूसरी बड़ी भारी आपत्ति पड़ेगी (वशिष्ट, ३)।

क्षत्रिय लोगों का अपने कार्य के अतिरिक्त यह कर्तव्य था कि लड़ें, विजय करें, और राज्य करें। रथ का प्रबन्ध करना और तीर चलाना सीखें एवं युद्ध में दृढ़ होकर खड़े रहें और मुँह न मोड़ें। (गौतम १०, १५ और १६) वैश्य लोगों का मुख्य कार्य व्यापार करना, खेती करना, पशु रखना, द्रव्य उधार देना और लाभ के लिए परिश्रम करना था (गौतम १०, ४९)। शूद्र लोगों का काम तीनों जातियों की सेवा करने का था परन्तु वे लोग धन उपार्जन करने के लिए परिश्रम भी कर सकते थे (गौतम १०,४२) और इसमें कोई सन्देह नहीं कि दार्शनिक काल में तथा

उसके पीछे के कालों में वे अधिकतर स्वतन्त्र कार्य करके द्रव्य उपार्जन और व्यापार करते थे, परन्तु शूद्रों को धर्म सम्बन्धी ज्ञान सीखना वर्जित था।

अन्य लोग जैसा हमें देखते हैं उसी भांति हमें अपने को देखना चाहिए। इससे सदैव लाभ होता है और इस कारण हम अब यह देखेंगे कि विदेशी लोग जाति भेद को किस दृष्टि से देखते थे। यह बिलकुल स्पष्ट है कि मेगास्थनीज ने जिन सात जातियों का वर्णन किया है वे वास्तव में उपरोक्त चार जातियां ही हैं। उसने जिन दर्शन वेत्ताओं और उपदेशकों का वर्णन किया है वे ब्राह्मण थे जो कि धार्मिक अध्ययन में लगे हुए थे और जो राज्य में नौकर थे। उसने जिन खेती करने वालों, गड़ेरियों और शिल्पकारों का वर्णन किया है वे वैश्य और शूद्र थे जो कि खेती चराई और दस्तकारी का कार्य करते थे। उसने जिन सिपाहियों का उल्लेख किया वे क्षत्रिय थे और जिन ओवरसियरों का उल्लेख किया है वे केवल राजा के विशेष नौकर अर्थात् भेदिये थे।

इसके सिवाय मेगास्थनीज दर्शन शास्त्र वेत्ताओं को दो भागों में अर्थात् ब्राह्मणों अथवा गृहस्थों और श्रामनों अथवा सन्यासियों में बांटता है। ब्राह्मणों के विषय में वह कहता है कि "बालक लोग एक मनुष्य के उपरान्त दूसरे मनुष्य की रक्षा में रक्खे जाते हैं और ज्यों-ज्यों वे बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों उतरोत्तर पहले वाले गुरू से अधिक योग्य गुरू पाते हैं। दर्शन शास्त्र जानने वालों के निवास-नगर के सामने किसी कुञ्ज में एक साधारण लम्बे चौड़े घेरे में होता है। वे बड़ी सीधी सादी चाल से रहते हैं, फूस की चटाइयों या मृगछालाओं पर सोते हैं। वे मांस और शारीरिक सुखों से परहेज करते हैं और अपना समय धार्मिक कथा वार्ता सुनने और ऐसे मनुष्यों को जो कि उनकी बातें सुने, ज्ञान और उपदेश करने में व्यतीत करते हैं।... सैंतीस वर्ष तक इस प्रकार रहने के उपरान्त प्रत्येक मनुष्य अपने स्थान को लौट आता है और वहां अपने शेष दिन शान्ति से व्यतीत करता है। तब वह उत्तम कपड़े तथा अंगुलियों और कान में सोने के कुछ आभूषण पहनता है एवम मांस खाता है। परन्तु परिश्रम के काम में लगाए जाने वाले जानवरों का नहीं। वह गरम और अधिक मसालेदार भोजन से पहरेज रखता है, वह जितनी स्त्रियों से इच्छा हो विवाह करता है, इस उद्देश्य से कि बहुत सी सन्तति उत्पन्न हो क्योंकि बहुत सी स्त्रियां होने के कारण अधिक लाभ होते हैं और चूंकि उसके गुलाम नहीं होते "अतएव उसे अपनी सेवा कराने के लिये बालकों की अधिक आवश्यकता होती है।

श्रामनों अथवा सन्यासियों के विषय में मेगास्थनीज कहता है कि "वे जंगलों में रहते हैं और वहां पेड़ों की पत्तियां और जंगली फल खाते हैं और वृक्षों की छाल

के कपड़े पहनते हैं। वे उन राजाओं से बातचीत रखते हैं जो कि दूतों के द्वारा भौतिक पदार्थों के विषय में उनकी सम्मति लेते हैं और जो उनके द्वारा देवताओं की पूजा और प्रार्थना करते हैं उनमें से कुछ लोग वैद्य का काम करते हैं और मेगास्थनीज कहता है" कि "औषधि विद्या को जानने के कारण वे विवाहों को फलदायक कर सकते हैं और सन्तान के पुरुष अथवा स्त्री होने का निर्णय कर सकते हैं। वे अधिक करके औषधियों द्वारा नहीं वरन् भोजन के प्रबन्ध द्वारा रोग को अच्छा करते हैं। उनकी सर्वोत्तम औषधियाँ मलहम और लेप हैं।" अन्य मार्गों से हमें जो बातें विदित होती हैं वैसे ही इस वृत्तान्त से भी विदित होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में गौतम बुद्ध के समय के पहले और उसके उपरान्त सन्यासी लोग रहते थे, जो कि श्रामन कहलाते थे और कन्द और जंगली फल खाते थे। जिस समय यह बड़ा सुधारक अपने धर्म के सार अर्थात् संसार से अलग हो कर पवित्र जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता था तो उसके मतानुयायी लोग जो कि संसार से अलग होकर रहते थे दूसरे सन्यासियों से अलग समझे जाने के लिये शाक्यपुत्रीय श्रामन अर्थात् शाक्य के मत का अनुकरण करने वाले सन्यासी कहलाते थे।

दूसरे स्थान पर मेगास्थनीज दर्शन शास्त्र जानने वाली जाति के विषय में कहता है कि वे लोग सब "सर्व साधारण के कर्मों से बचे रहने के कारण न तो किसी के मालिक और न किसी के नौकर थे। परन्तु लोग उन्हें अपने जीवन समय के यज्ञ करने के लिये अथवा मृत मनुष्य की क्रिया करने के लिये नियुक्त करते थे। वे लोग एकत्रित भीड़ को वर्षा होने अथवा न होने के विषय में तथा लाभकारी हवाओं और रोगों के विषय में भविष्यवाणी कहते थे।" इस प्रकार हम लोगों को दार्शनिक काल के ब्राह्मणों के जीवन का एक संक्षिप्त परन्तु उत्तम एक वृत्तान्त पक्षपात रहित विदेशी के द्वारा मिलता है। ये लोग बच्चों को धर्म सम्बन्धी शिक्षा देते थे, वे यज्ञों और मृतक की क्रियाओं को करवाते थे, गांव के रहने वालों और खेती करनेवालों को ऋतु और फसल के विषय में सम्मति देते थे और वे भिन्न-भिन्न रोगों की औषधि भी देते थे। विशेष अवसरों पर राजा लोग उनकी सम्मति लेते थे और वे ब्राह्मण लोग जिन्हें कि मेगास्थनीज एक जुदी जाति समझता है और जिन्हें वह उपदेशक कहता है, राजाओं के राजकाज के सम्बन्ध में सम्मति देते थे, खजाना रखते थे और दीवानी और फौजदारी के मुकदमों का न्याय करते थे। पढ़े-लिखे लोग धर्म सम्बन्धी बातों में उनकी सम्मति और बड़े-बड़े यज्ञों में उनकी सहायता लेते थे और खेती करने वाले पण्डितों से वर्ष भर का वृत्तान्त पूछते थे। जाति का पतन होने के साथ

हो साथ जो जाति इस प्रकार सब लोगों से सम्मानित थी वह धीरे-धीरे अपने विशेष अधिकारों को पूरे प्रकार से काम में लाने लगी और वह मिथ्या बातों के द्वारा उस श्रेष्ठता को दृढ़ करने का यत्न करने लगी जिसे कि उसने पहले पवित्रता और विद्या से प्राप्त किया था।

क्षत्रिय जाति के विषय में मेगास्थनीज बहुत संक्षिप्त वृत्तान्त देता है। सिपाही लोग युद्ध के लिये तैयार और सज्जित किये जाते थे परन्तु शान्ति के समय में वे आलस्य और तमाशे इत्यादि में लगे रहते थे। "सारी सेना, शस्त्रधारी सिपाही, युद्ध के घोड़े, युद्ध के हाथी इत्यादि सब का राजा के व्यय से पालन किया जाता है।" ओवरसियरों का यह धर्म था कि वे राज्य में सब बातों का पता लगावें और उन्हें राजा से कहें।

खेती करने वालों, चरवाहों और शिल्पकारों के विषय में जो कि प्रत्यक्ष वैश्य और शूद्र जाति के थे, मेगास्थनीज एक अधिक मनोरंजक और सच्चा वृत्तान्त देता है। खेती करने वाले युद्ध तथा अन्य साधारण कामों से बचे रहने के कारण "अपना पूरा समय खेती करने में लगाते हैं और कोई शत्रु यदि खेती का काम करते हुए किसी किसान के पास आ जाय तो वह उसे कोई हानि न पहुंचावेगा क्योंकि इस जाति के लोग सर्वसाधारण के लाभ करने वाले समझे जाते हैं और इस कारण से सब हानि से रक्षित हैं। इस प्रकार भूमि में कोई हानि न पहुँचने के कारण तथा उत्तम फसल होने के कारण लोगों को वे सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं जो कि जीवन को सुखी बनाती हैं।.....वे लोग राजा को भूमि का कर देते हैं क्योंकि सारा भारतवर्ष राजा की सम्पत्ति समझा जाता है और कोई मनुष्य भूमि का मालिक नहीं गिना जाता। भूमि के कर के सिवाय वे पैदावार का चौथाई भाग राजा के कोश में देते हैं *।" "चरवाहे लोग नगर अथवा गांव में नहीं रहते परन्तु वे खेमों में रहते हैं :-: वे लोग हानिकारक पक्षियों और जंगली जानवरों का शिकार कर के और उनको फँसा कर देश को साफ रखते हैं। शिल्पकारों में कुछ लोग शस्त्र बनानेवाले हैं और कुछ लोग उन औजारों को बनाते हैं जो कि खेती करने वाले अथवा अन्य लोगों को उनके भिन्न-भिन्न व्यवसाय में उपयोगी होते हैं। यह जाति केवल कर देने से ही छूटी नहीं है वरन् उसे राज्य से सहायता भी मिलती है।

---

* हिन्दुओं के समय में भारतवर्ष में भूमि का साधारण कर पैदावार का छठां भाग था।

:-: यह वर्णन आदिवासियों की किसी जाति का है जो कि उस समय पूरी तरह से हिन्दू नहीं हो गई थी।

बाईसवाँ अध्याय

सामाजिक जीवन

हमको पहले पहल सूत्रग्रन्थों में ही विवाह की उन भिन्न-भिन्न रीतियों का वर्णन मिलता है जिनसे कि हम पीछे के समय की स्मृतियों के द्वारा परिचित हैं। वशिष्ठ केवल छः रीतियों का वर्णन करते हैं, अर्थात्—ब्राह्म-विवाह जिसमें पिता जल का अर्घ दे कर अपनी कन्या को विद्याध्ययन करने वाले बर को अर्पण करता है।

दैव विवाह जिसमें पिता अपनी कन्या को आभूषणों से सज्जित करके यज्ञ होते समय उसे स्थानापन्न पुरोहित को दे देता है।

आर्ष विवाह जिसमें पिता गाय अथवा बैल के पलटे अपनी कन्या को दे देता है।

गांधर्व विवाह जिसमें स्वयं पुरुष अपनी प्रिय कुमारी को ले जाकर विवाह कर लेता है।

क्षात्र (वा राक्षस) विवाह जिसमें पति किसी कुमारी के सम्बन्धियों को मार काट कर उसे बलात् ले जाता है।

मानुष्य (वा आसुर) विवाह जिसमें पति किसी कुमारी को उसके पिता से मोल ले लेता है।

आपस्तम्ब भी केवल इन्हीं छ विवाहों को मानते हैं परन्तु वह क्षात्र विवाह को राक्षस विवाह और मानुष विवाह को आसुर विवाह कहते हैं। इसके सिवाय आपस्तम्ब केवल प्रथम तीनो विवाहों को अर्थात् ब्राह्म, दैव और आर्ष विवाहों को उत्तम समझते हैं।

परन्तु इनसे प्राचीन लेखक गौतम और बौद्धायन विवाह की आठ रीतियाँ लिखते हैं, जिसमें उपरोक्त छः विवाहों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो प्रकार के विवाह अधिक हैं अर्थात् प्राजापत्य विवाह जो कि प्रशंसा के योग्य समझा जाता था और पैशाच विवाह जो कि पाप समझा जाता था। प्राजापत्य विवाह में पिता अपनी कन्या को केवल यह कह कर उसके प्रियतम को दे देता था कि "तुम दोनो मिल कर नियमों का

पालन करो।" पैशाच विवाह केवल एक प्रकार का कन्याहरण था जिसमें पुरुष किसी अचेत स्त्री को ग्रहण करता था।

दार्शनिक समय में किसी कुटुम्बियों के साथ विवाह करने का बड़ा निषेध था। वशिष्ठ उस स्त्री और पुरुष में विवाह होने का निषेध करते हैं जो कि एक ही गोत्र अथवा एक ही प्रवर के हों अथवा जिनका माता के पक्ष में चार पीढ़ी तक का अथवा पिता पक्ष में छः पीढ़ी तक का सम्बन्ध हो (८, १ और २)। आपस्तम्ब उन पुरुषों और स्त्रियों के विवाह का निषेध करते हैं जो कि एक ही गोत्र के हों अथवा जिनमें माता व पिता के पक्ष में छः पीढ़ी तक का सम्बन्ध हो (२, ५, ११, १५ और १६)। परन्तु बौद्धायन किसी पुरुष को अपने मामा अथवा चाची की कन्या से विवाह कर लेने की आज्ञा देते हैं (१, १, २, ४)।

दार्शनिक समय में अल्प अवस्था की कन्याओं के विवाह का प्रचार नहीं हुआ था। वशिष्ठ कहते हैं —

(६७) जो कुमारी युवावस्था को प्राप्त हो गई हो उसे तीन वर्ष तक ठहरना चाहिये।

(६८) तीन वर्ष के उपरान्त वह अपने बराबर जाति के किसी पति से विवाह कर सकती है।

(७०) परन्तु उपरोक्त वाक्य के आगे ही एक दूसरा वाक्य मिलता है जिसमें कन्याओं के बचपन में ही विवाह करने का उल्लेख है। यह वाक्य किसी दूसरे का जोड़ा हुआ जान पड़ता है।

विधवा विवाह जो कि वैदिक काल तथा ऐतिहासिक काव्य काल में प्रचलित था, उसका प्रचार दार्शनिक काल में भी रहा परन्तु बाल विधवाओं को छोड़ कर अन्य किसी अवस्था में अब यह अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। विधवा के दूसरे विवाह से पुत्र होता था वह बहुधा दत्तक पुत्र अथवा नियुक्त स्त्री एंव कन्या के पुत्र की भाँति समझा जाता था, जैसा कि पूर्व अध्याय में उद्धृत किये हुये वाक्यों से विदित होता है।

विवाह के लिये धर्मसूत्रों में इस प्रकार के नियम हैं। विवाह एक नए प्रकार के जीवन अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का द्वार समझा जाता था। विवाह के पहले युवा मनुष्य केवल विद्यार्थी होता था। यहाँ पर विद्यार्थी तथा गृहस्थ के लिये सूत्रों में जो नियम दिये हैं उनका संक्षेप में वर्णन करना मनोरञ्जक होगा।

बालक के जीवन की पहली बड़ी बात कदाचित् उसका विद्यार्थी होकर विद्यारम्भ करना था। ब्राह्मण का बालक आठ वर्ष और सोलह वर्ष की अवस्था के भीतर,

क्षत्रिय बालक ग्यारह वर्ष और बाईस वर्ष के भीतर और वैश्य बारह वर्ष अथवा चौबीस वर्ष के भीतर विद्यारम्भ करता था। तब वह विद्यार्थी अपने गुरू के घर १२, २४, ३६, अथवा ४८ वर्षों तक अपनी इच्छानुसार एक दो तीन अथवा चार वेदों को सीखने के लिये रहता था। अपने जीवन के इस काल में वह मसालेदार भोजन सुगन्ध और सब प्रकार के विलास के पदार्थों से अलग रहता था। वह अपने बालों का जूड़ा बाँधता था और एक छड़ी, कमर में एक वस्त्र और सन अथवा पटुए का कोई वस्त्र अथवा मृगचर्म ही धारण करता था। सुख भोग के सब स्थानों से बचता हुआ, अपनी इन्द्रियों को दमन करता हुआ, बिनयी और नम्र विद्यार्थी प्रति दिन सबेरे अपनी छड़ी ले कर आस-पास के गांवों के पुण्यात्मा गृहस्थों के यहाँ भिक्षा के लिये जाता और जो कुछ उसे दिन भर में मिलता वह सब अपने गुरू के सामने लाकर रखता था और गुरू के भोजन कर लेने के उपरान्त वह भोजन मुँह में डालता था। वह जङ्गलों में जा कर लकड़ी लाता था और सबेरे तथा सन्ध्या के समय घर के काम के लिये जल लाता था। प्रति दिन सबेरे वह पूजा स्थान को झाड़ू दे कर साफ करता था और आग जला कर उस पर पवित्र ईंधन रखता था। प्रति दिन सन्ध्या के समय वह अपने गुरू के पैर धोता था, उनके बदन को दबाता था और उनके सो जाने पर स्वयं सोता था। प्राचीन समय के विद्यार्थी लोगों का जीवन ऐसा नम्र और सीधा सादा था और अपने पूर्व पुरुषों की पवित्र विद्या का उपार्जन करने के लिये वे इस प्रकार अपने मन की पूरी शक्ति को काम में लाते थे।

यह कहना अनावश्यक होगा कि शिक्षा केवल मुँह से दी जाती थी। विद्यार्थी अपने गुरू का हाथ सम्मान से पकड़ कर और अपना चित्त गुरू की ओर एकाग्र कर के कहता था "पूज्यवर, पाठ दीजिये" और तब वेदों की भूमिका के लिये ऋग्वेद की प्रसिद्ध गायत्री का पाठ किया जाता था। (गौतम १, ५५, ५६) नित्य नये-नये पाठ सीखे जाते थे और विद्यार्थी को दिन में दो कार्य करने पड़ते थे अर्थात् अपना पाठ स्मरण करना और गुरू के घर का काम-काज करना।

जब कई वर्ष तक बहुधा कई गुरुओं के पास पढ़ कर विद्यार्थी अपने घर लौटता था तो वह अपने गुरुओं को एक अच्छी दक्षिणा देता था और अपना विवाह करके गृहस्थ की तरह अथवा स्नातक अर्थात् विद्योपार्जन समाप्त कर के स्नान किये हुये मनुष्य की भाँति रहता था। सूत्रकारों ने गृहस्थों के लिये अपने अतिथों का आदर सत्कार करना बारम्बार उनका सर्वोच्च धर्म लिखा है क्योंकि अतिथि का सत्कार करना गृहस्थ के लिये ईश्वर का एक बड़ा भारी यज्ञ है जिसे कि सदैव करना चाहिये (आपस्तम्ब २, ३, ७, १)।

छात्र तथा गृहस्थाश्रम को छोड़ कर अन्य दो प्रकार के आश्रम भी थे अर्थात् भिक्षुक और वैखानस। संस्कृत के ग्रन्थों से हमें विदित होता है कि ठीक जीवन इस मनुष्य का समझा जाता था जो कि अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में इन चारों आश्रमों में रह चुका हो। आपस्तम्ब भी, जो कि एक सब से पीछे के सूत्रकार हैं, कहते हैं कि "यदि वह इन चारों (आश्रमों) में रहे .....तो वह मुक्त हो जायगा" (२, ९, २१, २)। परन्तु आरम्भ में यह बात नहीं थी और प्राचीन समय में कोई मनुष्य भी इन चारों में से किसी एक आश्रम में अपना सब जीवन व्यतीत कर सकता था। वशिष्ठ ने कहा है कि कोई मनुष्य अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त अपनी इच्छानुसार अपना शेष जीवन इन चारों में से किसी एक आश्रम में व्यतीत कर सकता था (७, ३)। और बौद्धायन भी यह नियम उद्धृत करते हैं कि मनुष्य अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त एक दम भिक्षुक हो सकता है (२, १० १७, २)। हमारे लिये यहाँ पर भिक्षुक और वैखानस लोगों के नियमों का उल्लेख करना निष्प्रयोजन होगा। इतना कहना बहुत होगा कि भिक्षुक अपना सिर मुड़ाये रहता था, उसके कोई सम्पत्ति अथवा घर नहीं होता था, वह तपस्या करता था, निराहार रहता अथवा भिक्षा माँग कर खाता था। एक वस्त्र या मृगचर्म पहनता था, केवल भूमि पर सोता था, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण किया करता था, धार्मिक क्रियाओं का साधन नहीं करता था, परन्तु वेद का पाठ और परमात्मा का ध्यान कभी नहीं छोड़ता था (वशिष्ठ, १०)। इसके विरुद्ध वैखानस यद्यपि वे बनों में रहते थे, कंद और फल भोजन करते थे और पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु वे पवित्र अग्नि को जलाते थे और सन्ध्या और सबेरे के समय अर्घ देते थे। (वशिष्ठ ९)।

अब हम गृहस्थों के विषय में फिर वर्णन करते हैं, जो कि चारों आश्रमों में सबसे श्रेष्ठ समझे गये हैं, क्योंकि जाति में गृहस्थ लोग ही सम्मिलित थे, भिक्षुक और वैखानस नहीं। "जिस प्रकार सब छोटी और बड़ी नदियां अन्त में समुद्र ही का आश्रय लेती हैं उसी प्रकार सब आश्रम के लोग गृहस्थों के ही द्वारा रक्षित किये जाते हैं (वशिष्ठ, ८, १५)। गृहस्थों के लिए पूरे चालीस धर्म कहे गए हैं (गौतम, ८, १४—२०) और इन धर्मों के उल्लेख से हमको प्राचीन हिन्दुओं के धर्म और गृहस्थी की जीवन की झलक मिल जायगी।

गृहस्थी के कर्म —(१) गर्भाधान (गर्भ धारण करने के समय की रीति) (२) पुंसवन (पुत्र के जन्म होने के समय की रीति, (३) सीमन्तोन्नय (गर्भवती स्त्री का केश सँवारना), (४) (जातकर्म्मन) पुत्र के जन्म के समय की रीति, (५)

सन्तान का नाम रखना, (६) उसे प्रथम बार खिलाना, (७) सिर का मुण्डन, (८) विद्या आरम्भ करवाना (९-१२), चारों वेदों के पढ़ने का संकल्प, (१३) विद्याध्ययन समाप्त करने का स्नान, (१४) विवाह अर्थात् धार्मिक क्रियाओं के करने की सहायता के लिए स्त्री का ग्रहण करना, (१५-१९) देवताओं, पितरों, मनुष्यों, जीवों और ब्राह्मण अर्थात् परमेश्वर के लिए पांच यज्ञ।

गृह्यधर्म अथवा पाक यज्ञ—(१) अष्टका अर्थात् वे क्रियाएँ जो जाड़े में की जाती हैं, (२) पार्वण अर्थात् नवीन चन्द्रमा और पूर्ण चन्द्रमा के दिन की क्रियाएं, (३) श्राद्ध अर्थात् पितरों के लिये बलिदान, (४) श्रावणी अथात् वह क्रिया जो कि श्रावण मास में की जाती है, (५) आग्रहायणी जो कि अग्रहायण मास में की जाती है (६) चैत्री जो कि चैत्र में की जाती है और (७) आश्वयुगी जो कि आश्विन मास में की जाती है।

श्रौत कर्म—ये दो प्रकार के होते हैं अर्थात् हविर्यज्ञ अथवा वे पूजाएँ जिनमें चावल, दूध, घी, मांस इत्यादि का अर्घ दिया जाता है और दूसरे सोमयज्ञ जिसमें सोमरस का अर्घ दिया जाता है।

हविर्यज्ञ ये हैं—(१) अग्न्याधान, (२) अग्निहोत्र, (३) दर्सपूर्णमास (४) अग्रयण, (५) चातुर्मास्य, (६) निरुधपशुबन्ध और (७) सौत्रामणी।

सोमयज्ञ ये हैं—(१) अग्निष्टोम, (२) अत्यग्निष्टोम, (३) उक्थ्य, (४) षोडसन, (५) वाजपेय, (६) अतिरात्र, (७) आप्तोर्याम्। ये चालीस प्रकार के धर्म गृहस्थों के लिये कहे गये हैं। परन्तु इन पूजाओं को करने से कहीं बढ़ कर धर्म और भलाई करने का पुण्य समझा जाता था और केवल उसी से स्वर्ग की प्राप्ति समझी जाती थी। गौतम कहते हैं कि—

वह मनुष्य जो इन चालीसों पवित्र कर्मों को करता हो पर उसकी आत्मा में यदि आठों भलाइयाँ न हों तो उसका ब्रह्म में लय नहीं होगा और न वह स्वर्ग में पहुँच सकेगा।

परन्तु वह जो इन चालीस् कर्मों में से केवल कुछ कर्मों को भी यथार्थ में करता हो और यदि उसकी आत्मा में ये उत्तम भलाइयाँ हों तो ब्रह्म में उसका लय हो जायगा और वह स्वर्ग में निवास करेगा। [८, २४ और २५]

इसी प्रकार वशिष्ठ कहते हैं कि—

जिस मनुष्य में भलाई नहीं है उसे वेद पवित्र नहीं कर सकते यद्यपि उसने उन सबको उनके छओ अंगों के सहित अध्ययन क्यों न किया हो। ऐसे मनुष्य के

पास से पवित्र पाठ इसी प्रकार दूर भागते हैं जिस प्रकार पक्षियों को पूरी तरह से पर आ जाते हैं तो वे अपने घोसलों से निकल भागते हैं।

जिस प्रकार स्त्री की सुन्दरता से अन्धे मनुष्य को कोई सुख नहीं होता उसी प्रकार चारो वेदों और उनके छओं अंगों तथा बलिदानों से उस मनुष्य को कोई फल नहीं होता जिसमें कि भलाई नहीं है।

जो कपटी मनुष्य छल करता है उसे वेद के पाठ पाप से नहीं बचाते। परन्तु जो वेद के दो अक्षरों को भी आचरण के उत्तम नियमों पर ध्यान दे कर पढ़ता है वह इस प्रकार स्वच्छ हो जाता है जैसे कि आश्विन के महीने में मेघ (६-३—८)।

अब हम इन चालीसों क्रियाओं अथवा उनमें से उन क्रियाओं के विषय में कहेंगे जिनसे कि हिन्दुओं के जीवन का वृत्तान्त विदित होता है। उनमें गृहस्थी की रीतियाँ, गृहस्थ कर्म और श्रौत कर्म सम्मिलित हैं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। और हम यह भी कह चुके हैं कि श्रौत कर्मों का विस्तार पूर्वक विवरण यजुर्वेद ब्राह्मणों में दिया है और वे संक्षिप्त रूप से श्रौत सूत्रों में दिए गए हैं। ऐतिहासिक काव्य काल के वर्णन में हमने इन कर्मों का संक्षिप्त वर्णन लिखा है परन्तु उनसे लोगों के चाल व्यवहार और जीवन का बहुत कम वृत्तान्त विदित होता है, इस कारण वे हमारे इतिहास के लिए बहुत आवश्यक नहीं हैं। परन्तु गृहस्थी की रीतियां और गृह्यकर्म से हमको प्राचीन हिन्दुओं के चाल व्यवहार का अच्छा वृत्तान्त विदित होता है। वास्तव में प्राचीन हिन्दुओं का किस प्रकार का जीवन था और उनके चाल व्यवहार किस प्रकार के थे, इसका पूरा वृत्तान्त हमें उनसे विदित होता है।

पहले हम गृहस्थी की रीतियों के विषय में लिखेंगे और उसके उपरान्त गृह कर्मों के विषय में।

गृहस्थी की रीतियों में सबसे आवश्यक ये हैं अर्थात् विवाह, वे रीतियां जो कि स्त्री के गर्भवती होने की अवस्था में तथा पुत्र उत्पन्न होने के समय में होती हैं, अन्नप्रासन अर्थात् बच्चों को पहली बार अन्न खिलाना, मुँडन, विद्यारम्भ करना, और विद्याध्ययन समाप्त करके गुरू के यहां से लौटना। जब हम गृहस्थी की इन रीतियों का वर्णन पढ़ते हैं तो हम एक प्रकार से अपने प्राचीन पुरुषों के समस्त जीवन वृत्तान्त देखते हैं और इन रीतियों के हम लोगों के लिए और भी अधिक मनोरंजक होने का कारण यह है कि आज दो हजार वर्ष के उपरान्त भी हम लोग इनमें से बहुत सी रीतियों को करते हैं।

विवाह—बर कन्या के पिता के यहां दूत भेजता है और ऋग्वेद की १०,

८५, २३ ऋचा को कहता है, जिसका अनुवाद हम पहले दे चुके हैं। यदि यह प्रस्ताव दोनों ओर के लोगों को स्वीकार हो तो विवाह का बचन स्वीकार किया जाता है और दोनों ओर के लोग एक भरा हुआ कलश छूते हैं जिसमें फूल, भूने हुए दाने, जव और स्वर्ण रक्खा जाता है और तब वे एक मंत्र उच्चारण करते हैं। तब वर एक यज्ञ करता है। निश्चित तिथि पर कन्या के कुल के लोग उसे सर्वोत्तम फलों और सुगन्ध से बासित जल से स्नान करवाते हैं, उसे नया रंगा हुआ वस्त्र पहराते हैं, और उसे अग्नि के समीप बैठाते हैं, जहां कुल का आचार्य यज्ञ करता है। वर भी स्नान करके शुभ रीतियों को करता है और उसके उपरान्त "कन्या के घर में ऐसी सुखी युवा स्त्रियाँ जो विधवा न हों उनका स्वागत करती हैं" (सांखायन)। विवाह की रीति भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थी परन्तु ये सब रीतियाँ मुख्य-मुख्य बातों में मिलती थीं। "वास्तव में भिन्न देशों और भिन्न ग्रामों की रीतियाँ भिन्न-भिन्न हैं...परन्तु जो बातें सब लोग मानते हैं उनका हम उल्लेख करेंगे" (आश्वलायन) वर कन्या का हाथ पकड़ कर उससे तीन बार अग्नि की परिक्रमा करवाता है और कुछ ऋचाएँ कहता है यथा "आओ हम लोग विवाह करें। हम लोगों को सन्तान उत्पन्न हों। प्रीति, सुख और आनन्द के सहित हम लोग सौ वर्ष तक जीएं।" प्रत्येक परिक्रमा में वह उसका पैर यह कह कर चक्की पर रखवाता है कि "पत्थर की तरह दृढ़ हो।" कन्या का भाई अथवा रक्षक उसके हाथ में आज्य अर्थात् भूना हुआ अन्न देता है और वह उसे अग्नि में हवन करती है। उसके उपरान्त वर कन्या को सात कदम आगे बढ़ाता है और उपयुक्त शब्द उच्चारण करता है। अग्नि की परिक्रमा करना, पत्थर पर पैर रखना, भूने हुए अन्न का हवन करना और आगे की ओर सात कदम रखना ये ही विवाह की मुख्य-मुख्य बातें थीं। "और कन्या को उस रात्रि में किसी ऐसी ब्राह्मणी के घर पर रहना चाहिए जिसका पति और जिसके लड़के जीवित हों। जब वह ध्रुव का तारा, अरूंधति का तारा, और सप्तऋषि का तारा देखे तो उसे अपना मौन भङ्ग करके यह कहना चाहिए कि मेरा पति जीवित रहे और मुझे सन्तान हो" (आश्वलायन)। सांखायन कहते हैं कि "सूर्य के अस्त होने के उपरान्त उन्हें तब तक मौन होकर बैठना चाहिये जब तक कि ध्रुव का तारा न निकले। तब वह उसे यह कह कर ध्रुव का तारा दिखलाता है कि 'तू मेरे साथ सुख से रह कर दृढ़ रहे।" तब वह कहती है कि 'मैं ध्रुव का तारा देखती हूँ मुझे सन्तान उत्पन्न हो।' तीन रात्रि तक उन्हें भोग नहीं करना चाहिये।"

गर्भाधान—स्त्री के गर्भवती रहने की अवस्था में कई प्रकार की रीतियाँ करनी

पड़ती थीं। पहले गर्भाधान की रीति होती थी जिससे कि गर्भ का रहना समझा जाता था।

फिर पुंसवन की रीति से पुत्र सन्तान का निर्णय होना समझा जाता था और गर्भरक्षण की रीति से यह समझा जाता था कि गर्भ में बच्चा सब आपत्तियों से रक्षित रहेगा। सीमन्तोन्नयन की रीति जो कि आश्वलायन के अनुसार चौथे मास में और सांखायन के अनुसार सातवें मास में की जाती थी, बड़ी मनोरंजक है। गोभिल कहते हैं कि वह चौथे, छठें वा आठवें मास में की जा सकती थी और उसमें कुछ रीतियों के साथ पति प्रेम से अपनी स्त्री के केश में मांग काढ़ता था।

पुत्र का जन्म—इस अवसर पर ये रीतियाँ होती थीं जैसे जातकर्म अथवा पुत्र उत्पन्न होने की रीति, मेधजाननम् या ज्ञान उत्पन्न करने और आयुष्य अथवा आयु बढ़ाने की रीति। इस अवसर पर पिता अपने सन्तान का एक पवित्र नाम रखता है। यदि पुत्र हो तो यह नाम सम अक्षरों का होता है और यदि कन्या हो तो विषम अक्षरों का। केवल माता और पिता इस नाम को जानते हैं। दसवें दिन जब माता प्रसूतिका गृह से उठती है तो सब लोगों के लिये लड़के का एक दूसरा नाम रक्खा जाता है। "ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्म्मन् होना चाहिए (यथा विष्णुशर्मन्) क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्म्मन् (यथा लक्ष्मी वर्म्मन्) और वैश्य के नाम के अन्त में गुप्त (यथा चन्द्रगुप्त)" (पारस्कर, १, १७, ४)।

बच्चे को प्रथम बार अन्न खिलाना—यह प्रसिद्ध अन्नप्रासन की रीति है। ऐसा जान पड़ता है कि आज कल की अपेक्षा प्राचीन समय में लड़के को बहुत प्रकार के भोजन खिलाए जाते थे। "यदि उसे बलिष्ट होने की इच्छा हो तो बकरे का मांस, यदि धार्मिक होने की इच्छा हो तो तीतर का मांस और यदि प्रतापी होने की इच्छा हो तो पका हुआ चावल घी खिलाना चाहिए।" (आश्वलायन और सांखायन)। "यदि वह अच्छा वक्ता होना चाहे तो भारद्वाजी पक्षी का मांस, यदि फुर्तीला होना चाहे तो मछली इत्यादि खिलानी चाहिये" (पारस्कर)।

बच्चे का मुंडन अर्थात् चूड़ाकरण—सांखायन और पारस्कर के अनुसार यह बच्चे के एक वर्ष के होने पर किया जाता था और आश्वलायन और गोभिल के अनुसार तीसरे वर्ष। बच्चे का सिर मन्त्रोच्चारण करके छूरे से मूड़ा जाता था (परन्तु लड़की के मूड़न में मंत्रोच्चारण नहीं किया जाता था) और कुछ बाल छोड़ दिए जाते थे और वे कुल की रीति के अनुसार संवारे जाते थे।

विद्याध्ययन अथवा उपनयन—यह एक आवश्यक रीति थी और जब लड़के का पिता अथवा रक्षक उसको शिक्षा के लिए गुरू को सौंपता था उस समय को

जाती थी। हम देख चुके हैं कि विद्यारम्भ का समय ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के लिये भिन्न-भिन्न था और इस अवसर पर तीनों जातियाँ यज्ञोपवीत पहनती थीं।

तब विद्यार्थी एक वस्त्र करधनी और छड़ी लेकर गुरू के निकट जाता था।

वह (गुरू) अपने और विद्यार्थी की अंजुली में पानी भरता था और तब उससे (विद्यार्थी से) पूछता था कि तेरा नाम क्या है ?

वह उत्तर देता था 'कि महाशय मैं अमुक-अमुक हूँ।

गुरू कहता था उन्हीं ऋषियों के वंश में।

शिष्य कहता था कि हाँ महाशय उन्हीं ऋषियों के वंश में।

कहो कि मैं विद्यार्थी हूँ।

शिष्य कहता था 'महाशय मैं विद्यार्थी हूँ।

गुरू 'भूर्भुवः स्वः' कह कर अपनी अंजुली से विद्यार्थी की अंजुली पर पानी छिड़कता था।

वह विद्यार्थी का हाथ अपने हाथों में लेकर और दाहिने हाथ को ऊपर रख कर कहता था—

सावित्री देवता के प्रताप से, दोनों आश्विनों के बाहु से, पूषण के हाथों से, हे अमुक-अमुक मैं तुझे विद्यार्थी बनाता हूँ।

प्राचीन समय में उपनयन की रीति अर्थात् विद्यार्थी का विद्याध्ययन में पैर रखने और वेदों का पाठ प्रारम्भ करने की रीति इस प्रकार की थी। आजकल उपनयन की रीति कैसी बिगड़ गई है ? अब उसका वेद के पाठ से जो कि अब भुला दिया गया है अथवा यज्ञों के करने से जिसकी चाल अब बिलकुल उठ गई है, कोई सम्बन्ध नहीं है। अब वह केवल एक व्यर्थ का जनेऊ सदा के लिए पहनने को की जाती है जो कि प्राचीन समय में न तो व्यर्थ था और न सदा के लिए पहना जाता था। अब के ब्राह्मण लोग यह जनेऊ खास अपने ही लिये होने का दावा करते हैं जिसे कि प्राचीन समय के ब्राह्मण लोग क्षत्रियों और वैश्यों के साथ पहन कर यज्ञ करते और वेद पढ़ते थे। इस प्रकार अवनति ने अर्थपूर्ण रीतियों को निरर्थक विधान बना दिया है जिनमें से सब का उद्देश्य लोगों की अज्ञानता को बढ़ाना और पुजारियों के विशेष स्वत्वों का स्थिर करना है।

पाठशाला से लौटना— विद्या समाप्त करने के उपरान्त विद्यार्थी अपने घर लौट जाता था और यदि उसके पिता आदि का कोई घर न हो तो अपने लिए वह एक घर बनवाता था। इसमें भी एक रीति की जाती थी और ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का जो कि घरों के देवता वास्तोष्पति तथा अन्य देवताओं के लिये हैं उच्चारण

किया जाता था (७, ५४, ५५)। उसके उपरान्त विवाह किया जाता था और अग्न्याधान अर्थात् अग्नि का स्थापन किया जाता था जो कि श्रौतविधान है और जिसका वर्णन अन्तिम पुस्तक में आठवें अध्याय में दिया है। इस प्रकार विद्यार्थी अब गृहस्थ हो जाता था और अब उसके सिर पर अधिक और बड़े धर्मों के पालन करने का भार होता था।

ये प्राचीन हिन्दुओं की गृहस्थी की सबसे आवश्यक रीतियां इस प्रकार थी।

अब हम गृह कर्मों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

गृह्य विधानों में श्राद्ध सबसे आवश्यक है जिसमें कि प्रति मास पितरों को पिण्डदान और ब्राह्मण भोजन कराया जाता है। "ऐसे ब्राह्मणों को जो कि विद्वान हों और जिनके आचार-विचार बहुत शुद्ध हों निमन्त्रण दिया जाता था।" वे पितरों के प्रतिनिधि स्वरूप होकर बैठते थे और उन्हीं को सब चीजें चढ़ाई जाती थीं। तब श्राद्ध करने वाला पितरों को यह कहकर अर्घ्य देता था कि "हे पिता यह तेरा अर्घ्य है, पितामह यह तेरा अर्घ्य है, पर पितामह यह तेरा अघर्य है।" इसके उपरान्त ब्राह्मणों को गन्ध, माला, धूप-दीप और कपड़े दिये जाते थे। ब्राह्मणों की आज्ञा से पिण्ड पितृ यज्ञ के लिये जो स्थालीपाक तैयार किया जाता था उसमें घी मिलाया जाता था और उसका अग्नि में हवन किया जाता था अथवा अन्य भोजन की वस्तुओं के साथ वह ब्राह्मणों के हाथ में रक्खा जाता था और जब श्राद्ध करने वाला देखता था कि ब्राह्मण लोग सन्तुष्ट हो गए तो वह यह ऋचा पढ़ता था (ऋग्वेद १, ८२, २) "वे लोग खा चुके वे लोग सुख से खा चुके" (आश्वलायन)।

पार्वण—यह अमावास्या और पूर्णिमा के दिन किया जाता था, उसमें व्रत रक्खा जाता था और इन दिनों के देवताओं को उचित मन्त्रों के द्वारा पकवान चढ़ाये जाते थे। सत्य धर्मावलम्बी हिन्दू लोग अब तक भी इन दिनों में व्रत रखते हैं।

श्रावणी—यह वर्षाऋतु में श्रावण के महीने की पूर्णिमा को होती थी और यह वास्तव में सर्पों को सन्तुष्ट करने के लिये की जाती थी जो कि वर्षा ऋतु में भारतवर्ष में बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। इसमें जो वाक्य उच्चारण किये जाते थे वे बड़े हास्यजनक हैं।

भारतवर्ष के उच्च श्रेणी के लोगों में सर्पों को सन्तुष्ट करने का विचार अब बिलकुल नहीं रहा है और उन्हे यह जानने में कठिनता होगी कि आज कल राखी पूर्णिमा की जो रीति की जाती है वह दार्शनिक काल की श्रावणी का दूसरा रूप है। जो राखी आज कल लोग अपने मित्रों में बाँधते हैं और जिन्हें बहिन प्रेम से अपने

भाइयों को भेजती है वह राखी सर्पों से उनकी रक्षा करने के लिये भेजी जाती थी।

आश्वयुगी—यह आश्वयुग अर्थात् आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन की जाती थी।

(१) आश्वयुग की पूर्णिमा को इन्द्र को दूध और चावल चढ़ाना।

(२) आज्य को इन शब्दों से बलिदान चढ़ा कर "दोनों अश्विनों के लिये स्वाहा! दोनों आश्वयुगों के लिये स्वाहा! अश्वयुग की पूर्णिमा के लिये स्वाहा! शरद ऋतु के लिये स्वाहा! प्रजापति के लिये स्वाहा! उस सांवले के लिये स्वाहा!

(३) उसको दही और मक्खन यह ऋचा कह कर चढ़ाना चाहिये 'गाय यहाँ आवें (ऋग्वेद, ६, २८)।

(४) उस रात्रि को बछड़ों को अपनी माता के पास छोड़ देना चाहिये।

(५) तब ब्राह्मणों का भोजन।

इस विधान का यही वृत्तान्त सांख्यायन देते हैं और यह असम्भव है कि उपरोक्त वृत्तान्त से हम इस रीति को कृषि सम्बन्धी न समझ सकें। यह विचार और भी दृढ़ होता है जब कि पारस्कर से हमें विदित होता है कि इस रीति के उपरान्त सीता अर्थात् हल के लकीरों की देवी का यज्ञ किया जाता था।

मैं इन्द्र की स्त्री सीता का आवाहन करता हूँ जिससे कि सब वैदिक और सांसारिक कामों की सिद्धि होती है। मैं जो कुछ कार्य करूँ उसमें वह मुझे न छोड़े। स्वाहा!

इस यज्ञ में मैं इस उर्वरा (उपजाऊ भूमि) का आवाहन करता हूँ जो कि माला पहने है और जो प्राणियों को घोड़े और गाय को सुख देने में परिश्रम के साथ सहायता करती है। वह मुझे न छोड़े। स्वाहा! (२, १७, ९)

आश्वयुगी के उपरान्त सीता अर्थात् हल के लकीरों की देवी की पूजा से, उसका जो यह वर्णन किया गया है कि वह वृष्टि के देवता इन्द्र की स्त्री है और उर्वरा अर्थात् उपजाऊ भूमि है तथा फूलों की माला पहने है। इन सब बातों से यह विदित होता है कि आश्वयुगी की रीति केवल एक कृषि सम्बन्धी विधान था जो कि आश्विन में फसल को काटने के उपरान्त कृतज्ञता की भाँति किया जाता था और यदि यह कृषि सम्बन्धी रीति दार्शनिक समय में कुछ अन्धकारमय थी, तो वह आज कल की कोजागर लक्ष्मी पूजा में और भी अधिक अन्धकारमय हो गई है।

लक्ष्मी एक युवती देवी है जो कि दार्शनिक समय में नहीं थी परन्तु अब वह हिन्दुओं में एक प्रधान देवी है। सीता अब केवल रामायण की नायिका और

सती धर्म और आत्मअर्पण के आदर्श की भाँति समझी जाती है परन्तु लक्ष्मी ने फसल और चावल की देवी का स्थान ग्रहण कर लिया है।

हम देख चुके हैं कि आजकल की कोजागर लक्ष्मी पूजा प्राचीन समय की आश्वयुगी का दूसरा रूप है। पर लक्ष्मी पूजा के भी उपरान्त दुर्गा पूजा हुई है जिसने कि आज कल बङ्गाल में अद्भुत रूप धारण किया है, जिसका मूल कारण निस्सन्देह फसल के समय की प्रसन्नता है। प्राचीन समय के फसल के एक छोटे से त्योहार ने, जिसमें कि इन्द्र और उसकी स्त्री सीता को दुग्ध और चावल चढ़ाया जाता था, आज कल कैसा बृहद् रूप धारण कर लिया है।

आग्रहायणी—यह अग्रहायण मास की पूर्णिमा को की जाती थी। यह रात्रि, वर्ष की पत्नी अथवा वर्ष की मूर्त्ति समझी जाती थी और उसमें वर्ष तथा संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर की पूजा की जाती थी। ये पाँचों नाम युग के पाँच भिन्न-भिन्न वर्षों के हैं (पारस्कर ३, २, २)।

अष्टका — ये अष्टका इसलिये कहलाते हैं क्योंकि वे आग्रहायण मास की पूर्णिमा के उपरान्त तीन अथवा चार मास तक कृष्ण पक्ष की अष्टमी को किये जाते थे। इनमें शाक, मांस और चपातियाँ चढ़ाई जाती थीं। गोभिल इन पूजाओं के उद्देश्य के विषय में भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि ये अग्नि अथवा पितर एवं प्रजापति अथवा ऋतु के देवताओं तथा सब देवताओं के सन्तोष के लिये की जाती थीं (गोभिल, ३, २, ३)। परन्तु बुद्धिमान पाठक लोग इस बात को अवश्य समझ जाँयगे कि इन पूजाओं का मूल कारण जाड़े की ऋतु था जो कि भारतवर्ष में बड़ा अच्छा ऋतु है, जब कि चावल काट कर खलिहान में रक्खा जाता है और गेहूँ एवं जव उगते हैं, और उस समय चपातियाँ, माँस और शाक केवल ऋतु देवताओं को ही नहीं वरन् मनुष्यों को भी बड़े अच्छे लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे हिन्दू पाठकगण देखेंगे कि यह प्राचीन रीति दूसरे रूप में अर्थात् पौष पार्वण के रूप में अब तक बङ्गाल में वर्त्तमान हैं जिसमें कि चावल को खलिहान में रखने पर हमारी स्त्रियाँ कई प्रकार की स्वादिष्ट चपातियाँ बना कर खुशी मनाती हैं जिससे कि वृद्ध और युवा दोनों को समान प्रसन्नता होती है।

चैत्री—जो कि वर्ष की अन्तिम रीति है, चैत्र की पूर्णिमा को की जाती थी। उसमें इन्द्र, अग्नि, रुद्र और नक्षत्रों की पूजा की जाती थी।

प्राचीन समय में गृहस्थी की रीतियाँ और गृह विधान जिनमें कि हिन्दुओं की स्त्रियाँ खुशी मनाती थीं इस प्रकार की थीं। यद्यपि इनमें से कुछ रीतियों का मूल अभिप्राय अब जाता रहा है और उन्होंने अब आज कल का दूसरा रूप धारण कर

लिया है फिर भी हम लोग दो हजार वर्षों के उपरान्त आज तक भी उन प्राचीन रीतियों में से बहुतों का पता आज कल की रीतियों में लगा सकते हैं। हिन्दुओं का कट्टर स्वभाव और प्राचीन बातों में उनकी भक्ति इससे स्पष्ट विदित होती है कि वे उन प्राचीन रीतियों को अब तक किये जाते हैं जो कि पहले शुद्ध और सच्चे मन से की गई थीं। प्राचीन हिन्दू रीतियों में जो सच्ची प्रसन्नता होती थी वे कई शताब्दियों तक बिदेशियों का राज्य और जाति की अवनति होने पर भी अब तक ज्यों की त्यों बनी है।

तेईसवां अध्याय

रेखागणित और व्याकरण

हम पहले देख चुके हैं कि दार्शनिक काल में पूर्व के समय के सब धर्म सम्बन्धी नियम और कानूनों का दार्शनिक रीति पर विचार हुआ और उनकी संक्षिप्त तथा क्रमानुसार पुस्तकें बनाई गईं। इसी काल में ब्राह्मण ग्रन्थों की शब्दबाहुल्य से भरी हुई तथा कुछ गड़बड़ बातें क्रम में लाई गईं, दीवानी और फौजदारी के कानून तथा उत्तराधिकारत्व के कानून की संक्षिप्त पुस्तकें बनाई गईं, जाति के नियम और सामाजिक नियम दृढ़ता से नियत किए गए और नगरवासियों एवं कुटुम्बियों की भाँति मनुष्यों के कर्तव्य की व्याख्या की गई। अतएव यह भली भांति समझा जा सकता है कि इस काल में विद्या और दर्शन शास्त्र ने बड़ी उन्नति की और इस समय में कुछ प्रश्नों और विचारों ने भारतवर्ष में पूर्ण उन्नति प्राप्त की।

हम यह नहीं जानते कि इस काल में ज्योतिष शास्त्र ने क्या उन्नति की थी। ज्योतिष शास्त्र पर हम लोगों को कोई सूत्र ग्रन्थ नहीं मिलता और कदाचित् इसमें सन्देह नहीं कि बहुत समय हुआ कि दार्शनिक काल के ज्योतिष ग्रन्थों के स्थान पर आगे चल कर पौराणिक समय के अधिक पूर्ण ग्रन्थ—जैसे कि आर्यभट्ट, बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के ग्रन्थ हो गए। परन्तु गणित शास्त्र की एक शाखा ने दार्शनिक समय में बड़ी श्रेष्ठता पाई थी। डाक्टर थीबो साहब हमारे धन्यवाद के भाजन हैं कि उन्होंने यह प्रकाशित किया है कि अन्य शास्त्रों की भांति रेखागणित का अध्ययन पहले पहल भारतवर्ष ही में हुआ था।

उसके पीछे के यूनानी लोगों ने इस शास्त्र को अधिक सफलता के साथ सुधारा परन्तु यह बात कदापि भूलनी नहीं चाहिये कि संसार रेखागणित के लिये भारतवर्ष ही का ऋणी है, यूनान का नहीं।

ज्योतिष की तरह रेखागणित की उत्पत्ति भी भारतवर्ष में धर्म ही के द्वारा हुई और इसी प्रकार व्याकरण और दर्शन शास्त्र भी धर्म ही के कारण बने। डा० थीवो साहब कहते हैं कि "यज्ञ करने के ठीक समय का निश्चय करने के लिये कोई नियम न होने के कारण ज्योतिष शास्त्र की ओर लोगों का ध्यान गया। इस अभाव से पुजारी लोग प्रति रात्रि को चन्द्रमा का नक्षत्रों के मण्डल में बढ़ना और प्रतिदिन सूर्य का उत्तर अथवा दक्षिण की ओर झुकना देखते रहे। उच्चारण के नियम इस कारण ढूंढ कर बनाये गये क्योंकि यज्ञ के मन्त्रों में एक अक्षर का भी अशुद्ध उच्चारण होने से यह समझा जाता था कि देवताओं का बड़ा कोप होगा। व्याकरण और शब्द शास्त्र इस कारण बनाए गये जिसमें कि पवित्र पाठ ठीक-ठीक समझ में आ सके। दर्शनशास्त्र और वेदान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध, इतना घनिष्ठ सम्बन्ध कि प्रायः यह निर्णय करना असम्भव होता है कि इनमें से एक शास्त्र का कहां पर अन्त होता है और दूसरा कहां पर प्रारम्भ होता है, सुप्रसिद्ध है और इसके विषय में हमारे उल्लेख की कोई आवश्यकता नही है।" और तब इन विद्वान महाशय ने यह सिद्धान्त वर्णन किया है जिसे भारतवर्ष के इतिहासकारों को कभी न भूलना चाहिये कि जिस शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध प्राचीन भारतवर्ष के धर्म से है उस शास्त्र की उत्पत्ति स्वयं भारतवासियों से ही समझी जानी चाहिये उसे दूसरी जातियों से सङ्कलित किया हुआ न समझना चाहिये।

भारतवर्ष में रेखागणित की उत्पत्ति वेदियों के बनाने के नियमों से हुई। कृष्णयजुर्वेद (५, ४,११) में उन भिन्न-भिन्न आकारों का वर्णन है जिनकी वेदियां बनाई जाती थीं और बौद्धायन और आपस्तम्ब ने इन वेदियों और उनके बनाने में जो ईंटे लगाई जाती थीं उनके आकारों का पूरा वृत्तान्त दिया है। (१) चतुरश्र स्येन जो कि बाज पक्षी के आकार का होता था और चौकोर ईंटों का बनाया जाता था, सबसे प्राचीन है। (२) स्येन वक्रपक्षव्यस्तपुच्छ भी बाज पक्षी के आकार का होता है और उसमें उसके टेढ़े डैने और फैली हुई पुच्छ का आकार रहता है। (३) कंकचित बगुले और उसके दोनों पैरों के आकार का होता है और (४) अलजचित भी लगभग इसी के समान होता है। (५) प्रौगचित रथ के डन्डों के अगले भाग के आकार का अर्थात् समबाहु त्रिभुज के आकार का होता है और (६) उभयतः प्रौगचित दो त्रिभुजों के आकार का होता है जिनके आधार मिले हों। उसके उपरान्त (७) रथ-

चक्रचित और (८) साररथचक्रचित डंडों से रहित और डंडों के सहित पहिये के आकार के होते हैं। (९) चतुरश्रद्रोनचित और (१०) परिमण्डलद्रोनचित द्रोण अर्थात् वर्तन के आकार का चौकोर अथवा गोल होता है (११) परिचाय्यचित भी पहिये के आकार का होता है (१२) समूह्यचित का भी वैसा ही गोल आकार होता है। (१३) स्मशानचित चौकोर आकार का ढालुआं होता है, जो कि एक आधार की अपेक्षा दूसरे की ओर अधिक चौड़ा होता है और साथ ही चौड़ा और अधिक ऊंचा भी होता है। यह अन्तिम वेदी कूर्म कहलाती है जो कि या तो (१४) वक्राङ्ग अर्थात् टेढ़ी अथवा (१५) नोकीली अथवा (१६) परिमण्डल अर्थात् वृत्ताकार हो सकती है।

सबसे पहले समय के चतुरश्र स्येन का क्षेत्र फल साढ़े सात वर्ग पुरुष होता था, जिसका अर्थ यह है कि वह साढ़े सात वर्गक्षेत्रों के बराबर होता था जिनमें से प्रत्येक का भुज एक पुरुष अर्थात् हाथ उठाए हुए एक मनुष्य की ऊंचाई के बराबर होता था। जब किसी दूसरे आकार की वेदी बनाई जाती थी तो वर्गफल उसका यही रहता था, अर्थात् चाहे चक्र बनाया जाय चाहे समबाहु त्रिभुज चाहे कूर्म परन्तु सबों का क्षेत्रफल साढ़े सात पुरुष ही होता था। वेदी को दूसरी बार बनाने में उसके क्षेत्रफल में एक वर्ग पुरुष और बढ़ा दिया जाता था और उसे तीसरी बार बनाने में दो वर्ग पुरुष बढ़ाया जाता था परन्तु ऐसा करने में यह ध्यान रक्खा जाता था कि वेदी के आकार अथवा सापेक्षिक निष्पति में कोई अन्तर न पड़ने पावे। ये सब बातें रेखागणित के विशेष ज्ञान के बिना नहीं की जा सकती थीं और इस प्रकार रेखागणित के शास्त्रकी उत्पत्ति हुई। डाक्टर थीबो साहब कहते हैं कि "ऐसे वर्गक्षेत्र निकालने पड़ते थे जो कि दो व अधिक दिए हुए वर्गक्षेत्रों के जोड़ के बराबर हों अथवा दो दिए हुए वर्गक्षेत्रों के अन्तर के बराबर हों। आयतक्षेत्र का वर्गक्षेत्र बनाना पड़ता था और वर्गक्षेत्र के बराबर आयतक्षेत्र बनाने पड़ते थे, किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र अथवा आयतक्षेत्र के बराबर त्रिभुज बनाने पड़ते थे, इत्यादि। अन्तिम कार्य जो औरों की अपेक्षा सहज नहीं था, किसी ऐसे वृत्त का बनाना था जिसका क्षेत्रफल किसी दिए वर्गक्षेत्र के बराबर हो।"

इन सब क्रियाओं का फल यह हुआ कि रेखागणित सम्बन्धी बहुत से नियम बन गए जो कि सल्वसूत्रों में दिए हैं। हम देख चुके हैं कि ये सल्वसूत्र कल्पसूत्रों के एक भाग हैं। इनका समय ईसा के पहले आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। यूनानी लोग रेखागणित के इस साध्य को पिथेगोरेस का बनाया हुआ कहते हैं कि हर समकोण त्रिभुज में समकोण के सामने के भुज पर जो वर्ग बनाया जाय वह उन वर्गों के जोड़ के बराबर होता है जो समकोण के बनानेवाले भुजों पर बनाए जांय।

परन्तु यह साध्य भारतवासियों को पिथेगोरेस के कम से कम दो सौ वर्ष पहले विदित था और पिथेगोरेस ने उसे निस्सन्देह भारतवर्ष से सीखा। यह साध्य निम्न-लिखित दो नियमों में पाया जाता है अर्थात् (१) वर्गक्षेत्र के कर्ण पर जो वर्ग बनाया जाय वह उस वर्गक्षेत्र की भुजा का दूना होता है और (२) आयतक्षेत्र के कर्ण पर जो वर्ग बनाया जाय वह आयतक्षेत्र की दोनों भुजाओं के वर्ग के बराबर होता है।

हम यहाँ पर डाक्टर थीबो साहब की उन सब बातों का वर्णन नहीं कर सकते जिन्हें उन्होंने अपने बड़े अमूल्य और शिक्षाप्रद लेख में दिया है। हम केवल इतना कर सकते हैं कि सल्वसूत्र में जो सबसे अधिक आवश्यक सिद्धान्त निकाले गए हैं उनमें से कुछ का संक्षेप में वर्णन कर दें। एक अद्भुत सिद्धान्त यह था जिसके द्वारा वर्गक्षेत्र की भुजा के सम्बन्ध से उसके कर्ण को संख्या में निकालते थे। इसके लिए यह नियम दिया है "नाप में उसका तीसरा भाग जोड़ो और उसमें इस तीसरे भाग का चौथा भाग जोड़ो और उसमें से इस चौथे भाग का चौतीसवाँ भाग घटा लो। अर्थात् यदि किसी वर्ग क्षेत्र की भुजा १ हो तो उसका कर्ण यह होगा $१ + \frac{१}{३} + \frac{१}{३ \times ४} - \frac{१}{३ \times ४ \times ३४} = १.४१४२१५६$ हम लोग जानते हैं कि कर्ण वास्तव में $\sqrt{२} = १.४१४२१३$........होता है और इस प्रकार यह देखने में आवेगा कि सल्वसूत्रों का नियम दशमलव के ५ अंकों तक ठीक है।

किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र का तिगुना, चौगुना, पचगुना अथवा कई गुना वर्ग-क्षेत्र बनाने, भिन्न-भिन्न परिमाण के दो वर्गक्षेत्रों के बराबर एक वर्गक्षेत्र बनाने, दो वर्ग-क्षेत्रों के अन्तर के बराबर वर्गक्षेत्र बनाने, अयन क्षेत्र को वर्ग क्षेत्र बनाने और वर्ग-क्षेत्र को अयन क्षेत्र बनाने, वर्गक्षेत्र को वृत्त बनाने और वृत्त को वर्गक्षेत्र बनाने के नियम बनाए गये हैं। उदाहरण की भांति हम किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र के बराबर वृत्त बनाने का नियम उद्धृत करेंगे।

वह नियम यह है "यदि तुम वर्गक्षेत्र का वृत्त बनाना चाहो तो कर्ण के मध्य को केन्द्र मान कर उसके आधे के बराबर प्राची अर्थात् पूर्व की ओर एक रेखा खींचो। उस रेखा का जितना भाग वर्गक्षेत्र के बाहर पड़ता
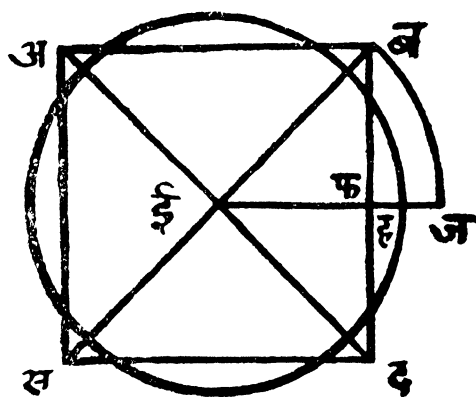
हो उसका तीसरा भाग तथा रेखा के भीतर वाले भाग को त्रिज्या मान कर वृत्त खींचो।

इस नियम का उदाहरण इस भांति दिया जा सकता है—

अ ब स द एक वर्गक्षेत्र है जिसका कर्ण स ब है और उसका आधा ई ब है। ई बिन्दु को स्थिर रक्खो और प्राची अथवा पूर्व की ओर उसके बराबर ई ज रेखा खींचो। इस रेखा का ह ज भाग वृत्त के बाहर पड़ेगा। उसका तीसरा भाग फ ह लो और उसको भीतरी भाग ई फ के सहित लेकर समस्त ई ह को त्रिज्या मान कर वृत्त खींचो।

यह कहना निरर्थक है कि यह सिद्धान्त लगभग ठीक है।

इसी भाँति "यदि तुम वृत्त को वर्ग क्षेत्र बनाया चाहो तो उसके व्यास को आठ भाग में बांटो और इनमें से एक को उनतीस भाग में बांटो। इन उनतीसों भागों में से अट्ठारह भाग निकाल दो और (बचे हुए एक भाग के छठें भाग को उसका) आठवां भाग छोड़ कर निकाल दो।

इस नियम का अर्थ यह है—

वृत्त के व्यास का $\frac{७}{८} + \frac{१}{८ \times २९} - \frac{१}{८ \times २९ \times ६} + \frac{१}{८ \times २९ \times ६ \times ८}$

उस वर्गक्षेत्र की एक भुजा होगी जिसका कि क्षेत्रफल उस वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर होगा।

रेखागणित भारतवर्ष में अग्र गई हुई विद्या है क्योंकि जब यह विदित हुआ कि रेखागणित के सिद्धान्त बीजगणित और अंकगणित के द्वारा हल हो सकते हैं तो रेखागणित का प्रचार धीरे-धीरे कम होने लगा और पौराणिक काल में जब कि हिन्दू लोग मूर्तिपूजा करने लगे और पुजारियों के घर से पवित्र अग्नि के स्थापन करने और बेदियों के बनाने की रीति उठ गई तो भारतवर्ष में रेखागणित के अध्ययन की आवश्यकता न रही।

यूनानी लोग रेखागणित में हिन्दुओं से बहुत बढ़ गए परन्तु वे अंकगणित में कभी उनकी बराबरी न कर सके। दशमलव के सिद्धान्त के अनुसार अंकों के रक्खे जाने के लिये संसार हिन्दुओं का अनुगृहीत है और इस सिद्धान्त के न होने से अंक गणित के शास्त्र का होना ही असम्भव था। पहले पहल अरब लोगों ने अंक लिखने की यह रीति हिन्दुओं से सीखी और उन्होंने यूरप में उसका प्रचार किया। प्राचीन यूनानी और रोमन लोग अंकों के लिखने की इस रीति को नहीं जानते थे और इसीलिये वे अंकगणित में कभी उन्नति न कर सके।

इसके सिवाय एक दूसरे शास्त्र में भी हिन्दू लोग सबसे बढ़े हुये थे और दार्शनिक काल में उन्होंने उसमें वह सफलता प्राप्त की कि जिससे बढ़ कर संसार में अब तक कोई नहीं कर सका है। प्रोफेसर मेक्समूलर साहेब कहते हैं कि केवल हिन्दुओं और यूनानी लोगों ने ही व्याकरण शास्त्र की उन्नति की परन्तु यूनानी लोगों ने व्याकरण में जो सफलता प्राप्त की वह पाणिनि के जो कि संसार भर में बड़ा पण्डित हुआ है, ग्रन्थ के आगे कुछ भी नहीं है। हम पाणिनि के समय के वादविवाद को नहीं उठावेंगे। प्रोफेसर मेक्समूलर साहब उनको कात्यायन का समकालीन बतलाते हैं और उनका समय सम्भवतः ईसा के पहले चौथी शताब्दी में निश्चित करते हैं। परन्तु डाक्टर गोल्डस्टकर साहेब कहते हैं कि यह व्याकरण का पण्डित ईसा के पहले ९वीं एवं १० वीं शताब्दी में हुआ है। हमारा मत यह है कि वह कात्यायन के बहुत पहले हुआ है और उसका समय ईसा के पहले आठवीं शताब्दी असम्भव नहीं जान पड़ता। वह निस्सन्देह दार्शनिक काल में हुआ जिस समय कि सब प्रकार की विद्या का दार्शनिक विचार हो रहा था। परन्तु भारतवर्ष के नितान्त पश्चिम में होने के कारण कदाचित् वह उन ब्राह्मणों और उपनिषदों को न जानता अथवा न मानता रहा होगा जिन्हें कि गङ्गा की घाटी में रहने वाली जातियों ने बनाया था और उन लोगों का उनकी विद्या, चाल व्यवहार, और धर्म के कारण भी पञ्जाब के हिन्दुओं से बहुत अन्तर था।

यहाँ पर पाणिनि के व्याकरण के क्रम का वर्णन करना हमारे विषय के बाहर होगा। यूरप में इस शताब्दी में एक बड़ी भारी बात यह जानी गई है कि किसी भाषा में जो लाखों शब्द होते हैं उनकी उत्पत्ति का पता बहुत थोड़े से मूल शब्दों से लगाया जा सकता है। भारतवर्ष में तीन हजार वर्ष हुए कि पाणिनि के समय के पहले यह बात जानी जा चुकी थी और इस बड़े वैयाकरणी ने अपने समय के संस्कृत शब्दों की व्युत्पत्ति भी की थी।

यह संस्कृत विद्या का ही ज्ञान था जिससे कि इस शताब्दी के यूरप के विद्वानों ने भाषा तत्व को निकाला और बौप और ग्रिम साहबों तथा बहुत से अन्य विद्वानों ने आर्य भाषाओं के शब्दों की व्युत्पत्ति उसी भाँति की है जैसे कि पाणिनि ने संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति आर्यों के इतिहास के उस पूर्वकाल में की थी जब कि एथेंस और रोम नहीं जाने गये थे।

चौबीसवां अध्याय

सांख्य और योग

परन्तु दार्शनिक काल की कीर्ति कपिल के दर्शन शास्त्र और बुद्ध के धर्म से है। कपिल और बुद्ध दोनों ने प्रायः एक ही बात पर उद्योग किया। उन लोगों का बड़ा उद्योग यह था कि मनुष्यों को उस दुःख से छुड़ावें जिसे कि प्राणी मात्र भोग रहे हैं। ये दोनों ही उन उपायों को स्पष्ट घृणा की दृष्टि से देखते थे जिन्हें कि वैदिक रीतियाँ बताती थीं और उन रीतियों को अपवित्र समझते थे क्योंकि उनके द्वारा प्राणियों का बध होता था। उन दोनों ही का यह सिद्धान्त था कि विद्या और ध्यान के द्वारा मुक्ति मिल सकती है [सांख्यकारिका १ और २ देखो]। उन दोनों ने उपनिषदों के पुनर्जन्म होने के सिद्धान्त को माना है [सांख्यकारिका ४५] और वे कहते थे कि अच्छे कर्मों के द्वारा जीवन की उच्च अवस्थाएँ मिलती हैं और अन्त में उन दोनों का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करने का था [सांख्यकारिका ६७] और यह दार्शनिक और यह सुधारक दोनों ही अज्ञेयवादी हैं।

परन्तु यहाँ पर इन दोनों की समता समाप्त हो जाती हैं। कपिल ने, जो सम्भवतः बुद्ध के एक शताब्दी पहले हुये, सांख्य दर्शन को चलाया, परन्तु उन्होंने उसे केवल दर्शन शास्त्र की भाँति चलाया था। वे बड़े-बड़े ऋषियों और विचारशील विद्वानों से वादविवाद करते थे उनके दर्शन शास्त्र में साधारणतः मनुष्य जाति से सहानुभूति रखने की कोई बात नहीं है। वे सर्व साधारण को उपदेश नहीं देते थे और न उन्होंने कोई समाज अथवा जाति स्थापित की थी। बुद्ध उसके पीछे हुये और वे सम्भवतः उसी नगर में हुए जिसमें कि ये महा दार्शनिक हो चुके थे। यह बात निश्चय है कि वे कपिल के दर्शन शास्त्र को बहुत अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने अपने मुख्य-मुख्य सिद्धान्त उससे ही ग्रहण किये थे। परन्तु उनमें वे गुण थे जो कि उनके पूर्वज में नहीं थे अर्थात् उनमें सबों के लिये सहानुभूति, दीनों के लिये दया और दुखी लोगों के लिये आँसू थे। यह बुद्ध की बड़ी सफलता का मूल कारण है। क्योंकि दर्शन शास्त्र यदि केवल नाम मात्र को हो, यदि वह इच्छा और सच्चे प्रेम से प्राणियों की भलाई के लिए खोज न करे, यदि वह धनाढ्य और दरिद्र को तथा ब्राह्मण और शूद्र को एक दृष्टि से न देखे, तो वह व्यर्थ ही है। शूद्र और दरिद्र

लोग एक-एक करके बुद्ध के पास उनकी प्रीति सहानुभूति और भलाई के कारण जाने लगे। अच्छे लोगों ने उनकी उत्तम ईश्वरभक्ति की प्रशंसा की, न्यायी लोगों ने उनका यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि सब मनुष्य समान हैं और सारे संसार ने उनके धर्म के स्वच्छ सद्विवेक की प्रशंसा की। उनका नया धर्म बढ़ता गया और वह जातियों के नीच ऊँच होने के विचार और उन जातियों के भिन्न-भिन्न नियमों को तोड़ता गया। उनकी मृत्यु के तीन शताब्दी पीछे पाटली पुत्र के सम्राट ने जो कि समस्त उत्तरी भारतवर्ष का अधिपति था, उनके धर्म को स्वीकार किया और उसे समस्त भारतवर्ष का धर्म बनाया। उस समय की जाति ने मनुष्यों की समानता के उस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जैसा कि हिन्दुओं ने उसके उपरान्त सब से फिर नहीं किया है जब से कि वे जातियाँ नहीं हैं।

परन्तु इन सब विषयों का वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायगा। यहाँ पर हम कपिल के दर्शन शास्त्र का पुनः उल्लेख करते हैं जो कि संसार के लिखे हुये दर्शन शास्त्र में सब से प्राचीन है और उन बातों का केवल बुद्धि से उत्तर देने का सब से पहला उद्योग है जो कि सृष्टि की उत्पत्ति, मनुष्य के स्वभाव और सम्बन्ध और उसके भविष्यत भाग्य के विषय में सब विचारवान लोगों के हृदय में उठती हैं।

सांख्यप्रवचन अथवा सांख्य सूत्र कपिल का स्वयं बनाया हुआ कहा जाता है परन्तु वह सम्भवतः उसके उपरान्त बना अथवा सुधारा गया है। इसका एक बड़ा अच्छा संस्करण और अनुवाद और टिप्पणियों के सहित, डाक्टर बेलेण्टाइन साहब ने प्रकाशित किया है। सांख्यसार बिज्ञानभिक्षु का बनाया हुआ है। जिन्होंने कि सांख्य प्रवचन का भाष्य किया है। सांख्यकारिका इस विषय की एक प्राचीन और संक्षिप्त पुस्तक है जिसमें केवल ७२ श्लोक हैं जिन्हें ईश्वर कृष्ण ने बनाया था और जिनका भाष्य ग्वादपद और वाचस्पति ने किया है। इस छोटी परन्तु अत्यन्त उत्तम पुस्तक का अनुवाद लेटिन भाषा में लेसन साहब ने, जर्मन भाषा में विण्डिशमैन और लौरिन्सर साहबों ने, फ्रेंच भाषा में पेण्टिअर और सेण्टहिलेयर साहबों ने तथा अंग्रेजी में कोलब्रूक और विल्सन और अभी हाल में डेवीज साहब ने किया है। यह छोटी पुस्तक हमारे काम की होगी, विशेष कर इसलिये कि डेवीज साहब की अमूल्य टिप्पणी हमको बहुत सहायता पहुँचावेगी। हमें अब केवल इतना ही कहना है कि इन थोड़े से पृष्ठों में हमारे पाठकों के लिये सांख्यदर्शन का कुछ भी खाका खींचना असम्भव है और यहाँ इस शास्त्र के कुछ थोड़े से मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है।

कपिल के दर्शनशास्त्र का उद्देश्य मनुष्यों को तीनों प्रकार के अर्थात् (१) दैहिक (२) भौतिक और (३) दैविक क्लेशों से छुड़ाने का है। उनके मत से वेद के विधान निरर्थक हैं क्योंकि वे अशुद्ध हैं और उनमें प्राणियों का बध होता है। आत्मा की पूर्ण और अन्तिम मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है।

प्रकृति और आत्मा अनादि हैं और वे किसी के बनाये हुए नहीं हैं। प्रकृति से ज्ञान, चेतना, पांच सूक्ष्म तत्व, पांच स्थूल तत्व, पांचों प्रकार के इन्द्रियज्ञान, पांचो इन्द्रियां और मन की उत्पत्ति हुई है। आत्मा से किसी की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु वह प्रकृति के साथ इस शरीर से उसके मोक्ष होने के समय तक मिली रहती है। कपिल उपनिषदों के इस कट्टर मत को नहीं मानते कि आत्मा परमात्मा का एक अंश है। वे कहते हैं कि आत्मा भिन्न है और प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होने के उपरान्त वह अलग रहती है।

यह स्पष्ट है कि कपिल के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को छोड़ कर और सब की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है और इस कारण वे भौतिक हैं। केवल तत्व, इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियाँ ही नहीं वरन् मन, चेतना और बुद्धि भी भौतिक पदार्थों के फल हैं। कपिल का आजकल के देहात्मवादियों से केवल इस बात में भेद है कि ये कहते हैं कि आत्मा भौतिक पदार्थों से भिन्न और अनादि है, यद्यपि वह कुछ समय तक भौतिक पदार्थों से मिली हुई रहती है।

कपिल के मानसिक दर्शनशास्त्र को स्पष्ट समझने के लिये इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियों, मन, चेतना, बुद्धि, तत्वों और आत्मा के भेदों को अच्छी तरह समझना आवश्यक है।

पांचों ज्ञानेन्द्रियां केवल देखती हैं अर्थात् "ज्ञान" को ग्रहण करती हैं, पाँचों इन्द्रियां अर्थात् जिह्वा, हाथ, पैर इत्यादि अपना-अपना कार्य करती हैं (सा० का० २८)। मन से वह अर्थ नहीं है जो कि इस शब्द से अंगरेजी में समझा जाता है परन्तु वह केवल ज्ञान को इन्द्री है (सा० का० २७), वह केवल ज्ञान को क्रमानुसार चेतना के निकट लाती है चेतना उस ज्ञान को "मेरा" बोध कराती है (सा० का० २४) और बुद्धि उनमें भेदप्रभेद समझती है तथा विचारों को बनाती है (सा० का० २३)। इस प्रकार यह देखा जायगा कि इन्द्रियज्ञान, मन, चेतना, और बुद्धि में जो भेद किए गये हैं वे वास्तव में 'मन' के कार्यों के भेद हैं। यूरप के दर्शनशास्त्र की भाषा में इसे यों कहेंगे कि मनस् इन्द्रिय ज्ञान को ग्रहण करता है और उसे "अनुभव बताता है, चेतना इन्हें "मेरा" ऐसा विचारती है और बुद्धि उनको ध्यान में लाती है।

हिन्दू भाष्यकार लोग इस मानसिक क्रिया को कविता की भाषा में वर्णन करते हैं। वाचस्पति कहते हैं कि "जैसे गाँव का मुखिया उस गाँव के लोगों से कर उगाह कर उसको जिले के हाकिम के पास ले जाता है, जैसे जिले का हाकिम उस द्रव्य को राजमंत्री के पास भेजता है और राजमंत्री उसे राजा के कार्य के लिये लेता है उसी भाँति मनस् बाह्येन्द्रियों के द्वारा विचार ग्रहण करता है, उन विचारों को चेतना के हवाले करता है और चेतना उन्हें बुद्धि को देती है जो कि उसे राजा 'आत्मा' के काम के लिये लेती है।" इन उपमाओं में जिन भेदों का वर्णन किया गया है उनका शास्त्रीय रूप हम लोगों से छिपा नहीं रह सकता। इन भेदों को यूरप के दर्शनशास्त्र तथा हिन्दू ऋषि लोग दोनों ही मानते हैं। मारल साहब अपनी "एलिमेण्टस् आफ साइकालोजी" नामक पुस्तक में कहते हैं कि "वास्तव में इन्द्रिय ज्ञान शुद्ध निष्कर्म अवस्था नहीं है वरन् उसमें मन भी कुछ थोड़ा काम करता है।" जैसे यदि कोई घड़ी हमारे कान के निकट बजे और यदि हमारा ध्यान उस घड़ी की ओर न हो अर्थात् यदि हमारा मन उस समय बजने के ज्ञान को ग्रहण करने के अयोग्य हो तो हम उसका बजना बिल्कुल नहीं सुन सकते और मन के इसी काम करने को, जिसके लिये कि यूरप के दर्शनशास्त्र में कोई नाम नहीं हैं, कपिल 'मनस्' कहते हैं।

कपिल में दर्शनशास्त्र की यह कोई सामान्य बुद्धि नहीं थी कि ऐसे समय में जब कि मस्तिष्क के कार्य पूरी तरह से नहीं समझे गए थे उन्होंने मनस्, अहंकार और बुद्धि को भी भौतिक समझा, केवल इतना ही नहीं वरन् उन्होंने यह भी भौतिक बतलाया कि तत्वों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। इस बात में कपिल ने बर्क्ले और ह्यूम साहबों के सिद्धान्त को जान लिया कि वस्तुएं इन्द्रियज्ञान की केवल स्थायी सम्भावनाएँ हैं। वे इस बात में केण्ट साहब से सहमत हैं कि हमको बाहरी संसार का इसके सिवाय कोई ज्ञान नहीं होता कि वह हमारी शक्तियों के कार्य द्वारा हमारी आत्मा को विदित होता है और इस प्रकार हम लोग अपने इन्द्रियज्ञानों की पदार्थ-निष्ठ वास्तविक स्थिति को मान लेते हैं।

कपिल केवल पांच स्थूल तत्वों अर्थात् आकाश, वायु, पृथ्वी, अग्नि और जल के अतिरिक्त पांच सूक्ष्म तत्वों अर्थात् नाद, स्पर्श, गंध, दृष्टि और स्वाद का भी उल्लेख करते हैं। परन्तु उनकी इस बात का क्या अर्थ है कि ये सूक्ष्म तत्व स्वतन्त्र हैं! "कपिल का सिद्धान्त यह जान पड़ता है कि सुनने में कान का सम्बन्ध केवल आकाश से ही नहीं परन्तु उसके सूक्ष्म सिद्धान्त से भी है जिससे कि यह बात स्पष्ट रीति से विदित होती है कि सुनने का कार्य केवल कान तथा शब्द की उत्पत्ति स्थान

के बीच परस्पर सम्भाषण का कोई द्वार होने से ही नहीं होता परन्तु उस कार्य के होने में उस तत्व में कुछ परिवर्तन भी होता है जिसमें होकर नाद चलता है।"

कपिल केवल तीन प्रकार के प्रमाण मानते हैं अर्थात् अनुभव, अनुमान, और साक्षी [सा०का० ४]। न्यायशास्त्र में चार प्रकार के प्रमाण माने गए हैं अर्थात् उसमें कपिल के अनुभव को दो भागों में बांटा है अनुमान और उपमान। वेदान्त में एक पांचवें प्रकार का प्रमाण अर्थात् अर्थापत्ति भी माना गया है जो कि अनुमान का एक भेद है यथा "देवदत्त दिन को नहीं खाता और फिर भी वह मोटा है", अतः यह अनुमान कर लिया गया कि वह रात्रि में खाता है।

कपिल अपने तीनों प्रकार के प्रमाणों के सिवाय और किसी प्रकार को स्वीकार नहीं करते। वे और सब भीतरी विचारों को नहीं मानते। चूंकि अनुभव, अनुमान अथवा साक्षी से सब वस्तुओं के बनाने वाले का अस्तित्त्व सिद्ध नहीं होता, अतएव वे ईश्वर का ज्ञान अपने दर्शनशास्त्र के द्वारा होना स्वीकार नहीं करते।

परन्तु कपिल इस सिद्धान्त को मानते हैं कि "सत् कार्यम् असत् अकारणात्" अर्थात् जो कुछ है उसका कारण अवश्य होगा क्योंकि कारण के बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती (सा० का० ९)। वे मनुष्यों के पर्यवेक्षण से विचारने की प्रार्थना करते हैं कि कारण और प्रयोजन एक दूसरे को सूचित करते हैं और कहते हैं कि प्रयोजन और कारण एक ही है।

स्वभाव के तीनों गुण अर्थात् सत्व, रजस और तमस हिन्दुओं के सब दर्शनशास्त्रोंमें मुख्य बातें हैं और कपिल ने भी उन्हें स्थान दिया है (सा० का० ११)। ये गुण केवल एक वर्तमान अवस्थाओं के भेद का कारण विदित होता है।

कपिल सब प्रकार के जीवनों की उत्पत्ति प्रकृति से बतलाते हैं और वे इसके पाँच प्रमाण देते हैं (सा० का १५)। पहले यह कि विशेष वस्तुओं का स्वभाव परिमित होता है और उनका हेतु भी अवश्य होना चाहिये। दूसरे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के साधारण गुण होते हैं और एक ही मूल जाति के भिन्न-भिन्न भाग हैं। तीसरे, सब वस्तुएँ निरन्तर उन्नति की अवस्था में होती है और उनमें प्रसार की क्रिया शक्ति होती है जो कि अवश्य एक ही आदि कारण से उत्पन्न हुई होगी। चौथे, यह वर्तमान संसार फल है और इसका कोई आदि कारण अवश्य होना चाहिये और पाँचवें, समस्त सृष्टि में एक प्रकार का एकत्व है जिससे कि उसका किसी एक ही वस्तु से उत्पन्न होना सिद्ध होता है। इन्हीं कारणों से कपिल यह सिद्धान्त

निकालते हैं कि सब प्रकार के स्थूल अस्तित्व प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं।

परन्तु आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुई है और उन्होंने आत्मा के अस्तित्व के भिन्न होने के जो कारण दिए हैं वे भी उल्लेख करने योग्य हैं। उनका पहला कारण प्रयोजनोद्देश्य का प्रसिद्ध तर्क है, परन्तु कपिल ने आजकल के वेदान्तियों से इसका भिन्न प्रयोग किया है। साकार वस्तुएं तो निःसन्देह एकत्रित करके एक नियमित क्रम के अनुसार बनाई गई हैं परन्तु इससे कपिल उन वस्तुओं के बनाने वाले को सिद्ध नहीं करते वरन् यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा का अस्तित्व अवश्य है जिसके लिये कि ये वस्तुएँ बनाई गई हैं (सा० का० १७)। गौड़पद कहते हैं कि जिस प्रकार कोई बिछौना जिसमें कि गद्दा, रूई, चाँदनी और तकिया होता है, अपना हो न होकर किसी दूसरे के काम के लिये होता है उसी प्रकार यह संसार भी जो कि पांचों तत्वों से बना है पुरुष के काम के लिए है। दूसरे, सब वस्तुएँ दुःख और सुख की सामग्री हैं अतः वह ज्ञानमय प्रकृति, जो इन दुःखों और सुखों का अनुभव करती है, उससे अवश्य भिन्न होगी। तीसरे, देखभाल करने वाली कोई शक्ति भी अवश्य होनी चाहिये। चौथे, एक भोगने वाली प्रकृति भी होनी चाहिये। और पाचवां प्रमाण प्लेटो का यह सिद्धान्त है कि उच्च जीवनों को प्राप्त करने की अभिलाषा से यह विदित होता है कि उसको प्राप्त करने की सम्भावना भी है। आत्मा के प्रकृति से भिन्न होने के लिये कपिल ये प्रमाण देते हैं परन्तु वे एक आत्मा को नहीं मानते। वे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्राणियों की भिन्न-भिन्न आत्मायें हैं और वे इसके प्रमाण देते हैं (सा०का० १८)। इस बात में उनका उपनिषदों और वेदों से मतभेद है।

सजीव पदार्थों के अत्यावश्यक कर्मों की उत्पत्ति कुछ सूक्ष्म शक्तियों से बतलाई गई है और हिन्दुओं के दर्शनशास्त्र में उनका प्रायः "पांच वायु" की भांति उल्लेख किया गया है। इन्हीं पांचों सूक्ष्म शक्तियों के द्वारा श्वास, थकावट, पाचन, खून का प्रचलन और स्पर्शज्ञान होता है।

हम कह चुके हैं कि कपिल ने पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों से ग्रहण किया है परन्तु इस सिद्धान्त को दर्शनशास्त्र के उपयुक्त बनाने के लिये उन्हें उसमें परिवर्तन करना पड़ा। कपिल के अनुसार आत्मा ऐसी निष्कर्म है कि उस पर किसी के व्यक्तित्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बुद्धि, चेतना और मनस् ये सब मनुष्य के भौतिक अंश हैं। इस विचार के अनुसार कपिल ने यह सिद्धान्त निकाला कि आत्मा के साथ-साथ एक सूक्ष्म शरीर का भी पुनर्जन्म होता है जो कि बुद्धि, चेतना, मनस् और सूक्ष्म तत्वों का बना होता है (सा० का० २६ और ४०) और यह सूक्ष्म शरीर अर्थात् लिंगशरीर का सिद्धान्त समस्त हिन्दू दर्शनशास्त्रों में पाया जाता है।

मनु कहते हैं कि (१२, १६) पापियों की आत्माओं के चारों ओर एक सूक्ष्म शरीर होता है जिसमें कि वे नर्क के कष्ट भोग सकें। सब जातियों के धर्मों में इस सिद्धान्त के सदृश बातें पाई जाती हैं और ईसाइयों के धर्म में जो शरीर का फिर से उठने का विश्वास है वह इस लिंगशरीर के सिद्धान्त से मिलता है। यह लिंगशरीर प्राणियों के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है और आत्मा के साथ, उसके जीवन के पुण्य अथवा पाप के अनुसार, वह उच्च अथवा नीच लोक को जाता है (सा० का० ४४)। भिन्न-भिन्न लोक ये हैं (१) पिशाचों का लोक (२) राक्षसों का (३) यक्षों का (४) गन्धर्वों का (५) इन्द्र (सूर्य) का (६) सोम (चन्द्रमा) का (७) प्रजापति का जहां कि पितरों और ऋषियों का निवासस्थान है (८) ब्रह्मा का जो कि सबसे उच्च स्वर्ग है। इन आठों श्रेष्ठ योनियों के अतिरिक्त पांच नीच योनियां भी हैं अर्थात् (१) पालतू पशु (२) जंगली पशु (३) पक्षी (४) कीड़े मकोड़े और मछलियाँ (५) बनस्पति और निर्जीव पदार्थ। मनुष्य इन आठों श्रेष्ठ योनियों और पांचों नीच योनियों के बीच में है। (सा० का० ५३) सत्त्वगुण श्रेष्ठ योनियों में होता है। राजोगुण मनुष्यों में और तमोगुण नीच योनियों में (सा० का० ५४)। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार नीच अथवा ऊँच योनि पा सकता है अथवा मनुष्य ही होकर किसी दूसरी जाति में जन्म ले सकता है। जब आत्मा लिंगशरीर से मुक्त हो जाती है तो वह सदा केलिये मुक्त हो जाती है। आत्मा प्रकृति से मिल कर जो ज्ञान प्राप्त करती है उसी के द्वारा उसकी मुक्ति होती है। "जिस तरह कोई नाचनेवाली अपने को रंगशाला में दिखलाने के उपरान्त नाचना बन्द कर देती है उसी प्रकार प्रकृति भी जब वह को अपने आत्मा पर प्रगट कर देती है तो अपना कार्य बन्द कर देती है।" [सा० का० ५९]

आत्मा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी कुछ काल तक शरीर में रहती है "जैसे कुम्हार की चाक पहले घुमाये जाने के बेग से घूमता रहता है।" यही बुद्ध का निर्वाण अर्थात् शान्ति की वह अवस्था है जब कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, सब कामनाओं का अवरोध हो जाता है, कोई इच्छा नहीं रहती और ज्ञानमय आत्मा मुक्ति के लिये तैयार रहती है। अन्त में आत्मा भौतिक पदार्थों से जुदा हो जाती है। उस समय प्रकृति का कार्य समाप्त हो जाता है और वह अपना कार्य बन्द कर देती है। आत्मा भौतिक पदाथा से जुदा हो जाती है और दोनों सदा के लिये एक दूसरे से जुदा होकर रहते हैं (सा० का० ६८)।

यह सांख्ययोग का सारांश है। जर्मनी का सबसे नवीन दर्शनशास्त्र अर्थात् शौपेनहर (१८१९) और वान हार्टमैन के १८६९ के सिद्धान्त "कपिल के दर्शनशास्त्र

देहात्मवाद के रूपान्तर हैं, जो कि अधिक उत्तम रूप में दिए गए हैं परन्तु उसके मूल सिद्धान्त एक ही हैं। इस बात में मनुष्य की बुद्धि उसी ओर गई है जिस ओर कि वह दो हजार वर्ष पहले गई थी, परन्तु एक अधिक आवश्यक विषय में वह एक कदम आगे बढ़ गई है। कपिल का यह सिद्धान्त था कि मनुष्य में आत्मा का अस्तित्व पूरी तरह है और वास्तव में वही उसकी यथार्थ प्रकृति है जो कि अमर और भौतिक पदार्थों से भिन्न है। परन्तु हमारे नवीन दर्शनशास्त्र के अनुसार यहां और जर्मनी में भी मनुष्य में केवल वह उच्च प्रकार से उन्नति की हुई रचना समझी गई है। कपिल कहते हैं कि सब बाहरी पदार्थ इसलिये बनाए गए हैं जिसमें कि आत्मा अपने को जान सके और स्वतंत्र हो सके। शौपेन हौवर कहता है कि मनोविज्ञान का पढ़ना व्यर्थ है क्योंकि आत्मा है ही नहीं। कपिल के दर्शनशास्त्र में लोगों के विश्वास के लिये बड़ा अभाव उसका अज्ञेयवाद था और योग सिद्धान्त ने इस अभाव की पूर्ति करने का यत्न किया है। वह पातञ्जलि का बनाया हुआ कहा जाता है, जो कि डाक्टर गोल्ड स्टूकर साहब के अनुसार ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में हुआ। पातञ्जलि के जीवन और इतिहास के विषय में हमें केवल इतना ही विदित है कि उनकी माता का नाम गोनिका था जैसा कि वे स्वयं कहते हैं और वे कुछ समय तक काश्मीर में रहे थे और कदाचित उस देश के राजाओं ने इसी कारण से व्याकरण पर उनके महाभाष्य को रक्षित रक्खा है। पातञ्जलि अपने को गोनर्दीय अर्थात् गोनर्द का रहने वाला लिखते हैं और यह देश भारतवर्ष के पूर्वी भाग में है।

हम पहले देख चुके हैं कि ईसा के पहले चौथी शताब्दी में कात्यायन ने पाणिनि के व्याकारण पर आक्रमण किया था। पातञ्जलि का बड़ा ग्रन्थ उनका महा भाष्य है जिसमें कि उन्होंने पाणिनि का पक्ष लिया है और उसमें वे अपनी पूर्ण विद्या का स्मारक छोड़ गए हैं। योगशास्त्र भी इन्हीं का बनाया हुआ कहा जाता है और यह विचार बहुत सम्भव जान पड़ता है कि पाणिनि के इस पक्षपाती ने अपने देशवासियों में कपिल के प्रसिद्ध करने का भी यत्न किया हो और उनके उदासीन और अज्ञेयवादी दर्शनशास्त्र में एक परमात्मा में विश्वास करने का तथा कुछ तपस्या और ध्यान के द्वारा मुक्ति पाने का सिद्धान्त जोड़ा हो।

योगसूत्र का जो कि पतञ्जलि का बनाया हुआ कहा जाता है अंग्रेजी में अनुवाद डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है और उसकी भूमिका में उन्होंने इस पुस्तक का विषय संक्षेप में वर्णन किया है। दर्शनशास्त्र में सांख्य के सामने योग कुछ भी नहीं है और इसलिए हम उसका बहुत थोड़े में वर्णन करेंगे और हमारा यह संक्षिप्त वर्णन योगसूत्र के उसी विद्वान अनुवादक के सहारे पर होगा।

योगसूत्र में १९४ सूत्र हैं और वह चार अध्यायों में बँटा है। पहला अध्याय समाधिपाद कहलाता है और उसमें ध्यान के स्वरूप के विषय में ५१ सूत्र हैं। दूसरे अध्याय में ५५ सूत्र हैं तथा वह साधनपाद कहलाता है और उसमें ध्यान के लिये आवश्यक साधनाओं का वर्णन है। तीसरा अध्याय विभूतिपाद है और उसमें जो सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं उनका वर्णन ५५ सूत्रों में है। चौथा अध्याय कैवल्य-पाद है और उसमें ३३ सूत्रों में आत्मा के सब सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने का वर्णन है और यही ध्यान का अन्तिम उद्देश्य है।

पहले अध्याय में योग की व्युत्पत्ति 'युज' से कही गई है जिसका अर्थ जोड़ना अथवा ध्यान करना है और वह ध्यान केवल चित्त की वृत्तियों को दमन करने ही से सम्भव है। निरन्तर अभ्यास और शान्ति के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो सकता है और ज्ञात अथवा अज्ञात योग की प्राप्ति हो सकती है। यह दूसरे प्रकार का योग पहले प्रकार के योग से बढ़ कर है और उसमें विचार अथवा प्रसन्नता, अहंकार अथवा चेतना भी नहीं रहते।

ईश्वर की भक्ति से मन की यह इच्छित अवस्था बहुत शीघ्र प्राप्त होती है। ईश्वर का ध्यान यह है अर्थात् ऐसी आत्मा जो क्लेश, कार्य्यों, भावनाओं और कामनाओं से रहित हो, उसमें सर्वज्ञता का गुण अनन्त रूप से है और "वह सब आदिम लोगों का ज्ञान देनेवाला है क्योंकि समय उसको नहीं व्यापता।" (योगसूत्र १, २५ और २६)। "ओ३म्" शब्द से वह सूचित किया जाता है।

योग की प्राप्ति के लिये रोग, सन्देह, सांसारिक कार्य्यों में लिप्त रहना, ये सब बाधायें हैं। परन्तु मन की एकाग्रता से, दुःख और सुख से विरक्त रहने से और श्वास को नियमानुसार ठहराने से, बाधाएँ दूर की जा सकती हैं। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न प्रकार के योगों का वर्णन करके यह अध्याय समाप्त होता है।

दूसरे अध्याय में योग के आवश्यक अभ्यासों का वर्णन है। तपस्या, मन्त्र का जपना और ईश्वर भक्ति ये सब से प्रथम साधनाएँ हैं। इनसे सब प्रकार के दुःख यथा अज्ञान, अहंकार, कामना और द्वेश अथवा जीवन की लालसा, दूर होते हैं। इन्हीं के कारण कर्म किये जाते हैं और कर्मों का फल दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है। हम आगे के अध्याय में देखेंगे कि यही बुद्ध का कर्म के विषय में सिद्धान्त है जिसके विषय में इतना लिखा गया है। योग का उद्देश्य इन कर्मों से निवृत्ति पाने का है जिसमें कि पुनर्जन्म न हो। सांख्य के अनुसार आत्मा और बुद्धि के ये वर्णन हुए। ज्ञान इन दोनों के सम्बन्ध को जुदा करता है और उस ज्ञान को प्राप्त करने से आत्मा स्वतन्त्र हो जाती और उसका पुनः जन्म और उसका दुःख नहीं होता। ज्ञान के

पूर्ण होने के पहले उसकी सात अवस्थाएँ कही गई हैं और इस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आठ रीतियाँ लिखी गई हैं (जिससे कि बौद्धों के आठों पथ का स्मरण होता है) पहली रीति-बुरा कर्म न करना; अहिंसा, सत्य बोलना, चोरी, व्यभिचार और लालच न करना है। दूसरी रीति कुछ कर्मों को करना, पवित्रता, सन्तोष, तपस्या, अध्ययन और ईश्वर की भक्ति है। ये दोनों रीतियां गृहस्थों अथवा सन्यासियों दोनों ही के लिये हैं। इनके उपरान्त योगियों के विशेष धर्म लिखे गए हैं। तीसरी रीति ध्यान के लिये आसन का बांधना है। चौथी रीति श्वास का नियमानुसार ठहराना है, पांचवीं रीति इन्द्रियों को उनके स्वाभाविक कर्मों से रोकना है और छठीं, सातवीं और आठवीं रीतियां धारणा, ध्यान और समाधि हैं जो कि योग के मुख्य अङ्ग हैं। जब इन तीनों रीतियों का योग होता है तो उससे संयम होता है और सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

तीसरे अध्याय में सिद्धियों का वर्णन है और ये निस्सन्देह बड़ी अद्भुत है। उनके द्वारा भूत और भविष्य की बातें जानी जा सकती हैं, मनुष्य अपने को लोगों से अदृश्य बना सकता है, दूर देशों अथवा नक्षत्रों में जो बातें हो रही हों उन्हें जान सकता है, आत्मा से बात कर सकता है, वायु में अथवा जल पर चल सकता है और कई दैविक शक्तियां प्राप्त कर सकता है। कपिल के उत्तम वेदान्त में इस प्रकार जोड़-तोड़ करके उसकी दुर्गति की गई है।

परन्तु इन सिद्धियों को प्राप्त करना ही योगियों का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। योगी का अन्तिम उद्देश्य आत्मा को मुक्त करने का है और इसका वर्णन चौथे अर्थात अन्तिम अध्याय में किया गया है। अब हम इस सिद्धान्त के विषय में पुनः वर्णन करते हैं कि सब कर्मों और सब विचारों का फल दूसरे जन्मों में मिलता है। इसके उपरान्त चेतना और इन्द्रियज्ञान, बुद्धि और आत्मा के भेद लिखे गये हैं और वे भेद प्रायः वैसे ही हैं जैसे कि सांख्य में किए गए हैं। इन भेदों का वर्णन करके पातञ्जलि कहते हैं कि पूर्णज्ञान के द्वारा पूर्व के सब कार्य मिट जाते हैं। [४, २८-३०] और अन्त में वह समय आ जाता है जब कि तीनों गुण मृत हो जाते हैं और आत्मा केवल अपने तत्व में निवास करती है। आत्मा को इस प्रकार मुक्त करना ही योग का उद्देश्य है [४, ३३]। यह मुक्ति अनन्त और नित्य है और जो आत्मा उसे प्राप्त कर लेती है वह सदा के लिये स्वतंत्र हो जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र की दृष्टि से योग किसी काम का नहीं है। उसके सब मूल सिद्धान्त अर्थात् आत्मा, बुद्धि, चेतना, पुनर्जन्म, आत्मा की नित्यता और ज्ञान द्वारा उसकी मुक्ति, ये सब सांख्य के ही सिद्धान्त हैं। वास्तव में

पातञ्जलि ने कपिल के दर्शनशास्त्र में एक परमात्मा के होने के सिद्धान्त को जोड़ने का यत्न किया, परन्तु दुर्भाग्यवश उसने उसमें उस समय के बहुत से मिथ्या धर्म और मिथ्या कर्मों को भी मिला दिया है। अथवा यों समझना चाहिये कि इस बड़े वैयाकरण ने एक शुद्ध ईश्वरवाद के वेदान्त को बनाया जिसमें कि आगे चल कर बहुत से मिथ्या धर्म और कर्म मिल गए, जिनका फल हम लोग आजकल के योग सूत्रों में देख रहे हैं। उसके उपरान्त के समय में योगशास्त्र बिलकुल उठ गया और उसमें कठोर अनुचित तान्त्रिक क्रियाएँ मिल गईं, जो कि आजकल के योगी कहलाने वालों का छल और मिथ्या धर्म है।

पचीसवां अध्याय

न्याय और वैशेषिक

गौतम का जिन्हें कि भारतवर्ष का अरस्तू कहना चाहिए न्यायशास्त्र हिन्दुओं का तर्कशास्त्र है। उनका समय विदित नहीं है पर ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अहिल्या से विवाह किया था। इसमें सन्देह नहीं कि वे दार्शनिक काल में हुए परन्तु वे सम्भवतः कपिल के एक शताब्दी उपरान्त हुए। न्यायसूत्र जो कि उनका बनाया हुआ कहा जाता है पाँच अध्यायों में बंटा है जिनमें से प्रत्येक अध्याय में दो "दिन" अर्थात् दैनिक पाठ हैं। ये पाठ कुछ भागों में बंटे हैं और प्रत्येक भाग में कई सूत्र हैं। न्याय अब तक भारतवर्ष में बड़े प्रेम से पढ़ा जाता है और हमने काश्मीर, राजपुताना और उत्तरी भारतवर्ष से विद्यार्थियों को बङ्गाल के नवद्वीप में न्याय की प्रसिद्ध पाठशालाओं में आते देखा है। वे वहां अपने गुरू के घर में रहते हैं और कई वर्षों तक उसी प्रकार अध्ययन करते हैं जैसे कि गौतम के समय में मागध, अंग, कोशल और विदेह लोगों के विद्यार्थी अध्ययन करते थे। अब भारतवर्ष में और सब बातें बदल गई हैं परन्तु प्राचीन विद्या अब तक भी उसी प्राचीन रीति के अनुसार "टोलों" में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जबानी सिखाई जाती है। परन्तु समय का प्रभाव इन टोलों पर भी पड़ा है। अधिकांश विद्यार्थी लोग अब इन टोलों में न पढ़ कर स्कूलों और विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं। इन टोलों के संस्थापकों को अब कठिनता से जीविका निर्वाह करने के लिए कुछ मिलता है और उन्हें अच्छे लोगों की उदारता का आश्रय लेने केलिए

एक स्थान से दूसरे स्थान को भ्रमण करना है और प्रति वर्ष विद्यार्थियों की संख्या घटती ही जाती है। परन्तु फिर भी प्राचीन रीतियों से अद्भुत प्रीति रखनेवाले हिन्दू पण्डित और हिन्दू विद्यार्थी लोग अब तक भी उसी प्राचीन प्रणाली के अनुसार पढ़ने के लिये आते हैं जिसका संक्षिप्त वर्णन हम धर्मसूत्रों के अनुसार ऊपर दे चुके हैं। यह आशा की जाती है कि यह प्राचीन प्रथा आज कल बहुत से परिवर्तन होने पर भी अभी भविष्यत में ज्यों की त्यों रहेगी।

न्यायशास्त्र उन विषयों से प्रारम्भ होता है जिनके बारे में वादविवाद किया जाय। इसमें दो बातें हैं (१) प्रमाण और (२) प्रमेय। ये दोनों मुख्य विषय हैं और इनके अन्तर्गत चौदह विषय और हैं अर्थात् (३) शंका (४) हेतु (५) उदाहरण (६) निरूपण (७) तर्क अथवा अवयवघटित वाक्य (८) खण्डन (९) निर्णय (१०) वाद (११) कल्पना (१२) आपत्ति (१३) मिथ्या हेतु (१४) छल (१५) जाति और (१६) विवाद।

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रमाण इसमें चार प्रकार के माने जाते हैं अर्थात् अनुभव, अनुमान, सदृश्य और साक्षी। "कारण वह है जो कि किसी कार्य के पहले अवश्य होता है और वह कार्य उस कारण के बिना नहीं हो सकता" और "कार्य वह है जो अवश्य ही कारण से होता है और उस कारण बिना नहीं हो सकता" और कार्य का सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है अर्थात् संयोग और समवाय। इसलिये कार्य तीन प्रकार के हो सकते हैं (१) तात्कालिक और स्पष्ट, यथा सूत कपड़े का है (२) माध्यमिक और अव्यक्त, यथा बिनावट कपड़े की है और (३) कारिक यथा करघा कपड़े का है।

जिन वस्तुओं को प्रमाणित करना है अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करने योग्य हैं वे ये हैं (१) आत्मा (२) देह (३) इन्द्रियज्ञान (४) इन्द्रिय का उद्देश्य (५) बुद्धि (६) मनस् (७) उत्पत्ति (८) अपराध (९) पुनर्जन्म (१०) प्रतिफल (११) दुःख और (१२) मुक्ति।

आत्मा प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न है, वह देह और इन्द्रियों से जुदी है और ज्ञान का स्थान है। प्रत्येक आत्मा नित्य और अनन्त है और अपने जीवों के कर्मों के अनुसार दूसरा जन्म लेती है। यहां तक तो हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त कपिल के दर्शनशास्त्र के अनुकूल है। परन्तु न्यायशास्त्र में इतनी बात विशेष है कि उसके अनुसार परमात्मा एक है, वह नित्यज्ञान रखने वाला और सब वस्तुओं का बनाने वाला है। यह देह भौतिक है पांचों वाह्येन्द्रियां भी भौतिक हैं और मनस् ज्ञान की इन्द्रिय है। पाठक लोग यहां देखेंगे कि न्यायशास्त्र, और सच पूछिये तो

हिन्दुओं के सभी दर्शनशास्त्र, सांख्यदर्शन के कितने अनुगृहीत हैं और इसीलिये उसे हिन्दू दर्शनशास्त्रों की जड़ कहना उचित होगा।

बुद्धि के दो कार्य हैं अर्थात् स्मरण रखना और विचारना। विचार यदि स्पष्ट प्रमाणों के द्वारा हो तो सत्य होता है, और यदि प्रमाणों के द्वारा न हो तो मिथ्या होता है। इसी प्रकार स्मरण भी सत्य अथवा मिथ्या हो सकता है। इन्द्रिय ज्ञानों के कारण गंध, स्वाद, रंग, स्पर्श, और नाद हैं, उत्पत्ति अथवा कार्य पाप पुन्य का और यश अपयस का कारण है, और कार्य करने का उद्देश्य केवल सुख प्राप्त करने अथवा दुःख से बचने की कामना है जैसा कि यूरप के दर्शनशास्त्रज्ञ कहते हैं।

आत्मा के दूसरे शरीरों में जाने को पुनर्जन्म कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति पाप से होती है। पाप २१ प्रकार के कहे गये हैं जिनसे कि दुःख होता है। आत्मा की मुक्ति ज्ञान से होती है कार्य से नहीं।

न्याय की विशेषता यह है कि इसमें अनुमान की उन्नति एक सच्चे अवयव-घटित वाक्य को निर्माण करके की गई है और जैसा कि डेवीज साहब कहते हैं कि "तर्कता की शुद्ध रीतियों पर इतनी चतुराई से विवाद किया गया है मानो कि किसी पाश्चात्य नैयायिक ने उसे किया हो। हम नीचे एक अवयवघटित वाक्य का उदाहरण देते हैं—

(१) पर्वत पर अग्नि है।

(२) क्योंकि उसमें से धुआं निकलता है।

(३) जहाँ कहीं धुंआ निकलता है वहां अग्नि होती है।

(४) पर्वत में से धुंआ निकल रहा है।

(५) इसलिये उसमें अग्नि है।

अतः हिन्दुओं के अवयवघटित वाक्यों में पाँच भाग होते हैं जो कि (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु वा उपदेश (३) उदाहरण अथवा निदर्शन (४) उपनयन और (५) निगमन कहलाते हैं। यदि पहले दोनों भाग अथवा अन्तिम दोनों भाग छोड़ दिए जांय तो अरस्तू का पूरा अवयवघटित वाक्य हो जायगा। अब यह प्रश्न उठता है। कि इन दोनों जातियों में अवयवघटित वाक्यों की यह समानता केवल अकस्मात् हुई है अथवा एक जाति ने दूसरी से कुछ बात ग्रहण की है? समय को मिलाने से हम दूसरे शास्त्रों की भाँति इस शास्त्र के विषय में भी कह सकते हैं कि हिन्दुओं ने न्यायशास्त्र को निकाला और यूनानियों ने उसे पूर्णता को पहुँचाया।

हिन्दुओं के न्यायशास्त्र में जो पारिभाषिक शब्द हैं उनमें व्याप्ति और उपाधि ये दो शब्द बड़े आवश्यक हैं। व्याप्ति का अर्थ नित्य संयोग से है अर्थात्

वही बात जो कि अरस्तू के उदाहरण से है। 'जहाँ कहीं धुंआ निकलता है वहां अग्नि होती है"—यह नित्य संयोग व्याप्ति हुई । जैसा कि शङ्कर मिश्र कहते "उसमें केवल समगुण का सम्बन्ध ही नहीं है और न उसमें पूर्णता का सम्बन्ध है। क्योंकि यदि तुम कहो कि नित्य संयोग के सम्बन्ध को मध्यवर्त्ती संज्ञा के समस्त साध्य से सम्बन्ध को कहते हैं तो यह सम्बन्ध धुएं की अवस्था में नहीं है (क्योंकि धुआं सदा उस स्थान पर नहीं रहता जहां कि अग्नि हो) अब हम यह कहेंगे कि नित्यसंयोग एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें किसी वैशेषिक संज्ञा अथवा सीमा की आवश्यकता नहीं होती। अथवा यों समझिये कि संयोग व्याप्ति वाच्य का नित्य समवाय है।"

इसके अतिरिक्त वैशेषिक संज्ञा अथवा सीमा को उपाधि कहते हैं। अग्नि सदा धुएँ के नीचे रहती है परन्तु धुआं सदा अग्नि के साथ नहीं होता। अतएव धुआं अग्नि से होता है इस प्रमेय में किसी वैशेषिक नियम अर्थात् उपाधि की आवश्यकता है यथा इसके लिये जलाने वाली लकड़ी गीली होनी चाहिये।

न्यायशास्त्र विद्वान हिन्दुओं के अध्याय का बड़ा प्रिय विषय है और इस विषय में हिन्दुओं के बहुत से ग्रन्थों में जो तर्कना की तीव्रता और सूक्ष्मता अथवा उनके वादविवाद में जो कठोर और वैज्ञानिक सत्यता देखी जाती है वह न तो प्राचीन यूनानियों में, न मध्य काल के अरब वासियों और न मध्य काल के यूरप के विद्वानों में है।

कणाद का तात्विक सिद्धान्तवाद गौतम के न्यायशास्त्र की पूर्ति है, जिस भांति योग, सांख्य की पूर्ति है और इस कारण उनके वर्णन में हमारा अधिक समय न लगेगा। कणाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि सब भौतिक पदार्थ परमाणु के समूह से बने हैं। परमाणु अनन्त हैं और उनके समूहों का नाश उनके जुदा-जुदा हो जाने से होता है।

जो कण सूर्य की किरणों में दिखाई पड़ते हैं वे छोटे से छोटे हैं जो कि देखे जा सकते हैं। परन्तु वे पदार्थ और प्रतिफल होने के कारण अपने से अधिक छोटे-छोटे कणों से बने हुए हैं। मूल कण वह है जो किसी से बना न हो और साथ ही सामान्य हो।

पहले पहल दो परमाणु का संयोग होता है इसके उपरान्त तीन दूने परमाणुओं का संयोग होता है और इसी प्रकार से समझ लीजिए। जो कण सूर्य की किरण में देखा जाता है वह छ परमाणुओं से बना होता है। इस प्रकार दो भौतिक

परमाणु जो कि एक अदृष्ट नियम के अनुसार कार्य करते हैं (और ईश्वर की इच्छा के अनुसार नहीं क्योंकि कणाद ईश्वर की इच्छा को नहीं मानता) मिल कर एक दूना परमाणु हो जाते हैं। तीन दूने परमाणु मिलकर त्रेणुक होते हैं, चार त्रेणुक मिलकर एक चतुरणुक होता है और इसी प्रकार बड़े और उससे बड़े और सबसे बड़े पृथ्वी के टुकड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार इतनी बड़ी पृथ्वी बनी है, जलीय परमाणुओं से इतना जल बना है, प्रकाशमय परमाणुओं से इतना प्रकाश और वायवीय परमाणुओं से इतनी वायु बनी है।

कणाद पदार्थों के सात वर्ग मानता है अर्थात् (१) द्रव्य (२) गुण (३) क्रिया (४) समाज (५) विशेषता (६) संयोग (७) अनस्तित्व।

इनमें से प्रथम वर्ग में कणाद के अनुसार नौ वस्तुएँ हैं अर्थात् (१) पृथ्वी (२) जल (३) प्रकाश (४) वायु। इन सब के परमाणु अनन्त हैं परन्तु उनका समूह अनस्थायी और नाशवान है। इसके उपरान्त (५) आकाश है जिसके द्वारा नाद चलता है और वह परमाणुओं से नहीं बना है वरन् अनन्त, एक और नित्य है। इसी प्रकार (६) समय और (७) अवकाश भी भौतिक नहीं हैं और इस कारण वे परमाणुओं से नहीं बने हैं वरन् अनन्त एक और नित्य हैं और अन्त में इस वर्ग में (८) आत्मा और (९) मनस् हैं। प्रकाश और ऊष्णता एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप समझे गये हैं। आकाश के द्वारा नाद सुनाई देता है और मनस् परमाणु की भांति बहुत ही छोटा समझा गया है। दूसरे वर्ग अर्थात् गुण के सत्रह भेद हैं जो कि उपरोक्त ९ पदार्थों के गुण हैं। ये गुण रंग, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, संख्या, विस्तार, व्यक्तित्व, संयोग, वियोग, पूर्वता, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेश और कामना हैं। तीसरे वर्ग अथात् क्रिया के पाँच विभाग हैं। अथात् ऊपर जाना, नीचे आना, सिकुड़ना, फैलना और साधारण रीति से चलना।

चौथा वर्ग अर्थात् समाज हम लोगों के गण जाति के विचार का आदि कारण है। वह ऐसे गुणों को विदित करता है जो कि बहुत पदार्थों में पाए जाते हैं और कणाद के अनुसार स्वजातीय वस्तुओं के इन वर्गों और अपवर्गों का वास्तव विपयाश्रित अस्तित्व है परन्तु बुद्ध के अनुसार ऐसा नहीं है। बुद्ध कहते हैं कि केवल व्यक्तियों का अस्तित्व होता है और उनका प्रात्याहार ठीक विचार नहीं है।

पांचवा वर्ग अर्थात् व्यक्तित्व सामान्य वस्तुओं को समाज से रहित विदित करता है। वे ये हैं आत्मा, मन, समय, स्थान, आकाश और प्रमाण। छठां वर्ग अर्थात् समवाय ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व है जो कि जब तक रहती हैं तब तक सम्बन्ध सदा लगा रहता है, यथा सूत और कपड़े का सम्बन्ध।

सातवां वर्ग अर्थात् अनास्तित्व या तो सर्वगत अथवा इतरेतर होता है।

उपरोक्त संक्षिप्त वृत्तान्त से देखा जायगा कि कणाद् के वैशेषिक सिद्धान्त का सम्बन्ध जहां तक कि वह उन्हीं का बनाया हुआ है दर्शनशास्त्र से नहीं वरन् विज्ञान से है। यह भारतवर्ष में सबसे पहला प्रयत्न था जो कि द्रव्य और बल, संयोग और वियोग के विषय की जांच करने के लिये किया गया है।

हिन्दुओं के सब दर्शनशास्त्रों में (वेदान्त को छोड़ कर) द्रव्य नित्य और आत्मा से भिन्न समझा गया है। केवल वेदान्ती लोग द्रव्य को उस परमात्मा का अंश समझते हैं जिससे कि सब वस्तुएँ बनी हैं और जो स्वयं सब कुछ है। इस वेदान्त के विषय में हम अगले अध्याय में लिखेंगे।

छब्बीसवाँ अध्याय

पूर्वमीमांसा और वेदान्त

अब हम हिन्दुओं के दोनों अन्तिम वेदान्तों का अर्थात् जैमिनि की पूर्वमीमांसा और वादरायण व्यास की उत्तर मीमांसा का वर्णन करेंगे। भारतवर्ष के इतिहास जानने वाले के लिये वे अत्यन्त आवश्यक और अमूल्य हैं क्योंकि मीमांसाओं से हिन्दुओं के मन की उस समय की कट्टर अवस्था विदित होती है जब कि दर्शनशास्त्रज्ञ तथा साधारण लोग दोनों ही अज्ञेयवाद तथा पूर्व शास्त्रों के विरुद्ध धर्म की ओर झुक रहे थे। सांख्य दर्शन ने हजारों विचारवान मनुष्यों को उपनिषदों के एक सर्वात्मा होने के सिद्धान्त के विरुद्ध बना दिया था और बौद्ध धर्म का प्रचार नीच जातियों मे बहुत हो गया था क्योंकि वे लोग जाति के ऊँच-नीच होने और वेद के बड़े-बड़े विधानों से छुटकारा पाना चाहते थे। उस समय के इन विचारों के विरुद्ध मीमांसा वाले हुए। पूर्व मीमांसा ने उन वैदिक विधानों और साधनों पर बड़ा जोर दिया जिन्हें कि उस समय के दर्शन शास्त्रज्ञ निरर्थक और अपवित्र समझने लगे थे और उत्तर मीमांसा ने एक सर्वात्मा होने का सिद्धान्त प्रगट किया जो कि उपनिषदों में पहले से वर्तमान था और जो आज कल के हिन्दू धर्म का मुख्य सिद्धान्त है।

यह मतभेद कई शताब्दियों तक चलता रहा पर अन्त में भारतवर्ष में प्राचीन मत की ही जय हुई। कुमारिल भट्ट ने जो ईसा के पीछे सातवीं शताब्दी में हुये हैं

पूर्व मीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध वार्तिक लिखा है। वे हिन्दू धर्म के एक बड़े रक्षक और बौद्ध धर्म के बड़े कट्टर विरोधी हुये हैं। उन्होंने केवल वेदों के प्राचीन विधानों का ही स्थापन नहीं किया, केवल बौद्धों के नवीन मत का ही खंडन नहीं किया वरन् उन्होंने बौद्धों के मत की उन बातों को भी नहीं माना है, जिनमें कि वेदों से सहमत हैं।

उत्तर मीमांसा के भी एक बड़े रक्षक हुये और वे कुमारिल से भी बढ़ कर प्रसिद्ध शङ्कराचार्य हैं जो कि उनके दो शताब्दी पीछे हुये। शङ्कराचार्य का बनाया हुआ महाभाष्य शारीरिक मीमांसा भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। उनका जन्म सन् ७८८ ईस्वी में हुआ और इस कारण उन्होंने नवीं शताब्दी के आरम्भ में अपनी पुस्तक लिखी और व्याख्यान दिये होंगे।

इस प्रकार कुमारिल और शङ्कराचार्य दोनों पौराणिक काल से सम्बन्ध रखते हैं पर उन्होंने उस प्राचीन दर्शन शास्त्र को अन्तिम बार स्थापित किया जो कि ब्राह्मणों और उपनिषदों के आधार पर बना है। भारतवर्ष के दर्शन शास्त्र के इतिहास से हिन्दुओं के मन का इतिहास विदित होता है और दार्शनिक काल में जिन दर्शन शास्त्रों की उन्नति हुई उनका वर्णन तब तक समझ में न आवेगा जब तक कि उत्तर काल में इन शास्त्रों का जाति के इतिहास पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन (चाहे संक्षेप ही में) न किया जाय।

पूर्व मीमांसा के सूत्र जैमिनि के बनाये हुये कहे जाते हैं और वे बारह पाठों अर्थात् साठ अध्यायों में विभाजित हैं। इन सूत्रों पर सबरस्वामीभट्ट की एक प्राचीन वार्त्तिक है। कुमारिल भट्ट उनके पीछे हुये और उनके भाष्य से, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इस मत के मानने वालों के इतिहास में एक नई बात हुई और यह वार्त्तिक बहुत से आगामी भाष्यकारों में सम्मान की दृष्टि से देखा गया है।

ऊपर कहा गया है कि जैमिनि के सूत्र बारह पाठों में विभाजित हैं। पहले पाठ में व्यक्त धर्म के प्रमाण का वर्णन है। दूसरे, तीसरे और चौथे पाठों में धर्म के भेद, उप धर्म और धर्मों के पालन करने के उद्देश्यों का वर्णन है। धर्मों के करने के क्रम का पाँचवे पाठ में और उनके लिये आवश्यक गुणों का छठें पाठ में वर्णन है। यह इस सूत्र का आधा भाग समाप्त हुआ।

सातवें और आठवें पाठों में अव्यक्त आज्ञाओं का वर्णन है, नवें पाठ में अनुमानसाध्य परिवर्त्तनों पर वादाविवाद किया गया है, दसवें अध्याय में अपा-

सन, ग्यारहवें में गुण और बारहवें अध्याय में समपदस्थ फल का विचार करके ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

ये पूर्व मीमांसा सूत्रों के मुख्य विषय हैं परन्तु इनके सिवाय बहुत से अन्य विषय भी हैं जो बड़े मनोरञ्जक हैं।

पहले अध्याय में यह लिखा गया है कि वेद नित्य और पवित्र है। उनकी उत्पत्ति मनुष्यों से नहीं हुई क्योंकि इसके बनाने वाले किसी मनुष्य ग्रन्थकार का ी को स्मरण नहीं है। इस नित्य और दैवी वेद के दो भाग हैं अर्थात् मन्त्र और । मन्त्र के तीन भेद किए गये हैं अर्थात् (१) जो छन्द में हैं वे ऋक् कहलाते गाये जाते हैं वे सामन और (३) शेष यजुस् कहलाते हैं। बहुधा मन्त्र में ई प्रार्थना वा जप होता है, ब्राह्मण में धार्मिक आचारों के विषय में कोई ो है और इन ब्राह्मणों में उपनिषद भी सम्मिलित हैं।

ह श्रुति कहलाते हैं और इनके उपरान्त स्मृति हैं जो कि ऋषियों की बनाई र उनमें वेद का प्रमाण दिया गया है। स्मृति में धर्म शास्त्र [अर्थात् मय के धर्म सूत्र] भी सम्मिलित हैं जिनमें सामाजिक और धर्म सम्बन्धी

सूत्र के अतिरिक्त कल्प सूत्रों का भी उल्लेख है और उन्हें भी ऐसे ग्रन्थ- या है जो वेद के ज्ञाता थे। कल्प सूत्र वेदों के अंश नहीं है और उनमें वेदों से लिये गये हैं उन्हें छोड़ कर और कोई प्रमाण नहीं माने जाते। ोग इस बड़े भेद को देखेंगे जो कि प्राचीन हिन्दुओं ने ब्राह्मण ग्रन्थों और ग्रन्थों में किया है। ब्राह्मण ग्रन्थ नित्य और पवित्र समझे जाते थे और सूत्रग्रन्थ जो कि मनुष्यों के बनाये हुये कहे जाते हैं वे कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माने जाते थे। इस बात से ब्राह्मण ग्रन्थों की पूर्वता भली भाँति समझी जा सकती है।

वेदों में योग पर बहुत जोर दिया गया है और इस कारण मीमांसा में भी उन पर बहुत वादाविवाद किया गया है। उनमें तीन रीतियों का उल्लेख है अर्थात् पवित्र अग्नि को स्थापित करना, हवन करना और सोम तैयार करना। उनमें यज्ञों के विषय ने अनेक प्रकार के अद्भुत प्रश्न उठाये गये हैं, उन पर वादाविवाद किया गया है और उनका उत्तर दिया गया है। यहाँ पर केवल एक अद्भुत उदाहरण बहुत होगा।

कुछ यज्ञों में ऐसा विधान है कि यजमान अपनी सब सम्पत्ति यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को दे दे। यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या राजा को भी अपनी सब भूमि, चरभूमि, सड़क, झील और तालाब ब्राह्मणों को दे देना चाहिये। इसका

यह उत्तर दिया गया है कि भूमि राजा की सम्पत्ति नहीं होती और इसलिये वह उसे नहीं दे सकता। राजा केवल देश पर राज्य करता है परन्तु देश उसकी सम्पत्ति नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसके प्रजा के घर, भूमि आदि उसी की सम्पत्ति हो जाते। किसी राज्य की भूमि को राजा नहीं दे सकता परन्तु यदि राजा ने कोई घर अथवा खेत मोल लिया हो तो वह उन्हें दे सकता है।

इसी प्रकार अग्नि में अपना बलिदान करने का प्रश्न, दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये यज्ञ करने का प्रश्न और ऐसे ही ऐसे अनेक प्रश्नों पर बड़ी बुद्धिमानी के साथ विचार किया गया है। कोलब्रुक साहब ठीक कहते हैं कि मीमांसा का न्याय कानून का शास्त्र है।

प्रत्येक बात पर साधारण सिद्धान्तों के अनुसार विचार और निश्चय किया गया है और जिन बातों का निश्चय किया गया है उन्हीं से सिद्धान्त एकत्रित किये जा सकते हैं। उन्हीं को क्रमानुसार सग्रह करने से कानून का दर्शनशास्त्र हो जायगा और वास्तव में इसी विषय का मीमांसा में उद्योग किया गया है।

अब यज्ञ के सम्बन्ध में जो कि पूर्व मीमांसा का मुख्य विषय है यह लिखा गया है कि बड़े यज्ञों में कार्य कर्ता लोगों की पूरी संख्या १७ होती है अर्थात् एक यज्ञ करने वाला और १६ ब्राह्मण। परन्तु छोटे अवसरों पर केवल चार ही ब्राह्मण होते हैं।

बलिदान की संख्या यज्ञ के अनुसार होती है। अश्वमेध यज्ञ में सब प्रकार के बलि अर्थात् पालतू और जंगली जानवर थलचर और जलचर, चलने वाले उड़ने वाले तैरने वाले रेंगने वाले जानवरों को मिलाकर ६०९ से कम न होने चाहिये।

मीमांसा का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को अपना कर्तव्य सिखलाने का है। जैमिनि अपनी मीमांसा को कर्तव्य की व्याख्या दे कर प्रारम्भ करते हैं और उन्होंने केवल इसी विषय का वर्णन किया है। वे कहते हैं "अब कर्तव्यों का अध्ययन आरम्भ करना चाहिए। कर्तव्य एक ऐसा कार्य है जिस पर आज्ञा द्वारा जोर दिया जाता है। इसका कारण खोजना चाहिए।" परन्तु कर्तव्यों के विषय में उनका विचार बहुत ही संकीर्ण है, वे केवल वैदिक विधानों और साधनों को उचित रीति से करने ही को कर्तव्य कहते हैं। अतएव पूर्वमीमांसा शास्त्र केवल वैदिक विधानों का शास्त्र है।

जैमिनि प्राचीन वैदिक विधानों और साधनों पर जोर देने की अभिलाषा में वैदिक धर्म का वर्णन करना भूल गए हैं। डाक्टर बनर्जी अपने "डायलॉग्ज़ और हिन्दू फिलासोफी" में बहुत ठीक कहते हैं कि जैमिनी ने "कर्तव्यों पर ध्यान देने

के विषय में बड़ा जोर दिया है, परन्तु उन्होंने इस बात के उल्लेख करने की परवाह नहीं की वे कर्तव्य किनको करने चाहिये।" उन्होंने शब्द की भाँति वेद की नित्यता पर जहां जोर दिया है वहां उन्होंने उनको उच्चारण करने वाली किसी नित्य बुद्धि का उल्लेख नहीं किया। जहां उन्होंने ब्राह्मणों के यज्ञों के करने का उल्लेख किया है वहां उपनिषदों के सर्वात्मा होने के सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं लिखा। इस कारण जैमिनि का दर्शन शास्त्र यद्यपि सनातन धर्म के अनुसार है तथापि वह दूषित है और शंकराचार्य भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस दर्शनशास्त्र से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस कारण इसकी पूर्ति के लिये एक दूसरे दर्शन शास्त्र की आवश्यकता हुई और उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त ने इस अभाव की पूर्ति की। इसी वेदान्त में परमात्मा सर्वात्मा सर्वव्यापक ईश्वर का उल्लेख है जैसा कि पूर्व मीमांसा में विधानों और यज्ञों का है। वेदान्त उपनिषदों का प्रत्यक्ष सार है जैसा कि पूर्व मीमांसा ब्राह्मणों का है। वेदान्त के पहले ही सूत्र में धर्म अथवा कर्तव्य के स्थान पर ब्रह्मन् अर्थात् ईश्वर का उल्लेख है। दोनों मीमांसाओं को मिलाकर सच्चा वैदिक हिन्दू धर्म अर्थात् उसके विधान आदि और उसके सिद्धान्त हैं। इन्हीं दोनों मीमांसाओं को मिला कर उन बौद्ध नास्तिकों का उत्तर हो जाता है जो कि वैदिक धर्म और परमेश्वर को नहीं मानते। दोनों मीमांसाओं को मिला कर सांख्यदर्शन के उस अज्ञेयवाद तथा अन्य दर्शन शास्त्रों का उत्तर होता है जो कि भौतिक वस्तुओं को नित्य मानते हैं। ये ही दोनों मीमांसा सच्चे हिन्दू धर्म की जड़ हैं।

शारीरिक मीमांसासूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र बादरायण व्यास का बनाया हुआ कहा जाता है। उसमें कपिल के सिद्धान्तों और पातंजलि के योग का उल्लेख है और कणाद के परमाणुवाद का भी जो कि गौतम के न्याय का फल है। उसमें जैमिनि तथा जैन, बौद्ध, और पाशुपतों के धर्मों का भी उल्लेख है और इसमें सन्देह नहीं कि समस्त ब्रह्मसूत्र छओ दर्शन शास्त्र के पीछे के समय का है और वह ईसा के बहुत पहले का बना नहीं है।

वेदान्त ने न्याय के अवयवघटित वाक्यों को लिया है परन्तु अरस्तू की तरह उसमें उसके पांच भागों को घटा कर केवल तीन भाग रहने दिए गए हैं। कोलब्रुक साहब का यह मत है कि यह सुधार यूनानियों से उद्धृत की गई थी और यह बात बहुत सम्भव जान पड़ती है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में चार पाठ हैं और प्रत्येक पाठ में चार अध्याय हैं। इस पुस्तक का पूरा खुलासा देना हमारे उद्देश्य से बाहर है और इसलिये हम कोल-

ब्रुक साहब के ग्रन्थ के अनुसार केवल इसके कुछ सिद्धान्तों को दिखला देंगे। जो पाठक इस विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहें वे कोलब्रुक साहब की पुस्तक देखें।

उत्तर मीमांसा ठीक पूर्वमीमांसा की भांति आरम्भ होती है और उसमें ग्रन्थ का उद्देश्य ठीक उन्हीं शब्दों में वर्णन किया गया है। केवल धर्म अथवा कर्तव्य के स्थान पर इसमें ब्रह्मन अथवा ईश्वर लिखा गया है। इसके उपरान्त ग्रन्थ-कार ने सांख्य के इस सिद्धान्त का खंडन किया है कि सृष्टि का मुख्य कारण प्रकृति है और इसके उपरान्त उसने सचेतन ज्ञानमय जीव को आदि कारण कहा है। वहाँ परमात्मा सृष्टि का भौतिक तथा उत्पन्न करने वाला कारण कहा गया है। मुक्ति प्राप्त करने के लिये उसी का ध्यान चाहिये और उसी पर विचारों को स्थिर करना चाहिये।

दूसरे पाठ में भी कपिल सांख्य दर्शन तथा पातञ्जलि के योग दर्शन और कणाद के परमाणुवाद का खंडन किया गया है। सब सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मन् से कही गई है और वही सृष्टि का कारण तथा फल बतलाया गया है। कारण और फल का भेद और भिन्न-भिन्न फलों के होने से इन सब के ऐक्य का खंडन नहीं होता। "समुद्र एक है और वह अपने पानी से जुदा नही है, फिर भी लहरें, फेन, छीटे, बूँद तथा इसके अन्य भेद एक दूसरे से भिन्न है।" (२, १,५,) "जिस प्रकार दुग्ध का दधि और पानी का बरफ रूपान्तर मात्र है वैसे ही ब्रह्मन् के भी भिन्न भिन्न रूप हैं।" (२, १, ८)।

इसके उपरान्त सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपति, और पंचरात्र धर्मों के सिद्धान्त का खंडन किया गया है।

आत्मा कार्य करने वाली है। वह निष्कर्म नहीं है, जैसा कि सांख्य का मत है। परन्तु उसकी कर्मशीलता वाह्य है। जैसे बढ़ई अपने हाथ में औजार ले कर परिश्रम करता है और कष्ट सहता है और उन औजारों को रख कर सुख से चैन करता है उसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियों और इन्द्रियज्ञानों के साथ कार्य करती है और उन्हें छोड़ कर सुखी होती है (२, ३, १५)। आत्मा उस परमात्मा का अंश है जिस प्रकार चिनगारी अग्नि का अंग है (२, ३,१७)। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी पर पड़ता है और उस पानी के साथ हिलता है परन्तु उससे दूसरे पानियों के प्रतिबिम्ब से अथवा स्वयं सूर्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार एक प्राणी के सुख दुःख से दूसरे प्राणी का अथवा परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शारी-रिक इन्द्रियाँ और जीव सम्बन्धी कार्य सब उसी ब्रह्मन के रूप हैं।

तीसरे पाठ में आत्मा के पुनर्जन्म होने तथा ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने का और साथ ही परमात्मा के गुणों का वर्णन है । आत्मा एक सूक्ष्म शरीर से घिरी रह कर एक रूप से दूसरे रूप में पुनर्जन्म लेती है । एक शरीर से अलग होकर वह अपने कार्यों का फल भोगती है और एक नए शरीर में प्रवेश कर के अपने पूर्व कर्मों के अनुसार फल पाती है । पाप करने वाले सात नर्कों में दुःख भोगते हैं ।

परमात्मा अगम्य है और उसे संसार के रूपान्तर नहीं व्यापते, जिस प्रकार साफ बिल्लौर किसी रंगीन फूल से रङ्गदार दिखाई देता है परन्तु यथार्थ में निर्मल होता है । वह परमात्मा पवित्र इन्द्रिय, बुद्धि और विचार है ।

परमात्मा धूप्र और अन्य प्रकाशमय वस्तुओं की तरह प्रतिबिम्बों से अनेक देख पड़ता है परन्तु वास्तव में एक ही है । वह आकाश की भाँति जो कि भिन्न-भिन्न जान पड़ता है, वास्तव में बिना भेद के एक ही है । "उसके अतिरिक्त और कोई नहीं है !" (३, २) पाठक लोग देखेंगे कि वेदान्त स्वयं उपनिषदों का प्रत्यक्ष फल है और उपनिषदों की भाँति एकत्व का सिद्धान्त प्रत्यक्ष और वास्तविक वेदान्त में अन्तिम सीमा को पहुँचाया गया है ।

इस पाठ के अन्तिम भाग में तपस्या की साधनाओं और ध्यान उचित रीति से करने और दैविक ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है । उस ज्ञान के प्राप्त करते ही पिछले सब पाप नष्ट हो जाते हैं और भविष्य में पाप नहीं होता । इसी प्रकार योग्यता और पुण्य के भी फल नष्ट हो जाते हैं । और दूसरे कार्य जिनका कि फल शेष रह गया हो उन्हें भी भोग के द्वारा नष्ट करके पुण्य और पाप का सुख और दुःख भोग कर दैविक ज्ञान को प्राप्त करने वाला प्राणी शरीर का नाश करके ब्रह्म में समा जाता है । (४, १, १४) । हम देख चुके हैं कि उपनिषद का अन्तिम मुक्ति पाने का भी यही सिद्धान्त है ।

इससे उतर कर दो दूसरे प्रकार की मुक्ति भी होती है उनमें से एक प्रकार की मुक्ति द्वारा आत्मा ब्रह्मन् के निकट निवास पा सकता है परन्तु उसका उसके साथ मेल नहीं हो सकता । दूसरे प्रकार की मुक्ति इससे भी उतर कर है और वह जीवन मुक्ति कहलाती है जिसे कि योगी लोग अपने जीवन में ही प्राप्त कर सकते हैं और इसके द्वारा वे अलौकिक कार्य कर सकते हैं यथा पितरों की आत्माओं को बुलाना अथवा भिन्न शरीर धारण करना, अपनी इच्छानुसार किसी स्थान में तुरन्त पहुँच जाना इत्यादि । यह योग शास्त्र के मिथ्या विचार का पुनरुउल्लेख है जिसके विषय में हम पहले अध्याव में लिख चुके हैं ।

वेदान्त के अनुसार ईश्वर के गुणों को कोलब्रुक साहब यों लिखते हैं—

"ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है और वह सृष्टि के अस्तित्व, नित्यता और प्रलय का कारण है। सृष्टि की रचना उसकी इच्छा मात्र, से होती है। वह इस संसार का फलोत्पादक और भौतिक कारण सृष्टि करने वाला और प्रकृति, बनाने वाला और बनाने की वस्तु, करने वाला और कर्म सब कुछ है। सब वस्तुएँ अपनी सम्पूर्णता पर उसी में मिल जाती है। सम्पूर्ण परमात्मा एक ही, एकमात्र अस्तित्व वाला अद्वितीय, सम्पूर्ण, अखंड, सम्पूर्ण अनन्त, अपरिमित, अचल, सब का मालिक, सत्य, बुद्धि, ज्ञान और सुख है।"

भारतवर्ष में दार्शनिक काल में इन्हीं छः दर्शन शास्त्रों का उदय हुआ। उपनिषदों में जो प्रश्न उठाये गये हैं, जो प्रश्न सब विचारशील मनुष्यों के मन में उठते हैं परन्तु जिनका उत्तर वह पूर्णतया नहीं दे सकता अर्थात् "ईश्वर क्या है और मनुष्य क्या है" उनका उत्तर हिन्दू दर्शन शास्त्रज्ञों ने इस प्रकार दिया है।

शेष बातों के लिये दार्शनिक काल में ऐसे फल प्राप्त हुये हैं जिनके लिये हिन्दू लोग घमण्ड कर सकते हैं। सम्भवतः इसी समय में भारतवर्ष के महाकाव्यों ने अपना महाकाव्य का रूप पाया। इसी समय में रेखागणित और व्याकरण ने पूर्णता प्राप्त की। इसी समय में मेंन्टल फिलासोफी और न्याय शास्त्र की सब से पहले लिखी हुई प्रणालियों की उत्पत्ति हुई और उन्होंने पूर्णता प्राप्त की। इसी समय में दीवानी और फौजदारी के कानून शास्त्र की भाँति पुस्तकाकार बने। इसी समय के अन्त में सारा उत्तरी भारतवर्ष एक बड़े और योग्य शासन करते वाले के आधीन लाया गया और एक उत्तम और सभ्य शासन प्रणाली की अन्तिम बार उन्नति की गई। अन्त में इसी समय में उस बड़े सुधारक गौतम बुद्ध ने मनुष्यों की समानता और भाईपन के उस धर्म का प्रचार किया जो कि आज तक समस्त मनुष्य जाति के तिहाई लोगों का धर्म है। अब हम इस बड़े सुधार की कथा का वर्णन करेंगे।

———

सत्ताईसवाँ अध्याय

बौद्धों के पवित्र ग्रन्थ

ईसा के पहले छठीं शताब्दी में एक बड़े सुधार का आरम्भ हुआ। यहां का प्राचीन धर्म जिसे कि हिन्दू आर्य लोग चौदह शताब्दियों तक मानते आये थे, बिगड़ गया था और अब वह विधानों में आ लगा था। ऋग्वेद के देवता जिनका कि प्राचीन ऋषि लोग प्रेम और उत्साह के साथ आवाहन और पूजन करते थे, अब केवल नाम मात्र को रह गए थे, और अब इन्द्र और ऊषस् के नाम से कोई स्पष्ट विचार अथवा कोई कृतज्ञता नहीं प्रगट होती थी। प्राचीन समय के ऋषि लोग अपने देवताओं को उत्साह के साथ जो सोमरस, दुग्ध, अन्न, अथवा मांस चढ़ाते थे उनके अब बड़े कठिन विधान निरर्थक हो गये थे। उन ऋषियों की सन्तानों और उत्तराधिकारियों की एक प्रबल जाति बन गई थी और वे लोगों के लिये बड़े आडम्बर के धार्मिक विधानों को करने और पूजा पाठ करने का स्वत्व रखते थे। लोगों के जी में यह विश्वास जमाया जाता था कि इन विधानों और पूजा पाठ को ब्राह्मणों द्वारा कुछ दे कर करवाने से बड़ा पुण्य होता है। धार्मिक स्वभाव और कृतज्ञता के वे विचार जिन्होंने कि वेद के बनाने वालों को उत्तेजित किया था, अब नहीं रह गये थे। अब केवल बड़े-बड़े और निरर्थक विधान रह गये थे।

इसका एक विरोध आरम्भ खड़ा हुआ। ईसा के पहले ग्यारहवीं शताब्दी में अर्थात् जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उसके पांच शताब्दी पहले उत्साही और विचारशील हिन्दुओं ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इन दुखदाई विधानों को छोड़ कर आत्मा और उसके बनाने वाले के विषय में खोज करने का साहस किया था। उपनिषदों के बनाने वालों ने यह विचारने का साहस किया कि सब जीवित तथा अजीवित वस्तुएँ एक ही सर्वव्यापी ईश्वर से उत्पन्न हुई हैं और वे उसी सर्वव्यापक आत्मा का अंश है। मृत्यु और भविष्यत जीवन की गुप्त बातों के विषय में खोज

की गई, आत्माओं के पुनर्जन्म का अनुमान किया गया और उत्तर काल के हिन्दू दर्शनशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों की उत्पत्ति सच्चे रूप में हुई।

परन्तु इन गुप्त विचारों तथा उससे जिस दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई उनमें बहुत थोड़े लोग अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे। आर्य गृहस्थों का समाज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब उन्हीं विधानों से संतुष्ट थे जिन्हें कि वे समझते नहीं थे, जो ब्राह्मणों में लिखे थे और जिनका संक्षेप सूत्रों में किया गया था। इसी प्रकार सामाजिक और गृहस्थी के नियमों का संक्षेप में भी लोगों के लिये सूत्रों में किया गया था और उस समय के सब ही शास्त्र और विद्या सूत्रों के रूप में संक्षिप्त किए गए थे।

ईसा के पहले छठीं शताब्दी में भारतवर्ष की ऐसी अवस्था थी। धर्म के स्थान में केवल विधान हो गये थे, उत्तम सामाजिक और सदाचार के नियम अब बिगड़ गए थे और उनमें जाति-भेद, ब्राह्मणों के स्वत्व और शूद्रों के लिये कठोर नियम बन गए थे। जाति के इन अनन्यभुक्त स्वत्वों से स्वयं ब्राह्मणों की भी उन्नति नहीं हुई। वे लोग लालची, मूर्ख और धूर्त हो गए यहाँ तक कि स्वयं ब्राह्मण सूत्रकारों ने भी बड़े कठोर शब्दों में उनकी निन्दा की है। उन शूद्रों के लिए जो कि आर्य धर्म की शरण में आए थे, कोई धार्मिक शिक्षा, आचार अथवा सामाजिक सत्कार नहीं था। वे लोग समाज में नीच होने और घृणा किए जाने के कारण हाय मारते थे और परिवर्तन चाहते थे। ज्यों-ज्यों यह भेद बढ़ता गया और लोग भिन्न-भिन्न लाभदायक व्यवसाय करने लगे, भूमि और व्यवसाय के स्वामी होने लगे और बल एवं अधिकार प्राप्त करते गए त्यों-त्यों यह भेद असह्य होता गया। इस प्रकार समाज के जो बंधन हो गये थे वे और भी कठोर होते गये। उस समय में सामाजिक, धार्मिक और कानून के ग्रन्थों में अब तक भी शूद्रों के लिये जो कठोर अन्याय था वो शूद्रों के सभ्य, व्यवसायी और समाज के योग्य हो जाने के बहुत काल पीछे तक बना रहा।

उत्साही और खोज करने वाले मनुष्य के लिये, सहानुभूति रखने वाले और दयालु मनुष्यों के लिये इन सब बातों में कुछ असंगत पाया जाता था। शाक्यवंशी गौतम उस समय की हिन्दू विद्या और धर्म को अच्छी तरह जानता था परन्तु वह इस बात पर विचार करता और इसकी खोज करता था कि जो कुछ उसने सीखा है वह फलदायक और सत्य है अथवा नहीं। उसकी धार्मिक आत्मा मनुष्यों के बीच अधार्मिक भेद को स्वीकार नहीं करती थी और उसका दयालु हृदय नम्र, दुखिया और नीच लोगों की सहायता करने के लिये उत्सुक था। लुप्तप्राय विधान को

गृहस्थ लोग करते थे तथा सन्यासी लोग जंगलों में अपनी इच्छा से जो तपस्या करते और दुःख सहते थे वे सब उसकी दृष्टि में निरर्थक थे। उसकी दृष्टि में पवित्र जीवन का सौन्दर्य, पाप रहित, दयालु आचार ही था जो मनुष्य के भाग्य की सिद्धि और इस पृथ्वी पर का स्वर्ग था। भविष्यवक्ता और सुधारक के उत्सुक विश्वास के साथ उसने इसी सिद्धान्त को धर्म का सार कहा है। सारे जगत के साथ उसकी जो सहानुभूति थी उसी के कारण उसने दुखी मनुष्यों के लिए आत्मोन्नति और पवित्र जीवन का यह सिद्धान्त निकाला है। वह दीन और नीच लोगों की भलाई करने की, क्षोभ एवं बुराई को दूर करने और सबसे भ्रातृवत स्नेह करने और शान्ति के द्वारा अपने दुःखों को दूर करने की शिक्षा देता था। उसकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र, ऊंच और नीच सब एक से थे—सब पवित्र जीवन के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकते थे और वह सब को अपने इस धर्म को ग्रहण करने के लिये उपदेश देता था। मनुष्य जाति ने इस हृदयबेधक प्रार्थना को स्वीकार किया और कुछ शताब्दी में बौद्ध धर्म केवल एक ही जाति अथवा देश का नहीं वरन् समस्त एशिया का मुख्य धर्म हो गया।*

परन्तु ऐतिहासक दृष्टि से यह विचार असत्य होगा कि गौतम बुद्ध ने जान बूझ कर अपने को एक नये धर्म का संस्थापक बनाया था। इसके विरुद्ध उसके अन्तिम समय तक उसका यह विश्वास था कि वह उसी प्राचीन और पवित्र धर्म को सिखला रहा है जो कि प्राचीन समय में हिन्दुओं अर्थात् ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों में प्रचलित था, परन्तु समय के फेर से बिगड़ गया था। वास्तव में

---

* नीचे लिखे हुए अंकों से संसार के निवासियों और बौद्धों की संख्या विदित होगी—

यहूदी	”	”	७,०००,००
ईसाई	”	”	३२८,०००,००
हिन्दू	”	”	१६०,०००,००
मुसलमान	”	”	१५५,०००,००
बौद्ध	”	”	५००,०००,००
अन्य लोग	”	”	१००;०००,००
समस्त संसार के लोग	”	”	१,२५०,०००,००

ईसा की पांचवीं और दसवीं शताब्दी के बीच समस्त मनुष्य जाति के आधे से अधिक लोग बौद्ध थे।

हिन्दू धर्म में कुछ घूमने वाले सन्यासी कहे गए हैं जो कि संसार को छोड़ देते थे, वैदिक विधानों को नहीं करते थे और अपना समय ध्यान में व्यतीत करते थे (छठां अध्याय देखो)। इन लोगों का नाम हिन्दू स्मृति में भिक्षुक लिखा गया है और वे साधारणतः श्रामन कहलाते थे। उस समय जितने श्रामन थे उनमें गौतम ने भी एक श्रेणी के श्रामन स्थापित किए और वे लोग अन्य श्रामनों से भिन्न समझे जाने के कारण शाक्यपुत्रीय श्रामन कहलाते थे। वह उन्हें संसार को छोड़ देने और पवित्र जीवन तथा ध्यान में अपना समय व्यतीत करने की शिक्षा देता था, जैसा कि अन्य श्रामन लोग भी सिखलाते और करते थे।

तब क्या बात है कि बुद्ध ने अपने जीवन में जो कार्य किए हैं उनसे उसकी सम्मतियों का एक नया धर्म बन गया है जो कि मनुष्य जाति के तिहाई लोगों का धर्म है।

गौतम के पवित्र और धार्मिक जीवन, सारे संसार के लिये उसकी सहानुभूति, उसके अद्वितीय धार्मिक आदेश, उसके नम्र और सुन्दर आचरण का उसकी शिक्षाओं पर, जो कि बिलकुल नई नहीं थीं, बड़ा प्रभाव पड़ा। इससे निर्बल और नीच लोगों ने सब से सुशील और सबसे उत्तम आर्य लोगों ने उसका धर्म स्वीकार किया, उस धर्म ने राजा लोगों को उनके सिंहासन पर और किसान लोगों को प्रीति के साथ एक समाज में मिला दिया।

उसके जीवन और कार्यों का पवित्र स्मरण उसकी मृत्यु के पीछे भी स्थिर रहा और जो लोग उसकी शिक्षा को मानते थे उन्हें उसने एक समाज में स्थिर रक्खा और कुछ काल में उन शिक्षाओं का एक भिन्न और उत्तम धर्म का रूप हो गया।

गौतम ने पवित्रता और पवित्र तथा सुशील जीवन से प्रीति रखने के कारण वेदों के विधानों और वैरागियों की तपस्याओं को नहीं माना है। वह केवल आत्मोन्नति दया और पवित्र वैराग्य पर जोर देता था। वह अपने भिक्षुकों में कोई जाति भेद नहीं मानता था, वह भलाई करने के अतिरिक्त और किसी उत्कृष्ट विधान अथवा किसी उत्कृष्ट तपस्या को नहीं मानता था। यही कारण है जिसने कि बौद्ध धर्म को एक जीवित तथा जीवन देनेवाला धर्म बनाया है जब कि इतने अन्य प्रकार के सन्यासियों का धर्म मृत हो गया है।

हम बौद्ध धर्म्म की मुख्य बातों और भारतवर्ष के इतिहास पर उसके विस्तृत फलों को प्रगट करने का यत्न करेंगे। भाग्य वश इस विषय में हमको उपादानों के अभाव की शिकायत नहीं है।

वास्तव में बौद्ध धर्म के विषय में आजकल इतने ग्रन्थ लिखे गये हैं कि यह विचारना प्रायः कठिन है कि पचास वर्ष पहले बौद्ध ग्रन्थों अथवा धर्मों के विषय में कुछ मालूम न रहा हो। प्रसिद्ध पादरी, डाक्टर मार्शमैन साहब ने भारतवर्ष में बहुत वर्षों तक रह कर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने १८२४ ईसवी में बुद्ध का इससे अच्छा वर्णन नहीं दिया है कि उसकी पूजा सम्भवतः ईजिप्ट के एपिस से सम्बन्ध रखती है और दूसरे विद्वानों ने इससे भी अधिक असम्भव और कल्पित बातें लिखी हैं।

यह हर्ष का विषय है कि अब वह समय जाता रहा है। खोज करने वालों और विद्वानों ने भिन्न-भिन्न बौद्ध देशों के हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्रित किए; उन्हें पढ़ा, छपाया और उनमें से बहुतों का अनुवाद किया है और इस प्रकार .उस धर्म का यथार्थ बोध कराया है, जिसका प्रचार गौतम ने पहले पहल किया था और जो उसके पीछे भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न जातियों में बदलता गया। यहाँ पर हमारा काम गत पचास वर्षों में बौद्ध धर्म के विषय में जो खोज हुई है उसका इतिहास देने का नहीं है परन्तु उसमें से कुछ बातें ऐसी मनोरञ्जक हैं कि उनका वर्णन किए बिना नहीं रहा जा सकता।

हडसन साहब सन् १८३३ से सन् १८४३ तक नैपाल के अंगरेजी रेजिडेण्ट रहे और उन्होंने ही पहले पहल उन मुख्य हस्तलिखित ग्रन्थों को एकत्रित किया जिनसे कि उस धर्म का एक गम्भीर वर्णन दिया जा सकता है। उन्होंने बङ्गाल की एसियाटिक् सोसायटी को ८५ बस्ते, लण्डन को रायल एशियाटिक् सोसाइटी को ८५, इण्डिया आफिस लाइब्रेरी को ३०, आक्सफोर्ड की बोड्लियन लाइब्रेरी को ७ और पेरिस की सोसायटी एशियाटिक् अथवा स्वयं बर्नफ साहब को १७४ बस्ते भेजे। हडसन साहब ने अपने वर्णन में इन बस्तों तथा बौद्ध धर्म का कुछ वृत्तान्त लिखा है।

इन मृत ग्रन्थों में युजीन वर्नाफ साहब की बुद्धि ने जीवन डाला और उन्होंने अपनी "इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आफ इन्डियन् बुधिज्म्" नामक पुस्तक में जिसे कि उन्होंने १८४४ में छपवाया था पहले पहल बौद्ध धर्म का बुद्धिमानी के साथ और समझ में आने योग्य वैज्ञानिक रीति पर वर्णन दिया है। इस प्रसिद्ध विद्वान् के यश से और जिस योग्यता और दार्शनिक सूक्ष्म के साथ उन्होंने इस विषय को लिखा है उससे विद्वान् यूरोपियन् लोगों का ध्यान इस अद्भुत धर्म की ओर गया है और वर्नफ साहब ने जिस खोज को प्रारम्भ किया था वह आज तक जारी रक्खी गई है और उसका बहुत अच्छा फल हुआ है।

हडसन साहब ने नैपाल में जो कुछ किया है उतना ही काम तिब्बत में हँगेरिया के विद्वान् अलेक् जेन्डर सोमा कारोसी साहब ने किया है।

विद्या की खोज के इतिहास में इस सीधे साधे हंगेरिया के विद्वान् की अनन्य प्रीति से अधिक अद्भुत बातें बहुत ही कम होंगी। उसने आरम्भ ही से पूर्वी भाषाओं के अध्ययन करने का निश्चय कर लिया था और वह सन् १८२० में बोखारेस्ट से बिना किसी मित्र या द्रव्य के निकला और पैदल तथा जल में नौका पर यात्रा करता हुआ बगदाद आया। वहाँ से तेहरान गया और फिर वहाँ से एक बटोहियों के झुण्ड के साथ खुरासान होते हुये बुखारा पहुँचा। सन् १८२२ में वह काबुल आया और वहाँ से लाहौर और लाहौर से काश्मीर होता हुआ लद्दाख जाकर बसा। उसने इन देशों में बहुत काल तक भ्रमण और निवास किया और सन् १८३१ में वह शिमला में था "जहाँ वह एक मोटे नीले कपड़े का ढीला ढाला अंगा जो कि उसकी एड़ियों तक लम्बा था और उसी कपड़े की एक छोटी टोपी भी पहिनता था। उसकी कुछ सफेद डाढ़ी थी, वह युरोपियन लोगों से दूर रहता था और अपना समय अध्ययन में व्यतीत करता था।" सन् १८३२ से वह कलकत्ते आया और वहाँ डाक्टर विल्सन ओर जेमस प्रिन्सैप साहबों ने उससे बड़ी मेहरबानी के साथ बर्ताव किया। वहाँ वह बहुत दिनों तक रहा। सन् १८४२ में उसने फिर कलकत्ते से तिब्बत के लिये प्रस्थान किया परन्तु मार्ग में दार्जिलिंग में ज्वर के कारण उसका देहान्त हो गया। बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी ने दार्जिलिंग में उसकी कब्र पर एक स्मारक बनवाया है! इस पुस्तक के लेखक ने अभी कुछ ही मास हुये कि दुःख और सन्तोष के साथ इस कब्र को जाकर देखा था।

उसने तिब्बत की बौद्ध पुस्तकों के विषय में जो कार्य किया था उसका सब आवश्यक वृत्तान्त एसियाटिक् रिसर्चेस के बीसवें भाग में दिया है। सोमा साहब के पीछे अन्य विद्वान लोगों ने तिब्बत के उन्हीं बौद्ध ग्रन्थों में परिश्रम किया है तथा इस विषय में और बहुत सी बातें जानी हैं।

चीन के बौद्ध ग्रन्थों का पूरा संग्रह करने का यश रेवरेण्ड सैम्युएल बील साहब को प्राप्त है। इस कार्य के लिये जापान के राजदूत से प्रार्थना की गई थी जो कि इंङ्गलैण्ड आया था और इस प्रार्थना को उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया और टोकियो लौट जाने पर उस सम्पूर्ण संग्रह को इङ्गलैंड भेजवाया जो कि "दी सीक्रेट टीचिंग आफ दी थ्री ट्रेजर्स (तीनों भण्डार के पवित्र उपदेश) के नाम से प्रसिद्ध है। इस संग्रह में दो हजार से अधिक ग्रन्थ हैं और उसमें वे सब पवित्र पुस्तकें हैं जो कि भिन्न-भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से चीन को गईं थीं और इन पुस्तकों पर चीन के पुजारियों की टिप्पणियाँ भी हैं।

ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहले, अशोक के समय में बौद्ध धर्म और इस धर्म की पुस्तकों का प्रचार लङ्का में किया गया और इस धर्म की सब पुस्तकें आज तक भी लङ्का में पाली भाषा में और प्रायः उसी रूप में जिसमें कि दो हजार वर्ष पहले वे यहाँ से गई थीं विद्यमान हैं, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। इन पुस्तकों का मनन बहुत से प्रसिद्ध विद्वानों अर्थात् टर्नर फासबाल, ओडेनबर्ग, चिल्डर्स स्पेन्स हार्डी, राइज डेविड्स्, मेक्समूलर, वेबर तथा अन्य लोगों ने किया है और बहुत से पाली ग्रन्थ प्रकाशित हो गये हैं तथा उनमें से मुख्य-मुख्य अंशों का अनुवाद भी हो गया है।

बर्मा से भी हम लोगों को बौद्ध धर्म की बहुत-सी बातें विदित हुई हैं और बर्मा के बौद्ध धर्म की बहुत-सी बातें बिगेण्डेट साहब के लिखे हुए गौतम के जीवन चरित्र में हैं जो कि पहले-पहले १८६८ में प्रकाशित हुआ था। भारतवर्ष के आस-पास के सब देशों में इस बड़े धर्म के अमूल्य और विद्वतापूर्ण ग्रन्थ हमें मिलते हैं। केवल भारतवर्ष में ही जो कि इस धर्म का जन्म स्थान है और जहाँ कि यह धर्म लगभग १५ शताब्दियों तक रहा है इस उत्तम धर्म का कोई नाम लेने योग्य स्मारक नहीं है। भारतवर्ष में बौद्ध धर्म, बौद्ध मठों और बौद्ध ग्रन्थों का ऐसा पूर्ण नाश हो गया है!

हमें उपरोक्त विद्वानों की खोज के लिये उन्हें धन्यवाद देना चाहिये कि इस समय अंगरेजी पढ़े लोगों के सामने संसार के भिन्न-भिन्न देशों अर्थात् चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा और लङ्का में बौद्ध धर्म की उन्नति का अध्ययन करने के लिये काफी उपादान है! इस प्रकार अंगरेजी जानने वाले लोग इस बात का अध्ययन कर सकते हैं कि इस धर्म ने भिन्न-भिन्न रूपों भिन्न-भिन्न कालों एवं जीवन और सभ्यता की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में क्या उन्नति की।

परन्तु भारतवर्ष के इतिहासवेत्तायों को इस परम मनोरंजक कार्य से वंचित रहना पड़ेगा। बौद्ध धर्म की चीन, तिब्बत, और वर्मा में जो उन्नति हुई उससे भारतवर्ष के इतिहास का कोई साक्षात सम्बन्ध नहीं है। अतएव उनको चाहिये कि वह इन उपदानों में से केवल उन ग्रन्थों को चुने जिससे कि भारतवर्ष के प्रारम्भ के बौद्ध धर्म का इतिहास विदित होता है। उसके लिये इतिहास उसके उत्पत्ति स्थान का जो कि प्राप्त हो सकता है आश्रय लेना और विशेष कर उन ग्रन्थों पर षिश्वास करना आवश्यक है जिनसे कि दार्शनिक समय में भारतवर्ष के बौद्ध धर्म की उन्नति का वृत्तान्त विदित होता है।

बौद्ध धर्म जिन रूपों में नैपाल, तिब्बत, चीन और जापान मे वर्त्तमान है वह

उत्तरी बौद्ध धर्म और जिन रूपों में वह लङ्का और बर्मा में है वह दक्षिणी बौद्ध धर्म कहलाता है। उत्तरी बौद्ध मतावलम्बी लोगों से हमें बहुत थोड़े सामान मिलते हैं जिससे कि भारतवर्ष में इस धर्म के सब से प्रथम रूप का पता लगता है। क्योंकि उत्तर की जातियों ने ईसा के कुछ शताब्दियों के उपरान्त बौद्ध मत को ग्रहण किया और उस समय उन्होंने भारतवर्ष से जो ग्रन्थ पाये उनसे भारतवर्ष के बौद्ध धर्म के सब से प्रथम रूप का पता नहीं लगता। ललितविस्तर जो कि उत्तर के बौद्ध लोगों का सबसे मुख्य ग्रन्थ है वह केवल एक भड़कीला काव्य है। वह गौतम का जीवन चरित्र इससे बढ़ कर नहीं है जैसा कि "पैरेडाइज लास्ट" ईसा का जीवन चरित्र है। सम्भवतः वह नेपाल में ईसा के उपरान्त दूसरी तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में बनाया गया था यद्यपि उसके कुछ भाग अर्थात् 'गाथा' बहुत पीछे के समय के हैं। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार ईसा की पहली शताब्दी में हुआ परन्तु वह चौथी शताब्दी तक राज्य धर्म नहीं हुआ था और जो पुस्तकें उस समय चीन के यात्री लोग भिन्न-भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से ले गये थे उसमें भारतवर्ष के बौद्ध धर्म के सब से प्राचीन रूप का वृत्तान्त नहीं है। बौद्ध धर्म का प्रचार जापान में ईसा की पाँचवीं शताब्दी में और तिब्बत में सातवीं शताब्दी में हुआ। तिब्बत भारतवर्ष के प्राथमिक बौद्ध धर्म से बहुत दूर है और उसने ऐसी बातों और ऐसे विधानों को ग्रहण किया है जो कि गौतम तथा उसके अनुयायियों को विदित नहीं थे।

इसके विरुद्ध दक्षिणी बौद्ध मत से हमारे लिए बहुत सा अमूल्य सामान मिलता है। दक्षिणी बौद्धों की पवित्र पुस्तकें तीन पितक के नाम से प्रसिद्ध हैं और इस बात को मानने के प्रमाण हैं कि ये पितक, जो कि अब तक लङ्का में वर्त्तमान हैं, वास्तव में वे ही नियम हैं जो कि पटने की सभा में ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहले निश्चित हुये थे।

बहुत काल तक बुद्ध की मृत्यु का समय ईसा के ५४३ वर्ष पहले माना जाता था परन्तु बहुत सी बातों से जो कि गत ३० वर्षों में निश्चित हुई हैं, विदित होता है कि यह इस सुधारक ने ईसा के ६५७ वर्ष पहले जन्म लिया था और ४७७ वर्ष पहले उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पीछे मगध की राजधानी राजगृह में ५०० भिक्षुकों की एक सभा हुई और इन्होंने मिल कर पवित्र नियमों को स्मरण रखने के लिये गाया। इसके १०० वर्ष पीछे अर्थात् ईसा के ३७७ बर्ष पहले एक दूसरी सभा वैशाली में हुई जिसका मुख्य उद्देश्य उन दस प्रश्नों पर वाद-विवाद और निर्णय करने का था जिन पर कि मतभेद हो गया था। इसके

१३५ वर्ष पीछे मगध के सम्राट अशोक ने धर्म पुस्तकों अर्थात पितकों को अन्तिम बार निश्चित करने के लिये ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहले पटने में एक तीसरी सभा की।

यह बात प्रसिद्ध है कि अशोक एक बड़ा उत्साही बौद्ध था और उसने विदेशों में सीरिया, मेसीडन और ईजिप्ट तक भी इस धर्म का प्रचार करने के लिये उपदेशक भेजे थे। उसने ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहले अपने पुत्र महेन्द्र को लङ्का के राजा तिसा के पास भेजा। महेन्द्र अपने साथ बहुत से बौद्ध भिक्षुकों को ले गया और इस प्रकार लंका में वे पितक गए जो कि पटने की सभा में अभी निश्चित हुए थे। यह कहना अनावश्यक होगा कि लङ्का के राजा तिसा ने हर्ष के साथ उस धर्म को ग्रहण किया जिसकी कि अशोक ने प्रसंशा की थी और जिसका उसके पुत्र ने उपदेश किया था। इस प्रकार ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में लंका ने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया। इसके १५० वर्ष पीछे ये पितक नियमानुसार लिपिबद्ध किए गये और इस प्रकार लंका के पाली पितकों में मगध के सबसे प्राथमिक बौद्ध धर्म का प्रामाणिक वृत्तान्त है।

इन बातों से विदित होगा कि दक्षिणी बौद्धों के तीनों पितक ईसा के २४२ वर्ष से अधिक पहले के हैं। क्योंकि जो ग्रन्थ सत्कार के योग्य प्राचीन नहीं थे वे पटने की सभा के नियमों में सम्मिलित नहीं किए गये थे। वास्तव में विनय पितक में इस बात के भीतरी प्रमाण मिलते हैं कि इस पितक के मुख्य-मुख्य भाग वैशाली की सभा के पहले अर्थात् ईसा के ३७७ वर्ष से अधिक पहले के हैं क्योंकि विनय पितक के मुख्य-मुख्य भागों में उपर्युक्त दसों प्रश्नों के वाद विवाद का कोई उल्लेख नहीं है। ये प्रश्न बौद्ध धर्म के इतिहास में वैसे ही आवश्यक हैं जैसा कि ईसाई धर्म में एरियन का विवाद हुआ है और उन्होंने समस्त बौद्ध सृष्टि में उसके केन्द्र तक खलबली डाल दी थी। इससे यह अनुमान स्पष्ट होता है कि विनय पितक के मुख्य भाग दूसरी सभा के पहले के अर्थात् ईसा के ३७७ वर्ष से अधिक पहले के हैं।

इस प्रकार हमें दक्षिणी बौद्धों के धर्म ग्रन्थों से गौतम बुद्ध के समय के ठीक पीछे की शताब्दियों में भारतवर्ष के इतिहास के प्रमाणिक उपादान मिलते हैं। क्यों कि तीनों पितकों के विषय, गौतम की मृत्यु के पीछे सौ या दो सौ वर्ष के भीतर ही निश्चित किए गए और क्रम में लाए गए, जिस प्रकार कि चारों ईसाई ग्रन्थ ईसा की मृत्यु के पीछे सौ या दो सौ वर्ष के भीतर ही भीतर बनाए और निश्चित किए गये थे। अतएव इन तीनों पितकों से गङ्गा की घाटी के हिन्दुओं के जीवन और हिन्दू

राज्यों के इतिहास का वृत्तान्त विदित होता है और अन्त में उनसे बुद्ध के जीवन कार्य और उसकी शिक्षाओं का अधिक प्रामाणिक और कम बनावटी वृत्तान्त मिलता है, जो कि उत्तर के बौद्धों से कदापि नहीं मिल सकता। उस समय की हिन्दू सभ्यता को सूचित करने और गौतम के जीवन चरित्र और कार्यों के वर्णन के लिए हम इन्हीं तीनों पितकों से सहायता लेंगे। यदि हम बुद्ध और उसके जीवन के विषय की कुछ बातें जानना चाहें तो अन्य सब मार्गों को छोड़ कर हमें इन्हीं पाली ग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिए।

ये तीनों ग्रन्थ सुत्तपितक, विनयपितक और अभिधम्म पितक के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुत्तपितक में जो बातें हैं वे स्वयं गौतम बुद्ध की कही हुई कही जाती हैं। इस पितक के सबसे प्राचीन भागों में स्वयं गौतम ही कार्य करने वाले और वक्ता हैं और उनके सिद्धान्त उन्हीं के शब्दों में कहे गए हैं। कभी कभी उनके किसी चेले ने भी शिक्षा दी है और उसमें यह प्रगट करने के लिये कुछ वाक्य भी दिए गए हैं कि कहां और कब गौतम अथवा उनके शिष्य के वाक्य हैं। परन्तु समस्त सुत्त-पितक में गौतम के सिद्धान्त और उनकी आज्ञा स्वयं उन्हीं के शब्दों में रक्षित कही जाती है।

विनय पितक में भिक्षुओं और भिक्षुनियों के आचरण के लिये बहुत सूक्ष्म नियम दिए गये हैं जो कि प्रायः बहुत तुच्छ विषयों पर हैं। गौतम गृहस्थ चेलों अर्थात् उपासकों को भी सत्कार की दृष्टि से देखते थे परन्तु उनका यह मत था कि भिक्षु हो जाना शीघ्र निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग है। भिक्षुओं और भिक्षुनियों की संख्याएँ जब बढ़ती गई तो विहार अर्थात् मठ में उनके उचित आचरण के लिये प्रायः बहुत सूक्ष्म विषयों पर बड़े-बड़े नियम बनाने की आवश्यकता हुई। अपना मत प्रगट करने के उपरान्त गौतम ५० वर्ष तक जीवित रहे अतः इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि इनमें से बहुत से नियमों को स्वयं उन्होंने निश्चित किया है। इसके साथ यह भी निश्चिय है कि इनमें से बहुत सूक्ष्म नियम उनकी मृत्यु के पीछे बनाये गए, परन्तु विनयपितक में वे सब स्वयं उन्हीं की आज्ञा से बनाये हुए कहे गये हैं।

अन्त में अभिधम्म पितक में भिन्न-भिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ हैं, अर्थात् भिन्न-भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं पर, शारीरिक गुणों पर, तत्वों पर, अस्तित्व के कारणों इत्यादि पर विचार किया गया है।

अब हम इन तीनों पितकों के विषयों की एक सूची देते हैं—

सुत्तपितक

(१) दीर्घ निकाय अर्थात् बड़े ग्रन्थ जिनमें ३४ सूत्तों का संग्रह है।

(२) मज्झिम निकाय अर्थात् मध्यम ग्रन्थ जिनमें मध्यम विस्तार के १५२ सूत्त हैं।

(३) सम्युत्त निकाय अर्थात् सम्बद्ध ग्रन्थ।

(४) अंगुत्तर निकाय अर्थात् ऐसे ग्रन्थ जिनमें कई भाग हैं और प्रत्येक भाग का विस्तार एक-एक करके बढ़ता गया है।

(५) खुद्दक निकाय अर्थात् छोटे ग्रन्थ। इनमें पन्द्रह ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन हम विस्तारपूर्वक करेंगे—

१—खुद्दकपाथ अर्थात् छोटे-छोटे बचन।

२—धम्मपद-जिसमें धार्मिक आज्ञाओं का एक अच्छा संग्रह है।

३—उदान—जिसमें ८२ छोटे-छोटे छन्द हैं और ऐसा कहा जाता है कि इन्हें गौतम ने भिन्न-भिन्न समयों में पड़े जोश में कहा था।

४—इतिवुत्तिक अर्थात् बुद्ध की कही हुई ११० बातें।

५—सुत्तनिपात—जिसमें ७० शिक्षाप्रद छन्द हैं।

६—विमानवत्थु—जिसमें स्वर्गीय महलों की कथाएँ हैं।

७—पेतवत्थु—जिसमें प्रेतों का विषय है।

८—थेरगाथा—जिसमें भिक्षुओं के लिये छन्द हैं।

९—थेरीगाथा—जिसमें भिक्षुनियों के लिये छन्द हैं।

१०—जातक—जिसमें पूर्व जन्मों की ५५० कथाएँ हैं।

११—निद्देश—जिसमें सुत्तनिपात पर सारिपुत्त का भाष्य है।

१२—पतिसम्भदा—जिसमें अन्तरज्ञान का विषय है।

१३—अपदान—जिसमें अरहतों की कथाएँ है।

१४—बुद्धवंश—जिसमें गौतम बुद्ध तथा उनके पहले के २४ बुद्धों के जीवन चरित्र हैं।

१५—चरियापितक—जिसमें गौतम के पूर्व जन्मों के सुकर्म्मों का वर्णन है।

(२) विनयपितक

(१) विभङ्ग। डाक्टर ओडेनवर्ग और डाक्टर राईज़ डेविड्स साहबों का मत है कि यह पातिमोक्ख का केवल विस्तृत पाठ है अर्थात् भाष्य सहित पातिमोक्ख पापों और उनके दण्ड का सूत्र रूप में संग्रह है जिसका पाठ प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमा को किया जाता है और ऐसा समझा जाता है कि इस धर्म के अनुयायी जो कुछ पाप करते हैं उसे वे स्वीकार कर लेते हैं और उस पाप से मुक्त हो जाते हैं।

(२) खण्डक अर्थात् महावग्ग और चुल्लावग्ग।

(३) परिवारपाथ—जो कि विनयपितक के पूर्व भागों का एक पीछे के समय का संस्करण और परिशिष्ट भाग है ।*

(३) अभिधम्मपितक

(१) धम्मसँगनी—जिसमें भिन्न-भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं का वर्णन है ।

(२) विभङ्ग—जिसमें शास्त्रार्थ की १८ पुस्तकें हैं ।

(३) कथावस्थु—जिसमें विवाद के १००० विषय हैं ।

(४) पुग्गलपन्नत्ति—जिसमें शारीरिक गुणों का विषय है ।

(५) धातुकथा—जिसमें तत्वों का वर्णन है ।

(६) यमक—अर्थात् जिसमें एक दूसरे से भिन्न या मिलती हुई बातों का वर्णन है ।

(७) पत्थान—जो अस्तित्व के कारणों के विषय में है।

ये इन तीनों पितकों के विषय हैं जो कि हम लोगों के लिये रक्षित हैं और जो बुद्ध के जीवन चरित्र और कार्यों तथा भारतवर्ष के इतिहास के लिये बड़े प्रामाणिक उपादान हैं । यद्यपि जिस समय ये तीनों पितक निश्चित और संगृहीत किए गए उस समय लोग लिखना जानते थे परन्तु फिर भी सैकड़ों वर्ष तक वे केवल कंठाग्र रख कर रक्षित रक्खे गए थे ।

तीनों पितक और उनके भाष्यों को भी ।

"प्राचीन समय के बुद्धिमान भिक्षुकों ने केवल मुख द्वारा सिखलाया ।"

और ये पवित्र ग्रन्थ ईसा के एक शताब्दी अर्थात् लगभग ८८ वर्ष पहले लिपिबद्ध किए गए जैसा कि हम पहले देख चुके हैं ।

यह बात प्रसिद्ध है कि गौतम ने भारतवर्ष के लेखकों और सोचनेवालों के पूर्व उदाहरणों पर न चल कर भारतवर्ष के लोगों में अपने धर्म का प्रचार केवल सर्वसाधारण की भाषा में किया था, संस्कृत में नहीं । चुल्लवग्ग में (५,३३,१) यह कहा गया है कि "दो भिक्षु भाई थे जिनका नाम यमेलु और ठेकुल था । वे ब्राह्मण थे और बोलने तथा उच्चारण करने में निपुण थे ।" वे लोग गौतम के पास गए और

---

* परन्तु यह अशोक के समय में बनाया गया था और दीपवंश (७, ४२) में लिखा है कि उसका पुत्र महिन्द इसे लंका ले गया । जिन ग्रन्थों को महिन्द लंका ले गया था उनके नाम इस प्रकार दिये हैं—पांचो निकाय (सुत्तपितक); सातो (अविधम्म), दोनों विभङ्ग; परिवार और खण्डक (विनय) ।

बोले—"हे महाराज ! इस समय भिन्न-भिन्न नाम, कुल, जाति और गोत्र के भिक्षु लोग हो गये हैं। ये लोग अपनी-अपनी भाषा में बुद्धों के वाक्यों को नष्ट करते हैं। इस कारण हे महाराज हम लोगों को आज्ञा दीजिए कि हम लोग बुद्धों के वाक्यों की रचना संस्कृत छन्दों (छन्दसोआरोपेम) में करें।' परन्तु गौतम इसे नहीं चाहते थे। वे नम्र तथा नीच लोगों के लिये कार्य करते थे, उनका आदेश सर्वसाधारण के लिये था, और इस कारण उनकी यह इच्छा थी कि वे उन्हीं की भाषा में उन्हें सिखलाए जांय। "हे भिक्षुओं, तुम्हें बुद्धों के वाक्य (संस्कृत) छन्द में नहीं रचने चाहिये... हे भिक्षुओं ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम बुद्धों के वाक्य अपनी ही अपनी भाषा में सीखो।"

साधारणतः हम इन तीनों पितकों के लिये उन्हीं वाक्यों का व्यवहार कर सकते हैं, जिन्हें डाक्टर राइज़ डेविड्स और डाक्टर ओडनबर्ग ने विनयपितक के लिये व्यवहार किया है "इसका पाठ, जैसा कि वह हम लोगों के सामने है चाहे वह अपने भिन्न-भिन्न भागों के साथ मिलान किया जाय अथवा उसके उत्तरी बचेबचाये भाग के साथ। परन्तु वह सब प्रमाणों से ऐसा रक्षित है कि हम लोग इन पाली पुस्तकों को उस प्राचीन, मागधी पाठ का प्रामाणिक दर्पण मानते में हैं जो कि अधिकांश प्राचीन बौद्ध मठों में स्थिर किया गया था। मगध की भाषा का वह पाठ हम लोगों को कदाचित् अब कभी प्राप्त न होगा और अब हम यह भी आशा नहीं कर सकते कि उस पाठ का कुछ भाग ही हमको मिल जाय। अधिक-से-अधिक हम लोगों को इन प्राचीन भिक्षुओं का अनुगृहीत होना चाहिये कि उन्होंने हमारे लिये उसका एक अनुवाद रक्षित रक्खा है जो कि मागधी भाषा से बहुत कुछ मिलती हुई एक भाषा में हैं और वह ऐसी पूर्ण और प्रामाणिक अवस्था में है जैसा कि पाली भाषा का विनयपितक है।"

———

अट्ठाईसवां अध्याय

गौतम बुद्ध का जीवन चरित्र

ईसा के पहले छठी शताब्दी में मगध का राज्य बड़ा प्रबल हो रहा था। यह राज्य आज कल के दक्षिणी बिहार में था और गङ्गा के दक्षिण सोम नदी के दोनों ओर फैला हुआ था। गङ्गा के उत्तर में लिच्छवि लोगों का एक दूसरा प्रबल राज्य था। मगध के राजा बिम्बिसार की राजधानी गङ्गा के दक्षिण राजगृह में थी। पूरब की ओर अंग का राज्य अर्थात् पूर्वी बिहार था जिसका उल्लेख मगध के सम्बन्ध में आता है और अंग की राजधानी चम्पा में थी। उत्तर पश्चिम की ओर दूर जा कर कोशलों का प्राचीन राज्य था और उसकी राजधानी अयोध्या अथवा साकेत से हटाई जाकर उत्तर की ओर श्रावस्ति में थी जहां कि जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय प्रसेनजित राज्य करता था। दक्षिण की ओर काशी का प्राचीन देश भी उस समय श्रावस्ति के राजा के आधीन जान पड़ता है और प्रसेनजित का एक प्रतिनिधि बनारस में राज्य करता था।

कोशल के राज्य के कुछ पूरब रोहिणी नदी के आमने सामने के दोनों किनारों पर दो जातियां अर्थात् शाक्य और कोलियन जातियां जो कि एक प्रकार से स्वतन्त्र थीं और जिनकी स्वतन्त्रता का कारण उनका बल नहीं था वरन् उसका कारण मगध और कोशल के राजाओं का परस्पर अविश्वास था। शाक्यों की राजधानी कपिल वस्तु थी और उन लोगों का उस समय कोलियन लोगों के साथ मेल था। शाक्यों के सरदार शुद्धोदन ने कोलियन लोगों के सरदार की दो कन्याओं से विवाह किया था।

शुद्धोदन को इनमें से किसी रानी से भी बहुत वर्षों तक कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ और शाक्यों के उत्तराधिकारी होने की आशा जाती रही। परन्तु अन्त में बड़ी रानी को गर्भ रहा और प्राचीन रीति के अनुसार उन्होंने पुत्र जन्माने के लिये अपने पिता के घर को प्रस्थान किया। परन्तु वहाँ पहुँचने के पहले ही उसे लुम्बिनी के सोहावन कुंज में पुत्र उत्पन्न हुआ। अतएव लोग रानी और उसके पुत्र को कपिल-

वस्तु में ले आए और वहाँ रानी सात दिन के उपरान्त मर गई और लड़के को छोटी रानी से पाले जाने के लिए छोड़ गई।

गौतम के जन्म के सम्बन्ध में स्वभावतः बहुत सी कथाएँ कही जाती हैं परन्तु यह बात बड़े आश्चर्य की है कि वे कथाएँ जो ईसा मसीह के जन्म की कथाओं से समानता रखती हैं, उनमें से एक को हम यहाँ उद्धृत करेंगे। असित ऋषि ने देवताओं को प्रसन्न हृदय से सत्कार करके उसने उस समय पूछा—"देवताओं का समूह इतना अधिक प्रसन्न क्यों है और वे अपने कपड़े पकड़ कर क्यों हिला रहे हैं ?"

"बोधिसत्त जो कि अत्योतम मोती के सदृश और अद्वित्तीय है संसार के लोगों के लाभ और सुख के लिये लुम्बिनी के देश में शाक्यों के यहाँ उत्पन्न हुआ है। इस कारण हमलोग हर्षित और बहुत ही प्रसन्न हैं।" यह उत्तर पाकर यह ऋषी सुद्धोदन के यहाँ गया और उसने पूछा "वह राजकुमार कहाँ है ? मैं उसे देखना चाहता हूँ।"

तब शाक्यों ने असित को वह पुत्र दिखलाया जो कि बड़े चतुर कारीगर से भट्टी के मुँह पर बनाए हुए चमकते हुए सोने की भाँति प्रताप और सुन्दरता से चमक रहा था। और तब ऋषि ने कहा कि--यह लड़का पूर्णज्ञान को प्राप्त होगा और धर्म को स्थापित करेगा और उसके धर्म का प्रचार होगा। (नालक सुत्त)

इस पुत्र का नाम सिद्धार्थ रक्खा गया परन्तु उसके घर का नाम गौतम था। वह शाक्य वंश का था और इसीलिये बहुधा वह शाक्य सिंह भी कहा जाता है और जब उसने अपने सुधार किए हुए मत का प्रचार किया तो वह बुद्ध अर्थात् जागृत या बुद्ध सम्पन्न कहलाया।

गौतम की बाल्यावस्था की बहुत कम बातें विदित हैं। उन्होंने अपनी चचेरी बहिन अर्थात् कोली के सरदार की पुत्री सुभद्रा अथवा यशोधरा से १८ वर्ष की अवस्था में विवाह किया। ऐसा कहा जाता है कि गौतम उन वीरोचित कसरतों को नहीं करता था जिन्हें कि उस समय के सब क्षत्री लोग प्रसन्नता पूर्वक करते थे और उसके सम्बन्धी लोग इस बात की शिकायत करते थे। इस कारण उसके गुणों की परीक्षा करने के लिये एक दिन नियत किया गया और ऐसा कहा जाता है कि उसमें शाक्यों के इस राजकुमार ने अपने सब कुटुम्बियों से श्रेष्ठता दिखलाई।

अपने विवाह के दस वर्ष पीछे गौतम ने दर्शन शास्त्र और धर्म के अध्ययन के लिये अपना घर और स्त्री छोड़ने का संकल्प किया। इस राजकुमार का अपना घर और अधिकार छोड़ने की कथा सुप्रसिद्ध है। इसके पूर्व उसने बहुत समय तक मनुष्य जाति के पाप और दुःखों के विषय में बड़ी गम्भीरता और दुःख के साथ

विचार किया था और उसने धन और अधिकार की व्यर्थता को समझा होगा। अपने सुख, अधिकार और धन के बीच रह कर वह गुप्त रीति से इससे भी अधिक कोई वस्तु प्राप्त करना चाहता था जो कि न तो धन और न अधिकार से मिल सकती थी। राजमहल के सुख और विलास के बीच भी उसके हृदय में मनुष्यों के दुःख को दूर करने का उपाय सोचने की एक प्रबल और अनिवार्य कामना उठी। ऐसा कहा जाता है कि एक निर्बल वृद्ध मनुष्य को, एक रोगी मनुष्य को, एक सड़ी हुई लोथ को, और एक योग्य सन्यासी को देख कर उसकी इच्छा अपना घर द्वार छोड़ने की हुई। इस कहानी में बहुत कम सत्यता, है और उससे केवल वे विचार प्रगट होते हैं जो कि उसके हृदय में गृहस्थी के जीवन के दुःखों और संसार से वैराग्य की शान्ति के विषय में उठते थे।

इस समय उसको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसा कहा जाता है कि इसका समाचार उसको एक बाटिका में नदी के तट पर दिया गया और विचार मग्न इस युवा ने केवल इतना ही कहा "यह एक नया और मजबूत बन्धन है जिसे मुझे तोड़ना पड़ेगा।" इस समाचार से शाक्यों के हृदय से बड़ी प्रसन्नता हुई और राज्य के उत्तराधिकारी के जन्म के उत्सव के गीतों से कपिल वस्तु गूँज उठा। जिस समय गौतम नगर को लौटा तो वह चारों ओर से बधाइयाँ सुनने लगा और उनमें उसने एक युवती को यह कहते हुये सुना कि "ऐसे पुत्र और पति के माता, पिता और स्त्री सुखी हों।" गौतम ने सुखो शब्द से "पापों और पुनर्जन्म" मुक्ति पाने का अर्थ समझा और उसने अपना मोतियों का हार उतार कर उस युवती को भेज दिया। युवती ने समझा कि राजकुमार मुझ पर मोहित हो गया है। वह बेचारी क्या जानती थी कि राजकुमार के हृदय में कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हो रहे थे।

उस रात्रि को गौतम अपनी स्त्री के द्वार पर गया और वहाँ उसने जगमगाते हुये दीपक के प्रकाश से बड़े सुख का दृश्य देखा। उसकी युवा पत्नी चारों ओर फूलों से घिरी हुई पड़ी थी और उसका एक हाथ बच्चे के सिर पर था। उसके हृदय में बड़ी अभिलाषा उठी कि सब सांसारिक सुखों को छोड़ने के पहले वह अन्तिम बेर अपने बच्चे को अपनी गोद में ले परन्तु वह ऐसा करने से रुक गया। बच्चे की माता कदाचित् जाग जाय और प्रियतमा की प्रार्थनाएँ कदाचित उसके हृदय को हिला दें और उसके संकल्प में बाधा डाल दें। अतएव वह इस सुखी दृश्य अर्थात् अपने सब सुख, और स्नेह के घर से चुपचाप निकल गया। उसी एक क्षण में, उसी रात्रि के अन्धकार में उसने सदा के लिये अपने धन, सम्मान और अधिकार को, अपनी ऊँची मर्यादा और अपने राजकुमार के नाम को और सब

से बढ़ कर अपने सुखी घर के स्नेह को अर्थात् अपनी युवा पत्नी की प्रीति और उसकी गोद में सोये हुये सुकुमार बच्चे के स्नेह को तिजाँजलि दे दी। वह यह सब छोड़ कर निर्धन विद्यार्थी और गृहहीन पथिक होने के लिये निकल पड़ा। उसके सच्चे नौकर चन्न ने उसके साथ रहने और सन्यासी हो जाने की आज्ञा माँगी परन्तु गौतम ने उसे वापस भेज दिया और वह अकेला राजगृह को चला गया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि राजगृह मगधों के राजा बिम्बिसार की राजधानी थी और वह एक घाटी में पांच पहाड़ियों से घिरी हुई थी। कुछ ब्राह्मण सन्यासी लोग इन पहाड़ियों की गुफाओं में रहते थे जो कि नगर से अध्ययन तथा ध्यान करने के लिये काफी दूर थीं परन्तु इतनी दूर नहीं थी कि नगर से सामिग्री लाने में कठिनता हो। गौतम पहले एक अलार नामी सन्यासी के पास रहा और फिर उद्रक नामी सन्यासी के पास, और उसने उससे वे सब बातें सीख लीं जो कि हिन्दू दर्शन शास्त्रज्ञ सिखला सकते थे।

परन्तु इससे संतोष न पा कर गौतम ने यह देखना चाहा कि तपस्या करने से क्या दैवी ज्ञान और शक्ति प्राप्त हो सकती है। अतएव वह उरबला के जंगल में जो कि आज कल के बुद्ध गया के मन्दिर के निकट था, गया और पाँच चेलों के सहित उसने छः बरसों तक सबसे कठोर तपस्याएँ की और दुःख सहे। चारों ओर उसकी बड़ी प्रसिद्ध हुई क्योंकि अज्ञानी और मिथ्या विश्वासी लोग सदा ऐसी तपस्याओं की प्रशंसा करते हैं। परन्तु गौतम को जिस वस्तु की खोज थी वह उसे न मिली। अन्त में एक दिन वह केवल दुर्बलता के कारण गिर पड़ा और उसके शिष्यों ने समझा कि वह मर गया। परन्तु वह होश में आया और तपस्याओं से कुछ लाभ होने की आशा न पाकर उसने उन्हें छोड़ दिया। जब उसने तपस्या छोड़ दी तो उसके शिष्य लोगों के हृदय से जो कि उसके उद्देश्य नहीं समझते थे उसका सत्कार जाता रहा। वे उसे अकेला छोड़ कर बनारस चले गए।

संसार में अकेला हो कर गौतम निरंजरा नदी के तट पर भ्रमण करने लगा। सबेरे उसे एक देहाती की कन्या सुजाता से भोजन मिलता रहा और वह प्रसिद्ध बोधी वृक्ष अर्थात् बुद्धि के वृक्ष के नीचे बैठा रहा। इस समय उसे जो मार अर्थात् दुष्ट भूत ललचाता था उसके विषय में बहुत सी कथाएँ कहीं गई हैं और आश्चर्य है कि ये कथाएँ ईसा मसीह की कथाओं के सदृश हैं। वह बहुत समय तक विचार करता रहा और अपने गत जीवन के दृश्य उसके हृदय के सामने आते रहे। जो विद्या उसने प्राप्त की थी उसका कोई फल नहीं हुआ, जो तपस्यायें उसने कीं वे भी निरर्थक हुई, उसके शिष्यों ने उसको संसार में अकेला छोड़ दिया। क्या वह अब

अपने सुखी घर को, अपनी प्रिय स्त्री के पास, अपने छोटे बच्चे के पास, जो कि अब छ वर्ष का हो गया होगा, अपने प्रिय पिता और प्रिय प्रजा के पास लौट जाय ? यह सम्भव था, परन्तु इससे संतोष कैसे प्राप्त होता ? जिस कार्य में उसने अपने को लगाया था उसका क्या होता ? इन्हीं विचारों तथा सन्देह में वह बहुत समय तक बैठा रहता, यहाँ तक कि सब सन्देह सबेरे के कुहरे की तरह दूर हो गए और सत्य का प्रकाश उसकी आँखों के सामने चमकने लगा। यह सत्य क्या था जिसे कि न तो विद्या और न तपस्या सिखला सकी ? उसने कोई नई वस्तु नहीं जानी थी, कोई ज्ञान नहीं प्राप्त किया था, परन्तु उसके धार्मिक स्वभाव और उसके दयालु हृदय ने उन्हें बता दिया कि पवित्र जीवन और सबको प्यार करना ही सब पापों की सच्ची तपस्या है। आत्मोन्नति और सब का प्रेम यही नई बात जो उसने मालूम की थी वही बौद्ध धर्म का सार है।

गौतम के हृदय में जो उद्वेग, थे और जिनकी शान्ति इस प्रकार हुई उसका वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में अद्भुत घटनाओं के साथ किया गया है। उनमें लिखा है कि सब मेघाच्छन्न और अंधकारमय था, पृथ्वी और समुद्र हिल रहे थे, नदियां उलटी बह कर अपने उद्गम में जा रही थीं और ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों की चोटियां नीचे आ गिरी थीं। डाक्टर राइज डेविड्स साहब ठीक कहते हैं कि इन कथाओं का गूढ़ अर्थ है और ये "पहले अर्द्ध अवाक्य प्रयत्न हैं जिन्हें कि हिन्दू हृदय ने एक प्रबल मनुष्य के उद्वेगों को वर्णन करने के लिये किया था।"

गौतम के पुराने गुरू मर गए थे और इसलिये वह अपने पांचों चेलों को यह सत्य प्रगट करने के लिये बनारस गया। मार्ग में उसे उपक नामी एक मनुष्य मिला जो कि आजीवन योगियों के सम्प्रदाय का था। उसने गौतम के गम्भीर और सुखी मुख को देख कर पूछा—"मित्र तुम्हारा मुख शान्त है और तुम्हारा रंग स्वच्छ और प्रकाशमय है। मित्र तुमने किस नाम से इस संसार को छोड़ दिया है ? तुम्हारा गुरू कौन है ? तुम्हारे सिद्धान्त क्या हैं ?" इसका उत्तर गौतम ने यह दिया कि मेरा कोई गुरू नहीं है और मैंने सब कामनाओं को दमन करके निर्वाण प्राप्त किया है। उसने कहा कि "मैं ससार के अंधकार में अमरत्व का ढिंढोरा पीटने काशी जा रहा हूँ।" उपक ने उसकी बातें नहीं समझी और दो चार बात कह कर उसने कहा "मित्र कदाचित ऐसा ही हो।" यह कह और मूड़ी हिला कर उसने दूसरा रास्ता पकड़ा और चलता बना (महावग्ग १, ६)।

बनारस में सन्ध्या के ठन्डे समय गौतम ने मृगदाय में प्रवेश किया और वहां

उसे उसके चारों चेले मिले और उसने उन्हें अपने नए सिद्धान्त समझाए।

"हे भिक्षुओं, दो ऐसी बातें हैं जिन्हें उन मनुष्यों को नहीं करना चाहिए जिन्होंने संसार त्याग दिया हो, अर्थात् एक तो उन वस्तुओं की आदत डालनी नहीं चाहिये जो कि मनोविकार से और विशेषतः कामाशक्ति से उत्पन्न होती हैं क्योंकि यह नीच मिथ्या आयोग्य है। और दूसरे तपस्याओं को नहीं करना चाहिए जो कि दुखदाई अयोग्य और अलाभदायक हैं।

हे भिक्षुओं इन दोनों बातों को छोड़ कर एक बीच का मार्ग है जिसे कि तथागत (बुद्ध) ने प्रगट किया है। यह मार्ग नेत्रों को खोलता है और ज्ञान देता है, उससे मन की शान्ति, उच्चतम ज्ञान और पूर्ण प्रकाश अर्थात् निर्वाण प्राप्त होता है।

और तब उसने उन्हें सुख-दुःख के कारण, दुःख के नाश और दुःख के नाश करने के मार्ग के सम्बन्ध की बातें बतलाई। जिस मार्ग का उसने वर्णन किया है उसमें आठ बातें हैं अर्थात् यथार्थ विश्वास, यथार्थ उद्देश्य, यथार्थ भाषण, यथार्थ कार्य, यथार्थ जीवन, यथार्थ उद्योग, यथार्थ मनःस्थिति और यथार्थ ध्यान।

और गौतम ने ठीक कहा है कि यह सिद्धान्त "हे भिक्षुओ प्राचीन सिद्धान्तों में नहीं है।" "बनारस में मिगदाय के मठ में बुद्ध ने सत्य के राज्य के प्रधान पहिए को चला दिया है और वह पहिया किसी स्रामन अथवा ब्राह्मण द्वारा, किसी देवता द्वारा, किसी ब्रह्मा अथवा मार द्वारा और सृष्टि में किसी के द्वारा भी कभी नहीं उलटाया जा सकता।" (धर्म चक्क प्पवत्तन सुत्त, अंगुत्तर निकाय)।

यह कहना अनावश्यक है कि पहले के पाँचों चेलों ने उसका धर्म स्वीकार किया और वे ही इस धर्म के पहले सभ्य हुए।

बनारस के धनाढ्य सेठी (महाजन) का पुत्र यश उसका पहला गृहस्थ चेला हुआ और सुख और धन की गोद में पले हुए इस युवा के धर्म परिवर्तन का वृत्तान्त यहां उल्लेख करने योग्य है। "उसके तीन महल थे—एक जाड़े के लिये, दूसरा गर्मी के लिये और तीसरा बरसात के लिये।" एक दिन रात्रि को वह नींद से जगा और उसने कमरे में गायिकाओं को अब तक सोते पाया और उनके वस्त्र बालों तथा गाने के साजों को छिन्न-भिन्न देखा। इस युवा ने जो कि प्रत्यक्ष सुख के जीवन से तृप्त हो चुका था अपने सामने जो कुछ उसने देखा उससे उसे बहुत घृणा हुई और गहरे विचार में होकर उसने कहा "दुःख कैसा दुःख है, कैसी विपत्ति है ?" और वह घर से निकल कर बाहर चला गया।

यह प्रभात का समय था और गौतम ने जो कि हवा में इधर उधर टहल रहा

था इस व्याकुल और दुखी युवा को यह कहते हुए सुना" दुःख कैसा दुःख है। कैसी विपत्ति है।" उसने उससे कहा हे यश यहां कोई दुःख और कोई विपत्ति नहीं है। हे यश यहां आकर बैठो और मैं तुम्हें सत्य का मार्ग सिखलाऊंगा।" और यश ने इस ऋषि आचार्य के मुख से सत्य को सुना।

यश के माता पिता और स्त्री उसे न पाकर सब गौतम के पास आए और उन लोगों ने भी पवित्र सत्य को सुना और वे भी शीघ्र ही गृहस्थ चेले हो गए। (महावग्ग १, ७ और ८)

बनारस में आने के पाँच मास के उपरान्त गौतम के ६० चेले हो गये। उसने उन चेलों को बुलाया और मनुष्य जाति की मुक्ति के लिये उन्हें भिन्न-भिन्न दिशाओं में सत्य का प्रचार करने के अभिप्राय से यह कह कर भेजा कि "हे भिक्षुओं अब तुम लोग जाओ और बहुतों के लाभ के लिये, बहुतों की कुशल के लिये, संसार की दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्य की भलाई, लाभ और कुशल के लिये भ्रमण करो। तुम में से कोई दो भी एक ही मार्ग से न जाओ। हे भिक्षुओं तुम लोग उस सिद्धान्त का प्रचार करो जो कि आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है, और अन्त में भी उत्तम है। सम्पन्न, पूर्ण और पवित्र जीवन का प्रचार करो।" (महावग्ग १, २, १,) इसके उपरान्त किसी धर्म प्रचारक ने अपने धर्म का प्रचार पृथ्वी के छोर तक करने में अधिक पवित्र उत्साह नहीं दिखलाया जैसा कि गौतम के अनुयायियों ने उपरोक्त पवित्र आज्ञा का पालन करके दिखलाया है। गौतम स्वयं उरबला को गया और यश बनारस में रहा।

उरबला में गौतम ने तीन भाइयों को अपने धर्म का बनाया जिनका नाम काश्यप था और जो वैदिक धर्म के अनुसार अग्नि की पूजा करते थे और बड़े प्रसिद्ध सन्यासी और दर्शनशास्त्रज्ञ थे। इससे गौतम की बड़ी प्रसिद्धि हुई। सब से बड़ा भाई उरबला काश्यप और उसके शिष्यगण ने "अपने बाल खोल दिये और अपनी सामग्री तथा अग्निहोत्र की वस्तुएँ नदी में फेंक दीं "और बुद्ध से पब्बाज्ज और उपसंपदा विधान को ग्रहण किया। उसके भाइयों ने भी जो कि नाड़ी (निरंजरा नदी) पर गया में रहते थे उसका अनुकरण किया। (महावग्ग १, १५-२०)

काश्यपों के धर्म परिवर्तन से एक बड़ी हलचल मच गई और गौतम अपने नये चेले और एक हजार अनुयायियों को लेकर मगध की राजधानी राजगृह की ओर चला। इस नये धर्म प्रचारक का समाचार शीघ्र राजा को पहुँचा और सेनिय बिम्बिसार बहुत से ब्राह्मण और वैश्यों को साथ लेकर गौतम से मिलने के लिये गया। वहाँ वह प्रसिद्ध उरबला काश्यप को देख कर यह न जान सका कि इस प्रसिद्ध

ब्राह्मण ने गौतम को अपने धर्म में कर लिया अथवा गौतम ने उसको अपने धर्म में कर लिया है। गौतम राजा के सन्देह को समझ गया और उस पर यह बात विदित करने के लिये उसने काश्यप ने पूछा "हे उरबला के निवासी, तुमने क्या ज्ञान प्राप्त किया कि जिससे तुमने अपनी तपस्या के लिये प्रसिद्ध होकर पवित्र अग्नि की पूजा छोड़ दी।" काश्यप ने उत्तर दिया कि हमने शान्ति की अवस्था देखी है और हवन तथा वलिदानों में अब हमें प्रसन्नता नहीं मिलती। राजा यह सुनकर आश्चर्यित और हर्षित हुआ और अपने असंख्य अनुचरों के साथ गौतम का अनुयायी हो गया और उसने दूसरे दिन गौतम को अपने साथ भोजन करने को निमन्त्रण दिया।

तदनुसार यह अकेला भ्रमण करने वाला राजा का अतिथि होकर सत्कार के साथ राजभवन को गया और मगध के समस्त निवासी इस प्रीति के धर्म के बड़े उपदेशक को जो कि अचानक पृथ्वी पर आविर्भूत हुआ था, देखने के लिये एकत्रित हुए। तब राजा ने गौतम के रहने के लिये निकट में वेलुवन का कुँज नियत किया और वहाँ गौतम अपने अनुयायियों के साथ कुछ समय तक रहा। थोड़े ही समय में उसने दो प्रसिद्ध व्यक्तियों को अर्थात् सारिपुत्र और मोग्मल्लान को अपने धर्म का अनुयायी बनाया। (महावग्ग १, २२-२४)

गौतम के नित्य के जीवन का वर्णन डाक्टर ओडेनवर्ग साहब ने भली भाँति किया है। "वह और उसके चेले सबेरे तड़के उठते हैं, जिस समय कि आकाश में दिन का प्रकाश दिखलाई देता है और वह तड़के का समय आत्मिक कार्यों तथा अपने चेलों के साथ बात चीत करने में व्यतीत करता है और इसके उपरान्त वह अपने साथियों के सङ्ग नगर की ओर जाता है। उन दिनों में जब कि उसकी प्रसिद्धि सबसे अधिक हो गई थी और जब उसका नाम समस्त भारतवर्ष में सबसे प्रसिद्ध नामों में लिया जाता था। यह मनुष्य जिसके सामने राजा लोग भी सिर झुकाते थे, अपने हाथ में खप्पड़ लेकर नित्य गलियों और रास्तों में द्वार-द्वार बिना कुछ प्रार्थना किये हुये नीची दृष्टि किये चुपचाप खड़े देखे जाते थे और लोग उसी खप्पड़ में भोजन का एक ग्रास डाल देते थे।

इस प्रकार अपने समय का सबसे बड़ा मनुष्य नित्य द्वार-द्वार भिक्षा मांगता था और मनुष्यों और स्त्रियों को अपने धर्म का उपदेश करता था क्योंकि मनुष्यों की तरह स्त्रियाँ भी गौतम के वाक्य सुनती थीं। "स्त्रियों के बाहरी संसार से जुदा रहने की रीति जो उत्तर काल से चली है, प्राचीन भारतवर्ष में बिल्कुल नहीं थी। स्त्रियाँ मनुष्य के बुद्धि विषयक जीवन में सम्मिलित थीं और भारतवासियों के सबसे अधिक

उत्तम और मृदु महाकाव्यों से हमको विदित होता है कि वे सच्चे स्त्री धर्म को कैसी अच्छी तरह समझती और मानती थी।"

गौतम का यश अब उसकी जन्म भूमि तक पहुँच गया था और उसके वृद्ध पिता ने उसे एक बार देखने की अभिलाषा प्रगट की। अतएव गौतम कपिलवस्तु को गया परन्तु अपने नियमानुसार यह नगर के बाहर कुँज में ठहरा। उसके पिता औ सम्बन्धी लोग वहाँ उसे देखने गये और दूसरे दिन गौतम स्वयं नगर में गया और उन्हीं लोगों से भिक्षा माँगने लगा जो कि उसे एक समय अपना प्रिय राजकुमार औ मालिक समझते थे। फिर ऐसा कहा जाता है कि राजा ने गौतम को इस कार्य के लिये धिक्कारा परन्तु गौतम ने उत्तर दिया कि यह उसकी जाति की रीति है। राजा ने कहा "परन्तु हम लोग एक प्रतापी योद्धाओं के वंश से उत्पन्न हुये हैं और उनमें से कभी किसी ने भी अपने भोजन के लिये भिक्षा नहीं माँगी।" गौतम ने उत्तर दिया "तुम और तुम्हारे वंश की उत्पत्ति राजा से हुई हो परन्तु मेरी उत्पत्ति प्राचीन बुद्धों से है।" राजा अपने पुत्र को राजभवन में ले गया और वहाँ उसकी स्त्री को छोड़ कर उसके कुटुम्ब के और सब लोग उससे मिलने के लिये आये। बिचारी त्याग की हुई यशोधरा ने पत्नी के दुःख और पत्नी के घमण्ड के साथ कहा "यदि उसकी दृष्टि में मैं कुछ हूँ तो वे स्वयं मेरे पास आवेंगे। मैं यहाँ उनका स्वागत अधिक उत्तमता से कर सकती हूँ।" गौतम इसे समझ गया और अपने साथ केवल दो शिष्य को लेकर उसके पास गया। जब यशोधरा ने अपने स्वामी और राजकुमार को सिर मुड़ाये हुये और पीला वस्त्र पहिने हुये एक सन्यासी के वेष में देखा तो सब अपने को न सँभाल सकी। उसने पृथ्वी पर पछाड़ खाई और उसका पैर पकड़ कर आँसू बहाने लगी। तब अपने और उसके बीच में एक भारी अन्तर का ध्यान करके वह उठी और अलग खड़ी हो गई। उसने उसके नये सिद्धान्तों को सुना और इसके उपरान्त जब गौतम भिक्षुनियों का भी एक सम्प्रदाय स्थापित करने के लिये उत्तेजित किया गया तो यशोधरा सबसे पहले भिक्षुनी हुई। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय यशोधरा अपने गृह में रही परन्तु गौतम का पुत्र राहुल गौतम का अनुयायी कर लिया गया।

गौतम के पिता को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उसने गौतम को यह नियम स्थापित करने के लिये कहा कि कोई बालक अपने माँ बाप की सम्मति के बिना भिक्षुक न बनाया जाय। गौतम ने इसे स्वीकार किया और इसी के अनुसार नियम बनाया। (जातक ८७-९०, महावग्ग १, ५४)।

राजगृह लौटते समय गौतम मार्ग में कुछ समय तक मल्लों के नगर अनुपिया

में ठहरा और यहाँ ठहर कर उसने कोलियन और शाक्य वंशों के बहुत से लोगों को अपना शिष्य बनाया जिनमें से कुछ लोगों का विशेष वर्णन करने योग्य है। शाक्य वंशी अनुरुद्ध अपनी माता के पास गया और उसने भिक्षुक हो जाने की आज्ञा माँगी उसकी माता को उसे रोकने का कोई उपाय न सूझ पड़ा और इस कारण उसने कहा कि" हे प्रिय अनुरुद्ध, यदि शाक्य राजा भद्दिय संसार को त्याग दे तू भी भिक्षुक हो जा।"

अतएव अनुरुद्ध भद्दिय के पास गया और यह निश्चय हुआ कि वे दोनों सात दिन में इस आश्रम को ग्रहण करें। "इस प्रकार शाच्य राजा भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भगु किंबिल और देवदत्त जिस प्रकार पहले अनेक बार बड़ी तैयारी से आनन्द विलास के लिये जाते थे उसी प्रकार वे सब अब भी निकले और उनके साथ उपाली हज्जाम भी हुआ।

जब वे कुछ दूर गए तो उन्होंने अपने नौकरों को पीछे भेज दिया और उस पार के नगर में जा कर अपनी सब उत्तम वस्तुओं को उतार दिया और उन्हें अपने कपड़ों में लपेट कर उपाली हज्जाम से कहा "उपाली अब तुम जाओ, येवस्तुएँ तुम्हारे जीवन निर्वाह के लिये बहुत होंगी" परन्तु उपाली दूसरे प्रकार का मनुष्य था और इसलिये ये सातो गौतम के पास गए और उन्होंने उसका आश्रय ग्रहण किया। जब भद्दिय ने इस एकान्त धर्म को ग्रहण किया तो वह बार-बार कहने लगा "वाह सुख! वाह सुख!" और जब उससे इसका कारण पूछा गया तो उसने कहा—

हे स्वामी पहले जब मैं राजा था तो मेरे भवन के भीतर और बाहर मेरे देश की सीमा के भीतर मेरे लिये बहुत से रक्षक थे। फिर भी हे प्रभु! जब कि मेरी इस प्रकार रक्षा की जाती थी तो भी मुझे भय, चिन्ता और सन्देह बना रहता था परन्तु हे प्रभु इस समय जब कि मैं एकान्त में इस जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ हूँ मुझे कोई भय, चिन्ता अथवा सन्देह नहीं हैं। मैं बड़े सुख से और रक्षित हो कर बैठा हूँ और मेरा हृदय ऐसा शान्त है जैसा कि किसी हरिन का हो" (चुल्लवग्ग ७,१)।

हमने उपरोक्त कथा का इसलिये वर्णन किया है क्योंकि जिन लोगों का उसमें नाम आया है उनमें से कुछ लोग आगे चल कर बड़े प्रसिद्ध हुए। आनन्द गौतम का एक बड़ा प्रिय मित्र हुआ और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसने धर्म के भजन गाने के लिये राजगृह की सभा में पांच सौ भिक्षुकों को एकत्रित किया, उपाली यद्यपि जाति का हज्जाम था परन्तु वह भिक्षुओं में बड़ा प्रसिद्ध हुआ और विनयपितक के सम्बन्ध

में उसके वाक्य प्रमाण माने जाते थे। इससे यह प्रगट होता है कि गौतम ने जो भिक्षुओं का सम्प्रदाय स्थापित किया था उसमें जातिभेद बिल्कुल नहीं माना जाता था। अनिरुद्ध आभधम्मपितक का सबसे बड़ा शिक्षक हुआ। देवदत्त आगे चल कर गौतम विरोधी और मुकाबिला करने वाला हो गया और यह भी कहा जाता है कि उसने मगध के राजकुमार अजातशत्रु को सम्मति दी कि वह अपने पिता बिम्बसार को मार डाले और तब उसने स्वयं गौतम को मार डालने का भी उद्योग किया। (चुल्लवर्ग ७, २-४) परन्तु ये सब दोष जो कि देवदत्त को लगाये जाते हैं ठीक नहीं समझे जाने चाहिए क्योंकि वह गौतम का मुकाबला करने वाला था।

गौतम अपना दूसरा वर्ष अर्थात् बरसात का समय राजगृह में बिता कर कोशलों की राजधानी श्रावस्ती को गया जहाँ कि हम देख चुके हैं कि प्रसेनजित राज्य करता जा। वहाँ बौद्धों को जेतवन का कुंज दिया गया और वहाँ गौतम बहुधा जाकर उपदेश करता था। भारतवर्ष की सब प्राचीन पुस्तकों की भाँति गौतम की शिक्षा सदा जबानी होती थी और लोग स्मरण द्वारा उसे रक्षित रखते थे, यद्यपि उसके समय में लोग लिखना जानते थे।

तीसरा वर्ष भी राजगृह में व्यतीत हुआ और गौतम ने जिस समय अपना धर्म प्रगट किया था उसके चौथे वर्ष उसने गङ्गा को पार किया। वह वैशाली में गया और वहां महावन के कुंज में ठहरा। वहां से ऐसा कहा जाता है कि रोहिणी नदी के पानी के सम्बन्ध में शाक्यों और कोलियनों में जो झगड़ा था उसे निपटाने के लिये उसने एक अद्भुत यात्रा की। आगामी वर्ष में वह फिर कपिलवस्तु को गया और वहां अपने पिता की मृत्यु के समय जो कि ९७ वर्ष की अवस्था में हुई, उपस्थित था।

उसकी विधवा विमाता प्रजापति गौतमी और विधवावत् उसकी स्त्री यशोधरा को अब संसार में कोई बन्धन नहीं थे और उन लोगों ने गौतम के स्थापित हुए आश्रम को ग्रहण करने का अनुरोध किया। गौतम ने अब तक स्त्रियों को इस आश्रम में नहीं लिया था और ऐसा करने में उसकी अनिच्छा थी। परन्तु उसकी माता बड़ी हठी थी और वह वैशाली तक उसके साथ गई और उससे अपने आश्रम में ग्रहण किए जाने की प्रार्थना की।

आनन्द उसकी माता के पक्ष में था परन्तु गौतम ने फिर भी उत्तर दिया "नहीं आनन्द, तुम्हें इससे हर्षित न होना चाहिये कि स्त्रियां भी इस आश्रम में ली जांय।" परन्तु आनन्द ने हठ पूर्वक पूछा—

हे प्रभु, क्या स्त्रियां जब गृहस्थ धर्म को छोड़ दें और बुद्ध के कहे हुए सिद्धान्त और उसकी शिक्षा के अनुसार इस आश्रम को स्वीकार करें तो वे इस योग्य हैं कि धर्म के परिवर्तन अथवा दूसरे मार्ग एवं अरहत होने का फल प्राप्त कर सकें ?

इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता था। भारतवर्ष में स्त्रियों का सत्कार करना सदा से धर्म का एक अंश समझा जाता है और हिन्दू धर्म में स्त्रियां मुक्ति अथवा स्वर्ग को पाने से वंचित नहीं रक्खी गई हैं। अतएव गौतम ने उत्तर दिया "हे आनन्द, वे इस योग्य हैं।" और प्रजापति तथा अन्य स्त्रियां भिक्षुनियों की सम्प्रदाय में ले ली गईं और उनके लिये कुछ नियम बनाये गए जिससे कि वे भिक्षुओं के अधीन थी। (चुल्लवग्ग, १०, १) इसके उपरान्त गौतम प्रयाग के निकट कोशाम्बी में वर्षा ऋतु व्यतीत करने के उपरान्त छठें वर्ष राजगृह को लौटा और वहां उसने बिम्बसार की रानी क्षेमा को अपने आश्रम में ग्रहण किया। कहा जाता है कि उसी वर्ष श्रावस्ती में गौतम ने कई कौतुक दिखलाए और अपनी माता को जो कि उसके जन्म के सात दिन उपरान्त मर गई थी, अपना धर्म सिखलाने के लिये वह स्वर्ग को पधारा।

ग्यारहवें वर्ष में गौतम ने बोनेवाले की कहानी कह कर ब्राह्मण भारद्वाज को अपने धर्म का बनाया जिसका कि वर्णन करने योग्य है।

काशी भारद्वाज के पांच सौ हल, बोने के समय में बंधे हुए थे। वह उस स्थान पर गया जहां कि उसके नौकर गरीबों को भोजन बांट रहे थे और वहां उसने गौतम को भिक्षा के लिये खड़े देखा। इस पर उसने कहा :—

हे सामन ! मैं जोतता हूँ, बोता हूँ और जोत कर मैं खाता हूँ। हे सामन, तुझे भी जोतना बोना चाहिये और जोत बोकर तुझे खाना चाहिये।

भगवत ने कहा हे ब्राह्मण, मैं भी जोतता और बोता हूँ और जोत कर खाता हूँ।

फिर भी हम लोगों को पूज्य गौतम का जुआ अथवा हल, तथा फाल एवं पैना और बैल नहीं दिखई देता। भगवत ने उत्तर दिया "धर्म मेरा बीज है, तपस्या वर्षा है, ज्ञान मेरा जूआ और हल है, विनय मेरे हल का हरिस् अथवा डंडा है, मन मेरा बन्धन है, विचार मेरा फाल और पैना।"

उद्योग मेरा बोझा लादने का पशु है जो कि मुझे निर्वाण को ले जाता है। वह बिना इधर उधर फिरे हुए उस स्थान को ले जाता है जहां जाने से किसी को दुःख नहीं रह जाता।

इस पर ब्राह्मण लज्जित हुआ और कुछ अधिक शिक्षा पाने के उपरान्त गौतम के आश्रम में सम्मिलित हो गया। (सुत्तनिपात काशी भारद्वाजसुत्त)।

दूसरे वर्ष उसने अपने जीवन में सबसे बड़ी यात्रा की और वह मंतल को गया और बनारस हो कर लौटा तब उसने अपने पुत्र राहुल को जो उस समय १८ वर्ष का था, प्रसिद्ध महाराहुलसुत्त का उपदेश दिया। इसके दो वर्ष उपरान्त राहुल ने २० वर्ष का हो कर भिक्षु का आश्रम ग्रहण किया और उसे राहुलसुत्त का उपदेश दिया गया।

दूसरे वर्ष में अर्थात् गौतम के अपने धर्म प्रगट करने के उपरान्त १५ वें वर्ष में वह पुनः कपिलवस्तु में गया और वहां उसने अपने चचेरे भाई महानाम से वार्तालाप किया जो कि शुद्धोदन के उत्तराधिकारी भद्रक के स्थान पर शाक्यों का राजा हुआ था। गौतम के ससुर अर्थात् कोली के राजा सुप्रबुद्ध ने यशोधरा को त्याग करने के लिये गौतम की खुल्लम खुल्ला निन्दा की परन्तु कहा जाता है कि इसके थोड़े ही समय के उपरान्त पृथ्वी उसे निगल गई।

सत्रहवें वर्ष में उसने एक श्रीमती नाम की वेश्या की मृत्यु पर एक व्याख्यान दिया। इसके दूसरे वर्ष उसने एक जुलाहे को संतोष दिलाया जिसकी पुत्री किसी दुर्घटना से मर गई थी। इसके दूसरे वर्ष उसने एक फंदे में फंसी हुई हरिन को छुड़वाया और जो अहेरी उस हरिन को मारना चाहता था उसे अपना अनुयायी बनाया। इसी प्रकार २० वें वर्ष में उसने चलियवन के प्रसिद्ध डाकू अंगुलीमाल को भी अपना अनुयायी बनाया।

इसके उपरान्त २५ वर्षों तक वह गङ्गा की घाटी में घूमता रहा। दुखी और नीच लोगों में उपकार और पवित्र जीवन का उपदेश करता रहा, ऊंच व नीच, धनवान और निर्धन लोगों को वह अपना मतावलम्बी बनाता रहा और सब भूमि में अपने नियमों को प्रकाशित करता रहा। उसके परोपकारी पवित्र जीवन और उसके सहानुभूति के पवित्र धर्म की बड़ी विख्याति हुई। उसे उसके अनुयायी लोग तथा कट्टर हिन्दू लोग दोनों ही सम्मान सत्कार की दृष्टि से देखते थे, जातियां और उनके राजा लोग इस देवतुल्य सुधारक के सिद्धान्तों का सत्कार करते रहे जिसके कार्य, दया और परोपकार से भरे हुए थे। जब गौतम ८० वर्ष की अवस्था में मरा उस समय बौद्ध धर्म ने इस भूमि में वह प्रवलता ग्रहण कर ली थी जो कि किसी सामन, ब्राह्मण अथवा किसी देवता द्वारा भी इस संसार से नहीं हटाई जा सकती थी।

गौतम अपने नए धर्म को प्रकाशित करने के उपरान्त ४५ वर्ष तक जीवित

रहा और उसकी मृत्यु ईसा के ४७७ वर्ष पहले मान लेने से उसके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का क्रम इस प्रकार होगा—

कपिलवस्तु के निकट जन्म...	ईसा के ५५७ वर्ष पहले
यशोधरा से उसका विवाह...	,, ,, ५३८ ,, ,,
उसका घर, स्त्री और पुत्र को छोड़ना	,, ,, ५२८ ,, ,,
उसने बुद्ध गया में सर्वज्ञता प्राप्त की और बनारस में अपना धर्म प्रगट किया	,, ,, ५२२ ,, ,,
वह अपने नगर में गया ..	,, ,, ५२१ ,, ,,
उसके पिता शुद्धोदन की मृत्यु और उसकी सौतेली माता और पत्नी का भिक्षुनी होना	,, ,, ५१७ ,, ,,
उसका पुत्र राहुल भिक्षु हुआ...	,, ,, ५०८ ,, ,,
यशोधरा के पिता की मृत्यु...	,, ,, ५०७ ,, ,,
गौतम की मृत्यु ...	...,, ,, ४७७ ,, ,,

सौभाग्यवश हमें उसकी मृत्यु के पहले की घटनाओं का प्रायः पूर्ण वृत्तान्त दीघनिकाय के महापरिनिब्बाणसूत्त में मिलता है और अब हम इन्हीं बातों का उल्लेख करेंगे।

गौतम की अवस्था अब ८० वर्ष की थी और जिन लोगों में उसने अपनी युवा अवस्था में कार्य किया था वे अब नहीं थे, उसकी युवा अवस्था के परिचित लोगों में से बहुत से मर गये थे और वह वृद्ध महात्मा अब उनके पुत्र और पौत्रों को उन्हीं पवित्र नियमों का उपदेश करता था जिनका उपदेश कि उसने पहले उनके पिता और दादाओं को किया था। उसके बहुत से प्रिय मित्र मर गए थे परन्तु उसका सच्चा मित्र आनन्द अब तक भी छाया की तरह उसका साथ दे रहा था और उसकी आवश्यकताओं का प्रबन्ध करता था। राज्यगृह का वृद्ध राजा भी अब नहीं था, अब उसका लड़का और लालची पुत्र अजातशत्रु मगध की गद्दी पर (कहा जाता है कि अपने पिता को मार कर) बैठा था और अब विजय करने के मनसूबे बांध रहा था। अजातशत्रु का यह सिद्धान्त नहीं था कि वह गौतम के समान इतने प्रसिद्ध और सर्वपूज्य मनुष्य की हानि करे और इस कारण अजातशत्रु उसका कम से कम ऊपर से सत्कार करता था।

प्रबल विज्जैन जाति पर जो कि मगध के सामने गंगा के उत्तरी किनारे पर मैदान में रहती थी, अजातशत्रु का ध्यान पहले पहल गया। ये तूरानी जाति के लोग थे जो कि भारतवर्ष में उत्तरी पर्वतों के मार्ग से आए थे, उन्होंने हिन्दू सभ्यता

के स्वयं केन्द्र में एक प्रकार का प्रजातंत्र राज्य स्थापित कर लिया था और सब मगध को विजय करने का प्रयत्न कर रहे थे। कदाचित् वे लोग उसी यूची ※ जाति के थे जिन्होंने कि चौथी अथवा पांचवीं शताब्दियों के उपरान्त काश्मीर और पश्चिमी भारतवर्ष को जीत लिया था और कनिष्क के आधीन बौद्ध धर्म के बड़े प्रबल सहायक हो गये थे।

अजातशत्रु विदेहिपुत्र :-: ने अपने मन में कहा "मैं इन विज्जेनों को जड़ से निकाल दूंगा यद्यपि वे बड़े प्रबल हैं। मैं इन विज्जेनों को नष्ट कर दूंगा, मैं इन विज्जैनों का सर्व नाश कर डालूँगा।"

गौतम उस समय उन पाँचों पहाड़ियों में से सब से ऊँची पहाड़ी की एक गुफा अर्थात् गृद्धकूट में रहता था जो कि राजगृह की सुन्दर घाटी के निकट है। अजातशत्रु ने जो कि भविष्य वाणी में कुछ विश्वास रखता था, अपने प्रधान मन्त्री वस्सकार को गौतम के पास यह पूछने के लिये भेजा कि विज्जेनों के विरुद्ध इस आक्रमण का किस प्रकार अन्त होगा। गौतम राजाओं का सत्कार करने वाला नहीं था और उसने उत्तर दिया कि जब तक विज्जेन लोग अपनी प्राचीन रीतियों को रखते हुये एका रखेंगे तब तक "हम आशा करते हैं कि उनका पतन नहीं होगा वरन् उनका कल्याण होगा।"

गृद्धकूट से गौतम ने उसके निकट के स्थानों में अर्थात् अम्बलथिका, नालन्द और पाटलीग्राम अर्थात् मगध की राजधानी पाटलीपुत्र में भ्रमण किया। गौतम के समय में यह एक तुच्छ गांव था परन्तु मगध के प्रधान मन्त्री सुनीध और विस्सकार इस पाटली ग्राम में विज्जेनों को निकालने के लिये एक किला बनवा रहे थे। यह उस नगर की उत्पत्ति का कारण है जो कि चन्द्रगुप्त और अशोक की राजधानी हुआ। यह लगभग १०ⴰ० वर्ष तक भारतवर्ष की राजधानी रहा और अब तक भी भारतवर्ष के सबसे बड़े नगरों में गिना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि गौतम ने इस स्थान के प्रसिद्ध होने की भविष्य वाणी की थी। उसने आनन्द से कहा था कि "काम काजी मनुष्यों के प्रसिद्ध निवासों और अड्डों में यह स्थान प्रधान होगा, यह पाटलीपुत्र का नगर होगा जो कि सब प्रकार के व्यवसायों का केन्द्र होगा।"

※ बील साहब की "बुद्धिज्म इन चाइना" नामक पुस्तक का ४३ वां पृष्ठ देखो।

:-: इस नाम से यह प्रगट होता है कि इस राजा की माता प्राचीन विदेह वंश की कन्या थी। उस समय में लोग बहुधा अपनी माता के नाम से पुकारे जाते थे और तदनुसार गौतम का प्रसिद्ध चेला उपतिस्स सारिपुत्र के नाम से सुप्रसिद्ध था।

अजातशत्रु के मन्त्री वस्सकार और सुनीध ने यहाँ गौतम को निमन्त्रण दिया, उसे भात और मीठी चपातियाँ परोसी गईं और इसके उपरान्त गौतम वहाँ से चला गया। कहा जाता है कि उसने गंगा को जो कि उस समय भरपूर बढ़ी हुई थी एक कौतुक से अर्थात् किसी नाव बेड़े को न लेकर यों ही पानी पर चलकर पार किया।

तब वह कोटिग्राम में गया और वहाँ से नादिक में जहाँ कि वह उस ईंट के बने घर में ठहरा जो कि यात्रियों के ठहरने की जगह थी। वहाँ पर उसने आनन्द को वह सारगर्भित उपदेश दिया जिसके द्वारा प्रत्येक चेला यह स्वयं जान सकता था कि उसने निर्वाण प्राप्त किया अथवा नहीं। यदि उसे यह ज्ञान हो और यदि वह अपने मन में इसे मालूम कर सके कि बुद्ध में उसका विश्वास है और उसके संघ में उसका विश्वास है तो उसकी मुक्ति हो गई। बुद्ध, धर्म, और संघ ये ही बुद्ध धर्म के तीन मुख्य सिद्धान्त हो गये।

नादिक से गौतम वैशाली में आया जो कि गङ्गा के उत्तर प्रबल लिच्छवि लोगों की राजधानी है। अम्बपाली नामक एक वेश्या ने सुना कि यह महात्मा यहाँ आया है और उसकी आम के बाग में ठहरा है। वह उसके पास गई और उसने उसे भोजन के लिये निमन्त्रित किया और गौतम ने उसका निमन्त्रण स्वीकार किया।

अब वैशाली के लिच्छवि लोगों ने सुना कि बुद्ध वैशाली में आया है और अम्बपाली की बाड़ी में ठहरा है। उन लोगों ने बहुत सी सुन्दर गाड़ियाँ तैयार करवाईं और उनमें से एक पर चढ़ कर वे अपने मनुष्यों के सहित वैशाली को गये। उनमें से कुछ काले, रङ्ग के और काला कपड़ा और आभूषण पहिने हुए थे, कुछ लोग गोरे, सफेद रङ्ग के उज्वल वस्त्र और आभूषण पहिने हुये थे, कुछ लोग लाल थे और लाल रङ्ग के वस्त्र तथा लाल आभूषण पहने हुये थे, तथा कुछ लोग सुन्दर रङ्ग के और सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने हुये थे।

अम्बपाली युवा लिच्छवियों के बराबर, उनके पहिये के बराबर अपना पहिया, उनके धुरे के बराबर अपना धुरा और उनके जोते के बराबर अपना जोता किये हुये रथ हाँक रही थी। लिच्छवि लोगों ने अम्बपाली वेश्या से पूछा कि अम्बपाली ! यह क्या बात है कि तू हम लोगों के बराबर अपना रथ हाँक रही है ?

उसने उत्तर दिया "मेरे प्रभु, मैंने बुद्ध और उसके साथियों को कल भोजन के लिये निमन्त्रण दिया है।"

उन लोगों ने कहा "हे अम्बपालि, हम लोगों से एक लाख रुपया लेकर यह भोजन हमें कराने दे।"

मेरे प्रभु ! यदि मुझे आप सब वैशाली तथा उसके आधीन का राज्य भी दे दें तब भी मैं ऐसा नहीं होने दूँगी।

तब लिच्चवि लोगों ने यह कह कर अपना हाथ पटका कि हम लोग इस अम्बपाली लड़की से हरा दिये गए, यह अम्बपाली लड़की हम लोगों से बढ़ गई और यह कहकर वे अम्बपाली की बाड़ी तक गए।

वहाँ उन लोगों ने गौतम को देखा और कल के दिन उसे भोजन के लिये निमन्त्रित किया परन्तु गौतम ने उत्तर दिया कि "हे लिच्छवियों मैंने कल के लिये अम्बपाली वेश्या का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है।" अम्बपाली ने गौतम और उसके साथियों को मीठा चावल और चपातियाँ खिलाई और उनकी सेवा में उपस्थित रही। यहाँ तक कि उन लोगों ने कहा कि वे लोग अधिक नहीं खा सकते। तब उसको शिक्षा और उपदेश दिया गया, अम्बपाली ने कहा—"हे प्रभु मैं यह महल भिक्षुओं के सम्प्रदाय के लिये देती हूँ जिसका कि नायक बुद्ध हैं" और यह दान स्वीकार किया गया।

अम्बपाली की बाड़ी से गौतम बेलुव को गया। उसने अपनी मृत्यु निकट आते देखी और अपने सच्चे मित्र आनन्द से कहा—"अब मैं वृद्ध और बहुत वर्षों का हो गया हूँ, मेरी यात्रा समाप्त होने आई है, मेरे दिन अब पूरे हो गये हैं, मेरी अवस्था ८० वर्ष की हो गई है...अतएव हे आनन्द ! तुम लोग स्वयं अपने रक्षक हो। किसी बाहरी रक्षक की शरण मत लेना, प्रकाश की भाँति सत्य में दृढ़ रहना, रक्षक की भाँति सत्य में दृढ़ रहना।

चापाल चेतिय में गौतम ने एक व्याख्यान दिया है जिसमें उसने चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है अर्थात् अमीर लोग, ब्राह्मण लोग, गृहस्थ और सामन एवं चार ही प्रकार के फरिश्तों को लिखा है अर्थात् फरिश्ते, बड़े तेंतीस मार और ब्रह्मा।

कूटगार में गौतम ने एक बार फिर अपने चेलों को अपने धर्म का मूल तत्व सार बतलाया और उनसे उनका अभ्यास और उन पर विचार करने के लिये एवं उनको फैलाने के लिये कहा जिसमें कि पवित्र धर्म बहुत काल तक ठहरे एवं सदा के लिये दृढ़ हो जाय और जिसमें वह बहुत लोगों के लिये भलाई और सुख का कारण हो।

वैशाली में अन्तिम बार आकर वह पुनः भण्डग्राम, हस्तिग्राम, अम्बग्राम, जम्बुग्राम, और भोगनगर में घूमा और तब पावा को गया। वहाँ चुन्द ने जो कि

सोनार और लोहार था उनको भोजन के लिये निमन्त्रित किया और उसे मीठा चावल, चपातियाँ और कुछ सुखाया हुआ सूअर का मास दिया। गौतम दरिद्रों की दी हुई वस्तुओं को कभी अस्वीकार नहीं करता था। परन्तु सूअर का मास उस की इच्छा के विरुद्ध था। अब जब कि बुद्ध ने धातु के काम बनाने वाले चुन्द का का बनाया हुआ भोजन खाया तो उसे एक भयानक रोग अर्थात् अतिसार का रोग हुआ और मृत्यु के समय तक भी उसे बड़ी पीड़ा होती रही। परन्तु बुद्ध ने जो कि सचेत और बड़ा संयमी था उसे बिना किसी खेद के सहन किया। पावा से उसी नगर को जाते समय मार्ग में गौतम ने एक नीच जाति के मनुष्य पुक्कुस को बौद्ध बनाया। कुसि नगर में जो कि कपिलवस्तु से ८० मील पूरब है, गौतम को विदित हुआ कि उसकी मृत्यु निकट है। जिस रात को मृत्यु होने वाली थी उसी संध्या को उसने सहानुभूति के साथ अपने चेलों के हृदय पर यह बात जमाने का यत्न किया कि चुन्द ने जो भोजन दिया था उसके लिये वह दोषी नहीं है, परन्तु उसने वह अनुग्रह के साथ दिया था अतएव वह जीवन की बृद्धि, अच्छे जन्म और अच्छे भाग्य को पावेगा।

कहा जाता है कि उसकी मृत्यु के पहले वृक्षों में बिना ऋतु के फूल लगे और उस पर फूलों की वृष्टि हुई, उसके ऊपर स्वर्ग के फूल और चन्दन का चूरा बरसा और आकाश से गाने और स्वर्ग के गीतों का शब्द सुनाई दिया। परन्तु पवित्र जीवन के इस बड़े धर्म प्रचारक ने कहा—"हे आनन्द इस प्रकार से तथागत (बुद्ध) का ठीक तरह से आदर सत्कार अथवा उसकी पूजा नहीं होती। परन्तु वह जो कि बराबर अपने सब छोटे और बड़े धर्मों का पालन करता है। जिसका जीवन ठीक है, जो आज्ञाओं के अनुसार चलता है वही तथागत को सबसे योग्य सत्कार के साथ मानता, सत्कार करता और उसकी पूजा करता है।" इन उत्तम वाक्यों से किसको बाइबिल के पवित्र वाक्यों का स्मरण नहीं आता जिसे कि एक इसाई कवि ने यों छन्दोबद्ध किया है।

But thou hast said, the flesh of goat,
The blood of ram, I would not prize,
A contrite, heart, an humble thought·
Are my accepted sacrifice.

जिस रात्रि को गौतम मरा उस रात्रि को कुसीनगर का एक दर्शन शास्त्रज्ञ ब्राह्मण सुभद्र कुछ प्रश्न पूछने आया परन्तु आनन्द इस डर के मारे उसे नहीं आने

देता था कि यह मृत्युशय्या पर पड़े हुए बुद्ध को बड़ा दुःखदाई होगा। परन्तु गौतम ने उन लोगों की बातें सुन ली थीं और वह ऐसे मनुष्य को वापस नहीं भेज सकता जो कि शिक्षा के लिये आया था। उसने आज्ञा दी कि ब्राह्मण यहां आने पावे और अपने मरते दम से उसने उसे अपने धर्म के सिद्धान्त सिखलाए। सुभद्र गौतम का अन्तिम चेला तथा था और कुछ ही समय के बाद रात्रि के पहर में इस बड़े महात्मा ने अपने भाइयों को यह सत्योपदेश करते हुए इस जीवन को त्याग दिया कि "सब एकत्रीतभूत वस्तुओं का नाश स्वाभाविक है, परिश्रम के साथ अपनी मुक्ति को पाने का यत्न करो।"

कुसीनगर के मल्लों ने गौतम के शरीर का दाह किया और उसकी हड्डियों को अपने भवन में भालों और धनुषों से घेर कर रक्षित रक्खा और वहां सात दिन नाच और गाने तथा मालाओं और सुगन्धि से उनका सत्कार तथा पूजन किया।

कहा जाता है कि गौतम की हड्डियों के आठ भाग किए गए। मगध के अजातशत्रु ने एक भाग पाया और उस पर राजगृह में एक इमारत बनवाई। बैशाली के लिच्छवियों ने दूसरा भाग पाया और उस पर उस नगर में एक इमारत बनवाई गई। इसी प्रकार कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने, रामग्राम के कोलियों ने, पावा के मल्लों ने, कुसीनगर के मल्लों ने और एक ब्राह्मण वेथदीपक ने उसके एक-एक भाग पाए और उन पर इन सभों ने इमारतें बनवाईं। पिप्फलिवन के मोरियन लोगों ने जिन लकड़ियों से वह जलाया गया था उसके शेष भाग पर और ब्राह्मण दोन ने उस बर्तन पर जिस पर कि उसकी देह जलाई गई थीं, इमारतें बनवाईं।

उनतीसवाँ अध्याय

गौतम बुद्ध के सिद्धान्त

यह सम्भव नहीं है कि हम केवल एक अध्याय में अपने पाठकों को उस धर्म के सिद्धान्तों का पूरा सारांश दे सकें जो कि इतने अधिक प्रसिद्ध और योग्य विद्वानों के लिये कठिन और विद्वत्तापूर्ण खोज का विषय हो रहा है। यहां पर हमारा उद्देश्य केवल उन शिक्षाओं और विचारों के सार श के देने का होगा जिनकी शिक्षा गौतम अपने देश वासियों को देता था।

बौद्ध धर्म्म का सारांश एक प्रकार की आत्मोन्नति और आत्मनिरोध है। इस मत में सिद्धान्त और विश्वास अप्रधान अंग हैं। गौतम ने जिस दिन बुद्ध गया में जिस वृक्ष के नीचे सर्वज्ञता प्राप्त की थी, उस दिन उसके हृदय में जो मुख्य विचार उठा था वह क्षोभ और कामनाओं से रहित पवित्र जीवन निर्वाह करने से मनुष्यों के दुःखों को दूर करने का था और इसी मुख्य विचार की शिक्षा उसने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक दी।

जब वह बुद्ध गया से बनारस गया और वहाँ अपने पाँचों पुराने चेलों को उसने अपने धर्म की शिक्षा दी तो उसने उन्हें चारों सत्य और आठो मार्ग बतलाए जो कि बौद्ध धर्म के सार हैं।

"हे भिक्षुओं! यह दुःख का उत्तम सत्य है। जन्म दुःख है, नाश दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं उनका उपस्थित होना दुःख है, जिन वस्तुओं की हम अभिलाषा करते हैं उनका न मिलना दुःख है। सारांश यह कि जीवन की पांचों कामनाओं में लगे रहना (अर्थात् पांचों तत्वों में लिप्त रहना), दुःख है।

"हे भिक्षुओं! दुःख के कारण का उत्तम सत्य यह है। लालसा पुनर्जन्म का कारण होती है जिसमें कि सुख और लालच होते हैं और जो इधर-उधर शान्ति पाता है—यह लालसा तीन प्रकार की होती हैं अर्थात् सुख की लालसा, जीवन की लालसा और फलने फूलने की लालसा। हे भिक्षुओं! दुःख के दूर होने का उत्तम सत्य यह है। वह लालसा के पूर्ण निरोध से समाप्त होता है। यह निरोध किसी

कामना की अनुपस्थिति से, लालसा को छोड़ देने से, लालसा के बिना कार्य चलाने से, उससे मुक्ति पाने से और कामना का नाश करने से होता है।

यह उस मार्ग का उत्तम सत्य है जिससे कि दुःख दूर होता है। वह पवित्र आठ प्रकार का मार्ग यह है अर्थात्—

सत्य विश्वास
सत्य कामना
सत्य वाक्य
सत्य व्यवहार
जीवन निर्वाह करने के सत्य उपाय
सत्य उद्योग
सत्य विचार
सत्य ध्यान (महावग्ग १,६)

इस शिक्षा का सारांश यह है कि जीवन दुःख है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःख का कारण है, उस लालसा के मर जाने से दुःख का अन्त हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा मर सकती है। इन आठ विधियों में जिनमें कि पवित्र जीवन विभाजित किया गया हैं, जो जो बातें भरी हुई हैं उनका वर्णन कुछ शब्दों में करना असम्भव है, परन्तु उन बौद्धों के लिये जो कि अपने धर्म की कथाओं में शिक्षित हैं, ये आठों विधियां कई ग्रन्थों के बराबर हैं। शुद्ध विचार और विश्वास को सीखना और उनका सत्कार करना चाहिये, उच्च उद्देश्य और कामनाएँ हृदय के नेत्र के सामने सदा उपस्थित रहनी चाहिये, जो वाक्य बोले जांय उनमें से प्रत्येक शब्द में सत्यता और सुशीलता होनी चाहिए और व्यवहार में सत्यता पूर्ण शुद्धता होनी चाहिये। जीवन का उपाय इस प्रकार ढूँढ़ कर ग्रहण करना चाहिये जिससे कि किसी जीवित अथवा सचेतन प्राणी को कोई कष्ट न हो, भलाई करने में, तथा दया सुशीलता और परोपकार के कार्यों में जीवन के अन्त तक निरन्तर उद्योग करना चाहिये। मन और बुद्धि-संचेतन और कार्य तत्पर होनी चाहिए, शान्त और धीरे विचार से जीवन को सुख प्राप्त होता है। यह कामना, मनःक्षोभ और जीवन की लालसा को जीतने का मार्ग है। इससे अधिक उत्तम जीवन का चित्र किसी कवि अथवा मनमौजी ने कभी नहीं सोचा और आत्मोन्नति का इससे अधिक पूर्ण मार्ग किसी दर्शनसास्त्रज्ञ अथवा महात्मा ने कभी नहीं प्रकाशित किया।

आत्मोन्नति का विचार, उस ध्यान के बड़े और प्रयोगिक समय में जिसमें कि गौतम ने अपना जीवन व्यतीत किया, निस्सन्देह सुधारा गया। अपनी मृत्यु के

दिन उसने अपने भाइयों को बुलाया और आत्मोन्नति के पूरे मार्ग को सात भागों में करके संक्षेप में फिर व्याख्यान दिया और ये सातों बौद्ध धर्म के सात रत्न कहे जाते हैं।

हे भाइयों! तब वे सत्य कौन हैं जिनको कि मैंने मालूम करके तुमसे प्रगट किया और जिनको कि तुम लोगों ने उन्हें अच्छी तरह जान लिया, अभ्यास करना, उन पर विचार करना, और उनका प्रचार करना तुम्हारे लिये आवश्यक है, जिसमें कि वह पवित्र धर्म अधिक समय तक ठहरे और चिरस्थायी हो जाय, जिसमें कि वह बहुत से लोगों के सुख और भलाई के लिये, संसार की दया के लिये, मनुष्य और देवताओं की भलाई और लाभ सुख के लिये, स्थिर रहे?

वे ये हैं—

चारो सच्चे ध्यान,

पाप के विरुद्ध चारो प्रकार के बड़े प्रयत्न,

महात्मा होने के चारो मार्ग,

पांचो धार्मिक शक्तियां,

आत्मीय ज्ञान की पांचों इन्द्रियां,

सातो प्रकार की बुद्धि और

उत्तम आठ प्रकार का मार्ग (महापरिनिब्बानसुत्त ३, ६५)

यहाँ भी इन सब शिक्षा के नियमों में जो विचार भरे हुए हैं उनका यथार्थ ज्ञान कुछ शब्दों में देना असम्भव है, इस शिक्षा के विषय पर एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। जिन चारों सच्चे ध्यानों का उल्लेख है वे देह, ज्ञान, विचार और कारण के विषय में हैं। चारों पापों के विरुद्ध जिस प्रयत्न का उल्लेख है वह पाप को रोकने का प्रयत्न, पाप की जो अवस्थाएँ उठती हैं उनको रोकने का प्रयत्न, भलाई करने का प्रयत्न, और भलाई को बढ़ाने का प्रयत्न है। वास्तव में इन चारों प्रयत्नों से पापी के सारे जीवन तक अधिक भलाई करने के लिये सच्चा और निरन्तर उद्योग करने का तात्पर्य है। महात्मा होने के चारों मार्ग वे हैं जिनसे कि इद्धि अर्थात् इच्छा प्रयत्न, तैयारी और खोज प्राप्त होती है। उत्तर काल के बौद्ध धर्म में इद्धि का तात्पर्य अमानुषिक शक्तियों से है परन्तु गौतम का तात्पर्य सम्भवतः उस प्रभाव और शक्ति से था जिसे कि बहुत समय तक शिक्षा और अभ्यास के द्वारा मन इस देह के ऊपर प्राप्त कर सकता है। पांचों धार्मिक शक्तियां और आत्मीय ज्ञान की शक्तियां ये हैं—विश्वास, पराक्रम, विचार, ध्यान और बुद्धि, और सात प्रकार की बुद्धियां ये हैं--शक्ति, विचार, ध्यान, खोज, आनन्द, आराम और शान्ति। आठ प्रकार के मार्ग का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

इस प्रकार की विस्तृत आत्मोन्नति के द्वारा दसों बन्धनों अर्थात् सन्देह कामाशक्ति इत्यादि को तोड़ने से अन्त में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

जिसने अपनी यात्रा समाप्त कर ली है और शोक को छोड़ दिया है, जिसने अपने को सब ओर से स्वतन्त्र कर लिया है और जिसने सब बन्धनों को तोड़ डाला है उसके लिये कोई दुःख नहीं है।

वे लोग अपने विचारों को भली प्रकार संग्रह करके बिदा होते हैं, वे अपने घर में सुखी नहीं रहते, उन राजहंसों की तरह जिन्होंने कि अपनी झील को छोड़ दिया है वे लोग अपना घर द्वार छोड़ देते हैं।

उसका विचार शान्त है, उसका वचन और कर्म शान्त है जो कि सच्चे ज्ञान के द्वारा स्वतन्त्र हो गया है और जो कि शान्त मनुष्य हो गया है।" (धर्मपद ९०, ९१, ९६)

यह बहुधा विश्वास किया जाता था कि निर्वाण का अर्थ अन्तिम नाश अथवा मृत्यु से है और प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने इस बात को पहले पहल दिखलाया था और उसे अब बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है कि निर्वाण का अर्थ मृत्यु से नहीं है परन्तु उसका तात्पर्य मन की उस पापी अवस्था, जीवन और उसके सुखों की लालसा के नाश होने से है जिससे कि नया जन्म हो जाता है। गौतम का निर्वाण से जो तात्पर्य था वह जीवन में ही प्राप्त हो सकता है। उसे उसने अपने जीवन में प्राप्त किया था, वह वही मन की पाप रहित शान्त अवस्था, अभिलाषाओं और क्षोभ से मुक्ति, पूर्ण शान्ति भलाई और ज्ञान की अवस्था है जो कि निरन्तर आत्मोन्नति करने से मनुष्य को प्राप्त होती है। राइज़ डेविड्ज़ साहब कहते हैं कि "बौद्धों का स्वर्ग मृत्यु नहीं है और पितकों में परमानन्द की जिन अवस्थाओं का वर्णन है (जो अरहतों को प्राप्त हैं) वे मृत्यु के उपरान्त नहीं प्राप्त होतीं परन्तु यहीं और इसी समय धार्मिक जीवन व्यतीत करने से मिलती हैं।

परन्तु जिन लोगों ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है उनके लिये यहाँ और इस समय धार्मिक जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त, क्या भविष्य में कोई सुख और कोई स्वर्ग नहीं है? यह एक ऐसा प्रश्न था जो कि बौद्धों को बहुधा चक्कर में डालता था और वे अपने स्वामी से इसके स्पष्ट उत्तर के लिये बहुधा अनुरोध करते थे। इस विषय में गौतम के उत्तर सन्दिग्ध हैं और उसने अपने अनुयायियों को निर्वाण के अतिरिक्त, जो कि बौद्धों के लिये स्वर्ग और मुक्ति है, किसी अन्य स्वर्ग की आशा देकर कभी उत्तेजित नहीं किया।

मलूक्यपुत्त ने गौतम से इस विषय पर अनुरोध किया था और उसने यह बात

निश्चय रूप से जाननी चाही थी कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है अथवा नहीं। गौतम ने पूछा "क्या मैंने यह कहा था कि हे मलूक्यपुत्त आओ और हमारे चेले हो और हम तुमको यह बतलावेंगे कि संसार नित्य है अथवा अनित्य है?" "मलूक्यपुत्त ने उत्तर दिया "महाशय यह आपने नहीं कहा था।" गौतम ने कहा "तब इस प्रश्न के उत्तर पर अनुरोध मत करो। यदि कोई मनुष्य जिसको कि जहरीली वाण लग गई हो अपने वैद्य से कहे 'मैं अपने घाव की औषधि नहीं होने दूँगा जब तक कि मुझे यह विदित न हो कि मुझे किस मनुष्य ने मारा है और वह क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र है?' तो उसका कैसा अन्त होगा? वह घाव से मर जायगा इसी प्रकार वह मनुष्य भी मरेगा जिसने कि सर्वज्ञता और पवित्र जीवन के लिये इस कारण उद्योग नहीं किया। क्योंकि वह यह नहीं जानता कि मृत्यु के उपरान्त क्या होगा। इस कारण हे मलूक्यपुत्त जो कुछ मैंने प्रगट नहीं किया उसे अप्रगट रहने दो और जो कुछ मैंने प्रगट किया है उसे प्रगट रहने दो।" (चूल-मलूक्य-ऊवाद, मंझिम निकाय)

इसी प्रकार यह कहा जाता है कि कोशल के राजा प्रसेनजित अपने दो प्रधान नगरों के बीच अर्थात् साकेत से श्रावस्ती की यात्रा में क्षेमा भिक्षुनी से मिला जो कि अपनी बुद्धि के लिये प्रसिद्ध थी। राजा ने उसका सत्कार किया और पूछा "हे पूज्य महाशया क्या पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है?" उसने उत्तर दिया हे महाराजा! बुद्ध ने यह प्रगट नहीं किया कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है।" राजा ने पूछा "हे पूज्य महाशया तब क्या पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त नहीं रहता।" परन्तु क्षेमा ने इसका भी उत्तर यही दिया कि "हे महाराजा? बुद्ध ने यह भी प्रगट नहीं किया कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु नहीं रहता।" (सम्युत्तनकाय)

इन वाक्यों से विदित होगा कि गौतम के धर्म में निर्वाण के उपरान्त की बातों पर विचार नहीं किया गया है ❀। गौतम का उद्देश्य स्पष्ट है। वह सब मनुष्यों को आत्मोन्नति द्वारा अपने दुःखों का नाश करने के लिये, भविष्य में दुःख की अवस्थाओं से बचने के लिये और संसार में पवित्र सुख और पूर्ण पाप रहित अवस्था जो निर्वाण कहलाती है, प्राप्त करने के लिये बुलाता था।

❀ डाक्टर ओडेनवर्ग साहब ने इस प्रश्न पर पूरी तरह से वादविवाद किया है। उसे देखिये उस विद्वान ने बौद्ध नियमों की सब पुस्तकों को ध्यानपूर्वक परीक्षा करके अपनी सम्मति लिखी है।

यदि कोई मनुष्य निर्वाण की इस अवस्था को जीवन में प्राप्त न करे तो उसका पुनर्जन्म होने योग्य है। गौतम आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता था परंतु फिर भी आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुओं के मन में इतना अधिक धंस गया था कि वह निकाला नहीं जा सकता था और इस कारण गौतम पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ग्रहण करता हुआ भी आत्मा के सिद्धान्त को नहीं मानता था। परन्तु यदि आत्मा ही नहीं है तो वह क्या वस्तु है जिसका पुनर्जन्म होता है? इसका उत्तर कर्म सम्बन्धी बौद्ध सिद्धान्त में दिया है।

यह सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के कर्म का नाश नहीं हो सकता और उसका यथोचित फल अवश्य होता है। जब कोई जीवित मनुष्य मर जाता है तो उस मृत मनुष्य के कर्मों के अनुसार एक नये मनुष्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह धार्मिक बुद्ध यद्यपि आत्मा को नहीं मानता है परन्तु यह इस बात को मानता है कि उसके जीवन की अवस्था उसके पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा निश्चित होती है। सब बौद्ध ग्रन्थकारों ने एक जन्म से दूसरे जन्म के सम्बन्ध का उदाहरण एक दीए की टेम से दिया है जिससे कि दूसरे दिए की टेम जला ली जाती है। यदि कोई निर्दोषी मनुष्य इस संसार में दुःख पाता है तो वह कहता है "यह मेरे ही कर्मों का फल है इसके लिये मुझे शिकायत क्यों करनी चाहिये ?" परन्तु यदि आत्मा ही नहीं है तो दुःख पाने वाले मनुष्य और मरे हुये मनुष्य में समानता कहाँ है ? बौद्ध लोग इसका यों उत्तर देते हैं "समानता केवल उसमें रहती है जो कि मनुष्य के मर जाने और अणु में गल जाने के उपरान्त भी शेष रहता है अर्थात् उसके कार्यों, विचारों वाणी और उसके कर्म में, जो कि मर नहीं सकते।"

यह बहस हम लोगों को व्यावृत्तिक तर्क के समान जान पड़ती है परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त में एक बात है जिसे कि आज कल के सामाजिक दर्शनशास्त्रज्ञ ठीक कहेंगे। बौद्धों की भाँति आज कल के दर्शनशास्त्रज्ञों का भी यह विचार है कि प्रत्येक पीढ़ी अपनी पूर्व पीढ़ी के पुण्य और पापों के फलों को भोगती है और इस अर्थ में कोई जाति जैसा बोती है वैसा काटती है।" बौद्ध महात्मा अपने आत्म निग्रह की पवित्रता को उस निश्चय सुख की लालसा के द्वारा नष्ट नहीं करता जो कि उसको मृत्यु के उपरान्त मिलेगा। उसका ज्ञान नहीं रह जायगा परन्तु उसके पुण्य रहेंगे और वे प्राणियों के दुःख को घटाने में अपने पूरे प्रभाव से कार्य करेंगे।"

परन्तु गौतम ने केवल पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ही प्राचीन हिन्दू धर्म से लेकर अपने धर्म में एक सुधार किये हुये रूप में नहीं रक्खा है। उसने उस समय के समस्त हिन्दू देवताओं को भी उसी तरह स्वीकार किया है और अपने मुख्य विचार

अर्थात् पवित्र जीवन को सर्वोच्च शक्ति के अनुकूल होने के लिये उन्हें इसी भाँति परिवर्तित किया है। उसने ऋग्वेद के तीनों देवताओं को माना है परन्तु उन्हें सर्व-प्रधान नहीं माना। वह उपनिषदों के सर्वप्रधान देवता ब्रह्मा को मानता है परन्तु सर्वप्रधान की भाँत नहीं। क्योंकि वे भी बार-बार जन्म लेते हुये उस पवित्र जीवन अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं जो कि सर्व श्रेष्ठ अवस्था है। किसी मनुष्य ने कभी शुद्धता और पवित्रता को देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठता देने का कभी यत्न नहीं किया अर्थात् जो भलाई मनुष्य कर सकता है उसे उसने देव-ताओं और सृष्टि की अज्ञात शक्तियों से भी अधिक बढ़ा दिया है।

परन्तु यह कहना आवश्यक है कि इस बात में सन्देह है कि गौतम स्वयं हिन्दू देवताओं को मानता था अथवा नहीं। यह बात असम्भव नहीं है कि जिन लोगों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था उनकी भाषा से देव, गन्धर्व और ब्रह्मा अब तक जुदा न हुये हों।

जाति के सम्बन्ध में गौतम ब्राह्मण का उसी भांति सत्कार करता था जैसा कि बौद्ध श्रामन का। परन्तु वह ब्राह्मण का सत्कार उसके गुण और विद्या के लिये करता था, उसकी जाति के लिये नहीं, क्योंकि जाति को वह नहीं मानता था। दो ब्राह्मण युवा वशिष्ठ और भरद्वाज इस बात पर लड़ने लगे कि "कोई ब्राह्मण कैसे होता है" और गौतम के पास उसकी सम्मति के लिए आए तो गौतम ने एक व्याख्यान दिया जिसमें उसने जोर दे कर जाति भेद को नहीं माना और कहा कि मनुष्यों का गुण उनके कार्य से है उनके जन्म से नहीं। उसने कहा घास, वृक्ष, कीड़े मकोड़े, चीटियां चौपाए सांप, मछलियां और चिड़ियां सब के भेद हैं और वे अपने गुणों द्वारा जाने जाते हैं। मनुष्य का भी गुण है और वह इसका कार्य है।

क्योंकि हे वशिष्ठ! जो मनुष्य गाय रख कर जीवन निर्वाह करता है वह किसान कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।

और जो मनुष्य भिन्न-भिन्न के शिल्प के कार्य करके जीवन निर्वाह करता है वह शिल्पकार कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।

और जो मनुष्य वाणिज्य के द्वारा जीवन निर्वाह करता है वह वणिक् कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।

और जो मनुष्य दूसरे की सेवा करके जीवन निर्वाह करता है...वह सेवक है, ब्राह्मण नहीं।

और जो मनुष्य चोरी करके जीवन निर्वाह करता है...वह चोर है, ब्राह्मण नहीं।

और जो मनुष्य धनुर्विद्या से जीवन निर्वाह करता है...वह सिपाही है, ब्राह्मण नहीं।

और जो मनुष्य गृहस्थी के विधानों को करके जीवन निर्वाह करता है... वह यज्ञ करने वाला है, ब्राह्मण नहीं।

और जो मनुष्य गांवों का स्वामी है...वह राजा है, ब्राह्मण नहीं।

और मैं किसी को उसके जन्म अथवा किसी विशेष माता से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण नहीं कहता, वह भूपति कहा जा सकता है और वह धनाढ्य हो सकता है परन्तु मैं ब्राह्मण उसे कहता हूँ जिसके पास कुछ न हो और जो किसी वस्तु की लालसा न करे...

जो मनुष्य क्रोध से रहित है, पवित्र कार्य और पुण्य करता है, कामना से रहित है, जिसने इन्द्रियों का दमन किया है और अपना अन्तिम शरीर धारण किया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जो मनुष्य जल में कमल की तरह, अथवा सूई के नोक पर सरसों की तरह इन्द्रियों के सुख में नहीं लिपटता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" (वासेत्थसुत्त)

इसी भांति मज्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में लिखा है कि एक प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान अस्सलायन गौतम के इस मत पर विवाद करने के लिये आया कि सब जातियां समान रीति से पवित्र हैं। गौतम ने जो कि तार्किकों के साथ उन्हीं के शास्त्रों से लड़ सकता था, पूछा कि क्या ब्राह्मण की स्त्रियों को अन्य स्त्रियों की तरह प्रसव की सब कठिनाईयाँ नहीं होतीं। अस्सलायन ने उत्तर दिया "हां होती हैं।" गौतम ने पूछा "क्या बॅक्ट्रिया की तरह आस पास के देशों के लोगों में रंग का भेद नहीं होता और फिर भी उन देशों में क्या गुलाम मालिक नहीं हो सकते और मालिक गुलाम नहीं हो सकते?" अस्सलायन ने उत्तर दिया "हां, हो सकते हैं।" गौतम ने पूछा "तब यदि ब्राह्मण घातक, चोर, लम्पट, झूठा, कलङ्क लगाने वाला, बोलने में कडुआ और तुच्छ, लालची, द्रोही और मिथ्या सिद्धान्त का हो तो क्या वह मृत्यु के उपरान्त दूसरी जाति की तरह दुःख और कष्ट में जन्म नहीं लेगा?" अस्सलायन ने कहा "हाँ" और उसने यह भी स्वीकार किया कि बिना जाति का विचार किए हुए अच्छे कर्मों से स्वर्ग अवश्य मिलेगा। गौतम ने फिर भी यह बहस की कि यदि किसी घोड़ी का किसी गदहे के साथ संयोग हो जाय तो उसकी सन्तान खच्चर होगी। परन्तु क्षत्रिय और ब्राह्मण के संयोग से जो सन्तान होती है वह अपने मां, बाप की तरह होती है और इसलिये यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय में कोई भेद नहीं है! इस प्रकार के तर्क से गौतम ने युवा

तार्किक के हृदय में उस सत्य को जमा दिया और वह "वहां चुपचाप दुखी, नीची दृष्टि किए हुए सोचता हुआ बैठा रहा और उत्तर न दे सका" और तब वह गौतम का चेला हो गया।

दूसरे समय में गौतम ने अपने साथियों को समझाया है "हे शिष्यों जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियाँ, वे चाहे कितनी बड़ी क्यों न हों, यथा गंगा, यमुना, असि-रावति, सरयू और महि, जब समुद्र में पहुँचती हैं तो वे अपना पुराना नाम और पुरानी उत्पत्ति को छोड़ कर केवल एक नाम अर्थात् समुद्र के नाम से कहलाती हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य भी जब वे भिक्षु हो जाते हैं तो उनमें भेद नहीं रह जाता और हम जानते हैं कि इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में कार्य भी किया जाता था क्योंकि जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि उपाली हज्जाम ने भिक्षु धर्म को स्वीकार किया और वह बौद्ध भिक्षुओं में एक बड़ा पूज्य और विद्वान हो गया। एक हृदय भेदक कथा थेर गाथा में लिखी है जिससे हम लोग यह समझ सकते हैं कि बौद्ध धर्म भारतवर्ष में नीच लोगों के लिये कैसा उत्तम था और वे उसे जाति भेद के अन्याय से रक्षा पाने के लिये कैसी उत्सुकता से स्वीकार करते थे। थेर सुनीत्त कहता है "मैं एक नीच वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं गरीब और कंगाल था। मैं नीच कर्म कर करता अर्थात् सूखे हुए फूलों को झाड़ने का कार्य करता था। मुझसे लोग घृणा करते थे और तुच्छता तथा असत्कार की दृष्टि से देखते थे। मैं बहुतों का आज्ञाकारी की दृष्टि से सत्कार करता था। तब मैंने बुद्ध को भिक्षुओं के सहित उस समय देखा जब कि मगध के सब से प्रधान नगर में जा रहा था। तब मैंने अपना बोझा फेंक दिया और दौड़ कर उसके पास जाकर सत्कार के साथ दण्डवत की। मेरे पर दया करके वह सर्वोच्च मनुष्य ठहरा। तब मैंने अपने को उसके चरणों पर गिरा दिया और तब प्राणियों में उस सर्वोच्च मनुष्य की प्रार्थना की कि वह मुझे भिक्षु बना ले। तब उस दयालु स्वामी ने मुझसे कहा कि 'हे भिक्षु इधर आओ, और इसी प्रकार मैं भिक्षु बनाया गया। यह कथा वही शिक्षा देकर समाप्त होती है जिसका उपदेश गौतम ने इतने अधिक बार दिया है "पवित्र उत्साह से, पवित्र जीवन और आत्मनिरोध से मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है, यह सबसे ऊँचा ब्राह्मण का पद है।'

नम्रसुनीत की इस कथा को बिना समानता के प्रिय उत्साह को समझे हुए जो कि आदि बौद्ध धर्म का प्राण है और उसकी सफलता का कारण है, कौन पढ़ सकता है? यह बड़ा गुरू जो कि न तो धन न मर्यादा और न जाति को मानता था गरीबों और तुच्छ लोगों के पास उसी भांति जाता था जैसे कि अमीरों के पास और उन्हें पवित्र जीवन और पवित्र आचार के द्वारा अपनी मुक्ति पाने के उपदेश देता

था । धार्मिक जीवन से नीच और ऊँच दोनों समान रीति से सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते थे, और भिक्षुओं के सम्प्रदाय में कोई भेद नहीं माना जाता था । हजारों मनुष्यों और स्त्रियों ने उस प्रिय और सज्ञान विचार को स्वीकार किया और अपने गुरू की प्रीति तथा उसके गुणों के अनुकरण करने में जाति भेद को छोड़ दिया । गौतम ने जिस तिथि से बनारस में अपना समानता और प्रीति का धर्म प्रगट किया उसके तीन शतब्दियों के भीतर ही यह धर्म भारतवर्ष का प्रधान धर्म हो गया । जाति भेद भिक्षुओं के सम्प्रदाय में तो था ही नहीं और गृहस्थों में भी उसका प्रभाव जाता रहा क्योंकि उनमें से सबसे नीच वंश का कोई भी, भिक्षुओं का सम्प्रदाय ग्रहण करके, सर्वोच्च प्रतिष्ठा पा सकता था ।

(३९३) मनुष्य अपने गुथे हुए बालों से अपने वंश अथवा जन्म से ब्राह्मण नहीं हो जाता, परन्तु जिसमें सत्यता और पुण्य है वही धन्य है और वही ब्राह्मण है ।

(३९४) हे मूढ़, गुथे हुए बालों की क्या आवश्यकता है ? मृगछाला धारण करने की क्या आवश्यकता है ? तेरे भीतर तो लालच भरा हुआ है परन्तु ऊपर से से तू स्वच्छ बनता है ।

(४२२) मैं उसे ब्राह्मण अवश्य कहता हूँ जो कि वीर, महात्मा, विजयी, अगम्य, पूर्ण और जाग्रित है ।

(१४१) न तो नङ्गा रहने से, न गुथे हुये बालों से, न धूल से, न व्रत रहने अथवा जमीन पर पड़े रहने से, न विभूति लगाने से और न चुपचाप बैठे रहने से, वह मनुष्य अपने को पवित्र कर सकता है जिसने कि अपनी कामनाओं को नहीं जीता । ⊛ (धर्मपद) ।

यह समझना भूल है कि गौतम सबको संसार त्याग करके भिक्षु सम्प्रदाय ग्रहण करने के लिये स्पष्ट आज्ञा देता था । इस बड़े उपदेशक का मुख्य उद्देश्य जीवन तथा सुख की कामनाओं को जीतने का था और वह दिखलाने के लिये संसार

⊛ प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने ऊपर के वाक्यों पर निम्नलिखित मनोरञ्जक टिप्पणी दी है—

नंगे फिरना तथा और दूसरे कार्य जिनका कि इस पद में उल्लेख है महात्माओं के जीवन के बाहरी चिन्ह हैं और इन्हें बुद्ध स्वीकार नहीं करता क्योंकि वे कामनाओं को शान्त नहीं करते । यदि हम सुमागधा अवदान को देखें तो यह विदित होता है कि नंगे रहने को उसने अन्य कारणों से स्वीकार नहीं किया । अनाथ पिण्डिक की कन्या के घर में कुछ नंगे

त्याग देने में कोई विशेष भलाई नहीं समझता था। परन्तु फिर भी उन कामनाओं को जीतना तब तक कठिन होता है जब तक कोई मनुष्य वास्तव में अपने कुटुम्ब के साथ रहे और जीवन के सुखों को भोगता रहे। अतएव गौतम भिक्षु के जीवन की अपने बड़े उद्देश्य के लिए अधिक गुणकारी मार्ग होने से प्रसंशा करता था और इस कारण बहुत से लोगों ने संसार को त्याग कर भिक्षु सम्प्रदाय को ग्रहण किया और इस प्रकार बौद्ध सन्यासियों का सम्प्रदाय बना जो कि सम्भवतः संसार में सन्यासियों के सम्प्रदाय में सबसे पहला है।

यहाँ पर बौद्ध भिक्षुओं के सम्प्रदाय के नियमों का लिखना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे इस धर्म के मुख्य सिद्धान्तों में नहीं है। हम यहां केवल एक सुन्दर सूत्र उद्धृत करेंगे जिसमें गौतम और एक किसान की कल्पित बात चीत दी है जिससे सांसारिक जीवन और धर्म जीवन के गुण विदित होते हैं—

(१) धनिय किसान ने कहा "मैं अपना चावल पका चुका हूँ, मैं अपनी गायों को दुह चुका हूँ, मैं अपने लोगों के सङ्ग मही नदी के तट के निकट रहता हूँ। मेरा घर छाया हुआ है, आग सुलगी हुई है अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर!',

(२) भगवत् ने कहा "मैं क्रोध से रहित हूँ, हठ से रहित हूँ, मैं एक रात्रि के लिये मही नदी के तट के निकट टिका हूँ। मेरा घर छाया नहीं है, (कामना की) आग बुझ गई है, अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर!"

(३) धनिय किसान ने कहा "मेरे यहाँ घास से भरे हुये खेतों में गायें घूम रही हैं और यदि वर्षा हो तो वे उसे सह सकती हैं। अतएव हे आकाश, यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(४) भगवत् ने कहा "मेरे पास एक अच्छी बनी हुई नौका है, मैं (निर्वाण तक) चला आया हूँ। मैं कामनाओं की लहरों को जीत कर आगे के किनारे पर

साधू एकत्रित हुये। उसने अपनी पतोहू सुमागधा को बुला कर कहा 'जाओ और उन पूज्य महात्माओं का दर्शन करो।' सुमागधा, सारिपुत्र, मौदगलायन आदि लोगों की तरह महात्माओं का दर्शन पाने की आशा में प्रसन्नता से दौड़ी परन्तु जब उसने इन सन्यासियों को कबूतर के डैनों की तरह बाल रक्खे हुये केवल विभूति लगाये हुये ऊपकारक और दैत्यों के सदृश देखा तो वह बड़ी उदास हुई। उसकी सास ने पूछा 'तुम उदास क्यों हो?" सुमगधा नें उत्तर दिया "हे माता यदि महात्मा लोग ऐसे हैं तो पापी लोगों का रूप कैसा होता होगा।"

पहुँच गया हूँ। अब मुझे नौका का कोई काम नहीं है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(५) धनिय किसान ने कहा "मेरी स्त्री आज्ञाकारिणी है आवारा नहीं है, और वह बहुत समय तक मेरे साथ रही है, वह मोहने वाली है और मैं उसके विषय में कोई बुरी बात नहीं सुनता। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(६) भगवत् ने कहा 'मेरा मन आज्ञाकारी और स्वतन्त्र है और मैंने उसे बहुत समय तक उच्च शिक्षा दी है और भली भाँति दमन किया है। अब मेरे में कोई बात नहीं है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(७) धनिय किसान ने कहा "मैं स्वयं कमा कर अपना पालन करता हूँ और मेरे बच्चे मेरे पास सब निरोगी हैं। मैं उनकी कोई बुराई नहीं सुनता। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(८) भगवत् ने कहा "मैं किसी का नौकर नहीं हूँ। जो कुछ मैंने प्राप्त किया है उससे मैं सारे संसार में भ्रमण करता हूँ। मुझे नौकरी करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(९) धनिय ने कहा "मेरे पास गाय हैं, बछड़े हैं गाभिन गाय और बछिया हैं और इन गायों के ऊपर स्वामी की तरह मेरे एक साँड़ भी है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(१०) भगवत् ने कहा "मेरे गाय नहीं है, मेरे बछवा नहीं है, मेरे गाभिन गाय और बछिया नहीं है। और गायों के स्वामी की भाँति मेरे साँड़ भी नहीं हैं अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(११) धनिय किसान ने कहा "खूँटे गड़े हुये हैं और हिल नहीं सकते, पगहे मूंज के नए और अच्छे बने हुये हैं, गाएँ उन्हें नहीं तोड़ सकेंगी। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(१२) भगवत् ने कहा "साँड़ की भाँति बन्धनों को तोड़ कर, हाथी की भाँति गलुच्छिलता को तोड़ कर फिर मैं गर्भ में नहीं आऊँगा। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

तब तुरन्त वृष्टि हुई जिसने कि समुद्र और पृथ्वी को भर दिया और आकाश से वृष्टि होते सुन कर धनिय इस प्रकार बोला—

(१३) यह हमारे लिये थोड़े लाभ की बात नहीं हैं कि हम लोगों ने भगवत्

का दर्शन पाया। हे बुद्धि की चक्षु वाले, हम लोग तेरी शरण लेते हैं! हे बड़े मुनी, तू हम लोगों का स्वामी हो!" (धनियसुत्त)

ये गौतम के धर्म के प्रधान सिद्धान्त हैं और संक्षेप में उनका पुनः उल्लेख कदाचित् हमारे पाठकों को लाभदायक होगा। हम कह चुके हैं कि बौद्ध धर्म वास्तव में आत्मोन्नति की एक प्रणाली अर्थात् इस संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करने का एक यत्न है और इससे अधिक उसमें कुछ नहीं है। हम देख चुके हैं कि गौतम इन चारों सत्यों का उपदेश करता था कि जीवन दुःख है, जीवन की लालसा दुःख का कारण है, इस लालसा को जीतना दुःख का नाश करना है और आत्मोन्नति का मार्ग जीवन की इस लालसा को जीतने का उपाय है। गौतम ने पवित्र जीवन और निष्पाप शान्ति को अपने धर्म का सिद्धान्त और मनुष्य का सर्वोच्च उद्देश्य मान कर आत्मोन्नति की एक प्रणाली और मन वाणी और कर्म द्वारा आत्मनिरोध की रीति को ध्यान पूर्वक स्थापित किया है जिसे कि वह उत्तम मार्ग कहता है और जो धर्म के सात रत्नों के नाम से प्रसिद्ध है।

और यह पवित्र शान्ति, यह निष्पाप शान्त जीवन जो कि इतने आत्म-निरोध और इतनी आत्मोन्नति का उद्देश्य है इसी संसार में प्राप्त हो सकता है। वही बौद्धों का स्वर्ग है, वही निर्वाण है। गौतम का धर्म परलोक के लिए कोई उज्जवल पुरस्कार नहीं देता, भलाई स्वयं उसका पुरस्कार है, पुन्यमय जीवन बौद्धों का अन्तिम उद्देश्य है, इस पृथ्वी पर पुण्यमय शान्ति बौद्धों का निर्वाण है।

फिर भी हम देख चुके हैं कि गौतम ने अपने धर्म में हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को एक परिवर्तित रूप में ग्रहण किया था। यदि इस जीवन में निर्वाण की प्राप्ति न हो तो जीवन के कर्मों का उचित फल दूसरे जन्म में मिलेगा जब तक कि पूर्ण न हो जाय और निर्वाण प्रान्त न हो जाय।

इसी भांति गौतम ने हिन्दू देवताओं को अर्थात् ऋग्वेद के तैंतीसों देवताओं और ब्रह्मा और गंधर्व के विश्वास को ग्रहण किया अथवा ग्रहण करने दिया। ये सब देवता और सृष्टि के समस्त प्राणी भिन्न-भिन्न मंडलों में बार बार जन्म लेकर उस निर्वाण को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं जो कि सब लोगों के लिये मुख्य उद्देश्य, अन्त और मुक्ति है।

परन्तु हिन्दू धर्म में ऐसे सिद्धान्त और रीतियां भी थी जिन्हें कि वह ग्रहण नहीं कर सकता था। उसने जाति भेद को निकाल दिया, तपस्याओं से वह कोई लाभ नहीं समझता था और वैदिक विधानों को उसने निरर्थक प्रगट किया है। ऐसे विधानों के स्थान में उसने दयालु जीवन व्यतीत करने और मनः क्षोभ और कामनाओं

को जीतने की आज्ञा दी है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने की अधिक सुगम रीति के लिये उसने संसार का त्याग बतलाया है। उसका यह उपदेश माना गया और उससे बौद्ध भिक्षुओं का सम्प्रदाय स्थापित हुआ।

तब बौद्ध धर्म की सबसे प्रधान बात यह है कि वह इस लोक में पवित्र और पुण्यात्मा जीवन की शिक्षा देता है और पुरस्कार अथवा दण्ड का कोई विचार नहीं करता। वह मनुष्य के स्वभाव की सबसे अधिक निष्काम भावनाओं को उत्तेजित करता है। वह अपने सामने स्वयं पुण्य को अपने पुरस्कार की भांति रखता है और उसको प्राप्त करने के लिये निरन्तर उद्योग की आज्ञा देता है। वह शान्त निष्पाप जीवन की प्राप्ति के अतिरिक्त मनुष्य अथवा देवताओं में किसी उच्च उद्देश्य को नहीं जानता, वह पुण्यमय शान्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार की मुक्ति को नहीं बतलाता, वह पवित्रता के अतिरिक्त किसी दूसरे स्वर्ग को नहीं जानता। "उसने अपनी दृष्टि से आत्मा के उस सिद्धान्त को बिल्कुल निकाल दिया जो कि अब तक मिथ्या धर्मों और विचारवान दोनों ही के मत में समान रीति से भरा हुआ था।

उसने संसार के इतिहास में पहले पहल यह प्रगट किया कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिये इस संसार और इसी जीवन में बिना ईश्वर अथवा छोटे बड़े देवताओं की कुछ भी सहायता के, मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

इसके विरुद्ध बौद्ध धर्म की इसी बात पर बहुधा कलङ्क लगाया गया है। यह कहा गया है कि यह अज्ञेयवादी धर्म है जो कि ईश्वर, आत्मा और मुक्ति पाने वालों के लिये किसी परलोक को नहीं मानता। परन्तु डाक्टर राइज डेविड्स साहब इस बात को दिखलाते हैं कि जहां ब्रह्मविद्या अज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में सन्तोष दायक उत्तर नहीं देती और जहां मनुष्यों ने पुराने प्रश्नों के नए उत्तर ढूँढे हैं वहां अज्ञेयवाद एक अथवा दो बार नहीं परन्तु बारम्बार प्रधान दिखलाई देता है। भारतवर्ष के अज्ञेयवादियों, यूनान और रोम के औदासियों, फ्रान्स, जर्मनी और हम लोगों के कुछ नए दर्शनशास्त्रों में जो बहुत सी समान बातें मिलती हैं उनका कारण समझने के लिये विचारों की उन्नति में बौद्ध के सिद्धान्तों से हमें सहायता मिलती है।

तीसवां अध्याय

गौतम बुद्ध की धार्मिक आज्ञायें

ऐसे धर्म जिसका कि मुख्य उद्देश्य इस संसार में पवित्र जीवन की शिक्षा देने का है अवश्य ही बहुत सी धार्मिक आज्ञाएँ होंगी और आज्ञाएँ बौद्ध धर्म की विशेष शोभा हैं तथा इनसे यह धर्म समस्त सभ्य संसार की दृष्टि से देखा जाता है। इस अध्याय में हम इनमें से कुछ उत्तम आज्ञाओं पर विचार करेंगे जिससे हमारे पाठकों को गौतम की धार्मिक शिक्षाओं का कुछ सारांश विदित होगा।

गृहस्थ चेलों के लिये गौतम ने पांच मनाही की आज्ञाएँ दी है जो कि निस्सन्देह हिन्दुओं के शास्त्र के उन पांचो महापातकों से ली गई हैं जिनका कि यहां उल्लेख किया गया है।

(१८) गृहस्थों का भी कार्य, मैं तुमसे कहूँगा कि सावक किस प्रकार अच्छा होने के लिये कार्य करे क्योंकि भिक्षुओं का पूरा धर्म इन लोगों से पालन नहीं किया जा सकता जो कि सांसारिक कार्यों में लगे हुए हैं।

(१९) उसे किसी जीव को नहीं मारना अथवा मरवाना चाहिये और यदि दूसरे लोग उसे मारें तो उसे नहीं सराहना चाहिये और सब जन्तुओं को, चाहे वे बलवान जन्तु हों अथवा वे ऐसे हों जो कि संसार में बड़े बलहीन हैं उन सब के मारने का उसे विरोध करना चाहिये।

(२०) और सावकों को किसी स्थान पर कोई वस्तु न लेनी चाहिये जिसको कि वह जानता है कि दूसरे की है और जो उसको न दी गई हो। ऐसी वस्तु उसे दूसरों को भी न लेने देनी चाहिये और जो लोग लें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब प्रकार की चोरी का त्याग करना चाहिये।

(२१) बुद्धिमान मनुष्यों को व्यभिचार का त्याग जलते हुए कोयले की तरह करना चाहिये। यदि वह इन्द्रियों का निग्रह न कर सके तो उसे दूसरे की स्त्री के साथ व्यभिचार नहीं करना चाहिये।

(२२) किसी मनुष्य को न्यायसभा अथवा किसी सभा में दूसरे से झूठ न बोलना चाहिये। उसे दूसरों से झूठ न बोलवाना चाहिये और जो लोग झूठ बोलें

उन्हें न सराहना चाहिये। उसे सब असत्य का त्याग करना चाहिये।

(२३) जो गृहस्थ इस धर्म को मानता हो उसे नशे की वस्तुएँ नहीं पीना चाहिये। उसे दूसरों को भी नहीं पिलाना चाहिये और जो लोग पीएँ उनको यह जान कर नहीं सराहना चाहिये कि उसका फल पागलपन है।" (धाम्मिकसुत्त, सुत्तनिपात)।

ये पांचो आज्ञाएँ जो कि पंच सील के नाम से प्रसिद्ध हैं सब बौद्धों अर्थात् गृहस्थों और भिक्षुओं के लिये हैं। वे संक्षेप में इस भांति कही गई हैं—

(२५) कोई किसी जीव को न मारे।

जो वस्तु न दी गई हो उसे नहीं लेना चाहिये।

झूठ न बोलना चाहिये।

नशे की वस्तुएँ नहीं पीना चाहिये।

व्यभिचार नहीं करना चाहिये।

तीन नियम और दिए गए हैं जो कि अत्यावश्यक नहीं समझे जाते परन्तु वे कट्टर और धार्मिक गृहस्थ चेलों के लिये कहे गये हैं। वे ये हैं—

(२५), (२६) रात्रि को असमय भोजन नहीं करना चाहिये।

माला नहीं पहिरनी चाहिये और सुगन्ध नहीं लगाना चाहिये।

भूमि पर बिछौना बिछा कर सोना चाहिये।

कट्टर और धार्मिक गृहस्थ के लिए इन आठों आज्ञाओं के जो कि अष्टांग-सील के नाम से प्रसिद्ध है, पालन करने की प्रतिज्ञा करने के लिये कहा गया है।

इन आठों नियमों के अतिरिक्त दो नियम और भी हैं और वे ये हैं। अर्थात् नाच, गाने बजाने आदि से निषेध और सोने और चांदी को काम में लाने से निषेध। ये दसों आज्ञाएँ (दस सील) भिक्षुओं के लिये आवश्यक हैं जैसे कि पंचसील गृहस्थों के लिये हैं।

अपने माता-पिता का सत्कार करना और इज्जतदार व्यापार करना यद्यपि ये दो बातें आज्ञाओं में सम्मिलित नहीं हैं तथापि उसी सुत्त में सब गृहस्थों को उनका पालन करने के लिये कहा गया है।

उसे भक्ति के साथ अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये और कोई इज्जत का व्यापार करना चाहिए। जो गृहस्थ इसका वीरता से पालन करता है वह स्वयंभु देवता के पास जाता है।

गृहस्थों के धर्म का एक अधिक विस्तृत वर्णन प्रसिद्ध सिगालोवादसुत्त में दिया है जिसे कि उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों बौद्ध मानते और जिसका अनुवाद यूरप की

भाषाओं में कई बार हुआ है। इन धर्मों के वर्णन से हिन्दू समाज की अवस्था तथा हिन्दू सामाजिक जीवन के आदर्श का इतना स्पष्ट यथार्थ ज्ञान होता है कि हमें उसके उद्धृत करने में कोई रुकावट नहीं होती—

(१) माता-पिता और लड़के

माता-पिता को चाहिए कि—

(१) लड़कों को पाप से बचावें।
(२) पुण्य करने की उनको शिक्षा दें।
(३) उन्हें शिल्प और शास्त्रों में शिक्षा दिलावें।
(४) उनके लिये योग्य पति अथवा पत्नी दें।
(५) उन्हें पैत्रिकाधिकार दें।

लड़कों को चाहिये कि—

(१) जिन्होंने मेरा पालन किया है उनका मैं पालन करूंगा।
(२) मैं गृहस्थी के उन धर्मों को करूंगा जो कि मेरे लिये आवश्यक हैं।
(३) मैं उनकी सम्पत्ति की रक्षा करूंगा।
(४) मैं अपने को उनका वारिस होने के योग्य बनाऊँगा।
(५) उनकी मृत्यु के उपरान्त मैं सत्कार से उनका ध्यान करूंगा।

(२) शिष्य और गुरु

शिष्य को अपने गुरुओं का सत्कार करना चाहिये—

(१) उनके सामने उठ कर।
(२) उनकी सेवा करके।
(३) उनकी आज्ञाओं का पालन करके।
(४) उन्हें आवश्यक वस्तुएँ दे कर।
(५) उनकी शिक्षा पर ध्यान देकर।

गुरु को अपने शिष्यों पर इस प्रकार स्नेह दिखलाना चाहिए—

(१) सब अच्छी बातों की उन्हें शिक्षा देकर।
(२) उन्हें विद्या को ग्रहण करने की शिक्षा दे कर।
(३) उन्हें शास्त्र और विद्या सिखला कर।
(४) उनके मित्रों और संगियों में उनकी प्रसंशा करके।
(५) आपत्ति से उनकी रक्षा कर के।

(३) पति और पत्नी

पति को अपनी पत्नी का इस भाँति पालन करना चाहिये—

(१) सत्कार से उसके साथ व्यवहार करके ।

(२) उस पर कृपा करके ।

(३) उसके साथ सच्चा रह कर ।

(४) लोगों में उसका सत्कार करा कर ।

(५) उसे योग्य आभूषण और कपड़े देकर ।

पत्नी को अपने पति पर इस भाँति स्नेह दिखलाना चाहिये—

(१) अपने घर के लोगों से ठीक तरह से बर्ताव कर के ।

(२) मित्रों और सम्बन्धियों का उचित आदर सत्कार करके ।

(३) पतिव्रता रह कर ।

(४) किफायत के साथ घर का प्रबन्ध करके ।

(५) जो कार्य उसे करने पड़ते हों उनमें चतुराई और परिश्रम दिखला कर ।

(४) मित्र और सङ्गी ।

इज्जतदार मनुष्य को अपने मित्रों से इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये ।

(१) उपहार देकर ।

(२) मृदु सम्भाषण से ।

(३) उनके लाभ की उन्नति करके ।

(४) उनके साथ अपनी बराबरी का व्यवहार करके ।

(५) अपना धन उनके साथ भोग कर ।

उन लोगों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखलानी चाहिये ।

(१) जब वह बेखबर हो तो उसकी निगरानी करके ।

(२) यदि वह अल्हड़ हो तो उसकी सम्पत्ति की रक्षा कर के ।

(३) आपत्ति के समय उसे शरण देकर ।

(४) दुःख में उसका साथ देकर ।

(५) उसके कुटुम्ब के साथ दया दिखला कर ।

(५) स्वामी और नौकर

स्वामी को अपने सेवकों को इस प्रकार सुख देना चाहिये—

(१) उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें काम देकर ।

(२) उचित भोजन और वेतन दे कर।

(३) रोग की अवस्था में उनके लिये यत्न कर के।

(४) असाधारण उत्तम वस्तुओं को उन्हें भी दे कर।

(५) उन्हें कभी-कभी छुट्टी दे कर।

नौकरों को अपने स्वामी पर भक्ति इस प्रकार प्रगट करनी चाहिए।

(१) वे उसके पहले उठें।

(२) वे उसके पीछे सोवें।

(३) उन्हें जो कुछ दिया जाय उससे सन्तुष्ट रहें।

(४) वे पूरी तरह से और प्रसन्न हो कर कार्य करें।

(५) वे उसकी प्रसंशा करें।

(६) गृहस्थ और धार्मिक लोग।

इज्जतदार मनुष्य भिक्षुकों और ब्राह्मणों की इस प्रकार सेवा करता है।

(१) कार्य में प्रीति दिखला कर।

(२) वाणी में प्रीति दिखला कर।

(३) विचार में प्रीति दिखला कर।

(४) उनका मन से स्वागत करके।

(५) उनकी सांसारिक आवश्यकताओं को दूर करके।

उन लोगों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखलानी चाहिये।

(१) उसे पाप करने से रोक कर।

(२) उसे पुण्य करने की शिक्षा दे कर।

(३) उसके ऊपर दया भाव रख कर।

(४) धर्म की उसको शिक्षा दे कर।

(५) उसके सन्देहों को दूर करके स्वर्ग का मार्ग बतला कर।

उपरोक्त बातों से हमें पवित्र हिन्दू जीवन का, आनन्दमय गृहस्थी सम्बन्धी तथा सामाजिक विचारों और कर्तव्यों का कैसा चित्र मिलता है। अपने बच्चों को शिक्षा, धार्मिक शिक्षा और सांसारिक सुख देने के लिये माता पिता की उत्सुक भावना; अपने माता पिता को पालन करने, उनका सत्कार करने और मृत्यु के उपरान्त सत्कार से उनका स्मरण करने के लिये पुत्र की भक्तिपूर्ण अभिलाषा, शिष्य का अपने गुरू की ओर सत्कार के साथ व्यवहार और गुरू की शिष्य के लिये उत्सुक चिन्ता और प्रीति, पति का अपनी पत्नी के साथ सत्कार, दया, मान और प्रीति के

साथ व्यवहार जो कि हिन्दू धर्म में सदा से चला आया है और हिन्दू पत्नियों की अपनी गृहस्थी के कार्यों में सचाई और चौकसी जिसके लिए वे सदा से प्रसिद्ध हैं, मित्रों के बीच, स्वामी और नौकरों के बीच, गृहस्थों और धर्म शिक्षकों के बीच दया का भावः-ये सब सर्वोत्तम शिक्षाएँ हैं जिन्हें हिन्दू धर्म ने दिया है और ये सर्वोत्तम कथाएँ हैं जिन्हें साहित्य ने हजारों वर्ष तक निरन्तर बनाया है। बौद्ध धर्म ने इन उत्तम बातों को प्राचीन हिन्दू धर्म से ग्रहण किया और उन्हें अपने धर्म ग्रन्थों में रक्षित रक्खा।

अब हम गौतम की कर्तव्य विषयक आज्ञाओं को छोड़कर उन आज्ञाओं और परोपकारी कहावतों का वर्णन करेंगे जिनके कारण बौद्ध धर्म ने आजकल संसार से उचित प्रसिद्धता पाई है। गौतम का धर्म परोपकार और प्रीति का धर्म है और ईसा मसीह के जन्म के पाँच शताब्दी पहले इस हिन्दू आचार्य ने यह प्रगट किया था—

(५) घृणा कभी घृणा करने से नहीं बन्द होती, घृणा प्रीति से बन्द होती है, यही इसका स्वभाव है।

(१९७) हम लोगों को प्रसन्नता पूर्वक रहना चाहिये और उन लोगों से घृणा नहीं करनी चाहिये जो कि हम से घृणा करते हों। जो लोग हम से घृणा करते हों उनके बीच हमें घृणा से रहित हो कर रहना चाहिये।

(२२३) क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिये, बुराई को भलाई से विजय करना चाहिये। लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिये (धर्मपद)।

ये बड़ी शिक्षाएँ सुशील और पवित्र आत्मा, गौतम के अनुयायियों के हृदय पर जमाने के लिये कही गई हैं और हम यहाँ उनमें से एक कथा को बड़े संक्षेप में लिखेंगे। अपने अनुयायियों में झगड़ों और भेद को रोकने के लिये गौतम कहता है—

हे भिक्षुओं! प्राचीन समय में बनारस में काशियों का एक राजा ब्रह्मदत्त रहता था जो कि बड़ा धनाढ्य था, उसके कोष में बहुत सा धन था, उसकी मालगुजारी बहुत अधिक थी और उसके पास बहुत बड़ी सेना और अनेक रथ थे, वह बहुत बड़े देश का स्वामी था और उसके कोष और भन्डार पूर्ण थे। उस समय कोशल का राजा दीर्घाति भी था जो कि धनाढ्य नहीं था, उसका कोष और मालगुजारी थोड़ी थी, उसके पास थोड़ी सेना और रथ थे। वह एक छोटे से देश का राजा था और उसके कोष और भंडार खाली थे।

जैसा कि बहुधा हुआ करता है, धनाढ्य राजा ने इस निर्बल राजा का देश

और उसका धन छीन लिया और दीर्घीति अपनी रानी के साथ बनारस भाग गया और वहाँ के सन्यासी के वेष में एक कुम्हार के घर में रहने लगा। वहाँ उसकी रानी को एक पुत्र हुआ जिसका नाम दीघावु रक्खा गया और कुछ काल में वह लड़का बड़ा हुआ।

इस बीच में राजा ब्रह्मदत्त ने सुना कि उसका प्राचीन शत्रु उसके नगर में अपनी स्त्री के साथ वेष बदल कर रहता है 'और उसने आज्ञा दी कि वह उसके सामने लाया जाय और निर्दयता से मार डाला जाय।

उनका पुत्र दीघावु उस समय बनारस के बाहर रहता था परन्तु अपने पिता के मारे जाने के समय वह अचानक नगर में आ गया था। मरते हुये राजा ने अपने पुत्र की ओर देखा और अमानुषिक क्षमा के साथ अपने पुत्र को अन्तिम उपदेश दिया "मेरे प्यारे दीघावु, घृणा करने से शान्ति नहीं होती। मेरे प्यारे दीघावु, घृणा प्रीति से शान्त होती है।"

हे भिक्षुओं! तब युवा दीघावु बन में चला गया और वहाँ वह जी भर कर रोया। तब वह अपने विचार दृढ़ करके नगर को लौटा और राजा के तबेले में एक हाथी के सिखलाने वाले के नीचे उसे नौकरी की।

वह तड़के उठा और सुन्दर स्वर से गाने और बीन बजाने लगा और उसका स्वर इतना मधुर था कि राजा ने इस बात की खोज की कि हाथी के तबेलों में इतनी जल्दी कौन उठकर ऐसे सुन्दर स्वर से गा रहा है। तब इस युवा को लोग राजा के पास ले गये। उसने उसे प्रसन्न किया और वह उसके पास नौकर रक्खा गया।

और एक समय ऐसा हुआ कि राजा दीघावु को अपने साथ लेकर शिकार को गया। दीघावु की भीतरी अग्नि जल रही थी और उसने राजा के रथ को इस प्रकार हांका कि सेना एक ओर रह गई और राजा का रथ दूसरी ओर गया और अन्त में राजा को बड़ी थकावट जान पड़ी और वह युवा दीघावु की गोदी में अपना सिर रख कर लेट गया और थकावट के कारण तुरन्त सो गया।

हे भिक्षुओं उस समय युवा दीघावु विचारने लगा 'कि काशी के इस ब्रह्मदत्त राजा ने हमारी बड़ी हानि की है। उसने हमारी सेना और रथ, हमारा राज्य, कोष, और भंडार सब छीन लिया है, और उसने मेरे माता पिता को मार डाला है। पर अब मेरे द्वेश का पलटा लेने का समय आ गया है' और यह कह कर उसने अपनी तलवार खींची।

परन्तु अपने पिता का स्मरण करते हुये इस पलटा लेने वाले राजकुमार को

अपने मृत पिता के अन्तिम वाक्य स्मरण आ गए कि "मेरे प्यारे दीघावु घृणा, घृणा करने से शान्त नहीं होती, मेरे प्यारे दीघावु घृणा प्रीति से शान्त होती है।" अतएव राजकुमार ने सोचा कि पिता के वाक्यों का उलङ्घन करना मेरे योग्य नहीं है और उसने अपनी तलवार रख दी।

राजा ने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा था और वह बड़ा भयभीत होकर जाग उठा। दीघावु ने उससे सब बात सत्य-सत्य कह दी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा "मेरे प्यारे दीघावु, मुझे जीवन दान दो!" उस सुशील युवा ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करके अपने पिता के बध को क्षमा कर दिया और ब्रह्मदत्त को जीवन दान दिया। ब्रह्मदत्त ने उसके पिता की सेना और रथ उसका राज्य उसका कोप और भंडार सब उसे लौटा दिया और अपनी पुत्री से उसका विवाह कर दिया।

हे भिक्षुओं, अब यदि उन राजाओं में इतना धैर्य और दया है जो कि राज छत्र और तलवार धारण करते हैं, तो हे भिक्षुओं कितनी अधिक धीरता और तुम में होनी चाहिये कि तुमने इतने उत्तम सिद्धान्तों और शिक्षा के अनुसार पवित्र जीवन ग्रहण किया है और धीर और दयालु देखे जाते हो, जिसमें कि तुम्हारा यश संसार में प्रसिद्ध रहे।" (महावग्ग १०, २) परन्तु केवल धैर्य और दया ही नहीं वरन् पुण्य और भलाई के कार्यों की शिक्षा गौतम ने अपने अनुयायियों को बारम्बार जोर के साथ दी है।

(५१) उस मनुष्य के उत्तम और फलहीन शब्द जो कि उनके अनुसार कार्य नहीं करता उस सुन्दर फूल की तरह हैं जो कि रङ्ग में बड़ा उत्तम परन्तु सुगन्ध रहित है।

(१८३) पाप न करना, भलाई करना, अपने हृदय को शुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है।

(२००) इसी प्रकार भलाई करने वाला जब कि संसार को छोड़ कर दूसरे संसार में जाता है तो वहाँ उसके भले कर्म उसके सम्बन्धी और मित्रों की तरह उसका स्वागत करते हैं॥

(२०७) वह मनुष्य बड़ा नहीं है जिसके सिर के बाल पक गए हों जिसकी अवस्था बड़ी हो गई हो परन्तु वह वृथा ही वृद्ध कहलाता है।

(२६१) वह जिसमें सत्य, पुन्य, प्रीति, आत्मनिरोध और संयम है, वह जो कि अपवित्रता से रहित और बुद्धिमान है, वही बड़ा कहलाता है। (धर्मपद)।

और गौतम ने मातङ्ग चान्डाल की कथा कही है जिसने कि अपने अच्छे कर्मों

के द्वारा सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई, जो देवताओं के विमान पर चढ़ा और ब्रह्मा के लोक में चला गया। अतएव "कोई मनुष्य जन्म से जाति बाहर नहीं हो सकता और न जन्म से ब्राह्मण हो सकता है। केवल कर्मों से मनुष्य जाति बाहर होता है और कर्म ही से वह ब्राह्मण होता है।" (वसलसुत्त, सुत्तनिपात, २७)

और फिर सुत्तनिपात्त के आमगन्धसुत्त में गौतम ब्राह्मण से कहता है कि जीव को नष्ट करना, हिंसा करना, काटना, बाँधना, चोरी करना, झूठ बोलना और छल करना, व्यभिचार करना, निन्दा करना, कपट, निर्दयता, नशा खाना, धोखा देना, घमंड, बुरा मन, और बुरा कार्य—ये सब मनुष्य को अपवित्र करते हैं। मछली अथवा मांस न खाने से, नङ्गा रहने से, माथा मुड़ाने से, गुथे हुये बाल रखने से, भभूत लगाने से, रूखा वस्त्र धारण करने से, हवन करने से, तपस्या करने से, भजन करने से, और बलिदान अथवा यज्ञ करने से, वह पवित्र नहीं हो सकता।

समस्त धर्मपद में ४२३ सद्व्यवहार की आज्ञाएँ हैं जो कि उत्तमता और सद्व्यवहार की दृष्टि से इस भाँति की अन्य आज्ञाओं के संग्रहों से बढ़ कर हैं जो कि किसी समय अथवा किसी देश में किये गये हैं। बौद्धों की धर्म पुस्तकों में जो कथाएँ और कहावतें, उपमाएँ और आज्ञाएं हैं उनका संग्रह करने से एक बड़ी अच्छी पुस्तक बन जायगी। हम केवल कुछ उद्धृत वाक्यों को देकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे—

(१२९) सब मनुष्य दंड से डरते हैं, सब मनुष्य मृत्यु से भयभीत होते हैं। स्मरण रक्खो कि तुम उनके समान हो। अतएव हिंसा मत करो और न दूसरे से हिंसा कराओ।

(१३०) सब मनुष्य दंड से डरते हैं, सब मनुष्यों को जीवन प्रिय है। स्मरण रक्खो कि तुम उनके समान हो अतएव हिंसा मत करो और न दूसरे से हिंसा कराओ।

दूसरों का दोष सहज में दिखलाई देता है परन्तु अपना दोष दिखाई देना कठिन है। मनुष्य अपने पड़ोसी के दोषों को भूसी की भाँति पछोरता है परन्तु अपने दोष को वह इस भाँति छिपाता है जैसे कि कोई छल करने वाला, जुआरी से बुरे पासे को छिपाता है। (धर्मपद)

यह उत्तम नीव की शिक्षा की उन्नति कहलाती है, यदि कोई अपने पापों को पाप की भाँति देखे और उनका सुधार करे और भविष्य में उनको न करे। (महावग्ग, ९, १, ९,)

इस प्रकार जो मनुष्य जुदे-जुदे हैं उन्हें वह एक करता है, जो मित्र हैं उनको उत्साहित करता है, वह मेल करने वाला है, मेल का चाहने वाला है, मेल के लिये उत्सुक है, ऐसे कार्यों को करता है जिससे मेल हो। (तेविज्जतसुत्त २, ५)

इन उत्तम आज्ञाओं से उन आज्ञाओं की अद्भुत समानता को कौन नहीं देखेगा जिन्हें कि इसके पाँच सौ वर्ष उपरान्त पैलेस्टाइन में दयालु और पवित्र आत्मा ईसामसीह ने दिया था? परन्तु बौद्ध और ईसाई नीति शास्त्र और सद्व्यवहार की आज्ञाओं से जो सम्बन्ध है उसको हम आगे के अध्यायों में लिखेंगे।

इकतीसवाँ अध्याय

बौद्ध धर्म का इतिहास

चुल्लवग के ग्यारहवें अध्याय में लिखा है कि गौतम की मृत्यु पर पूज्य महाकाश्यप ने प्रस्ताव किया कि "धर्म्म और विनय साथ मिल कर गाया जाय।" यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया और ४९९ अरहत इस कार्य के लिए चुने गए और गौतम के सच्चे मित्र और अनुयायी आनन्द ने ५०० की संख्या पूरी कर दी।

और इस प्रकार थेर भिक्षु लोग धर्म्म और विनय का साथ मिल कर पाठ करने के लिये गए। उपालि जो कि पहले हज्जाम था वह नियम में प्रमाण माना गया और गौतम का मित्र आनन्द धर्म्म (सुत्त) में प्रमाण माना गया।

यही राजगृह की सभा थी जो कि ईसा के ४७७ वर्ष पहले गौतम की मृत्यु पर पवित्र पाठ को निश्चित करने और एक साथ पाठ करके उसके स्मरण रखने के लिये की गई थी।

गौतम की मृत्यु के एक शताब्दी पीछे वैशाली के भिक्षुओं (विज्जैनों) ने वैशाली में दस विषयों को प्रकाशित किया जिनमें कि अन्य बातों के अतिरिक्त भिक्षुओं के लिये बिना उबली हुई ताड़ी और सोना अथवा चांदी ग्रहण करने की आज्ञा दी गई थी।

एक पूज्य भिक्षु ककण्डक के पुत्र यश ने इन आज्ञाओं का विरोध किया और पूज्य शिक्षकों की वैशाली में एक बड़ी बौद्ध सभा करके निमंत्रण दिया। उसने पश्चिमी देश के, अवन्ति के और दक्षिणी देश के भिक्षुओं के पास यह कह कर दूत भेजा कि आप लोग पधारें, हम लोगों को इस विषय का खण्डन उसके पहले करना चाहिए कि जब तक जो धर्म्म नहीं है उसका प्रचार न हो जाय और जो धर्म्म है वह जुदा न कर दिया जाय, जो विनय में नहीं है उसका प्रचार न हो जाय और जो विनय में है वह जुदा न कर दिया जाय।

इस बीच में वैशाली के भिक्षुओं को विदित हुआ कि यश को पश्चिमी प्रान्तों के भिक्षुओं से सहायता मिल रही है और उन लोगों ने भी पूरब के प्रान्तों से सहायता का यत्न किया। वास्तव में भेद वैशाली के पूर्वी बौद्धों में और गंगा के ऊपरी मार्ग के आस पास के प्रान्तों के पश्चिमी बौद्ध तथा मालवा और दक्षिण के बौद्धों में था।

पूर्वी मत को वैशाली के विज्जैनों ने उठाया था और यदि ये विज्जैन लोग वे ही हों जो तुरान की यूची जाति के लोग हैं, जैसा कि बील साहब का मत है तो झगड़ा तुरानी बौद्धों और हिन्दू बौद्धों में था। हम लोग आगे चल कर देखेंगे की पूर्वी लोगों की सम्मतियों को आगे चल कर उत्तरी बौद्ध लोगों ने संभाला और इस सम्प्रदाय में संसार की तुरानी जातियां, चीन के लोग, जापान के लोग और तिब्बत के लोग सम्मिलित हैं।

सभा का कार्य मनोरंजक है। यह संघ वैशाली में हुआ और बहुत बातचीत के उपरान्त—

पूज्य रेवत ने सङ्घ के सन्मुख यह बात उपस्थित की "पूज्यसङ्घ मेरी बात सुने। इस विषय पर हम लोगों के वादविवाद करने में बहुत सी निरर्थक बातें होती हैं और किसी एक वाक्य का भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यदि संघ को यह उचित जान पड़े तो वह पञ्च द्वारा इस प्रश्न का निर्णय करावे।"

और उसने प्रस्ताव किया कि पूरब के चार भिक्षु और पश्चिम के चार भिक्षु इस पंचायत में हों। इस प्रस्ताव पर सम्मति ली गई और सर्व सम्मति से ये आठों पंच नियत किये गये।

दस प्रश्न एक-एक करके पञ्चों के सम्मुख उपस्थित किए गये और पञ्चों ने उन दसों आज्ञाओं को स्वीकार नहीं किया जिनके लिये कि वैशाली के भिक्षुओं ने विरोध किया था। उन्होंनेकेवल छठीं आज्ञा को स्वीकार किया और यह प्रगट किया कि यह आज्ञा कुछ अवस्थाओं में मानी जा सकती है और कुछ अवस्थाओं में नहीं।

इस सभा में ७०० भिक्षु सम्मिलित किए गये थे और यह वैशाली की सभा कहलाती है। यह ईसा के ३७ वर्ष पहले हुई थी ।

परन्तु यह समझना नहीं चाहिये कि इन दसों प्रश्नों के विषय में जो निर्णय हुआ उसे सब लोगों ने स्वीकार कर लिया। इन प्रश्नों का निर्णय वृद्ध और अधिक प्रबल भिक्षुओं ने किया था परन्तु अधिक लोग उनके विरुद्ध थे और वे बड़ी संख्याओं में मुख्य धर्मावलम्बियों से अलग हो गए और उत्तरी बौद्ध लोग इन जुदे होने वालों के उत्तराधिकारी हैं। यही कारण है कि बौद्ध धर्म की दो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, एक तो नैपाल तिब्बत और चीन के उत्तरी बौद्ध लोग और दूसरे लङ्का, बर्मा और स्याम के दक्षिणी बौद्ध।

यह बात अच्छी तरह देखी गई है कि नई धर्म प्रणालियों का, चाहे वे स्वभावतः कितनी ही उत्तम क्यों न हो, मनुष्यों के द्वारा स्वीकार किया जाना बाहरी घटनाओं पर बहुत कुछ निर्भर है। ईसाई धर्म को जिसने कि पहली कुछ शताब्दियों में बहुत थोड़ी उन्नति की थी, उस समय महाराज कॉंसटैनटाइन ने ग्रहण किया, जब कि रोम का अधिकार और रोम की शिक्षा यूरप में सर्व प्रधान थी और इस भांति इस धर्म ने पश्चिमी संसार में सुगमता से बड़ी शीघ्र उन्नति की। मोहम्मद के धर्म का प्रचार ऐसे समय में हुआ था जब कि संसार में उसका विरोध करने वाला कोई नहीं था, जब कि रोम का पतन हो चुका था और जब यूरप में सैनिक राजप्रथा स्थापित नहीं हुई थी। भारतवर्ष में प्राचीन हिन्दू धर्म का प्रचार आर्यों के पंजाब से निकलने और समस्त भारतवर्ष को विजय करने के साथ ही साथ हुआ था। इसी भांति बुद्ध के धर्म का जिसमें कि ब्राह्मण अथवा नीच जाति में कोई भेद नहीं था, प्रचार प्राचीन आर्य प्रान्तों की अपेक्षा मगध के अनार्य राज्य में बहुत अधिक हुआ। ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में जब मगध के राज्य ने भारतवर्ष में सर्व प्रधानता पाई, उस समय बौद्ध धर्म भारतवर्ष का मुख्य धर्म हो गया। शिशुनाग वंश का जिसमें कि बिम्बिसार और आजतशत्रु हुए थे, ईसा के ३७० वर्ष पहले अन्त हो गया और नन्द ने जो कि एक शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ था, राजगद्दी पाई। उसने और उसके आठों पुत्रों ने लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम नन्द के आधीन एक पराजित विरोधी ईसा के ३२५ वर्ष पहले मगध से भाग गया और सतलज के तट पर सिकन्दर से जा मिला। सिकन्दर के चले जाने पर चन्द्रगुप्त ने पश्चिम के वीर योद्धओं को एकत्रित किया और ईसा के लगभग ३२० वर्ष पहले अन्तिम नन्द को मार कर मगध की राजगद्दी पर बैठा।

न तो चन्द्रगुप्त और न उसका पुत्र विन्दुसार बौद्ध था परन्तु विन्दुसार के

उत्तराधिकारी ने, जो कि ईसा के लगभग २६० वर्ष पहले राजगद्दी पर बैठा, बौद्ध धर्म को ग्रहण किया और समस्त भारतवर्ष में तथा भारतवर्ष के बाहर भी वह इस धर्म का बड़ा भारी प्रचारक हुआ। अशोक का नाम बोलगा नदी से लेकर जापान तक और साइबेरिया से लेकर लङ्का तक सत्कार की दृष्टि से देखा जाता है। "यदि किसी मनुष्य का यश उसके स्मरण करने वालों की संख्या से, उन लोगों की संख्या से, जिन्होंने कि सम्मान से उसका नाम लिया हो या अब तक लेते हों, समझा जा सकता है तो अशोक शारमेगन अथवा सीजर से अधिक प्रसिद्ध है।" आशोक ने अपना राज्य सारे उत्तरी भारतवर्ष में फैलाया और उसके शिलालेख दिल्ली और इलाहाबाद में, पेशावर के निकट और गुजरात में, उड़ीसा और मैसूर में भी पाये गये हैं।

उसने अपनी तीसरी सभा अपने राज्य के अठारहवें वर्ष में अर्थात् ईसा के २४२ वर्ष पहले पटने में की। यह सभा ९ मास तक हुई और इसमें मोग्गलि के पुत्र तिस्सा के सभापतित्व में एक हजार प्रधान लोग सम्मिलित थे और इसमें एक बार फिर पवित्र पाठों का उच्चारण किया गया और वे निश्चित किये गये।

दीपवंश और महावंश में लिखा है कि इस सभा के होने के उपरान्त अशोक ने काश्मीर और गांधार में, महीश (मैसूर के निकट) में, बनवासी (सम्भवतः राजपुताने) में, अपरन्तक (पश्चिमी पंजाब) में, महारत्थ, योनलोक (वेक्ट्रिया और यूनान राज्यों में) हिमवंत (मध्य हिमालय), सुबन्न भूमि (सम्भवतः बर्मा) और लङ्का में उपदेशकों को भेजा। अशोक के सूचना पत्रों से यह भी विदित होता है कि उसकी आज्ञाओं का पालन चोल (मद्रास प्रदेश) पाँड्य (मदुरा), सत्यपुर (सत्पुरा पर्वतश्रेणी) केरल (ट्रावंकोर), लङ्का और सीरिया के यूनानी राजा एन्टीओकस के राज्य में किया गया। एक दूसरे सूचना पत्र में वह लिखता है कि उसने पाँचों यूनानी राज्यों में अर्थात् सीरिया, इजिप्ट, मेसेडन, एपिरोस और सिरिन में भी दूत भेजे।

हम पहले ही देख चुके हैं कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र को लङ्का में भेजा और उसने शीघ्र ही वहाँ के राजा को बौद्ध बना लिया और लङ्का में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। महेन्द्र ने जहाँ-जहाँ कार्य किया वे स्थान अब तक भी लङ्का में हैं। अनुरुद्धपुर के उजड़े हुये नगर से आठ मील की दूरी पर महिन्तले की पहाड़ी है जहाँ कि लङ्का के राजा ने भारतवर्ष के भिक्षुओं के लिये एक मठ बनवाया था। "यहाँ इस पहाड़ी के पश्चिम की ओर जो कि बड़ी ढालुआँ थी एक बड़ी भारी चट्टान के नीचे एक ऐसे स्थान पर जो कि बस्ती से बिलकुल जुदा है और जहाँ से नीचे के मैदानों का बड़ा उत्तम दृश्य दिखलाई देता है उसने (महेन्द्र ने) अध्ययन के लिए

एक गुफा खुदवाई थी और उस चट्टान में सीढ़ियाँ करवाई थीं और केवल उन्हीं के द्वारा लोग उस स्थान में पहुँच सकते थे। वहाँ वह स्थान भी जो कि ठोस चट्टान को काट कर बनाया गया था अब तक है और उसमें छेद हैं जो कि या तो पर्दे के डंडों के लिये अथवा रक्षा के लिये कटघरे लगाने के लिए बनवाये गये थे। यह बड़ी चट्टान गुफा को उस धूप की गर्मी से बहुत अच्छी तरह बचाती है जो कि नीचे की चौड़ी घाटी को तपा देती है। उसमें नीचे के मैदान का जो कि अब एक बहुत दूर तक फैला हुआ जङ्गल है परन्तु उस समय कामकाजी मनुष्यों का निवास स्थान था, कोई शब्द नहीं पहुँचता...मैं सहज में उस दिन को नहीं भूल जाऊंगा जब कि मैंने पहले पहल इस एकान्त, ठंढी और शान्त गुफा में प्रवेश किया था जो कि बड़ी सादी और सुन्दर है जहाँ कि दो हजार वर्षों से अधिक हुआ कि लङ्का के इस बड़े शिक्षक ने अपने शान्तमय तथा उपकारी दीर्घ जीवन में बैठ कर ध्यान किया और कार्य किया था।

तिसा और महेन्द्र की मृत्यु के उपरान्त द्रुवीडियन लोगों ने लङ्का पर दो बार आक्रमण करके उसे विजय किया था परन्तु अन्त में ईसा के लगभग ८८ वर्ष पहले उन्हें वट्ट गामिनि ने निकाल दिया। कहा जाता है कि उसी समय तीनों पितक जो कि इतने वर्षों तक केवल कंठाग्र रख कर रक्षित रक्खे गये थे "मनुष्यों का नाश देख कर" लिपिबद्ध किये गये जैसा कि दीपवंश में लिखा है।

बुद्धगोश बौद्धों की धर्म पुस्तकों का बड़ा भारी भाष्यकार हुआ है। उसे बौद्धों का सायनाचार्य कहना चाहिये। वह मगध का रहने वाला एक ब्राह्मण था और उसने लङ्का में जाकर उन महाभाष्यों को लिखा जिनके लिये कि वह प्रसिद्ध है। तब वह लगभग ४५० ईस्वी में बर्मा गया और उस देश में बौद्ध धर्म का उसने प्रचार किया।

स्याम में ६३८ ईस्वी में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। जान पड़ता है कि उसी समय के लगभग जावा में भी बौद्ध उपदेशक गये और ऐसा विदित होता है कि यह धर्म जावा से ही सुमात्रा में फैला। ये सब देश दक्षिणी बौद्ध धर्म को मानने वाले हैं।

उत्तरी बौद्ध धर्म के विषय में हम जानते हैं कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने के पहले वह उत्तर पश्चिमी भारतवर्ष का मुख्य धर्म था। काश्मीर का राजा पुष्पमित्र ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में बौद्धों के पीछे पड़ गया और पुष्पमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने गङ्गा के तट पर यूनानियों से युद्ध किया। यूनानी लोग जो कि मैनेण्डर के आधीन थे विजयी हुये और ईसा के लगभग १५० वर्ष पहले उन्होंने

अपना राज्य गङ्गा नदी तक फैला दिया। परन्तु यूनानियों के विजय से बौद्ध धर्म को कोई हानि नहीं पहुँची और उस समय के एक प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षक नागसेन ने यूनानी राजा के साथ अपने धर्म के विषय में वादविवाद जो कि एक मनोरञ्जक पाली ग्रन्थ में हम लोगों के लिये अब तक रक्षित है।

ईसा के उपरान्त पहली शताब्दी में कनिष्क के आधीन यूची लोगों ने काश्मीर को विजय किया। कनिष्क का बड़ा राज्य काबुल, यारकन्द और खोकान में, काश्मीर और राजपूताना में और समस्त पंजाब में, दक्षिण में गुजरात और पूरब में आगरे तक फैला हुआ था। वह उत्तरी सम्प्रदाय का एक बड़ा उत्साही बौद्ध था और उसने ५०० अरहतों की एक सभा की। यदि इस सभा ने अशोक की पटने की सभा की तरह पाठों को निश्चित किया होता तो इस समय हम लोगों के पास दक्षिण के तीनों पितकों की तरह उत्तरी बौद्ध धर्म की निश्चित पुस्तकें भी होतीं परन्तु कनिष्क की सभा ने केवल तीन भाष्य लिख कर अपने को संतुष्ट किया और इस कारण उत्तरी बौद्ध धर्म, मूल धर्म से हटता गया। उसने भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। यहाँ पर यह कहना आवश्यक होगा कि कनिष्क की सभा दक्षिणी बौद्धों को उसी प्रकार विदित नहीं है जिस प्रकार कि अशोक की सभा उत्तरी बौद्धों को। अश्वघोष जिसने कि उत्तरी बौद्धों के लिये बुद्ध का एक जीवन चरित्र लिखा है कनिष्क के यहाँ था। ऐसा विश्वास किया जाता है ईसाई चेला सेण्ट टौमस इसी समय पश्चिमी भारतवर्ष में आया और यहाँ मारा जाकर शहीद हुआ। ईसाई कथा का राजा गोंडोफरिस, कंदहार का कनिष्क समझा जाता है। ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में बौद्ध पुस्तकें सम्भवतः काश्मीर से चीन के सम्राट् के पास भेजी गईं। एक दूसरे सम्राट् ने सन् ६२ ईसवी में अधिक बौद्ध ग्रन्थ मंगवाए और उसी समय से बौद्ध धर्म का चीन में शीघ्र प्रचार होने लगा यहाँ तक कि चौथी शताब्दी में वह वहाँ का प्रधान धर्म हो गया।

चीन से सन् ३७२ ईसवी में कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और वहाँ से ५०० ईसवी में जापान में। कोनान, चीन, फारमूसा, मंगोलिया तथा अन्य स्थानों में चौथी और पाँचवी शताब्दियों में चीन से बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, और काबुल से यह धर्म यारकन्द, बल्ख, बुखारा, तथा अन्य स्थानों में फैलता गया।

नैपाल में बौद्ध धर्म का कुछ प्रचार बहुत पहले ही हो गया होगा। परन्तु यह राज्य छठीं शताब्दी में बौद्ध हो गया और तिब्बत के प्रथम बौद्ध राजा ने भारतवर्ष से ६३२ ईसवी में धर्म ग्रन्थ मंगवाये।

अब हम दक्षिणी देशों तथा उत्तर पूरब की जातियों में बौद्ध धर्म के प्रचार

का ।इतिहास लिख चुके और अब हमारे लिये अशोक ने उन उपदेशों का फल निश्चित करना रह गया है जिन्हें कि उसने पश्चिम में अर्थात् ईजिप्ट और पैलेस्टाइन में भेजा था । और यह हमें आधुनिक सभ्यता और धर्म के इतिहास के एक बड़े मनोरंजक प्रश्न के सम्मुख लाता है ।

बौद्ध और ईसाई धर्मों की कथा, कहानियों, रूप, व्यवस्था और आज्ञाओं की अद्‌भुत समानता ने प्रत्येक जिज्ञासु के हृदय पर प्रभाव डाला है । उदाहरण की भाँति इनमें से हम कुछ बातों का उल्लेख नीचे करेंगे ।

बुद्ध के जन्म के सम्बन्ध की कथाएँ ईसा मसीह के जन्म की कथाओं के समान हैं । दोनों अवस्थाओं में उनके पिता और माता को दैवी सूचना हुई और इन दोनों ही बच्चों का जन्म अलौकिक रीति से अर्थात् कुमारो माताओं से हुआ । ललित विस्तर में लिखा है कि "राजा की सम्मति से रानी को कुमारी की भाँति बत्तीस महीनों तक जीवन व्यतीत करने की आज्ञा मिली ।" परन्तु हमें यह कथा दक्षिणी बौद्धों के प्राचीन पाली ग्रन्थों में नहीं मिलती ।

ईसा मसीह की भाँति गौतम के जन्म पर भी एक तारा दिखाई पड़ा था और वह पुस्य का तारा था जिसे कि कोलब्रूक साहब ने निश्चित किया है । असित, जो कि बौद्ध कथा का सीमियन है, गौतम के पिता के पास आया और उसने इस दैवी पुत्र को देखने की अभिलाषा प्रगट की । उसे यह बच्चा दिखलाया गया और उसने यह भविष्य वाणी कही कि यह पुत्र सत्य को स्थापित करेगा और उसके धर्म का बड़ा प्रचार होगा (नलकसुत्त)

हम उन बड़े सगुनों को बड़ा आवश्यक नहीं समझते जो कि दोनों शुभ अवस्थाओं को सूचित करते थे । बुद्ध के जन्म पर "अन्धों ने इस प्रकार दृष्टि पाई मानों उन्हें उसके प्रताप को देखने ही की कामना रही हो, बहिरे लोग सुनने लगे, गूंगे एक दूसरे से बात करने लगे, कूबड़े सीधे हो गए, लँगड़े लोग चलने लगे, कैदियों के बन्धन मुक्त हो गए ।" ऐसी शुभ बातें सब ही धर्म के लोग अपने धर्म को स्थापित करने वालों के जन्म होने के समय बतलाते हैं ।

हम पहले ही गौतम और ईसा मसीह के घनिष्ट और अद्‌भुत समानता के विषय में कह चुके हैं । ललित विस्तार में यह कथा काव्य की भाषा में कही गई है परन्तु जैसी कि वह दक्षिणी पुस्तकों में कही गई है उससे भी बाइबिल की कथा से उसकी अद्‌भुत समानता मिलती है ।

ईसा मसीह की तरह गौतम के भी बारह चेले थे । उन्होंने अपनी मृत्यु के थोड़े ही समय पहले कहा "केवल मेरे ही धर्म में बारह बड़े चेले पाए जा सकते

हैं जो कि सर्वोच्च पुण्यों को करते हैं और संसार को उसके दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिये उत्साहित हैं।" और इसी प्रकार के भाव ने कपिलवस्तु के उपदेशक तथा बैथिलहेम के उपदेशक दोनों ही को उत्तेजित किया। गौतम ने कहा था "तुममें से कोई दो, एक ही मार्ग से न जाय। हे भिक्षुओं इस सिद्धान्त का उपदेश करो जो कि उत्तम है।" (महावग्ग १, ११, १)

धर्म ग्रहण करने के पहले जल संस्कार की रीति बौद्ध और ईसाई दोनों ही धर्मों में है और वास्तव में जान बैपटिष्ट ने जल संस्कार की रीति एसेनीज से ग्रहण की थी जो कि ईसा मसीह के जन्म के पहले पैलेस्टाइन में बौद्ध धर्म का प्रतिनिधि था जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। जब ईसा मसीह गैलेली में केवल युवा उपदेशक था उस समय उसने जान बैपटिष्ट का यश सुना और वह जान के यहां गया और उसके साथ रहा इसमें सन्देह नहीं कि उसने जान से एसेनीज की बहुत सी आज्ञाओं और शिक्षाओं को सीखा और जलसंस्कार की रीति को ग्रहण किया जिसे कि जान इतने काल तक करता आया था। उस समय से जलसंस्कार ईसाई धर्म की एक मुख्य रीति हो गई है। ईसाई जलसंस्कार के समय पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा को स्वीकार किया जाता है जैसे कि बौद्ध अभिषेक के उपरान्त बुद्ध, धर्म, और संघ को स्वीकार करना होता है।

हम उन अलौकिक बातों का वर्णन नहीं करेंगे जो कि गौतम और ईसा मसीह दोनों ही के द्वारा की हुई कही जाती हैं। हम गौतम की कथा का भी वर्णन नहीं करेंगे जिनके विषय में कि हमने पिछले अध्याय में कुछ लिखा है और जिनकी कि ईसाई कथाओं से इतनी अद्भुत समानता है। रेनान साहब, जो कि ईसाई धर्म की उन्नति में बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ने को स्वीकार करने के बहुत विरुद्ध हैं, कहते हैं कि जुदा के धर्म में कोई ऐसी बात नहीं थी जिसने कि ईसा मसीह को उपमा की प्रणाली में लिखने के लिये उत्तेजित किया हो। इसके सिवाय "हमें बौद्ध पुस्तकों में ठीक बाइबिल की कथाओं की भाषा और उसी ढंग की कहानियाँ मिलती हैं।"

जब हम सन्यासियों की रीतियों, विधानों और क्रियाओं को देखते हैं तो हमें दोनों धर्मों की सबसे अद्भुत समानता से बड़ा आश्चर्य होता है। इसके विषय में डाक्टर राइज डेविड साहब लिखते हैं "यदि यह सब दैव संयोग से हुआ हो तो यह समानता की बड़ी भारी अलौकिक घटना है, वास्तव में वह दस हजार अलौकिक घटनाओं के समान है।"

अब्बे हक नामक एक रोमन केथोलिक उपदेशक ने तिब्बत में जो कुछ देखा उससे उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। "पादरियों की छड़ी, टोपी, चोगा आदि जिन्हें कि

बड़े लामा लोग यात्रा के समय अथवा मन्दिर के बाहर किसी उत्सव के समय पहनते हैं, पूजा के समय जो दोहरे गाने वाले, भजन, झाड़ फूंक, धूपदान का पांच सिकड़ियों में लटकना और इस प्रकार बना रहना कि वह इच्छानुसार खोला अथवा बन्द किए जा सके ऊपर भक्तों के सिर के लामा लोगों का दहिना हाथ उठाकर आशीर्वाद देना, माला, पुजारियों को कुवांरा रहना, संसार से वैराग, शहीदों की पूजा, निराहार रहना, यात्रा प्रसंग, प्रार्थनाएँ, पवित्र जल, ये सब बौद्ध लोगों तथा हम लोगों में समान बातें हैं।" मिस्टर आर्थर लिली साहब जिनकी पुस्तक से ऊपर के वाक्य उद्धृत किए गए हैं कहते हैं कि अब्बे ने समान बातों की पूरी सूची नहीं दी है और वह उनमें इन बातों का भी उल्लेख कर सकता था जैसे पाप का स्वीकार करना, पुजारियों का माथे के बीच का भाग मुड़ाए रहना, महात्माओं की हड्डी का पूजन, मन्दिरों और वस्तुओं के सामने फूलों, रोशनी और मूर्त्तियों को काम में लाना, वेदियों पर क्रास का चिन्ह, त्रिमूर्ति का ऐक्य, स्वर्ग की रानी की पूजा, धर्म-पुस्तकों का ऐसी भाषा में होना जो कि सर्वसाधारण पूजा करनेवालों को विदित नहीं है, महत्माओं और बुद्धों का ताज, फरिश्तों के पर, प्रायश्चित, कोड़ा लगाना, पंखा, पोप, कार्डिनल, बिशप, एबट, प्रेसबिटर, डीकन और ईसाई मन्दिर में भिन्न-भिन्न प्रकार की बनावटें।" हमारे लिये इन सब रीतियों और विधानों का ब्योरेवार वर्णन करना अथवा यह दिखलाना कि रोमन केथेलिक प्रणाली की सब बातें किस प्रकार बौद्ध धर्म की बिलकुल नकल जान पड़ती हैं, सम्भव नहीं है। यह समानता इतनी अधिक है कि तिब्बत में पहले पहल जो ईसाई उपदेशक लोग गए उन लोगों का यह विश्वास हुआ कि बौद्ध लोगों ने रोमन केथेलिक सम्प्रदाय से बहुत से विधानों और रूपों को ग्रहण किया और ऐसा ही उन्होंने लिखा है। परन्तु यह बात सुप्रसिद्ध है कि बौद्धों ने ईसा मसीह के जन्म के पहले भारतवर्ष में बहुत से बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये थे और पटने के निकट नालन्दा में बौद्धों का एक बड़ा भारी मठ एक धन सम्पन्न मन्दिर और एक विद्वत्तापूर्ण विश्वविद्यालय था जो यूरप में ऐसे मन्दिर अथवा मठ होने के बहुत पहले था और भारतवर्ष में जब बौद्ध धर्म का पतन हुआ तो नालंदा तथा दूसरे स्थानों की बड़ी बड़ी बौद्ध रीतियों और व्यवस्थाओं की नैपाल और तिब्बत के बौद्धों ने नकल की और यह यूरप के जंगली जातियों के आक्रमण से मुक्ति पाने अथवा सैनिक सभ्यता अथवा धर्म प्रबन्ध के स्थापित होने के पहले हुआ। अतएव यह स्पष्ट है कि मन्दिर और मठों के प्रबन्ध और बनावट इत्यादि की सब बातों को जो कि दोनों धर्मों में समान हैं, यूरप के लोगों ने पूर्वी देशों से ग्रहण किया था, पूर्वी देशों ने यूरप से नहीं।

हम को यहां पर बौद्ध धर्म के उत्तर काल के रूपों से कोई मतलब नहीं है। बौद्ध धर्म का यश नालन्दा और तिब्बत की आडम्बर युक्त रीतियों और विधानों में नहीं है जिनकी कि कई शताब्दियों के उपरान्त रोम में पुनः उत्पत्ति हुई थी परन्तु उसका यश सदाचार की उन अपूर्व शिक्षाओं में है जिनका उपदेश कि स्वयं गौतम ने बनारस और राजगृह में दिया था और जिसकी पुनरुत्पत्ति जरुसलेम में पांच शताब्दियों के उपरान्त हुई थी। एम रेनेन साहब कहते हैं कि "उसके (ईसा मसीह के) समान किसी ने कभी अपने जीवन में मनुष्य जाति के लाभों की मुख्यता और स्वार्थ की तुच्छता को नहीं माना है...कदाचित् शाक्य मुनी को छोड़ कर उसके समान और कोई मनुष्य नहीं हुआ है जिसने अपने कुटुम्ब, इस जीवन के सुखों और सांसारिक भावनाओं को इतना अधिक कुचल न डाला हो।" जो मनुष्य कि तुम्हें दुःख दे उसके साथ भलाई करना, जो तुमसे घृणा करे और कष्ट दे उस पर स्नेह करना और भलाई के संसार को त्याग देना, ये गौतम और ईसा मसीह दोनों की मुख्य शिक्षायें थीं। क्या ये सब समानताएँ केवल आकस्मिक हुई हैं।

इस बड़े प्रश्न के विषय में सम्मति स्थिर करने के लिये हम अपने पाठकों के लिये कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करेंगे। हम लोग अशोक के विज्ञापनों से जानते हैं कि उसने ईजिप्ट और सीरिया में बौद्ध उपदेशकों को भेजा और ये उपदेशक उन देशों में बसे और वहां उन्होंने बड़े और प्रबल बौद्ध समाज स्थापित किए। अलग्जेण्ड्रिया के थेरापूट्स पेलेस्टाइन के एसिनीज़ जो कि यूनानिया में इतने सुप्रसिद्ध हैं, वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं की सम्प्रदाय के थे जो कि बौद्ध रीतियों को करते थे, बौद्ध सिद्धान्तों और आज्ञाओं का उपदेश देते थे और पश्चिम के देशों में गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करते थे। डीन मेन्सल और डीन मेलमेन की तरह ईसाई विद्वान और शैलिंग और शोपेनहौअर की तरह दार्शनिक लोग समान रीति से इस बात को स्वीकार करते हैं कि थेरापुएटस और एसेनीज़ उन्ही बौद्ध उपदेशकों के सम्प्रदाय के थे जो कि भारतवर्ष से आए थे।

यह सम्प्रदाय जीवित रही और अपना कार्य करती रही। अशोक के समय से तीन शताब्दियों के उपरान्त उस समय जब कि ईसा मसीह उपदेश देता था, एसेनीज इतने प्रसिद्ध और प्रबल हो गए थे कि प्रसिद्ध प्लिनी ने उनके विषय में लिखा है।

प्लिनी सन् २३ और ७९ ईसवी के बीच में हुआ है और वह एसेनीज लोगों का वर्णन इस भाँति करता है :—"(डेड सी के) पश्चिमी किनारे पर परन्तु समुद्र से इतनी दूर कि वे 'अपकारक हवाओं से बचे रहें, एसेनीज लोग रहते थे। वे एक

बैरागी सम्प्रदाय के हैं जो संसार के अन्य सन्यासियों से विलक्षण हैं। उनके स्त्री नहीं होती, वे स्त्री प्रसंग को बिलकुल त्याग देते हैं और अपने पास द्रव्य नहीं रखते और खजूर के वृक्षों के निकट रहते हैं। उनके निकट नित्य नई-नई भीड़ एकत्रित होती है, बहुत से मनुष्य, जीवन की थकावट और अपने जीवन में दुर्भाग्य के कारण उनका आश्रय लेते हैं। इस प्रकार हजारों वर्ष तक जिसका कि उल्लेख करना अविश्वासनीय है, उनका समाज जिसमें कि कोई जन्म नहीं लेता, स्थिर रहा है।" यह एक बड़ा अच्छा प्रमाण है। यह प्रमाण एक पक्षपात रहित शिक्षित रोम निवासी का है जिसने कि ईसा मसीह के समय में पेलेस्टाइन में पूर्वी विचारों और रीतियों की जो उन्नति हुई थी उसका वर्णन किया है। हमें उपरोक्त वाक्यों से यह विदित होता है कि अशोक के समय के उपरान्त तीन शताब्दियों में बौद्ध उपदेशकों ने पेलेस्टाइन में क्या फल प्राप्त किया। उन्होंने वहां भारतवर्ष के बौद्धों की भांति एक सम्प्रदाय स्थापित कर ली थी और वह सम्प्रदाय उन्हीं अभ्यासों को करती थी उन्हीं ध्यानों में अपने को लगाती थी और उसी संयम के साथ अविवाहित रह कर जीवन व्यतीत करती थी जैसा कि भारतवर्ष के बौद्ध लोग करते थे। गौतम की आज्ञाओं का प्रभाव उन पर जाता नहीं रहा था। वे उनका सत्कार करते थे और उनके अनुसार चलते थे और धार्मिक तथा विचारवान यहूदियों में उनका प्रचार करते थे।

अब हम इस विषय को यहां समाप्त करेंगे। हम दिखला चुके हैं कि सीरिया में ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का उपदेश किया गया था। हम दिखला चुके हैं कि ईसा मसीह के जन्म के समय बौद्ध धर्म पेलेस्टाइन में ग्रहण किया जा चुका था और बौद्ध लोग वहाँ भिन्न-भिन्न नामों से रहते थे और गौतम के सिद्धान्तों और उसकी आज्ञाओं का उपदेश करते थे। हम दिखला चुके हैं कि ईसा मसीह ने इन बौद्धों की रीतियों और शिक्षाओं को ज्ञान के द्वारा और सम्भवतः अन्य मार्गों से भी सीखा और अन्त में हम ईसा मसीह की आज्ञाओं और बौद्ध आज्ञाओं के विचार और भाषा की अद्‌भुत समानता, ईसाई और बौद्धों के संसार-त्याग करने, उनके रीतियों कथाओं और रूपों की अद्‌भुत समानता भी दिखा चुके हैं। क्या यह समानता आकस्मिक है। इस विषय में पाठकों को स्वयं अपनी सम्मति स्थिर करनी चाहिये।

कुछ ग्रन्थकार लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि प्राचीन ईसाई धर्म एसिनीज लोगों का धर्म अर्थात् पेलेस्टाइन का बौद्ध धर्म था। हम इस बात से सहमत नहीं हैं। सिद्धान्तों के विषय में ईसाई धर्म बौद्ध धर्म का अनुगृहीत नहीं है। ईसा मसीह ने यहूदियों के जातीय अद्वैतवाद धर्म को उसी भांति ग्रहण किया था जैसा कि गौतम

ने हिन्दुओं के पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्तों को। परन्तु ईसाई धर्म नीति और सदाचार के विचार से बौद्ध धर्म उस रूप में अनुगृहीत है जिस रूप में वह ईसा मसीह के जन्म के समय में पेलेस्टाइन में एसेनीज लोगों के द्वारा उपदेश किया जाता था।

बत्तीसवाँ अध्याय

जैन धर्म का इतिहास

बहुत समय तक लोगों का यह विश्वास था कि जैन धर्म गौतम बुद्ध के धर्म की एक शाखा है। ह्वेनत्सांग ने जो कि ईसा की सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया था इस धर्म को इसी दृष्टि से देखा है और हम लोगों को जैन धर्म के सिद्धान्तों की जो बातें अब तक विदित हुई हैं उनसे यह विचार ठीक जान पड़ता है।

लेसन और वेबर साहब बड़े अच्छे प्रमाणों के साथ जैन धर्म की स्वतन्त्र उत्पत्ति का विरोध करते थे और इन दोनों विद्वानों का मत था कि जैन लोग बौद्ध ही थे जिन्होंने अपना धर्म छोड़ कर उस धर्म की एक जुदी शाखा बना ली थी। जैनियों के धर्म ग्रन्थ पांचवीं शताब्दी तक लिपिबद्ध नहीं किए गए थे और बार्थ साहब का यह सिद्धान्त बहुत सम्भव जान पड़ता था कि जैनियों की कथाओं और उनके धर्म की उत्पत्ति बौद्धों की कथाओं से हुई है। भारतवर्ष में जैनियों की शिल्पविद्या भी उत्तर काल के समय की है और जैसा कि हम किसी आगे के अध्याय में देखेंगे वह बौद्धों की इमारतों के पतन होने के कई शताब्दियों के उपरान्त प्रारम्भ की गई थी।

परन्तु डाक्टर बुलहर और जेकोबी साहबों ने अभी कुछ बातों का पता लगाया है जिनसे कि वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जैन धर्म की उत्पत्ति गौतम के धर्म कई शताब्दियों तक बराबर प्रचलित रहे यहां तक कि बौद्धों के धर्म का पतन हुआ परन्तु जैन धर्म अब तक भी भारतवर्ष के कुछ भागों में एक प्रचलित धर्म है। हम अपने पाठकों के सामने उन घटनाओं और कथाओं को उपस्थित करेंगे जिनके आधार पर यह सम्मति स्थिर की गई है।

दोनों सम्प्रदाय के जैन अर्थात् श्वेताम्बर (सफेद कपड़े वाले) और दिगम्बर (जो नंगे रहते हैं) कहते हैं कि इस धर्म का संस्थापक महावीर कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ का पुत्र था और वह क्षत्रियों के वंश का था। हम जानते हैं कि गौतम बुद्ध जब भ्रमण करता हुआ कोटिग्राम में आया तो वहाँ अम्बपाली वेश्या और

लिच्छवि लोगों ने उससे भेंट की। यह कोटिग्राम वहीं है जो कि जैनियों का कुण्ड-ग्राम है और बौद्ध ग्रन्थों में जिन नातिकों का वर्णन है वे ही ज्ञात्रिक क्षत्रिय थे। इसके अतिरिक्त महावीर की माता तृसा वैशाली के राजा कटक की बहिन कही जाती है जिसकी पुत्री का विवाह मगध के प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार से हुआ था।

महावीर, जो कि पहले बर्द्धमान अथवा ज्ञात्रिपुत्र कहलाता था, अपने पिता की तरह काश्यप था। २८ वर्ष की अवस्था में उसने पवित्र सम्प्रदाय को ग्रहण किया और बारह वर्ष तक आत्मकष्ट सहकर केवलिन् अथवा जिन, तीर्थंकर अथवा महावीर अर्थात् महात्मा और भविष्यतवक्ता हो गया। अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में उसने अपने सन्यासियों का सम्प्रदाय स्थापित किया। इस प्रकार वह गौतम बुद्ध का प्रतिस्पर्धी था और बौद्ध ग्रन्थों में उसका नाति पुत्र के नाम से वर्णन किया गया है और वह निगन्थों (निग्रन्थों अर्थात् वस्त्ररहित लोगों) का मुखिया कहा गया है जो लोग कि वैशाली में अधिकता से थे। महावीर पापा में मरा।

जैन कथाओं में यह वर्णन है कि महावीर की मृत्यु के दो शताब्दी पीछे मगध में आकाल पड़ा। उस समय मगध में प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त का राज्य था। भद्र-बाहु अपने कुछ जैन साथियों को लेकर अकाल के कारण मगध छोड़ कर कर्नाटक को गया। उसकी अनुपस्थिति में मगध के जैनियों ने अपने धर्म ग्रन्थों का निर्णय किया जिसमें कि ग्यारह अंग और चौदह पब्ब हैं और इन चौदह पब्बों को कभी कभी बारहवां अंग भी कहते हैं। अकाल दूर होने पर जो जैनी लोग चले गए थे वे मगध में फिर आए परन्तु इतने समय में जो लोग मगध में रहे थे और जो कर्नाटक को चले गए थे उनके चाल ब्यवहार में भेद हो गया था। मगध के लोग श्वेत वस्त्र पहिनने लगे थे परन्तु कर्नाटकवाले अब तक भी नंगे रहने की प्राचीन रीति को पकड़े हुए थे। इस प्रकार वे दोनों श्वेताम्बर और दिगम्बर कहलाने लगे। श्वेता-म्बरों ने जो धर्म ग्रन्थ निश्चित किए थे उन्हें दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया और इस कारण दिगम्बरों में कोई अंग नहीं माने जाते। कहा जाता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अन्तिम बार सन् ७९ अथवा ८२ ईसवी में जुदे हुये।

कुछ समय में श्वेताम्बरों के धर्म ग्रन्थ गड़बड़ हो गये और उनके नाश हो जाने का भय हुआ। अतएव उनको लिपिबद्ध करना आवश्यक हुआ और यह बल्लभी (गुजरात में) की सभा में सन् ४५४ अथवा ४६७ में किया गया। इस सभा ने जैन नियमों का उस रूप में संग्रह किया जिसमें कि हम आज तक उन्हें पाते हैं।

इन घटनाओं और कथाओं के अतिरिक्त मथुरा में जैन मूर्त्तियों के पद पर खुदे हुये लेख पाए गए हैं जिनसे डाक्टर बुहलर (जिसने कि पहले पहल इस प्रमाण

को मालूम किया है) के मत के अनुसार यह प्रगट होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ईसा की पहली शताब्दी में वर्तमान थी। इन शिला लेखों में काश्मीर के राजा कनिष्क का संवत् अर्थात् शक संवत् दिया है जो कि सन् ७८ ईस्वी में प्रारम्भ हुआ था। इनमें से एक शिला लेख में जो कि नौशक संवत् (अर्थात् ८७ ईस्वी) का है लिखा है कि उस मूर्त्ति को एक जैन उपासक विकटा ने बनवाया था।

यही उन प्रमाणों का सारांश है कि जिनसे यह फल निकाला जाता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म का समकालीन है और वह उसकी शाखा नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों में "नातपुत्र" और निग्रन्थों" का उल्लेख होने से यह विचारना यथोचित है कि नंगे जैनियों के सम्प्रदाय की उत्पत्ति भी उसी समय के लगभग हुई थी। वास्तव में हम कई बार लिख चुके हैं कि गौतम बुद्ध जिस समय शिक्षा देता था और अपने भिक्षुकों के सम्प्रदाय को पथ दिखलाता था उस समय भारतवर्ष में सन्यासियों के कई सम्प्रदाय थे। जिस बात का मानना बहुत कठिन है वह यह है कि जैन धर्म, के जैसा कि हम उसे इस समय पाते हैं, ईसा के पहले छठीं शताब्दी में निग्रन्थ लोग मानने वाले थे। यह कथा कि जैनियों का नियम चन्द्रगुप्त के समय में मगध की सभा में निश्चित किया गया, सम्भवतः कल्पित है और यदि यह कथा सत्य भी होती तो ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में जो नियम निश्चित किये गये थे उनसे ईसा के उपरान्त पाँचवीं शताब्दी के लिखे हुये नियमों में बड़ा भेद होता। क्योंकि इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि प्राचीन निग्रन्थ लोगों के धर्म में बहुत पहले से परिवर्तन हुआ है और वह पूर्णतया बदल गया है, और इस सम्प्रदाय के अधिक शिक्षित लोगों ने जिन्होंने कि श्वेत वस्त्र ग्रहण किया, बराबर अपनी कहावतों और आज्ञाओं को, अपने नियमों और रीतियों को, अपनी कथाओं और वार्ताओं को बौद्ध धर्म से ग्रहण किया जो कि ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष का प्रचलित धर्म था। इस प्रकार जैन लोग कई शताब्दियों तक बौद्ध धर्म को अधिकतर ग्रहण करते गये यहाँ तक कि उन्होंने बौद्ध धर्म के सारांश को अपने ही धर्म की भाँति ग्रहण कर लिया और नंगे निग्रन्थों के प्राचीन धर्म का बहुत कम अंश बाकी रह गया था। उसी समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में उनके धर्म ग्रन्थ लिपिबद्ध किए गए हैं और इस कारण यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वे उन बौद्ध ग्रन्थों की नकल जान पड़ते हैं जो कि ६ शताब्दी पहले लिखे जा चुके थे। तब यह मान कर कि निग्रन्थों की स्वतन्त्र उत्पत्ति ईसा से छठीं शताब्दी में हुई हम ह्वेनत्सांग को बहुत गलत नहीं समझ सकते कि उसने

जैन धर्म को सातवीं शताब्दी में जैसा उसने देखा (और जिस दृष्टि से कि आज हम उसे देखते हैं) बौद्ध धर्म की शाखा समझा हो।

बौद्धों और निग्रन्थों के साथ-साथ सन्यासियों के जो अन्य सम्प्रदाय ईसा के पहले छठीं शताब्दी में थे उनमें अपने समय में सबसे प्रसिद्ध गोशाल के स्थापित किए हुये आजीवक लोग थे। अशोक ने ब्राह्मणों और निग्रन्थों के साथ-साथ उनका भी उल्लेख अपने शिलालेखों में किया है। अतएव गोशाल बुद्ध और महाबीर का प्रतिस्पर्धी था परन्तु उसके सम्प्रदाय का अब लोप हो गया है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह विदित होता है कि जैनियों के धर्म में बौद्धों से बहुत कम अन्तर है। बौद्धों की भांति जैनियों का भी सन्यासियों का सम्प्रदाय है और वे जीव हिंसा नहीं करते और संसार को त्यागने की प्रसंशा करते हैं। कुछ बातों में वे बौद्धों से भी बढ़ गए हैं और उनका मत है कि केवल पशु और वृक्षों में ही नहीं वरन् तत्वों अर्थात् अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल के छोटे-छोटे परमाणुओं में भी जीव हैं। अन्य बातों में जैन लोग बौद्धों की तरह वेद को नहीं मानते वे कर्म और निर्वाण के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं और आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वे पच्चीस तीर्थंकरों में भी विश्वास करते हैं जैसे कि प्राचीन बौद्ध लोग यह विश्वास करते थे कि गौतम बुद्ध के पहले २४ अ य बुद्ध हो गए हैं।

जैनियों के पवित्र ग्रन्थों अर्थात् आगमों के सात भाग हैं जिनमें अंग सबसे प्रधान भाग है। अंग सात हैं जिनमें आचारांगसूत्र का जिसमें जैन सन्यासियों के आचरण के नियम दिये हैं, अनुवाद डाक्टर जेकोबी साहब ने किया है और उपासक दशा का, जिसमें जैन उपासकों के आचरण के नियम हैं अनुवाद डाक्टर हर्नली साहब ने किया है।

अब हम अपने पाठकों के सम्मुख आचारांगसूत्र से महावीर के जीवन चरित्र के कुछ अंश उद्धृत करेंगे। इस ग्रन्थ के विद्वान अनुवादक हर्मेन जेकोबी साहब ने इस ग्रन्थ का समय ईसा के पहले तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में निश्चय किया है परन्तु ग्रन्थ की आडम्बरयुक्त तथा बनावटी भाषा से बहुत से पाठक लोग उसे ईसा के कई शताब्दियों के उपरान्त का विचार करेंगे। समस्त ग्रन्थ गौतम के जीवन चरित्र के सीधे शुद्ध वर्णन के बहुत दूरस्थ और बहुत बिगड़े हुए अनरूप की तरह है।

जब क्षत्रियानीं त्रिसला ने इन चौदहों श्रेष्ट स्वप्नों को देखा तो वह जाग कर प्रसन्न, हर्षित और आनन्दित...हुई, अपने पलङ्ग से उठी और चौकी से उतरी।

न तो शीघ्रता में, न कांपती हुई, राजहंसिनी की तरह शीघ्र और समान चाल से वह क्षत्रिय सिद्धार्थ के पलङ्ग के पास गई। वहां उसने क्षत्रिय सिद्धार्थ को जगाया और उससे नम्र, मनोहर, प्रीतियुक्त, मृदु, प्रतापशाली, सुन्दर, शुभ, कल्याणमय, मङ्गल-दायक, सुखी, हृदयग्राही, हृदय को सुख देनेवाले, तुले हुए, मीठे और कोमल शब्दों में कहा...हे स्वप्नों के देवताओं के प्रियपात्र, मैं अभी अपने पलङ्ग पर थी...और चौदह स्वप्नों को, अर्थात् एक हाथी इत्यादि को देखकर जाग उठी। हे स्वामी इन चौदहों श्रेष्ट स्वप्नों का क्या आनन्दमय फल निश्चय कर के होगा?...उसने अपनी स्वाभाविक बुद्धि और अन्तर्ज्ञान से विचार के साथ इन स्वप्नों का अर्थ समझ लिया और क्षत्रियानी त्रिसला से नम्र, मनोहर इत्यादि शब्दों में यों कहा 'हे देवताओं का प्रियपात्र तुमने कीर्तिमान स्वप्न देखे हैं...तुम्हें एक मनोहर सुन्दर बालक उत्पन्न होगा जो कि हमारे वंश की पताका, हमारे वंश का दीपक, हमारे वंश का सिरमौर हमारे वंश का आभूषण, हमारे वंश को प्रतापी बनानेवाला, हमारे वंश का सूर्य, हमारे वंश का सहारा, हमारे वंश को आनन्द और यश देनेवाला, हमारे वंश का वृक्ष, हमारे वंश को उच्च बनानेवाला होगा।'

बहुत से सरदारों, राज्याधिकारियों, राजाओं, राजकुमारों, वीरों, घर के मुखियों, मन्त्रियों, प्रधान मन्त्रियों, ज्योतिषियों, नौकरों, नृत्यकों, नगर वासियों व्यापारियों सौदागरों के नायकों, सेनापतियों, यात्रियों के नायकों, और सीमा रक्षकों के बीच में वह मनुष्यों के सरदार और स्वामी की तरह, मनुष्यों के बीच सांड़ और सिंह की तरह श्रेष्ठ प्रताप और यश से चमकता हुआ देखने में प्रिय, उस चन्द्रमा की तरह जो कि नक्षत्रों और चमकते हुए तारों के बीच श्वेत बादलों में से निकलता है, उसने स्नान के गृह में से सभा भवन में प्रवेश किया और पूरब की ओर मुँह करके अपने सिंहासन पर बैठा...'हे देवताओं के प्रिय उन स्वप्नों का फल बतलाने वालों को शाघ्र बतलाओ जो कि लक्षणों के फल की विद्या में उसकी आठों शाखाओं के सहित भली भाँति निपुण हैं और उसके अतिरिक्त बहुत से अन्य शास्त्रों में निपुण हैं! जब स्वप्नों का फल बतलाने वालों ने क्षत्रिय सिद्धार्थ का यह समाचार सुना तो उन्होंने.. अपने मन में स्थिर किया। वे उन पर विचार करने और परस्पर बात करने लगे...।

जिस रात्रि को पूज्य महावीर ने जन्म लिया उसमें देवताओं और देवियों के नीचे उतरने और ऊपर चढ़ने के कारण बड़ा दैवी प्रकाश हुआ और सृष्टि में प्रकाश से चमकते हुये देवताओं के समूह से बड़ा हलचल और शब्द हुआ...पूज्य महावीर ने गृहस्थ आश्रम ग्रहण करने के पहले (अर्थात् अपने विवाह के पहले) प्रधान अप-

रिमित और अकुंठित ज्ञान तथा अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पूज्य महावीर ने अपने इस प्रधान अपरिमित ज्ञान और अन्तर्ज्ञान के द्वारा देखा कि उसके त्याग का समय निकट आ गया था। उसने अपनी चाँदी, अपना स्वर्ण, अपना धन, धान्य, पदवी, राज्य, सेना, अन्न, कोष, भंडार, नगर, स्त्रीगृह, को त्याग दिया। उसने अपनी यथार्थ अमूल्य सम्पत्ति का यथा धन, स्वर्ण, रत्न, मणि, मोती, संख, पत्थर, मूंगे, लाल, इत्यादि का त्याग कर दिया और उसने योग्य मनुष्यों के द्वारा धन बँटवाया। उसने दरिद्र मनुष्यों से धन बँटवाया।......पूज्य महावीर ने एक वर्ष और एक महीने तक वस्त्र पहने उसके उपरान्त वह नंगा फिरने लगा और अपनी अंजुली में भिक्षा लेने लगा। बारह वर्ष से अधिक समय तक पूज्य महावीर ने अपने शरीर की कोई सुध नहीं ली। वह धीरता के साथ सब दैविक, मानुषिक अथवा पशुओं के द्वारा की हुई सुघटनाओं और दुर्घटनाओं को सहन करता रहा...। तेरहवें वर्ष, ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास में, चौथे पक्ष में, वैशाख के शुक्ल पक्ष में दसवें दिन जब कि छाया पूरब की ओर फिर गई थी और पहला जागरण समाप्त हो गया था अर्थात् सुव्रत के दिन विजय मुहूर्त में ऋजु पालिका नदी के तट पर जिम्भिक ग्राम के बाहर, एक पुराने मन्दिर के निकट, सामाग गृहस्थ के खेत में, एक साल वृक्ष के नीचे, जिस समय कि चन्द्रमा का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से संयोग था दोनों एड़ियों को मिलाकर कुकुडू बैठे हुये धूप में ढाई दिन तक निर्जल व्रत रह कर बड़े ध्यान में मग्न रह कर उन सर्वोच्च ज्ञान और अन्तर्ज्ञान अर्थात् कैवल्य को उसने प्राप्त किया जो कि अपरिमित, प्रधान, अंकुठित, पूरा और सम्पूर्ण है...।

उस काल में, उस समय में पहली वर्षा ऋतु में अष्टिक ग्राम में वह ठहरा, तीन बरसातों तक चम्पा और पृष्टि चम्पा में ठहरा, बारह बरसातों तक वैशाली और वनिज ग्राम में, चौदह बरसातों तक राजगृह में और नालंद के आस-पास, छः बरसातों तक मिथिला में दो, बरसातों तक भद्रिका में, एक अलभिका में, एक पत्रति भूमि में, एक श्रावस्ती में, एक पापा नगर में राजा के लेखकों के कार्यालय में और यही उसकी अन्तिम बरसात थी। उस वर्षाऋतु के चौथे मास में, सातवें पक्ष में, कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावास्या को इस पक्ष की अन्तिम रात्रि में, पापा नगर में हस्तिपाल राजा के लेखकों के कार्यालय में पूज्य महावीर की मृत्यु हुई, वह चला गया, उसने संसार को छोड़ दिया, जन्म वृद्धावस्था और मृत्यु के बंधनों को काट डाला, वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, (सब दुःखों का) नाश करने वाला, सदा के लिये स्वतन्त्र, सब दुःखों से रहित हो गया।

उपासक दशा में जैसा कि उनके नाम से विदित होता है जैन उपासकों के धर्मों का दस उपदेशों में उल्लेख हैं। पहले उपदेश में उसके प्रतिज्ञाओं और आचारों का वर्णन है जिनके अनुसार उपासक को चलना चाहिये, इसके उपरान्त के चार उपदेशों में बाहरी क्लेशों से जो भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनाओं की उत्पत्ति होती है उनका वर्णन है, छठें उपदेश में भीतरी सन्देह से और विशेष कर दूसरे गोशाल के आजावकों की तरह दूसरे धर्मों के विरोध से जिन भावनाओं की उत्पत्ति होती है उनका वर्णन है, सातवें उपदेश में जैन धर्म की श्रेष्टता दिखलाई गई है, आठवें में इन्द्रियों के सुख की भावनाओं का वर्णन है, और नवें और दसें उपदेशों में सच्चे जैन उपासक के शान्तिमय जीवन के उदाहरण दिये हैं।

डाक्टर हानली साहब ने जो इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है उसमें से कुछ वाक्य उद्धृत करने में स्थानाभाव से हम असमर्थ हैं परन्तु हम उस अंश की कुछ बातों की आलोचना करेंगे जिसमें कि आनन्द की बातचीत का वर्णन है क्योंकि उसमें बहुत सी ऐसे सुख की वस्तुओं का उल्लेख है जिनमें प्राचीन समय के हिन्दू गृहस्थ लोग सन्तोष के साथ लिप्त रहते थे और जो हम लोगों के लिये मनोरंजक होगी। आनन्द सन्यासी नहीं हुआ था परन्तु वह केवल जैन उपासक था अतएव उसने सन्यासियों के महाव्रतों की अपेक्षा केवल पाँच छोटे व्रतों को ग्रहण किया था।

आनन्द ने सब प्राणियों से कुव्यवहार असत्य भाषण और चोरी का त्याग किया था। उसने केवल एक पत्नी से यह कह कर संतोष किया था कि "केवल एक स्त्री अर्थात् अपनी पत्नी शिवनन्दा को छोड़ कर मैं सब प्रकार के स्त्री के संसर्ग का त्याग करता हूँ।" उसने अपने धन की सीमा चार करोड़ स्वर्ण मुद्रा को एक रक्षित स्थान में रखकर, चार करोड़ सोने की मुद्रा को ब्याज पर लगाकर और चार करोड़ स्वर्ण की मुद्रा की सम्पत्ति रख कर बांधी थी। इसी प्रकार उसने पशुओं के चार झुण्ड, जिसमें प्रत्येक झुण्ड में दस हजार पशु हैं, पाच सौ हल और प्रत्येक हल के लिये १००निवर्तन भूमि, विदेश।से व्यापार के लिये ५०० छकड़े और अपने देश के व्यापार के लिये ५०० छकड़े और अन्त में विदेशी तथा अपने देश के व्यापार के लिये चार-चार नौकाएँ रखने की सीमा बाँधी है। उपरोक्त वृत्तान्त से हमें प्राचीन समय के हिन्दू धनाढ्य, जमीदार, महाजन और व्यापारी अर्थात् सेठ का, जो कि भारतवर्ष में सदा से रहे हैं ठीक-ठीक ज्ञान होता है। अब हम गृहस्थी की और विलास की वस्तुओं का वर्णन करेंगे। आनन्द ने अपने स्नान के लिये एक लाल रङ्ग का अंगौछा, दाँत

साफ करने के लिये एक प्रकार की हरी दतुवन, एक प्रकार का फल, आमलक का दूध के सदृश गूदा, लगाने के लिये दो प्रकार के तेल, एक प्रकार का सुगन्धित चूर्ण, धोने के लिये आठ घड़ा जल, एक प्रकार का वस्त्र अर्थात् रुई के कपड़ों का एक जोड़ा, मुसब्बर, केशर, चन्दन और इसी प्रकार की वस्तुओं की बनी हुई सुगन्धि, एक प्रकार का फूल अर्थात् सफेद कमल, दो प्रकार के आभूषण अर्थात् कान का अभूषण और उसके नाम की खुदी हुई अंगूठी और कुछ प्रकार के धूप से अपने को परिमित किया है।

भोजन के विषय में उसने चावल और दाल के रसेदार पदार्थ घी में भूनें हुए और चीनी मिलाये हुए खाजे से अपने को परिमित किया है। उसने भिन्न-भिन्न प्रकार के बोए हुये चावलों के भात, कलई मूंग, दाल, शरदऋतु में गाय के दूध की घी के कई प्रकार के रसदार पदार्थ, पालङ्क की बनी हुई एक प्रकार की मदिरा, सादी चटनियाँ, पीने के लिये वर्षा का जल और अन्त में पाँच प्रकार के पान से अपने को परिमित किया है। हमारे बहुत से पाठक लोग यह विचार करेंगे कि हमारा मित्र आनन्द अपनी इतनी सम्पत्ति और इतने भारी व्यापार एवं काम तथा भोग विलास की इतनी सामग्रियों के साथ कुछ बुरी दशा में नहीं था।

बौद्ध काल

[ईसा से ३२० वर्ष पहले से सन् ५०० ईसवी तक]

तेंतीसवां अध्याय

चंद्रगुप्त और अशोक

यूनानी सिकन्दर की मृत्यु से प्राचीन संसार के इतिहास में एक नया काल आरम्भ होता है। भारतवर्ष में भी इस समय से एक नये काल का आरम्भ होता है। इस नये काल में एक बड़ी राजकीय घटना यह हुई कि चन्द्रगुप्त की बुद्धि से समस्त उत्तरी भारतवर्ष पहले-पहल एक छत्र के नीचे लाया गया। इस काल की धर्म सम्बन्धी एक बड़ी घटना यह हुई कि गौतम बुद्ध के जिस धर्म का, अब तक केवल नम्र और नीचे की श्रेणी के लोगों में प्रचार हो रहा था, उसे चन्द्रगुप्त के पोते प्रसिद्ध अशोक ने ग्रहण किया और उसका भारतवर्ष में तथा भारतवर्ष के बाहर भी उपदेश और प्रचार किया।

स्वयं चन्द्रगुप्त के विषय में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। उसका राज्य सारे उत्तरी भारतवर्ष में बिहार से लेकर पंजाब तक फैला हुआ था। उसने यूनानियों को को पंजाब से निकाल दिया, सिन्ध नदी के उस पार का देश उन लोगों से छीन लिया और अन्त में पश्चिमी एशिया में सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्यूकस के साथ मेल कर लिया। चन्द्रगुप्त ने जिन देशों को जीता था उन्हें सिल्यूकस ने उसके पास रहने दिया और इस बड़े हिन्दू सम्राट के साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया।

हम यह भी देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त के पास छः लाख पैदल और तीस हजार घुड़सवारों की सेना थी और उसके कर्मचारी लोग नगर और गाँव के प्रबन्ध को भली भाँति करते थे। वाणिज्य, व्यापार, और खेती की रक्षा की जाती थी, सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया जाता था और जंगल रक्षित रक्खे जाते थे। एक यूनानी राजदूत ने जो कि चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था, आश्चर्य और प्रशंसा के साथ लिखा है कि देश के अधिक भाग में सिंचाई का प्रबन्ध होने के कारण इस देश में अकाल पड़ता ही नहीं और बोई हुई भूमि के पास ही युद्ध और लड़ाइयाँ

होती थीं परन्तु युद्ध करने वालों में से कोई भी किसी किसान को या उसकी खेती को कोई हानि नहीं पहुँचाता था। चन्द्रगुप्त के हिन्दू राज्य का बल और विस्तार उसके राज्य में जान और माल की रक्षा, उस प्राचीन समय में खेती और सिंचाई के प्रबन्ध की उत्तम दशाओं का वर्णन ऐसा है जिसे आजकल का प्रत्येक हिन्दू उचित अभिमान के साथ स्मरण करेगा।

ईसा के लगभग २९० वर्ष पहले चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार उसका उत्तराधिकारी हुआ और ईसा के २६० वर्ष पहले बिन्दुसार का उत्तराधिकारी प्रसिद्ध अशोक हुआ।

आर्यों के भारतवर्ष में आकर बसने के समय से अब तक ऐसा प्रतापी कोई राजा नहीं हुआ था और इसके बाद भी उससे बढ़कर प्रतापी कोई नहीं हुआ। परन्तु अशोक अपने राज्य और अपने अधिकार के विस्तार के कारण इतना विख्यात नहीं है जितना कि अपने उदार और सहज स्वभाव के कारण, जो कि उसके राज्य प्रबन्ध तथा विदेशियों के साथ उसके व्यवहार में पाया जाता है। सत्य में बड़ा प्रेम होने तथा सत्य के प्रचार की अभिलाषा के कारण, उसने कि साइबेरिया से लेकर लङ्का तक इसका नाम घर-घर में प्रसिद्ध कर दिया है। भारतवर्ष के किसी सम्राट का, यहाँ तक कि विक्रमादित्य का भी, नाम ऐसा विख्यात नहीं है और किसी सम्राट ने सच्चाई और पुण्य में उत्साह के कारण संसार के इतिहास पर ऐसा प्रभाव नहीं डाला है।

कहा जाता है कि अपने पिता के राज्य काल में अशोक उज्जैनी के राजप्रतिनिधि के पास भेजा गया था। यदि हम 'अशोक अवदान' से ग्रन्थकार को ठीक समझे तो अशोक एक ब्राह्मणी रानी सुभद्राङ्गी से उत्पन्न हुआ था। यही ग्रन्थकार लिखता है कि अशोक अपनी युवावस्था में बड़ा उपद्रवी था और इस कारण वह पश्चिमी सीमा प्रदेश में एक बलवे को शान्त करने लिये भेजा गया था जो कि तक्षशिला में हुआ था और जिसको कि उसने बड़ी सफलता के साथ शान्त किया। बिन्दुसार की मृत्यु पर अशोक राज गद्दी पर बैठा और उसके गद्दी पर बैठने का समय ईसा के लगभग २६० वर्ष पहले माना जाता है।

उत्तरी और दक्षिणी बौद्धों के ग्रन्थों में अशोक के राज्य के विषय में बहुत कम प्रामाणिक बातें हैं। लंका की पुस्तकों में लिखा है कि "अशोक ने राजगद्दी पाने के पहले अपने ९९ भाइयों को (तारानाथ के अनुसार उसके केवल छः भाई थे) मार डाला और अशोक अवदान में लिखा है कि बौद्ध होने के पहले वह अपने कर्मचारियों और उनकी स्त्रियों को मार डालता था एवं बहुतेरे निरपराधियों के

साथ बड़ी निर्दयता करता था। ये कथाएँ बिलकुल निर्मूल हैं और वे केवल बौद्ध धर्म के महत्व को घटाने के लिये गढ़ी गई हैं कि बौद्ध होने के पहले अशोक का आचरण ऐसा कलंकित था।

हम लोगों के लिये हर्ष का विषय है कि इस बड़े सम्राट की सूचनाएँ हमें अब तक प्राप्त हैं और वे उत्तर काल के कवियों और इतिहास लेखकों की तरह कपोल कल्पित कथाएँ नहीं हैं, वरन् वे चट्टानों, गुफाओं और स्तूपों पर उसी की आज्ञा से उसी के समय में उस समय की भाषा और अक्षरों में खुदी हुई हैं। इन शिलालेखों से जो ऐतिहासिक बातें विदित होती हैं उन्हें फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान सेनार्ट ने बड़ी विद्वत्ता और बुद्धिमानी से संग्रहीत किया है हम उनके "ले इन्सक्रृप्शन डी पियदसी" नामक ग्रन्थ से कुछ बातों की आलोचना करेंगे।

चट्टानों पर की १४ सूचनाएँ अशोक के राज्याभिषेक के १३ वें और १४ वें वर्ष की खुदी हुई जान पड़ती हैं और स्तूपों पर की आठ सूचनाएं २७ वें और २८ वें वर्षों की खुदी हुई हैं। स्तूपों की अन्तिम सूचना इस बड़े सम्राट के विचारों और इच्छाओं का अन्तिम लेख है जो कि अब हमलोगों को प्राप्त है। गुफाओं की सूचना समय के क्रम से चट्टानों और स्तूपों के बीच की हैं।

दीपवंश और महावंश में लिखा है कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के चौथे वर्ष में बौद्ध धर्म ग्रहण किया। परन्तु सेनार्ट साहब स्वयं इन शिलालेखों से से सिद्ध करते हैं कि उसने इस धर्म को अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष में और कलिङ्ग विजय करने के उपरान्त ही ग्रहण किया था। यह कलिङ्ग के युद्ध की निर्दयता और मार काट ही थी जिसने इस दयालु और परोपकारी सम्राट के हृदय पर एक बड़ा प्रभाव डाला और उसे गौतम का दयालु और कोमल धर्म ग्रहण करने के लिये उत्साहित किया। इसके दो वर्षों के उपरान्त अपने राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष में अशोक पुनः दूसरी बार बौद्ध बनाया गया अर्थात् उसने पहले की अपेक्षा अधिक उत्साह के साथ इस धर्म के प्रचार की प्रतिज्ञा की। तेरहवें वर्ष से उसने अपने विस्तृत राज्य के सब भागों में अपनी सूचनाएँ खुदवाई।

इन शिलालेखों से हमें विदित होता है कि उनके खोदने के समय अशोक के भाई बहिन जीवित थे और इस कारण यह कथा झूठ समझी जानी चाहिये कि अशोक ने राजगद्दी पाने के लिये अपने भाइयों को मार डाला। इस सम्राट की कई रानियाँ थीं और एक शिलालेख में उसकी दूसरी रानी (द्वितीया देवी) की उदारता का उल्लेख है। इस राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र थी परन्तु उज्जयिनी, तक्षशिला,

तोसली और समापा का भी अधीनस्थ नगरों की तरह उल्लेख पाया जाता है। सारा उत्तरी भारत वर्ष इस सम्राट के राज्य में था।

उत्तरी भारतवर्ष की सीमा के बाहर की चौदह जातियां (आपरान्त) भी उसके अधीन थीं। इनमें (वेक्ट्रिया के) यवन लोग, (काबुल के) कम्बोज लोग, (कन्धार के) गांधार लोग, राष्टिक लोग (सौराष्ट्र और महाराष्ट्र लोग), पेटेनिक लोग (अर्थात् दक्षिण के पैथन अथवा प्रतिष्ठान लोग), (दणिण के) अन्ध्र लोग, (दक्षिण के) पुलिन्द लोग, (मालव के) भोज लोग, औ नाभपन्ति लोगों का उल्लेख है। इस प्रकार दक्षिण भारतवर्ष में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में काबुल, कन्धार और वेक्ट्रिया तक का देश इस बड़े सम्राट के अधीन था।

आस-पास की अन्य स्वतन्त्र जातियों का भी "प्रात्यन्त" के नाम से उल्लेख किया गया है। इनमें चोल, पांड्य और केरालपुत जाति (जो सब कृष्णा नदी के दक्षिण में थी) तथा पांचों यूनानी राज्य भी सम्मिलित हैं।

अशोक के राज्य प्रबन्ध का वृत्तान्त शिलालेखों से बहुत कम विदित होता है। हमको पुरुषों अर्थात् राजा के कर्मचारियों, महामात्रों अर्थात् आज्ञा पालन करने वाले कर्मचारियों, धर्म महामात्रों अर्थात् उन कर्मचारियों का जो विशेषतः धर्म का प्रचार और धर्माचरण का पालन किये जाने के लिये नियत थे, प्रादेशिकों अर्थात् प्रदेशों के पैत्रिक सर्दारों और आधुनिक राव, रावलों और ठाकुरों के पुरखाओं का जो कि भारतवर्ष में सैनिक राज्य प्रणाली के कारण सदा बहुतायत से रहे हैं, उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त के अन्त महामात्रों अर्थात् सीमा प्रदेश के कर्मचारियों, प्रतिवेदकों अर्थात् भेदियों, और रज्जुकों अर्थात् उन लोगों का जो धर्मयुतों को धर्म की शिक्षा देने के लिये नियत थे, भी उल्लेख मिलता है।

अनुसम्यान एक धार्मिक सभा थी जिसमें कि सब धर्मयुत लोग बुलाये जाते थे और उसमें रज्जुक लोग शिक्षा देने का अपना विशेष कार्य करते थे। हम लोग जानते हैं कि इस प्रकार का बौद्धों का समागम सर्वत्र के लिये प्रत्येक पांचवें वर्ष होता था, परन्तु यह सर्वामान्य नियम नहीं था। यह अनुसम्यान स्वयं सम्राट के राज्य में पांचवें वर्ष होता था। परन्तु उज्जयिनी और तक्षशिला में वह तीसरे वर्ष होता था।

सहसराम के शिलालेख में यह लिखा है कि बौद्ध होने पर अशोक ने (निस्सन्देह ब्राह्मणों का बौद्ध सन्यासियों के समान सम्मान करने के कारण) ब्राह्मणों के देव तुल्य सम्मान को छीन लिया। उसके इस उचित कार्य की झूठ-मूठ कथाएँ गढ़ डाली गई हैं कि वह ब्राह्मणों का बध करता था, परन्तु वह धार्मिक सम्राट

इस पाप से पूर्णतया रहित है। इसी शिलालेख तथा रूपनाथ के शिलालेख में भी यह उल्लेख है कि अशोक ने उस समय के जाने हुए सब देशों में धर्मोपदेशकों को भेजा। भब्र के शिलालेख में अशोक ने बौद्धों की तीनों बातों अर्थात् बुद्ध, धर्म और संघ में अपना विश्वास प्रगट किया है।

अब हम स्वयं शिलालेखों का वर्णन करते हैं और हम पहले चट्टानों पर की सूचनाओं से प्रारम्भ करेंगे।

भारतवर्ष के पाँच भिन्न-भिन्न भागों में पाँच चट्टानों पर अशोक की एक ही आज्ञावली के पाँच पाठ खुदे हुये हैं। उनमें से एक कपुरद गिरि के निकट है जो कि सिन्ध के तट पर अटक से लगभग २५ मील उत्तर-पश्चिम है, दूसरा खालसी के निकट जमुना के तट पर ठीक उस स्थान पर है जहाँ कि यह नदी हिमालय पर्वत की ऊँची श्रेणी को छोड़ती है, तीसरा गुजरात में गिरनार पर है जो कि प्रसिद्ध सोमनाथ से लगभग ४० मील उत्तर है, चौथा उड़ीसा में धौली पर है जो कटक से २० मील दक्षिण है और पाँचवाँ चिल्क झील के निकट जौगढ़ पर है जो आधुनिक गंजाम नगर से १८ मील उत्तर-पश्चिम की ओर है।

ये चौदहों सूचनाएं भारतवर्ष के इतिहास के प्रत्येक जानने वाले के लिये इतनी उपयोगी हैं कि हम यहाँ पर उनका पूरा अनुवाद देना आवश्यक समझते हैं। पहले पहल उनका अनुवाद जेम्स प्रिन्सेप साहब ने किया था और उनके उपरान्त विल्सन, वर्नफ, लेसन, कर्न और सेनार्ट साहबों ने इस अनुवाद को संशोधित किया है। सेनार्ट साहब का अनुवाद सबसे नवीन है और उन्हीं के आधार पर निम्नलिखित अनुवाद देते हैं। यह लिखना कदाचित आवश्यक नहीं है कि इन सूचनाओं में अशोक अपने को पियदशी (प्रियदर्शी) कहता है—

(१) सूचना

यह सूचना देवताओं के प्यारे राजा पियदसी की आज्ञा से खुदवाई गई है। यहाँ इस पृथ्वी पर कोई किसी जीवधारी जन्तु को बलिदान अथवा भोजन के लिये न मारे। राजा पियदसी ऐसे भोजन में बहुत से पाप देखता है। पहले ऐसे भोजन की आज्ञा थी और देवताओं के प्रिय राजा पियदशी के रसोई घर में तथा देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के भोजन के लिये प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे। जिस समय यह सूचना खोदी जा रही है उस समय उसके भोजन के लिये केवल तीन जीव अर्थात् दो पक्षी और एक हरिन मारे जाते हैं और उनमें से हरिन नित्य नहीं मारा जाता। भविष्य में ये तीनों जीव भी नहीं मारे जायंगे।

(२) सूचना

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के राज्य में सर्वत्र और सीमा प्रदेश में रहने वाली जातियों यथा चोल, पांड्य, सत्यपत्र और केरलपुत्र के राज्यों में तम्बपन्नी तक, यूनानियों के राजा एण्टिओकस और उसके आस पास के राजाओं के राज्य में सर्वत्र देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने दो प्रकार की औषधियों के दिए जाने का प्रबन्ध किया है अर्थात् मनुष्यों के लिये औषधि और पशुओं के लिये औषधि। जहां कहीं मनुष्यों और पशुओं के लिये लाभदायक पौधे नहीं होते वहां वे ले जाकर लगाए गये हैं और सर्वसाधारण के मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के लिये कुँए खोदवाये गए हैं।

(३) सूचना

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इस भांति कहा। अपने राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में मैंने इस प्रकार आज्ञाएँ दीं। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्मयुक्त, राजुक और नगरों के राज्याधिकारी पाँच वर्ष में एक बार एक सभा (अनुसम्यान) में एकत्रित हो और अपने कर्तव्य के अनुसार इस प्रकार धर्म की शिक्षाएँ दें "अपने पिता, माता, मित्रों, संगियों और सम्बन्धियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है, ब्राह्मणों और श्रामनों को भिक्षा देना, प्राणियों के जीवन का सत्कार और अपव्यय तथा कटु बचन से वचना अच्छा और उचित है।" तब राजुक धर्मयुतों को मन और वाक्य से विस्तार पूर्वक शिक्षा देगा।

(४) सूचना

प्राचीन समय में कई सौ वर्षों तक जीवों का बध, पशुओं पर निर्दयता, सम्बन्धियों के सत्कार का अभाव और ब्राह्मणों और श्रामनों के सत्कार का अभाव चला आया है परन्तु आज राजा पियदसी ने जो कि देवताओं का प्रिय और धर्म काज में बड़ा भक्त है ढिंढोरा पिटवा कर और लाव लशकर हाथी मशाल और स्वर्गीय वस्तुओं को अपनी प्रजा को दिखला कर धर्म को प्रगट किया।

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी को इन धर्म शिक्षाओं के प्रचार के लिये धन्यवाद है कि आज जीवधारी पशुओं का सत्कार, उनके लिये दया, सम्बन्धियों ब्राह्मणों और श्रामनों के लिये सत्कार, माता पिता की आज्ञा का भक्ति के साथ पालन और वृद्धों का आदर होता है जैसा कि कई शताब्दियों तक नहीं रहा। अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी धर्म का विचार किया गया है और देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इसको बराबर प्रचलित रक्खेगा। देवताओं के प्रिय राजा पिय-

दसी के पुत्र, प्रपौत्र और पौत्र इस धर्म के प्रचार को सृष्टि के अन्त तक रक्षित रक्खेंगे। धर्म और भलाई में दृढ़ रह कर वे लोग धर्म की शिक्षा देंगे। क्योंकि धर्म की शिक्षा देना सब कार्यों से उत्कृष्ट है और भलाई के बिना कोई धर्म का कार्य नहीं होता। धार्मिक प्रेम का दृढ़ होना और उसकी वृद्धि होना वांछनीय है। इस उद्देश्य से यह शिलालेख खुदवाया गया है कि वे लोग अपने को इस सर्वोच्च भलाई के कार्य में लगावें और उसकी अवनति न होने दें। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इसको अपने राजगद्दी पर बैठने के बारह वर्ष के पीछे खुदवाया है।

(५) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस भाँति बोला! पुण्य करना कठिन है और जो लोग पुण्य करते हैं वे कठिन कार्य करते हैं। मैंने स्वयं से बहुत से पुण्य के कार्य किये हैं। इसी भाँति मेरे पुत्र, पौत्र और मेरी सबसे अन्तिम सन्तति कल्पान्त तक पुण्य के कार्य करेगी, जो इस कार्य करने में चूकेगा वह पाप का भागी होगा। पाप करना सहज है। देखो प्राचीन समय में धर्म का प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी (धर्म महामात्र) नहीं थे। परन्तु मैंने अपने राज्याभिषेक के १३ वें वर्ष में धर्म के प्रबन्ध करने वाले नियत किए हैं ये लोग सब सम्प्रदाय के लोगों से धर्म के स्थापित करने और उन्नति करने के लिये और धर्मयुतों की भलाई करने के लिए मिलते हैं। वे यवन, कम्बोज, गान्धार, सौराष्ट्र, पेतेनिक, और सीमा प्रदेश की अन्य (अपारान्त) जातियों के साथ मिलते हैं। वे योद्धाओं और ब्राह्मणों के साथ, गरीब अमीर और वृद्धों के साथ, उनकी भलाई और सुख के लिये और सत्य धर्म के अनुयायियों के मार्ग को सब विघ्नों से रहित करने के लिये मिलते हैं। जो लोग बन्धनों में है उन्हें वे सुख देते हैं, और उनकी बाधाओं को दूर करके उन्हें मुक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है, वे धोखे का शिकार हुए हैं वृद्धा अवस्था ने उन्हें आ घेरा है। पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में वे मेरे भाई बहनों और अन्य सम्बन्धियों के घर में यत्न करते हैं। सर्वत्र धर्ममहामात्र लोग सच्चे धर्म के अनुयायियों, धर्म में लगे हुए और धर्म में दृढ़ लोगों और दान करने वालों के साथ, मिलते हैं। इसी उद्देश्य से यह सूचना खुदवाई गई है।

(६) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! प्राचीन समय में हर समय कार्य करने और विवरण सुनने की ऐसी प्रणाली कभी नहीं थी! इसे मैंने ही किया है। हर समय, खाने के समय, विश्राम के समय, शयनागार में, एकान्त में,

अथवा वाटिका में, सर्वत्र वे कर्मचारी लोग मेरे पास आते जाते हैं जिन्हें कि मेरी प्रजा के काम काज के विपय की सूचना का भार दिया गया है और मैं अपनी प्रजा के सम्बन्ध की बातें उनके द्वारा कहला देता हूँ। स्वयं मेरे मुख से कही हुई शिक्षाओं को मेरे धर्म महामात्र लोग प्रजा से कहते हैं। इस प्रकार मैंने यह आज्ञा दी है कि जहां कहीं धर्मोपदेशकों की सभाओं में मतभेद अथवा झगड़ा हो उसकी सूचना मुझे सदा मिलनी चाहिये। क्योंकि न्याय के प्रबन्ध में जितना उद्योग किया जाय थोड़ा है। मेरा यह धर्म है कि मैं शिक्षा द्वारा लोगों की भलाई करूँ। निरन्तर उद्योग और न्याय का उचित प्रबन्ध सर्व सधारण के हित की जड़ है और इससे अधिक फलदायक कुछ नहीं है। अतएव मेरे सब यत्नों का एक यही उद्देश्य अर्थात् सर्व साधारण से इस प्रकार उऋण होना है। मैं यहाँ इसके नीचे उन्हें इतना सुखी रखता हूँ जितना कि मेरे किये हो सकता है। वे भविष्य में स्वर्ग में सुख पावें। इसी उद्देश्य से मैंने यह सूचना यहां खुदवाई है कि वह बहुत समय तक बनी रहे और मेरे पुत्र पौत्र और प्रपौत्र मेरी तरह सर्व साधारण का हित करें। इस बड़े उद्देश्य के लिये बहुत ही अधिक उद्योग की आवश्यकता है।

(७) सूचना

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की यह बड़ी अभिलाषा है कि सब स्थानों में सब जातियाँ अपीड़ित रहें, वे सब समान रीति से इन्द्रियों का दमन करें और आत्मा को पवित्र बनावें परन्तु मनुष्य अपनी सांसारिक बातों में अधीर हैं। इस कारण लोग जिन बातों को मानते हैं उनके अनुसार कार्य पूर्ण रीति से नहीं करते और जो लोग बहुत सा दान नहीं देते वे भी अपनी इन्द्रियों का दमन और आत्मा को पवित्र कर सकते हैं और अपनी भक्तों में कृतज्ञता और सच्चाई रख सकते हैं, और यही उचित है।

(८) सूचना

प्राचीन समय में राजा लोग अहेर खेलने जाया करते थे, यहाँ इस भूमि के नीचे वे अपने जी बहलाने के लिये शिकार तथा अन्य प्रकार के खेल करते थे। मैं देवताओं के प्रिय राजा पियदसी, ने अपने राज्याभिषेक के १० वर्षों के उपरान्त सत्य ज्ञान को प्राप्त किया। अतएव मेरे जी बहलाने के कार्य ये हैं, अर्थात् ब्राह्मणों और श्रामनों से भेंट करना और उनको दान देना, वृद्धों से भेंट करना, द्रव्य बांटना, राज्य में प्रजा से भेंट करना, उन्हें धार्मिक शिक्षा देना और धार्मिक विषयों पर

सम्मति देना। इस प्रकार देवताओं का प्रिय राजा पियदशी अपने भले कर्मों से उत्पन्न हुये सुख को भोगता है।

(९) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। लोग बीमारी में, पुत्र अथवा कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म पर, और यात्रा में जाने के समय में भिन्न-भिन्न प्रकार के विधान करते हैं। इन अवसरों तथा ऐसे ही अन्य अवसरों पर लोग भिन्न-भिन्न विधान करते हैं। परन्तु ये असंख्य और भिन्न प्रकार के विधान जिन्हें कि अधिकांश लोग करते हैं, व्यर्थ और निरर्थक हैं। परन्तु इन सब रीतियों को करने की चाल बहुत दिनों से चली आती है, यद्यपि उनका कोई फल नहीं होता। परन्तु इसके विरुद्ध धर्म कार्य करना बहुत ही अधिक यश की बात है। गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना, और सम्बन्धियों तथा शिक्षकों का सत्कार करना प्रशंसनीय है। जीवों पर दया और ब्राह्मणों तथा श्रामनों को दान देना प्रशंसनीय है। मैं इन तथा ऐसे ही अन्य भलाई के कार्यों को धर्म कार्य को करना कहता हूँ। पिता अथवा पुत्र, भाई अथवा गुरू को कहना चाहिये कि यही प्रशंसनीय है और इसी का साधन तब तक करना चाहिये जब तक कि उद्देश्य प्राप्त न हो। यह कहा जाता है कि दान देना प्रशंसनीय है, परन्तु कोई दान इतना प्रशंसनीय नहीं है जितना कि धर्म का दान अर्थात् धर्म की शिक्षा देनी। इसलिये मित्र, सम्बन्धी अथवा सङ्गी को यह सम्मति देनी चाहिये कि अमुक-अमुक अवस्थाओं में यह करना चाहिए यह प्रशंसनीय है। इसमें विश्वास रखना चाहिये कि ऐसे आचरण से स्वर्ग मिलता है और मनुष्य को उत्साह के साथ उसे स्वर्ग का मार्ग समझ कर करना चाहिये।

(१०) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इसके अतिरिक्त किसी प्रकार के यश अथवा कीर्ति को पूर्ण नहीं समझता कि उसकी प्रजा वर्तमान में और भविष्य में उसके धर्म को माने और उसके धर्म के कार्य करे। इसी यश और कीर्ति को देवताओं का प्रिय राजा पियदसी चाहता है। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के सब उद्योग आगामी जीवन में मिलने वाले फलों के लिये तथा जीवन मरण से बचने के लिये हैं, क्योंकि जीवन मरण दुःख है। परन्तु इस फल को प्राप्त करना छोटों और बड़ों दोनों ही के लिए कठिन है, जब तक कि वे अपने को सब वस्तुओं से अलग

करने का दृढ़ उद्योग न करें। विशेषतः बड़े लोगों के लिये इसका उद्योग करना बड़ा कठिन है।

(११) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी ने इस प्रकार कहा। धर्म के दान, धर्म की मित्रता, धर्म की भिक्षा, और धर्म के सम्बन्ध के समान कोई दान नहीं है। निम्नलिखित बातें करनी चाहिये अर्थात् गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना, माता और पिता की आज्ञा पालन करना, मित्रों, सङ्गियों, सम्बन्धियों, श्रामनों और ब्राह्मणों की ओर उदार भाव रखना और प्राणियों के जीवन का सत्कार। पिता को पुत्र अथवा भाई, मित्र, संगी अथवा पड़ोसी को भी यही शिक्षा देनी चाहिये कि यह प्रशंसनीय है और इसे करना चाहिये। इस प्रकार यत्न करने में उसे इस संसार में तथा आने वाले जीवन में फल प्राप्त होता है, धर्म के दान से अनन्त यश मिलता है।

(१२) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी सब पन्थ के लोगों का, सन्यासियों और गृहस्थों दोनों ही का सत्कार करता है। वह उन्हें भिक्षा तथा अन्य प्रकार के दान देकर सन्तुष्ट करता है। परन्तु देवताओं का प्रिय ऐसे दान अथवा सत्कार उनके वास्तविक धर्म आचरणों की उन्नति के उद्योग के सामने कुछ नहीं समझता! यह सत्य है कि भिन्न-भिन्न पन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुण्य समझे जाते हैं। परन्तु उन सब का एक ही आधार है और वह आधार सुशीलता और सम्भाषण में शान्ति का होना है। इस कारण किसी को अपने पन्थ की बड़ी प्रशंसा और दूसरों के पन्थ की निन्दा नहीं करनी चाहिये, किसी को यह नहीं चाहिये कि दूसरों को बिना कारण हलका समझे परन्तु यह चाहिये कि उनका सब अवसरों पर उचित सत्कार करे। इस प्रकार यत्न करने से मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुये भी अपने पन्थ की उन्नति कर सकते हैं। इसके विरुद्ध यत्न करने से मनुष्य अपने पन्थ की सेवा नहीं करता और दूसरों के साथ भी बुरा व्यवहार करता है। और जो कोई अपने पन्थ में भक्ति रखने के कारण उसकी उन्नति के लिये उसकी प्रशंसा और दूसरे पन्थों की निन्दा करता है वह अपने पन्थ में केवल कुठार मारता है। इसलिये केवल मेल ही प्रशंसनीय है, जिससे कि सब लोग एक दूसरे के मतों को सहन करते और सहन करने में प्रेम रखते हैं। देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब पन्थ के लोगों को शिक्षा दी जाय और उनके सिद्धान्त शुद्ध हों। सब लोगों को, चाहे उनका मत कुछ

भी क्यों न हो, यह कहना चाहिये कि देवताओं का प्रिय वास्तविक धर्माचरण की उन्नति और सब पन्थों में परस्पर सत्कार की अपेक्षा दान और बाहरी विधानों को कम समझता है। इसी उद्देश्य से धर्म का प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी, स्त्रियों के लिये कर्मचारी, निरीक्षक और अन्यान्य कर्मचारी लोग कार्य करते हैं। इसी का फल मेरे धर्म की उन्नति और धर्म दृष्टि से उसका प्रचार है।

(१३) सूचना

कलिङ्ग का देश, जिसे देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने जीता है बहुत बड़ा है। इसमें लाखों जीव अथवा लाखों प्राणी गुलाम बनाये गये हैं और लाखों का वध किया गया है। कलिङ्ग विजय करने के समय से देवताओं का प्रिय राजा धर्म की ओर फिरा है, धर्म में रत है, धर्म के लिये उत्सुक है और उसने अपने को धर्म के प्रचार में लगाया है,—कलिङ्ग विजय करने पर देवताओं के प्रिय को बहुत अधिक पश्चाताप हुआ। इस देश को जो कि मेरे आधीन नहीं था, विजय करने में मैं देवताओं के प्रिय ने देशवासियों के बध ओर गुलाम बनाये जाने के लिये बहुत अधिक पश्चाताप किया है और उसका प्रभाव मेरे ऊपर बहुत पड़ा है। परन्तु यही बात है जिसके लिये देवताओं के प्रिय ने बहुत अधिक पश्चात्ताप किया है। सर्वत्र ब्राह्मण अथवा आमन, सन्यासी अथवा गृहस्थ लोग रहते हैं और ऐसे लोगों में अधिकारियों के लिये सत्कार, माता पिता की आज्ञा मानना, मित्रों और सम्बन्धियों से प्रीति, नौकरों पर ध्यान रखना और भक्ति में सचाई पाई जाती है। ऐसे मनुष्यों पर कठोरता होती है, उनकी मृत्यु होती है तथा प्रिय लोगों से उनका वियोग होता है। यदि विशेष रक्षा में रह कर वे स्वयं हानि से बच भी जाँय तो भी उनके मित्र, जान पहिचान के लोग, सङ्गी और सम्बन्धी लोग उजड़ जाते हैं और इस प्रकार उन्हें भी क्लेश उठाना पड़ता है। मैं, जो कि देवताओं का प्रिय हूँ इस प्रकार की कठोरताओं का बड़ा अधिक अनुभव करता और उनपर पश्चात्ताप करता हूँ। कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ कि ब्राह्मण और श्रामन लोग नहीं है और किसी देश में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ कि लोग किसी न किसी धर्म को न मानते हों। कलिङ्ग देश में इतने अधिक लोगों के डूब जाने, उजड़ जाने, मारे जाने, और गुलाम बनाये जाने के कारण देवताओं का प्रिय इसका आज हजार गुना अधिक अनुभव कर रहा है।

देवताओं का प्रिय सब प्राणियों की रक्षा जीवन के सत्कार, शान्ति और दया के आचरण का उत्सुक हृदय से अभिलाषी है। इसी को देवताओं का प्रिय धर्म का

विजय करना समझता है। अपने राज्य तथा उसके सब सीमा प्रदेशों में, जिसका विस्तार कई सौ योजन है, इन्हीं धर्म के विजयों में देवताओं का प्रिय बड़ा प्रसन्न होता है। उसके पड़ोसियों में यवनों का राजा एण्टिओकस और एण्टिओकस के उपरान्त चार राजा लोग अर्थात् टोलेमी, एण्टिगोनस, मेगेस, और सिकन्दर, दक्षिण में तम्बपन्नी नदी तक चोल और पंड्य लोग और हेनराज विस्मवसी भी, यूनानियों और कम्बोजों में नाभक और नाभपन्ति लोग, भोज और पेतेनिक लोग, आन्ध्र और पुलिन्द लोग—सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय की धार्मिक शिक्षाओं के अनुकूल हैं। जहां कहीं देवताओं के प्रिय के दूत भेजे गये वहां लोगों ने देवताओं के प्रिय की ओर से जिस धर्म के कर्त्तव्यों की शिक्षा दी गई उसे सुना और उस धर्म तथा धार्मिक शिक्षाओं से सहमत हुए और सहमत होंगे, इस प्रकार विजय चारों ओर फैलाई गई है। मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है, धर्म के विजयों से ऐसा सुख ही होता है। पर सच तो यह है कि यह आनन्द एक दूसरी बात है। देवताओं का प्रिय केवल उन फलों को बहुत अधिक समझता है जो कि दूसरे जन्म में अवश्य मिलेंगे। इसी उद्देश्य से यह धार्मिक शिलालेख खुदवाया गया है कि हमारे पुत्र और पौत्र यह न सोचें किसी नवीन विजय की आवश्यकता है, वे यह न विचारे कि तलवार से विजय करना 'विजय' कहलाने योग्य है, वे उनमें नाश और कठोरता के अतिरिक्त कुछ न देखें, वे धर्म के विजय को छोड़ कर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची विजय न समझें। ऐसी विजय का फल इस लोक में तथा परलोक में होता है। वे लोग केवल धर्म में प्रसन्न रहें, क्योंकि उसी का फल इस लोक और परलोक में होता है।

(१४) सूचना

यह सूचना देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की खोदवाई हुई है। वह कुछ तो संक्षेप में, कुछ साधारण विस्तार की और कुछ बहुत विस्तृत है। अभी सबका एक दूसरे से सम्बन्ध नही है क्योंकि मेरा राज्य बड़ा है और मैंने बहुत-सी बातें खुदवाई हैं और बहुत-सी बातें अभी अभी और खुदवाउंगा। कुछ बातें दोहरा कर लिखी गई है क्योंकि मैं उन बातों पर विशेष जोर दिया चाहता हूँ। प्रति लिपि में दोष हो सकते हैं—यह हो सकता है कि कोई वाक्य कट गया हो अथवा अर्थ और का और समझा जाय। यह सब खोदने वाले कारीगर का काम है।

ये अशोक की चौदहों प्रसिद्ध सूचनाएँ हैं जिनके द्वारा उसने (१) पशुओं के बध का निषेध किया (२) मनुष्यों और पशुओं के लिये चिकित्सा का प्रबन्ध किया

(३) पांचवें वर्ष एक धार्मिक उत्सव किए जाने की आज्ञा दी, (४) धर्म की शोभा प्रगट को (५) धर्ममहामात्रों और उपदेशकों को नियत किया, (६) सर्वसाधारण के सामाजिक और गृह सम्बन्धी जीवन के आचरणों की सुधार के लिये आचार्य शिक्षक नियत किए, (७) सब के लिये धार्मिक अप्रतिरोध प्रगट किया (८) प्राचीन समय के हिंसक कार्यों के स्थान पर धार्मिक सुखों की प्रशंसा की, (६) धार्मिक शिक्षा और सदुपदेश देने की महिमा लिखी (१०) सत्य धर्म के प्रचार करने की कीर्ति और सत्य वीरता की प्रशंसा की (११) सब प्रकार के दानों में धार्मिक शिक्षा के दान को सर्वोत्तम कहा, (१२) सार्वजनिक सम्मति के सम्मान और आचार के प्रभाव सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अन्य धर्म के लोगों को अपने मत में लेने की इच्छा प्रगट की (१३) कलिंग के विजय का उल्लेख किया और उन पांच यूनानी राजाओं तथा भारतवर्ष के राज्यों के नाम लिखे जहाँ कि धर्मोपदेशक भेजे गए थे और अन्त में (१४) उपरोक्त शिलालेखों का सारांश दिया और सूचनाओं के खुदवाने के विषय में कुछ वाक्य लिखे।

ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरी सूचना बड़े काम की है, क्योंकि उसमें सीरिया के एण्टिओकस तथा हिन्दू राज्यों के नाम दिए हैं। पांचवीं सूचना में भी ऐसे नाम हैं और तेरहवीं सूचना में कलिङ्ग के विजय का उल्लेख है जिससे कि बंगाल और उड़ीसा का मगध और उत्तरी भारतवर्ष से घनिष्ट राज्य हुआ। इसी सूचना में पांच यूनानी राजाओं के नाम दिये हैं और वह मूल पाठ, जिनमें कि ये नाम आए हैं, उद्धृत किये जाने योग्य है।

"अन्तियोक नाम योन राज, परम च तेन अन्तियोकेन चतुर राजनि, तुरमये नाम, अन्तिकिन नाम मक नाम, अलिकसन्दरे नाम।"

ये पाँचो नाम सीरिया के एण्टिओकस, ईजिप्ट के टोलेमी, मेसिडन के एण्टिगोनस, साइरोन के मगस, और एपिरस के एलेकजाण्डर के हैं। ये सब अशोक के समकालीन थे और अशोक ने उनके साथ सन्धि की थी और उनकी सम्मति से उनके देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये उपदेशक भेजे थे। इसी सूचना में भारतवर्ष तथा उसके आसपास के उन राज्यों के नाम भी दिये हैं जहां इसी प्रकार धर्मोपदेशक लोग भेजे गए थे।

उपरोक्त चौदहों सूचनाओं के सिवाय, जो कि कानून या आचार नियमों की भाँति प्रकाशित की गई थीं, अशोक ने समय-समय पर अन्य सूचनाएँ भी खुदवाई थीं और उसमें से कुछ खुदे हुये लेख हम लोगों को मिले भी हैं।

धौली और जौगड़ (जो कटक के दक्षिण-पश्चिम में है) की एक सूचना

में तोसली नगर के शासन के लिए दया से भरे हुये नियम लिखे हैं, सब प्रजाओं के लिये धर्माचरण की शिक्षा दी है और पांचवें वर्ष उस धार्मिक उत्सव को करने के लिये कहा है जिसका उल्लेख ऊपर आया है। उसी सूचना में यह भी लिखा है कि उज्जयिनी और तक्षशिला में यह उत्सव प्रति तीसरे वर्ष होना चाहिए।

धौली और जौगड़ में एक दूसरी सूचना भी प्रकाशित की गई थी जिसमें तोसली और समापा के शासन के नियम और सीमा प्रदेश के कर्मचारियों के लिये शिक्षा है। दो सूचनाओं का अर्थात् एक तो सहसराम (बनारस के दक्षिण पूरब) की, और दूसरे रूपनाथ (जबलपुर के उत्तर-पूरब) की सूचनाओं का अनुवाद डाक्टर बुहलर साहब ने किया है। उसमें धार्मिक सत्योपदेश हैं और उनसे विदित होता है कि यह धार्मिक सम्राट २५६ धर्मोपदेशकों (भिक्षुओं) को नियत करके उन्हें चारो ओर भेज चुका था। वैराट (दिल्ली के दक्षिण पश्चिम) का शिलालेख मगध के धर्मों पदेशकों के लिये है और उसमें अशोक ने बौद्ध त्रैकत्व अर्थात बुद्ध, धर्म और संघ में अपना विश्वास प्रगट किया है! अशोक की दूसरी रानी की एक धार्मिक सूचना इलाहाबाद में मिली है और अशोक के तीन नये शिलालेख मैसूर में मिले हैं।

अब हम गुफाओं के शिलालेखों का वर्णन करेंगे।

निम्न लिखित गुफाओं के शिलालेख मिले हैं अर्थात् गया के १६ मील उत्तर बरबर और नागार्जुनी गुफाओं के, कटक के उत्तर खण्डगिरि की गुफाओं के और मध्यप्रदेश में रामगढ़ की गुफाओं के शिलालेख। बरबर की गुफाओं के शिलालेख में लिखा है कि इन गुफाओं को अशोक (पियदसी) ने धार्मिक भिक्षुओं को दिया था, और नागार्जुनी की गुफाओं में लिखा है कि इन्हें अशोक के उत्तराधिकारी दशरथ ने दान किया था। खंडगिरि और उदयगिरि की गुफाओं में से अधिकांश कलिंग (उड़ीसा) के राजाओं की दान की हुई हैं।

अन्त में हम लाटों पर खुदे हुए लेखों के विषय में लिखेंगे। दिल्ली और इलाहाबाद की प्रसिद्ध लाटों ने सर विलिजम जोन्स के समय से पुरातत्ववेत्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है। उन्हें पहले पहल प्रिन्सप साहब ने पढ़ा। दिल्ली की दोनों लाट और इलाहाबाद की लाट के सिवाय, तिरहुत में लौरिया में दो लाट और भूपाल में साँची में एक लाट है।

प्रायः सब लाटों में वे ही छै सूचनायें खुदी हुई हैं, पर दिल्ली में फिरोज शाह की लाट में दो सूचनाये अधिक पाई गयी हैं। स्मरण रहे कि ये सूचनाएँ अशोक के राज्याभिषेक के २७ वें और २८ वें वर्ष में प्रकाशित की गई थीं। उनमें इस सम्राट के राजकीय विषयों का बहुत ही कम उल्लेख है, पर उसने सदाचरण

और धर्म की शिक्षाओं तथा सर्वसाधारण के हित के लिए जो कार्य किए थे उनके वृत्तान्त से वे भरी हुई है। संक्षेप में इस धार्मिक सम्राट ने (१) अपने धर्म सम्बन्धी कर्मचारियों को उत्साह और धार्मिक चिन्ता के साथ कार्य करने का उपदेश किया है, (२) दया, दान, सत्य, और पवित्रता को धर्म कहा है, (३) आत्म परीक्षा करने और पाप से बचने के लिये जोर देकर उपदेश दिया है, (४) लोगों को धार्मिक शिक्षा देने का कार्य रज्जुकों को सौंपा है और जिन लोगों को फाँसी की आज्ञा हो उनके लिये तीन दिन की अवधि दी है (५) भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं के बध का निषेध किया है (६) अपनी प्रजा पर अपना हित प्रगट किया है और सब पंथ के लोगों के बौद्ध हो जाने की आशा प्रगट की है (७) यह आशा प्रगट की है कि उसकी सूचनाएँ तथा धर्मोपदेश लोगों को सत्य पथ पर चलने के लिये उद्यत करेंगे और (८) अन्त में, अपने सर्व साधारण के हित के कार्यों और लोगो की धर्मोन्नति के उपायों का पुनरुल्लेख किया है और सदाचार की शिक्षा द्वारा लोगों को अपने मत में लाने की आज्ञा दी है। इन आठों सूचनाओं का निम्नलिखित अनुवाद सिनार्ट साहब के अनुसार दिया जाता है—

(१) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदर्सी इस प्रकार बोला। अपने राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। धर्म में अत्यन्त उत्साह, कठोर निरीक्षण पूरी तरह आज्ञा पालन करने और निरन्तर उद्योग के बिना मेरे कर्मचारियों को इस लोक तथा परलोक में सुख पाना कठिन है। पर मेरी शिक्षा को धन्यवाद है कि धर्म के लिये यह चिन्ता और उत्साह बढ़ रहा है और दिन-दिन बढ़ेगा। मेरे उच्च श्रेणी के मध्य श्रेणी के तथा नीचे की श्रेणी के कर्मचारी लोग उसके अनुसार चलते हैं और लोगों को सत्य मार्ग बतलाते हैं तथा उन्हें हर्षित रखते हैं। इसी प्रकार मेरे सीमा प्रदेश के कर्मचारी (अन्त महामात्र) भी कार्य करते हैं। क्योंकि नियम यह है:--

धर्म से शासन, धर्म से कानून, धर्म से उन्नति और धर्म से रक्षा।

(२) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदर्सी इस प्रकार बोला! धर्म उत्तम है। पर यह पूछा जा सकता है कि यह धर्म क्या है? धर्म थोड़ी से थोड़ी बुराई और अधिक से अधिक भलाई करने में है। वह दया, दान, सत्य और पवित्र जीवन में है। इस लिये मैंने मनुष्यों, चौपायों, पक्षियों और जल जन्तुओं के लिये सब प्रकार के दान दिए हैं, मैंने उनके हित के लिये बहुत से कार्य किए हैं, यहाँ तक कि इनके

पाने के लिये जश का भी प्रबन्ध किया है और बहुत से अन्य प्रशंसनीय कार्य किए हैं। इस हेतु मैंने यह सूचना खुदवाई है जिसमें लोग उसके अनुसार चलें और सत्य पथ को ग्रहण करें एवं यह बहुत काल तक स्थिर रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा वह भला और प्रशंसनीय कार्य करेगा।

(३) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! मनुष्य केवल अपने अच्छे कर्मों को देखता है और कहता है कि मैंने यह अच्छा कार्य किया। पर वह अपने बुरे कर्मों को नहीं देखता और यह नहीं कहता कि मैंने यह जो बुरा कार्य किया, यह पाप है। यह सच है कि ऐसी जाँच करना दुखदाई है परन्तु यह आवश्यक है कि अपने मन में यह प्रश्न किया जाय और यह कहा जाय कि ऐसी बातें यथा दुष्टता, निर्दयता, क्रोध और अभिमान पाप है। सावधानी से अपनी परीक्षा करते और कहते रहना अवश्यक है कि मैं ईर्पा को स्थान नहीं दूंगा और न दूसरों की निन्दा करूंगा। यह मेरे लिये यहाँ फलदायक होगा, यथार्थ में यह दूसरे जन्म में और भी लाभदायक होगा।

(४) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! अपने राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। मैंने लाखों निवासियों के लिये रज्जुकों को नियत किया है। मैंने रज्जुकों को दंड देने का अधिकार अपने हाथ में रक्खा है जिसमें वे पूरी दृढ़ता और रक्षा के साथ अपना कार्य करें और मेरे राज्य के लोगों की भलाई और उन्नति करें। वे उन्नति और दुःख दोनों की बराबर जांच करते रहते हैं और धर्मयुतों के साथ वे मेरे राज्य के लोगों को शिक्षा देते हैं कि जिनसे लोग सुख और भविष्य में मुक्ति प्राप्त कर सकें। रज्जुक लोग मेरी आज्ञा पालन करते हैं, पुरुष लोग भी मेरी इच्छा और आज्ञाओं का पालन करते हैं और मेरे उपदेशों का प्रचार करते हैं जिसमें रज्जुक लोग सन्तोषजनक कार्य करें। जिस भाँति कोई मनुष्य अपने बच्चे को किसी सचेत दाई को देकर निश्चिन्त रहता है और सोचता है कि मेरा बच्चा सचेत दाई के पास सुरक्षित है उसी भाँति मैंने भी अपनी प्रजा के हित के लिये रज्जुक लोगों को नियत किया है जिसमें वे दृढ़ता और रक्षा के बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य करें।। मैंने उनको अभियुक्त करने और दंड देने का अधिकार स्वयं अपने हाथ में रक्खा है। अभियुक्त करने और दंड देने में समान दृष्टि से देखना चाहिये। इसलिये आज की तिथि से यह नियम किया जाता है, कि जिन कैदियों का न्याय हो गया है और जिन्हें फाँसी देने की आज्ञा हुई है उनके लिए तीन दिन की अवधि

दी जाय। उनको सूचना दी जायगी कि वे तीन दिन तक जीवित रहेंगे। न इससे अधिक और न इससे कम। इस प्रकार अपने जीवन की सूचना पाकर वे अपने दूसरे जन्म के हित के लिए दान देंगे अथवा व्रत रखेंगे। मेरी इच्छा है कि बन्दीगृह में भी उन्हें भविष्य का निश्चय दिलाना चाहिये और मेरी यह दृढ़ अभिलाषा है कि मैं धर्म के कार्यों की उन्नति, इन्द्रियों के दमन और दान का प्रचार देखूँ।

(५) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! अपने राज्याभिषेक के २६ वर्ष के उपरान्त मैंने निम्नलिखित जीवों के मारे जाने का निषेध किया है। अर्थात् शुक, सारिका, अरुन, चक्रवाक, हँस, नन्दिमुख, गैरन गिलात, (चमगीदड़) अंबक पिंल्लिक, दद्धि, अनस्थिक मछली, वेदवेयक, गङ्गा नदी के पुपुत, संकुज, कफतसयक पमनसस, सिमल, संदक, ओकपिंड, पलसत, स्वेत कपोत, ग्राम कपोत और सब चौपाये जो कि किसी काम में नहीं आते और खाये नहीं जाते। बकरी, भेड़ी और शूकरी जब गाभिन हों अथवा दूध देती हों अथवा जब तक उनके बच्चे छः महीने के न हों, न मारी जांय। लोगों के खाने के लिये मुर्गी को खिलाकर मोटी नहीं बनाना चाहिये। जीते हुये जानवरों को नहीं जलाना चाहिये। जङ्गल चाहे असावधानी से अथवा उसमें रहने वाले जानवरों को मारने के लिये जलाए नहीं जायंगे। जानवरों को दूसरे जीते हुये जानवर नहीं खिलाये जांयगे। तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा को, पूर्णिमा के चन्द्रमा का तिष्य नक्षत्र से और पुनर्वसु नक्षत्र से योग होने पर चंद्रमा के चौदहवें और पन्द्रहवें दिन, पूर्णिमा के उपरान्त वाले दिन और साधारणतः प्रत्येक उपोसथ दिन में किसी को मछली मारनी अथवा बेचनी नहीं चाहिये। प्रत्येक पक्ष की अष्ठमी, चतुरदशी, अमावास्या और पूर्णिमा को, तिष्य पुनर्वसु और तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा के दूसरे दिन किसी को साँड़ बकरा, भेड़, सूअर अथवा किसी दूसरे बधिये किये जाने वाले जानवरों को बधिया नहीं करना चाहिये। तिष्य पुनर्वसु और चतुरमास्यों की पूर्णिमाओं को और चातुर्मास्यों की पूर्णिमाओं के दूसरे दिन घोड़े अथवा बैल को नहीं दागना चाहिये। अपने राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष मैंने २६ बन्दियों को छोड़ दिया है।

(६) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! अपने राज्याभिषेक के १२ वर्ष पर मैंने अपनी प्रजा के लाभ और सुख के लिये (पहले पहल) सूचनाएँ खुदवाईं। मैं यह समझ कर प्रसन्न हूँ कि वे लोग इससे लाभ उठावेंगे और धर्म में

अनेक प्रकार से उन्नति करेंगे और इस लिये ये सूचनाएँ लोगों के लाभ और सुख का कारण होगी। मैंने वे उपाय किए हैं जिनसे कि मेरी प्रजा के—जो मुझसे दूर रहती है और जो मेरे निकट रहती है,—और मेरे सम्बन्धियों के भी सुख की उन्ननि अवश्य होगी। इसी कारण मैं अपने सब कर्मचारियों पर देखभाल रखता हूँ, सब पंथ के लोग मुझसे अनेक प्रकार के दान पाते हैं। परन्तु मैं उनके धर्म परिवर्तन को सबसे अधिक समझता हूँ। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के २६ वर्ष उपरान्त खुदवाई है।

(७) सूचना

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! प्राचीन समय में जो राजा लोग राज्य करते थे वे चाहते थे कि मनुष्य धर्म में उन्नति करें। परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने धर्म में उन्नति नहीं की। तब देवताओं का प्रियदसी इस प्रकार बोला! मैंने सोचा कि प्राचीन समय के राजा लोग यह चाहते थे कि मनुष्य धर्म में उन्नति करें परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने उन्नति नहीं की अतः मैं किस प्रकार उन्हें सत्यपथ पर ला सकता हूँ। मैं अपनी इच्छानुसार किस प्रकार धर्म में उनकी उन्नति कर सकता हूँ। तब देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। मैंने धर्मसम्बन्धी उपदेशों को प्रकाशित करने और धार्मिक शिक्षा देने का निश्चय किया, जिसमें मनुष्य इनको सुनकर सत्य पथ को ग्रहण करें और उन्नित करें।

(८) सूचना

मैंने धार्मिक शिक्षाओं को प्रकाशित किया है और धर्म के विषय में अनेक उपदेश दिए हैं जिससे धर्म की शीघ्र उन्नति हो। मैंने लोगों के लिए बहुत से कर्मचारी नियत किए हैं उनमें से प्रत्येक प्रजा की ओर अपना धर्मकर्म करने में लगा हुआ है जिसमें कि वे शिक्षा का प्रचार करें और भलाई की उन्नति करें। इसलिए मैंने हजारों मनुष्यों पर रज्जुक लोगों को नियत किया है और यह आज्ञा दी है कि वे धर्मयुतों को शिक्षा दें। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। केवल इसी बात के लिये मैंने लाटों पर धर्म सम्बन्धी लेख खुदवाये हैं, मैंने धर्म-महामात्रों को नियत किया है और दूर-दूर तक धर्मोपदेशों का प्रचार किया है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! बड़ी सड़कों पर मैंने न्यग्रोध के वृक्ष लगवाये हैं जिसमें कि वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें, मैंने आम के बगीचे लगवाये है, मैंने आधे-आधे कोस पर कुंए खुदवाए हैं और अनेक स्थानों पर मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिये धर्मशाला बनवाई हैं। परन्तु मेरे लिये यथार्थ

प्रसन्नता की बात यह है कि पहले के राजा लोगों ने तथा मैंने अनेक अच्छे कार्यों से लोगों के सुख का प्रबन्ध किया है परन्तु लोगों को धर्म के पथ पर चलाने के एकमात्र उद्देश्य से मैं अपने सब कार्य करता हूँ। देवताओं का प्रिय राजा प्रियदसी इस प्रकार बोला। मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया है जिसमें कि वे सब प्रकार से धर्म के कार्य में यत्न करें और सब पन्थ के लोगों में, सन्यासियों और गृहस्थों में यज्ञ करें। पुजारियों, ब्राह्मणों, सन्यासियों, निग्रन्थों और भिन्न-भिन्न पन्थ के लोगों के हित का ध्यान भी मेरे हृदय में रहा है और उन सब लोगों में मेरे कर्मचारी कार्य कर रहे हैं। महामात्र लोग अपने-अपने समाज में कार्य करते हैं और धर्म के प्रबन्धकर्ता लोग प्रायः सब पन्थ के लोगों में कार्य करते हैं। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। ये तथा अन्य कर्मचारी मेरे हथियार हैं और वे मेरे तथा रानियों के दान को बांटते हैं, मेरे महल में वे अपने अपने कमरों में अनेक प्रकार से कार्य करते हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि वे यहां तथा प्रान्तों में मेरे लड़कों के और विशेषतः राजकुमारों के दान को धर्म कार्यों के साधन और धर्म को बढ़ाने के लिये बांटते हैं। इस प्रकार संसार में धर्म कार्य अधिक होते हैं और धर्म के साधन अर्थात् दया और दान, सत्य और पवित्रता उपकार और भलाई की उन्नति होती है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। भलाई के अनेक कार्य जिन्हें कि मैं करता हूँ उदाहरण की भांति हैं। उनको देखकर सम्बन्धियों और गुरुओं की आज्ञा पालन में, वृद्धों के लिये दया भाव रखने में, ब्राह्मणों और श्रामनों का सत्कार करने में, गरीब और दुखियों तथा नौकरों और गुलामों का आदर करने में, लोगों ने उन्नति की है और उन्नति करेंगे। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला! मनुष्यों में धर्म की उन्नति दो प्रकार से हो सकती है। स्थिर नियमों के द्वारा अथवा उन लोगों में धर्म के विचारों को उत्तेजित करने के द्वारा। इन दोनों मार्गों में कठोर नियमों का रखना ठीक नहीं है, केवल हृदय के उत्तेजित करने ही का सब से अच्छा प्रभाव होता है। दृढ़ नियम मेरी आज्ञाएँ हैं यथा मैं विशेष पशुओं के बध का निषेध करूँ अथवा और कोई धार्मिक नियम बनाऊँ जैसा कि मैंने किया भी है। परन्तु केवल हृदय के विचारों के परिवर्तन से ही जीवों के ऊपर दया और प्राणियों को बध न करने से विचार में धर्म की सच्ची उन्नति होती है। इसी उद्देश्य से मैंने यह लेख प्रकाशित किया है कि वह मेरे पुत्रों और पौत्रों के समय तक स्थिर रहे और जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं स्थिर रहे, जिसमें वे मेरी शिक्षाओं के अनुसार चलें। क्योंकि इस पथ पर चलने से मनुष्य यहाँ तथा परलोक दोनों ही में सुख प्राप्त करता है। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के

२७ वें वर्ष खुदवाई है। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। जहाँ कहीं यह सूचना पत्थर की लाटों पर है वहाँ वह बहुत समय तक स्थिर रहे।

यह सूचना बहुत समय तक स्थिर रही है और उसके उपरान्त के दो हजार वर्षों में मनुष्य जाति ने "दया और दान, सत्य और पवित्रता, उपकार और भलाई" की उन्नति करने से बढ़ कर इस संसार ने कोई धर्म नहीं पाया है।

चौंतीसवाँ अध्याय

भाषा और अक्षर

अशोक के शिलालेख हमलोगों के लिये ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में उत्तरी भारतवर्ष की भाषा और अक्षरों के जानने के लिए अमूल्य हैं। ये सूचनाएँ निस्सन्देह उसी भाषा में हैं जिसको कि अशोक के समय में लोग बोलते और समझते थे। इन सूचनाओं के ऐसी बोलियों में होने से जिनमें कि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में एक दूसरों से बहुत कम अन्तर है, विदित होता है कि इस बड़े सम्राट ने अपने विस्तृत राज्य के जुदे-जुदे भागों में अपने नियमों को उसी बोली में प्रकाशित किया है, जो देश के उस भाग में बोली जाती थी।

इन शिलालेखों से विदित होता है कि उत्तरी भारतवर्ष की भाषा हिमालय से लेकर विंध्य पर्वत तक और सिन्धु से लेकर गंगा तक मुख्यतः एक ही थी। परन्तु इनमें बहुत थोड़े भेद हैं जिनसे कि पुरातत्ववेत्ताओं ने यह जाना है कि उस समय में तीन प्रकार की भाषाएँ बोली जाती थी! जेनरल कनिंगहाम साहब इन्हें पंजाबी अथवा पश्चिमी भाषा, उज्जैनी अथवा बीच के देश की भाषा और मागधी अथवा पूर्वी भाषा के नाम से पुकारते हैं।

पंजाबी भाषा अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत से बहुत मिलती है। उसमें प्रियदर्शी श्रामन इत्यादि शब्दों में 'र' रहता है, उसमें संस्कृत 'स श ष' भी रहते हैं और उसके रूप संस्कृत के रूपों से अधिक मिलते हैं। उज्जैनी भाषा में 'र' और 'ब' दोनों होते हैं, परन्तु मागधी भाषा में 'र' का लोप होकर उसके स्थान पर सदा 'ल' बोला जाता है यथा राजा के स्थान पर लाजा, दशरथ के स्थान पर दशलथ इत्यादि।

इन तीनों भाषाओं को एक मान कर पुरातत्ववेत्ता लोगों ने इस भाषा को पाली समझा है। प्रिन्सेप साहब कहते हैं कि यह भाषा संस्कृत और पाली के बीच की है। विल्सन साहब ने चट्टान के शिलालेखों के चार भिन्न पाठों की ध्यान पूर्वक परीक्षा की है और उन्होंने अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है "यह भाषा स्वयं एक प्रकार की पाली है और उसमें अधिकाँश शब्दों के रूप आज कल की पाली व्याकरण के रूपों के सदृश हैं। परन्तु उनमें बहुत से भेद भी हैं जिनमें से कुछ तो उस भाषा के संस्कृत के साथ अधिक सम्बन्ध होने के कारण हैं और कुछ स्थानिक विशेषताओं के कारण, जिससे कि इस भाषा की और भी अनिश्चित दशा विदित होती है।"

लेसन साहब विल्सन साहब से इस बात में सहमत हैं कि अशोक के शिलालेखों की भाषा पाली है और वे यह भी कहते हैं कि पाली संस्कृत की सब से बड़ी बेटी है अर्थात् उत्तरी भारतवर्ष में संस्कृत भाषा की बोल चाल का व्यवहार उठ जाने के उपरान्त यह सबसे प्राचीन भाषा है। म्योर साहब इन शिलालेखों की भाषा को उन बौद्धग्रन्थों से मिलान करके जो कि लङ्का में ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में भेजे गए थे, इस मत की पुष्टि करते हैं और यह प्रमाणित करते हैं कि वे प्रायः एक ही भाषा अर्थात् पाली भाषा में हैं। बर्नफ और लेसन साहब अपने "एसे सरल पाली" लेख में लिखते हैं कि पाली भाषा "संस्कृत की बिदाई की सीढ़ी के पहले कदम पर है और वह उन भाषाओं में सबसे पहली है जिन्होंने कि इस पूर्ण और उपजाऊ भाषा को नष्ट कर दिया।"

अतः यह काफी स्पष्ट और ठीक प्रमाण है जो कि भारतवर्ष के इतिहास जानने वाले के लिये अमूल्य है। हम लोग वैदिक काल की भाषा को जानते हैं जो कि ऋग्वेद के सबसे सादे और सुन्दर सूत्रों में रक्षित है। हम लोग ऐतिहासिक काव्य काल की भाषा भी जानते हैं जो कि गद्य ब्राह्मणों और आरण्यकों में रक्षित है। १००० ई० पू० के उपरान्त बोलने और लिखने की भाषा में भेद बढ़ने लगा। विद्वतापूर्ण सूत्र प्राचीन व्याकरण की संस्कृत में बनाये जाते थे पर लोगों के बोलने की भाषा और जिस भाषा में गौतम ईसा के पहले छठीं शताब्दी में शिक्षा देता था वह अधिक सीधी और चंचल थी। वह भाषा क्या थी यह हमें अशोक की सूचनाओं से विदित होता है क्योंकि ईसा के ४७७ वर्ष पहले से जब कि गौतम की मृत्यु हुई उसके २६० वर्ष पहले तक जब कि अशोक राज्य करता था, बोलने की भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं हो सकता। अतएव तीसरे अर्थात् दार्शनिक काल की भाषा पाली की एक पूर्व रूप थी, हम उसे चाहे जिस नाम से (मागधी, इत्यादि) पुकारें।

उत्तरी भारतवर्ष में चौथे अर्थात् बौद्ध काल में इसी भाषा के भिन्न-भिन्न रूप बोले जाते थे।

पाँचवे अर्थात् पौराणिक काल में पाली भाषा में बहुत अधिक अन्तर हो गया और उससे एक दूसरी ही भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा बन गई जो कि इस काल के नाटकों में पाई जाती है। पाली की अपेक्षा प्राकृत के शब्दों के रूप में संस्कृत से बहुत अधिक भेद होता है और इतिहास से भी यह बात विदित है कि कालिदास की नायिकाओं के बोलने की भाषा अशोक के बोलने की भाषा से बहुत पीछे के समय की है। पौराणिक काल के समाप्त होने पर एक दूसरा परिवर्तन हुआ और प्राकृत भाषा और भी बिगड़ कर उत्तरी भारतवर्ष में लगभग एक हजार ईस्वी पहुँचने तक हिन्दी हो गई।

इस प्रकार यह देखा जायगा कि ४००० वर्षों में उत्तरी भारतवर्ष की बोलने की भाषा में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। वैदिक काल में वह ऋग्वेद की संस्कृत थी, और ऐतिहासिक काव्यकाल में भी वह ब्राह्मण की संस्कृत थी, दार्शनिक और बौद्ध कालों में वह पाली थी। पौराणिक काल में वह प्राकृत थी, और दसवीं शताब्दी में राजपूतों के उदय के समय से वह हिन्दी रही है।

अब हम भारतवर्ष की बोलने की भाषा के विषय को छोड़ कर उसके अक्षरों के विषय में लिखेंगे। इसके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और बहुत से कल्पित अनुमान किये जा चुके हैं।

देवनागरी अक्षर, जिसमें कि अब संस्कृत लिखी जाती है, बहुत ही थोड़े समय के हैं। भारतवर्ष के सब से प्राचीन अक्षर जो कि अब तक मिले हैं, अशोक के शिलालेखों के अक्षर हैं जो कि ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में लिखे गए थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि ये शिलालेख दो जुदे-जुदे अक्षरों में खुदे हैं, एक तो आज कल की अरबी और फारसी की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर पढ़े जाते हैं और दूसरे आधुनिक देवनागरी और यूरप के अक्षरों की तरह बाईं ओर से दाहिनी ओर को। पहले प्रकार के अक्षर केवल कपुर्दगिरि के शिलालेख में तथा एरियेन के यूनानी और सीरियन राजाओं के सिक्कों में पाये जाते हैं और वे एरियनों, पाली अथवा अशोक के उत्तरी अक्षर कहे जाते हैं। दूसरे प्रकार के अक्षर अशोक के सब शिलालेखों में हैं और वे इण्डो-पाली अथवा अशोक के दक्षिणी अक्षर कहलाते हैं।

एरियेन पाली अक्षरों की उत्पत्ति भारतवर्ष से नहीं हुई और वे पश्चिमी सीमा प्रदेश को छोड़कर भारतवर्ष में और कहीं प्रचलित नहीं थे। टामस साहब

का यह सिद्धान्त ठीक है कि उनकी उत्पत्ति किसी प्रकार भारतवर्ष में नहीं हुई और यह स्पष्ट है कि यह फिनीशियन के समान किसी अक्षर के आधार पर बने हैं। ईसा की पहली शताब्दी के उपरान्त उनका प्रचार उठ गया।

इसके विरुद्ध इण्डो-पाली अक्षरों का प्रचार भारतवर्ष में सर्वत्र ही नहीं था वरन् उनकी उत्पत्ति भी भारतवर्ष ही से हुई है। हम पहले कह चुके हैं कि वह दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखे जाते हैं और देवनागरी तथा आज कल के भारतवर्ष के अन्य अक्षरों की उत्पत्ति उन्हीं अक्षरों से हुई है। टामस साहब को यह कहने में कुछ भी सन्देह नहीं है कि ये अक्षर यहीं पर बनाए गए थे और यहीं उनकी उन्नति की गई थी और वे इस वर्णमाला की उत्पत्ति भारतवर्ष से बतलाने में बड़ा जोर देते हैं, क्योंकि बहुत से पुरातत्ववेत्ता लोग इस अनुमान में मग्न हैं कि हिन्दुओं ने यूनानियों और फिनीशियन लोगों से अपनी वर्णमाला ली है।

जेनरल कनिंघम साहब टामस साहब के इस विचार को पुष्ट करते हैं कि इण्डो-पाली अक्षरों की उन्नति भारतवर्ष से हुई है। उन्होंने साधारणतः अक्षरों की उत्पति, और विशेषतः इण्डोपाली अक्षरों की उत्पति के विषय में जो कुछ लिखा है वह ऐसा सारगर्भित हैं कि हम उसे यहां उद्धृत करने में संकोच नहीं करते।

"मनुष्यों ने लिखने का जो पहला उद्योग किया होगा उसमें जिन वस्तुओं को वे लिखना चाहते थे ठीक उन्हीं का केवल आकार उन्होंने बनाया होगा। इस अवस्था को हम मेक्सिको के चित्रों में पाते हैं जिनमें कि केवल ऐसी वस्तुएँ लिखी हैं जो कि आँख से देखी जा सकती हैं। इन चित्रों की लिखावट में प्राचीन इजिप्ट के लोगों ने यह उन्नति की कि वे पूरे चित्र के स्थान पर केवल उसका अंश लिखने लगे यथा मनुष्यों के स्थान पर केवल मनुष्य का सिर और पक्षी के स्थान पर केवल पक्षी का सिर इत्यादि। इस लेख प्रणाली में कुछ चित्रों को उन वस्तुओं के भिन्न रूप देकर उन्नति की गई। अर्थात् सियार धूर्तता का चिन्ह बनाया गया और बन्दर क्रोध का चिन्ह। इन चिन्हों की और भी उन्नति करके दो हाथों में भाला और ढाल लिख कर वे युद्ध को प्रगट करने लगे, मनुष्य की दो टांगों को लिखकर चलने को प्रगट करने लगे और इसी प्रकार फरसे से खोदने को, आँख से देखने को इत्यादि। परन्तु इन सब बातों से भी चित्रों के द्वारा इस प्रकार विचारों को प्रगट करने की रीति बहुत ही परिमित थी...अतएव यह निश्चय जान पड़ता है कि बहुत ही प्राचीन समय में चित्रों के लिखने की रीति में इतनी उलझन और असुविधा हुई होगी कि इजिप्ट के पुजारियों को अपने

विचारों को प्रगट करने के लिये कोई अधिक उत्तम रीति की आवश्यकता हुई। जो रीति उन्होने निकाली वह बड़ी ही अच्छी थी।

"अपने बहुत से चित्रों के चिन्हों में इजिप्ट के लोगों ने प्रत्येक के लिए एक विशेष उच्चारण नियत किया जिसके लिये पहले एक चित्र था यथा मुख (रु) के लिये जिन्होंने 'र' का उच्चारण दिया और हाथ (तू) के लिये उन्होंने 'त' नियत किया......"

"ऐसा ही व्यवहार भारतवर्ष में भी जान पड़ता है और इसे हम अभी अशोक के समय के अक्षरों में दिखलाने का यत्न करेंगे जिनकी मैं समझता हूँ कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के चित्रों से उत्पत्ति हुई है...मेरी यह सम्मति है कि भारतवर्ष के अक्षरों की उत्पत्ति भारतवर्ष से ही हुई है जैसा कि इजिप्ट के चित्राक्षरों का आविष्कार स्वयं इजिप्ट के लोगों ने किया है...मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि बहुत से अक्षरों के लगभग वैसे ही रूप हैं जैसे कि इजिप्ट के चित्राक्षरों में उन्हीं वस्तुओं के लिये मिलते हैं, परन्तु उनके उच्चारण बिल्कुल भिन्न हैं क्योंकि इन दोनों भाषाओं में उन वस्तुओं के नाम जुदे-जुदे अक्षरों से आरम्भ होते हैं।

"यथा दो पैर जो कि चलने में जुदे हो जाते हैं इजिप्ट में चलने के चिन्ह थे और वे ही रूप कम्पास की दोनों भुजाओं की तरह भारतवर्ष का ग अक्षर हैं जो कि सब संस्कृत शब्दों में किसी प्रकार की गति अथवा चलने को प्रगट करता है। परन्तु इसी प्रकार आकार के इजिप्ट के अक्षर का उच्चारण स है। इसलिये मैं समझता हूँ कि यदि भारतवासियों ने इस अक्षर को कहीं से लिया होता तो भारतवर्ष में भी इस अक्षर का उच्चारण ग के स्थान पर स होना चाहिये था और वास्तव में यही बात अेकेडियन अक्षरों में हुई जब कि उन्होंने एसीरियन लोगों के अक्षरों को लिया।"

जनरल कनिंघम साहब का अनुमान है कि इण्डो-पार्ली के ख अक्षर की उत्पत्ति भारतवर्ष की कुदारी से (खन्=खोदना), य की उत्पत्ति यव से, द की उत्पत्ति दाँत (दन्त) से, ध की धनुष से, प की हाथ (पाँणी) से, म की मुख से, व की वीणा से, न की नाक से, र की रस्सी (रज्जु) से, ह की हाथ (हस्त) से, ल की हल ('लङ्क) अथवा मनुष्य के किसी अङ्ग से, श की कान (श्रवण) से हुई है।

"प्राचीन भारतवर्ष के अक्षरों की इस प्रकार परीक्षा करने में मैंने अशोक के समय अर्थात् २५० ई० पू० के समय के रूपों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं अथवा मनुष्य के अङ्गों अथवा चित्रों से मिलान किया है और मेरी इस परीक्षा का फल यह हुआ

कि यह निश्चय हो गया कि बहुत से अक्षर अपने सरल रूपों में भी अपनी उत्पत्ति चित्रों से होने के बड़े प्रमाण रखते हैं। इन अक्षरों को इजिप्ट के अक्षरों से मिलान करने से विदित होता है कि उनमें से बहुत से एक ही वस्तु के प्रायः एक ही रूप हैं। परन्तु भारतवर्ष के रूपों का उच्चारण इजिप्ट के रूपों के उच्चारण से पूर्णतया भिन्न है जिससे यह निश्चय जान पड़ता है कि भारतवासियों ने यद्यपि इजिप्ट के लोगों की भाँति इस विषय में कार्य किया तथापि उन्होंने इस कार्य को पूर्णतया स्वतन्त्र रीति से किया है और उन्होंने अपने अक्षरों को इजिप्ट के लोगों से नहीं लिया...।

"अब यदि भारतवासियों ने अपने अक्षर इजिप्ट के लोगों से नहीं लिए हैं तो वे अक्षर स्वयं भारतवासियों के ही बनाये हुए हैं, क्योंकि अन्य कोई ऐसे लोग नहीं थे जिनसे कि उन्होंने इन्हें ग्रहण किया हो। उनके सब से निकट के लोग एरियना और फारस के लोग थे जिनमें से एरियना के लोग तो शेमिटिक अक्षर व्यवहार करते थे जिनकी उत्पत्ति फिनीशियन अक्षरों से हुई है और जो दाहिनी ओर से बाँई ओर को लिखे जाते हैं, और फारस के लोग एक त्रिकोणरूपी अक्षरों का व्यवहार करते हैं जो कि जुदी-जुदी पाइयों से बने हैं और इनमें भारतवर्ष के अक्षरों के घने रूपों से कुछ भी समानता नहीं है।"

हमने टामस साहब और जनरल कनिंघम साहब की सम्मतियाँ उद्धृत की हैं क्योंकि भारतवर्ष के अक्षरों के विषय में इन लोगों से बढ़ कर और किसी ने प्रामाणिक सम्मति नहीं दी है। परन्तु हमारे पाठकों का इस गहन विषय पर अन्य विद्वानों की सम्मति भी सुनने की इच्छा होगी।

वेबर साहब का मत है कि हिन्दुओं ने अपनी वर्णमाला फिनीशियन लोगों से ली परन्तु उन्होंने अपने अक्षरों को इतना अधिक सुधारा और बढ़ाया कि उनके अक्षरों को हम स्वयं उन्हीं का बनाया हुआ कह सकते हैं। मेक्समूलर साहब का मत है कि पांचवीं शताब्दी से अधिक पहले भारतवासियों में लिखने के अक्षर नहीं थे और उन लोगों ने अपनी वर्णमाला पश्चिम के लोगों से ग्रहण की है। परन्तु राथ साहब जिन्होंने बहुत समय तक वेदों का अध्ययन किया है अपना दृढ़ विश्वास प्रगट करते हैं कि वेदों की रिचाओं का इतना बड़ा संग्रह केवल कण्ठाग्र रख कर आज तक रक्षित नहीं रह सकता था। इसीलिये उनका विचार है कि वैदिक काल में लोग लिखना जानते थे। बुहलर साहब का यह मत है कि भारतवर्ष की वर्णमाला जिसमें कि पांच सानुनासिक वर्ण और तीन ऊष्म वर्ण हैं, ब्राह्मणों के काल के व्याकरणों में ही बनी होगी। गोल्डस्टूकर साहब का मत है कि जिस समय वेद की

रिचाएँ बनी उस समय लोग लिखना जानते थे और लेसन साहब की सम्मति है कि इण्डो-पाली अथवा अशोक के दक्षिणी अक्षरों की उत्पत्ति पूर्णतया भारतवर्ष से हुई।

पैंतीसवाँ अध्याय

मगध के राजा

छान्दोग्य उपनिषद् (७,१,२) में नारद कहते हैं "महाशय मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्व वेद, पाँचवें इतिहास पुराण इत्यादि को जानता हूँ।" ऐतिहासिक काव्यकाल के ग्रन्थों में ऐसे ही वाक्यों से विदित होता है कि उस प्राचीन समय में भी राजाओं और उनके वंशों का किसी प्रकार का इतिहास था जो कि इतिहास पुराण कहलाता था। यदि ये इतिहास हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में जो कुछ विदित होता है उसके अतिरिक्त थे, तो अब बहुत काल हुआ कि उनका लोप हो गया है। सम्भवतः ये इतिहास केवल जबानी कथाओं के द्वारा रक्षित रक्खे जाते थे उनमें प्रत्येक शताब्दी में परिवर्तन होता जाता था और दन्तकथाएँ मिलती जाती थीं, यहाँ तक कि लगभग दो हजार वर्ष के उपरान्त उन्होंने इस रूप को ग्रहण किया जिसमें कि हम उन्हें आज काल के पुराणों में पाते हैं। क्योंकि पुराण जो आज कल वर्तमान हैं वे पौराणिक काल में बनाये गए थे और तब से उनमें भारतवर्ष में मुसलमानों की विजय के पीछे कई शताब्दियों तक बहुत से परिवर्तन हुए हैं और उनमें बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं।

जब इन पुराणों का सर विलियम जोन्स साहब तथा यूरप के अन्य विद्वानों ने पहले पहल पता लगाया तो इससे बड़ी आशा हुई कि उनसे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत सी बातें विदित होंगी। अतः बहुत से प्रसिद्ध विद्वान इस नई खोज में दत्तचित्त हुए और डाक्टर एच० एच० विल्सन साहब ने अङ्गरेजी जानने वालों के लिये विष्णुपुराण का अनुवाद किया "इस आशा से कि उससे मनुष्य जाति के इतिहास के एक प्रधान अध्याय की सन्तोषदायक पूर्ति हो सकेगी।"

पुराणों में कोशलों के राज्यवंश को सूर्यवंश और कुरु लोगों के वंश को चन्द्रवंश कहा है। पुराणों के अनुसार कुरुपाञ्चाल युद्ध होने के पहले सूर्यवंश के ९१

राजा और चन्द्रवंश के ४५ राजा हो चुके थे। सन् १३५० ई० पू० को इस युद्ध का समय मानकर जैसा कि हमने किया है, और प्रत्येक राजा के शासन का औसत समय १५ वर्ष मान लेने से यह जान पड़ेगा कि आर्य लोगों के गङ्गा की घाटी में बसने और राज्य स्थापित करने का समय १४०० ई० पू० नहीं है जैसा कि हमने माना है वरन् उसका समय कम से कम इसके १००० वर्ष पहले है। यह जान पड़ेगा कि भारतवर्ष के पुरातत्ववेत्ताओं को ऐतिहासिक काव्य काल १४०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० तक स्थिर करने के स्थान पर उन्हें इसका समय १५ शताब्दी और पहले स्थिर करना चाहिये अर्थात् २५०० ई० पू० से १००० ई० पू० तक। चूँकि वैदिक काल ऐतिहासिक काव्य काल के पहले है अतएव उसका समय यदि हम उसके और पहिले न स्थिर करें तो कम से कम ३००० ई० पू० से स्थिर करना चाहिये।

हमने इन बातों को यह दिखलाने के लिये लिखा है कि भारतवर्षीय इतिहास के प्रथम दो काल का जो समय निश्चित किया जाता है वह केवल विचाराधीन है और आगे चल कर अधिक खोज से उनके और भी बढ़ाने की आवश्यकता हो सकती है जैसा कि ईजिप्ट और चोल्डिया के विषय में हुआ है। पुराणों में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं की जो सूची दी है केवल उन्हीं के आधार पर अभी हम समय बढ़ाना उचित नहीं समझते परन्तु फिर भी ये सूचियाँ बड़े काम की और बहुत कुछ निर्देश काने वाली हैं! इनसे इस बात का स्मरण होता है कि भारतवर्ष में जातियों और राज्य वंशों का उदय और अस्त केवल थोड़ी सी शताब्दियों में ही नहीं हो सकता, परन्तु उनमें १००० वर्ष अथवा इससे अधिक समय लगा होगा और वे हमें, यह भी स्मरण दिलाती हैं कि यदि हमने वैदिक काल का प्रारम्भ होना २००० ई० पू० से मान लिया है तो यह अन्तिम सिद्धान्त नहीं है और आगे चल कर अधिक खोज से कदाचित हमें उसका समय ३००० ई० पू० अथवा इससे भी पहले स्थिर करना पड़े।

अब पुराणों की सूची के विषय में यह कहना कदाचित ही आवश्यक है कि उसमें सूर्यवंशी राजाओं में हमको रामायण के नायक राम का नाम और चन्द्रवंशी राजाओं में महाभारत के नायक पांचों पांडवों के नाम मिलते हैं। चन्द्रवंशी राजाओं में हमें अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सुम्भ, और पुन्द्र के नाम मिलते हैं जो कि वास्तव में देशों के नाम अर्थात् क्रमात पूर्वी बिहार, पूर्वी बङ्गाल उड़ीसा, टिपरा और उत्तरी बङ्गाल के नाम हैं। कुरु लोगों के राज्यवंश के वृत्तान्त में पूर्वी भारतवर्ष के उपनिवेशित होने के समय की दन्त कथाएँ भी मिल गई होंगी।

इस प्रकार यह देखा जायगा कि सूर्य और चन्द्र वंशी राजाओं के जो इतिहास पुराणों में दिये हैं वे कुछ अंश में तो सत्य और कुछ अंश में दन्त कथा मात्र हैं। इस सम्बन्ध में उनकी समानता संसार के उन इतिहासों से की जा सकती है जिन्हें कि यूरप के पुजारियों ने मिडिल एजेज में कई शताब्दियों में लिखा है। प्रत्येक पुजारी सृष्टि के आरम्भ से अपना इतिहास प्रारम्भ करता था जैसा कि प्रत्येक पुराण सूर्य और चन्द्र वंशों के स्थापित करने वालों के समय से प्रारम्भ होता है। पुराणों के बनाने वालों की तरह ईसाई पुजारी भी यहूदियों की ऐतिहासिक कथाओं में कल्पित कथाएँ और कौतुक की बातें मिला देते थे और ट्रोजन लोगों के ब्रिटेन देश को पाने का वृत्तान्त एवं आर्थर और रोलेण्ड के विषय की दन्तकथाओं को सच्ची ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मिला देते थे। फिर भी प्रत्येक प्रसिद्ध पुजारी के इतिहासों में एक अंश ऐसा है जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से अमूल्य है। जब ग्रन्थकार अपने समय के निकट आता था तो वह अपना, अपने देश, अपने राजा और अपने यहाँ के मठों का प्रामाणिक वृत्तान्त लिखता था। इसी प्रकार मानो इस समानता को समाप्त करने के लिये, हम लोग पुराण की कथाओं के अन्त में भी कुछ न कुछ बात ऐसी पाते हैं जो कि इतिहास की दृष्टि से हमारे लिये अमूल्य हैं।

हम कह चुके हैं कि जो पुराण अब वर्तमान हैं वे पौराणिक काल में अर्थात् बौद्ध काल के समाप्त होने के उपरान्त ही संग्रहीत किए गए अथवा नए रूप में बनाए गए थे। दार्शनिक तथा बौद्ध कालों में मगध का राज्य भारतवर्ष की सभ्यता का केन्द्र था। इसी कारण पुराणों में हमें इस एक राज्य अर्थात् मगध के विषय में कुछ बहुमूल्य बातें मिलती हैं। हम इस राज्य के विषय में विष्णु पुराण की सूची उद्धृत करेंगे।

"अब मैं तुमसे बृहद्रथ की संतति का वर्णन करूँगा जो कि मगध के राजा होंगे। इस वंश में बहुत से प्रबल राजा हुए हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध जरासन्ध था। उसके बाद (१) सहदेव, (२) सोमापि, (३) श्रुतवत, (४) अयुत युस्, (५) निरमित्र, (६) सुक्षत्र, (७) बृहत्कर्म्मन्, (८) सेनजित, (९) शत्रुञ्जय, (१०) विप्र, (११) शुचि, (१२) क्षेम्य, (१३) सुव्रत (१४) धर्म, (१५) सुश्रम, (१६) दृढ़ सेन (१७) सुमति (१८) सुबल, (१९) सुनीत, (२०) सत्यजित, (२१) विश्वाजित और (२२) रिपुञ्जय होगा। ये बारहद्रथ राजा हैं जो कि एक हजार वर्ष तक राज्य करेंगे।

यद्यपि वायु पुराण, भागवत् पुराण, और मत्स्य पुराण ने भी विष्णु पुराण

की तरह बारहद्रथों के लिये एक हजार वर्ष का समय दिया है फिर भी हम इन पुराणों के संशोधन करने का साहस करेंगे और इन बाईसों राजाओं के लिये कठिनता से ५०० वर्ष का समय देंगे। वास्तव में विष्णु पुराण ने अपनी भूल का संशोधन स्वयं किया है जैसा कि हम आगे चलकर दिखलावेंगे।

"बृहद्रथ वंश के अन्तिम राजा रिपुञ्जय का सुनीक नामक मन्त्री होगा जो कि अपने सम्राट को मार कर अपने पुत्र प्रद्योतन को राजगद्दी पर बैठावेगा। उसका पुत्र पालक, उसका पुत्र विशाखयूप, उसका पुत्र जनक, और उसका पुत्र नन्दिवर्धन होगा। प्रद्योत के वंश के ये पांचों राजा पृथ्वी पर १३८ वर्ष तक राज्य करेंगे।

उसके उपरान्त शिशुनाग राजा होगा, उसका पुत्र काकवर्ण होगा, उसका पुत्र क्षेम धर्मन् होगा, उसका पुत्र क्षत्रौजस होगा, उसका पुत्र विम्बिसार होगा, उसका पुत्र अजातशत्रु होगा, उसका पुत्र दर्भक होगा, उसका पुत्र उदयाश्व होगा, उसका पुत्र नन्दि बर्धन होगा, और उसका पुत्र महानन्दिन् होगा। ये दसों शिशुनाग राजा पृथ्वी पर ३६२ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

यहाँ हम रुक जाँयगे क्योंकि इस सूची में हमको एक या दो नाम ऐसे मिले हैं जिनसे कि हम परिचित हैं। वायु पुराण में विम्बिसार को बिंबिसार लिखा है और यह राजगृह का वही राजा है जिसके समय में गौतम बुद्ध ने कपिलवस्तु में जन्म लिया था और उसका पुत्र अजातशत्रु वही प्रतापी राजा है जिसके राज्य के आठवें वर्ष में गौतम की मृत्यु हुई। हमने बुद्ध की मृत्यु का समय ४७७ ई० पू० माना है और यदि अजाशत्रु के शेष समय तथा उसके चारों उत्तराधिकारियों के शासन के लिये एक सौ वर्ष का समय दें तो महानन्द की मृत्यु और शिशुनाग वंश के समाप्त होने का समय लगभग ३७० ई० पू० होता है।

अब यदि हम विष्णु पुराण में दिए हुए राज्य वंश के समय को मान लें तो बृहद्रथ वंश के लिये १००० वर्ष, प्रद्यौत वंश के लिये १३८ वर्ष और शिशुनाग वंश के लिये ३६२ वर्ष हैं अर्थात् कुरु पाञ्चाल युद्ध से लेकर शिशुनाग वंश के अन्त तक ठीक १५०० वर्ष होते हैं। अथवा यों समझिए कि यदि शिशुनाग वंश की समाप्ति ३७० ई० पू० में समझी जाय तो कुरुपाञ्चाल युद्ध का समय लगभग १८७० ई० पू० होता है।

परन्तु विष्णु पुराण का यह समय निरूपण ठीक नहीं है और विष्णु पुराण के ज्योतिष ने इस भूल को संशोधित किया है। क्योंकि जिस अध्याय से हमने ऊपर के वाक्यों को उद्धृत किया है उसी अध्याय के अन्त में (खंड ४, अध्याय

२४) यों लिखा है "परीक्षित के जन्म से नन्द के राज्याभिषेक तक १०१५ वर्ष हुए। जब सप्तर्षि के प्रथम दोनों तारे आकाश में उगते हैं और उनके ठीक बीचो-बीच रात्रि के समय चन्द्रमा सम्बन्धी नक्षत्र पुञ्ज दिखलाई देता है तब सप्तर्षि इस नक्षत्रयुति में मनुष्यों के एक सौ वर्ष तक स्थिर रहता है। परीक्षित के जन्म के समय वे मघा नक्षत्र पर थे, जब सप्तर्षि पूर्वाषाढ़ में होंगे तब नन्द का राज्य आरम्भ होगा।" मघा से पूर्वाषाढ़ तक दस नक्षत्र होते हैं और इसी कारण यह जोड़ा गया कि परीक्षित और नन्द के बीच एक हजार वर्ष हुए। यदि नन्द के राज्य के आरम्भ होने का समय (अर्थात् शिशुनाग वंश के समाप्त होने का समय) ३७० ई० पू० माना जाय तो परीक्षित ने चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में जन्म लिया और कुरु पाञ्चाल युद्ध लगभग १४०० ई० पू० में हुआ।

हमारे पाठक लोग देखेंगे कि हमने इस ग्रन्थ के पहले भाग में इस युद्ध का जो समय निश्चित किया है उसमें और इस समय में केवल डेढ़ शताब्दी से भी कम का अन्तर है।

इसके विरुद्ध यदि हम इन ज्योतिष सम्बन्धी बातों को छोड़ दे और बृहद्रथ, प्रद्योत और शिशुनाग वंशों के ३७ राजाओं में से प्रत्येक के राज्य काल का औसत २० वर्ष रक्खें तो कुरु पाञ्चाल युद्ध का समय नन्द के ४७० वर्ष पहले अर्थात् ११० ई० पू० में होता है और इस तिथि में भी हमारी निश्चित की हुई तिथि से डेढ़ शताब्दी से कम का अन्तर होता है। इसलिये हमने इस युद्ध का जो समय निश्चित किया है वह प्रायः ठीक है।

उपरोक्त बातों से हम मगध के राजाओं के समय की एक सूची बनाने का उद्योग करेंगे। हम जानते हैं कि अजातशत्रु का राज्य ४८५ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ और उसके पिता बिंबिसार का राज्य ५३७ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ, यदि हम बिंबिसार के चार पूर्वजों के लिये १०० वर्ष का समय मान लें तो शिशुनाग वंश ६३७ ई० पू० प्रारम्भ हुआ।

शिशुनाग वंश के पहले प्रद्योत वंश के पाँच राजाओं ने राज्य किया और इन पाँचों राजाओं का समय ठीक १३८ वर्ष कहा गया है। इससे प्रत्येक राजा का औसत समय २७ वर्ष से कुछ ऊपर होता है जो कि बहुत अधिक है। परन्तु यह मानकर कि एक अथवा दो राजा ने बहुत अधिक समय तक राज्य किया होगा, हम प्रद्योतवंश का समय १३८ वर्ष मान सकते हैं।

बृहद्रथ वंश के २२ राजाओं का राज्य समय १००० वर्ष कहा गया है। यह एक हजार वर्ष केवल एक गोल संख्या है और उस पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

इसके लिए ५०० वर्ष का समय अधिक सम्भव है अथवा इसे ४८४ वर्ष रखिये जिसमें २२ राजाओं की संख्या से उसमें पूरा भाग लग सके। परन्तु इससे भी प्रत्येक राज्य का औसत समय २२ वर्ष होता है जो कि अधिक है। परन्तु यह समझ कर कि कदाचित् कुछ अनावश्यक राजाओं का शासन काल छोड़ दिया गया हो हम इस औसत को मान सकते हैं।

इस हिसाब से हम निम्नलिखित सूची बनाते हैं। परन्तु बिंबिसार और अजातशत्रु के ऐतिहासिक राज्य वंश अर्थात् शिशुनाग वंश के जो कि ईसा के पहले सातवीं शताब्दी में प्रारम्भ होता है, पहले के राजाओं का समय कहां तक ठीक है, यह हमारे पाठकों को स्वयं निश्चित करना चाहिये।

बृहद्रथ वंश

	ई० पू०		ई० पू०
जरा संध	१२८०	शुचि	१०३९
सहदेव (जो कि कुरु पाञ्चल		क्षेम्य	१०१७
युद्ध के समय था)	१२५९	सुव्रत	९९५
सोमापि	१२३७	धर्म	९७३
श्रुतवत	१२१५	सुश्रम	९५१
अयुतयुस्	११९३	दृढ़सेन	९२९
निरमित्र	११७१	सुमति	९०७
सुक्षत्र	११४९	सुवल	८८५
बृहत् कर्मन्	११२७	सुनीत	८६२
सेनजित	११०५	सत्यजित्	८४१
शत्रुञ्जय	१०८३	विश्वजित्	८१९
विप्र	१०६१	रिपुञ्जय	७९७ से ७७५ तक

प्रद्योतवंश

प्रद्योतन	७७५	जनक	६९१
पालक	७४७	नन्दिवर्धन	६६४ से ६३७ तक
विशाषयूप	७१९		

शिशुनाग वंश

	ई० पू०		ई० पू०
शिशुनाग	६३७	क्षेमधर्म्मन्	५८७
काकवर्ण	६१२	क्षत्रौजस्	५६२

बिंबिसार	५३७	उदयाश्व	४३२
अजातशत्रु	४८५	नन्दिवर्धन	४११
दर्भक	४५३	महानन्दिन	३९० से ३७० तक

अब हम पुनः वाक्यों को उद्धृत करेंगे ।

"महानन्दिन् का पुत्र शूद्र जाति की स्त्री से होगा, उसका नाम नन्द महापद्म होगा क्योंकि वह अत्यन्त लोभी होगा । दूसरे परशुराम की तरह वह क्षत्रिय जाति का नाश करने वाला होगा, क्योंकि उसके पीछे पृथ्वी के राजा लोग (शूद्र) होंगे । वह समस्त पृथ्वी को एक छत्र के नीचे लावेगा, उसके समूल्य इत्यादि आठ लड़के होंगे जो कि महापद्म के पीछे राज्य करेंगे और वह तथा उसके पुत्र एक सौ वर्ष तक राज्य करेंगे । ब्राह्मण कौटिल्य नौ नन्दों का नाश करेगा ।"

उपरोक्त वाक्यों में हम नीच जाति के राजाओं को क्षत्रियों की राजगद्दी पर बैठते हुए और मगध के इन राजाओं का बल और महत्व उत्तरी भारतवर्ष में बढ़ते हुए देखते हैं । हमें कौटिल्य अर्थात् प्रसिद्ध चाणक्य का भी उल्लेख मिलता है कि जिसने नन्द वंश से बदला लेने की प्रतिज्ञा की थी (मुद्राराक्षस नाटक देखो) और चन्द्रगुप्त को मगध की राजगद्दी पर बैठाने में सहायता दी थी । नन्द और उसके आठों पुत्रों के लिये जो १०० वर्ष का समय दिया है वह केवल एक गोल संख्या है और उसे ठीक नहीं समझना चाहिये । यदि हम नन्द और उसके आठों पुत्रों के लिये ५० वर्ष का समय नियत करें तो यह बहुत है और इससे चन्द्रगुप्त के मगध के राज्य पाने का समय ३२० ई० पू० होता है ।

"नन्द वंश के समाप्त होने पर मौर्य वंश का राज्य होगा क्योंकि कौटिल्य चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बैठावेगा, उसका पुत्र विन्दुसार होगा, उसका पुत्र अशोक होगा, उसका पुत्र सुयशल होगा, उसका पुत्र दशरथ होगा, उसका पुत्र संगत होगा, उसका पुत्र सालिसुक होगा, उसका पुत्र सोमश्रक्षन होगा, और उसका उत्तराधिकारी बृहद्रथ होगा । ये मौर्य वंश के दस राजा हैं जो कि १३७ वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज्य करेंगे ।"

विष्णु पुराण का ग्रन्थकर्ता यहाँ पर अशोक का उल्लेख करता है परन्तु उसके राज्य में धर्म के उस बृहद परिवर्तन का कुछ भी वृत्तान्त नहीं लिखता, जो कि इस संसार भर में एक अद्वितीय बात है । इस ब्राह्मण ग्रन्थकार के लिये गुणी चाणक्य के कार्य जिसने चन्द्रगुप्त को राज्य पाने में सहायता दी थी उल्लेख करने योग्य हैं, परन्तु उस प्रतापी अशोक के कार्य वर्णन करने योग्य नहीं हैं जिसने कि भारतवर्ष का नाम, यश और धर्म एण्टीओक और मेसेडन से लेकर कन्या कुमारी और लङ्का

तक फैला दिया था। मौर्य वंश के लिये जो १३७ वर्षों का समय दिया है वह यदि मान लिया जाय तो मौर्य वंश की समाप्ति १८३ ई० पू० में हुई।

"इसके उपरान्त सङ्ग वंश राज्य करेगा क्योंकि (अन्तिम मौर्य राजा का) सेनापति पुष्पमित्र अपने स्वामी को मार कर राज्य ले लेगा। उसका पुत्र अग्निमित्र होगा, उसका पुत्र सुज्येष्ठ होगा, उसका पुत्र आर्द्रक होगा, उसका पुत्र पुलिन्दक होगा, उसका पुत्र घोषवसु होगा, उसका पुत्र वज्रमित्र होगा, उसका पुत्र भागवत् होगा और उसका पुत्र देवभूति होगा। ये सङ्ग वंश के दस राजा हैं जो कि ११२ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

प्रसिद्ध कालिदास ने इस वंश के दूसरे राजा का नाम अपने प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्नि मित्र में अमर कर दिया है। परन्तु वहाँ अग्निमित्र विदिशा का राजा कहा गया है, मगध का नहीं। और उसके पिता पुष्पमित्र का सिन्ध नदी पर यवनों (बेक्ट्रिया के यूनानी लोगों) से युद्ध करने का वर्णन किया गया है। इस बात में सम्भवतः कुछ सत्यता भी है, क्योंकि सिकन्दर के समय के पीछे भारतवर्ष के पश्चिमी सीमा प्रदेश में बेक्ट्रियन और हिन्दू लोगों से निरन्तर युद्ध होता रहा और मगध को, जो कि भारतवर्ष का मुख्य राज्य था, इन युद्धों में सम्मिलित होना पड़ा था। सङ्ग वंश के लिये जो ११२ वर्ष का समय दिया है उसे मान लेने से इस वंश की समाप्ति ७१ ई० पू० में निश्चित होती है।

"सङ्ग वंश के अन्तिम राजा देवभूति के कुकर्मों में लिप्त होने के कारण उसका वसुदेव नामक कान्व मन्त्री उसे मार कर राज्य छीन लेगा। उसका पुत्र भूमिमित्र होगा, उसका पुत्र नारायण होगा, उसका सुशर्मन् होगा। ये चारों कान्वायन ४५ वर्ष तक इस पृथ्वी पर राज्य करेंगे।"

अब हम इन वंशों के राजाओं की तिथि विष्णु पुराण के अनुसार निश्चित करेंगे।

नन्द वंश

नन्द और उसके आठों पुत्र—३७० ई० पू० से ३२० तक।

मौर्य वंश

	ई० पू०		ई० पू०
चन्द्रगुप्त	३२०	सुयशस्	२२२
विन्दुसार	२९१	दशरथ	२१५
अशोक	२६०	सङ्गत	२०७

सालिसुक	२०१	बृहद्रथ	१८७ से १८३ तक
सोमश्रमन	१९४		

सङ्ग वंश

पुष्प मित्र	१८३	प्रलिन्दक	१२६
अग्नि मित्र	१७०	घोषबसु	११५
सुज्येष्ठ	१५९	वज्रमित्र	१०४
वसुमित्र	१४८	भागवत	९३
अर्द्रक	१३७	देवभूति	८२ से ७१ तक

कन्व वंश

वासुदेव कान्व	७१	नारायण	४८
भूमि मित्र	५९	सुशर्मन्	३७ से २६ तक

इनमें से अनेक राजाओं का राज्य काल बहुत ही थोड़ा होने, राज्य वंश बहुधा बदलने और सेनापति एवं मन्त्रियों का राजाओं को मार कर स्वयं राजा हो जाने से विदित होता है कि मगध का प्रताप अब नहीं रहा था और अब निर्बलता और क्षीणता आरम्भ हो गई थी। जिस राज्य ने चन्द्रगुप्त और अशोक के समय में सारे भारतवर्ष के लिये नियम निश्चित किये थे, वह अब निर्बलता की अन्तिम अवस्था में था और वह किसी ऐसे प्रबल आक्रमण करने वाले को स्वीकार करने के लिये तैयार था जो कि उसका राज्य चाहता हो। ऐसे आक्रमण करने वाले दक्षिण से आये। दक्षिण में दार्शनिक काल में आन्ध्र का राज्य प्रवल और विख्यात हो गया था और आन्ध्र के एक सरदार ने (जो कि एक "प्रबल भृत" कहा गया है) अब मगध को विजय किया और वहाँ ४५० वर्ष तक राज्य किया। विष्णु पुराण से अब हम 'एक सूची और उद्धृत करते हैं जिससे कि इन आन्ध्र राजाओं के नाम दिये हैं।

"कान्व सुशर्मन् को आन्ध्र जाति का एक सिप्रक नामी प्रबल भृत्यु मार डालेगा और स्वयं राजा बन बैठेगा, उसका उत्तराधिकारी उसका भाई-कृष्ण होगा, उसका पुत्र श्रीसातकर्णि होगा, उसका पुत्र पूर्णोत्सङ्ग होगा, उसका पुत्र सातकर्णि होगा, उसका पुत्र लम्बोदर होगा, उसका पुत्र इवीलक होगा, उसका पुत्र मेघस्वति होगा, उसका पुत्र पटुमन होगा, उसका पुत्र अरिष्ट कर्मन् होगा, उसका पुत्र हाल होगा, उसका पुत्र उद्दालक होगा, उसका पुत्र प्रविलसेन होगा, उसका पुत्र सुन्दर सातकर्णि होगा, उसका पुत्र चकोर सातकर्णि होगा, उसका पुत्र शिवस्वति होगा,

उसका पुत्र गौतमीपुत्र होगा, उसका पुत्र पुलिमत होगा, उसका पुत्र शिव सातकर्णि होगा, उसका पुत्र शिवस्कन्ध होगा, उसका पुत्र यज्ञश्री होगा, उसका पुत्र विजय होगा, उसका पुत्र चन्द्रश्री होगा और उसका पुत्र पुलोमार्चिस होगा। ये आन्ध्र भृत्य वंश के तीस राजा ४५६ वर्ष तक राज्य करेंगे।"

परन्तु उपरोक्त सूची में केवल १४ राजाओं के नाम हैं पर विष्णु पुराण, वायु पुराण तथा भागवत पुराणों में भी इस वंश के तीस राजा कहे गए हैं। यदि इस वंश का राज्य २६ ई० पू० में आरम्भ हुआ समझा जाय तो उपरोक्त समय के अनुसार उसकी समाप्ति सन् ४३० ई० में हुई।

यदि हम इन ४५६ वर्षों को उपरोक्त २४ राजाओं में बाँट दें तो प्रत्येक राज्य के लिये १९ वर्षों का औसत समय होता है जैसा कि हम नीचे दिखलाते हैं।

आन्ध्र वंश

	ई० पू०		ईस्वी
सिप्रक	२६	पुत्तलक	१८३
कृष्ण	७	प्रबिलसेन	२०२
	ईस्वी	सातकर्णि ३	२२१
सातकर्णि १	१२	सातकर्णि ४	२४०
पूर्णोत्सङ्ग	३१	शिवश्वति	२५९
सातकर्णि २	५०	गौतमीपुत्र	२७८
लम्बोदर	६९	पुलिमत	२९७
हवीलक	८८	सातकर्णि ५	३१६
मघाश्वति	१०७	शिवस्कन्ध	३३५
पटुमत	१२६	यज्ञश्री गौतमीपुत्र २	३५४
अरिष्टकर्मन्	१४५	विजय	३७३
हाल	१६४	चन्द्रश्री	३९२
		पुलोमार्चिस	४११ से ४३० तक

परन्तु विद्वानों ने गौतमीपुत्र प्रथम से लेकर गौतमीपुत्र द्वितीय तक पांच राजाओं की जो तिथियाँ शिलालेखों से निश्चित की हैं वे उपरोक्त तिथियों से नहीं मिलतीं। यह कुछ निश्चय के साथ जाना गया है कि इन पाँचों राजाओं ने लगभग १०० वर्ष तक राज्य किया अर्थात् ११३ ईसवी से २११ ईसवी तक।

यहाँ पर कहने की आवश्यकता नहीं है कि आन्ध्र राजाओं का बल समय-समय पर बदलता रहा और हम आगे के अध्याय में दिखलावेंगे कि सौराष्ट्र का देश ईसा की पहली शताब्दी में इनके हाथ से चला गया था परन्तु उसे गौतमीपुत्र ने पुनः जीता। पाँचवी शताब्दी में इस वंश का पतन हुआ और तब मगध के राज का अन्त हो गया। क्योंकि आन्ध्र राजाओं के पीछे अनेक विदेशी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किया और उसे नष्ट और छिन्नभिन्न कर दिया। विष्णु पुराण में लिखा है कि आन्ध्रों के उपरान्त भिन्न-भिन्न जातियाँ राज्य करेंगी अर्थात् सात आभीर जाति के राजा, १० गर्धमिल राजा, १६ शक राजा, ८ यमन राजा, १४ तुषार राजा, १३ मुण्ड राजा और ११ मौन राजा इस पृथ्वी का राज्य करेंगे।

———

छतीसवां अध्याय

काश्मीर और गुजरात

पिछले अध्याय में हमने भारतवर्ष के केवल मध्य देश के राज्य का वर्णन किया है। हम देख चुके हैं कि ईसा के पहले सातवीं शताब्दी में शिशुनाग के समय से लेकर भारतवर्ष में प्रधान अधिकार मगध के राजा का था। हम यह भी देख चुके हैं कि कई राज्यवंशों के नाश होने के उपरान्त यह प्रधान अधिकार आन्ध्र वंश के हाथ लगा जिन्होंने कि ईसा के पहले पहली शताब्दी से लेकर ईसा के उपरान्त पांचवी शताब्दी तक उसे रक्षित रक्खा।

जब आन्ध्र लोगों का भारतवर्ष के मध्य में सबसे प्रधान अधिकार था उस समय पश्चिम के प्रान्तों में विदेशी लोगों के बहुत आक्रमण हुए और हम उनमें से कुछ का यहां वर्णन करेंगे।

सिकन्दर के लौट जाने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने सिन्ध नदी के प्रान्तों में यूनानी हाकिम सिल्यूकस को हराकर यूनानियों को भारतवर्ष से निकाल दिया। परन्तु वेक्ट्रिया में यूनानियों का एक स्वतन्त्र राज्य था और हिन्दुओं तथा बेक्ट्रिया के यूनानियों में कभी मित्रता और कभी शत्रुता का व्यवहार होता रहा। वेक्ट्रिया के यूनानी लोग सिक्के बनाने में बड़े तेज थे और उनके सिक्कों से १०३ ई० पू० तक उनके सब राजाओं की एक पूरी सूची बनाई गई है। बहुधा इन राजाओं का

अधिकार सिन्ध के आगे तक बढ़ जाता था और यह निश्चय है कि बौद्ध हिन्दुओं की सभ्यता और शिल्प पर उनकी सभ्यता का प्रभाव पड़ा। बौद्धों के खंड़हरों में यूनानी शंतरासी के काम और हिन्दुओं के सिक्कों पर यूनानी लेख खुदे हुए मिलते हैं।

लगभग १२६ ई० पू० में यूची तथा अन्य जातियों ने मध्यएशिया से होकर काबुल को जीता और सिन्ध नदी तक अपना अधिकार जमाया। इन लोगों ने वेक्ट्रिया के राज्य का अन्त कर दिया। इसी जाति का एक राजा हविश्क काबुल में राज्य करता था। ऐसा जान पड़ता है कि वह वहां से निकाला गया और तब उसने काश्मीर को विजय किया जहां कि उसके उत्तराधिकारी हुश्क और कनिष्क ने ईसा के उपरान्त पहली शताब्दी में राज्य किया है।

कनिष्क बड़ा विजय करने वाला था और उसने अपना राज्य काबुल और यारकन्द से लेकर आगरे और गुजरात तक फैलाया। अशोक के समय से लेकर अब तक भारतवर्ष में ऐसा कोई राजा नहीं हुआ था। व्हेनत्सांग लिखता है कि चीन के अधीनस्थ राजा लोग उसके पास मनुष्य बन्धक स्वरूप भेजते थे और जिस नगर में ये मनुष्य रहते थे वह चीनपटि कहलाता था। कनिष्क भी एक कट्टर बौद्ध था, उसने उत्तरी बौद्धों की एक बड़ी सभा की और आस-पास के राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये गुप्तदूत भेजे। हम पहले लिख चुके हैं कि शकाब्द संवत् कनिष्क के राज्य काल से चला है। डाक्टर ओडेनबर्ग कहते हैं कि यह संवत् कनिष्क के राज्याभिषेक के समय से गिना जाता है और यह बात ठीक जान पड़ती है।

कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त इसके बड़े राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए और काश्मीर पहले जैसा हलका राज्य था, वैसा ही फिर हो गया। इस राज्य का इतिहास राजतरंगिणी नामक पुस्तक में दिया है जिसे कि कल्हण पण्डित ने बनाया था जो ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ है। हम यहां पर इस इतिहास की कुछ अलोचना करेंगे।

इसमें कनिष्क के पहले के समय की कोई मुख्य घटना नहीं लिखी है। उसमें लिखा है कि कुरुपाञ्चाल युद्ध के समय से लेकर कनिष्क के उत्तराधिकारी अभिमन्यु के समय तक १२६६ वर्षों में ५२ राजाओं ने राज्य किया। इससे कुरु-पाञ्चाल युद्ध का समय ईसा के पहले १२ वीं शताब्दी में निश्चित होता है। उसमें यह भी लिखा है कि कनिष्क के पहले तीसरा राजा अशोक एक बौद्ध था और वह "एक सत्य और निशकलङ्क राजा था और उसने वितष्टा के तटों पर बहुत से स्तूप बनवाए"। उसका उत्तराधिकारी जलोक एक कट्टर हिन्दू था और उसने उन म्लेक्षों

को भगाया जो कि पश्चिम से बड़ी संख्या में आ रहे थे। ये म्लेक्ष वे ही तूरानी लोग रहे होंगे जिन्होंने कि इसके उपरान्त शीघ्र ही काश्मीर को विजय किया। जलोक का उत्तराधिकारी द्वितीय दामोदर हुआ और उसके उपरान्त विदेशी लोग आये। "उनके दीर्घराज्य में बौद्ध सन्यासी लोग देश में सबसे प्रबल रहे और बौद्ध धर्म का प्रचार बिना किसी बाधा के हुआ।"

हम यहां कनिष्क से लेकर उज्जयिनी के विक्रमादित्य के समकालीन मातृगुप्त के समय तक ३१ राजाओं की नामावली देंगे। यदि हम कनिष्क के राज्याभिषेक का समय ७८ ई० माने और मातृगुप्त का समय ५५० ईसवी तो इन ३१ राजाओं का समय ४७२ वर्ष होता है जिससे प्रत्येक राज्य का औसत समय १५ वर्ष होता है और वह असम्भव नहीं है।

	ईश्वी		ईश्वी
कनिष्क	७८	अक्ष	३४०
अभिमन्यु	१००	गोपादित्य	३५५
गोनन्द	११५	गोकर्ण	३७०
विभीषण प्रथम	१३०	नरेन्द्रादित्य	३८५
इन्द्रजीत	१४५	युधिष्ठर	४००
रावण	१६०	प्रतापादित्य	४१५
विभीषण द्वितीय	१७५	जलोक	४३०
नर १	१९०	तुञ्जिन	४४५
सिद्ध	२०५	विजय	४६०
उत्पलाक्ष	२२०	जयेन्द्र	४७५
हिरण्याक्ष	२३५	सन्धिमति	४९०
मुकुल	२५०	मेघवाहन	५०५
मिहिरकुल	२६५	श्रेष्ठसेन	५२०
वक	२८०	हिरण्य	५३० से ५५० तक
क्षितिनन्द	२९५	और हिरण्य का उत्तराधिकारी	
वसुनन्द	३१०	मातृगुप्त हुआ	
नर २	३२५		

इनमें से कुछ राजाओं का संक्षिप्त वर्णन करने योग्य है। कहा जाता है कि नर प्रथम बौद्धों का बड़ा द्वेषी था, उसने बहुत से बौद्ध मठ जला डाले और उन मठों के लिये जो गांव थे उन्हें ब्राह्मणों को दे डाला। मुकुल के राज्य में म्लेक्षों ने एक बार पुनः काश्मीर पर अपना अधिकार कर लिया पर उसका उत्तराधिकारी

मिहिरकुल बड़ा प्रतापी राजा था। कहा जाता है कि उसने म्लेक्षों को अपने राज्य से खदेड़ कर अपना राज्य करनाटक और लङ्का तक बढ़ाया। वह भी बौद्धों का बड़ा विरोधी था। प्रतापादित्य के राज्य से एक नया वंश आरम्भ होता है। उसके पोते तुञ्जिन के समय में अन्न पर अचानक कड़ा पाला मार जाने के कारण काश्मीर में बड़ा अकाल पड़ा। मेघवाहन बौद्ध धर्मावलम्बी जान पड़ता है। कहा जाता है कि उसने लङ्का तक विजय किया और उसने अपने राज्य में तथा जिन जिन देशों को उसने जीता उन सब देशों में पशुओं के बध का निषेध किया। उसकी रानियों ने बहुत से बौद्ध मठ बनवाये। उसके उपरान्त उसका पुत्र श्रेष्ठसेन और उसके उपरान्त उसका पौत्र हिरण्य गद्दी पर बैठा और तब उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने जो कि उस समय भारतवर्ष में सर्व प्रबल था मातृगुप्त को काश्मीर की गद्दी पर बैठाया।

काश्मीर के इस संक्षिप्त वृत्तान्त के पश्चात अब हम गुजरात की ओर झुकेंगे। हम पहले कह चुके हैं कि कनिष्क ने अपना राज्य दक्षिण में गुजरात तक फैलाया और गुजरात में उसके अधीनस्थ क्षहरत जाति के राजा राज्य करते रहे। परन्तु नहपान के उपरान्त ये राजा स्वतंत्र हो गए और मगध के आन्ध्र लोगों से जिनके अधीन सौराष्ट्रदेश था, अपनी स्वतन्त्रता स्थिर रक्खी। ये लोग 'शाह राजा' अथवा क्षत्रप राजा कहलाते हैं और उनका वृत्तान्त केवल उनके सिक्कों और शिला-लेखों से विदित होता है। बहुत विचार के उपरान्त यह निश्चित हुआ है कि वे लोग शक को व्यवहार करते थे और उनके सब सिक्कों और शिलालेखों पर शक संवत् दिया है। परिश्रमी और योग्य विद्वान भगवन लाल इन्द्रजीत ने इन शाह राजाओं को जिस क्रम में रक्खा है उसके अनुसार नीचे एक सूची दी जाती है। उसमें हम प्रत्येक राजा के लिये केवल एक-एक सिक्के की तिथि देंगे।

सौराष्ट्र के शाह राजा

	सिक्के की तिथि	सन् ईस्वी		सिक्के की तिथि	सन् ईस्वी
नहपान	४१	११९	रुद्र सिंह	१०३	१८१
चष्टन	—	—	रुद्र सेन	१२५	२०३
जेदायन	—	—	संघदमन	१४४	२२२
रुद्र दामन	७२	१५०	पृथ्वीसेन	१४४	२२२
दामजद	—	—	दामसेन	१४८	२२६
जीवदावन	१००	१७८	दमजदश्री	१५४	२३२

वीरदामन	१५८	२३६	सिंहसेन	—	—
यशोदामन	१६०	२३८	विश्वसेन	२१६	२९४
बिजयसेन	१६०	२३८	रुद्रसिंह	२३१	३०९
ईश्वरदत्त	—	—	यशोदावन	२४०	३१८
दमजदश्री	१७६	२५४	सिंहसेन	—	—
रुद्र सेन	१८०	२५८	रुद्रसेन	२७०	३४८
भतृ दामन	२००	२७८	रुद्रसिंह	३१०	३८८
विश्वसिंह	१९८	२७६			

इस राज्य वंश के जो बहुत से शिलालेख पश्चिमी भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में पाये गए हैं, उनमें से हम यहाँ पर केवल एक को लिखेंगे जो कि कदाचित् सबसे पुराना है और जिससे हमारे पाठकों को इन शिलालेखों का ठीक-ठीक ज्ञान हो जायगा। निम्नलिखित शिलालेख जो कि नासिक की गुफाओं में पाया गया है नहपान का है जो कि उपरोक्त सूची में पहला राजा है।

"सर्व सम्पन्न को ! यह गुफा और ये छोटे तालाब गोवर्धन में त्रिरश्मि पर्वतों पर दिनक के पुत्र राजा अरहत सत्रप नहपान के दामाद प्रिय उसबदात ने बनवाये थे। उसने तीन लाख गऊ और सोना दान दिया, बारनासाय नदी पर सीढ़ियाँ बनवाई, ब्राह्मणों और देवताओं को सोलह ग्राम दिए, प्रति-वर्ष एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया, पवित्र स्थान प्रभसु पर ब्राह्मणों के लिये आठ स्त्रियाँ रख दीं, भरुकच्छ दशपुर गोवर्धन और सोरपराग में चतुष्कोण, गृह और टिकने के स्थान बनवाए, बाटिका, तालाब और कुएँ बनवाए, इबा, परादा, दमन, तापी, करबिना और दहूनुका नदियों को पार करने के लिये उनमें डोंगियाँ छोड़वाई, धर्मशाला बनवाई, पौसरा चलाने के लिये स्थान दिए और पिण्डित कावड़, गोवर्धन, सुवर्णमुख, सोरपराग, रामतीर्थ, नाममोलग्राम के चरणों और परि-षदों के बत्तीस नाधिगेरों के लिये एक हजार की जमा दी। ईश्वर की आज्ञा से मैं वर्षा काल में हिरुध उत्तमभद्र को छुड़ाने के लिये मालव को गया। मालव लोग हम लोगों के युद्ध के बाजों का नाद सुनकर भाग गए और वे सब उत्तम भद्र क्षत्रियों के अधीन बनाए गये। वहां से मैं पोक्षरणी को गया और वहां पर पूजा कर के तीन हजार गाय और एक गांव दान दिया।"

नहपान का उपरोक्त शिलालेख जो कि नासिक की गुफाओं में पाया गया है बड़े काम का है। क्योंकि उससे विदित होता है कि काश्मीर के बौद्ध राजाओं का अधीनस्थ एक साधारण राजा भी ब्राह्मणों का सत्कार करने और उन्हें दान देने में कैसा प्रसन्न होता था और सन् ईस्वी के उपरान्त की शताब्दियों में हिन्दू धर्म और

बौद्ध धर्म दोनों ही साथ-साथ किस भाँति प्रचलित थे। इनके साथ-साथ प्रचलित होने में बाधा केवल तब ही पड़ती थी जब कि कभी-कभी कोई बड़ा कट्टर राजा गद्दी पर बैठता था। ब्राह्मणों को स्वर्ण, गौ और गाँव दान देना, स्नान करने के लिये घाट, टिकने के लिये मकान, धर्मशाला, बाटिका, तालाब और कूएँ बनवाना बिना कुछ लिये लोगों को नदी के पार उतरने का प्रबन्ध करना और चरणों व परिषदों को दान देना, ये राजाओं के लिये उचित उदारता के कार्य समझे जाते थे। अन्त में इस शिलालेख से हमको यह विदित होता है कि सौराष्ट्र लोगों ने उत्तम भद्र क्षत्रिय लोगों को सहायता करने के लिये मालव लोगों पर आक्रमण किया।

शाह राजाओं का सबसे अद्भुत शिलालेख गिर्नार के निकट एक पुल पर खुदा है जो कि रुद्रदामन का पुल कहलाता है। इसे पहले पहल जेम्स प्रिन्सेप साहब ने पढ़ा था और उनके उपरान्त इससे अधिक शुद्ध पाठ प्रकाशित हुये हैं। ऊपर दी हुई राजाओं की सूची से पाठक लोग देखेंगे कि रुद्रदामन नहपान के उपरान्त तीसरा राजा था और उसने ईसा की दूसरी शताब्दी के बीच में राज्य किया। इस शिलालेख में अनूठी बात यह है कि इसमें अशोक और उसके दादा चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। इसमें लिखा है कि यह पुराना पुल नदी की बाढ़ से बह गया था, मौर्य वंशी राजा चन्द्रगुप्त के प्रधान शिल्पकार पुष्पगुप्त ने उसकी मरम्मत की और उसके उपरान्त अशोक के यवन राजा तुशष्प एवं महाक्षेत्र रुद्रदामन ने संवत ७२ में (अर्थात् सन् १५० ईस्वी में) इसे बनवाया। इस शिलालेख में रुद्रदामन ने यह भी अभिमान पूर्वक कहा है कि दक्षिण पथ के राजा सातकर्णि को उसने कई बार हराकर उससे सन्धि कर ली और उसने सौराष्ट्र, कच्छ, तथा अन्य देशों को विजय करने का भी उल्लेख किया है। रुद्रदामन के उपरोक्त शिलालेख से विदित होगा कि सौराष्ट्र के शाह राजा बहुधा प्रसिद्ध आन्ध्र राजाओं की बराबरी करने वाले होते थे।

इसके विरुद्ध नासिक की एक गुफा के शिलालेख में आन्ध्र वंश का राजा गौतमीपुत्र लिखता है कि उसने सौराष्ट्र कच्छ तथा अन्य देशों को विजय किया और खहरत के वंश का नाश कर दिया। यह द्वितीय गौतमीपुत्र था जिसने कि ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त में राज्य किया है।

हम इन तीनों जातियों के आक्रमण और विजय का वर्णन कर चुके हैं अर्थात् ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में बेक्ट्रिया के युनानियों का, ईसा के उपरान्त पहली शताब्दी में यूची तथा अन्य तूरानी जातियों का, और अन्त में उनके अधी-

नस्थ उन शाह राजाओं का, जिन्होंने तीन शताब्दियों तक सौराष्ट्र में राज्य किया। इसके उपरान्त और जातियों के भी आक्रमण हुये परन्तु उनका इतिहास में कुछ भी पता नहीं लगता।

अन्त में ईसा की चौथी और पाँचवी शताब्दियों में प्रसिद्ध हुन लोग आये। टिड्डियों के समान उनका बड़ा दल फारस में फैल गया और वहाँ के राजा बहराम गोर को उसने भारतवर्ष में आश्रय लेने के लिए विवश किया। उसने कन्नौज के राजा से सम्बन्ध कर लिया और उसकी कन्या से विवाह किया। सम्भवतः यह राजकुमारी, जिसने फारस के पति को स्वीकार किया, गुप्त वंश की कन्या थी, क्योंकि इस समय कन्नौज में गुप्त वंश के राजा राज्य करते थे और वे भारतवर्ष में सबसे प्रबल थे। हम उनके विषय में अगले अध्याय में लिखेंगे।

सैंतीसवाँ अयाध्य

गुप्त वंशी राजा

५० वर्ष हुए जेम्स प्रिन्सेप साहब ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिये भारतवर्ष में जो शिलालेख मिले हैं, उन सब को क्रमानुसार प्रकाशित करने की आवश्यकता दिखाई और उन्होंने यह भी सम्मति दी कि इस संग्रह का नाम "कार्पूस इन्सक्रुप्शन इण्डिकेरम्" रक्खा जाय।

इस प्रस्ताव के अनुसार जेनरल सर एलेक्जेण्डर कनिंघम साहब ने सन् १८७७ ईस्वी में इस ग्रन्थ का पहला भाग प्रकाशित किया। उसमें अशोक के वे शिलालेख हैं जिनके विषय में हम इस पुस्तक के पहले अध्याय में लिख चुके हैं।

बम्बई के सिविल सर्विस के फ्लीट साहब ने इस पुस्तक का तीसरा भाग सन् १८८६ में प्रकाशित किया। उसमें गुप्त राजाओं के शिलालेख हैं और उनकी तिथियों के विषय में भारतवर्ष तथा यूरप में गत ४० वर्षों से जो वादविवाद हो रहा है उसका भी एक इतिहास दिया है।

इस ग्रन्थ का दूसरा भाग जिसमें कि सौराष्ट्र के शाह राजाओं का शिलालेख होगा, अभी तक नहीं आरम्भ किया गया। मैं आशा करता हूँ कि कोई योग्य विद्वान और अनुभवी पुरातत्ववेत्ता इस कार्य के लिये अब भी नियत किया जायगा

और भारतवर्ष के शिलालेखों के इस संग्रह को पूरा कर देगा, जो कि भारतवर्ष के बौद्ध समय के इतिहास के लिये बड़े उपयोगी हैं।

हम देख चुके हैं कि इन गुप्त राजाओं के समय के विषय में प्रायः ४० वर्षों तक वादविवाद होता रहा और बहुत से योग्य विद्वानों ने इसे वादाविवाद में अपना समय लगाया है। इस वादाविवाद के इतिहास लिखने में फ्लीट साहब ने अपने अमूल्य ग्रन्थ के ३० पन्ने लगाए हैं। पर हर्ष का विषय है कि यह वादा-विवाद अब समाप्त हो गया और अब जो निश्चय किया गया है उसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है। ११ वीं शताब्दी में अलबेरुनी ने लिखा है कि गुप्त संवत् शक संवत् से २४१ वर्ष पीछे का है अर्थात् वह सन् ३०० ईस्वी से प्रारम्भ होता है। आधुनिक समय के सब एकत्रित प्रमाणों से यह बात ठीक जान पड़ती है और अब हम गुप्त लोगों के सिक्कों और शिलालेखों की तिथियों को पढ़ सकते हैं। केवल यह स्मरण रखना चाहिये कि उनसे सन् ईस्वी जानने के लिये हमें उनमें ३१९ वर्ष जोड़ने पड़ेंगे। फ्लीट साहब, जो अपने परिश्रमों की ओर कुछ पक्षपात करने में क्षमा के योग्य हैं, कहते हैं कि मन्दसोर के शिलालेख से, जिसे कि उन्होंने प्राप्त किया है, यह वादविवाद निश्चित हो जाता है। विद्वान लोग प्रायः इस बात में सहमत हैं कि मन्दसोर का शिलालेख इस सिद्धान्त को सम्भवतः निश्चित कर देता है।

हम नीचे गुप्त राजाओं की नामावली, उनके सिक्कों और शिलालेखों की तिथियाँ और उनके ईस्वी सन् देते हैं—

सिक्कों और शिलालेखों की तिथियां

(महाराज) गुप्त घटोत्कच	... ...	लगभग ३०० ई०
(चन्द्रगुप्त १ (अथवा विक्रमादित्य)	... ...	” ३१० ई०
समुद्रगुप्त	... ...	” ३५० ई०
चन्द्रगुप्त २ (अथवा विक्रमादित्य)	८२,८८,९३,९५,	४०१,४०७,४१२,४१४ ई०
कुमारगुप्त (अथवा महेन्द्रादित्य)	९६,९८,१२९,१३०	४१५,४१७,४४८,४४९ ई०
स्कन्दगुप्त	१३६,१३७,१३८,१४१,१४४, १४५,१४६,१४८,१४९	४५५,४५६,४५७,४६० ई० ४६३,४६४,४६५,४६७, ४६८

डाक्टर बुहलर साहब का यह मत है कि गुप्त संवत् चन्द्रगुप्त प्रथम का स्थापित किया हुआ है। उसके उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त ने चौथी शताब्दी के दूसरे

अर्ध भाग्य में राज्य किया। इलाहाबाद में अशोक की लाट पर खुदा हुआ लेख इस बड़े राजा के अधिकार और राज्य को बहुत कुछ विदित करता है।

जिसका प्रताप और बड़ा सौभाग्य इससे विदित होता है कि उसने कोशल के महेन्द्र को, व्याघ्र राज महाकान्तार को, केरल के मन्त राज को, पिष्टपुर के महेन्द्र को, कोटुर के स्वामिदत्त को, एरण्डपल्ल के दमन को, काञ्ची के विष्णुगोप को, अवमुक्त के नील राज को, वेंगी के हस्तिवर्मन को, पलक्क के उग्रसेन को, देव-राष्ट्र के कुबेर को, कुष्टलपुर के धनंजय को और दक्षिण के सब राजाओं को कैद करके फिर छोड़ दिया।

जिसका प्रताप बहुत बड़ा था और उसकी वृद्धि रुद्रदेव, मेतल, नागदत्त चन्द्रवर्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन, बलवर्मन् तथा आर्यावर्त के अन्य बहुत से राजाओं के जड़ से विनाश करने से हुई थी, जिसने जंगली देशों के सब राजाओं को अपना नौकर बना लिया था।

जिस राजा को सीमा प्रदेश के राजा लोग अर्थात् समतत, देवाक, कामरूप, नेपाल, कुतृपुर तथा अन्यदेशों के राजा, और मालव लोग, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, अभीर, फ्राजुन, सनकानिक, काक, करपरिक, तथा अन्य जातियाँ कर देकर और उसकी आज्ञाओं का पालन करके पूरी तरह से मानती थीं।

जिसका सारे संसार में फैला हुआ शान्त सुयश बहुत से गिरे हुए राज्यवशों को पुनः स्थापित करने से हुआ था। जो अपने बाहु की बड़ी प्रबलता से सारे संसार को बाँधे हुए था और जिसे देवपुत्र, शाहि, शाहनुसाहि, शक, मुरून्, सिंघल के लोग तथा अन्य सब द्वीपों के निवासी अपने को बलिदान की भाँति देकर, कुमारी स्त्रियों को उसकी भेंट करके, गरुड़ चिन्ह देकर, अपने राज्य का भोग उसे देकर, और उसकी आज्ञाओं का पालन करके सत्कार के साथ उसकी सेवा करते थे।

यह एक गुप्त राजा का भड़कीला और कदाचित कुछ बढ़ाया हुआ वर्णन् है। उससे हमें विदित होता है कि उसने काञ्ची के राल, तथा दक्षिणी भारतवर्ष के अन्य देशों को जीता। उसने आर्यावर्त अर्थात् उत्तरी भारतवर्ष के राजाओं का नाश किया, समतत, (पूर्वीबंगाल) कामरूप, (आसाम) नेपाल, तथा अन्य सीमा प्रदेशों के राजा और मालव, माद्रक, और अभीर इत्यादि जातियाँ उसके आज्ञाओं का पालन करती थीं और उसे कर देती थी ! पश्चिमी देश शाहशाह और लङ्का के लोग भी उसके लिये भेंट तोहफे तथा अपने देश की सुन्दर कुमारी स्त्रियाँ भेजते थे। इस शिलालेख के अन्त में लिखा है कि यह बड़ा राजा प्रतापी महाराजा गुप्त का प्रपौत्र"—"प्रतापी महाराज घटोत्कच का पौत्र"—"प्रतापी महाराजाधिराज चन्द्र-

गुप्त का पुत्र"—"महादेवी कुमार देवी से उत्पन्न हुआ था" जो कि लिच्छवि वंश की कन्या थीं। समुद्र गुप्त के उपरान्त उसका पुत्र चन्द्र गुप्त द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसके शिलालेखों में सांची में छोटा शिलालेख है जिस में बौद्ध सन्यासियों अर्थात् काकनाद बोट के पवित्र महाबिहार के आर्य संघ को एक गाँव दान देने का उल्लेख है। एक दूसरे स्थान पर अर्थात् मथुरा में एक शिलालेख पाया गया है जिसमें चन्द्र-गुप्त ने अपनी माता का नाम दिया है और अपने को "महादेवी दत्तदेवी से उत्पन्न हुआ" महाराजाधिराज समुद्रगुप्त का पुत्र कहा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उत्तरा-धिकारी उसका पुत्र कुमार गुप्त हुआ जिसका एक शिलालेख संयुक्त प्रदेश में बिलसउ स्थान में पाया गया है जिसमें कि प्रथम गुप्त राजा से लेकर इस वंश की पूरी वंशावली दी है और उसने अपने को "प्रतापी महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त का महा-देवी द्रुव देवी से उत्पन्न" पुत्र कहा है।

जिला इलाहाबाद में मनकुवर स्थान में ठाकुर भगवत लाल इन्द्रजी ने सन् १८७० ईसवी में कुमार गुप्त का एक दूसरा शिलालेख पाया। यह शिलालेख बुद्ध की एक बैठी हुई मूर्ति के नीचे खुदा हैं और उसमें लिखा है कि इसमूर्ति को कुमार गुप्त ने संवत् १२९ (सन् ४४८ ईसवी में) स्थापित किया था।

प्रसिद्ध मन्दसोर का शिलालेख जिसे कि फ्लीट साहब ने पाया था गुप्त राजाओं का खुदवाया हुआ नहीं है परन्तु उसमें कुमार गुप्त का उल्लेख है और इसलिये उसका वर्णन यहाँ किया जा सकता है। यह सींधिया के राज्य के दशपुर ग्राम में महादेव के एक मन्दिर के आगे की ओर एक पत्थर पर खुदा हुआ है। इसमें लिखा है कि इस स्थान पर कुछ रेशम बीनने वाले लोग गुजरात से आकर बसे और उनमें से कुछ लोगों ने एक अच्छा व्यापार स्थापित किया। "जब कुमारगुप्त सारी पृथ्वी पर राज्य करता था" उस समय विश्ववर्मन् नामक एक राजा था और उसका पुत्र बन्धुवर्मन दशपुर में उस समय राज्य करता था जब कि बीनने वालों के समुदाय ने वहाँ एक मन्दिर बनवाया जो कि उस समय समाप्त हुआ "जिस ऋतु में कि बिजली की गरज सोहावनी जान पड़ती है, और जब मालव जाति को स्थापित हुए ४९३ वर्ष हो चुके थे।"

मालवानां गणस्थित्या याते शत चतुष्टते
तृणवत्य-धिकाब्दानां ऋतौ सेव्य घनस्वने

और इस शिलालेख में यह भी लिखा है कि इस मन्दिर की मरम्मत उस वर्ष में हुई जब कि उसी संवत् को व्यतीत हुए ५२९ वर्ष हो चुके थे।

फ्लीट साहब का मत है कि दशपुर के बीनने वालों के शिलालेख में जिस

कुमार गुप्त का उल्लेख है वह गुप्त वंश का वही कुमार गुप्त है और इस शिलालेख में जो संवत् लिखा है वह मालव जाति का संवत् है जो कि अब विक्रमादित्य का संवत् कहा जाता है और ईसा के ५६ वर्ष पहले से आरम्भ होता है। अतएव यह मन्दिर ४९३---५६=४३७ ईसवी में बना था और उसकी मरम्मत ४७३ ईसवी में हुई।

इससे एक आश्चर्यजनक बात विदित होती है, क्योंकि यदि फ्लीट साहब का विचार ठीक है तो विक्रमादित्य के संवत् के कपित होने का सच्चा कारण विदित हो गया। इस संवत् को विक्रमादित्य ने ईसा के ५६ वर्ष पहले स्थापित नहीं किया था जैसा कि पूर्व समय के विद्वानों का अनुमान था। परन्तु यह संवत् वास्तव में मालव के लोगों का जातीय संवत् है और आगे चल कर इसमें विक्रमादित्य का भी नाम मिल गया जिसने कि ईसा की छठीं शताब्दी में मालव लोगों को सबसे श्रेष्ठ जाति बना दी थी।

कुमार गुप्त का पुत्र का स्कन्द गुप्त उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसका एक शिलालेख गाजीपुर के जिले में मिला है और वह भितरी की लाट के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें गुप्त राजाओं की वंशावली आरम्भ से लेकर स्कन्द गुप्त तक दी है। परन्तु इससे अधिक काम का एक शिलालेख बम्बई प्रान्त के जूनागढ़ में मिला है। उसमें विष्णु की आराधना के उपरान्त लिखा है कि स्कन्द गुप्त ने "जिसने कि समुद्रों तक सब पृथ्वी जीत ली थी और जिसके यश को म्लेच्छों के देश में" उसके शत्रु लोग भी मानते थे, पर्णदत्त को सौराष्ट्र लोगों के देश का राजा नियत किया। पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को नियत किया। संवत् १३६ (अर्थात् सन् ४५५ ईसवी) में गिर्नार के नीचे की झील की बाँध अतिवृष्टि के कारण टूट गई और यह बाँध दो महीने में संवत् १३७ में फिर बनवाई गई और यही शिलालेख का कारण है।

स्कन्दगुप्त गुप्त वंश का अन्तिम राजा एक बड़ा राजा जान पड़ता है और इसके उपरान्त इस वंश में छोटे-छोटे राजा हुए। बुद्ध गुप्त का एक शिलालेख मध्य प्रदेश में इरन में मिला है और वह संवत् १६४ अर्थात् ४८४ ई० का है। उसमें लिखा है कि बुद्ध गुप्त का अधीनस्थ राजा सुरश्मि चन्द्र कालिन्दी और नर्मदा के बीच के देश में राज्य करता था। उस शिलालेख में जनार्दन के नाम से विष्णु देवता की पुजा के निमित्त एक स्तम्भ स्थापित करने का वृत्तान्त है।

इरन के एक दूसरे शिलालेख में भानु गुप्त का उल्लेख है और उसमें लिखा

है कि गोपराज नामक एक सरदार उसके साथ युद्ध में जाकर मारा ग या। गोपराज की आज्ञाकारिणी प्रिय और सुन्दर स्त्री ने चिता में उसका साथ दिया।

प्रबल गुप्त वंश के जिसने भारतवर्ष में १०० वर्ष के ऊपर तक सर्वोच्च अधिकार अपने हाथ में रक्खा था उसके नाश होने के विषय में बड़ा मतभेद है। डाक्टर फर्ग्युसन साहब कहते हैं कि इन लोगों के उस टिड्डी दल ने जिसने कि 'एशिया में दूर-दूर तक आक्रमण करके फारस को निर्बल कर दिया था, उसी ने भारतवर्ष में गुप्त वंश का भी नाश किया। फ्लीट साहब इस बात को विश्वास करने के प्रमाण दिखलाते हैं कि पञ्जाब का प्रतापी और कट्टर मिहिरकुल और उसका पिता तोरमान हन जाति का था। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त तोरमान ने (जिसने कि हन लोगों को एक बार भगा दिया था) गुप्त राजाओं से लगभग ४६६ ईस्वी में पूर्वी मालवा देश छीन लिया। मिहिरकुल ने अपनी विजय और लोगों का नाश करना लगभग ५१५ ईस्वी में आरम्भ किया और अन्त में उसे उत्तरी भारतवर्ष के प्रतापी राजा यशों धर्मन ने दमन किया। इस प्रकार मध्य भारतवर्ष में हन लोगों का अधिकार केवल थोड़े समय तक रहा परन्तु 'कोस्मा इण्डिको प्लयूस्टीज' ने छठीं शताब्दी में लिखा है कि उसके समय तक भी हन लोग बड़े प्रबल थे और वे पंजाब में आकर बसे थे और यहाँ का राज्य करते थे।

ये तथा अन्य विदेशी आक्रमण करने वाले, जिनके विषय में हम पहले लिख चुके हैं, भारतवर्ष के लोगों में आकर बसे, उनकी भाषा, धर्म और सभ्यता को ग्रहण किया और इस प्रकार उन्होंने एक नई हिन्दू जाति स्थापित की जिसने कि पौराणिक समय के अन्त में अर्थात् ६ वीं और १० वीं शताब्दियों में राजकीय उलट फेर में एक विशेष भाग लिया।

———————

अड़तीसवाँ अध्याय

फाहियान लिखित भारत का वृत्तान्त

पिछले तीन अध्यायों में हमने अपने पाठकों को भारतवर्ष में बौद्ध काल के मुख्य-मुख्य राजवंशों का कुछ वृत्तान्त दिया है जो कि दुर्भाग्य वश बहुत सूक्ष्म और थोड़ा है। परन्तु केवल राज्य वंशों का वृत्तान्त ही भारतवर्ष का पूरा इतिहास नहीं है और इसलिए यह आवश्यक है कि हम भारतवर्ष में रहने वाली उन असंख्य जातियों के प्रधान नगरों का, उनके शिल्प और सभ्यता का अधिक स्पष्ट परिचय दें। सौभाग्य वश इस कार्य के लिये हमें कुछ सामग्रियाँ मिलती हैं और वे उस चीन के यात्री के ग्रन्थों में हैं जो कि बौद्ध काल के अन्त में भारतवर्ष में आया था।

फाहियान भारतवर्ष में लगभग ४०० ईस्वी में आया है और वह अपना वृत्तान्त उद्यान अर्थात् काबुल के आस-पास के देश से आरम्भ करता है और लिखता है कि वहीं से उत्तरी भारतवर्ष आरम्भ होता है। उस समय उद्यान में मध्य भारतवर्ष की भाषा बोली जाती थी और यहाँ के लोगों का पहिरावा भोजन आदि भी मध्य भारतवर्ष के लोगों की ही भाँति था। उस समय यहाँ बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार था और ५०० संघाराम अर्थात् 'बौद्ध सन्यासियों के मठ थे। उसने स्वतः गान्धार, तक्षशिला, और पेशावर में होकर यात्रा की और पेशावर में उसने एक अद्भुत सुन्दरता का सुदृढ़ और ऊँचा बौद्ध मीनार देखा।

नगरहार और अन्य देशों में यात्रा करता हुआ, सिन्ध नदी को पार कर फाहियान अन्त में यमुना नदी के तट पर मथुरा में पहुँचा। इस नदी के दोनों पार में २० संघाराम बने थे जिनमें कदाचित तीन हजार बौद्ध सन्यासी रहते थे। यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हो रहा था--"बियाबान के आगे पश्चिमी भारतवर्ष के देश हैं। इन देशों (राजपूताने) के राजा लोग सब बौद्ध धर्म में दृढ़ विश्वास रखने वाले हैं... इसके दक्षिण में वह बीच का देश है जो मध्य देश कहलाता है इस देश का जलवायु गरम और एक सा रहता है, न तो वहाँ पाला पड़ता है और न बर्फ। वहाँ के लोग बहुत अच्छी अवस्था में हैं, उन्हें राज्य कर नहीं देना पड़ता और न राज्य की ओर से उन्हें कोई रोक टोक है। केवल जो लोग राजा की भूमि को जोतते हैं उन्हें भूमि

की उपज का कुछ अंश देना पड़ता है। वे जहाँ जाना चाहें जा सकते और जहाँ रहना चाहें रह सकते हैं। राजा शारीरिक दंड नहीं देता। अपराधियों को उनकी दशा के अनुसार हलका अथवा भारी जुर्माना लगाया जाता है। यदि वे कई बार राज द्रोह करें तो भी केवल उनका दहिना हाथ काट लिया जाता है। राजा के शरीर रक्षक जो कि दाहिनी और बांई ओर उसकी रक्षा करते हैं नियत वेतन पाते हैं। सारे देश में केवल चाण्डालों को छोड़कर कोई लहसुन अथवा प्याज नहीं खाता। कोई किसी जीव को नहीं मारता और मदिरा नहीं पीता। इस देश में लोग सूअर अथवा चिड़िया नहीं रखते और पशु का व्यापार नहीं करते। बाजार में मदिरा की दूकाने नहीं होती। बेचने में लोग कौड़ियों को काम में लाते हैं। केवल चाँडाल लोग हत्या करके माँस बेचते हैं। बुद्ध के निर्वाण के समय से आज तक इन देशों के अनेक राजाओं, रईसों और गृहस्थों ने यहाँ विहार बनवाए हैं और उनके व्यय के लिए खेत, मकान बगीचे, मनुष्य और बैल दिए हैं। खुदे हुए अधिकार पत्र तैयार करवाए जाते वे और वे एक राजा के उपरान्त दूसरे राजा के राज्य में स्थिर रहते थे। उन्हें किसी ने छीनने का उद्योग नहीं किया अतएव आज तक उनमें कोई बाधा नहीं पड़ी। इनमें रहने वाले सब सन्यासियों के लिए बिछौने, चटाइयाँ, भोजन, पानी, और कपड़े अपरिमित रूप से दिए जाते हैं और यह बात सब जगह है।"

हमारा यात्री संकाश्य से होता हुआ कन्नौज में आया। हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि इस समय कन्नौज गुप्त राजाओं की बड़ी चढ़ी राजधानी थी परन्तु दुर्भाग्य वश फाहियान ने इस नगर के दो आरामों को छोड़ कर और किसी के विषय में कुछ नहीं लिखा है।

साँची में होकर फाहियान, कोशल और उसकी प्राचीन राजधानी श्रावस्ती में आया। परन्तु इस बड़े नगर का बुद्ध के समय से अब नाश हो गया था और चीनी यात्री ने इस नगर में केवल बहुत थोड़े से निवासी देखे अर्थात् सब मिला कर कोई २०० घर थे। परन्तु जेतवन की, जहाँ बौद्ध ने बहुधा उपदेश दिया था, स्वाभाविक सुन्दरता अभी चली नहीं गई थी और वहाँ का बिहार अब स्वच्छ तालाब सोहावने कुंज और रंग विरंग के असंख्य फूलों से सुशोभित था। इस बिहार के सन्यासियों ने यह सुनकर कि फाहियान और उसका साथी चीन देश से आया है कहा "बड़ा आश्चर्य है कि पृथ्वी की सीमा प्रदेश के लोग धर्म की खोज की अभिलाषा से इतनी दूर तक आते हैं।"

गौतम का जन्म स्थान कपिलवस्तु अब उस सुशोभित दशा में नहीं था। "इस नगर में न तो कोई राजा है न प्रजा, वह एक बड़े भारी बियाबान की भाँति

हो गया है। उसमें केवल कुछ सन्यासी लोग और गृहस्थों के लगभग १० घर हैं।"
कुशिनगर भी, जहाँ कि गौतम की मृत्यु हुई थी, अब नगर नहीं रह गया था। वहाँ
केवल बहुत थोड़े से लोग रहते थे और ये लोग केवल वे ही थे जिनका कि वहां के
रहने वाले सन्यासियों से कोई न कोई सम्बन्ध था।

तब फाहियान वैशाली में आया जो कि एक समय घमण्डी लिच्छवियों की
राजधानी थी और जहाँ गौतम ने अम्बपाली वेश्या का आतिथ्य स्वीकार किया था।
यहां बौद्धों की दूसरी सभा भी हुई थी और फाहियान ने उसका वर्णन लिखा है
"बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पीछे वैशाली के कुछ भिक्षुओं ने दस बातों में विनय
के नियमों को यह कह कर तोड़ डाला कि बुद्ध ने ऐसा करने की आज्ञा दी है। उस
समय अरहतों और सत्यमतावलम्बी भिक्षुकों ने जो, कि सब मिला कर १०० थे,
विनयपितक को फिर से मिलान करके संग्रहीत किया।

गंगा को पार कर हमारा यात्री पाटलीपुत्र अर्थात् पटने में पहुँचा, जिसे कि
पहले पहल अजातशत्रु ने अपने उत्तरी शत्रुओं को रोकने के लिये बनाया था और
जो इसके उपरान्त प्रतापी अशोक की राजधानी था। "इस नगर में वह राजमहल
है जिसके भिन्न-भिन्न भागों को उसने (अशोक ने) देवों से पत्थर का ढेर इकठ्ठा
करवा कर बनवाया था। इसकी दीवार, द्वार और पत्थर की नकाशी मनुष्य की
बनाई हुई नहीं हैं, उसके खंडहर अब तक हैं।" अशोक के गुंबज के निकट एक
बिशाल और सुन्दर संघाराम और मन्दिर था जिसमें कोई छ अथवा सात सौ
सन्यासी रहते थे। प्रसिद्ध ब्राह्मण, गुरु मंजुश्री स्वयं इस बौद्ध संघाराम में रहता
था और बौद्ध श्रामन लोग उसका सत्कार करते थे। यहां पर बौद्धों के विधान उस
समय जिस धूम धड़ाके से किए जाते थे उसका भी वर्णन है। "प्रतिवर्ष दूसरे
मास के आठवें दिन मूर्तियों की एक यात्रा निकलती है। इस अवसर पर लोग एक
चार पहिये का रथ बनवाते हैं और उस पर बाँसों को बांध कर उसे पांच खण्ड का
बनाते हैं और उसके बीच में एक एक खम्भा रखते हैं जो कि तीनफले भाले की तरह
का होता है और ऊँचाई में २२ फीट या इससे भी अधिक होता है। इस प्रकार
यह एक मन्दिर की तरह देख पड़ता है। तब वे उसे उत्तम श्वेत मलमल से ढाँकते
हैं और फिर उस मलमल को भड़कीले रंगों से रंगते हैं। फिर देवों की मूर्तियाँ बना
कर और उन्हें सोने चांदी और कांच से आभूषित कर, कामदार रेशमी चन्दुए के
नीचे बैठाते हैं। तब रथ के चारों कोने पर वे ताखा बनाते हैं और उनमें बुद्ध की बैठी
हुई मूर्तियां जिनकी सेवा में एक वोधिसत्व खड़ा रहता है बनाते हैं। ऐसे ऐसे कदा-
चित् बीस रथ बनाये जाते हैं और वे भिन्न-भिन्न प्रकार से सज्जित किये जाते हैं।

इस यात्रा के दिन बहुत से सन्यासी और गृहस्थ लोग एकत्रित होते हैं। जब वे फूल और धूप चढ़ाते हैं तो बाजा बजता है और खेल होता है। ब्रह्मचारी लोग पूजा करने के लिये आते हैं। तब बौद्ध लोग एक एक करके नगर में प्रवेश करते हैं। नगर में आने पर वे फिर ठहरते हैं तब रात भर वे रोशनी करते हैं, गाना और खेल होता है और पूजा होती है। इस अवसर पर भिन्न-भिन्न देशों से जो लोग एकत्रित होते हैं वे इस प्रकार कार्य करते हैं।" ईसा की पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म ने बिगड़ कर जो मूर्ति पूजा का रूप धारण किया था उसका यह आँखों देखा अमूल्य वृत्तान्त है।

इससे अधिक मनोरंजक पाटलीपुत्र के धर्मार्थ चिकित्सालयों का वृत्तान्त है। "इस देश के अमीरों और गृहस्थों ने नगर में चिकित्सालय बनवाये हैं जहां कि सब देश के गरीब लोग, जिन्हें आवश्यकता हो, जो लंगड़े हों अथवा रोगग्रस्त हों, रह सकते हैं। वहां वे उदारता से सब प्रकार की सहायता पाते हैं। चिकित्सक उनके रोगों की देखभाल करता है और रोग के अनुसार उनके खाने पीने और दवा काढ़े और वास्तव में उनके सुख की सब वस्तुओं के लिये आज्ञा देता है! आरोग्य होने पर वे अपनी इच्छानुसार चले जाते हैं।"

फाहियान तब अजातशत्रु के नए बनवाए हुए नगर राजगृह में तथा बिम्बिसार के प्राचीन नगर में गया। यहां पर इस यात्री ने उस प्रथम बौद्ध संघ का उल्लेख किया है जो कि बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त ही पवित्र पाठों को संग्रहीत करने के लिये हुआ था। "पर्वत के उत्तरी ओर एक पत्थर की गुफा है जो कि चेति कहलाती है। यहीं बुद्ध के निर्वाण के पीछे पवित्र पुस्तकों को संग्रहीत करने के लिये ५०० अरहत एकत्रित हुए थे।"

गया में फाहियान ने सब उजाड़ और बियाबान की तरह पाया। उसने प्रसिद्ध बोधि वृक्ष तथा बुद्ध की तपस्याओं और सर्वज्ञता प्राप्त करने से सम्बन्ध रखने वाले सब स्थानों को देखा और उसने उन दन्तकथाओं को लिखा है जो कि गौतम की मृत्यु के उपरान्त गढ़ी गई थीं। तब वह काशी के देश और बनारस के नगर में आया और वहां उसने उस समुदाय को देखा जहां गौतम ने पहले पहल सत्यधर्म को प्रगट किया था। यहां उस समय दो संघाराम बन गये थे। वहां से वह कौशाम्बी के प्राचीन नगर में गया, जहां गौतम ने बहुत समय तक उपदेश किया था।

बनारस से फाहियान पाटलीपुत्र को लौटा। वह विनयपितक की हस्तलिखित प्रति की खोज में था। पर "सारे उत्तरी भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न अधिकारियों ने आज्ञाओं के जानने के लिये केवल मुख की कथा पर भरोसा किया है और उन्होंने

कोई मूल ग्रन्थ नहीं रक्खा जिससे नकल की जा सके। इसलिये फाहियान इतनी दूर मध्य भारतवर्ष तक आया। परन्तु वहाँ बड़े संघाराम में उसे आज्ञाओं का एक संग्रह मिला।

गङ्गा नदी के मार्ग से आगे बढ़ता हुआ वह यात्री इस नदी के दक्षिण किनारे पर चम्पा नगर में पहुँचा। हम पहले ही देख चुके हैं कि चम्पा अङ्ग अर्थात् पूर्वी बिहार की राजधानी थी और वह भागलपुर के निकट स्थित थी। पूर्व और दक्षिण की ओर आगे बढ़ते हुए फाहियान ताम्रपल्ली में पहुंचा जो कि उस समय गंगा के मुहाने पर एक बन्दरगाह था। उस देश में चौबीस संघाराम थे उन सबमें सन्यासी लोग रहते थे, उनमें साधारणतः बुद्ध की आज्ञा का पालन किया जाता था। फाहियान यहाँ दो वर्ष तक रह कर पवित्र पुस्तकों की नकल करता और मूर्ति के चित्र खींचता रहा। तब वह एक सौदागरी जहाज पर सवार हुआ और जाड़े की ऋतु की पहली उत्तम हवा में जहाज ने दक्षिण-पश्चिम दिशा को प्रस्थान किया। वे लोग चौदह और चौदह रात की यात्रा के उपरान्त "सिहों के देश" (अर्थात् सिंहल अथवा लङ्का) में पहुँचे।

हमारा यात्री कहता है कि लङ्का में पहले कोई निवासी नहीं थे, परन्तु यहाँ बहुत से व्यापारी लोग आकर धीरे-धीरे बस गए और इस प्रकार यह एक बड़ा राज्य हो गया। तब बौद्ध लोगों ने आकर (फाहियान कहता है कि बुद्ध ने आकर) लोगों में अपने धर्म का प्रचार किया। लङ्का की जलवायु अच्छी थी और वहाँ वनस्पति हरी भरी रहती और नगर के उत्तर ओर ४७९ फीट ऊंचा एक बड़ा गुम्बज और एक संघाराम था जिसमें ५००० सन्यासी रहते थे। परन्तु इन सुहावने दृश्यों के बीच हमारे यात्री का हृदय अपने घर के वास्ते घबराने लगा जिससे कि जुदा हुए उसे बहुत वर्ष हो गए थे। एक अवसर पर एक व्यापारी ने बुद्ध की एक २२ फीट ऊँची रत्नजटित मूर्ति और चीन का बना हुआ एक पंखा भेट किया जिससे फाहियान को उसकी जन्मभूमि का स्मरण हो आया। वह बड़ा उदास हुआ और उसकी आँखों में आँसू भर आए।

लङ्का में दो वर्ष तक रह कर और विनयपितक तथा अन्य ग्रन्थों को जो चीन में "अब तक विदित नहीं थे" नकल करके फाहियान एक बड़े सौदागरी जहाज पर सवार हुआ जिसमें लगभग २०० मनुष्य थे। एक बड़ा तूफान आया और बहुत-सा असबाब समुद्र में फेंक देना पड़ा। फाहियान ने अपना घड़ा और कटोरा समुद्र में फेंक दिया और उसे "केवल यह भय था कि व्यापारी लोग कहीं उसके पवित्र ग्रन्थ और चित्र समुद्र में न फेंक दें। यह तूफान तेरह दिन

पर कम हुआ और यात्री लोग एक छोटे टापू पर पहुँचे वहाँ जहाज के कुछ देर ठहरने के उपरान्त पुनः समुद्र में प्रस्थान किया गया। "इस समुद्र में बहुत से समुद्री डाकू हैं जो अचानक छापा मार कर सब वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं। स्वयं समुद्र का कहीं पारावार नहीं और दिशा जानने के लिये सूर्य चन्द्रमा अथवा तारों को देखने के सिवाय और कोई उपाय नहीं है एवं उन्हीं के अनुसार यात्रा करनी पड़ती है। अन्त को तूफान इत्यादि साफ हो गया और उन्होंने यात्रा आरम्भ की। ९० दिन के उपरान्त पो-टी (जावा अथवा सुमात्रा) में पहुँचे। "इस देश में नास्तिक और ब्राह्मण लोग अधिकता से हैं।"

यहाँ लगभग पाँच मास ठहर कर फाहियान एक-दूसरे सौदागरी जहाज पर सवार हुआ जिसमें लगभग २०० मनुष्य थे और जिसमें ५० दिन के लिये भोजन की सामग्री थी। एक मास यात्रा करने पर समुद्र में एक तूफान आया और इस पर मूढ़ ब्राह्मण लोग परस्पर बात करने लगे कि "हम लोगों ने इस श्रामन (फाहियान) को जहाज पर चढ़ा लिया है इसी कारण हम लोगों का शगुन अच्छा नहीं हुआ और हम लोग इस दुर्घटना में पड़ गये हैं। आओ अब जो टापू मिले उस पर इस भिक्षु को उतार दें जिसमें एक मनुष्य के लिये हम सबका नाश न हो।" परन्तु फाहियान के संरक्षक ने वीरता से उसका साथ दिया और किसी निर्जन टापू में उसकी मृत्यु होने से उसे बचा लिया। ८२ दिन की यात्रा के उपरान्त वे लोग चीन के दक्षिणी किनारे पर पहुँच गए।

———

उन्तालीसवां अध्याय

बौद्धों की इमारत और पत्थर के काम

हिन्दू लोगों का ईसा के पहले चौथी और तीसरी शताब्दियों में पहले-पहल अपने समान की सभ्य जाति से संसर्ग हुआ और वे लोग अपने शिल्प एवं विद्या की उन्नति के लिए यूनानियों के कितने अनुगृहीत है, इसके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। स्वभावतः बहुत से ग्रन्थकारों ने इस विषय में शीघ्रता से यह निश्चय किया है कि घर बनाना, पत्थर का काम और लिखना तथा अपने अक्षर भी, हिन्दुओं ने पहले पहल यूनानियों से सीखे।

किसी सभ्य जाति का संसर्ग किसी बड़ी और सभ्य जाति के होने से उनके शिल्प और सभ्यता में बहुत कुछ उन्नति अवश्य प्राप्त होती है। ईसा के पहले चौथी और तीसरी शताब्दियों में यूनानी लोग निस्सन्देह संसार की सब जातियों में बड़े सभ्य थे—और उनमें विशेषता यह थी कि सिकन्दर ने जिन जिन देशों को जीता था उन पर सब में उन्होंने अपनी अद्भुत सभ्यता का प्रचार किया। यहां तक की एण्टिओक से लेकर बैक्ट्रिया तक समस्त पश्चिमी एशिया में यूनानियों की सभ्यता शिल्प और चाल व्यवहार प्रचलित हो गई। हिन्दू लोग बहुत से शिल्पों की उन्नति में ही नहीं वरन् कई कठिन शास्त्रों यथा ज्योतिष शास्त्र इत्यादि के लिये भी यूनानियों के बहुत अनुगृहीत हैं। यह बात भारतवर्ष के सब इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं और ऐसी मित्रता की सेवाओं को जिसे कि एक शिक्षित जाति ने दूसरी जाति के लिये किया है, स्वीकार करना हमारा आनन्ददायक कर्तव्य होगा। जहां कहीं कि हमको ऐसी सेवाओं को स्वीकार करने के प्रमाण मिलें अथवा उसका अनुमान ही हो, परन्तु जहां कहीं प्रमाणों का अभाव हो अथवा जहां इस अनुमान के विरुद्ध प्रमाण मिलते हों उन अवस्थाओं में हमें अपने पाठकों को शीघ्रता से कोई अनुमान कर लेने से सचेत करना आवश्यक है।

घर बनाने की विद्या के लिये हिन्दूलोग यूनानियों के अनुगृहीत नहीं हैं। बौद्ध हिन्दुओं ने आरम्भ ही से घर बनाने की विद्या की स्वयं उन्नति की थी। वे अपने घर निराले ही आकार के बनाते थे और यह आकार शुद्ध भारतवर्ष का है।

उन्होंने किसी विदेशी इमारत से इसे नहीं उद्धृत किया है। गान्धार और पंजाब में ऐसे खम्भे पाये गये हैं जो कि स्पष्ट आयोनिक ढङ्ग के हैं और साधारणतः इमारत भी यूनानी ढङ्ग की है। परन्तु स्वयं भारतवर्ष में बम्बई से लेकर कटक तक ईसा के तत्काल पीछे और पहले की इमारतें शुद्ध भारतवर्ष के ढङ्ग की हैं। यदि हिन्दुओं ने घर बनाने की विद्या पहले पहल यूनानियों से सीखी होती तो ऐसा न होता।

पत्थर की मूर्तियों के काम के लिये भी हिन्दू लोग पञ्जाब को छोड़ कर यूनानियों के अनुगृहीत नहीं है। डाक्टर फरग्यूसन साहब मरहुत के जंगले (२०० ई० पू०) का वर्णन करते हुए लिखते हैं "इस बात पर जितना जोर दिया जाय थोड़ा है कि इसमें जो शिल्पकारी देखी जाती है वह शुद्ध देशी है। उसमें ईजिप्ट के होने का कुछ भी चिन्ह नहीं है वरन् वह सब प्रकार से उसके विरुद्ध है, और न उसमें यूनानी शिल्प का कोई चिन्ह है, और न यही कहा जा सकता है कि इसमें की कोई बात बेविलोनिया अथवा एसीरिया से उद्धृत की गई है। खम्भों के सिरे कुछ-कुछ पर्सी पोलिस की बनावट से मिलते हैं और उनमें फूल पत्ती का काम भी वहीं के जैसा है, परन्तु इसके विरुद्ध शिल्पकारी और विशेषतः जंगलों में मूर्ति की खोदाई का काम स्वयं भारतवासियों का और केवल भारत वासियों का ही जान पड़ता है।"

अब हम हिन्दुओं की इमारत और पत्थर की मूर्ति के काम के कुछ उन अद्भुत नमूनों का संक्षेप में वर्णन करेंगे जो कि ईसी के तत्काल पहले और पीछे शताब्दियों के बने हुए अब तक वर्तमान हैं और इस विषय में डाक्टर फरग्यूसन साहब हमारे पथदर्शक होंगे। ऐसे नमूने प्रायः सभी बौद्धों के बनाये हुये हैं। बौद्धों के पहले पत्थर का काम अधिकतर इंजीनियरी के कामों यथा नगर की दीवारों, फाटकों पुलों और नदी की बाँधों में होता था और यदि कभी-कभी महल और मन्दिर इत्यादि भी पत्थर के बनाये जाते रहे हों तो इस समय उसका कोई नमूना प्राप्त नहीं है। इसके सिवाय हिन्दुओं और जैनों की पत्थर की इमारतें जो कि भारत-वर्ष में सर्वत्र अधिकता से पाई जाती है, ईसा की पाँचवीं शताब्दी के उपरान्त की बनी हुई हैं और इसलिये हम पौराणिक काल में उनके विषय में लिखेंगे। इस अध्याय में हम केवल बौद्ध काल के शिल्प का वर्णन करेंगे और ऐसी इमारतें सब बौद्धों की बनाई हुई हैं।

डाक्टर फरग्यूसन साहब इनके पाँच विभाग करते हैं अर्थात्—

(१) लाट अथवा पत्थर के खम्भे जिनमें प्रायः शिलालेख खुदे रहते हैं।

(२) स्तूप जो किसी पवित्र घटना अथवा स्थान को प्रगट करने के लिये

बनवाए जाते थे अथवा जिनमें बुद्ध के मृत शरीर का कुछ कल्पित शेष भाग समझा जाता था।

(३) जँगले जिनमें बहुधा बहुत अच्छी नक्काशी के काम होते थे और जो बहुधा स्तूपों को घेरने के लिये बनाए जाते थे।

(४) चैत्य अर्थात् मन्दिर।

(५) विहार अर्थात् मठ।

सब से प्राचीन लाट वे हैं जिन्हें भारतवर्ष के अनेक भागों में अशोक ने बनवाया था और जिनमें उसकी प्रजा के लिये बौद्ध धर्म के नियम और सिद्धान्त खुदे हुए हैं। सबसे प्रसिद्ध लाट दिल्ली और इलाहाबाद की है जिन पर खुदे हुए लेखों को पहले पहल जेम्स प्रिन्सेप साहब ने पढ़ा था। इनमें से दोनों पर अशोक के लेख खुदे हुए हैं और इलाहाबाद की लाट पर अशोक के उपरान्त गुप्त बंश के समुद्रगुप्त का लेख भी खुदा हुआ है जैसा कि हम पहले कह चुके हैं और इसमें इस राजा के प्रताप का वर्णन और उसके पूर्वजों के नाम दिये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि यह लाट गिरा दी गई थी और इसे शाहंशाह जहाँगीर ने सन् १६०५ ईस्वी में पुनः बनवाया और उस पर अपना राज्य आरम्भ होने के स्मारक की भाँति फारसी अक्षरों में एक लेख खुदवाया। बहुत-सी अन्य लाटों की तरह इस लाट का भी सिरा नहीं है, परन्तु तिरहुत की लाट के सिरे पर एक शेर की मूर्ति और मथुरा और कन्नौज के बीच के संकाश्य की लाट के सिरे पर एक खण्डित हाथी है परन्तु वह इतना खण्डित है कि ह्वेनत्सङ्ग ने उसे शेर समझा था। बम्बई और पूना के बीच कर्ली की गुफा के सामने जो लाट है उसके सिरे पर चार शेर हैं। ३२ न० की दोनों लाटों का सम्बन्ध गुप्त राजाओं के संवत् से कहा जाता है।

कुतुब मीनार के निकट जो लोहे का अद्भुत खम्भा है उसे दिल्ली जाने वाले प्रत्येक यात्री ने देखा होगा। वह पृथ्वी के ऊपर २२ फीट है और २० इञ्च पृथ्वी के भीतर है, और उसका व्यास नीचे १६ इञ्च और सिरे पर १२ इञ्च है। उस पर भी अन्य लाटों की तरह लेख खुदा हुआ परन्तु दुर्भाग्य वश इस लेख में कोई तिथि नहीं दी है। जेम्स प्रिन्सेप साहब कहते हैं कि यह चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी का है और डाक्टर भाऊदाजी इसे पांचवी अथवा छठीं शताब्दी का बतलाते हैं। इसका समय पांचवीं शताब्दी मान कर डाक्टर फरग्यूसन साहब के अनुसार "यह हमारी आंख खोल कर बिना सन्देह के बतलाता है कि हिन्दू लोग उस समय में लोहे के इतने बड़े खम्भे को बनाते थे, जो कि यूरप में बहुत इधर के समय में भी नहीं बने हैं और जैसे कि अब भी बहुत कम बनते हैं। इसके कुछ ही शताब्दी के बाद इस

लाट के बराबर के खम्भों को कनरिक के मन्दिर में धरन की भांति लगे हुए मिलने से हम को विश्वास करना चाहिये कि वे लोग इस धातु का काम बनाने में बड़े दक्ष थे ।

यह बात भी कम आश्चर्यजनक नहीं है कि १४०० वर्ष तक हवा और पानी में रह कर उसमें अब तक भी मुर्चा नहीं लगा है और उसका सिरा तथा खुदा हुआ लेख अब तक भी वैसा ही स्पष्ट और वैसा ही गहरा है जैसा कि १४०० वर्ष पहले बनाया गया था ।"

स्तूपों में भिलसा के स्तूप प्रसिद्ध हैं । पूरब से पश्चिम तक १० मील और उत्तर से दक्षिण तक ६ मील के भीतर भूपाल राज्य में भिलसा गाँव के निकट इन स्तूपों के पाँच अथवा छः समूह हैं जिन में लगभग २५ अथवा ३० स्तूप समूह होंगे । जेनरल कनिंघाम साहब ने पहले पहल इनका एक वृत्तान्त सन् १८५४ ईसवी में प्रकाशित किया था और तब से उनका कई बार वर्णन किया गया है । इन स्तूपों में सब से प्रधान सांची का बड़ा स्तूप है जिसकी बैठक १४ फीट ऊँची गुम्बज ४२ फीट ऊँचा है और आधार के ठीक ऊपर उसका व्यास १०६ फीट है । जंगले ११ फीट ऊँचे हैं और फाटक जिसमें कि बहुत ही अच्छा पत्थर का काम है, जिसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे, ३३ फीट ऊँचा है ।

इस बड़े ढूहे के बीच का भाग बिल्कुल ठोस है और वह मिट्टी में जमाई हुई ईंटों से बना है परन्तु उसका बाहरी भाग चिकने किए पत्थरों का बना हुआ है । इसके ऊपर मसाले की एक तह थी जिस पर निस्सन्देह चित्रकारी की हुई थी ।

सांची के आस पास दूसरे बहुत से स्तूपों के समूह हैं अर्थात् एक तो ६ मील दूर सोनारी पर, दूसरा उसके तीन मील के आगे सनधर पर और सांची से ७ मील दूर भोजपुर में अनेक समूह हैं । एक दूसरा समूह भोजपुर से पाँच मील दूर अवधर में है । सब मिला कर एक छोटे से जिले में ६० स्तूपों से कम नहीं है ।

हमारे बहुत से पाठक जो बनारस गए होंगे उन्होंने सारनाथ का स्तूप अवश्य देखा होगा जो उसी प्राचीन मृगदाय में बना हुआ है जहाँ कि गौतम ने पहले पहल अपने नवीन धर्म का उपदेश किया था । उसका आधार पत्थर का ९३ फीट के व्यास का है जो कि ४३ फीट ऊँचा ठोस बना हुआ है । उसके ऊपर ईंट का काम है जो कि आस पास की भूमि से १२८ फीट ऊँचा है । उसके नीचे का भाग अठपहल बना हुआ है जिसके प्रत्येक ओर एक आला खुदा है । जेनरल कनिंघाम साहब का विश्वास है कि इसके बनने का समय ईसा की छठीं अथवा ७ वीं शताब्दी है ।

बङ्गाल में एक दूसरा स्तूप है जो कि जरासन्ध की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। उसका ब्यास २८ फीट और ऊँचाई २१ फीट है और वह ४ फीट के आधार पर बनाया गया है। उसका उल्लेख ह्वेनत्साङ्ग ने किया है और उसके बनने का समय सम्भवतः ५०० ईसवी है।

अमरावती का स्तूप अथवा दगोब जिसे कि ह्वेनत्साङ्ग ने देखा था, अब नहीं है। गान्धार देश में कई प्रकार के स्तूप हैं। परन्तु कनिष्क का वह बड़ा दगोब जो कि ४७० फीट से अधिक ऊँचा था और जिसे फाहियान और ह्वेनत्साङ्ग ने देखा था अब नहीं है। गान्धार के स्तूपों में सबसे आवश्यक पञ्जाब में सिन्ध और झेलम के बीच मनिक्यल के स्तूप हैं। इस स्थान पर १५ अथवा २० स्तूप पाए गये थे और उनमें से कुछ स्तूपों को रणजीतसिंह के फरासीसी सेनापति वेन्टूर और कोर्ट साहबों ने सन् १८३० ई० में पहले पहल खोला था। इनमें से प्रधान स्तूप का गुम्बज ठीक गोलार्ध है जिसका ब्यास १२७ फीट है और इस कारण उसका घेरा लगभग ४०० फीट हुआ।

बौद्ध काल की सब उत्तम इमारतों के काम स्तूपों के चारों ओर के जंगले और फाटक हैं। सबसे पुराने जंगले बुद्ध गया और भरहुत के हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब बुद्ध गया के जंगलों का समय २५० ई० पू० और भरहुत के जंगलों का समय २०० ई० पू० कहते हैं। बुद्ध गया के जंगले १३१ फीट लम्बे और ९८ फीट चौड़े समकोण चतुर्भुज आकार के हैं और उसके खम्भे ५ फीट ११ इंच ऊँचे हैं।

भरहुत--इलाहाबाद और जबलपुर के बीच में है। यहाँ का स्तूप अब बिल्कुल नहीं रहा है, वह गांव के बनाने के काम में लाया गया परन्तु उसके जंगलों का लगभग आधा भाग अब तक है। यह पहले ८८ फीट के ब्यास का अर्थात् लगभग २७५ फीट लम्बा था। उसके चार द्वार थे जिन पर साढ़े चार फीट ऊँची मूर्तियां थीं। जेनरल कनिंगहाम साहब के मरम्मत के काम से जान पड़ता है कि पूरब के खम्भे २२ फीट ६ इंच ऊँचे थे। धरनों पर मनुष्यों की कोई मूर्ति नहीं थी। नीचे धरन पर हाथियों की एक पंक्ति थी, बीच की धरन पर शेरों की, और सबसे पर धरन पर सम्भवतः घड़ियालों की। जंगला ९ फीट ऊँचा था और उसके भीतर की ओर लगातार पत्थर की मूर्तियाँ खुदी थीं जो एक दूसरे से एक सुन्दर वेल के द्वारा जुदी की गई थी। इनमें से लगभग १०० मूर्तियां पाई गई हैं और उन सब में कथाओं के दृश्य हैं और प्रायः सबमें केवल एक यही स्मारक है जिसमें कि इस प्रकार लेख खुदे हुए हैं और इसीलिये भरहुत के जंगले ऐसे बहुमूल्य समझे जाते हैं।

इन जंगलों से भारतवर्ष के पत्थर के काम की जो अवस्था प्रगट होती हैं उसके विषय में हम डाक्टर फरग्यूसन साहब की सम्मति उद्धत करने के लिये क्षमा नहीं मागेंगे—

"जब हम लोग हिन्दुओं के पत्थर के काम को पहले पहल बुद्ध गया और भरहुत के जंगलों में २०० से लेकर २५० ई० पू० तक देखते हैं तो हम उसे पूर्णतया भारतवर्ष का पाते हैं जिसमें कि विदेशियों के प्रभाव का कोई चिन्ह नहीं है। परन्तु उनसे वे भाव प्रगट होते हैं और उनकी कथा इस स्पष्ट रूप से विदित होती है जिसकी समानता कम से कम भारतवर्ष में कभी नहीं हुई। उसमें कुछ जन्तु यथा हाथी, हिरन, और बन्दर ऐसे बनाये हुए हैं जैसे कि संसार के किसी देश में बने हुए नहीं मिलते, और ऐसे ही कुछ वृक्ष भी बनाए गये हैं और उनमें नकासी का काम इतनी उत्तमता और शुद्धता के साथ बना हुआ है कि वह बहुत प्रशंसनीय हैं। मनुष्यों की मूर्तियां भी यद्यपि वे हम लोगों की आजकल की सुन्दरता से बहुत भिन्न हैं परन्तु बड़ी स्वाभाविक हैं और जहां पर कई मूर्तियों का समूह है वहां पर उनका भाव अद्भुत सरलता के साथ प्रगट किया गया है। रेल्फ की तरह एक सच्चे और कार्योपयोगी शिल्प की भांति कदाचित इससे बढ़ कर और कोई काम नहीं पाया गया।"

भूपाल के राज्य में सांची के बड़े स्तूप के चारों ओर का जंगला गोलाकार है। उसका व्यास १४० फीट है और उसके अठपहल खम्भे ८ फीट ऊँचे एक दूसरे से दो दो फीट की दूरी पर हैं। वे सिरे पर तथा बीच से भी दो फीट ३ इंच मोटी धरनों से जुटे हुए हैं। परन्तु यह तो साधारण सजावट हुई और दूसरे स्थानों में जंगलों के फूल पत्ती का काम बढ़ता गया है यहां तक कि फूल पत्ती और बेलबूटे और मूर्तियां इतनी आम और इतनी अधिक हो गई है कि उनसे खम्भे और धरन बिलकुल ढंक गए हैं और उनका मूल ढांचा बिलकुल बदल गया है।

सांची का बड़ा स्तूप जिसके विषय में हम पहले लिख चुके हैं सम्भवतः अशोक के समय में बना था। उसके प्रत्येक जंगले पर जो लेख खुदा हैं उससे विदित होता है कि वह भिन्न-भिन्न मनुष्यों का दिया हुआ है। इसके उपरान्त चारों फाटक सम्भवतः इसके पीछे बनवाये गए थे। डाक्टर फरग्यूसन साहब उनका इस भांति वर्णन करते हैं—

"ये चारों फाटक अथवा तोरन भीतर और बाहर दोनों ओर अर्थात् जहां धरनों में जोड़े जाने के कारण उनका जितना भाग ढँक गया है उतने भाग को छोड़ कर और सर्वत्र सबसे उत्तम पत्थर के काम से ढंके हुए थे। बहुधा इनमें बुद्ध के जीवन

के दृश्य खुदे हुए हैं। इन दृश्यों के सिवाय उनमें उन जातकों के दृश्य हैं जिनमें कहा गया है कि शाक्य मुनि ने ५०० जन्मों में अवतार लिया और उसके उपरान्त वे इतने पवित्र हुए कि पूर्ण बुद्ध हो गये। इनमें से एक अर्थात् वेसन्तर अथवा "दान देने का" जातक उत्तरी फाटक के सबसे नीचे की पूरी धरन पर है और उनमें उस अद्भुत कथा की सब बातें ठीक उसी प्रकार से दिखलाई गई है जैसी कि वे लंका की पुस्तकों में आज तक मिलती हैं...अन्य मूर्तियों में युद्ध, घेरा डालने, तथा अन्त में विजय पाने के दृश्य दिखलाये गये हैं। परन्तु जहां तक विदित होता है ये युद्ध स्मारक स्थित रखने के लिये अथवा किसी धर्म सम्बन्धी कार्य के लिये किए गए थे। अन्य मूर्तियों में मनुष्य और स्त्रियां खाते पीते तथा प्यार करते हुए दिखलाये गए हैं। पाठकों की संगतराशी में भारतवर्ष में ईसा की पहली शताब्दी के बौद्धों के धर्म ग्रन्थ के पूर्ण चित्र हैं।"

सांची के जङ्गलों का समय बुद्ध गया और भरहुत के जङ्गलों के तीन शताब्दी पीछे का कहा जाता है और अमरावती के जङ्गले सांची के जङ्गलों से भी तीन शताब्दी पीछे के हैं। अमरावती के जङ्गले का समय ईसा की चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी कहा जाता है।

अमरावती कृष्णानदी के मुहाने के निकट उसके दक्षिणी किनारे पर है और वह बहुत समय तक दक्षिणी भारतवर्ष के आन्ध्र राजाओं की राजधानी थी। अमरावती का जँगला फूल पत्ती और मूर्तियों से भरा हुआ है। बड़े जंगले का व्यास १९५ फीट और भीतर वाले जंगले का व्यास १६५ फीट है और इन दोनों के बीच यात्रा का मार्ग था। बड़ा जंगला बाहर से १४ फीट और भीतर से १२ और छोटा जंगला ठोस और ६ फीट ऊँचा था। बड़े जंगले की दीवार में जानवरों और लड़कियों की मूर्तियां खुदी थीं और खम्भे अन्य खम्भों की तरह अठपहल थे और उन पर फूल खुदे थे। बड़े जंगले में बाहर की अपेक्षा भीतर की ओर बहुत उत्तम काम था और जंगले के ऊपरी भाग में लगातार ६०० फीट की लम्बाई में मूर्तियाँ खुदी हुई थीं। बड़े जंगले की अपेक्षा भीतरी जंगले में और भी उत्तम काम था और उसमें बुद्ध के जीवन चरित्र के अथवा कहानियों के दृश्य भी उत्तमता के साथ खुदे हुए थे।"

डाक्टर फरग्यूसन साहब ने अपनी पुस्तक में दो चित्र दिए हैं एक बड़े जङ्गले का और दूसरा भीतरी जंगले का। ये दोनों बड़े मनोरञ्जक हैं। पहले में एक राजा अपने सिंहासन पर बैठा हुआ किसी राजदूत से मिल रहा है और सामने उसकी सेना दीवालों की रक्षा कर रही है। उसके नीचे पैदल सिपाही घुड़सवार और हाथी युद्ध की सजावट के साथ निकल रहे हैं और उनमें से एक शत्रुमेल के लिए बात चीत कर

रहा है। दूसरे अर्थात भीतरी जंगले के चित्र में पूजा की तीन वस्तुएँ हैं अर्थात् एक तो स्तूप तथा उसके जंगले, दूसरे चक्र अर्थात् धर्म का पहिया और तीसरे एक जन-समुदाय जो पवित्र वृक्ष की पूजा कर रहा है।

अब हम चैत्यों अर्थात् सभा भवन अथवा मन्दिरों के विषय में लिखेंगे। इन बौद्ध मन्दिरों में विशेषता यह है कि वे उठाए नहीं जाते। ऊँची-ऊँची चट्टानों में काट कर बनाए जाते हैं। इस समय बीस अथवा तीस ऐसे मन्दिर हम लोगों को विदित हैं जो एक के सिवाय बाकी सब चट्टानों के भीतर उनको काट कर बनाए गए हैं। यूरोप के गिर्जों और हिन्दुओं के मन्दिरों के बाहरी रूप बहुत ही उत्तम और मनोहर होते हैं परन्तु चट्टानों में खोद कर बनाए हुए बौद्ध मन्दिरों के बाहर की ओर केवल मुंह को छोड़ कर जिस पर कि बहुधा काम किया हुआ रहता है और कोई बात देखने योग्य नहीं होती।

दस में से नौ चैत्य जो कि अब तक पाये जाते हैं बम्बई प्रान्त में हैं और इसका कारण यह है कि भारतवर्ष के इसी प्रान्त में बहुत सी गुफाएँ हैं और उनकी चट्टानें काटी जाने के लिये बहुत उत्तम हैं।

बिहार में एक गुफा है और यह विश्वास किया जाता है कि यही राजगृह की वह सतपर्नि गुफा है जिसमें गौतम की मृत्यु के उपरान्त ही उसके नियमों को निश्चित करने के लिए बौद्धों की पहली सभा हुई थी। यह एक स्वाभाविक गुफा है जिसमें कि कारीगरों के द्वारा कुछ थोड़ी सी उन्नति की गई है और ह्वेनत्साङ्ग ने मगध में रहने के समय उसे देखा था।

गया के १६ मील उत्तर अनेक गुफाओं का एक मनोरंजक समूह है और इनमें से सबसे मनोरंजक गुफा लोमश ऋषि की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी छत नोकीली वृत्ताकार है और उसके मुंह पर सादे पत्थर का काम है। भीतर ३३ फीट लम्बा और १९ फीट चौड़ा एक दालान है जिसके आगे एक वृत्ताकार कोठरी है। ये सब गुफाएँ ईसा के पहले तीसरी शताब्दी की खुदी हुई कही जाती हैं।

पश्चिमी घाट में पाँच या छः चैत्य की गुफाएँ हैं और वे सब ईसा के पहले की खुदी हुई कही जा सकती हैं और उनमें से भुज की गुफा सब से प्राचीन कही जाती है। बौद्ध जङ्गलों की तरह उनके चैत्यों में भी पत्थर के काम को हम धीरे-धीरे काठ के कामों से निकलते हुए पाते हैं। भुज की गुफा के खम्भे भीतर की ओर बहुत ही झुके हुये हैं। ठीक उसी भाँति जैसे कि काठके खम्भे किसी इमारत में चांड़ देने के लिये खड़े रहते हैं। गुफाओं की धरनें लकड़ी की हैं जिनमें से बहुत सी आज तक वर्तमान हैं। इस गुफा का समय ईसा के पहले तीसरी शताब्दी कहा जाता है।

गुफाओं का एक दूसरा समूह बेदसोर में है जिसमें कि बहुत अधिक उन्नति दिखलाई पड़ती है। उनके खम्भे अधिक सीधे हैं, यद्यपि वे भी भीतर की ओर कुछ झुके हुए हैं। उसके द्वार पर बौद्ध जँगलों का-सा काम है। उसका ढाँचा स्वयं जँगलों ही से लिया गया है परन्तु यहाँ वह केवल शोभा की भाँति बनाया गया है। इन गुफाओं का समय दूसरी शताब्दी का प्रथमार्ध भाग कहा जाता है।

इसके बाद नासिक में एक गुफा है। उसके खम्भे इतने सीधे हैं कि उनका झुकाव बहुत कठिनता से जान पड़ता है और उसके द्वार पर यद्यपि उन्हीं जँगलों का-सा काम है परन्तु उनमें बहुत ही उत्तमता देख पड़ती है। इस गुफा का समय दूसरी शताब्दी का द्वितियार्ध कहा जाता है।

अब जब हम अन्त में कार्ली की गुफा को देखते हैं जो कि पूना और बम्बई के बीच की सड़क पर है तो हम इस प्रकार की इमारतों को अपनी पूर्ण अवस्था में पहुँचा हुआ पाते हैं। इसके खम्भे बिलकुल सीधे हैं, इसके पर्दे पर पत्थर का काम खुदा है और इसके भीतर और बाहर की बनावट का ढङ्ग निर्मल और शुद्ध है। यह गुफा ईसा के उपरान्त पहली शताब्दी की खुदी हुई कही जाती है ओर भारतवर्ष में अब तक जितने चैत्य मिले हैं उनमें यह सबसे बड़ी और सबसे पूर्ण है। इसके बाद की शताब्दियों में इसकी समता की इस ढङ्ग की इमारत नहीं बनी।

निम्नलिखित वृत्तान्त हमारे पाठकों को मनोरञ्जक होगा—

"यह इमारत ईसाइयों के प्राचीन गिरजों से बहुत कुछ मिलती है। उसमें गिर्जों की तरह एक मध्य भाग है और इसके दोनों ओर दालाने हैं। यह अर्ध गुम्बजाकार होकर समाप्त होती है जिसके चारों ओर दालानें हैं। इसके भीतर की लम्बाई द्वार से लेकर पीछे की दीवार तक १२६ फीट और चौड़ाई ४५ फीट ७ इञ्च है। परन्तु इसके बगल की दालानें इसाई गिर्जों से बहुत सकरी है। इनमें से बीच की दालान २५ फीट ७ इञ्च चौड़ी हैं और अन्य सब, खम्भों की मोटाई लेकर केवल १० फीट चौड़ी हैं। प्रत्येक ओर १५ खम्भे दालानों को मध्यभाग से जुदा करते हैं, प्रत्येक खम्भे के नीचे की कुर्सी ऊंची हैं, खम्भा अठपहल है और उसके ऊपर के दासे में बहुत अच्छी नकाशी है, दासे के ऊपर दो हाथी घुटनों के बल बैठे हुए हैं और उनके ऊपर दो मूर्तियाँ हैं जो कि प्रायः एक मनुष्य और एक स्त्री की है और कहीं-कहीं पर दोनो स्त्रियाँ ही हैं। यह सब ऐसे उत्तम खुदे हुए हैं कि वैसे साधारणतः देखने में नहीं आते। पीछे के ७ खम्भे केवल सादे अठपहल हैं जिसके नीचे न तो कुर्सी है और न ऊपर दासा। इसके ऊपर छत है जो कि अर्धवृत्ताकार है परन्तु दोनों ओर वह कुछ लम्बी है जिससे

कि अर्ध वृत्त की ऊँचाई उसके व्यासार्ध से अधिक हो गई है...।

"अर्ध गुम्बज के ठीक नीचे और लगभग उसी स्थान पर जहाँ कि ईसाई गिर्जों में वेदी रहती है, डगोवा स्थित है।"

"भीतर के भाग का हम पूरी तरह से विचार कर सकते हैं और वह निस्सन्देह ऐसा गम्भीर और उत्तम है जैसा कि कहीं भी होना सम्भव है। उसके प्रकाश का ढंग बहुत ही पूर्ण है--एक पूरा प्रकाश ऊपर के एक छेद से आकर ठीक वेदी अर्थात् इस इमारत की मुख्य वस्तु पर पड़ता है और शेष भाग अंधकार मे रहता है यह अन्धकार तीनों मागा को और तीनों दलानों को जुदा करने वाले मोटे-मोटे घने ८ खम्भों से और भी अधिक हो जाता है।"—फर्ग्यूसन

अजन्ता में चार चैत्य हैं जिनका समय सम्भवतः ईसा की पहली शताब्दी से लेकर छठीं शताब्दी तक है। पीछे के समय के चैत्यों में बुद्ध की मूर्तियां हैं और इनमें से सबसे अन्तिम समय के बने हुए चैत्य से बौद्ध धर्म का जो रूप प्रगट होता है वह छठीं शताब्दी तथा पीछे के हिन्दू धर्म से बहुत कुछ मिलता है।

एलोरा की विश्वकर्मा गुफा का चैत्य बौद्ध काल के अन्तिम भाग का बना हुआ है। उसके कमरे की लम्बाई ८५ फीट और चौड़ाई ४३ फीट है और छत में सब वेल और नक्काशियाँ पत्थर में खुदी हुई हैं यद्यपि उनमें भी लकड़ी की नक्काशियों की नकल की गई है। यहाँ पर हमें नाल के आकार का द्वार नहीं मिलता जो कि इसके पहले के सब चैत्यों में एक प्रधान बात है। इसके आगे का भाग किसी साधारण से दो खंड के गृह की तरह जान पड़ता है और उसके बरामदे में बहुत उत्तम पत्थर की नकाशी है।

बंबई के बन्दरगाह में सालसेट टापू की कन्हेरी की गुफा प्रसिद्ध है। वह पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में खुदवाई गई थी। वह कार्ली की गुफा की नकल है परन्तु वह उससे कहीं घट कर नीचे की श्रेणी की है।

अन्त में अब हम बिहारों अर्थात् मठों का वर्णन करेंगे। बौद्ध विहारों में सब से प्रथम (पटना के दक्षिण) नालन्दा का प्रसिद्ध विहार है जिसे व्हेनत्साङ्ग ने सातवीं शताब्दी में देखा था। कई उत्तरोत्तर राजाओं ने काम बनवाया था और एक राजा ने सब विहारों को घेर कर एक ऊँची दीवार उठवाई थी जो कि १६०० फीट लम्बी और ४०० फीट चौड़ी थी और जिसके चिन्ह अब तक मिलते हैं। इस घेरे के बाहर स्तूप और गुम्बज बनवाए गए थे जिनमें से दस बारह की जेनरेल कनिंगहाम साहब ने पहचान की है।

परन्तु इस बड़े विहार की इमारत का ठीक तरह पर जीणद्धार नहीं किया

गया और न उनकी बनावट का ढङ्ग स्पष्ट किया गया है। यह सन्देह करने के कई कारण हैं कि इस इमारत की भूमि के ऊपर की बनावट काठ की थी और यदि यह ठीक है तो उसका कोई चिन्ह अब नहीं रहा है।

हमारे बहुत से पाठक जो कटक और भुवनेश्वर गए होंगे उन्होंने इन स्थानों में उदयगिरि और खंडगिरि की पहाड़ी की दोनों गुफाएं जो कटक से लगभग बीस मील दूर हैं, अवश्य देखी होंगी। हाथी गुम्फ के एक शिलालेख में लिखा है कि इस लेख को कलिङ्ग के राजा ऐर ने खुदवाया था जिसने आस-पास के राजाओं को दमन किया!

गणेश गुम्फ और राज रानी गुम्फ दोनों ही सन् इसवी के पहले की खुदी हुई हैं और उन दोनों में एक अद्भुत कथा खुदी हुई है। एक मनुष्य एक वृक्ष के नीचे सोया है और एक स्त्री, जो कि प्रत्यक्ष उसकी पत्नी है, अपने प्रेमी का स्वागत करती है। इस पर युद्ध होता है और जीतने वाला स्त्री को अपनी गोद में ले भागता है।

इन सब से अधिक प्राचीन छोटी-छोटी और सादी गुफाएं हैं जिनमें उदयगिरि की व्याघ्र गुफा सबसे प्रसिद्ध है।

अब पश्चिमी भारतवर्ष में नासिक में तीन मुख्य-मुख्य विहार हैं जो नहपान, गौतमी पुत्र और यदुयश्री के नाम से विख्यात हैं। इनमें से पहली दोनों गुफाएं एक ही ढङ्ग की हैं, उनके दालान ४० फीट लम्बे और उतने ही चौड़े हैं और उनके तीन ओर सन्यासियों के रहने के लिए १६ छोटी-छोटी कोठरियां तथा चौथी ओर १६ खंभों वाला एक बरामदा है। नहपान विहार में एक शिलालेख खुदा हुआ है जिससे विदित होता है कि इसको शाहवंश के सबसे प्रथम राजा नहपाल के दामाद ने बनवाया था और इसलिए इस विहार के बनने का समय लगभग १०० ईस्वी है। गौतमी पुत्र विहार इसके दो अथवा तीन शताब्दी उपरान्त का समझा जाता है। यदुयश्री विहार का दालान ६० फीट लम्बा और ४० से ४५ फीट तक चौड़ा है और उसमें सन्यासियों के लिए २१ कोठरियाँ हैं। उसमें एक देवस्थान भी है जिसमें खुदाई के बहुत उत्तम काम किए हुए दो खम्भे तथा बुद्ध की एक बहुत बड़ी मूर्ति है। जिसकी सेवा में बहुत से लोगों की मूर्ति बनी है। एक शिलालेख से इस विहार का समय पांचवीं शताब्दी विदित होता है।

कदाचित भारतवर्ष में सब से अधिक मनोरंजक विहार अजन्ता के १६ वें और १७ वें विहार हैं। वे बौद्ध विहारों के बड़े सुन्दर नमूने हैं और वे बड़े ही काम के है क्योंकि इनमें अब तक भी चित्र ऐसी स्पष्टता के साथ वर्तमान हैं कि जैसे और

किसी विहार में नहीं पाये जाते। उनका समय निश्चित हो गया है। वे पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में बनवाए गए थे, जब कि भारतवर्ष में गुप्तवंशी सम्राटों का राज्य था।

नं० १६ का विहार ६५ फीट लम्बा और उतना ही चौड़ा है और उसमें २० खम्भे हैं। उसके दोनों ओर सन्यासियों के रहने के लिए १६ कोठरियां, बीच में एक बड़ा दालान, आगे की ओर एक बरामदा और पीछे की ओर देवस्थान है। इसकी दीवारें चित्रों से भरी हुई हैं जिनमें बुद्ध के जीवन अथवा मुनियों की कथाओं के दृश्य हैं और छत तथा खम्भे में बेल बूटों आदि के काम हैं और इन सब बातों से उसकी एक अद्‌भुत शोभा हो जाती है। इन चित्रों के जो नमूने प्रकाशित हुये हैं उनको देखने से चित्रकारी किसी प्रकार हलकी नहीं जान पड़ती है। मूर्तियां स्वाभाविक और सुन्दर हैं, मनुष्यों के मुख मनोहर और भाव प्रकट करने वाले हैं और वे उन विचारों को प्रगट करते हैं जिनके लिए कि वे बनाए गए हैं। स्त्रियों की मूर्तियां लचीली, हलकी और उत्तम हैं और उनमें वह मधुरता और शोभा है जिससे कि वे विशेषतः भारतवर्ष की जान पड़ती हैं। सजावटें शुद्ध और ठीक तथा अद्‌भुत शोभा देने वाली हैं। यह आशा की जाती है कि इस अद्‌भुत चित्रकारी का एक पूर्ण संग्रह अब भी प्रकाशित किया जायगा जिससे कि प्राचीन भारतवर्ष की चित्रकारी की विद्या का वृत्तान्त प्रगट हो और यह ग्रन्थ भारतवर्ष के शिल्प का इतिहास जानने वालों के लिये उतना ही अमूल्य होगा जितना कि यूरोप के प्राचीन शिल्प का इतिहास जानने वालों के लिए पोम्पिआई के वे चित्र हैं जो कि नेपिल्स के अजायब घर में रक्षित हैं। डाक्टर फर्ग्यूसन साहब को यह भय है कि अजन्ता की चित्रकारी की नकल लेने के लिये उनके रङ्ग को चटकीला करने के उपाय किए गए हैं उनसे तथा वृटिश यात्रियों की नाशकारी प्रकृति के कारण ये अमूल्य भंडार नष्ट हो गए हैं।

१७ वें नम्बर की अजन्ता विहार भी सोलहवें नम्बर के विहार के सदृश है और वह राशि चक्र की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। क्योंकि उसमें एक बौद्ध चक्र है। जो कि भूल से राशिचक्र समझा गया था।

मण्डु से ३० मील पश्चिम बोध नामी स्थान में ८ अथवा ९ विहार हैं। यहां के बड़े विहार में ९६ फीट लम्बा चौड़ा एक दालान है और उससे सटी हुई एक शाला है जो कि ९४ फीट लम्बी और ४४ फीट चौड़ी है और दालान तथा शाला के आगे २२० फीट लम्बा बरामदा है। दालान में २८ खम्भे, शाला में १६ खम्भे और बरामदे में एक पंक्ति में २० खम्भे सुशोभित हैं। किसी समय में बरामदे की पीछे की दीवार चित्रकारी से सुशोभित थी जो कि सुन्दरता में अजन्ता की चित्रकारी के

बराबर थी। इसमें मुख्य विषय घोड़ों और हाथियों पर की यात्रा है। स्त्रियां मनुष्यों से अधिक हैं और उनमें नाच और प्रेम भाव विशेष करके दिखलाया गया है।

एलोरा में विश्वकर्मा चैत्य के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। इस चैत्य से लगे हुये बहुत से विहार हैं। सब से बड़ा विहार ११० फीट लम्बा और ७० फीट चौड़ा है और यह तथा अन्य छोटे विहार सम्भवतः उसी शताब्दी के हैं।

यहां पर तीन मन्दिर है जिससे यह बात अद्भुत रीति से प्रगट होती है कि बौद्ध गुफाएँ धीरे-धीरे हिन्दुओं के चाल जैसी हो गईं। पहला मन्दिर दोतल नामी दो खंड का एक बौद्ध विहार है जिसकी बनावट सब प्रकार से बौद्ध ढङ्ग की है। दूसरा मन्दिर तीन तल है जो कि दो तल के सदृश हैं। उसके पत्थर के काम भी बौद्ध ढङ्ग के हैं परन्तु वे सरलता से इतनी दूर हैं कि ब्राह्मणों का उसे अधिकार में कर लेना न्याय्य है। तीसरा मन्दिर दश अवतार का है जो कि बनावट में पहले दोनों मन्दिरों के सदृश है परन्तु उसके पत्थर के काम बिलकुल हिन्दुओं के ढङ्ग के हैं। इसके उपरान्त जब हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म को पूरी तरह से दबा लिया तो दक्षिणी भारतवर्ष के हिंदुओं ने इस स्थान पर ईसा की आठवीं अथवा नवीं शताब्दी में कैलाश का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया जिसने कि एलोरा को भारतवर्ष का एक अद्भुत स्थान बना दिया है। परन्तु इस मन्दिर तथा हिन्दुओं की अन्य इमारतों के विषय में हम आगे चल कर पौराणिक काल में वर्णन करेंगे। यहां पर केवल इतना ही लिखना आवश्यक होगा कि बौद्धों और हिन्दुओं की इमारतों में मुख्य भेद यह है कि बौद्धों के चैत्य और विहार पर्वतों में गुफा खोदकर बनाए गये हैं, परन्तु हिन्दू लोग जब वे चट्टानों या पहाड़ियों पर भी इमारत बनाते थे तो वे जिस स्थान पर पर इमारत बनवाना चाहते थे उसके चारो ओर की चट्टानों को काट डालते थे और बीच की बची हुई जगह के भीतर से काट कर उसे मकान की तरह बनाते थे जिसमें यह मकान उठाई हुई इमारत की तरह अपने चारो ओर की चट्टानों से ऊपर उठा हुआ रहता था। एलोरा का कैलाश ऐसा ही है।

हम गांधार के विहारों का वृत्तान्त देकर इस अध्याय को बढ़ाना नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वहां पर यूनानियों के प्रभाव से इमारत बनाने के ढङ्ग में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ और पंजाब में बहुत से खम्भों के सिरे और मूर्तियां मिली हैं जो कि स्पष्ट यूनानियों के ढङ्ग की है। यहाँ अब हम लङ्का की कुछ इमारतों का वृत्तान्त देना उचित समझते हैं। इस टापू में और विशेषतः अनुराधपुर के निकट, जो कि १० शताब्दी तक लङ्का की राजधानी रही है, प्राचीन स्तूपों और इमारतों के असंख्य खंडहर पाये जाते हैं। लङ्का में दो सब से बड़े स्तूप हैं। एक अभय गिरि पर

जिसका घेरा ११०० फीट और ऊँचाई २४४ फीट है और दूसरा चेतवन में थो कि उससे कुछ फीट ऊँचा है। इनमें से पहला ईसा के ८८ वर्ष पहले बना था और दूसरा सन् २७५ ईस्वी में।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से हमारे पाठकों को विदित होगा कि इमारत बनवाने तथा पत्थर के काम में भारतवर्ष ने ईसा के पहले और उसके तत्काल उपरान्त पूर्ण उत्तमता प्राप्त की थी। इस विषय में पहले उद्योगों के लिए उड़ीसा और बिहार की बेडौल गुफाओं को देखना चाहिये, जिनके आगे के भाग में कहीं-कहीं पर जानवरों की बेडौल मूरतों का सङ्गतराशी का काम है उदाहरण के लिए उड़ीसा की व्याघ्र गुफा है और हमें इस श्रेणी की गुफाओं का समय बौद्ध धर्म के पहले पहल प्रचार होने का समय अर्थात् ईसा के पहले चौथी शताब्दी समझना चाहिये। ईसा के पहले तीसरी शताब्दी में इस विद्या की बड़ी उन्नति की गई और कदाचित् ईसा के पहले तीसरी शताब्दी से लेकर उसके उपरान्त पहली शताब्दी के भीतर इमारत और सङ्गतराशी के सब से उत्तम काम बने हैं। भरहुत और साँची के सर्वोत्तम नक्काशी के पत्थर के जँगलों का समय २०० ई० पू० और १०० ईस्वी है और चैत्यों में जो सबसे उत्तम कार्ली का चैत्य है वह भी ईसा के उपरान्त पहली शताब्दी का है। इसके उपरान्त की तीन अथवा चार शताब्दियों में भी यह विद्या ऐसी ही चढ़ी बढ़ी रही, परन्तु उसमें कोई उन्नति का होना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बेल बूटों के बनाने की ओर प्रवृति का होना सच्ची उन्नति कही .जाती है अथवा नहीं इसमें सन्देह है। अजन्ता के विहार और अमरावती के जँगलों में जो कि इसी के चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी में बनाये गए थे, कारीगरी की वही उच्च अवस्था पाई जाती है जिसे कि भारतवर्ष ने ३ एवं ४ शताब्दी पहले प्राप्त .किया गया था। चित्रकारी भी जिसके आरम्भ के नमूने हमें नहीं मिलते पाँचवी शताब्दी में पूर्ण उत्तमता को प्राप्त हो गई थी।

अतः हिन्दुओं ने बौद्धों के इमारत बनाने और संगतराशी के काम को ग्रहण किया। छठीं और सातवीं शताब्दी के प्राचीन हिन्दू मन्दिर जो उड़ीसा में अथवा अन्यत्र हैं, उनमें पत्थर का काम वैसा ही उत्तम और प्रशंसनीय है जैसा कि बौद्धों के जँगलों का, परन्तु इसके उपरान्त के समय में इस विद्या की अवनति हुई।

हिन्दुओं के उत्तर काल के मन्दिरों में शिल्प के वे उच्च गुण नहीं हैं और उनमें बहुधा ऐसे उपायों का आश्रय लिया गया है, यथा मुख्य-मुख्य मूर्त्तियों को अन्य मूर्त्तियों के दूने आकार का बनाना और देवताओं में मनुष्यों से अधिक सिर और हाथ को दिखला कर भेद प्रगट करना।

चालीसवां अध्याय

जाति

हिन्दुओं के इमारत बनाने की विद्या और पत्थर के काम के उपरान्त अब हम बौद्ध समय में उनके सामाजिक आचरण तथा अवस्था का वर्णन करेंगे।

हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में कई शताब्दियों तक बौद्ध और हिन्दू धर्म दोनों ही साथ साथ प्रचलित रहे। कट्टर हिन्दू लोग विशेष कर उच्च जाति के लोग वेद के धर्म और वेद के यज्ञों का अवलम्बन करते रहे। दूसरी ओर बौद्ध सन्यासियों और मठों की संख्या बढ़ती जाती थी और साधारण लोगों में से झुण्ड के झुण्ड मनुष्य बौद्ध धर्म को ग्रहण करते और मूर्तियों की पूजा करते थे। इन दोनों धर्मों में प्रत्यक्ष में परस्पर कोई द्वेष नहीं था और उस अवस्था को छोड़ कर जब कि कोई अज्ञानी और अत्याचारी राजा अपने राज्य काल में दुःख देता था और किसी अवस्था में हिन्दुओं और बौद्धों में द्वेष का कोई भाव नहीं था! वे भारतवर्ष में बहुत शताब्दी तक मित्रता के साथ रहते थे और अपने अपने धर्म के अनुसार चलते थे।

बौद्धों की धर्म पुस्तकों से हमने इस पुस्तक के दूसरे भाग में जो अनेक वाक्य उद्धृत किए हैं उनसे बौद्धों के जीवन और चाल व्यवहार का बहुत कुछ वृत्तान्त विदित होता है। इस काल में हिन्दुओं के जीवन और चाल व्यवहार को जानने के लिये हमें मनुस्मृति का आश्रय लेना चाहिये जो कि कई बातों में इस काल का एक बड़ा अद्‌भुत ग्रन्थ है।

हम पहले लिख चुके हैं कि भारतवर्ष में मनु की स्मृति पहले सूत्र के रूप में प्रचलित थी और दार्शनिक काल में दूसरे सूत्रकार लोग इसे बड़े सत्कार की दृष्टि से देखते थे। परन्तु वह प्राचीन स्मृति हम लोगों को अब प्राप्त नहीं है और अब जो मनुस्मृति वर्तमान है वह बौद्ध काल में पूर्णतया दोहरा करके पद्य में बनाई गई थी। अतएव उससे बौद्ध काल के हिन्दुओं की रीति और चाल व्यवहार विदित होती है और इस प्रकार वह इसके पहले के दार्शनिक काल के सूत्र ग्रन्थों और इसके उपरान्त के पौराणिक काल के धर्म शास्त्रों की मध्यवर्ती कड़ी है।

पहले के समय के सूत्र किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु मनु अपना सम्बन्ध किसी विशेष शाखा अथवा सम्प्रदाय से नहीं रखता वरन् उसने आर्य हिन्दू मात्र के लिये नियम बनाये हैं। इस बात में दार्शनिक काल के सूत्र ग्रन्थों से मनु का भेद है।

इसके सिवाय पौराणिक काल के धर्म शास्त्रों से मनु का और भी अधिक भेद है। इन धर्म सूत्रों में पौराणिक अथवा आधुनिक हिन्दू धर्म को माना गया है और उनमें हिन्दुओं के तीन देवताओं तथा मूर्ति पूजा में विश्वास प्रगट किया है। परन्तु मनु इन आधुनिक बातों को नहीं मानते। वे वैदिक धर्म और वैदिक यज्ञों को मानते हैं। यह उत्तर काल के हिन्दुओं की त्रिमूर्ति को नहीं मानते और मूर्ति पूजा को पाप समझते हैं। इस प्रकार मनु की व्यवस्था आनोखी एवं अद्वितीय है और उससे हिन्दुओं की वह परिवर्तत अवस्था प्रगट होती है जिसमें कि वे लोग बौद्ध काल में आधुनिक अथवा पौराणिक धर्म को पूरी तरह से ग्रहण करने के पहले थे। इसी बात में मनु की स्मृति अमूल्य है और इस स्मृति के आधुनिक रूप में बनने का समय डाक्टर बुहलर तथा अन्य विद्वान लोग ईसा के पहले अथवा उपरान्त पहली अथवा दूसरी शताब्दी में स्थिर करते हैं।

हम पहले लिख चुके हैं कि प्राचीन सूत्रकार भिन्न भिन्न जातियों की उत्पति का कारण चारो मूल जाति में भिन्न भिन्न जाति के स्त्री और पुरुष के संयोग से बतलाते हैं और दुर्भाग्यवंश मनु ने भी इसी लड़कपन की कथा को माना है। हम नीचे मनु की मिश्रित जातियों की सूची अथवा यो कहिये कि मनुष्यों की जाति की उत्पत्ति के विषय में मनु का सिद्धान्त देते हैं। प्रथम श्रेणी की तीन जातियों से नीचे की तीन जाति की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता था वह अपने पिता की जाति का होता था, नई जाति का नहीं।

पिता	माता	जाति
ब्राह्मण	वैश्य	अम्बष्ठ
”	शूद्र	निषाद
क्षत्रिय	”	उग्र
”	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	”	वैदेह
”	क्षत्रिय	मागध
शूद्र	वैश्य	आयोगव
”	क्षत्रिय	क्षत्री

पिता	माता	जात
शूद्र	ब्राह्मण	चाण्डाल
ब्राह्मण	उग्र	अबृत्त
”	अम्बष्ठ	अभीर
”	अयोगव	धिग्वन
निषाद	शूद्र	पुक्कस
शूद्र	निषाद	कुक्कुटक
क्षत्री	उग्र	स्वपाक
वैदेहक	अम्बष्ठ	वेण
प्रथम तीनों जातियाँ	अपनी ही जाति की स्त्रियों से जो अपने पवित्र कर्मों को न करती हों।	व्रात्य
ब्राह्मण व्रात्यों से....................		भ्रिज्जकन्तक, अवन्त्य, वातधान, पुष्पध, सखै
क्षत्री व्रात्यों से......................		झल्ल, मल्ल, लिच्छिवि, नट, करन, खस, द्रविड़
वैश्य व्रात्यों से..................		सुधन्वन, अचार्य, कारुश, विजन्मन, मैत्र, सात्वत
दस्यु	आयोगव	सैरिन्ध्र
वैदेह	”	मैत्रेयक
निषाद	”	मार्गव वा दास वा कैवर्त्त
”	वैदेह	कारावर

पिता	माता	जाति
वैदेहिक	कारावर	आन्ध्र
,,	निषाद	मेद
चाण्डाल	वैदेह	पाण्डुसोपाक
निषाद	,,	अहिन्दिक
चाण्डाल	पुक्कस	सोपाक
,,	निषाद	अन्त्यावसायिन

अनार्य जातियों की इस सूची को काफी समझ कर इस बड़े स्मृतिकार ने इस नियम में पृथ्वी की सब जातियों को सम्मिलित करने का उद्योग किया है! पौन्द्रक (उत्तरी बङ्गाल के लोग), उद्र (उड़िया लोग), द्रविड़ (दक्षिणी भारतवर्ष के लोग), कम्बोज (काबुल के लोग), यवन (बेक्ट्रिया के यूनानी लोग), शक (तुरानीजाति के आक्रमण करनेवाले), पारद, पहलव (फारस के लोग), चीन (चीन के लोग), किरात (पहाड़ी लोग) और दरद तथा खस लोग पहले के क्षत्रिय कहे गए हैं, परन्तु वे पवित्र कर्मों को न करने और ब्राह्मणों की सम्मति धीरे-धीरे इस संसार में न लेने के कारण तथा धार्मिक कर्मों को न करने के कारण शूद्रों की अवस्था को प्राप्त हुए हैं। (१०, ४३, और ४४)।

मिश्रित जातियों की उपरोक्त सूची को ध्यान पूर्वक देखने से हमलोगों को विदित होगा कि उनमें वे सब अनादि आर्यवासी तथा विदेशी सम्मिलित हैं जो कि मनु के समय में हिन्दुओं को विदित थे, परन्तु व्यवसाय करने से जो जातियाँ बनी हैं वे उनमें सम्मिलित नहीं हैं और वे जातियाँ आज कल की बनी है। उनमें हमको कायस्थों, वैद्यों, सोनारों, लोहारों, बणिकों, कुम्हारों, जुलाहों तथा अन्य कारीगरों की जातियों के नाम नहीं मिलते जो कि आजकल पाये जाते हैं। इन जातियों की उत्पत्ति कैसे हुई और उनकी उत्पत्ति कब हुई और आजकल जो सैकड़ों नई जातियाँ पाई जाती हैं उनकी उत्पत्ति का कारण क्या हम मनु की लिखी हुई भिन्न-भिन्न मिश्रित जातियों के मनुष्यों और स्त्रियों के सम्मेल से समझें।

फिर, जब हम आज कल की हिन्दू जातियों को देखते हैं तो हमें बहुत से प्रान्तों में उस प्राचीन वैश्य जाति का नाम भी नहीं मिलता जिस जाति में कि मनु के समय के अधिकाँश लोग सम्मिलित थे। वे वैश्य क्या हुए? भारतवर्ष के बहुत से प्रान्तों से उनका कब और कैसे लोप हो गया? और क्या हम उपरोक्त कथा के अनुकूल यह विश्वास करें कि वैश्य लोग दूसरी जाति की स्त्रियों से ही विवाह करने और अपनी जाति की स्त्रियों से ही विवाह न करने के इतने आदी थे

कि वे निरन्तर अन्य जातियों से विवाह करते रहे, यहाँ तक कि उनकी जाति ही न रह गई ?

भारतवर्ष के इतिहास जानने वालों को ऐसी बच्चों की सी कहानियों को मान लेने की आवश्यकता न पड़ेगी। बुद्धि उन्हें बतलाएगी कि मनु के समय वैश्य लोग अपने अपने व्यवसाय के अनुसार नई-नई जातियों में बंटते गए। मनु भी सोनार, लोहार, और वैद्यों का उल्लेख करता है। परन्तु वह उनकी गिनती जुदी जातियों में नहीं करता। मनु के समय में वे जातियां नहीं थीं वरन् व्यवसाय थे और वे सब व्यवसाय करने वाले उस समय तक एक ही अविभाजित वैश्य जाति में सम्मिलित थे। मनु के समय तक लेखक, वैद्य और शिल्पकारों को प्राचीन आर्यों के अधिकार प्राप्त थे अर्थात् उन्हें धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने, धार्मिक विधानों को करने और यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार था। परन्तु हमलोग जाति भेद के फलों के लिये चाहे जितना खेद करें, पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सन् ईसवी के तत्काल पहले और तत्काल पीछे की शताब्दियों में भी जाति भेद अपनी सबसे बुरी अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ था। पवित्र विद्या तब तक भी ब्राह्मणों की बपौती नहीं हो गई थी, और वे ईमानदार लोग जो कि लेखक, वैद्य, सोनार, लोहार, कोरी कुम्हार इत्यादि का व्यवसाय करके अपना जीवन निर्वाह करते थे, उस समय तक भी एक ही जाति में थे अर्थात् वे सब वैश्य थे और उस समय तक भी आर्योंकी विद्या और धन प्राप्त करने के अधिकारी थे।

अब हम इन बातों का उदाहरण देने के लिये बङ्गाल की आज कल की कुछ बातों का वर्णन करेंगे। खास बंगाल अर्थात् उस देश के जहाँ की भाषा बंगला है (जिसमें कि प्रेसीडेन्सी, बर्दवान, राजशाही, ढाका, और चटगाँव की कमिश्नरियाँ सम्मिलित हैं) निवासियों की संख्या सन् १८८१ की मनुष्य गणना के अनुसार, ३५५०००००० है। इनमें से मोटे हिसाब से १८००००००० मुसलमान, १७००००००० हिन्दू (जिनमें कि आदिवासियों की जातियाँ भी सम्मिलित हैं) और शेष ५०००००० बौद्ध, इसाई इत्यादि हैं।

ये १७००००००० हिन्दू बहुत सी जातियों के हैं और वे जातियां जिनमें २०००००० या इससे अधिक मनुष्य हैं नीचे दिखलाई जाती हैं।

१	कैवर्त	२००६०००	५	कायस्थ	१०५६०००
२	चण्डाल	१५६४०००	६	बाग्दी	७२००००
३	कोच	१२१५०००	७	गोवाला	६१३०००
४	ब्राह्मण	१०७७०००	८	सद्गोप	५४७०००

९	नापित	४४७०००	१७	बनियां	११८०००
१०	वैष्णव	४३९०००	१८	जुर्गा	३०६०००
११	चमार	४१००००	१९	कमार	२८६०००
१२	सूंरी	३८३०००	२०	कुम्हार	२५२०००
१३	तेली	३८३०००	२१	बौर्रा	२५२०००
१४	जेलिआ	३७५०००	२२	तेओर	२२९०००
१५	तांती	३३००००	२८	धोबी	२२७०००
१६	पोद	३२५०००			
					१३७६००००
	दूसरी जातियां जिनमें २००००० मनुष्योंसे कम हैं				३४९४०००
	सब हिन्दू निवासियों का जोड़				१७२५४०००

दो सबसे बड़ी जातियाँ अर्थात् कैवर्त और चाण्डाल का उल्लेख मनु ने अपनी मिश्रित जातियों की सूची में किया है। बङ्गाल के कैवर्त लोगों की संख्या २०००००० है जो कि बङ्गाल के समस्त हिन्दू निवासियों का लगभग आठवां भाग हुआ। उन सबों के शारीरिक आकार एक ही से हैं, वे एक ही व्यवसाय अर्थात् मछली मारने और खेती का कार्य करते और उनमें धैर्य परिश्रम, शिक्षा, शीलता और मन्द बुद्धि के गुण एक ही प्रकार के पाये जाते हैं। इनमें से तीन भाग मनुष्य बङ्गाल के उत्तर पश्चिमी कोने में अर्थात् मिदनापुर, हुगली, हवड़ा चौवीस परगना, नदिया और मुर्शिदाबाद के जिलों में रहते हैं। क्या हमारे पाठकों में कोई ऐसा भी सीधा सादा होगा जो मनु की इस बात पर विश्वास करे कि यह इतनी बड़ी जाति जिनके कि चेहरे और विशेष लक्षण एक ही से है और जो अधिक तर बङ्गाल के एक विशेष भाग में रहते हैं, वे अयोगव जाति की स्त्रियों से उत्पन्न हुए हैं, जिनमें से लाखों स्त्रियों ने अपने पति को छोड़-छोड़ कर निषादों को स्वीकार किया ? इस अद्भुत और प्रचलित पतित्याग अर्थात् अयोगव स्त्रियों के निषादों के द्वारा हरण किये जाने की दन्त कथाएँ कहाँ हैं कि जिनके आगे सबाइन स्त्रियों का हरण किया जाना केवल एक खेलवाड़-सा है ? बुद्धि ऐसे बेसिर पैर की कथाओं को नहीं स्वीकार करती और वह इन परिश्रमी और सीधे सादे लाखों कैवर्तों को उन आदि जातियों में पहचान लेगी जो कि आर्यों के आने के पहले बङ्गाल में बसती थीं और जिन्होंने कि विजयी हिन्दुओं की सभ्यता, भाषा और धर्म को स्वीकार किया और उनसे उस भूमि को जोतना बोना सीखा जहाँ कि वे पहले मछली मार कर और शिकार करके जीवन निर्वाह करते थे

अब बङ्गाल के चाण्डालों को देखिये। वे भी एक बहुत बड़ी जाति के हैं जिनमें कि १५०००० लोग हैं और जो अधिकतर बङ्गाल के दक्षिण पूर्वी स्थानों में अर्थात् बाकरगञ्ज, फरीदपुर, ढाका, जैसोर और खुलना में रहते हैं। वे धैर्यवान और परिश्रमी हैं और नाव खेने और मछली पकड़ने में अद्वितीय हैं। जमींदार लोग ऊसर और दलदल भूमि को जोतने बोने योग्य करने के लिये उन्हें काश्तकार रखने से प्रसन्न होते हैं ॐ परन्तु फिर भी चाण्डाल लोग, कोमल, डरपोक और दुर्बल जाति के हैं और वे पूर्वी बङ्गाल के कठोर मुसलमानों के अनेक अत्याचारों को बिना किसी शिकायत के सहते हैं। चाण्डालों में भी एक विशेष शारीरिक और मानसिक समानता है जिससे विदित होता है वे एक जुदीही जाति के हैं।

यह जाति कैसे उत्पन्न हुई? मनु कहता है कि वे उन ब्राह्मण स्त्रियों के सन्तान है जिन्होंने शूद्र मनुष्यों को ग्रहण किया। दक्षिक्ष-पूर्व बङ्गाल में प्राचीन समय में ब्राह्मणों की अधिक संख्या नहीं थी और अब भी उपरोक्त पाँचों जिलों में उनकी संख्या ढाई लाख से भी कम है। अतएव मनु के सिद्धान्त के अनुसार इन जिलों में दस लाख से भी कम है। अतएव मनु के सिद्धान्त के अनुसार इन जिलों में दस लाख चाण्डालों के होने का कारण बतलाना कठिन है। क्या हम यह विश्वास करें कि शूद्र ब्राह्मणों की स्त्रियाँ बराबर कलि शूद्र पुरुषों को ही ग्रहण करती रहीं? क्या हम यह विश्वास करें कि लाखों रूपवती और दुर्बल ब्राह्मण कन्याओं को शूद्र लोग, जो कि एक नई जाति को उत्पन्न करने के लिये कमर बाँधे हुए थे उनके पिता और माता के यहाँ से बहका ले जाते रहे? अथवा क्या हम यह विश्वास करें कि इस सम्मेल से जो पुत्र उत्पन्न हुए उनकी वृद्धि दलदलों और मछली मारने वाले गावों में परिश्रम और दुःख के साथ रह कर भी अधिक हुई अर्थात् उनकी वृद्धि उन सच्चे ब्राह्मणों से भी अधिक हुई जिन्हें कि राज्य सम्मान और पुजारियों के विशेष अधिकार प्राप्त थे? हमें इन कल्पनाओं का उल्लेख केवल उनके बेतुकेपन

ॐ ग्रन्थकार ने बाकरगञ्ज के कुछ भाग के चाण्डालों के उस अद्भुत ढङ्ग को बहुधा देखा है, जिससे कि वे लोग दलदल को ठोस जोतने बोने योग्य बना लेते हैं। वे या तो नहर खोद कर बीलों को समुद्री नदियों से मिला देते हैं जिसमें दल दल के ऊपर वर्षों तक नित्त चिकनी मिट्टी की तहें जमती रहें। अथवा वे दलदलों में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास एकत्रित करते हैं, और दलदलों में उनकी तह के ऊपर तह निरन्तर रखते जाते हैं; यहां तक कि सबसे नीचे वाली तह भूमि के पेंदे में पहुँच जाती है। इस ग्रन्थकार ने इस प्रकार तैयार की हुई भूमि पर वृक्ष और घर बने हुए देखे हैं।

को दिखलाने के लिये करना है और इन कल्पनाओं के साथ मनु का मिश्रित जातियों के सिद्धान्त, कल्पित कथाएं और बालकों के किस्से कहानियों से प्रमाणित होते हैं ! हमारे जो पाठक बंगाल के चाण्डालों के विषय में कुछ भी जानकारी रखते हैं उन्हें उनकी बुद्धि कह देगी कि ये लोग दक्षिण-पूर्वी बंगाल के आदिम निवासी थे और वहाँ जो बहुतायत से खाड़ी और नहर हैं उनमें मछली मार कर अपनी जीविका निर्वाह करते थे और जब आर्य लोग बंगाल में आकर बसे तो उन्होंने स्वभावतः हिन्दुओं का धर्म, उनकी भाषा और सभ्यता ग्रहण कर ली।

हम यह दिखला चुके कि कैवर्त और चाण्डाल लोग जुदी-जुदी आदिवासी जाति के थे और जब उन्हें विजयी आर्यों ने हिन्दू बनाया तब उनकी हिन्दू जातियों में गणना हुई। बंगाल में ऐसे ही और भी हैं। पाठकगण उपरोक्त सूची में कोच, बाग्दी, पोद, बौरी, और तओर लोगों का नाम देखेंगे, और ये सब भिन्न-भिन्न हैं। बंगाल में हिन्दुओं के आने के पहले ये भिन्न-भिन्न जातियाँ आदिवासी जाति की थीं और अत्यन्त प्राचीन काल की प्रत्येक शताब्दी में वे विजयी हिन्दुओं की शरण आती गईं एवं उनकी भाषा, धर्म और जोतने बाने की रीति को ग्रहण करके हिन्दुओं की जाति में नीच जातियां बन गईं। बंगाल की इन जातियों में से बहुत से नाम मनु को विदित नहीं थे। जो जातियां इसको विदित थीं उनकी उत्पति के विषय में कोई एतिहासिक अथवा मनुष्य गणना के प्रमाण न होने के कारण उसने अपने ही सिद्धान्तों के अनुसार उनकी उत्पत्ति वर्णन करने का यत्न किया गया है।

अब हम इन उपजातियों को छोड़ कर व्यवसाय करने वाली जातियों का उल्लेख करेंगे। उपरोक्त सूची में पाठकों को कायस्थ अथवा लेखक, गोआल अर्थात् गाय रखने वाले, नापित अर्थात् हजाम, तेली अर्थात् तेल बनाने वाले, जेलियों अर्थात् मछुआ है, तांती अर्थात् कपड़ा बीननेवाले, बनियां अर्थात् व्यापारी, कुमर अर्थात् लोहार, कुम्हार अर्थात् मट्टी के बर्तन बनाने वाले, धोबी अर्थात् कपड़ा धोने वाले इत्यादि जातियों के नाम मिलेंगे। यह बात अद्भुत है कि मनु की मिश्रित जातियों की सूची में कुछ उपजातियों के नाम मिलते हैं परन्तु उस सूची में व्यवसाय करने वाली एक भी जाति का नाम नहीं मिलता। तो क्या ये व्यवसाय मनु के समय में थे ही नहीं ? क्या मनु के समय में लेखक और व्यापारी लोग, लोहार, और कुम्हार लोग, हज्जाम और धोबी लोग थे ही नहीं ? यह कल्पना बिना सिर पैर की है, क्योंकि मनु के समय मे भारतवर्ष सभ्यता में चढ़ा बढ़ा था और मनु ने अपनी स्मृति में इनके व्यवसाय का उल्लेख भी किया है। परन्तु उसने अपनी

मिश्रित जातियों की सूची में उनका उल्लेख नहीं किया और न उन्हें जाति की भांति कहीं लिखा है। इससे यह बात दृढ़ निश्चय के साथ प्रमाणित होती है कि मनु के समय में ये भिन्न-भिन्न व्यवसाय केवल व्यवसायही थे। उनकी भिन्न-भिन्न और जातियां नहीं बनी थीं। वैश्य लोगों की और ऐसे ही शूद्र लोगों की भी अब तक एक ही जाति थी यद्यपि वे लोग भिन्न-भिन्न व्यवसाय और व्यापार करते थे।

अब हमको उन व्यवसाय की जातियों की सच्ची उत्पत्ति का पता लग गया जो कि मनु के समय में नहीं थीं और जो उसके उपरान्त बनी हैं। हमको उन उपजातियों की उत्पत्ति भी विदित हो गई जो कि मनु के समय के पहले बन गई थी और जो मनु को विदित थी। अन्त में हमें यह भी विदित हो गया कि मनु ने इन उपजातियों की उत्पत्ति लिखने में कैसी भूल की है। मनु की भूल ऐसी थी जिससे वह बच नहीं सकता था। उसने कैवर्तों और चाण्डालों की तरह भिन्न-भिन्न जातियाँ देखा और उसे उन जातियों की उत्पत्ति का इतिहास विदित नहीं था। उसके समय में यह धार्मिक कथा प्रचलित थी कि सब मनुष्य जाति की चार मुख्य जातियों से ही उत्पति हुई है और इसलिये उसे अपने समय की नई जातियों की उत्पत्ति के लिये भी इसी प्राचीन सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ा। यह सब बात समझ में आने योग्य है। जो बात समझ में नहीं आती वह यह है कि इस प्राचीन सिद्धान्त पर आजकल के ऐतिहासिक खोज और गणना के समय में भी कुछ हिन्दू लोग कैसे विश्वास करते हैं। परन्तु इस स्मृति की पवित्रता ही ऐतिहासिक खोज को दूर भगाती है, ठीक जांच को रोकती है और गुण और दोष की परीक्षा करने वालों का मुंह बन्द करती है। यही कारण है कि मिश्रित जातियों का प्राचीन सिद्धान्त बहुत से प्रमाणों और सम्भावनाओं के रहते हुए भी इतनी शताब्दियों तक मान और सत्कार की दृष्टि से देखा गया है। इसको जाँच तथा झूठ और सच की परीक्षा न किए जाने से यह सिद्धान्त सत्यधर्मावलम्बी हिन्दुओं के विचार और विश्वास में स्थान पाता रहा है। फिर भी यह सिद्धान्त जो कि ऐसा सम्यक और समझ में आने योग्य तथा ऐसा पूर्ण है,' परीक्षा की अंगुली से छुए जाने के साथ ही साबुन के एक सुन्दर बुलबुले के सदृश लुप्त हो जाता है।

इक्तालीसवां अध्याय

सामाजिक जीवन

मनु ने गृह विधानों का जो वृत्तान्त लिखा है वह प्राचीन सूत्रकारों के आधार पर ही है। जात कर्म बच्चे के जनमते ही नारा काटे जाने के पहले होना चाहिये। जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन अथवा किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त और शुभ नक्षत्र में नाम करण की रीति का जानी चाहिये और बच्चों का नाम रक्खा जाना चाहिये। चौथे मास में निष्क्रमण की रीति करके बच्चे को घर के बाहर निकालना चाहिये और छठें मास में बच्चे के अन्नप्रासन अर्थात् उसे पहली बार चावल खिलाने की रीति की जानी चाहिये। उपनयन अर्थात् विद्यारम्भ कराने की रीति ब्राह्मण के के लिये आठवें वर्ष, क्षत्रिय के लिये ग्यारहवें वर्ष और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में की जानी चाहिये और तब लड़के को यज्ञोपवीत पहना कर गुरू को सौंपना चाहिये।

विद्यार्थी के जीवन के नियम वे ही हैं जो कि धर्मसूत्रों में कहे गये हैं। विद्यार्थी को एक धोती, एक छड़ी, और एक या दो कपड़े होने चाहिये। उसे अपने गुरु की आज्ञा माननी और उसका सत्कार करना चाहिये। उसे नित्य द्वार-द्वार भीख मांग कर जो कुछ मिले उसे गुरू के सामने ला रखना चाहिये और प्रतिदिन जब कि वह विद्या सीखता जाय तो उसे अपने गुरू के यहाँ रह कर उसकी सब प्रकार की नीच सेवा भी करनी चाहिये। केशान्त अर्थात् सिर मुड़ाने की रीति ब्राह्मण के लिये १६ वें वर्ष, क्षत्रिय के लिये २२ वें वर्ष और वैश्य के लिये २४ वें वर्ष की जानी चाहिये।

तीनों वेदों के पढ़ने का समय ३६ वर्ष अथवा ९ वर्ष भी अथवा जब तक विद्यार्थी पूरी तरह से न पढ़ लें, कहा गया है। यहाँ पर (३, १) हमें चौथे वेद का नाम नहीं मिलता और न अथर्वन् सीखने के लिये कोई समय नियत किया गया है। विद्यार्थी अपना अध्ययन समाप्त करने पर स्नान करके स्नातक हो जाता था और घर लौट कर विवाह करता था, फिर गृहस्थ हो कर रहता था। विवाह के

समय पवित्र अग्नि जलाई जाती थी, गृहस्थ को अपने गृहविधानों और पंच महायज्ञों को बराबर अपने जन्म भर करने की आज्ञा दी जाती थी। वे महायज्ञ ये हैं (१) पढ़ाना और पढ़ना जो कि उपमा की भाँति परमात्मा (ब्रह्मन्) का यज्ञ कहा गया है, (२) पितरों को जल देना, (३) छोटे देवताओं को जली हुई वस्तुएँ चढ़ाना, (४) पितरों को बलि चढ़ाना और (५) अतिथियों का सदैव सत्कार करना जो कि मनुष्यों का यज्ञ कहा गया है। (३,६७, और ७०) यह अन्तिम धर्म बहुत आवश्यक था और हिन्दू ऋषि लोग धार्मिक हिन्दुओं के हृदय पर अपने भाइयों के लिये इस महान कर्तव्य के अंकुरित करने में कभी नहीं चूके हैं।

पितरों को नित्य बलिदान देने के सिवाय प्रति मास पिण्ड-पितृ यज्ञ (३, १२२) किया जाता था और उसमें पिण्ड बनाकर पितरों को चढ़ाया जाता था। नित्य के बलिदान तथा मासिक बलिदान में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था और सूत्रकारों की तरह मनु भी मूर्ख ब्राह्मणों को भोजन कराने का बड़ा विरोधी है।

"जैसे किसान ऊसर भूमि में बीज बोकर फसल नहीं काट सकता वैसे ही याज्ञिक भोजन देने वाला यदि उस भोजन को किसी ऐसे मनुष्य को खिलावे जो कि ऋचाओं को नहीं जानता तो उसे कोई फल नहीं होता।" (३, १४२)

"कोई मूर्ख मनुष्य देवताओं अथवा पितरों के यज्ञ के जितने ग्रास खाता है उतने ही लाल तपे हुए भाले, कील और लोहे के गोले भोजन खिलाने वाले को मृत्यु के उपरान्त निगलने पड़ते हैं।" (३, १३३)

दूसरे स्थान पर बिल्ली बगुले की तरह कार्य करने वाले किसी ब्राह्मण को जल भी न देने के लिये कहा गया है। मनु ने अपने समय के बिल्ली और बगुलों के ऐसे ब्राह्मणों की निन्दा जिन शब्दों में की है उनको उद्धृत करना हमारे हिन्दू भाइयों का अपमान करना होगा। (४, १९२, १९५, १९६)

यज्ञों के विषय में लिखा है कि ब्राह्मणों को नित्य संध्या और सबेरे अग्नि होत्र करना चाहिये, चन्द्र दर्शन और पूर्णिमा को उसे पौर्णमास इष्टि करनी चाहिये। तीन ऋतुओं के अन्त में उसे चतुर्मास यज्ञ करना चाहिये, अयन के समय उसे पशुओं का बलिदान करना चाहिये और वर्ष की समाप्ति के समय सोम यज्ञ करना चाहिए। जब नया अन्न काटा जाय तो उसे आग्रयन इष्टि तथा एक पशु का बलिदान करना चाहिये। (४,२५-२७) इन विधानों तथा अन्य विधानों के जो वर्णन प्राचीन सूत्र ग्रन्थों में दिए हैं उनके लिए पाठकों को इस पुस्तक का चौथा भाग देखना चाहिये।

प्राचीन सूत्रों में कहे हुए दैनिक, मासिक और सामयिक विधानों को करने के लिये मनु ने जो आज्ञाएँ दी हैं उनसे विदित होता है कि प्राचीन वैदिक रीतियों का व्यवहार अब बहुत कम होता जाता था। ऐसे वाक्यों में जैसे "जो ब्राह्मण पवित्र अग्नि रखता है" (४, २७) से विदित होता है कि ऐसी पवित्र अग्नि का रखना अब बिरले कहीं होता था। नास्तिकों के विषय में जो कटुवाक्य लिखे हैं उनसे विदित होता है कि बौद्ध लोगों का प्रभाव प्राचीन धर्म और रीतियो पर बहुत अधिक पड़ रहा था। गृहस्थों के लिये वेद का खण्डन करने वाले किसी 'नास्तिक अथवा तार्किक का सत्कार करना अथवा उनसे भेट करना भी निषेध किया गया है। (४, ३०) उसे वेद की व्यर्थ निन्दा अथवा खण्डन से बचने के लिये कहा गया है (४, १६३) और जो स्त्री किसी नास्तिक के सम्प्रदाय को ग्रहण करें उसकी समानता व्यभिचारी स्त्रियों, शराबी स्त्रियों, अपने पति को मारने वाली स्त्रियों तथा भ्रूण हत्या करने वाली स्त्रियों से दी गई है। (५, ९०)

सम्भवतः यह हमको ठीक ठीक कभी विदित नहीं होगा कि वैदिक रीतियों और ऐतिहासिक काव्य काल तथा दार्शनिक काल के धर्म का किस किस अंश में और किस-किस प्रकार से आधुनिक हिन्दू धर्म के रूप में परिवर्तन हो गया। परन्तु यह बात निश्चय है कि जिस समय मनुस्मृति बनाई गई उस समय प्राचीन गृह्ययज्ञ जो कि गृहस्थों के घर में किए जाते थे और अधिक आडम्बर के श्रौत यज्ञ जिन्हें पुजारी लोग करते थे, उनका प्रचार बहुत कम होता जाता था और उनका स्थान मन्दिर के वे पुजारी ले रहे थे, जिनकी समानता कि मनु ने मांस और मदिरा बेचने वालों तथा दुकानदारों और अधिक व्याज खाने वालों से की है। (३, १५२, १८०) इस स्मृति में प्राचीन धर्म को नए धर्मों के विरुद्ध स्थिर रखने के लिये व्यर्थ उद्योग किया गया है और इतिहास जानने वालों को इस बात के जानने में बहुत कम कठिनाई पड़ेगी कि उस समय की क्या अवस्था हो रही थी।

मनु ने जिन-जिन प्रकार के विवाहों को लिखा है वे धर्म सूत्रों में कहे गये हैं। वह ब्राह्म, दैव, आर्श, प्रजापत्य, आसुर, गन्धर्व, राक्षस, और पैशाच विवाहों का उल्लेख करता है। परन्तु वह इनमें से कुछ विवाहों के विरुद्ध है, "पैशाच (लुभाना) और आसुर (बेचना) विवाह कभी नहीं करना चाहिये" (३,२५)। फिर यह बहुत जोर देकर कहा गया है कि—"जो पिता इस नियम को जानता हो उसे अपनी कन्या के लिये कुछ भी भेंट नहीं लेनी चाहिये क्योंकि जो मनुष्य लालच वश भेंट लेता है वह अपनी सन्तान का बेचने वाला होता है" (३, ५४)। इस

विषय में कोई सन्देह न रखने के लिये यह भी कहा है कि शूद्र को भी विवाह के भेंट नहीं लेनी चाहिये और ऐसा व्यवहार कभी सुना नहीं गया है। (९, ९८, और १००) परन्तु प्राचीन समय में सम्भवतः यह भेंट नीच जातियों में ली जाती थी जैसा कि भारतवर्ष में आज कल भी किया जाता है। मनु ने एक स्थान पर असावधानी से यह नियम लिखा है कि यदि बर को एक कन्या दिखलाई जाय और दूसरी कन्या दी जाय तो वह एक ही मूल्य में दोनों से विवाह कर सकता है। (८, २०४)

इसी प्रकार मनु विधवा विवाह का भी बड़ा विरोधी है और यह प्राचीन रीति उत्तर काल के हिन्दुओं को अप्रिय हो रही थी। परन्तु वह हमें असावधानी से यथार्थ बात को बतला देता है—और वह इतिहास जानने वाले के लिये मनु की सम्मति की अपेक्षा बहुत अमूल्य है कि विधवा विवाह उसके समय में भी प्रचलित था, यद्यपि कट्टर लोग उसे नहीं पसन्द करते थे। लिखा है कि विधवा को अपने पति की मृत्यु के उपरान्त किसी दूसरे पुरुष का नाम भी न लेना चाहिये (५,।१५७) और धार्मिक .स्त्रियों के लिये दूसरे पति का ग्रहण करना कहीं।नहीं लिखा गया है (५, १६२)। परन्तु फिर भी हमें पुनर्विवाहिता स्त्रियों, (३, १६६) और पुनर्विवाहिता विधवाओं के पुत्रों (३, १५५ और १८१, ६, १६९, १७६) का उल्लेख मिलता है। अक्षत विधवाओं के पुनः विवाह करने की स्पष्ट आज्ञा दी गई है। ऐसी विधवा "अपने दूसरे पति के साथ विवाह करने की स्पष्ट आज्ञा दी गई है। ऐसी विधवा "अपने दूसरे पति के साथ विवाह करने के योग्य हैं।" (९,१७६)

हम ऊपर देख चुके हैं कि एक जाति से दूसरी जाति में स्वतन्त्रता से विवाह होता था परन्तु किसी नीच जाति का मनुष्य उच्च जाति की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता था।

मनु के समय में सम्बन्धियों के साथ विवाह करने का बड़ा निषेध था। "ऐसी कन्या जो न तो माता के कुल में सपिण्ड हो और न पिता के कुल में सम्बन्धी हो वह द्विज मनुष्यों के विवाह और पति सम्मेल के योग्य कही गई है।" (३,५)

जिस अवस्था में कन्या का विवाह होना चाहिये उस विषय के नियमों से विदित होता है कि यद्यपि कभी-कभी कन्याओं का विवाह उनके युवा होने के पहले ही हो जाता था परन्तु यह किसी प्रकार आवश्यक नहीं था और बहुधा उनका विवाह इसके उपरान्त होता था। उसने लिखा है कि ३० वर्ष को मनुष्य को १२ वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिये और इससे छोटे मनुष्य को इससे भी छोटी कन्या के साथ, (१०,६४) उसने फिर कहा है कि पिता को चाहिये कि वह अपनी

कन्या को किसी प्रसिद्ध सुन्दर पुरुष को दे दे, "यद्यपि वह अपनी उचित अवस्था को न भी प्राप्त हुई हो।"

यह एक विशेष अवस्था के लिये लिखा गया है और इसलिये हमें यह समझना चाहिये कि साधारण नियम कन्याओं का विवाह उचित अवस्था में करने का था। यह भी स्पष्ट रीति से कहा गया है कि कन्या जब विवाह के योग्य हो तो उसे तीन वर्ष तक ठहरना चाहिये और तब उसे अपना विवाह करना चाहिए। (९,९०) उसके पिता को चाहिये कि वह योग्य वर के साथ उसका विवाह करे और यदि ऐसा न हो तो उसे जन्म भर कुँआरी ही रक्खे (९,८९)।

जान पड़ता है कि भाई की विधवा स्त्री से पुत्र उत्पन्न करने की प्राचीन रीति उठ गई। मनु प्राचीन नियम का पालन करने के लिए और साथ ही अधिक शुद्ध रीति प्रगट करने के लिए अपनी ही बातों का खंडन कर गया है। (१०,५९, और १६ में) वह कहता है कि जिस स्त्री अथवा विधवा को अपने पति से संतान न होने पर अधिकार प्राप्त हो, वह अपने पति के भाई (देवर) से अथवा पति के किसी दूसरे सपिण्ड से सन्तान उत्पन्न कर सकती है। परन्तु इसके उपरान्त ही वह जोर देकर कहता है कि विधवा को इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करने के लिये कभी नियुक्त न करना चाहिए, धर्म पुस्तकों में विधवाओं के इस प्रकार नियुक्त करने के लिए कहीं अधिकार नहीं दिया गया है और इस रीति को पंडित लोग पशुओं के योग्य समझते हैं। (९,६४ से ६८ तक) यह कुछ कटु भाषा है और इससे विदित होता है कि यह प्राचीन रीति मनु के समय में कैसी घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे देखा जायगा कि मनु की स्मृति कुछ मिश्रित गुणमय है। ग्रन्थकार ने प्राचीन नियम को मानने का यत्न किया है। उसने बहुधा अपने समय की प्रचलित कहावतों और छन्दों को उद्धृत किया है जिनमें से बहुत महाभारत में पाए गए हैं—और साथ ही वह आर्यों के लिये एक शुद्ध नियम प्रगट करने का भी उत्सुक है। ऐसे भिन्न-भिन्न विचारों को रखने के कारण मनु बहुधा नियमों को देने में अनिश्चित है परन्तु उसके नियम का साधारण अभिप्राय और उद्देश्य किसी सच्चे पाठक की समझ में यथार्थ रूप से आए बिना नहीं रह सकता। यदि कोई पाठक इस स्मृति के उन सब अध्यायों और छन्दों को ध्यान पूर्वक पढ़े जो कि स्त्रियों की अवस्था के विषय में हैं, तो कुछ बाधा डालने वाले वाक्यों के रहते हुए भी उसे मनु के समय में हिन्दू सभ्यता और चाल व्यवहार की तथा स्त्रियों की उच्च अवस्था निःसन्देह विदित होगी।

स्त्रियाँ अपने वंश के पुरुषों की आश्रित समझी जाती थीं,—इस बात को मनु जोर देकर कहता है। परन्तु फिर भी स्त्रियों का उनके कुल में सत्कार होता था, उनके सम्बन्धी लोग तथा जिस समाज में वे रहती थीं वे सब उनको सत्कार की दृष्टि से देखते थे। अब यह बात केवल मनु के नियमों से ही नहीं वरन् सब संस्कृत-ग्रन्थों के प्रतिबिम्ब सी विदित होती है।

"उपाध्याय की अपेक्षा आचार्य दस गुना पूज्य है, आचार्य की अपेक्षा पिता सौ गुना, परन्तु पिता की अपेक्षा माता हजार गुनी पूज्य है (२,१४५)।

"स्त्रियों के पिता, भाई, पति और देवर का, जो कि उनके हित चाहने वाले हैं, सत्कार करना चाहिये।

"जहाँ स्त्रियों का सत्कार होता है वहीं देवता प्रसन्न रहते हैं, परन्तु जहाँ उनका सत्कार नहीं होता वहाँ पुण्य के कर्मों का कोई फल नहीं मिलता।

"जिस वंश में स्त्रियां शोक में रहती हैं। उस वंश का शीघ्र ही सत्यानाश हो जाता है परन्तु जहां स्त्रियां सुखी रहती हैं उस वंश की सदा वृद्धि होती है।" (३, ५५—५७)।

इसके सिवाय स्त्रियों के कर्तव्यों का भी स्पष्ट वर्णन है।

"स्त्री को बाल्यावस्था में अपने पिता के अधीन रहना चाहिये और युवा अवस्था में अपने पति के अधीन, अपने पति की मृत्यु पर अपने पुत्रों के अधीन। स्त्रियों को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये।

"उसे अपने पिता, पति अथवा पुत्रों से जुदे होने का विचार नहीं करना चाहिये। उनको छोड़ने से वह अपने और अपने पति के वंशों को कलङ्कित करती है।

"उसे सदैव प्रसन्न रहना चाहिये, अपने घर के कार्यों में चतुर, अपने वर्तन साफ करने में सावधान और अल्पव्ययी होना चाहिए।

"उसका पिता अथवा उसके पिता की आज्ञा से उसका भाई जिस मनुष्य के साथ उसका विवाह कर दे उसकी आज्ञाओं का पालन उसे यावज्जीवन करना चाहिये और उसकी मृत्यु के पीछे उसकी स्मृति का अपमान नहीं करना चाहिये।

"पति यद्यपि गुणों से रहित हो अथवा विलास में लिप्त हो तथा पुन्यात्मा न हो तथापि धार्मिक स्त्री को सदा देवता की तरह उसकी पूजा करनी चाहिये।

"स्त्रियों को अपने पति से अलग कोई यज्ञ संकल्प अथवा व्रत नहीं करना चाहिये। यदि स्त्री अपने पति की आज्ञाओं का पालन करे तो केवल उससे ही वह स्वर्ग में जायगी।" (५, १४८—१५१, और—१५४, १५५)।

बयालीसवाँ अध्याय

राज्य प्रबन्ध

मनु राजाओं के नित्यकृत्य और घरेलू जीवन का बड़ा मनोहर वर्णन देता है।

अपनी प्रजा की रक्षा करना, पक्षपात रहित होकर न्याय करना, अनुचित कार्य करने वाले को दंड देना, ये राजाओं के मुख्य कर्तव्य थे और स्वयं समाज का अस्तित्व इन्हीं कर्तव्यों के पालन पर निर्भर था। (७, २, १६—३५) मद्य, जुआ, स्त्री, और अहेर, ये राजाओं के सब से बड़े अवगुण थे (७, ५०)।

राजा रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठता था और अपने शरीर की शुद्धि तथा अग्नि में हवन करने के उपरान्त वह प्रातःकाल सभा भवन में जाता था। वहाँ जो प्रजा उससे भेंट करने आती थी उसे वह प्रसन्न करता था और उसे बिदा करके एकान्त में अपने मन्त्रियों से सलाह करता था, जहां कि सर्वसाधारण नहीं जाने पाते थे। (७, १४५—१४७) सलाह हो जाने के उपरान्त राजा अपना नियमित व्यायाम करता था और स्नान करके भोजन के लिए महल में जाता था। नमकहलाल नौकर लोग भोजन तैयार करते थे जो कि पवित्र मन्त्रों के द्वारा शुद्ध और विष से रहित किया जाता था और भली भांति जंची हुई स्त्रियां पंखे, जल और सुगन्ध से उसकी सेवा करती थीं। भोजन के विषय में जो सावधानी लिखी गई है वही राजा की गाड़ी, बिछौने, आसन, स्नान, शृंगार और आभूषणों के सम्बन्ध में भी कही गई है और उससे विदित होता है कि राजाओं के गृह्य कार्यों में बिष अथवा छल के द्वारा मृत्यु की दुर्घटना न होने का पूरा प्रबन्ध रहता था (७, २१६—२२०)।

भोजन के उपरान्त राजा महल में अपनी स्त्रियों के साथ कुछ समय व्यतीत करता था परन्तु तीसरे पहर वह फिर राजसी वस्त्र पहन कर निकलता था और अपने योधाओं, रथों, पशुओं, शस्त्रों और युद्ध की सामग्रियों की देख भाल करता था। तब अपनी संध्या समय की पूजा करने के उपरान्त वह अपने जासूसों से

बातें करता था और वे जिन गुप्त बातों का पता लगाते थे उन्हें सुनता था। इसके उपरान्त वह अपने महल में जाकर भोजन करता था और फिर गान से अपना जी बहला कर शयनागार में जाता था। (७,२२१—१२५)!

राज्य प्रबन्ध में राजा की सहायता के लिये मन्त्री होते थे—मनु कहता है कि सात अथवा आठ मन्त्री होते थे--जो कि शास्त्रों के ज्ञाता, शस्त्र विद्या में निपुण, उत्तम और जंचे हुए वंश के होते थे। ये मन्त्री राजा को शान्ति और युद्ध में, कर और दान के विषयों में सम्मति देते थे। राजा कर उगाहने के लिये तथा खानों, शिल्पशालाओं और भण्डारों के लिये योग्य पुरुषों को नियत करता था और अपने कार्यों के सम्पादन के लिये ऐसे राजदूत को रखता था "जो इशारे और मुँह की आकृति और चेष्टाओं को समझता हो" (७,५४--६३)

गाँव और नगर की रक्षा करने के लिये जुदे-जुदे कर्मचारी नियत किए जाते थे। राजा प्रत्येक गाँव का एक स्वामी, दस गाँव के ऊपर एक स्वामी, २० गाँव पर एक स्वामी, १०० गाँव के ऊपर एक स्वामी, और १००० गाँव के ऊपर एक स्वामी, नियत करता था और उन लोगों का यह कर्तव्य था कि गाँव के निवासियों की रक्षा करें और जुर्म को रोकें। इसी प्रकार प्रत्येक नगर में भी सब कार्यों को देख भाल के लिये एक सरदार होता था जो स्वयं सब कर्मचारियों के कार्य की देख भाल करता था और उनकी चाल व्यवहार के विषय में गुप्त रीति से पता रखता था। "क्योंकि राजा के वे नौकर जो प्रजा की रक्षा के लिये नियत किये जाते हैं बहुधा दुष्ट हो जाते हैं और दूसरों की सम्पत्ति छीनते हैं। उसे चाहिये कि ऐसे मनुष्यों से अपनी प्रजा की रक्षा करे।" (७, ११५—१२३) राज्य कर्मचारियों के लुटेरेपन के विषय में ये बड़े कटुवाक्य हैं परन्तु आज कल के प्रबन्ध करने वाले कर्मचारियों में से बहुत कम ऐसे होंगे जो कि इस निन्दा को आजकल की प्रजा रक्षकों अर्थात् उन पुलीस अफसरों के लिये कटु समझेंगे 'जिनके अधीन एक बड़ा थाना होता है जिसमें पचास हजार अथवा एक लाख मनुष्य बसते हैं।

राजा की अपनी सम्पति से जो आय होती थी उसकी न्यूनता राज्य कर से पूरी की जाती थी। मनु "पशु और स्वर्ण की वृद्धि पर पच्चीसवाँ भाग" राज्यकर नियत करता है जो कि प्रायः सैकड़े में दो के हिसाब से हुआ और "अन्न के लिये आठवाँ, छठाँ, अथवा बारहवाँ भाग नियत करता है जो कि आज कल की लगान से बहुत कम हुआ।" राजा वृक्ष, मांस, मक्खन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन इत्यादि पर छठां भाग ले सकता था और मास में एक दिन शिल्पकारों और मजदूरी करने वाले शूद्रों से कार्य करवा सकता था। परन्तु उसे किसी अवस्था में भी श्रोत्रियों पर

कर नहीं लगाना चाहिये। अन्त में राजा बहुत अधिक कर न लगाने के लिए सचेत किया गया है। "उसे बहुत अधिक लालच से अपनी जड़ तथा दूसरों की जड़ भी न काटनी चाहिये, क्योंकि अपनी अथवा दूसरों की जड़ काटने से वह अपने को अथवा दूसरों को अति दुखी बनाता है।" (७,१३०—१३९)

राज्य प्रबन्ध और कर लगाने के इन तथा अन्य नियमों से बिदित होता है कि अब से दो हजार वर्ष पूर्व से लेकर १५०० वर्ष के भीतर भारतवर्ष में शासन की एक प्रणाली प्रचलित थी। इस देश में चीन और यूनान के जो ग्रन्थकार रहे थे उनकी शाक्षी से विदित होता है कि ये सब बिचार केवल सिद्धान्तकारों और ग्रन्थ कारों के ही नहीं थे वरन उन्हें राजा और उनके कर्मचारी लोग व्यवहार में लाते थे। मेगास्थनीज चन्द्रगुप्त के राज्य की बड़ी प्रशंसा करता है और फहियान तथा ह्वेन्त्साङ्ग जिन्होंने भारतवर्ष में कई वर्षों तक रह कर यहां के कई राज्यों को देखा था वे भी हिन्दुओं की राज्यप्रणाली की प्रशंसा करते हैं और उन्होंने कहीं भी प्रजा पर अधिक कर लगाए जाने अथवा राजाओं के मन माने अत्याचारों से उनके क्लेश पाने अथवा भयानक युद्धों द्वारा उनके सत्यानाश का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इसके विरुद्ध उन्होंने जो वर्णन दिया है उससे हम उन्हें एक सुखी और भाग्य-वान जाति पाते हैं जो कि अपने राजा की बड़ी भक्त थी, और दयालु, उपकारी तथा सभ्य राज्य प्रणाली के सुखों को भोग रही थी। खेती सब जगह भरी पूरी थी, शिल्प की उन्नति हो रही थी, विद्या को हिन्दू और बौद्ध दोनों ही समान रीति से बड़े परिश्रम के साथ पढ़ते और उसका सत्कार करते थे। धर्म की शिक्षा मन्दिरों और मठों में बिना किसी रोक टोक के होती थी और लोग बिना किसी अत्याचार अथवा हस्तक्षेप के अपना-अपना कार्य करते थे। परोपकारी राज्य प्रणाली के ये चिन्ह स्मृति के कैसे ही उचित और दयालु नियमों की अपेक्षा अधिक विश्वास दिलाने वाले हैं।

रक्षा के लिए किलों की बड़ी कदर की जाती थी और मनु कहता है कि "किले में एक धनुष चलाने वाला युद्ध में १०० शत्रुओं का सामना कर सकता है"। (७—७४) वह कहता है कि राजा को अपनी रक्षा के लिए एक किला अवश्य बनाना चाहिये और उसे बियाबान, जल, वृक्षों, खाई अथवा शस्त्रधारी योद्धाओं के के द्वारा रक्षित रखना चाहिये, परन्तु वह पहाड़ी के किलों को सब से उत्तम समझता है जो कि सब किलों से अधिक दृढ़ होते हैं। इन किलों को शस्त्र, द्रव्य, अन्न तथा बोझ ढोने वाले पशुओं और ब्राह्मणों, शिल्पकारों, यन्त्रों और सूखी घास और जल से भली भांति भरा रखना चाहिये। (७,७०,७१,७५) ऐसे पहाड़ी किलों की कदर

भारतवर्ष के आधुनिक युद्धों में बारम्बार प्रमाणित हुई है और खाने पीने की सामग्री तथा स्वाभाविक रक्षाओं और वीर योधाओं से सज्जित एक-एक किले से आक्रमण करने वाले शत्रु की समस्त सेना का बहुधा नाश हो गया है।

हिन्दुओं में युद्ध के नियम सत्कार योग्य तथा दयालु होते आए हैं। रथ, घोड़े, हाथी, अन्न, पशु और स्त्रियां जो युद्ध में जीते जांय वे जीतने वाले के होते हैं, परन्तु उसके लिए भागते हुए शत्रु अथवा ऐसे शत्रु को मारने का कड़ा निषेध है जो कि हाथ जोड़कर बैठ जाय और कहे कि "मैं तुम्हारे अधीन हूँ।" इसी प्रकार शस्त्रहीन मनुष्य, घायल मनुष्य अथवा केवल तमाशा देखने वाले मनुष्यों को जो युद्ध में सम्मिलित न हों, कोई दुःख नहीं देना चाहिये। (७-९१, ९२, ९३, ९६,) इन नियमों का प्राचीन समय से लेकर आधुनिक राजपूतों के युद्धों तक सावधानी से पालन किया गया है और विदेशियों ने गांव के निवासियों को अपने नित्य का काम शान्ति से करते हुए और किसानों को अपना खेत बिना किसी आशंका के जोतते हुए ऐसे समय में देखा है जब कि उनके सामने ही दो फौजें राज्य के लिए लड़ रही हों।

राजाओं की नीति और युद्ध का प्रबन्ध करने के लिए अनेक नियम दिए गए हैं जिनमें से कुछ मनोरञ्जक हैं। अपने सबसे निकट के राजा को अपना शत्रु समझना चाहिये और उसके उपरान्त के देश के राजा को मित्र समझना चाहिये, और इस नियम का उदाहरण आज कल यूरप—फ्रान्स, जर्मनी और एशिया की राजनीति में भी पाया जाता है। (७,१५८) आज कल की तरह उस समय भी द्वाब के लम्बे मनुष्य भारतवर्ष में सबसे उत्तम सैनिक समझे जाते थे और राजाओं के लिए मत्स्य, पाञ्चाल, कुरुक्षेत्र और सूरसेन देश के लोगों को अपनी सेना में रखने की और युद्ध में उन्हें आगे की ओर रखने की सम्मति दी गई है (७,१९३)। सेना को प्रस्थान करने के लिए जाड़े के आरम्भ अथवा समाप्ति का समय उपयुक्त कहा गया है परन्तु युद्ध की आवश्यकता के अनुसार किसी समय भी सेना प्रस्थान कर सकती थी (७,१८२, १८३)। कहीं-कहीं पर हम लोगों को उन नियमों की अद्भुत झलक मिलती है जिनके अनुसार प्रस्थान अथवा युद्ध में सेना सुसज्जित की जाती थी। प्रस्थान में सेना छड़ी की तरह (आयत के आकार में) अथवा गाड़ी (वेज—त्रिकोणकार) की तरह अथवा सूअर (विषम समचतुर्भुज) की तरह अथवा मकर (दो-त्रिभुज जिनकी शिखा मिली हों) की तरह अथवा सूई (लम्बी पंक्ति) की तरह, अथवा गरुड़ (विषम समचतुर्भुज जिसकी शाखाएँ फैली हुई हों) की तरह रखी जाती थी। युद्ध में कुछ सैनिक निकट निकट रक्खे जा सकते थे, अथवा सैनिकों के

बीच अधिक स्थान छोड़कर सेना फैलाई जा सकती थी अथवा कुछ लोग सूई की तरह एक पंक्ति में होकर लड़ सकते थे। बहुत से लोग वज्र के आकार में सज्जित किये जा सकते थे (७, १८७ और १९१)। जब कोई शत्रु किसी नगर अथवा किले में हो तो आक्रमण करने वालों को उसके बाहर घेरा डाल कर शत्रु की घास अन्न लकड़ी और जल नाश कर देना चाहिये, उसके तालाब, किले की दीवाल और खाई को नष्ट करना चाहिये, रात्रि के समय उसको बिना जनाए हुए आक्रमण करना चाहिये अथवा उसकी प्रजा और उसके लोगों को बहका कर बलवा कराना चाहिये (७,१९५—१९७)।

जब कोई राजा अपने शत्रु को जीते तो उसे पराजित राजा के किसी सम्बन्धी को पराजित प्रजा की सम्मति के अनुसार गद्दी पर बैठाना चाहिये और उनके देश की रीतियों और नियमों को मानना चाहिये। (७, २०२, २०३) ये न्याययुक्त और दयालु नियम हैं जो कि हिन्दू विजयी राजाओं के योग्य हैं।

तैंतालीसवां अध्याय

कानून

मनुस्मृति में बारह अध्याय हैं जिनमें २६८५ श्लोक हैं। इसके दो सबसे बड़े भागों में (८ वें और ९ वें भाग में) ७५६ श्लोक हैं और वे दीवानी और फौजदारी के कानून से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें से बहुत से कानून प्राचीन सूत्रकारों के ही कानूनों के पुनरुल्लेख अथवा परिवर्तित रूप हैं।

प्राचीन भारतवर्ष में राजा न्याय का मूल था और मनु कहता है कि राजा को विद्वान ब्राह्मणों और अनुभवी मन्त्रियों को साथ लेकर न्यायालय में जाना चाहिये और वहां न्याय का कार्य करना चाहिये। यदि राजा स्वयं इस कार्य को न करे तो उसे तीन एसेसर की सहायता से इस कार्य को करने के लिये विद्वान ब्राह्मणों को नियत करना चाहिये। "जहां राजा के नियत किए हुए वेदों के जानने वाले तीन ब्राह्मण और एक विद्वान न्यायकर्ता बैठते हैं वह ब्रह्मा की सभा कही जाती है।" ८-१, २, ९, १०, ११) सत्य बोलने के लिये, जो आज्ञा दी गई हैं वह ऐसी गम्भीर और कड़ी हैं जैसी कि किसी विरले ही समय अथवा देश में रही होगी।

"या तो न्यायालय में जाना ही नहीं चाहिये अथवा जाय तो सत्य बोलना

चाहिये। जो मनुष्य या तो कुछ नहीं कहता (अर्थात् सत्य को छिपाता है) अथवा झूठ बोलता है वह पापी होता है।" (८-१३)

"न्यायालय में वादी और प्रतिवादी के सामने गवाहों के एकत्रित होने पर न्यायकर्त्ता को उन्हें कृपापूर्वक इस प्रकार समझाकर उनकी परीक्षा करनी चाहिये :—

हमारे सामने खड़े हुए दोनों मनुष्यों में इस विषय में परस्पर जो बातें हुई हों उनका जो वृत्तान्त तुम्हें विदित हो वह सब सत्य-सत्य कहो क्योंकि इस अभियोग में तुम साक्षी हो।

जो गवाह अपनी गवाही में सत्य बोलता है वह मृत्यु के पीछे सब से उत्तम स्वर्ग और इस लोक में अद्वितीय यश पाता है। ऐसी साक्षी का स्वयं ब्रह्म सत्कार करता है।

जो मनुष्य झूठी साक्षी देता है वह वरुण के बन्धन में बँधता है और १०० जन्मों तक दुःख पाता है। अतएव मनुष्यों को सत्य साक्षी देनी चाहिये।

सत्यता से, साक्षी देने वाला पवित्र होता है सत्यता से उसके यश की वृद्धि होती है अतः सब जाति के साक्षी देने वालों को सत्य बोलना चाहिये।

जीव की साक्षी स्वयं जीव है, जीव की शरण स्वयं जीव है। अपने जीव का, जो मनुष्यों का परम साक्षी है निरादर मत करो।

"पापी अपने मन में समझता है कि हमें कोई नहीं देखता। परन्तु देवता लोग उसको और उसके हृदय के भीतर के भाव को स्पष्ट देखते हैं।

आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि और दोनों गोधूली और न्याय सब देहधारी प्राणियों के कर्मों को जानते हैं। (८, ७९-८६)

इसके आगे जो आदेश किए गए हैं वे और भी गम्भीर हैं—

जो मनुष्य झूठी गवाही देगा वह नङ्गा होकर भूख और प्यास से व्यथित और अन्धा होकर अपने शत्रु के द्वार-द्वार ठिकरा लेकर भीख मांगेगा।

जो पापी मनुष्य न्यायकर्ता के एक प्रश्न का भी झूठ उत्तर देता है वह सीधे नर्क के पूर्ण अन्धकार में ठोकर खाता है। (८,९३, ९४)।

और आठवें भाग के १२३ वें श्लोक में यह कहा है कि जो मनुष्य झूठी साक्षी दे, उसे राजा को अपने देश से निकाल देना चाहिये।

जो लोग साक्षी देने के योग्य नहीं थे और जो साक्षी देने से बरी किए गए थे उनकी एक बड़ी सूची दी गई है। ऐसे मनुष्य जो अभियोग से सम्बन्ध रखते हों, जो वादी अथवा प्रतिवादी के मित्र अथवा शत्रु हों, जो पहले झूठी साक्षी देने के दोषी हो चुके हों और जो किसी पाप से कलङ्कित हों, वे लोग साक्षी देने के अयोग्य

समझे जाते थे। राजा, श्रोत्रिय, वेद पढ़ने वाले विद्यार्थी तथा शिल्पकार और भांड़ लोग साक्षी देने से बरी थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि ये नियम कठोरता से पालन किए जाने के लिये नहीं थे और आगे चलकर लिखा है कि उपद्रव, चोरी, व्यभिचार, बदनामी करने और मारपीट की अवस्थाओं में अर्थात् फौजदारी के अभियोगों में साक्षी की अयोग्यता के नियम का कठोरता से पालन नहीं करना चाहिये। (९, ६४, ६५, ७२)

मनु समस्त मुख्य कानूनों को १८ भागों में बांटता है—अर्थात् (१) ऋण (२) धरोहर (३) किसी सम्पत्ति के स्वामी हुए बिना उसे बेचना (४) साझा (५) दान का फेर लेना (६) वेतन न देना (७) प्रतिज्ञा का पालन न करना (८) बिक्री और खरीद की हुई वस्तु का लौटाना (९) स्वामी और सेवकों के झगड़े (१०) सीमा के सम्बन्ध के झगड़े (११) मार-पीट (१२) बदनामी करना (१३) चोरी (१४) डांका और उपद्रव (१५) व्यभिचार (१६) पति और पत्नी के कर्तव्य (१७) उत्तराधिकार पाना (१८) जुआ खेलना और बाजी लगाना। यह विदित होगा कि ११ से लेकर १५ संख्या तक तथा १८ संख्या के कानून फौजदारी से सम्बन्ध रखते हैं और शेष सब दीवानी से। मनु ने इन विषयों को जिस क्रम में रक्खा है उसी क्रम से हम भी उनका वर्णन करेंगे और प्रत्येक विषय में हमारा कथन अवश्य ही बहुत संक्षिप्त होगा।

(१) ऋण—इस विषय में मनु अपने समय के प्रचलित तौलों की एक सूची देता है। यह सूची सबसे छोटे तौल अर्थात् त्रसरेणु से आरम्भ होती है। त्रणरेणु उस जर्रे को कहते हैं जो कि किसी खिड़की के द्वारा आने वाली धूप में दिखलाई देता है।

८ त्रसरेणु	=	१ लिक्षा (ढील के अंडे)
३ लिक्षा	=	१ राई
३ राई	=	१ सरसों
६ सरसों	=	१ यव
३ यव	=	१ क्रिश्मल अथवा रक्तिका
५ रक्तिका	=	१ माश
१६ माश	=	१ सुवर्ण
४ शवर्ण	=	१ पल
१० पल	=	१ धरन
२ क्रिश्मल (चाँदी का)	=	१ माशक (चांदी का)

१६ माशक	=	१ धरन (चांदी की)
१ कर्ष तांबे का	=	१ कार्षापण अथवा पण
१० धरन (चाँदी)	=	१ शतमान
४ सुवर्ण	=	१ निष्क

(८, १३१ १३७)

ऋण पर व्याज के विषय में मनु ने वसिष्ठ के धर्मसूत्र को उद्धृत किया है। वह कहता है कि "ऋण देने वाला अपनी पूँजी की वृद्धि के लिये वसिष्ठ के कहे अनुसार व्याज तै कर सकता है और प्रति मास सौ का ८० वाँ भाग ले सकता है। यह पन्द्रह रुपये सैकड़ा वार्षिक व्याज हुआ और यह व्याज जमानत पर लिया जाता था, परन्तु बिना जमानत के ऋण पर व्याज ऋण लेने वाला यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो तो उसी के अनुसार २४) रु०, ३६) रु० ४८) रु० अथवा ६०) रु०, सैकड़ा होता था। (८, १४०-१४२)। परन्तु यह कहना अनावश्यक है कि व्याज का यह क्रम केवल नाम मात्र को था और ऋण लेने वाले की जाति की अपेक्षा उसका रुपया चुकाने की योग्यता पर अधिक ध्यान देता था।

ऐसा जान पड़ता है कि ऋण लेने वाला अन्य सम्पत्ति की तरह दासियों को भी गिरो रख सकता था। (८, १४९) यदि गिरों रखने की वस्तु ऐसी हो जिससे कुछ आय होती हो (यथा भूमि) तो व्याज नहीं लिया जाता था (८, १४३)। साठ रुपये सैकड़ा वार्षिक व्याज अधिक से अधिक था (८, १५२), परन्तु जिस अवस्था में व्यापारी लोग समुद्र यात्रा करते थे उनमें सम्भवतः जोखिम के बीमे के लिये, विशेष व्याज लिया जा सकता था (८, १५७) अन्त में यह भी कहा है कि जो प्रतिज्ञाएँ नशे की अवस्था में अथवा नियम और रीति के विरुद्ध अथवा छल अथवा जबरदस्ती की जाती थीं वे नजायज समझी जाती थीं। (८, १६३-१६८)

(२) धरोहर—जिस मनुष्य के यहां खुली हुई अथवा बन्द मोहर की हुई धरोहर रक्खी जाती थी वह कानूनन उसे लौटा देने के लिये बाध्य था, यदि वह धरोहर चोरी न गई हो, पानी में बह न गई हो अथवा आग में जल न गई हो। यह जान पड़ेगा कि बेइमानी करके बिना धरोहर रक्खी हुई वस्तु को माँगना और धरोहर को लौटाने के समय नकार जाना किसी भाँति अविदित नहीं था, और इन दोनों अवस्थाओं में दोषी को चोर की भाँति दंड दिया जाता था। (८, १९१)

(३) बिना अधिकार के सम्पत्ति को बेचना-ऐसी विक्री नाजायज समझी जाती थी और वेचने वाला यदि सम्पत्ति के स्वामी का कोई सम्बन्धी हो तो उसे

६०० पण का दंड लगाया जाता था और यदि सम्बन्धी न हो तो उसे चोर की भाँति दंड दिया जाता था। (१८९, १९९)

(४) साझा--जान पड़ता है कि जो पुरोहित मिलकर किसी धार्मिक कृत्य को करवाते थे उनमें दान का बटवारा करने में बहुधा झगड़े उठते'थे। मनु कहता है कि अध्वयु को रथ, ब्राह्मण को घोड़ा, होत्रि को भी घोड़ा और उद्धातृ को गाड़ी लेनी चाहिए। यह स्मृतिकार कहता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार साथ मिलकर कार्य करने वालों में बटवारा होना चाहिए। इस सिद्धान्त का अभिप्राय, जो कि कुछ अस्पष्ट है, यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्य के अनुसार हिस्सा पाना चाहिये।

(५) दान का फेर लेना—यदि किसी पुण्य के कार्य के लिये कुछ दान किया जाय और यदि जिस कार्य के लिये द्रब्य दिया गया हो और उस कार्य में वह न लगाया जाय तो दान फेर लिया जा सकता था। (८, २१२)

(६) वेतन न देना--इसके लिये कानून बहुत साधारण था अर्थात् मजदूर जब तक प्रतिज्ञा के अनुसार अपना कार्य पूर्ण न करे तब तक उसे वेतन नहीं दिया जाता था। (८, २१७)

(७) प्रतिज्ञा का पालन न करना--प्रतिज्ञा करने के उपरान्त उसे भङ्ग करने के लिये बड़ा कड़ा दंड किया जाता था, ऐसा अपराधी देश से निकाल दिया जाता था, कैद कर लिया जाता था और उस पर चार-चार सुवर्ण के छ निष्क और चाँदी का एक शतमान दंड लगाया जाता था। (८, २१९, २२०)

(८) बिक्री और खरीद की हुई वस्तु को लौटना—यह एक बड़ा अद्भुत नियम है कि खरीदने वाला अथवा बेचने वाला दस दिन के भीतर यदि चाहे तो बेची हुई वस्तु को लौटा सकता था। भाष्यकारों ने कहा है कि नियम केवल उन वस्तुओं के लिये था जो कि सहज में नष्ट नहीं हो सकतीं, यथा भूमि, तांबा इत्यादि। (८, २२२)

(९) पशुओं के स्वामियों और उनके दासों के झगड़े-पशुओं के स्वामी और उनके दासों मे सम्भवतः बहुधा झगड़े उठते थे और इस विषय के नियम कुछ सूक्ष्मता के साथ वर्णन किए गए हैं। दिन के समय पशु की रक्षा का उत्तरदाता चरवाहा होता था और रात्रि के समय उसका स्वामी। अर्थात् यदि रात्रि के समय वह स्वामी के घर में रहे। यदि चरवाहे को किसी प्रकार की मजदूरी न मिले तो वह दस में से एक 'गाय का दूध ले सकता था। जो पशु उसकी असावधानी से खो जाय उनके लिये वह उत्तरदाता होता था। यथा यदि कोई भेड़िया बकरी और

बकरों पर आक्रमण करे और चरवाहा उनकी रक्षा का यत्न न करे तो इस हानि के लिये वह उत्तरदायी होता था। प्रत्येक गाँव और प्रत्येक नगर के चारों ओर चरभूमि रखने का नियम था जिसका कि दुर्भाग्यवश आजकल लोप हो गया है। गाँव के चारों ओर १०० धनु चौड़ी भूमि पशुओं को चरने के लिये छोड़ी जाती थी और नगर के चारों ओर इस कार्य के लिए इसकी तिगुनी भूमि होती थी। यदि कोई पशु इस चर भूमि में किसी बिना घिरे हुए खेतों के अन्न की हानि करे तो चरवाहा उसके लिए उत्तरदायी नहीं होता था। परन्तु इस चरभूमि के बाहर के खेत घिरे हुए नहीं रहते थे और यदि पशु वहाँ तक चला जाय और खेती को हानि पहुँचावे तो प्रत्येक पशु पीछे सवा पण का दण्ड लगाया जाता था और उसके सिवाय जितनी हानि हो उसे भी देना पड़ता था। (८, २३०-२४१)

(१०) सीमा सम्बन्धी झगड़े—इस विषय के कानून से हमें उस समय के ग्रामों और खेती की अवस्था का एक अद्भुत वृत्तान्त प्रगट होता है। भारतवर्ष में वर्ष भर में ज्येष्ठ (मई जून) का महीना सबसे सूखा है और यह कहा गया है कि दो गाँवों के बीच की सीमाओं के सब झगड़ों का निर्णय इसी मास में होना चाहिये। ये सीमाएँ प्रायः अश्वत्थ, किंसुक अथवा कोई दूसरे वृक्षों के द्वारा अथवा तालाब, कुएँ, कुन्ज और स्रोतों द्वारा प्रगट की जाती थीं। सीमा का निर्णय करने के छिपे हुए चिन्ह छोड़ दिये जाते थे और जहाँ दो सीमाएँ मिलती थीं वहाँ पत्थर, हड्डियाँ कंकड़ इत्यादि गाड़ दिये जाते थे।

जहाँ इन चिन्हों के द्वारा सीमा का निर्णय नहीं किया जा सकता था वहाँ गाँव के निवासियों की साक्षी ली जाती थी और उन लोगों से भी निर्णय न होने पर शिकारियों, बहेलियों, चारवाहों, मछुवाहों, सपेरों, बनरखां और बीनने वालों की साक्षी ली जाती थी। यदि इनमें से किसी प्रकार से सीमा का निर्णय न हो सके तो उस अवस्था में राजा के लिए कहा गया है कि अपने में से उदारता के साथ झगड़ा करने वाले गावों में से किसी की भी जो हानि सम्भव जान पड़ती हो उसे पूरा करदे। (८, २४५-२६५)

(११) और (१२) मार पीट और बदनामी करना--अब हम फौजदारी के कानून के विषय पर आए और इससे हमें फिर उस हानिकारक प्रणाली का प्रभाव मिलता है, जिसने कि हिन्दू सभ्यता और जीवन की प्रत्येक बातों में अपना प्रभाव डाला है। ब्राह्मण यदि किसी क्षत्रिय की बदनामी करे तो उसे ५० पण का दण्ड लगता था, वैश्य की बदनामी करने के लिये २५ पण और शूद्र की बदनामी करने के लिए केवल १२ पण, परन्तु यदि शूद्र किसी ब्राह्मण की बदनामी करे तो उसकी जीभ काट

लेनी चाहिये। यदि वह किसी द्विजाति के नाम और जाति की निन्दा करे तो उसके मुँह में दस अंगुल लम्बा लोहे का कील गरम करके डालना चाहिए। (८, २६८-२७१) यह नहीं समझना चाहिये कि वास्तव में दन्ड इस तरह पर दिया जाता था अथवा कोई ब्राह्मण न्यायकर्ता भी किसी शूद्र को, क्रोध में किसी ब्राह्मण को कटु वाक्य कह देने के कारण इतना भारी दण्ड देकर अपने को कलंकित करता था। ब्राह्मण लोग वास्तव में जैसे थे उसकी अपेक्षा उन्होंने अपने को बुरा दिखलाया है और कानून जो कि बिचारे शूद्र के लिये निस्सन्देह कठोर था वह एकदम ऐसा जंगली नहीं था जैसा कि वह कहा गया है। "जिस इन्द्री से नीच जाति का कोई मनुष्य उच्च जाति के किसी मनुष्य को हानि करे उस इन्द्री को काट डालन चाहिये"—यह मनु की शिक्षा है (८,२७९)। परन्तु मनु का सत्कार करते हुए भी हमलोग इस बात में सन्देह कर सकते हैं कि उसके देश वासियों ने इस शिक्षा के अनुसार कार्य करके अपने को कभी कलंकित किया हो ?

बदनामी करने के लिये साधारण दण्ड १२ पण था (८,२६९) और प्रकार चोट पहुंचाने के लिये कि जिससे देह का चमड़ा कट जाय १०० पण। यदि माँस कट जाय तो उसके लिये ६ निष्क का दण्ड लगाया जाता था और हड्डी टूट जाय तो अपराधी देश के वाहर निकाल दिया जाता था। (८, २८४)

हानि करने के लिये जितने की हानि हो उसी के बराबर दण्ड लगाया जाता था परन्तु यदि हानि थोड़े की हुई हो तो उसका पचगुना दण्ड लगाया जाता था। (२, २८८-२८९)

(१३ और १४) चोरी और डांका—चोरों को दण्ड देने के लिये बहुत ही अधिक उपाय किए जाते थे क्योंकि यदि राजा "चोरों को दण्ड दे तो उसके यश और राज्य की वृद्धि होती थी" (८, ३०२) और जो राजा संपत्ति की रक्षा नहीं करता और फिर भी अपना कर लगान और जुर्माना लेता है वह शीघ्र नर्क में जायगा। (८, ३०७)

चोरों को भिन्न-भिन्न दण्ड लगाये जाते थे अथवा उनको शारीरिक दण्ड दिया जाता था एवं उनका हाथ काट लिया जाता था। जब चोरी स्वामी के सामने (अर्थात् बलात) की जातीं थीं तो वह डांका कहलाता था। (८, ३१९-३३२) बलात् चोरी करना एक बड़ा भारी अपराध समझा जाता था परन्तु जब कोई मनुष्य डकैतों से आक्रमण किया जाय तो उस अथवा में अथवा ऐसी अन्य अवस्थाओं में उसे अपनी रक्षा करने का अधिकार था। (८, ३४५—३५०)

(१५) व्यभिचार—यह अपराध भारतवर्ष में सदा से बड़ी घृणा की दृष्टि

से देखा गया है और व्यभिचार करने वाले को यदि वह ब्राह्मण न हो तो प्राण दण्ड दिया जाता था। क्योंकि चारों जातियों की स्त्रियों की सदा बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। (८, ३५९) किसी अविवाहिता स्त्री का बिना इच्छा के सतीत्व नष्ट करने के लिये शारीरिक दण्ड दिया जाता था अथवा दो अंगुलियाँ काट ली जाती थीं और ६०० पण का आर्थिक दण्ड लगाया जाता था, (८, ३६४, ३६७) परन्तु इससे भी अधिक भयानक दण्ड लिखे हैं। जो स्त्री किसी दूसरे को बिगाड़े उसे कोड़े लगाये जाते थे और आर्थिक दण्ड दिए जाते थे। व्यभिचारिणी स्त्री कुत्तों से चुंथवाई जाती थी और व्यभिचारी मनुष्य अग्नि में जला दिया जाता था। (८, ३६९, ३७१, ३७२) परन्तु इसमें सन्देह है कि ये कानून कभी काम में लाए जाते रहे हों।

आगे चल कर इससे काम कठोर दंड रखे गये हैं। जो शूद्र किसी द्विज जाति की स्त्री से व्यभिचार करे उसकी इन्द्री काट ली जाती थी। जो वैश्य अथवा क्षत्री किसी ब्राह्मणी से यह अपराध करे तो वह कारागार में भेजा जाता था अथवा उसे भारी आर्थिक दंड दिया जाता था। कोई ब्राह्मण यदि अपनी जाति की स्त्री से ऐसा व्यवहार करे तो उसे भारी आर्थिक दंड लगाया जाता था (८, ३७४-३७८)। ब्राह्मण को "चाहे वह कैसा ही अपराध क्यों न करे" कभी प्राण दंड नहीं दिया जाता था "ब्राह्मण के बध करने से बढ़ कर इस पृथ्वी पर दूसरा पाप नहीं है" (८, ३८०, ३८१)

फौजदारी के कानूनों के अध्याय के अन्त में मनु ने कुछ फुटकर नियम दिए हैं। जो यज्ञ करने वाला अपने पुरोहित को छोड़ दे, अथवा जो पुरोहित अपने यज्ञ करने वालों को छोड़ दे, जो पुत्र अपने माता पिता को छोड़ दे, जो ब्राह्मण अपने पड़ोसियों को निमंत्रण न दे और जो श्रोत्रिय दूसरे श्रोत्रियों को निमंत्रण न दे, वे सब आर्थिक दंड देने योग्य होते थे। बेइमान धोबियों और कपड़ा बुनने वालों के भी नियत दंड हैं। राजा वाणिज्य की सब वस्तुओं पर उनके मूल्य के अनुसार पाँच रुपये सैकड़े का कर लगा सकता था। वह कुछ वस्तुओं की विक्री का अधिकार केवल अपने ही हाथों में रख सकता था और जो लोग उन वस्तुओं को बेंचे उनको दंड दे सकता था। वह नगर में आने वाली वस्तुओं और नगर से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर कर और चुङ्गी लगा सकता था और यह भी कहा जा सकता है कि वह सब विक्री को वस्तुओं का मूल्य स्थिर कर सकता था परन्तु इसे कभी किसी राजा ने नहीं किया है। राजा सब बटखरों और नापों को निश्चित करता था, घाट का कर निश्चित करता था, वैश्यों को व्यापार करने, रुपया उधार देने और भूमि

जोतने बोने की आज्ञा देता था और शूद्रों को द्विजों की सेवा करने की आज्ञा देता था।

गुलाम सात प्रकार के कहे गए हैं अर्थात् युद्ध के कैदी, नित्य भोजन पर कार्य करने वाले, गुलाम की सन्तान, खरीदे हुये अथवा दूसरों के दिए हुए गुलाम और वे मनुष्य जो दंड पाने के बदले गुलाम बनाए गए हों। (८, ३८८-४१५)

(१६) पति और पत्नी—मनु इस विषय को स्त्रियों के मनुष्यों के अधीन होने के वर्णन से आरम्भ करता है और उसने स्त्रियों के विषय में कुछ कहावतें भी दी हैं जो कि कदाचित् उसके समय में समझी जाती हों परन्तु वे मनु के लिए अयोग्य हैं, क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि सब बातों पर विचार कर मनु ने स्त्रियों को एक उच्च और सत्कार योग्य स्थान दिया है।

हम देख चुके हैं कि मनु ने विधवा से सन्तान उत्पन्न करने की प्राचीन रीति के सम्बन्ध में किस भांति अपने ही वाक्यों का खंडन किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि सन् ईस्वी के बाद सर्व साधारण लोग इस रीति के कैसे विरुद्ध थे। हम यह भी देख चुके हैं कि विधवा विवाह किस प्रकार घृणित होता जाता था, यद्यपि वह निस्सन्देह मनु के समय में भी प्रचलित था और बाल विधवा के विवाह के लिए स्पष्ट आज्ञा दी गई है। (९,६९) फिर मनु इस प्राचीन नियम को लिखता है कि स्त्री को अपने पति के लिये, यदि वह धर्म कार्य के लिए गया हो तो आठ वर्ष तक ठहरना चाहिये और यदि वह विद्या, अथवा यश के उपार्जन के लिये गया हो तो उसे छः वर्ष तक और यदि सुख के लिये गया हो तो तीन वर्ष तक ठहरना चाहिये। एक भाष्यकार लिखता है कि इस समय के उपरान्त उसे दूसरा विवाह कर लेना चाहिए और यही इस प्राचीन नियम का अभिप्राय भी जान पड़ता है।

स्त्री को मदिरा पीने वाले पति के साथ घृणा नहीं करनी चाहिये परन्तु पागल अथवा जाति से निकाले हुए पति अथवा किसी ऐसे पति से जो रोग से पीड़ित हो, जो पापों के दंड के कारण होते हैं वह घृणा प्रगट कर सकती है। मदिरा पीने वाली स्त्री, राजद्रोही अथवा रोगी स्त्री, ऐसी स्त्री जिसे कि सन्तान न होती हो अथवा केवल कन्या हो उसका पति दूसरा विवाह कर सकता था (९, ७८-८१)। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि वह उस स्त्री को बिल्कुल त्याग दे वरन् उस स्त्री को उसे ही घर में रखना चाहिये और उसका पालन करना चाहिए (९, ८३)

"परस्पर प्रीति तथा विश्वास मृत्यु तक होना चाहिए" यह पति और स्त्री के लिए सबसे बढ़ कर नियम है।

(१७) पैत्राधिकार—इस आवश्यक विषय का वर्णन १०० से अधिक सूत्रों में दिया है (९, १०४-२२०) परन्तु हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम इस विषय के कानून का ब्योरेवार वर्णन करें। पिता और माता की मृत्यु के उपरान्त भाई लोग संपत्ति को अपने में बराबर-बराबर बांट सकते थे (९, १०४) अथवा सबसे बड़े भाई के अधीन रह कर वे सब मिल कर रह सकते थे और इस अवस्था में बड़ा भाई ही सारी सम्पत्ति का प्रबन्ध करता था (९, १०५)। परन्तु भाइयों का जुदा होना निन्दनीय नहीं समझा जाता था वरन् इसके विरुद्ध वह प्रशंसनीय कहा गया है (९, १११)। सबसे बड़े और सबसे छोटे पुत्रों को सम्पत्ति के बँटवारे में कुछ अधिक भाग मिलता था (९, ११२-११७)। कुमारी बहिनों के लिये प्रत्येक भाई को अपने हिस्से का चौथाई देना चाहिये (९, ११८) परन्तु भाष्यकारों ने इसका अर्थ यह कहा है कि भाइयों को अपनी कुंआरी बहिनों के दहेज का प्रबन्ध करना चाहिये। अध्याय ९, सूत्र १२०, १४६ इत्यादि स्थानों में उसे पुत्र के लिये हिस्सा लिखा है जो कि बड़े भाई की स्त्री अथवा विधवा से छोटे भाई के द्वारा उत्पन्न हो परन्तु अन्यत्र मनु ने इस व्यवहार की निन्दा की है। फिर जिस मनुष्य को पुत्र न हो वह अपनी कन्या को उसके पति से यह कह कर नियुक्त कर सकता है, कि उसको जो पुरुष सन्तान उत्पन्न होगी वह मेरी अन्त्येष्टि क्रिया करेगी। जब ऐसा किया जाता था तो पौत्र और नियुक्त कन्या के पुत्र में कोई भेद नहीं समझा जाता था (९, १२७ १३३)। ९, १४१ और २४२ में पुत्र गोद लेने का अधिकार दिया है।

सदा की तरह मनु १२ प्रकार के पुत्रों के विषय में भी प्राचीन सूत्रकारों के नियमों को लिखता है, यद्यपि अपने समय में अपनी सम्मति के अनुसार मनु इनमें से अंतिम ११ पुत्रों "सच्चे पुत्र" के पलटे में बुरा प्रतिनिधि कहता है (९, १६१)। १२ प्रकार के पुत्र ये हैं—औरस अर्थात् विवाहिता स्त्री का पुत्र, क्षेत्रज अर्थात् किसी रोगी मनुष्य की स्त्री अथवा किसी विधवा से उत्पन्न किया हुआ पुत्र, दात्रिम अर्थात् गोद लिया हुआ पुत्र, कृत्रिम अर्थात् बसाया हुआ पुत्र, गूधोत्पन्न अर्थात् गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र जिसके पिता का पता न होने के कारण उसे उसकी माता के पति का पुत्र समझना चाहिये, अपविद्ध अर्थात् जिस पुत्र को उसके माता पिता ने त्याग दिया हो और दूसरा मनुष्य उसे पुत्र की भाँति रक्खे, कानीन अर्थात् अविवाहिता स्त्री का पुत्र जो कि उस पुरुष का पुत्र समझा जाना चाहिये जो उस स्त्री के साथ पीछे विवाह करे, सहोध अर्थात् उस स्त्री का पुत्र जिसका विवाह गर्भवती होने की अवस्था में किया जाय, क्रीतक अर्थात् मोल लिया हुआ पुत्र, पौनर्भव अर्थात् विधवा के दूसरे विवाह का पुत्र, स्वयं दत्त अर्थात् वह बालक जिसके

माता-पिता न हों और वह अपने को किसी दूसरे के पुत्र की भांति दे दे और पारसव अर्थात् ब्राह्मण का किसी शूद्र स्त्री के साथ उत्पन्न हुआ पुत्र (९, १६७-१७८)।

इन बारहों प्रकार के पुत्रों में से प्रथम छः प्रकार के पुत्र सम्बन्धी और उत्तराधिकारी समझे जाते हैं और अन्तिम छओं पुत्र केवल सम्बन्धी समझे जाते हैं (९, १५८) और इन सब पुत्रों में से एक के न होने पर उसके उपरान्त की श्रेणी का पुत्र पैत्राधिकार पाता था (५,१८४)। सन्तान, पिता और भाई के न होने पर मनुष्य की सम्पत्ति उसके सबसे निकटवर्ती सम्बन्धी को मिलती थी जो कि तीन पीढ़ी के भीतर हो और ऐसे सम्बन्धी के न होने पर किसी सकुल्य को, अथवा उसके उपरान्त धर्म के गुरु अथवा शिष्य को और उसके भी न होने पर ब्राह्मणों को मिलती थी। (९, १८७, १८८)

स्त्रीधन अथवा स्त्रियों की विशेष सम्पत्ति वह कही गई है जो कि विवाह की अग्नि के सामने अथवा विवाह में दी जाय अथवा जिसे पति प्रीति के चिन्ह की भाँति अथवा भाई माता अथवा पिता उसे दे। (९, १९४)

माता की मृत्यु के उपरान्त उस माता के सब पुत्र और कन्या माता की सम्पत्ति को बराबर-बराबर बाँट लें। (९, १९२)

(१८) जूआ खेलना और बाजी लगाना इत्यादि—ये दोनों पाप राजाओं के राज्य को नाश करने वाले होते हैं इसलिये राजाओं को सम्मति दी गई है कि वे इन्हें अपने राज्य से दूर रक्खें। इस पाप के लिये शारीरिक दण्ड लिखा गया है (९, २२४) और इस पाप के करने वालों तथा नाचने वालों, गाने वालों और नास्तिक लोगों अर्थात् बौद्धों को देश से निकाल देने के लिये भी लिखा है। (९, २२५)

जाल से राज्य आज्ञाओं को बनाने के लिये, मन्त्रियों को घूस देने के लिये, स्त्रियों बच्चों और ब्राह्मणों का बध करने के लिये और राजद्रोह के लिये प्राण दण्ड कहा गया है। (९, २३२) गुरु की पत्नी के साथ व्यभिचार करने, मदिरा पीने, ब्राह्मण का धन चुराने अथवा ब्राह्मण का बध करने के लिये सिर के दागने का दण्ड लिखा है। जो चोर चोरी की वस्तुओं और सेंध लगाने के औजारों के सहित पकड़ा जाय वह तथा जो लोग चोर को आश्रय देवें वे जान से मारे जा सकते थे (९, २७०, २७१)। डाकुओं, घर लूटने वालों, गिरहकटों तथा अन्य ऐसे ही लोगों के हाथ अथवा दो उङ्गलियां काट ली जानी चाहिये। (९, २७६, २७७)

तालाबों की बाँध को नष्ट करने के लिये, प्राण दंड अथवा कोई दूसरा कठोर दंड कहा गया है (९, २७९) और जो वैद्य अपने रोगियों की उलटी चिकित्सा करें उसके लिये अर्थ दंड लिखा है। (९, २८४) वाणिज्य की वस्तुओं में खोटी

वस्तु मिलाने के लिये, और सब प्रकार की दुष्टता के लिये, अन्न की विक्री में ठगने के लिये, सुनारों की बेइमानी के लिये और खेती के औजारों की चोरी के लिए भिन्न-भिन्न दंड कहे गए हैं (९, २५८-२९३)।

कानून के विषय में अध्यायों के सिवाय मनु ने पाप के प्रायश्चित इत्यादि के लिए एक जुदा अध्याय दिया है और उसके विषय में बहुत थोड़ी बातों से विदित हो जायगा कि उस समय में भारी पाप कौन-कौन समझे जाते थे ।

प्रायश्चित—यहाँ फिर हमें यह उल्लेख मिलता है कि "ब्राह्मण का बध करना, सुरा पीना, ब्राह्मण का द्रव्य चुराना, गुरू की स्त्री से व्यभिचार करना और इन पापों के करने वाले मनुष्यों का संग करना ये सबसे भारी पाप अर्थात् महापातक हैं।" (११,५५) पाठक देखेंगे कि ये वे ही महापातक हैं। जिनका कि वशिष्ट ने वर्णन किया है। इसके सिवाय और भी पातक लिखे हैं जोकि इनके बराबर कहे गए हैं। ऐसे पातकों में ये हैं अर्थात् झूठी साक्षी देना, अपने गोत्र में व्यभिचार करना, कुमारी स्त्रियों को नष्ट करना, अपने माता-पिता का त्याग और वेदों पर ध्यान न देना।

महापातकों से घट कर उपपातक हैं जिनमें हम इन पातकों को पाते हैं अर्थात् गृह्य अग्नि की असावधानी, गौ का वध, चोरी, ऋण न चुकाना, ब्रात्य होकर रहना और अन्त में और बड़ी आश्चर्य जनक बात हैं कि—खानों और कारखानों का निरीक्षण करना तथा बड़े-बड़े यन्त्रों द्वारा कार्यों को करना जिसका कि भाष्यकारों ने यह अर्थ बतलाया है कि बांध बांधना अथवा चीनी की कल तथा इसी प्रकार की अन्य बड़ी-बड़ी कल बनाना (९,६०,६७) है। भारतवर्ष में जाति भेद के हानि कारक फल ने शिल्प और शिल्पकारों को नीच बना दिया परन्तु यह बड़े ही पश्चाताप और दुःख की बात है कि हिन्दू ग्रन्थकार को यह लिखना पड़ता है कि कल पुर्जों के काम ही वास्तव में पाप समझे जाते थे। मनुस्मृति के बनने के समय के सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स साहब के समय से बहुत कुछ वादाविवाद हुआ है परन्तु अब यह साधारणतः स्वीकार किया जाता है कि उसका जो संग्रह अब मिलता है वह ईसा के एक अथवा दो शताब्दी के पहले अथवा पीछे का बना हुआ है। उसमें (१०, ४४) यवनों को चीन देश के लोगों तथा शक और कम्भोज लोगों का उल्लेख है और इससे उसके बनने का समय काफी तरह से निश्चित होता है। यह ग्रन्थ, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, भारतवर्ष के प्राचीन सूत्रों जिनके आधार पर यह बना हुआ है और पौराणिक समय के धर्म शास्त्र जिनका की हम आगे के अध्याय में वर्णन करेंगे, इनके बीच के समय का है। सूत्रों की तरह वह किसी

विशेष वैदिक समय से सम्बन्ध नहीं रखता परन्तु वह समस्त आर्यों का कानून है और धर्म शास्त्र के भी विरुद्ध मनु अपने समय तक हिन्दू त्रिमूर्ति अथवा पौराणिक कथाओं को नहीं जानता, मूर्ति पूजा को नहीं मानता और मन्दिरों तथा पुजारियों को घृणा की दृष्टि से देखता है और वैदिक विधानों और यज्ञों का मंडन करता है।

———

चवालीसवां अध्याय

ज्योतिष और विद्या

पूर्व अध्यायों में हम बौद्ध काल में हिन्दुओं के इतिहास, उनकी राजनीति की अवस्था, उनके शिल्प, गृहनिर्माण विद्या और उनके सामाजिक जीवन तथा नियमों का वर्णन कर चुके हैं। अब उस समय में उनकी विद्या की उन्नति के विषय में हमें कुछ वाक्य कहने हैं। दुर्भाग्यवश इस विषय में हमें जो सामिग्रियाँ मिलती हैं वे बहुत ही थोड़ी हैं—कदाचित् प्राचीन हिन्दू इतिहास के अन्य किसी समय से भी थोड़ी हैं।

इसके कारण भी स्पष्ट है। पाँच अथवा छ शताब्दियों तक भारतवर्ष विदेशियों के आक्रमण और युद्ध का स्थान बना रहा और इस समय में साहित्य और शास्त्रों की जैसी उन्नति स्वाभाविक रीति पर होनी चाहिए न हो सकी। उस समय जो बातें विदित भी हुई उनमें से अधिकांश बौद्ध प्रभाव के द्वारा हुई और इसके पीछे के हिन्दू लेखकों ने उन बातों को रक्षित रखने में सावधानी नहीं की है। अन्त में इस समय में जिन शास्त्रों के जो ग्रन्थ बनाए गए थे उनका स्थान अधिक-तर इसके बाद के पौराणिक काल में बने हुए उत्तम ग्रन्थों ने ले लिया है। इन सब कारणों से बौद्ध काल के साहित्य और शास्त्रों का बहुत ही थोड़ा अंश अब प्राप्त है।

परन्तु फिर भी भारतवर्ष में बुद्धि विषय के उद्योग किसी समय में भी नहीं छोड़े गए थे और हिन्दू इतिहास के किसी समय में भी "विद्या सम्बन्धी अवकाश" कभी नहीं माना गया। बौद्ध समय में इस सम्बन्ध में जो उन्नति हुई थी उसके चिन्ह हम लोगों को अब तक मिलते हैं।

हम दार्शनिक काल के वृत्तान्त में हिन्दुओं के छ दर्शन शास्त्रों का वर्णन कर

चुके हैं परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि उनमें से कुछ दर्शनों यथा पातञ्जलि के योग और वादारायण व्यास के वेदान्त का प्रारम्भ बौद्ध काल ही में हुआ था और इसी काल में इन छओं दर्शनों में बहुत कुछ उन्नति की गई थी। इसके अतिरिक्त इस काल में पातञ्जलि ने पाणिनी के व्याकरण पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा है जो कि बौद्ध काल की उन्नति का एक स्मारक है।

धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों में मनुस्मृति बौद्ध काल में बनाई थी और नालन्द तथा अन्य विद्यापीठों की बहुत सी बौद्ध धर्म की पुस्तकें इस काल में बनीं। पद्य का हम लोगों को बहुत ही थोड़ा अंश प्राप्त है जो कि निश्चय रूप से इसी काल का बना हुआ है परन्तु फिर भी अर्वाचीन संस्कृत पद्य का आरम्भ इसी काल से हुआ है। गुप्त वंशी राजाओं के शिलालेखों से हमें विदित है कि इस समय में उस सुन्दर तथा गम्भीर पद्य की कदर की जाती थी, कविता का सत्कार राज सभाओं में किया जाता था और गुप्त वंश का सबसे बड़ा राजा समुद्रगुप्त जिसने कि चौथी शताब्दी की समाप्ति के लगभग राज्य किया स्वयम् कवि था और उसकी सभा के कवियों ने उसे कविराज की पदवी दी थी।

परन्तु बौद्ध काल में सबसे अधिक उन्नति ज्योतिष शास्त्र में हुई थी। हम पहले देख चुके हैं कि ज्योतिष सम्बन्धी वेध वैदिक काल में ही किए जा चुके थे और ऐतिहासिक काव्य काल में चन्द्रराशिचक्र स्थिर किया गया था। अयन सम्बन्धी विन्दुओं का स्थान देखा जा चुका था तथा अन्य बातें भी ध्यान पूर्वक देखी और लिखी जा चुकी थीं। परन्तु इन कालों अथवा दार्शनिक काल का भी ज्योतिष का कोई ग्रन्थ हम लोगों को अब नहीं मिलता। ज्योतिष का भी सब से प्राचीन ग्रन्थ जिसके विषय में कि हमें कुछ विदित है अथवा जो हमलोगों को अब प्राप्त है, बौद्ध काल का है।

हिन्दू ग्रन्थकारों ने १८ प्राचीन सिद्धान्त अर्थात् ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश अब प्राप्त नहीं हैं। उनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१	परासर सिद्धान्त	६	वशिष्ट सिद्धान्त
२	गर्ग ”	७	अत्रृ ”
३	ब्रह्म ”	८	कश्यव ”
४	सूर्य ”	९	नारद ”
५	व्यास ”	१०	मरिचि ”

११ मनु सिद्धान्त	१५ च्यवन सिद्धान्त
१२ अंगीरस ”	१६ यवन ”
१३ रोमक ”	१७ भृगु ”
१४ पुलिश ”	१८ सौनक अथवा सोम ”

इनमें से कुछ सिद्धान्तों के संक्षिप्त विवरण से बौद्ध काल के शास्त्रों की उन्नति का वृतान्त विदित हो जाएगा और हम यह बात पहले से कह देंगे कि हिन्दुओं ने इस काल में अधिकांश ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान यूनानियों से प्राप्त किया जिन्होंने कि इस शास्त्र की बड़ी सफलता के साथ उन्नति की थी।

प्रोफेसर बेवर साहब कहते हैं कि हिन्दू ज्योतिषियों में पराशर सबसे प्राचीन है और समयक्रम से उसके उपरान्त गर्ग हैं। पराशर के विषय में हमें इसके अतिरिक्त और कोई बात विदित नहीं है कि उसका नाम वेद से सम्बन्ध रखता है। वह ग्रन्थ जिसमें पराशर की शिक्षाएं दी हुई कही जाती हैं, पराशर तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध था। पौराणिक समय में वह बड़े सत्कार की दृष्टि से देखा जाता था और बाराहमिहिर ने बहुधा इस ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत किए हैं। इन अनेक उद्धृत वाक्यों को देखने से विदित होता है कि उनका अधिकांश, कम से कम उनका एक बड़ा अंश गद्य में लिखा है जो कि इस श्रेणी के ग्रन्थों के लिए एक विशेषता है। इसका बहुत-सा भाग अनुष्टुप छन्द में है और इसमें आया छन्द भी है। भारतवर्ष के भूगोल जानने वालों के लिए उसमें एक पूरा अध्याय है जिसको कि बाराहमिहिर ने केवल रूप बदल कर परन्तु ज्यों का त्यों रख कर बृहत् संहिता के १४वें अध्याय में दिया है। पराशर ने पश्चिमी भारतवर्ष में यवनों अथवा यूनानियों के होने का उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि इस ग्रन्थ का समय ईसा के २०० वर्ष के अधिक पहले का नहीं है।

गर्ग के विषय में हमें इससे कुछ अधिक वृतान्त विदित है और वह उन हिन्दू ग्रन्थकारों में है जिससे कि हमें भारतवर्ष में ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में यूनानियों के आक्रमण का कुछ वृतान्त विदित होता है। वह यून जाति के विद्वानों का भी सम्मान करता था यद्यपि वे म्लेछ समझे जाते थे। उसका निम्नलिखित वाक्य प्रसिद्ध है और वह बहुधा उद्धृत किया जाता है—“यवन लोग (यूनानी लोग) म्लेच्छ हैं परन्तु वे लोग इस शास्त्र (ज्योतिष शास्त्र) को अच्छी तरह से जानते हैं। इसलिए उन लोगों का ब्राह्मण ज्योतिषियों से कहीं बढ़ कर ऋषियों की तरह, सत्कार किया जाता है।”

अपने ग्रन्थ के ऐतिहासिक अंश में गर्ग चार युगों का उल्लेख करता है जिसमें से महाभारत के युद्ध के समय से वह तीसरे युग की समाप्ति और चौथे युग का

प्रारम्भ होना लिखता है। इसके उपरान्त उसने मगध के शिशुनाग वंश और फिर मौर्य वंश के राजाओं का उल्लेख किया है। सालिसुक का उल्लेख करते हुए (जिसको कि हम देख चुके हैं कि अशोक के उपरान्त चौथा राजा था) गर्ग कहता है "इसके पीछे पापात्मा साहसी यूनानी लोग साकेत (अवध), पाञ्चाल देश और मथुरा को अधीन करने के उपरान्त कुसुमध्वज (पटने) में पहुँचेगें। पुष्पपुर (पटना) लिए जाने पर सब देशों में निस्सन्देह उलट फेर हो जायगी।"

संस्कृत ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख इतना दुर्लभ है कि गर्ग के ज्योतिष के ग्रन्थ में ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में बेक्ट्रिया के यूनानी लोगों का पटने तक भारतवर्ष को जीत लेने का जो वृत्तान्त मिलता है उसके लिए हम उसके अनुगृहीत हैं। बहुत से पाठकों को विदित होगा कि प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर गोल्डस्टूकर साहब ने यूनानी लोगों का अवध पर आक्रमण करने का वृतान्त पाञ्जलि के ग्रन्थ से खोज निकाला है और इसी से उन्होंने योग दर्शन और महाभाष्य के रचयिता पातञ्जलि का समय निश्चित किया है।

परन्तु अब गर्ग के विषय में सुनिए। "अजेय यवन लोग (यूनानी लोग) मध्य प्रदेश में नहीं रहेंगे। उन लोगों में एक बड़ा कठोर और भयानक युद्ध होगा। तब इस युग के अन्त में यूनानियों का नाश होने के उपरान्त सात प्रबल राजा अवध में राज्य करेंगे।" इसके उपरान्त यह उल्लेख है कि यूनानियां के उपरान्त लुटेरे शक लोग बड़े प्रबल हुए, और हमें यह जानने में बहुत कम कठिनाई है कि वे शक लोग वे ही यूची लोग थे जिन्होंने कि ईसा के १३० वर्ष पहले बेक्ट्रिया के राज्य को नष्ट किया था। ये नए विजयी लोग अपनी लूट पाट करते रहे और यहाँ पर गर्ग का इतिहास समाप्त हो जाता है। उपरोक्त बातों से डाक्टर कर्न साहब का गर्ग का समय ईसा की पहली शताब्दी में निश्चित करना ठीक है।

अब हम कुछ अन्य सिद्धान्तों के विषय में लिखेंगे अर्थात् अब पांच सिद्धान्तों के विषय में जो कि पञ्च सिद्धान्त के नाम के प्रसिद्ध हैं और जिनके आधार पर छठीं शताब्दी में बाराहमिहिर ने अपनी पञ्च सिद्धान्तिका लिखी है। वे पांचों सिद्धान्त ये हैं अर्थात् ब्रह्म अथवा पैतामह, सूर्य अथवा सौर, वशिष्ट-रोमक और पुलिश।

जान पड़ता है कि प्राचीन ब्रह्म अथवा पैतामह सिद्धान्त का पूर्ण स्थान ब्रह्म गुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्फुट ब्रह्म सिद्धान्त' ने ले लिया अलबरूनी ने इस स्फुट ब्रह्म सिद्धन्त की एक प्रति ११ वीं शताब्दी में पाई थी और उसने उसका उल्लेख अपने भारतवर्ष के वृत्तान्त में किया है।

सूर्य सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है परन्तु उस मूल ग्रन्थ में इतनी बार परिवर्तन

हुआ है और वह इतनी बार संकलित किया गया है कि मूल ग्रन्थ अब हम लोगों को प्राप्त नहीं रह गया है। हम इस मूल ग्रन्थ के बनने की तिथि के विषय में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते कि वह बौद्ध काल में बना होगा। यह ग्रन्थ अन्तिम बार अपने आधुनिक रूप में कब बनाया गया इसके विषय में भी हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह पौराणिक काल में बनाया गया होगा।

बाराहमिहिर का भाष्यकार, उत्पल दसवीं शताब्दी में हुआ और उसने अपने समय के सूर्य सिद्धान्त से छ श्लोक उद्धृत किए हैं। डाक्टर कर्न साहब ने दिखलाया है कि उनमें से एक भी आजकल के सूर्य सिद्धान्त में नहीं मिलता। फिर भी "आज कल का सूर्य सिद्धान्त उस ग्रन्थ का पुनरूप मात्र है जिसे कि बाराहमिहिर ने अपना एक प्रमाण माना है।"

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में १४ अध्याय हैं और उसमें ग्रहों के मध्यम स्थान और वास्तविक स्थान, समय का विषय, सूर्य और चन्द्र ग्रहण, ग्रहों और नक्षत्रों के योग, ग्रहों और नक्षत्रों के प्रकाशवृत्तीय उदय और अस्त, चन्द्रमा की कला और उसके स्कन्धों के स्थान, सूर्य, और चन्द्रमा की क्रान्ति, ज्योतिष सम्बन्धी यन्त्रों के बनाने की रीति, जगत की उत्पत्ति और भिन्न-भिन्न प्रकार के समय का उल्लेख है।

एलबरूनी वशिष्ठ सिद्धान्त को विष्णु चन्द्र का बनाया हुआ कहता है, परन्तु ब्रह्मगुप्त कहता है कि इस प्राचीन ग्रन्थ को विष्णु चन्द्र ने फिर से शोधा था और यह बात ठीक जान पड़ती है। आज कल वशिष्ठ सिद्धान्त के नाम से जो ग्रन्थ वर्तमान है वह निसन्देह आधुनिक समय का है।

रोमक सिद्धान्त को ब्रह्मगुप्त और एलबरूनी दोनों ही, श्री सेन का बनाया हुआ कहते है। आजकल एक जाली और आधुनिक समय का हुआ रोमक सिद्धान्त मिलता है जिसमें ईसा की जन्म पत्री, बाबर के राज्य का वर्णन तथा अकबर के राज्य करने का वृत्तान्त दिया है ?

पुलिश सिद्धान्त एलबरूनी को विदित था। उसने उसकी एक प्रति ली थी और वह इस ग्रन्थ को यूनानी पुलिस का बनाया हुआ कहता है। प्रोफेसर बेबर साहब का मत है कि यह यूनानी पालिस वही है जो कि पोलस अलकजान्द्रोनस के नाम से प्रसिद्ध है और जिसने इसागाज नामक ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा है। परन्तु डाक्टर कर्न साहब इस बात में सन्देह करते हैं पर उनका भी यही मत है कि पुलिस यूनानी था।

ये ही पांचो प्रसिद्ध सिद्धान्त है जिन्हें कि बाराहमिहिर ने छठीं शताब्दी में संकलित किया था। डाक्टर कर्न साहब उनका समय गर्ग और बाराहमिहिर के बीच में अर्थात् सन् ८५ ईसवी के लगभग निश्चित करते हैं।

बौद्ध काल में अन्य शास्त्रों के भी ग्रन्थ वर्तमान थे जो कि अब हम लोगों को अप्राप्य हो गये हैं। उदाहरण की भाँति हमें यह बड़े हर्ष के साथ विदित होता है कि उस समय में नग्नजित ने गृह निर्माण विद्या, पत्थर की मूर्ति बनाने की विद्या, चित्रकारी तथा अन्य ऐसे ही शिल्पों के विषयों के ग्रन्थ बनाये थे।

जान पड़ता है कि बौद्धकाल में, जब कि समस्त देश में चिकित्सालय स्थापित किए गये थे, वैद्यक शास्त्र ने बड़ी उन्नति की थी। हिन्दू वैद्यक शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थकर्त्ता चर्क और सुश्रुत इसी समय में हुए हैं परन्तु उनके ग्रन्थ पौराणिक समय में फिर से संशोधित किए हुए जान पड़ते हैं और इसलिए हम पौराणिक समय में उनका वर्णन करेंगे।

पौराणिक काल

[इसवी सन् ५०० से १००० ईस्वी तक]

पैंतालीसवाँ अध्याय

विक्रमादित्य महान् तथा उसके उत्तराधिकारी

जिन लोगों ने पिछले अध्यायों को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, वे स्वीकार करेंगे कि कि अब हम हिन्दू इतिहास के नाटक के अन्तिम अंक पर पहुंच गये हैं तथा इस अंक का पर्दा उठने पर जो दृश्य देखने को मिलता है वह अति भव्य एवं मनोहारी है। अनेक समरों का महान् विजेता पतनोन्मुख हिन्दू धर्म का पुनरुद्धारक तथा संरक्षक साहित्य में जो कुछ सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक सुन्दर है, उन सबके केन्द्र विक्रमादित्य महान को हिन्दू लोग उतना ही मानते हैं, जितना फ्रांस देश के निवासी शार्लमैन को, इङ्गलैंड की जनता अल्फ्रेड को, बौद्ध जन अशोक को तथा मुसलमान लोग बगदाद के सर्वाधिक जनप्रिय खलीफा हारूँ रशीद को मानते हैं। हिन्दू चाहे शिक्षित अर्द्धशिक्षित ही क्यों न हो, चाहे कवि हो या कहानीकार, वृद्ध हो या विद्यालय का छात्र, उन सबका परिचय अनेक लोक कथाओं के नायक विक्रमदित्य से इतना घनिष्ठ है, जितना किसी भी देश की जनता का अपने राजकुमारों अथवा राजाओं से नहीं है। शकुन्तला या उर्वशी की मधुर कल्पनायें अनायास ही उस सम्राट की याद दिलाये बिना नहीं रहतीं जिसके पोषण का सहारा इन ग्रन्थों के रचयिता काली-दास को प्राप्त था। हिन्दू ज्योतिषी लोग बाराहमिहिर के संरक्षण सम्राट का अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्मरण करते हैं। प्रत्येक हिन्दी कोष का रचयिता उस महान् व्यक्ति की स्तुति सी करते दिखाई पड़ता है, जिसने अमरकोष के रचयिता अमरसिंह को राजसम्मान एवं संरक्षण प्रदान किया था। हिन्दुओं की विशेषता है सम्माननीय व्यक्ति का कितना ही सम्मान वे क्यों न करें पर उनको जैसे सन्तोष ही न होता, इसीलिये अनेक लोक कथाओं में उन्होंने विक्रमादित्य एवम् उनकी स्मृति को अमर बना दिया है। अति साधारण तथा निरक्षर हिन्दू भी विक्रमादित्य को इस

प्रकार जानता है जैसे वे अभी कल ही राज्य कर रहे थे। आज भी किसी बरगद की छाया में तापनिवारण के हेतु अथवा अलमव के पास शीत निवारण हेतु इकट्ठे हुये लोगों में उनकी कहानियाँ प्रायः कहीं सुनी जाती हैं। घर में दादी अथवा नानी यही लोककथायें सुनाकर अपने नाती पोतों को निद्रादेवी की गोद में विश्राम देने का प्रयत्न करती हैं। प्रत्येक हिन्दू जानता तथा मानता है कि विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी बत्तीस पुतलियों ने किस प्रकार बारी-बारी से एक एक कहानी कह कर उसके उत्तराधिकारी को उस सिंहासन पर नहीं बैठने दिया तथा अन्त में वे स्वयं ही उस सिंहासन को लेकर उड़ गयीं। इन पुतलियों द्वारा कही गयी कहानियों से न केवल उसकी वीरता, धीरता, न्यायपरायणता एवं प्रजाप्रेम ही प्रगट होता है, वरन् उसकी धर्म-भीरुता एवं पर दुःख कातरता भी उसके महान् ऐश्वर्य, अचल विद्याप्रेम, अनुकरणीय गुणग्राहकता तथा अनुपम दान की कहानियां आज भी बड़े बूढ़ों की जबान पर हैं। भारतीय बाल पाठशालाओं के छोटे बच्चे जानते हैं तथा वे यह जान कर आश्चर्य चकित हुये बिना नहीं रहते कि किस प्रकार विक्रमादित्य ने अति भयावने दृश्यों के बीच तथा रात्रि के भयानक अन्धकार में एक अति सशक वैताल से संघर्ष करके उसे वश में किया तथा किस प्रकार की अतुलनीय वीरता, अडिग न्याय भावना तथा अपरिमित मनस्थिता एवं साहस ने उसे सफल बनाया। ये सब कथायें न केवल लोगों की जबान पर ही है, वरन् भारतीय कथाकारों के सिंहासन बत्तीसी एवं बैताल पचीसी के रूप में उन्हें सदा सर्वदा के लिए अमर बना दिया है। वह ऐसे सम्राट थे जिसकी तुलना नहीं की जा सकती।

आश्चर्य का विषय है कि इस यशस्वी विजेता की साहित्यिक स्मृतियों से अलग हट कर जब उसके ऐतिहासिक काल पर विचार करते हैं, तो कितनी ही दुर्बोध समस्याओं का सामना करना पड़ता है। हमें यह भी भ्रम हो जाता है कि इन कथाओं का नायक विक्रमादित्य कौन था तथा वह किस काल में शासन करता था। हमें परेशानी तो तब होती है जब हम यह भी निश्चय नहीं कर पाते कि वह किस राजा के बाद गद्दी पर बैठा एवम् उसके बाद कौन उसको गद्दी पर आया। बहुत दिनों तक भारतीय इतिहास के विद्वान् यह मानते रहे कि कालिदास का पोषक विक्रमादित्य ईसा से ५६ वर्ष पूर्व सिंहासन पर था। इस मत का आधार यह था कि विक्रम सम्बत् उसी के राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। यहां यह बात ध्यान में रखने की हैं कि विक्रमीय सम्बत् ईस्वी सन् से ५६ साल पुराना है। अब प्रायः सभी विद्वानों ने इस मान्यता को गलत करार दे दिया है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि मि० फ्लीट के मतानसार विक्रमीय सम्बत मालवा के लोगों द्वारा चलाया गया

था। बाद में जब गुप्त वंश के चन्द्रगुप्त प्रथम या द्वितीय ने शकों को पराजित कर उन्हें निमूंल करके विक्रमादित्य की उपाधि धारण की तो यही मालव संवत्सर विक्रमादित्य के नाम से पुकारा जाने लगा। नवीन मत के अनुसार विक्रम संवत्सर विक्रमादित्य द्वारा न तो चलाया हुआ है और न उसके राज्यारोहण से प्रारम्भ ही होता है।

आज भी विक्रम संवत्सर के चलाने वाले सम्राट् का नाम अन्धकार में है और मैं इस अन्धकार को हटाने का भार भविष्य के उन विद्वानों पर छोड़ता हूँ जो कभी इस विषय में शोध करके आवश्यक सामग्री जुटाने में सफलता प्राप्त करेंगे। हम लोगों का प्रचलित विश्वास इस समय यही है कि कालिदास का आश्रयदाता विक्रमादित्य ईसा की छठवीं शताब्दी में हुआ। अब हम उन कारणों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे, जिनसे हमारा उक्त विश्वास पुष्ट होता है।

ह्वेनत्सांग भारत में सातवीं शताब्दी में आया। उसके अनुसार शीलादित्य प्रथम का समय ५८ ई० है और विक्रमादित्य शीलादित्य का पूर्ववर्ती था, अर्थात् विक्रमादित्य के बाद शीलादित्य गद्दी पर बैठा। इतिहासकार कल्हण बारहवीं शताब्दी में हुये। उनके अनुसार कनिष्क तथा विक्रमादित्य के बीच में तीस राजा हुये। कनिष्क का समय ७८ ईसवी पूर्व है। कल्हण तथा ह्वेनसांग के वर्णनों को यदि मिला कर देखा जाय तो हमारा यह विश्वास ठीक जान पड़ता है कि विक्रमादित्य ईसा की छठीं शताब्दी में हुआ।

इसके पश्चात् यदि साहित्यिक कृतियों की ओर ध्यान देते हैं, तो हमें एक कृति ऐसी मिलती है, जो कम से कम एक हजार वर्ष पुरानी है, तथा जिसमें नौ बड़े लेखकों को विक्रम के दरबार के 'नवरत्न' रूप में लिखा गया है। इनमें से वराहमिहिर, वररुचि तथा कालिदास मुख्य थे। इसके अनुसार वराहमिहिर ५०५ ई० में पैदा हुये थे, तथा डा० भाऊदाजी के अनुसार उनकी मृत्यु ५८७ ई० में हुई। वररुचि ने भी अपना प्राकृत भाषा का व्याकरण पांचवीं या छठवीं सदी से बहुत पहले नहीं लिखा होगा, क्योंकि इस समय से पहले प्राकृत भाषा का पूर्ण प्रचार ही नहीं हुआ था। कालिदास की कृतियों से पता चलता है कि उनका भी समय पांचवीं या छठवीं शताब्दी ही रहा होगा, जब कि हिन्दू धर्म का पौराणिक युग उन्नति शील था, मन्दिरों एवम् मूर्ति पूजा का पूर्ण प्रचार था, तथा जब हिन्दुओं द्वारा त्रिमूर्ति की पूजा हो रही थी। मनु के विपरीत सरस्वती का यह वरद पुत्र त्रिमूर्ति पर पूर्ण श्रद्धा रखता था, मन्दिरों एवं मूर्तियों का आदर करता था तथा पञ्जाब में बसे हुए हिन्दुओं का भी वर्णन करता है। अतः वह मनु के बहुत बाद के समय में हुआ।

कालिदास के बाद में होने वाले भारवि, दंडिन्, वाणभट्ट, सुबन्धु, भर्तृहरि, तथा भवभूति, का कालिदास के साथ अत्यधिक साम्य है। इनके कार्य विषय भी समान ही हैं तथा ये सभी महान् लेखक ६ठवीं से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी में हुये थे। इन साहित्यकारों में से सुबन्धु ने एक स्थान पर लिखा है कि विक्रमादित्य को स्वर्गवासी हुये बहुत दिन नहीं हुये। * जो भी व्यक्ति इन साहित्यकारों की कृतियों को ध्यानपूर्वक बढ़ेगा, वह ऐसा सोच भी नहीं सकता कि कालिदास उन सबसे ६०० वर्ष पूर्व हुये होंगे। इस प्रकार वराहमिहिर, वररुचि एवम् कालिदास की कृतियों से भी यही सिद्ध होता है कि विक्रम ईसा की ६ वीं शताब्दी में हुये थे।

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरुनी भारत में रहा था, विक्रम द्वारा शकों की पराजय का वर्णन करते हुये वह लिखता है कि, विक्रमादित्य ने शक राजा के विरुद्ध अभिमान किया, वह हार कर भागा तथा मुलतान एवम् लोनी किले के के बीच में स्थिति कोरूर नामक स्थान पर मार डाला गया। दुर्भाग्य वश विक्रमादित्य द्वारा शक विजय के विषय की हमारी जानकारी केवल इतनी ही है।

विदेशी आक्रामकों की इस पराजय ने कम से कम उत्तरी भारत में पूर्ण सुख-शान्ति स्थापित कर दिया। शताब्दियों पूर्व से ये आक्रान्ता भारतीय जनता को संत्रस्त करते रहे थे। शान्ति के संस्थापन के साथ ही उन विद्याओं एवम् कलाओं की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो गया, जिनकी उन्नति शान्तिपूर्ण वातावरण में ही सम्भव है। राजधानी में, बड़े नगरों में तथा हर बड़े व्यक्ति के आसपास जैसे उन्नति का वातावरण तैयार हो गया। देश में धन अथवा विलास सामग्रियों की बहुलता हो गयी, उद्योग धन्धे बढ़ने लगे एवम् कुशल कारीगरों की बाढ़ सी आ गयी। विज्ञान ने भी सर उठाया तथा भारतीय नक्षत्रविज्ञान का एक नया दौर शुरू हुआ। काव्य एवम् नाटकों ने अपना जादुई चिराग जलाकर हिन्दू मस्तिष्क को प्रकाश देना प्रारम्भ कर दिया। पतनोन्मुख धर्म एवम् धार्मिक संस्थाओं में भी शक्ति एवम् नवजीवन का संचार हुआ तथा कुछ समय पूर्व जो वैदिक धर्म बौद्धों के सामने अस्तप्राय

---

* सर्वप्रथम ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने इस विषय पर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। इस अंश का अनुवाद इस प्रकार होगा —"अब चूंकि विक्रमादित्य की स्मृति ही शेष रह गयी है, राजनैतिक भावनाओं की महानता का युग समाप्त हो चुका है, नये-नये साहित्यकार पैदा हो रहे हैं और प्रत्येक अपने सिवा सारी दुनियां को हेय समझता है तथा उसकी दुरालोचना करता है।"

सा हो रहा था, वही पौराणिक काल में नया बाना पहन कर फिर प्रतिष्ठित हुआ।

बौद्ध धर्म का श्रोत वैदिक धर्म ही था और सिद्धान्ततः मतभेद होते हुये भी बौद्धों का हिन्दुओं से कभी वैरभाव नहीं रहा और चूंकि शताब्दियों से दोनों ही धर्म साथ चल रहे थे तथा इनके मानने वाले भी साथ ही जीवन यापन कर रहे थे अतः इन दोनों धर्मावलम्बियों में वैमनस्य न होकर एक प्रकार की साहिष्णुता सी एक को दूसरे के प्रति उत्पन्न हो गयी थी। प्रत्येक प्रान्त, नगर अथवा गाँव में हिन्दू और बौद्ध साथ ही साथ रहते थे। हिन्दू जनता भी बौद्ध-संघारामों तथा विश्वविद्यालयों में जाकर ज्ञानार्जन करती थी तथा कितने ही बौद्ध जिज्ञासु हिन्दू विद्वानों के चरणों में बैठ कर उनकी ज्ञानगरिमा से लाभान्वित होते थे। ऐसा भी होता था कि एक ही राजा के यहाँ दोनों धर्मों के विद्वानों को आश्रय मिलता था तथा वह राजा दोनों पर समान दृष्टि एवम् कृपा रखता था। गुप्त कुल के सम्राट् प्रायः शिव तथा विष्णु के पूजक थे, परन्तु बौद्ध विद्वानों, संघारामों तथा विश्वविद्यालयों पर उपहारों, भेंटों तथा कृपा की वर्षा सी करते थे। ऐसा भी होता था कि राजा बौद्धमतावलम्बी है और उसका ही भाई कट्टर हिन्दू है, यहाँ तक कि उसका स्वयं का लड़का भी हिन्दू बना रह सकता था। देश में एक ही घर में रहने वाले दो भाइयों में भी एक हिन्दू धर्म का मानने वाला तथा दूसरा बौद्ध हो सकता था उनमें से आपस में कभी भी संघर्ष की भावना नहीं पैदा होती थी। प्रायः प्रत्येक दरबार में दोनों ही धर्मों के उद्भट विद्वान राजा की छत्रछाया में रहकर ज्ञान की खोज में रत रहते थे। विक्रमादित्य का दरबार भी इस सिद्धान्त का अपवाद न था। आगे चलकर जब हम साहित्य एवं विज्ञान की चर्चा करेंगे तो इन विद्वानों के विषय में कुछ अधिक जानकारी देने का प्रयास करेंगे, परन्तु विक्रमादित्य के शासन का सम्यक् वर्णन इन विद्वानों की संक्षिप्त चर्चा बिना अधूरा ही रह जायगा।

संस्कृत भाषा में एक श्लोक प्रचलित है जिसमें विक्रमादित्य के नवरत्नों का नाम गिनाया गया है*। यह श्लोक प्रायः सभी संस्कृतज्ञों को कंठस्थ है। बुद्ध गया में एक शिलालेख है, जो विक्रमीय सम्वत् १०१५ या ईस्वी सन् ९४८ का है। उस शिलालेख में लिखा है कि "विक्रमादित्य वास्तव में संसर्ग प्रसिद्ध राजा था, अतः उसके दरबार में नौ उद्भट विद्वान् रहते थे, जिन्हें 'नवरत्न' के नाम से

---

* विक्रमादित्य के नवरत्नों का नाम था धन्वन्तरि, क्षयणक, अमरसिंह, शंकु, वैताल-भट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहर तथा वररुचि।

जाना जाता है।" इस लेख से भी परम्परा की प्राचीनता निश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है।

तत्कालीन प्रमुख विद्वानों में कालिदास प्रमुखतम हैं। वे ही इन नवरत्नों में केन्द्रस्थ हैं। कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है "तोरमाण की मृत्यु के बाद उसका पुत्र प्रवरसेन काश्मीर की गद्दी पर अपना अधिकार न स्थापित कर सका तथा इसी-लिये उज्जैन के विक्रमादित्य ने, जो भारत का सर्वमान्य सम्राट् था, काश्मीर पर शासन करने के लिये अपने दरबार के प्रख्यात कवि मातृगुप्त को नियुक्त कर दिया। मातृगुप्त वहां पर विक्रमादित्य के मृत्युकाल तक रहा और अपने संरक्षक की मृत्यु होने पर वह यति होकर काशी चला गया और प्रवरसेन ने काश्मीर की गद्दी पर अधि-हार जमा लिया। डा० भाऊदाजी ने सर्व प्रथम यह कहने का साहस किया है कि यह मातृ गुप्त ही कालिदास हैं। अपनी इस मान्यता के लिये उक्त विद्वान् ने जो तर्क उपस्थित किये हैं, उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता हमें नहीं जान पड़ती। हमें इतना ही कहना है कि डा० साहब के तर्क स्तुत्य होते हुये भी संतोषप्रद नहीं है क्योंकि काश्मीर निवासी क्षेमेन्द्र नामक एक कवि ने अपनी आलोचनात्मक कृति में मातृगुप्त तथा कालिदास को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया है। निःसन्देह क्षेमेन्द्र का वर्णन अधिक विश्वसनीय है।

इसके पश्चात् भारवि का प्रश्न आता है जिसने किरातार्जुनीय की रचना की है। वह विक्रमादित्य का न तो समकालीन ही जान पड़ता है और न उसके दरबार का ही, परन्तु हो सम्वत् ६३७ विक्रमीय के एक शिलालेख में भारवि तथा कालिदास का नाम साथ-साथ दिया गया है, और इससे सिद्ध होता है कि यदि भारवि कालि-दास के समकालीन नहीं थे तो ठीक उनके बाद ही ईसा की ६ठीं शताब्दी में ही हुे।

संस्कृत साहित्य के सर्व प्रमुख कोष के निर्माता अमर सिंह विक्रम के नव-रत्नों में से थे तथा वे बौद्धमतानुयायी थे। उनके कोष का चीनी भाषा में अनुवाद छठवीं शताब्दी में किया गया है। उनके बारे में यह भी कहा जाता है कि बुद्ध गया का बौद्ध मन्दिर उन्हीं का बनवाया हुआ है।

पौराणिक काल में ज्योतिष शास्त्र पर लिखने वालों में आर्य भट्ट प्रथम थे। उनका जन्म उन्हीं के अनुसार ४७६ ई० में हुआ था। वे विक्रमादित्य के दरबार में नहीं थे। वे पाटलीपुत्र के निवासी थे तथा उनकी ख्याति विक्रमादित्य की पूर्ववर्ती थी।

वराहमिहिर आर्यभट्ट के पदचिन्हों पर चले। वे विक्रम के नवरत्नों में थे। उनका जन्म अवन्ती में हुआ था तथा उनकी मृत्यु ५८७ ई० में हुई।

वराहमिहिर के उत्तराधिकारी हुये ब्रह्मगुप्त, जो छठवीं शताब्दी के अन्त में अर्थात् ५९८ ई० में पैदा हुये थे, तथा अपना ग्रन्थ उन्होंने अपनी तीस वर्ष की अवस्था में अर्थात् ६२८ ई० में लिखा। इनके पिता जी का नाम जिष्णु था और सम्भवतः वे वही जिष्णु है जिनका वर्णन कालिदास के समकालीन के रूप में किया गया है।

विक्रमादित्य के शेष नवरत्नों में धन्वन्तरि भी थे जो एक सुप्रसिद्ध वैद्य थे तथा जिनका वर्णन दंडिन अपने 'दश कुमार चरित' में किया है। वैतालभट्ट ने नीति प्रदीप की रचना की तथा वररुचि व्याकरण के प्रख्यात् विद्वान् थे। घटकर्पर, क्षपणक तथा शंकु इतने अधिक प्रख्यात् नहीं थे तथा आने वाली पीढ़ी ने इन लोगों को वह सम्मान नहीं दिया, जो उन्हें विक्रम के दरबार में मिला था।

उपरोक्त वर्णनों के आधार पर हम विक्रमादित्य कालीन साहित्यिक क्रिया-कलाओं के बारे में कुछ अनुमान लगा सकते हैं। इन्हीं क्रिया कलाओं के कारण सम्राट के चतुर्दिक इस प्रकार का अमर प्रकाश फैला कि आज तक उसकी चमक दमक ज्यों की त्यों है। विक्रमादित्य को गुजरे तेरह शताब्दियां बीत चुकी हैं, परन्तु आज भी तत्कालीन ग्रन्थों के अध्ययन से हम उस समय के हिन्दू मस्तिष्क का अनुमान लगा सकते हैं, जिसने पतनोन्मुख हिन्दू धर्म को नवजीवन प्रदान किया। एक से एक बढ़कर विद्वान् हुये जिन्होंने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में खोज करके जिस साहित्य की सृष्टि की वह आज भी प्रशंसनीय है तथा आज के विद्वान् भी उनसे सहायता प्राप्त करते हैं। हम भली भांति यह कल्पना कर सकते हैं कि किस प्रकार सदियों तक विदेशी आक्रान्ताओं के सामने विवश होते रह कर, अनेक युद्धों से संत्रस्त रहने के पश्चात् राष्ट्र के मस्तिष्क ने शक्ति, महानता एवम् यश की ओर न केवल पग ही उठाया वरन् इन सभी क्षेत्रों में उन्नति के उच्चतम् स्थान पर अधिकार कर लिया। तत्कालीन राष्ट्र को एक नेता की आवश्यकता थी, वह उन्हें विक्रमादित्य के रूप में मिला जिसने बर्बर एवं अनाचारी विदेशियों को पराजित करके सम्पूर्ण उत्तर भारत को अपने अधिकार में ले लिया तथा विद्वानों को आश्रय प्रदान करके विद्या की अभूत पूर्व उन्नति किया। चाहे वे विद्वान् हिन्दू थे या बौद्ध, उसका कोई विचार किये बिना ही उसने सबका समादर किया। समय की मांग थी कि कोई महान् व्यक्ति पैदा हो, और सचमुच एक महान् व्यक्ति पैदा हो गया। समूचा राष्ट्र

उसी एक व्यक्ति के चतुर्दिक खड़ा हो गया तथा ज्ञान, विज्ञान, कला एवं साहित्य में जो पथ प्रशस्त हुआ, वह अभूतपूर्व था।

इस प्रकार यदि हम इतिहास को सही तौर पर और ठीक-ठीक पढ़ें, यदि हम लोक कथाओं एवं गाथाओं को अत्युक्ति से मुक्ति दिला सकें, तो हम भारतीय इतिहास के प्रत्येक काल को दार्शनिक रूप से समझ सकेंगे तथा प्रत्येक कार्य उसके कारण तथा परिणाम का सही अनुमान कर सकेंगे। इतिहास हमें बताता है कि विक्रमादित्य को यशस्वी एवं सफल बनाने का सारा श्रेय उन परिस्थितियों को है, जिनसे वह घिरा हुआ था। कालिदास की कल्पनाओं की उड़ानें केवल तत्कालीन हिन्दू मस्तिष्क प्रतिबिम्ब मात्र हैं तथा उन्हें जानने का प्रयत्न करने वाले प्रत्येक विद्वान् के लिए आवश्यक है कि वह कालिदास की कृतियों को तत्कालीन जन भावना को पृष्ठ भूमि में रख कर पढ़े। हम बराहमिहिर एवम् अमरसिंह के प्रयत्नों की प्रशंसा करते हैं, परन्तु प्रशंसा करने के पूर्व हमें विक्रमीय दरबार के उस विद्यानुराग-पूर्ण वातावरण को देखना चाहिये जिसने इन विद्वानों को इस प्रकार अनवरत परिश्रम करने को प्रेरित किया। हमें हिन्दुओं एवम् बौद्धों के बीच निरन्तर अबाध रूप से चलती रहने वाली प्रतिष्ठा स्थापन की प्रतिद्वन्दिता के प्रकाश में ही इन विद्वानों की कृतियों को परखना चाहिये। यह वह समय था जब हिन्दुओं एवम् बौद्धों में केवल मतभेद ही था, पर उनके आपसी मत वैभिन्य ने असहिष्णुता एवम् पर-धर्म-पीड़न का रूप नहीं ग्रहण किया था। बौद्ध धर्म पतनोन्मुख था तथा हिन्दू धर्म नव जागरण एवम् चेतना युक्त हो जन मन को अनुप्राणित कर रहा था।

दोनों धर्मों एवम् धर्मानुयायियों में प्रतियोगिता थी परन्तु वह स्वस्थ्य प्रति-योगिता थी अर्थात् उनमें वैर भाव को स्थान नहीं था। हिन्दू धर्म उन्नतिशील था अतः आवश्यक था कि उसमें अधिक शक्ति अधिक प्रतिभा एवम् अधिक विद्या होती।

महान् विक्रमादित्य के पश्चात् शीलादित्य प्रतापशील उत्तरी भारत का राजा हुआ। यह बात सन् ५५० ई० की है। ह्वेनसांग के वर्णनों से पता चलता है कि उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था। उसके दरबार में मनोरथ का शिष्य बसुबन्धु चमका एवम् उसने राज दरबार में सम्मुख शास्त्रार्थ में हिन्दू पंडितों को पराजित किया। वसुबन्धु ब्राह्मणपुत्र था एवम् प्रख्यात आसंग का भाई था। उसने काश्मीर में विद्याध्ययन किया फिर मगध लौटा, नालन्दा विश्वविद्यालय में पंडित (अध्या-पक) बना एवम् नैपाल में उसकी मृत्यु हुई। उसके अतिरिक्त शीलादित्य के दरबार के किसी अन्य बड़े विद्वान का पता नहीं चलता।

शीलादित्य प्रथम का उत्तराधिकारी प्रभाकर वर्द्धन हुआ। यह बात शायद

सन् ५८० ई० की है। प्रभाकरवर्द्धन की बहन राज्यश्री गृहवर्मन की ब्याही थी, परन्तु मालवा के साथ हुये युद्ध में प्रभाकर वर्द्धन हार गया एवम् गृहवर्मन मार डाला गया।

६०५ ई० में प्रभाकर वर्द्धन का उत्तराधिकारी हुआ राज्यवर्द्धन। उसने मालवा के साथ युद्ध जारी रक्खा तथा अन्त में मालवा के राजा को मार डाला। व्हेनत्सांग के ही वर्णन[1] से पता चलता है कि मालवा युद्ध में विजय प्राप्त करने के थोड़े ही दिन बाद राज्यवर्द्धन को पश्चिमी बंगाल-स्थिति कर्ण सुवर्ण के राजा शशांक नरेन्द्र गुप्त ने मार डाला।

राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई शीलादित्य द्वितीय, जिसे हम हर्ष वर्द्धन के नाम से जानते हैं, ६१० ई० में गद्दी पर बैठा। उसे कुमार राजा भी कहते थे। वह एक महान् एवम् शक्ति शाली सम्राट था। व्हेनत्सांग ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। वह अपनी विजयों के कारण तो महान् था ही साथ ही अपने विद्यानुराग एवम् गुण ग्राहकता के कारण भी वह विक्रमादित्य की याद दिला देता है। केवल ६ वर्षों में ही उसने समस्त पंजाब को जीत लिया, परन्तु महाराष्ट्र के राजा पुलकेशिन द्वितीय को वह कभी न हरा सका। मालवा का राजा फिर से परास्त हुआ और राज्यश्री को छुटकारा मिला। हर्ष ने कामरूप के राजा भास्कर वर्मन से मित्रता स्थापित की। इस राजा को भी कुमार राजा कहते थे।

व्हेनत्सांग के अनुसार हर्ष की राजधानी कन्नौज या कान्यकुब्ज थी। प्रति पांचवे वर्ष वह एक बड़ा धार्मिक उत्सव करता था जिसमें देश-देश के राजा अथवा लोग शामिल होते थे। उसी लेखक के वर्णनों के अनुसार हर्ष पक्का बौद्ध था, यद्यपि वह ब्राह्मणों को भी सम्मान की दृष्टि से देखता था।

हर्ष भी विद्या का महान् संरक्षक था। कुछ लोगों का कहना है कि बौद्ध आदर्शों से युक्त नाटक 'नागानन्द' एवम् रत्नावली उसी की रचनाये हैं, परन्तु वह शायद इन दोनों में से किसी का भी रचयिता नहीं था यद्यपि वे दोनों ही कृतियाँ उसी के दरबार में लिखी गयी। रत्नावली शायद वाणभट्ट की रचना है, जिसने कादम्बरी एवम् हर्ष चरित्र की रचना की है। हर्ष चरित में उसने हर्ष का चरित्र-चित्रण किया हैं। दशकुमार चरित के प्रणोता दंडी वाणभट्ट के पूर्ववर्ती परन्तु कालिदास के परवर्ती हैं। यह भी सम्भव है कि दंडी के जीवन काल में ही वाणभट्ट ने कादम्बरी की महाम् गाथा की रचना की हो।

उस समय की दूसरी प्रख्यात पुस्तक है सुबन्धु की लिखी हुई वासवदत्ता। सुबन्धु भी वाणभट्ट का समकालीन था, यद्यपि सम्भावना इस बात की है कि

वासवदत्ता वाणभट्ट के ग्रन्थों से कुछ बाद की लिखी हुई है, क्योंकि सुबन्धु ने प्रायः वाणभट्ट को उद्धृत किया है। इस प्रकार हमने संस्कृत की तीन महान् गाथाओं का समय जान लिया है।

वाणभट्ट के नाम के साथ ही साथ मयूर का भी नाम आता है, और एक लोक गाथा भी ऐसी है, जिसके अनुसार मयूर की पुत्री वाणभट्ट को ब्याही थी। इस पुत्री का नाम चंडी थी। मयूर ने मयूर शतक लिखा है।

इन सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम है भर्तृहरि का। जर्मनी के प्रोफेसर मेक्समूलर ने चीनी यात्री इत्सिग का सहारा लेकर कहा है कि भर्तृहरि की मृत्यु ६५० ई० में हुई। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वैराग्य शतक, नीति शतक तथा श्रृंगार शतक नामक तीनों शतकों का रचयिता भर्तृहरि शीलादित्य द्वितीय का समकालीन था।

भट्टिकाव्य नामक एक और भी ग्रन्थ इसी समय का है जो सरस एवम् सरल ढंग से व्याकरण की शिक्षा देता है। निस्सन्देह भारतीय छात्र इस ग्रन्थ को शतकत्रय से अधिक जानते हैं। इस ग्रन्थ की टीका तीन विद्वानों ने किया है, कन्दर्प, विद्याविनोद एवम् श्रीधर स्वाभिन्। इन तीनों लेखकों के अनुसार इस ग्रन्थ के रचयिता भर्तृहरि ही हैं। दूसरे लेखकों ने भी भर्तृ को पाली भाषा का भट्टि माना है और इस बात की सशक्त सम्भावना हैं कि तीन शतक एवम् भट्टि काव्य का रचयिता एक ही है, भट्टि या भर्तृ। मेक्समूलर ने भी चीनी यात्री इत्सिंग का हवाला देकर इसी मान्यता को पुष्ट किया है।

शीलादित्य काल की साहित्यिक कृतियों का जो वर्णन हमने ऊपर दिया है, उससे सम्राट् की महानता ही प्रगट होती है। कन्नौज का वह विद्यानुरागी सम्राट् प्रति पांचवें वर्ष उत्तर भारत के समस्त जनो, जातियों एवम् राजाओं को समादर पूर्वक निमंत्रित करके महान् धार्मिक उत्सव किया करता था, और इस प्रकार वह करीब-करीब सारे उत्तरी भारत का भाग्य विधाता था। हम पहले ही देख चुके कि प्रसिद्ध ज्योतिर्विद्या विशारद ब्रह्मगुप्त भी इसी सम्राट् का समकालीन था।

शीलादित्य की मृत्यु सन् ६४८ या ६५० ई० के करीब हुई तथा पचास वर्षों बाद ही उसी गद्दी पर एक अति निर्बल राजा बैठा। कन्नौज का यश अथवा वैभव समाप्त हो गया तथा कन्नौज के सम्राट् यशोवर्मन को काश्मीर के राजा ललितादित्य ने युद्ध में परास्त किया। यद्यपि यशोवर्मन निर्बल समाट् था, फिर भी विद्या का दीप उसके दरबार में सदैव ही पूर्व की भांति प्रकाशित रहा। इस प्रकार दो सौ वर्षों तक कन्नौज विद्या एवम् विद्वानों का केन्द्र बना रहा। भारत को

अपने जिन सरस्वती के बरद पुत्रों पर गर्व है, उनमें से एक अर्थात् भवभूति भी इसी सम्राट् के दरबार में रहते थे। तत्कालीन भारतीय साहित्याकाश में जाज्वल्यमान जो नक्षत्रपुंज दिखाई पड़ा था, भवभूति उसके अन्तिम सुप्रकाशित एवम् बहुप्रशांसित नक्षत्र थे। यह सारा वृत्तान्त हमें कल्हरण की राजतरंगिणी से मिलता है, जिसने दो और विद्वान लेखकों का नाम लिखा है, यद्यपि हम उन्हें शायद नहीं या बहुत कम जानते हैं। ये दोनों विद्वान अर्थात् वाक्पति एवम् राज्यश्री भी यशोवर्मन के ही संरक्षण में रहे। इनके लिखे किसी ग्रन्थ का वर्णन प्राप्त नहीं है।

इन तीन शताब्दियों का समय (अर्थात् सन् ५०० से ८०० ई० तक) यदि संस्कृत साहित्य के विद्वानों एवम् तल्लिखित सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की दृष्टि से गौरवपूर्ण है, तो इसे एक और बात का गौरव प्राप्त है। इस समूचे काल में ब्राह्मणों एवम् बौद्धों में तीव्र प्रतियोगिता रही, परन्तु उस प्रतियोगिता में स्वस्थता का पूर्ण समावेश था। यह प्रतियोगिता ज्ञान के क्षेत्र में थी, आगे बढ़ जाने के लिये थी परन्तु अपने प्रतियोगी को गिरा कर, या विरोधी को पीड़न देकर आगे बढ़ जाने की भावना का समावेश उस प्रतियोगिता में नहीं हुआ था। इस स्वस्थ प्रतियोगिता ने समय समय पर अनेक उत्तम विद्वान उत्पन्न किये, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम हैं शंकराचार्य का जो ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्तिम समय में उत्पन्न हुये थे। हिन्दुत्व के प्रबल पोषक तथा बौद्धों के प्रबल खंडन कर्ता के रूप में आज भी सारे भारत के विद्वानों में उनका नाम अति आदर से लिया जाता है।

आठवीं शताब्दी के बाद का काल अन्धकारमय है, तथा अगली दो शताब्दी में अर्थात् सन् ८०० से लेकर १००० ई० तक भारत में साहित्य, विज्ञान तथा कला का एक भी ऐसा विद्वान् नहीं हुआ जो पिछले विद्वानों द्वारा जलाये गये ज्ञान दीप को यदि और आगे न बढ़ाता तो कम से कम प्रज्वलित तो रखता।

छियालीसवां अध्याय

व्हेनत्साङ्ग का भारत विषयक वर्णन

भारत की महानता से आकर्षित होकर अनेक सुदूरस्थ देशों से ज्ञान-पिपासु विद्वान् इस देश में सदा से आते रहे हैं। चीन देश भी इसमें पीछे नहीं रहा। वहां से भी एकाधिक यात्री भारत में विभिन्न समयों में आये। जिस राजा या सम्राट के समय में जो यात्री आता था, उसके समय का वर्णन वह अवश्य करता था। हर्ष के समय में जो चीनी यात्री भारत में आया, उसका नाम था व्हेनत्सांग। तत्कालीन भारत का जो वर्णन उसने किया है, उससे सातवीं शताब्दी के भारतीय इतिहास की पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। उसने ६२९ ई० में चीन को छोड़ा तथा फरगाना, समरकन्द, बुखारा एवं बलख के रास्ते से भारत आया। वह यहां कई वर्षों तक रहा। भारत के अनेक स्थानों को देखता हुआ तथा अनेक विद्यालयों में विद्याध्ययन करता हुआ, उसने जो कुछ देखा, पढ़ा और सुना, उसे लेखबद्ध करता गया। ६४५ ई० में वह वापस चीन पहुँचा। अपने लेख के प्रारम्भिक अंश में उसने हिन्दुओं के शिष्टाचार, उनकी कला तथा उनकी परम्पराओं का वर्णन किया है, जिन पर आगे चल कर हम विचार करेंगे। इस समय हम उन हिन्दू राज्यों का वर्णन करेंगे, जिनको देख कर व्हेनत्सांग ने उनका वर्णन किया है।

"नगरहार, जलालाबाद जिले की प्राचीन राजधानी थी, तथा उसका विस्तार चार मील का था। देश खाद्यान्नों एवं फलों से सम्पन्न था। लोगों का जीवन स्तर सादा था तथा वे ईमानदार थे। वे स्वाभाविक रूप से भावुक, सुदृढ़ तथा उत्साही होते थे। बौद्ध धर्म अधिक माना जाता था परन्तु हिन्दू धर्म मानने वाले लोग भी थे। नगर में पांच देव मन्दिर थे एवं उनमें एक सौ पुजारी रहते थे। नगर के पूर्व एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ था जो तीन सौ फीट ऊँचा था तथा सुन्दर चित्रित तथा खुदे हुये पत्थरों का बना था। संघाराम कई थे, उनमें से एक नगर से दक्षिण पश्चिम के कोने पर नगर से चार मील दूरी पर था। इसकी दीवारें बहुत ऊँची थीं तथा कई-कई मंजिले ऊँची मीनारें पत्थर की बनी हुई थी। यहीं पर दो सौ फीट ऊँचा एक स्तूप भी था।"

"गांधार राज्य की राजधानी पेशावर में थी। नगरहार एवं गांधार ये, दोनों राज्य हिन्दूकुश के समीपस्थ राज्य कपिशा के आधीन थे, तथा राजा के सहायकों द्वारा शासित होते थे। गांधार राज्य के गांव और नगर बहुत ही कम बसे हुये थे। देश में खाद्यान्नों का बाहुल्य था। जनता उत्साह हीन परन्तु साहित्य में रुचि रखने वाली थी। देश में एक हजार संघाराम खंडहरों के रूप में थे तथा निर्जन पड़े हुये थे। हिन्दुओं के मन्दिरों की संख्या एक सौ थी।"

गांधार राज्य का वर्णन करते हुये व्हेनत्सांग ने एक घटना का वर्णन दिया है "मनोरथ एक प्रकांड बौद्ध विद्वान् था वह विक्रमादित्य की सुप्रख्यात राजधानी में रहता था, परन्तु चूंकि विक्रमादित्य हिन्दुत्व का प्रेमी था, मनोरथ को उसके दरबार में उचित तथा उसके पांडित्य के योग्य सम्मान नहीं मिला। एक बार वह ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ में पराजित भी हुआ, अतः वह घृणा पूर्वक यह कहता हुआ वहाँ से चला गया कि 'दल बंदियों के दलदल में न्याय नहीं रहता।' विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी शीलादित्य स्वयं बौद्ध-धर्मानुयायी तो था ही, बौद्ध विद्वानों का संरक्षक भी था। उसने मनोरथ के शिष्य वसुबन्धु का सम्मान किया, जिसके सम्मुख शास्त्रार्थ में ब्राह्मण विद्वानों को पराजित अथवा लज्जित होना पड़ा।" एक दूसरे स्थान पर मालवा का वर्णन करते हुये व्हेनत्सांग ने लिखा है कि शीलादित्य का शासन उसके (व्हेनत्सांग के) समय से साठ वर्ष पूर्व था। इस प्रकार उसका शासन काल ५८०ई० के आस-पास होना चाहिये। शीलादित्य विक्रमादित्य का उत्तरा धिकारी था, अतः पिछले अध्याय में हमने विक्रमादित्य के समय को जो मान्यता दी है वह उस हिसाब से भी सही मालूम होती है।

व्हेनत्सांग के वर्णनों के अनुसार पौलुष नगरी के समीप एक पहाड़ी है जिसके शिखर पर भीमा देवी की मूर्ति नीले पत्थरों को काट कर बनायी गयी है। दूर-दूर से आबाल वृद्ध बनिता, धनी एवं निर्धन लोग आते हैं। देवी की प्रार्थना करते हैं तथा देवी के दर्शन कर अपने को कृतार्थ मानते हैं। इस पहाड़ी के नीचे माहेश्वर का मन्दिर है, जहाँ पाशुपत सम्प्रदाय के लोग, समूचे शरीर पर भस्म लपेटे देवता के सामने बलिदान देने के लिये आते हैं। यहाँ से चलकर व्हेनत्साङ्ग सलातर पहुँचा, जो प्रसिद्ध व्याकरण-शास्त्रज्ञ पाणिन का जन्म स्थान है।

काबुल के आस-पास के देशों में पूर्ववर्ती चीनी यात्री फाहियान के अनुसार बौद्ध धर्म प्रचलित था एवं उस भूखन्ड में अनेक संघाराम बने थे, परन्तु व्हेनत्साङ्ग इन संघारामों को उजाड़ एवं निर्जन दशा में पड़ा पाया। वे स्थान-स्थान से टूटे हुये

थे तथा उनमें बहुत थोड़े से बौद्ध भिक्षु रहते थे। वहां हिन्दू मन्दिरों की संख्या बहुत कम थी।

सिंध को पार करके ह्वेनत्सांग पहाड़ी दर्रों में होता हुआ तिब्बत के पश्चिमी भाग (Little Tibet) में पहुँचा। वह लिखता है कि सड़कें ऊँची-नीची चढ़ाई से युक्त हैं। पहाड़ियाँ एवं घाटियाँ अन्धकार से पूर्ण हैं। कभी रस्सों के सहारे और कभी लौह श्रृंखलाओं के सहारे इन्हें पार करना पड़ता है, जो इन संकरी घाटियों के आर-पार बंधे रहते हैं। इन स्थानों में अधर में लटकते हुये पुल मिलते हैं। इस प्रदेश से चलकर वह तक्षशिला गया तथा सिंहपुर को देखा। ये दोनों ही प्रदेश उस समय काश्मीर राज के राज्य में थे। सिंहपुर में उसने जैनियों के दोनों मतों को मानने वालों अर्थात् श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों को देखा। वह लिखता है कि—"इनके प्रायः सभी निमम व आचार बौद्ध ग्रन्थों से ही लिये गये हैं। अपनी तीर्थंकर महावीर की मूर्ति भी उन्होंने उसी टर्रे पर बनायी है, जिस रङ्ग की मूर्तियां बुद्धदेव की मिलती हैं। अन्तर केवल वस्त्रों का ही है, इनकी सौन्दर्य भावना भी है बिल्कुल बौद्धों की-सी ही है।" इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ह्वेनत्सांह ने जैनियों को भी बौद्ध मतानुयायिओं की एक शाखा मात्र समझा।

काश्मीर राज्य का विस्तार ह्वेनत्सांगों के अनुसार १४०० मील का था। इस प्रदेश की राजधानी ढाई मील लम्बी तथा एक मील चौड़ी है। उस प्रदेश की भूमि में खाद्यान्न, फल एवं फूल बहुतायत से होते हैं। जलवायु ठण्डी तथा स्थायी है। यहां वर्फ प्रायः पड़ती रहती है तथा तेज हवायें प्रायः कम चलती हैं। यहां के लोग चमड़े की बनी तथा सफेद लिनेन के कपड़े पहनते हैं। वे सीधे और खिलाड़ी होते हैं परन्तु स्वाभाविक रूप से निर्बल एवं कायर होते हैं। देखने में वे अत्यन्त सुन्दर होते हैं परन्तु छलपूर्ण चालाकी उनमें बहुत हैं। वे शिक्षित और विद्या प्रेमी हैं। यहाँ की जनता में बौद्ध एवं हिन्दू दोनों हैं। इस प्रदेश में सौ संघाराम तथा पाँच सहस्त्र बौद्ध भिक्षु हैं।

काश्मीर के प्रदेश में कनिष्क कालीन ऐश्वर्य का अवशेष अभी तक बचा था। इसीलिये प्रसंगानुसार ह्वेनसांग ने कनिष्क के भी विषय में भी कुछ लिखा है। उस स्थल पर भी तथा कुछ अन्य स्थलों पर भी इस लेखक ने लिखा है कि "महात्मा बुद्ध का निर्वाण अशोक के सौ वर्ष पहले हो चुका था। निर्वाण के चार सौ वर्षों के बाद कनिष्क गद्दी पर बैठा तथा उसने दूर-दूर के प्रदेशों को जीत कर अपने राज्य में मिलाया।" उक्त वर्णन से हम यह सोच सकते हैं कि कनिष्क का समय अशोक के समय से ३०० वर्ष पीछे है, अर्थात् हमने जो कनिष्क का समय ७८ ई० लिखा है

वह प्रामाणिक है। इस वर्णन से शक सम्बत् का मेल भी बैठ जाता है।

कनिष्क सम्बन्धी वर्णन के ही प्रसङ्ग में ह्वेनत्सांग ने कनिष्क द्वारा आयोजित बौद्धों की उस विशाल सभा का भी वर्णन दिया है, जिसका आयोजन इसलिये हुआ था कि तथागत के उपदेशों की समुचित व्याख्या की जाय। ह्वेनत्सांग के अनुसार उस सभा में पांच सौ बौद्ध विद्वान सम्मिलित हुये थे। उन लोगों ने विचार-विनिमय कर के तीन भूमिकायें प्रस्तुत कीं। सूत्र पिटक को सुबोध बनाने के लिये 'उपदेश-शास्त्र', विनय पिटक को ज्ञान गम्य बनाने के लिये 'विनय विभास शास्त्र' तथा अभिधर्म को सरल बनाने के लिये 'अभिधर्म विभास शास्त्र' की रचना की गई। यह सभा कनिष्क के बौद्ध-धर्मानुराग की द्योतिका है। कनिष्क ने इस बात का सफल प्रयत्न किया कि निर्वाण के बाद की चार शताब्दियों में जो व्यर्थ आडम्बर धर्म में आ गये थे, उनको अलग करके धर्म की प्रवित्रता की रक्षा की जाय।

कनिष्क सम्बन्धी वर्णन करते हुये ह्वेनत्सांग इस बात की भी सूचना देता है कि कनिष्क-आयोजित सभा के अवसर पर चीन के करद राजाओं ने भी बहुमूल्य भेंट की सामग्री इस शक्तिशाली सम्राट को भेजा था। सम्राट ने भी इन आगतों का स्वागत विशेष रूप से किया था तथा उनके रहने के लिये रावी तथा सतलज के बीच का एक भूभाग ही दे दिया था। इस प्रकार इस भूखंड का नाम ही चीन पट्टी पड़ गया था। इस चार सौ मील में फैले हुये भूभाग को ह्वेनत्सांग ने स्वयं ही देखा था। इस प्रदेश की राजधानी का घेरा तीन मील था। उन लोगों ने इस भूभाग में पिपर तथा पीच नामक दो नये फलों का प्रचार किया, इसीलिये इन फलों का नाम यूनानी तथा चीन राजपुत्र पड़ गया। जब लोग ह्वेनत्सांग को देखते थे तो उंगली का इशारा करके कहते थे--"कि यह व्यक्ति उस देश का है, जहाँ हमारे पहले के सम्राट् का निवास था।"

ह्वेनत्सांग ने मिहिरकुल का भी वर्णन किया है, जिसने बौद्धों को अनेक प्रकार से प्रपीडन किया। वह कहता है कि—"कुछ शताब्दी पूर्व मिहिरकुल ने रावी नदी के पश्चिम भाग में अवस्थित शाकल नगर में अपनी शक्ति स्थापित कर ली। उसने आदेश दिया कि पंचनद प्रदेश से सारे बौद्ध भिक्षुओं एवम् उपदेशकों को निकाल दिया जाय, बौद्ध धर्म का वहिष्कार किया जाय तथा इस धर्म का चिन्ह भी न रहने दिया जाय।" इस राजा ने मगध के शक्तिशाली सम्राट् बालादित्य पर आक्रमण किया था, परन्तु हरा दिया गया तथा बन्दी बना लिया गया। बाद में उसे छोड़ दिया गया। उसे बड़ी लज्जा आयी तथा उसका बहुत अपमान हुआ। प्रताड़ित होकर वह काश्मीर पहुँचा, शक्ति प्राप्त की, साथी इकट्ठे किये और काश्मीर

के राजा को मार कर स्वयम् गद्दी पर बैठ गया। उसने गान्धार को भी जीत लिया तथा वहाँ के राज परिवार को आमूल नष्ट कर दिया। बौद्ध धर्म का उन्मूलन तो किया ही, साथ ही उनके विहारों एवम् स्तूपों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया, तथा तीन लाख के करीब मनुष्यों को मार डाला। ह्वेनत्सांग स्वयम् बौद्ध था और मिहिरकुल बौद्ध धर्म का शत्रु था अतः इस वर्णन को पढ़ते समय सम्भावित अत्युक्तियों का भी विचार करके देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि काश्मीर का मिहिरकुल प्रबल एवम् भयानक बौद्ध प्रपीड़क था।

चार सौ मील के विस्तार में फैले हुये शतद्रु के राज्य को देख कर ह्वेनत्सांग बड़ा प्रसन्न हुआ था। इसकी राजधानी का बिस्तार साढ़े तीन मील में था। इस देश में न केवल खाद्यान्नों एवं फल-फूलों की ही बहुतायत थी वरन् सोना, चांदी तथा बहुमूल्य जवाहरात की भी कमी न थी। यहां के लोग चमकदार रेशम के कीमती कपड़े पहनते थे। उनके आचार मधुर एवं सर्वसह्य थे। वे धार्मिक थे तथा बौद्धधर्म में श्रद्धा रखते थे, परन्तु संघारामों के बड़े बड़े कक्ष खाली पड़े हुये थे तथा उनमें बहुत कम भिक्षु लोग रहते थे।

मथुरा प्रदेश का विस्तार एक हजार मील का था तथा इसके प्रमुख नगर का विस्तार चार मील का था, जमीन उपजाऊ थी तथा देश में सफेद कपास तथा पीला सोना खूब पैदा होता था। लोगों के स्वभाव मधुर तथा सुसंस्कृत थे और वे पवित्रता का आदर एवं विद्या से प्रेम करते थे। उस नगर में बीस संघाराम तथा दो सहस्त्र बौद्ध भिक्षु थे! वर्ष के प्रथम, पञ्चम तथा नवम् मास उपवासों के मास समझे जाते थे। इन मासों में ६ दिन विशेष पवित्र माने जाते थे। इन सभी दिनों में असंख्य जन इकट्ठे होकर इन स्तूपों पर श्रद्धांजलि अर्पित करते थे। ह्वेनत्सांग इन विशेष पर्वों का वर्णन बड़े ही उत्साह पूर्ण शब्दों में करता है। उसका कहना है कि "वे हीरे जड़े झन्डों को फैला देते हैं, कीमती कपड़ों से बनी हुई छतरियों का जाल-सा बन जाता है, अगरु एवं धूप से सुगन्धित धुआं इतना अधिक उठता है तथा वर्षा की बूँदों के समान इतने अधिक फूल छितराये जाते रहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा नहीं दिखाई पड़ते। देश के राजा, मन्त्री, सेनापति सामन्त से लेकर दीना-तिदीन व्यक्ति भी इन उत्सवों में समान उत्साह तथा प्रेम से सम्मिलित होना अपना कर्तव्य मानते हैं।"

थानेश्वर का राज्य चौदह सौ मील के घेरे में था तथा इसकी राजधानी का चतुर्दिक विस्तार चार मील का था। यहां की जलवायु सुन्दर तथा भूमि उपजाऊ थी, परन्तु मनुष्यों का स्वभाव रूखा तथा अविश्वासनीय था तथा वे विलासी थे।

प्राचीन कुरुक्षेत्र के समीप ही इस प्रदेश की राजधानी थी। इस भूभाग के बारे में ह्वेनत्साङ्ग ने एक अलग ही कहानी कही है। उसके अनुसार दो राजाओं ने समूचे पंचनद प्रदेश को आपस में बाँट लिया तथा यह सम्मिलित घोषणा की कि सम्मुख युद्ध में जो राजा हार जायगा तथा मारा जायगा, उसे मुक्ति मिल जायगी। आगे चलकर वह लिखता है कि दोनों देशों में घनघोर युद्ध हुआ, मुर्दों के टीले बन गये और तभी से उस भू भाग में चारों ओर हड्डी ही हड्डी दिखाई पड़ती है।

श्रुघ्न (उत्तरी दोआब) का राज्य पूर्व में गङ्गा नदी तथा उत्तर में हिमालय पर्वत में सीमित था तथा इसका विस्तार १२०० मील का था। पाठकों को शायद यह याद न दिलाना पड़ेगा कि यही प्रदेश कुरुओं का था, जो ह्वेनत्सांग के समय के २००० पूर्व हुये थे। गङ्गा को देखकर यह यात्री आश्चर्य चकित हो उठा था। इसकी लहरों को उसने समुद्र की लहर मान लिया था और यह भी मान लिया था कि इसमें नहाने से सारे पाप धुल जाते हैं। मतिपुर (पश्चिमी रुहेल खन्ड) का वर्णन करने के पश्चात् लेखक ने मायापुर अर्थात् हरिद्वार का वर्णन किया है और इसे ही गङ्गा नदी का मूल कहा है। हरिद्वार का विस्तार इस यात्री के अनुसार चार मील का था। नगर के समीप ही गङ्गा के किनारे एक तालाब है जो एक नहर द्वारा नदी से मिलाया गया है। इस तालाब के चारों ओर पत्थर की एक सुदृढ़ दीवार है। पंचनद के लोग इस नगर को गङ्गाद्वार कहते हैं। इसी स्थान पर स्नान करने से मानव को सारे पापों से मुक्ति मिल जाती है। सहस्त्रों मील से चलकर लाखों लोग इस पवित्र स्थल पर स्नान करके पापों से छुटकारा पाने के लिये आते रहते हैं। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट तया मालूम हो जाता है कि सातवीं शताब्दी में ही हरिद्वार एक तीर्थस्थान बन चुका था तथा दूर-दूर से लोग स्नान करने के लिये यहां जमा होने लगे थे।

उपरोक्त वर्णन देने के बाद ह्वेनत्सांग ब्रह्मपुर राज्य (आजकल कुमायूँ तथा गढ़वाल) का वर्णन करता है जहाँ सोना पैदा होता था, और "युगों से स्त्रियाँ ही शसिका बनती आयी है, इसी लिये इसे स्त्रियों का राज्य कहा जाता है। शसिका स्त्री का पति राजा अवश्य कहा जाता है परन्तु उसे शासक कार्य का कोई भी काम नहीं देखना पड़ता और न उसे इस रूप में कोई अधिकार ही प्राप्त होता है। मर्द केवल युद्ध तथा खेती बारी का काम करते हैं।" निस्संदेह यह वर्णन हिमालय की तराई में बसे उन प्रदेशों की परम्पराओं के अनुकूल है, जहाँ आज भी एक एक स्त्री के कई-कई पति होते हैं।

कुछ दूसरे प्रदेशों को देखता हुआ ह्वेनत्सांग कन्नौज में गया। यह वही

पुराना राज्य था, जिसे ह्वेनत्सांग से २००० वर्ष पूर्व अपनी सभ्यता पर गर्व था। यहीं पर पांचालों ने अपनी सभ्यता विकसित की थी, जब मगध तथा उसके आस-पास के निवासी बर्बर अवस्था में थे। यद्यपि कालान्तर में मगध ने अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त तथा अशोक के शासन में इसके यश अथवा वैभव को ग्रस लिया फिर भी ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही इस प्रदेश ने गुप्त वंश का केन्द्र बन कर फिर चमकना प्रारम्भ कर दिया था। ह्वेनत्सांग के समय में सम्पूर्ण उत्तरी भारत का शासक शीलादित्य द्वितीय कन्नौज की गद्दी पर था।

ह्वेनत्सांग कालीन कन्नौज राज्य का विस्तार ८०० मीलों में था, तथा धन अथवा वैभव से पूर्ण इस प्रदेश की राजधानी चार मील लम्बी तथा एक मील चौड़ी थी। शहर के चारो ओर एक गहरी तथा चौड़ी खाई थी तथा स्थान-स्थान पर ऊँची और सुदृढ़ मीनारें एक दूसरे की ओर मुँह किये खड़ी थी। हर तरफ बागों और फूलों, झीलों और तालाबों की बहार थी, जिनके जल की पवित्रता अथवा सफाई मन-मोहक थी। इस नगर में अमूल्य सामानों का ढेर का ढेर दूकानों में हर समय बिक्री के लिए तैयार रहता था। लोग धनी और सन्तुष्ट थे तथा इनके भवन मजबूत तथा सुन्दर थे। प्रत्येक स्थान फल-फूलों से भरा था। खेत उचित समय पर बोये तथा काटे जाते थे। जलवायु सुन्दर एवम् समशीतोष्णा थी। लोग ईमानदार तथा लगन वाले थे। देखने से ही वे लोग भले तथा सुन्दर लगते थे। पहनने के कपड़ों पर नाना प्रकार के तारों का काम किया जाता था। विद्याभ्यास ही उनका प्रमुख व्यसन था तथा उनके विवाद धार्मिक प्रश्नों तक ही सीमित थे। उनकी शुद्ध भाषा की ख्याति सुदूर देशों तक थी। बौद्धों तथा हिन्दुओं की संख्या प्रायः समान थी। कई सौ संघारामों में दस सहस्त्र भिक्षुक रहते थे तथा दो सौ मन्दिरों में कई हजार हिन्दू पूजा करते रहते थे।

कन्नौज का वर्णन करते समय पहली बार ही ह्वेनत्सांग ने ऐसा किया है कि उसने इस राज्य के इतिहास पर भी प्रकाश डाला है। अन्य किसी राज्य के इतिहास वर्णन में जैसे उसकी रुचि ही नहीं थी। उसके अनुसार कन्नौज का राजा पहले प्रभाकर वर्द्धन था। उसकी मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का राज्यवर्द्धन गद्दी पर बैठा, परन्तु थोड़े ही समय बाद कर्ण सुवर्ण के राजा शशांक नरेन्द्र गुप्त द्वारा मार डाला गया अतः उसके मंत्रियों ने बहुत कुछ समझा बुझाकर उसके छोटे भाई हर्ष वर्द्धन को गद्दी पर बैठाया। गद्दी पर बैठ कर उसने शीलादित्य की उपाधि ग्रहण की। उसने ह्वेनत्सांग का बड़ा स्वागत किया। यह शीलादित्य द्वितीय था क्योंकि जैसा हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं तथा अगले पृष्ठों में भी देखेंगे कि शीलादित्य प्रथम

ह्वेनत्सांग के समय से साठ साल पूर्व गद्दी पर था। शीलादित्य द्वितीय ने ६१२ ई० से ६५० ई० तक राज्य किया।

शीलादित्य द्वितीय ने बड़ी तेजी से शक्ति संग्रह किया। शीघ्र ही उसने ५,००० हाथी, २००० घुड़सवार तथा ५०,००० पैदल सेना इकट्ठी कर ली और ६ वर्षों में ही उसने "समस्त पंचनद प्रदेश को अपने अधीन कर लिया।" उसकी निष्ठा बौद्ध धर्म में थी। उसने पशुबलि बन्द कर दिया, स्तूपों का निर्माण कराया तथा अपने समूचे साम्राज्य में सभी बड़े स्थानों पर अस्पताल बनवा कर वहाँ वैद्य रख दिये। इन सभी अस्पतालों में रोगियों को मुफ्त खाने पीने की एवम् मुफ्त औषधि की व्यवस्था थी। आगे चल कर लेखक ने भी प्रति पाँचवें वर्ष में आयोजित किये जाने वाले धार्मिक मेले का वर्णन किया है। तथा उसमें राजा द्वारा अत्यधिक दान का वर्णन किया है।

ह्वेनत्सांग नालन्दा विद्यालय में कामरूप के राजा के संग रह रहा था, जब शीलादित्य का आदेश राजा के पास पहुँचा कि "मेरी इच्छा है कि आप उस विदेशी यात्री के साथ अवश्य ही इस सभा में सम्मिलित हों, जिसका आतित्थ भार आपने नालन्दा में अपने ऊपर ले रक्खा है।" इस आदेश को पाकर राजा कामरूप के साथ ह्वेनत्सांग शीलादित्य के यहाँ आया तथा राजा ने ही सम्राट् से उसका परिचय कराया। सम्राट् ने चीनी यात्री से उसके देश के बारे में अनेक प्रश्न किया और यात्री द्वारा दिये गये उत्तरों से प्रभावित भी हुआ और प्रसन्न भी। जब उक्त मेले के समाप्त होने तथा सम्राट् के कन्नौज लौटने का समय आया तो उसने एक धार्मिक विद्वानों की सभा का आयोजन करने की घोषणा की तथा हजारों लोगों के आगे-आगे चलता हुआ सम्राट् गंगा के दक्खिनी किनारे के सहारे कन्नौज की ओर लौटा। कामरूप का राजा भी गंगा के उत्तरी किनारे के सहारे अपने देश को गया। सम्राट् ९० दिनों में अपनी राजधानी में पहुँचा।

जिन बीस देशों के राजाओं को धार्मिक सभा में आने का निमन्त्रण दिया गया था, वे सभी अपने अपने साथ श्रमणो एवम् ब्राह्मणों का एक-एक दल लेकर राजधानी में इकठे हुये। ये सभी ब्राह्मण एवं बौद्ध लोग अपने अपने देश के विद्वानों में सर्व प्रमुख थे। इन देशों से कितनी ही सेना भी आई थी तथा कितने ही न्यायाधीश भी आये थे। वास्तव में यह सभा राजाओं की ही सभा थी। गंगा के पश्छिमी किनारे पर सम्राट् ने एक विशाल एवम् भव्य संघाराम बनवाया, उसके पूर्व में थोड़ी ही दूर पर एक सौ फीट ऊँची मीनार बनायी गयी तथा दोनों के बीच में मानवाकार बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित की गयी थी। बसन्त के बाद वाले

महीने की पहली से लेकर इक्कीसवीं तारीख तक सम्राट् ने ब्राह्मणों तथा श्रमणो का समान रूप से सत्कार किया। संघाराम से लेकर केवल इसी कार्य के लिये निर्मित सम्राट् के अस्थायी राजभवन तक स्थान-स्थान पर संगीतज्ञों के लिये सायेदार चबूतरे तथा उनके निवास स्थान बनाये गये ये जहाँ से निरन्तर संगीत की ध्वनि आती रहती थी। महात्मा बुद्ध की एक छोटी सी प्रतिमा का भव्य जुलूस एक पूर्ण सुसज्जित हाथी पर निकाला गया। बुद्ध जी के इस हाथी की बाईं ओर इन्द्र के से कपड़ों में सजे हुए स्वयम् सम्राट् चल रहे थे तथा उतनी ही सज्जा से युक्त दायीं ओर कामरूप के राजा थे। दोनों की सेवा में पाँच-पाँच सौ सुसज्जित हाथी चल रहे थे। प्रतिमा के आगे एक सौ सुसज्जित हाथी चल रहे थे। सम्राट् शीलादित्य अपने चतुर्दिक स्वर्ण एवम् रत्न बिखेरता चल रहा था। प्रतिमा को गंगा में स्नान कराकर सम्राट् ने स्वयम अपने कंधे पर उठाया और ले जा कर मीनार पर रक्खा तथा वहाँ उस प्रतिमा को सुन्दर रेशमी वस्त्र पहनाये गये। बहुमूल्य अलंकारों से उसे सजाया गया। इसके बाद एक सहभोज हुआ जिससे निवृत्त होकर सभी विद्वान् सभा में सम्मिलित हुये। वहाँ अनेक प्रकार के शास्त्रार्थ हुए तथासंध्या होने पर सम्राट् अपने अस्थायी निवास को लौट गया।

यही कार्यक्रम नित्य चलता रहा। सभा के अन्तिम दिन उस मीनार से आग की लपटें निकलने लगी। यदि ह्वेनत्सांग की बात पर विश्वास किया जा सके तो यही मानना होगा कि ब्राह्मणों ने समाट् का बौद्ध धर्मानुराग देखकर न केवल आग ही लगा दी, वरन् सम्राट् को भी मार डालने का भी प्रयत्न किया, जो भाग्यवश सफल न हो सका, परन्तु ह्वेनत्सांग जैसे पक्के एवम् पक्षपात पूर्ण बौद्ध की बात को प्रामाणिक मानना बुद्धिमानी की बात न होगी।

उपरोक्त वर्णन से यह पता चल जाता है कि सम्राट् का किस प्रकार का अधिकार उत्तरी भारत के अन्य राजाओं पर था। अनेक राज्यों में विभाजन भारत की प्रकृति है। इसी वर्णन से यह भी पता चलता हैं कि हिन्दुओं की ही भाँति बौद्धों ने भी मूर्तिपूजा शुरू कर दिया था। इतने शानदार जुलूस जलसे के साथ उत्सव मनाना भी हिन्दुओं का प्रभाव था। तीसरी बात यह सिद्ध होती है कि तत्कालीन भारती राजा था। सम्राट् चाहे जो भी धर्म मानते रहे, परन्तु वे विद्वानों का आदर अवश्य ही करते थे तथा इसी कारण दोनों धर्मों की प्रतियोगिता पर्याप्त सद्भावना पूर्ण थी। चौथी अन्तिम बात का पता भी इसीसे चल जाता है कि किस प्रकार की ईर्ष्या की भावना से ब्राह्मण लोग बौद्ध धर्म का यह उत्थान देख रहे थे। उनकी

इसी स्वस्थ ईर्ष्या का परिणाम था कि अगली दो शताब्दियों में ही उन्होंने फिर अपना सिक्का जमा लिया।

ह्वेनत्सांग ने अयोध्या राज्य का बिस्तार एक हजार मीलों का पाया था। यह राज्य खाद्यानों फलों एवम फूलों से पट पड़ा था। जलवायु समशीतोष्ण एवम सुखकर थी, तथा लोग पवित्र भावना से युक्त थे। अन्य स्थानों की तरह इसमें भी हिन्दू तथा बौद्ध साथ साथ प्रेमपूर्वक निवास करते थे। राज्य में एक सौ संघाराम में तीन सहस्त्र बौद्ध श्रमण रहते थे।

प्रमुख राज्य से होता हुआ यह यात्री प्रयाग या इलाहाबाद में आया। इस राज्य का विस्तार एक हजार मील का था, जमीन उपजाऊ थी, खेती खूब होती थी तथा फलों की बहुतायत थी। यहां के लोग सीधे एवम् सन्तोषी थे। यहाँ बौद्धों का सम्मान कम था क्योंकि यहाँ अधिकाँश कट्टर हिन्दू रहते थे। ह्वेनत्सांग ने उस महान् वृक्ष को भी देखा था जो उसे अक्षयबट के नाम से दिखाया गया था।

गंगा एवम् यमुना के संगम पर प्रतिदिन सहस्त्रों नर नारी स्नान करते देखे जाते थे। ह्वेनत्सांग के अनुसार इस देश के लोगों का विश्वास है कि यदि भोजन की मात्रा घटाते घटाते चावल के एक दाने तक लाया जाय और उस समय गंगा में प्राण विसर्जन किया जाय तो मोक्ष मिल जाता है। इस नदी के बीचो बीच एक स्तम्भ बना हुआ था जिस पर बैठ कर लोग अस्तकालीन सूर्य को निहारा करते थे।

कौशाम्बी में महात्मा बुद्ध के उपदेश प्रायः हुआ करते थे। उस समय (ह्वेन-सांग के समय) भी इस राज्य की दशा अच्छी थी। राज्य का विस्तार बारह सौ मील था तथा इसमें चावल व गन्ना खूब पैदा होता था। यद्यपि लोगों का विश्वास था कि यहाँ के लोग कठोर होते हैं, परतु फिर भी ये लोग परिश्रमी और ईमानदार थे। उनका धर्मानुराग भी स्तुत्य था।

श्रावस्ती कोशल राज्य की पुरानी राजधानी थी, जहाँ गौतम के उपदेश हुआ करते थे। ह्वेनत्सांग के समय में यह नगरी उजाड़ हो रही थी। देश का विस्तार बारह सौ मील था। यहाँ के लोग पवित्र, धर्मानुरागी एवम् प्रेमी थे। उनका विद्याप्रेम भी स्तुत्य था।

गौतम बुद्ध का जन्म स्थान कपिल वस्तु उजाड़ हो रहा था। देश में दस नगर थे जो सब उजड़ रहे थे। देश का विस्तार आठ सौ मील का था। राजधानी का घेरा तीन मील का था, यद्यपि नगरी उजड़ गयी थी। वह ईंटों का बना हुआ था। देश में कोई राजा नहीं था। हर नगर के लोग अपने शासक की नियुक्ति करते थे। लोग मधुर स्वभाव के तथा उपकारी थे।

गौतम बुद्ध का निर्वाण-स्थल कुशी नगर भी उजाड़ हो चुका था तथा ईंटों की नीव का विस्तार दो मील में था।

इलाहाबाद एवं हरिद्वार की तरह ही बनारस भी हिन्दुओं का शक्ति केन्द्र था। व्हेनत्सांग के समय में भी यह नगरी उतना ही आदर पा रही थी, जैसे कि पहले के समय में। देश का विस्तार आठ सौ मील में था तथा यह नगरी चार मील लम्बी एवं मील भर चौड़ी थी। यहां के निवासी अति सभ्य, सुसंस्कृत एवं प्रेमी थे, साथ ही वे बहुमूल्य वस्तुओं के संग्रह के प्रेमी थे। उनका स्वभाव कोमल था वे अध्ययनशील थे। यहां के अधिकांश लोग हिन्दू थे तथा पूजा पाठ नैत्यिक रूप से करते थे। कुछ थोड़े से बौद्ध भी थे और लोग उनका भी आदर ही करते थे। नगर में तीस संघारामों में तीन हजार श्रमण रहते थे तथा एक सौ देवमन्दिरों में दस सहस्त्र पुजारी थे। इसमें माहेश्वर शिव की पूजा होती थी। कुछ लोग अपना सर मुड़ाये हुये नङ्गे बदन रहते थे। सारे शरीर में भस्म रमाये रहते थे तथा भविष्य में पुनर्जन्म न हो, इसलिये वे नाना प्रकार की साधनायें किया करते थे।

बनारस शहर में बीस देवालय थे। जिनकी दीवारें पत्थर की थीं, जिन पर सुन्दर खुदाई का काम था। इन देवालयों के विभिन्न कक्षों में लकड़ी के सुन्दर, कौशल पूर्ण काम देखने योग्य थे। मन्दिरों पर पेड़ों की छाया रहती थी तथा वे चतुर्दिक पानी से घिरे रहते थे। माहेश्वर की एक ताँबे की मूर्ति एक सौ फीट ऊँची थी। "देखने में यह अति भव्य व गम्भीर है तथा जीवनमय ज्ञात होती है।"

शहर के उत्तर पूर्व में एक स्तूप है और इस स्तूत के सामने एक स्तम्भ है, वह आइने की भांति चमकता है तथा उसका तल बर्फ की तरह चिकना व चमकदार है। वरुणा नदी से दो मील दूर हिरन बाग है, जहाँ गौतम बुद्ध ने सर्व प्रथम अपना उपदेश दिया था। यह संघाराम आठ भागों में विभाजित था। कई मंजिल ऊँची मीनारें थीं जिसमें सुन्दर बारजे बने थे। ये सभी मीनारें अति सुन्दर एवं भव्य थीं। एक ऊँची चहार दीवारी के बीच में दो सौ फीट ऊँचा विहार बना था जिसकी छत पर सोने के पत्र से मढ़ा हुआ एक आम्रफल रक्खा था। विहार की नींव पत्थर की थी, परन्तु मीनारें तथा सीढ़ियाँ ईंटों की बनायी गयी थी। विहार के मध्य में महात्मा बुद्ध की एक मानवाकार प्रतिमा थी, जिसकी स्थापना इस भांति की गयी थी, जैसे वह धर्म्र-चक्र को चला रही हो। यहीं से गौतम ने अपना धर्मोपदेश प्रारम्भ किया था, इसी तथ्य को यह प्रतिमा निर्देशित करती है।

व्हेनत्सांग बज्जियों के राज्य का पृथक् रूप से वर्णन करता है जिसका विस्तार उसने आठ सौ मील का बताया है। वास्तव में लिच्छवि तथा बज्जी एक ही थे या

यह हो सकता है कि बज्जियों की आठ शाखाओं में एक लिच्छवि लोग भी थे। यात्री ने वैशाली की सभा का भी वर्णन किया है, जो लेखक के अनुसार तथागत की मृत्यु के ११० वर्षों बाद इसलिए आयोजित की गयी थी कि विभिन्न वाह्याडम्बरों से धर्म के तत्व को मुक्त करके उसे शुद्ध रूप में लाया जाय। इस सभा ने, उन उपदेशों का वास्तविक निरूपण किया, जिन्हें लोग भूल चुके थे तथा इस प्रकार धर्म तत्वों को शुद्ध रूप दिया।

तब इस यात्री ने नेपाल में पदार्पण किया। वहां के लोगों से वह विशेष प्रभावित नहीं हुआ। उसके अनुसार इस देश के लोग गलत ढङ्ग के काम करने वाले तथा षड्यन्त्र प्रेमी थे, तथा स्वाभाविक रूप ये वे कठोर तथा भयंकर थे। न तो वे सत्य का आदर करते थे और न स्वयं आदरणीय थे। उनका रूप ही विद्रोही था। नेपाल से ह्वेनत्सांग वैशाली गया। वहां गङ्गा पार कर वह मगध पहुँच गया, जो उसके लिए पवित्र संस्मरणों का भंडार सिद्ध हुआ। इस लेखक ने कुल बारह पुस्तकें लिखी, इनमें से दो पुस्तकों की सम्पूर्ण सामग्री उसे मगध से ही प्राप्त हुई। यहां न तो लोक गाथायें ही कम थीं, न धार्मिक अवशेष ही कम थे और न आवश्यक दृश्यों का अभाव था। ये सब के सब उस राज्य में भरे पड़े थे।

मगध राज्य का विस्तार एक हजार मीलों में था। दीवालों से घिरी नगरियों में आबादी कम ही थी। छोटे-छोटे नगर खूब घने बसे थे। जमीन अच्छी थी तथा उससे अत्यधिक गल्ला पैदा होता था। देश की भूमि नीची और इसीलिये नम थी। अतएव नगर ऊँचो जमीन पर बसे हुये थे। वर्षा काल में देश में चतुर्दिक पानी ही पानी दिखाई पड़ता था। ऐसे समय नावों द्वारा ही इधर-उधर आना जाना होता था। डाक का प्रबन्ध भी नावों के ही सहारे होता था यहाँ की जनता समृद्ध एवं सादे रहन-सहन वाली थी। उनमें ईमानदारी अधिक थी। वे विद्या एवं विद्वानों का आदर करते थे तथा उनकी श्रद्धा बौध धर्म पर अधिक थी। राज्य में पचास संघारामों में दस सहस्त्र श्रमण लोग रहते थे, तथा दस देवालयों में कितने ही हिन्दू पुजारी उपासनानत रहते थे।

पाटलीपुत्र का पुराना नगर फाहियान के समय में पूर्ण समृद्ध तथा अत्याधिक घना बसा हुआ था परन्तु इस यात्री ने जब इसे देखा तो यह करीब-करीब निर्जन हो चुका था। केवल नींव की दीवारे दिखाई पड़ती थी। यात्री को अशोक तथा उसके भाइयों के विषय में बहुत कुछ लिखना था। बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, तथा अश्वघोष लेखों की विस्तृत विवेचना आवश्यक है। उसने अगणित स्तूपों एवं विहारों तथा उनकी दीवारों पर खचित महात्मा बुद्ध के जीवन वृत्तों

को भी चित्रित करने का प्रयास किया है। इन लेखों का वर्णन इस स्थल पर आवश्यक नहीं है। यात्री वहां से चलकर गया पहुँचा, जहां कुल एक सहस्त्र परिवार ही रहते थे। वहां से उसने बोधिवृक्ष का दर्शन किया। इस वृक्ष के पास ही एक विहार था जो एक सौ साठ या सत्तर फीट ऊँचा था, जिसकी दीवारों पर सुन्दर दृष्य चित्रित थे। कहीं-कहीं पर गुथी हुई मोतियों के गुच्छों से सजावट हुई थी। स्थान-स्थान पर स्वर्गीय ऋषियों की मूर्तियां चित्रित की गयीं थी। पूरा विहार आमलक के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से घिरा हुआ था। इसके समीप ही लंका के राजा द्वारा बनवाया हुआ महाबोधि संघाराम इस विहार से भी अधिक भव्य था। इसमें ६ दीवारें थी, तथा चतुर्दक निरीक्षण के लिये तीन मंजिल ऊँची मीनारें थीं। यह पूरा का पूरा संघाराम तीस या चालीस फीट ऊँची दीवार से चतुर्दिक घिरा हुआ था। "इस संघाराम में भवन निर्माण कला का सर्वोच्च कौशल प्रयोग में लाया गया है। भव्य एवम् सुन्दर रंगों से इसकी भित्तियाँ चित्रित की गयी है। महात्मा बुद्ध की प्रतिमा सोने चाँदी के सम्मिश्रण से बनी है तथा उसमें स्थान-स्थान पर बहुमूल्य रत्न लगाये गये हैं। स्तूप बहुत ही ऊँचे हैं तथा एक दूसरे के पूर्ण समानुपात में हैं। इन पर की सजावट दर्शनीय है।"

बोधिवृक्ष के आसपास की सारी भूमि ही ह्वेनत्सांग के समय तक भी पवित्र मानी जाती थी, तथा इसकी पवित्रता तब तक कायम रही जब तक इस देश में बौद्ध धर्म का लवलेश भी रहा। भारत में प्रायः सभी वर्ग के लोग वर्षा काल भर एक ही स्थान पर बने रहते है। "वर्षा के बाद जब लोगों का आवागमन शुरू हो जाता था तो दूर-दूर से हजारों की संख्या में आकर श्रमणलोग इकट्ठे होते हैं लगातार सात दिनों तक वे इस स्थान पर निरन्तर अगरू, धूप जलाकर व्रत रखते हैं तथा प्रतिदिन नाना प्रकार की वस्तुएँ भेंट में प्रतिमा के आगे रखते हैं।" आज तो बौद्ध उत्सवों की परम्परा ही समाप्त हो गयी है, परन्तु प्रत्येक इतिहास प्रेमी को इन उत्सवों की कल्पना उस पृष्ठ भूमि में करनी चाहिये, जिस में आगे चल कर हिन्दुओं के महान् उत्सवों की महान् सज्जा के दर्शन होते हैं। इन उत्सवों की परम्परा इस प्रकार कायम रही कि हिन्दुओं से बौद्धों ने तथा बाद में बौद्धों से हिन्दुओं ने प्रेरणा ली।

बोधिवृक्ष के दर्शन करने के पश्चात् ह्वेनत्सांग राजगृह आया। यह नगर अजातशत्रु तथा बिम्बसार के समय में मगध साम्राज्य की राजधानी रहने का गौरव प्राप्त कर चुका था। शहर की बाहरी चहार दीवारी ध्वस्त हो चुकी थी। भीतरी दीवारें अभी शेष थीं यद्यपि वे भी भग्नावस्थाएँ में थीं। उनका विस्तार ४ मील था।

उसने पत्थर का बना हुआ वह कलश देखा जिसमें गौतम बुद्ध की मृत्यु के फौरन बाद ही बौद्धों का विराट सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता कश्यप ने की थी। व्हेनत्सांग के शब्दों में उसका कथन था कि "आनन्द ने तथागत के सारे उपदेशों को सुना है अतः वह उन्हें सूत्र पिटक में संगृहीत करे। उपाली तथागत के द्वारा निरुपित किये गये धार्मिक तत्वों को अच्छी तरह समझता है, अतः वह विनय पिटक में उन तत्वों का संग्रह करे और मैं स्वयम् अभिधर्म पिटक के लेखों को संगृहीत करूँगा। इस योजना के अनुसार वर्षा काल के विश्राम काल भर में अर्थात् तीन ही महीनों में तीनों पिटक तैयार हो गये।"

इसके पश्चात् व्हेनत्सांग नालन्दा विश्वविद्यालय में उपस्थित हुआ। इस विद्यालय में कई सहस्त्र बौद्ध भिक्षु रहते थे जो अपनी विद्या, अपनी प्रतिभा तथा अपने चरित्र में बेजोड़ थे। "भारत के सारे राज्यों के लोग उन्हें मानते एवम् सम्मान करते हैं तथा उनके अनुगामी हैं। सारा दिन बीत जाता है परन्तु शंका करके उनका समाधान पाने की इच्छा रखने वालों का क्रम समाप्त नहीं होता। सुबह से रात तक इस विद्यालय में धार्मिक वादविवाद होता रहता है। यहाँ वृद्ध तथा युवक एक दूसरे की सहायता करते रहते हैं। जो लोग त्रिपिटक के सम्बन्ध में उठायी गयी शंकाओं का समाधान नहीं कर पाते उनका सम्मान कम हो जाता है। वे विद्वान लज्जा से अपना मुँह छिपा लेते हैं। दूर-दूर से बड़े-बड़े विद्वान अपनी अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करने के लिए इस विद्यालय में उपस्थित होते हैं तथा यहाँ से ज्ञान की अजस्र धारा दिन रात प्रवाहित होती रहती, जो लाखों करोड़ो जिज्ञासुओं की ज्ञान पिपासा को शान्त करती रहती है। जिस किसी को भी ख्याति की इच्छा होती है, वही विद्यालय में होने वाले वाद विवादों में अपनी धाक जमाना चाहता है। इसीलिए कितने ही विद्वान अतधिकृत रूप से अपने को नालन्दा विद्यालय का स्नातक कहने लगते हैं तथा इस प्रकार चतुर्दिक आदर अथवा सम्मान पाते हुये भ्रमण किया करते हैं।"

डा० फर्ग्युसन का कहना है कि जिस प्रकार मध्ययुगीन फ्राँस में "लाखों विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र थे उसी प्रकार भारत में नालन्दा समस्त विद्याओं का केन्द्र था। यहाँ की ज्ञान गंगा न केवल भारतवासियों की ही वरन् सुदूरस्थ विदेशो की जनता की भी ज्ञान पिपासा शान्त करती है।" निस्सन्देह डा० फर्ग्युसन का यह कथन उचित है। आगे चलकर वे कहते हैं कि "बौद्ध धर्म तथा ईसाई धर्म में जितनी समानता है, उतनी ही समानता विभिन्न देशस्थ इन विद्या केन्द्रों में भी है। दोनों धर्मों में इतना ही अन्तर है कि बौद्ध धर्म ईसाई धर्म से पाँच शताब्दी

आगे है, अन्यथा इनके नियम, उपनियम, व्यवस्थायें एवम् सामयिक उत्सव सब समान हैं।"

नालन्दा का विशाल विहार विद्यालय की महानता के अनुरूप ही था। ऐसा कहा जाता है कि इसके बनवाने में चार सम्राटों ने एक के बाद एक इसमें परिश्रम किया। इन सम्राटों के नाम थे, शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त तथा बालादित्य। जब यह बिहार बन कर तैयार हो गया तो दो-दो हजार मील चलकर लोग उस सभा में सम्मिलित होने के लिये आए, जो इस उपलक्ष में आयोजित की गयी थी। पड़ोस में ही अन्य विहारों का भी निर्माण किया गया था। इन बिहारों को परवर्ती राजाओं तथा सम्राटों ने बनवाया था। बालादित्य का बनाया हुआ एक विशाल विहार बड़ा ही नेत्ररंजक था, तथा इसकी ऊँचाई तीन सौ फीट थी। "अपनी भव्यता विशालता तथा इस विहार में स्थापित की गयी बुद्ध प्रतिमा के कारण यह उस विहार की समानता करता है, जो बोधि-वृक्ष के पास बनाया गया है।"

मगध में कुछ समय तक रहने के बाद ह्वेनत्सांग 'हिरण्य पर्वत' प्रदेश में आया, जो, जेनरल कनिंघम की राय में वर्तमान काल का मुंगेर है। इस राज्य का विस्तार ६०० मील का था। मिट्टी उपजाऊ थी, खेती जोरों की होती थी, जलवायु सुन्दर थी तथा यहाँ के लोग सादे तथा ईमानदार होते थे। राजधानी के बगल में ही गरम पानी के सोते थे, जिनसे अत्यधिक भाप एवम् कुहरा उठा करते थे।

ह्वेनत्सांग के अनुसार अंग अर्थात् पूर्वी विहार की प्राचीन राजधानी थी चम्पा नगरी, जो आजकल के भागलपुर के समीप ही बसी थी। राज्य का विस्तार आठ सौ मील था। जमीन समतल तथा उपजाऊ थी तथा अधिकांश जोती जाती थी। ताप समशीतोष्ण था। राजधानी की चहारदीवारी कई दहाई फीट ऊँची थी एवम् इसकी कुर्सी इतनी ऊँची थी कि उसे देख कर दुश्मनों को निराशा होती थी, क्योंकि प्रत्येक आक्रमण को विफल बनाने में वह समर्थ थी।

कई अन्य स्थानों को देखता हुआ ह्वेनत्सांग पौड्र नगर में या पौंड्र वर्द्धन में आया जो आजकल के उत्तरी बंगाल के रूप में जाना जा सकता है। इस यात्री के वर्णन के अनुसार इस राज्य का विस्तार ८०० मील था तथा यह समूचा प्रदेश अत्यधिक घना बसा हुआ था। यहाँ तालाब, जल कार्यालय एवम् फूलों के बगीचे क्रम से सजाये गये थे। जमीन समतल, उपजाऊ तथा हर प्रकार के खाद्यान्न के लिये उपयुक्त थी। इस राज्य में बीस संघाराम तथा तीन सौ श्रमण रहते थे। कुछ सौ की संख्या में देव मन्दिर भी थे, जिनमें विभिन्न सम्प्रदाय वाले अपनी अपनी

मूर्ति की उपासना अपने ढंग से करते थे। इन उपासकों में नंगे रहने वाले निर्ग्रन्थों की ही संख्या अधिक थी।

पूर्व की ओर एक बड़ी नदी (ब्रह्मपुत्र) के उस पार कामरूप देश था, जिसका विस्तार २,००० मील था। उस समय के कामरूप में आजकल के आसाम मनीपुर, कचार, मैंमनसिंह तथा सिलहट के प्रदेश सम्मिलित थे। जमीन उपजाऊ थी तथा अधिकांश भाग में खेती की जाती थी। यहाँ पर नारियल बहुतायत से होता था। नगरों के चारो ओर या तो किसी नदी का पानी या किसी जलसंग्रह का जल भरा रहता था। जलवायु समशीतोष्ण तथा आनन्द दायक थी। लोग सादे आचार विचार के तथा ईमानदार होते थे। आदमियों की ऊंचाई अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कम होती थी और उनका रंग सांवलापन लिये हुए पीला होता था तथा उनकी भाषा मध्यभारत की भाषा से भिन्न थी। वे शक्तिशाली होते थे तथा उनको स्मरण शक्ति बहुत ही तीव्र होती थी। वे अध्ययनशील भी बहुत होते थे।

इनका विश्वास बौद्ध धर्म में नहीं था। यहाँ सौ के करीब देवमन्दिर थे जिनमें सदैव ही उपासना एवम बलि का क्रम चालू रहता था। इस प्रदेश में बौद्ध संघाराम एक भी नहीं था। यहाँ का राजा जाति का ब्राह्मण था। उसका नाम भास्कर वर्मन था तथा वह कुमार की पदवी धारण करता था। पाठकों को स्मरण होगा कि इसी राजा ने यात्री व्हेनत्सांग का परिचय शीलादित्य से कराया था।

कामरूप के दक्षिण में समतल प्रदेश या वर्तमान पूर्वी बंगाल था। राज्य का विस्तार छः सौ मील था। जमीन नीची, समतल तथा उपजाऊ थी और अधिकांश कृषिगत थी। खाद्यान्न एवम् फल बहुतायत से पैदा होते थे, राजधानी का विस्तार चार मील था। आदमियों का कद छोटा एवम रंग काला था परन्तु वे खूब परिश्रमी थे तथा वे विद्या प्रेमी थे और विद्याप्राप्ति के हेतु वे कड़ा श्रम करने को सदैव तत्पर रहते थे। व्हेनत्सांग का यह वर्णन पूर्वी बंगाल के लोगों पर पूर्णतया घटित होता है। देश में तीस संघाराम तथा उनमें दो हजार साधु लोग रहते थे। देवमन्दिरों की संख्या कुल सौ थी तथा निर्ग्रन्थ अथवा नंगे रहने वाले भी थे।

समतल प्रदेश का वर्णन करने के पश्चात् व्हेनत्सांग ने ताम्रलिप्ति राज्य का वर्णन किया है। यह आजकल का पश्चिमी बंगाल है तथा इसे तमलुक भी कहते थे। इसमें वर्तमान मिदनापुर भी शामिल था। राज्य का विस्तार तीन मील था तथा इसकी राजधानी बन्दरगाह भी थी। यहाँ के निवासी कठिन परिश्रमी अथवा बहादुर थे। तथा उनमें तेजी के साथ-साथ जल्दबाजीपन बहुत था। देश की सीमा समुद्र से निर्धारित थी तथा यहां अनेकानेक बहुमूल्य वस्तुओं तथा जवाह-

रात का संग्रह था। लोग समृद्ध थे। राज्य में इस संघाराम तथा पचास देवालय थे।

इसके पश्चात् ह्वेनत्सांग कर्णसुवर्ण राज्य का वर्णन करता हैं, जो आजकल पच्छिमी बङ्गाल का वह भाग है जिसमें मुर्शिदाबाद भी शामिल है। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि यहीं के राजा शशांक नरेन्द्रगुप्त ने कन्नौज के सम्राट शीलादित्य द्वितीय के भाई राज्य वर्द्धन को हराया और मारा था। देश का विस्तार तीन सौ मील था और वह अत्यधिक घना बसा हुआ था। लोग धनी, विद्या प्रेमी अथवा ईमानदार थे। जमीन बराबर जोती जाती थी। जलवायु आनन्द दायक थी। देश में दस संघाराम तथा पचास देवालय थे।

उपरोक्त वर्णन से पाठक सहज ही देख सकेंगे कि आजकल का मुख्य बंगाल (विहार, उड़ीसा को छोड़कर) उन दिनों पाँच बड़े राज्यों में बंटा हुआ था। उत्तरी बङ्गाल पौंड्र था, आसाम तथा उत्तरी पूर्वी बङ्गाल उस समय कामरूप था, पूर्वी बङ्गाल समतल के रूप में था तथा पश्चिमी बङ्गाल कर्णसुवर्ण कहलाता था। दक्षिण पश्चिम बङ्गाल उस समय का कर्णसुबर्ण राज्य था। बङ्गाल के वर्णन के साथ ह्वेनत्सांग का उत्तरी भारत भ्रमण समाप्त होता है। अब हम उन वर्णनों को पढ़ेंगे जो उसने दक्षिण के बारे में किया है।

उद्र अर्थात् वर्तमान उड़ीसा राज्य का विस्तार चौदह सौ मील था। इसकी राजधानी का विस्तार पाँच मील था। जमीन उपजाऊ थी तथा उसमें सभी प्रकार के खाद्यान्न तथा अनेक जड़ी बूटियाँ पैदा होती थी। यहाँ के लोग अधिक सभ्य नहीं थे, सांवलापन लिये हुये पीले वर्ण के थे, तथा मध्य देश वालों से भिन्न भाषा बोलते थे। जब कि उत्तरी भारत के राज्यों में बौद्ध धर्म का प्रसार नहीं हो रहा था, तब भी इस देश में बौद्ध धर्म का पूर्ण प्रचलन था तथा बौद्धों का यह एक सुदृढ़ दुर्ग था। यहाँ संघारामों की संख्या कई सौ थी, जिनमें दस हजार श्रमण रहते थे। देवमन्दिरों की संख्या पचास थी।

उड़ीसा पहले से भी तीर्थस्थल बना हुआ था, यद्यपि तब तक पुरी का मन्दिर नहीं बना था। वहाँ पुष्पगिरि नाम का एक संघाराम था, जो राज्य की दक्षिणी पूर्वी सीमा पर स्थित एक पहाड़ी पर बना था। यह कहा जाता है कि इसी संघाराम के एक पाषाण निर्मित स्तूप से एक विचित्र प्रकार का प्रकाश निकलता है। अति दूर-दूर से बौद्ध लोग यहाँ आते हैं तथा सुन्दर काम किये हुये छत्र भेंट में देते थे। वे उस छत्र को वहीं गाड़ देते थे। जगन्नाथ पुरी में यह प्रथा झंडे गाड़ने के रूप में आज भी प्रचलित है।

यहाँ से दक्षिण पूर्व में एक बन्दरगाह था जिसे चरित्र कहते थे। व्हेनत्सांग के शब्दों में "यहीं से व्यापारी लोग सौदों से लदे जहाज से लेकर विदेशों को प्रस्थान करते थे। विदेशी लोग भी प्रायः वहाँ आते जाते व ठहरते रहते हैं। नगर की दीवारें ऊँची तथा सुदृढ़ थीं। यहाँ हर प्रकार के दुर्लभ तथा बहुमूल्य सम्मान मिल जाते हैं।"

उड़ीसा के दक्षिण पूर्व में कन्योधा राज्य था, जो चिल्का की झील पर बसा हुआ था। यहाँ के लोग बहादुर व उत्साही होते थे, परन्तु उनका रङ्ग काला होता था और वे गन्दे होते थे। उनमें कुछ दर्जे तक नम्रता थी तथा साधारण रूप से वे ईमानदार थे। उनकी वर्णमाला मध्य देश की ही थी, परन्तु उनका उच्चारण भिन्न था। यहाँ बौद्ध धर्म की नहीं वरन् हिन्दू धर्म की प्रधानता थी। यह जाति शक्ति शालिनी थी। उसके नगर सुदृढ़ और ऊँचे महलों से भरे पड़े थे। उनके सैनिक बहादुर व साहसी थे। वे पास के प्रान्तों पर अपनी शक्ति के कारण शासन करते थे। किसी में उतना साहस नहीं था कि उनको रोक सके। चूंकि यह राज्य समुद्र के किनारे था, इसलिए यहाँ के लोगों को अनेक दुर्लभ एवं बहुमूल्य सामग्रियाँ प्राप्य थी। क्रय-विक्रय में वे या तो कौड़ियों को या मोतियों को सिक्के के रूप में व्यवहार में लाते थे। यहाँ गाड़ियों को खींचने का काम हाथियों से लिया जाता था।

उक्त देश के दक्षिण पश्चिम में एक बहुत बड़ा जङ्गल था, जिसके उस पार कलिङ्ग का प्राचीन राज्य था। राज्य का विस्तार एक सहस्त्र मील था। इसकी राजधानी का घेरा पाँच मील था। जमीन उपजाऊ थी तथा नियमतः जोती जाती थी। जङ्गल बहुत थे, जिनमें जङ्गली हाथियों की बहुतायत थी। यहाँ के लोग अशिष्टाचारी होते हुये भी बहादुर होते थे वे अपने दिये हुये वचनों का पालन करते थे।

व्हेनत्सांग के समय में कलिङ्ग की यही स्थिति थी, परन्तु यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के अनुसार उसके समय में कलिङ्ग की शक्ति एवं इस नाम धारी साम्राज्य का प्रसार समुद्र के किनारे-किनारे बङ्गाल से लेकर गोदावरी के मुहाने तक था। इसकी महानता की यादगार अब भी बच रही थी, क्योंकि व्हेनत्सांग कहता है कि 'प्राचीन समय में कलिंग राज्य अत्यधिक घना बसा हुआ था, राज पथों पर चलने वालों के कन्धे टकराया करते थे तथा इधर उधर आने वालों रथों के धुरे आपस में टकरा-टकरा जाया करते थे।' अब कलिंग के वे दिन नहीं रहे थे। बङ्गाल, उड़ीसा में नये-नये राज्य कि स्थापना हो गई थी। ये नए राज्य प्राचीन कलिंग के खण्डहरों पर स्थापित किये गये थे। भारत के इतिहास की यही प्रकृति रही है कि यहां प्रायः सदैव ही नये-नये राज्य बनते बिगड़ते रहे हैं। नई-नई जातियों के नये-नये वंशज समय पाकर उभड़ते रहे हैं और कालान्तर में बिस्मृति के गर्भ में लीन होते रहे हैं।

प्रायः प्रत्येक राज्य के उत्थान व पतन से धार्मिक उत्थान व पतन भी सम्बन्धित रहा है। फिर भी भारतीय जातियों, राज्यों तथा धर्मों का विशाल संघ यह भारत देश अपनी जातीय एकता, राजनैतिक एकत्व तथा धार्मिक समन्वय को न केवल अक्षुण्ण रखता आया है, वरन् समय-समय पर उसने अपनी भाषा, अपनी संस्कृति का बार-बार विकास किया है। भारत की इसी एकता कायम रखने तथा सदैव विकास-तत्पर रखने की प्रवृत्ति ने उसे प्राचीन काल में अभूत पूर्व गौरव प्रदान किया था और आगे भी उसे गौरव मिलता रहेगा, यदि उसने अपनी इस प्रवृत्ति को छोड़ नहीं दिया तो।

कलिंग के उत्तर पश्चिम जंगलों एवं पहाड़ियों से होता हुआ कोशल को रास्ता गया है, जिसे आजकल बरार कहते हैं। यह राज्य विस्तार में एक हजार मील था तथा इसकी राजधानी आठ मील में फैली हुई थी। कस्बे तथा गांव समीप-समीप बसे थे अर्थात् आबादी अत्यधिक घनी थी। यहाँ के निवासी लम्बे, सांवले, तीव्र स्वभाव वाले, साहसी तथा बहादुर होते थे। इस राज्य में हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म मानने वालों की संख्या प्रायः समान ही थी। दक्षिणी कोशल के लोगों का वर्णन करते समय ह्वेनत्सांग ने बौद्ध लेखक नागार्जुन की चर्चा की है, साथ ही राजा सद् वाह का भी वर्णन किया है, जिसने पहाड़ को कटवा कर एक गुफा में संघाराम का निर्माण कराया था। इस गुफा के अन्तर्गत बने संघाराम को न तो फाहियान ने देखा था और न ह्वेनत्सांग ने, परन्तु इसका वर्णन दोनों ने किया है। अवश्य ही उनके समयों में यह संघाराम महत्वपूर्ण रहा होगा। ह्वेनत्सांग के शब्दों में 'राजा सद्वाह ने उस पहाड़ी को मध्य से खुदवा डाला तथा इसी गुफा में संघाराम की स्थापना की। उसने इस गुफा को दो मील। लम्बी बनवाया तथा अन्त में एक ढंका हुआ द्वार बनवाया। इसमें इधर उधर आने जाने के मार्ग बनवाये गये थे तथा इसकी पांच मंजिले थी, जिनमें प्रत्येक में चार-चार बड़े कक्ष थे, जिनके संग में एक विहार संयुक्त था।' इतिहास में कहा गया है कि इस संघाराम में रहने वाले बौद्ध साधुओं में आपस में मतभेद हो गया, अतः वे सब निर्णय प्राप्ति के लिये राजा के पास गये। ब्राह्मणों ने इस अवसर का लाभ उठाया और उन्होंने संघाराम को नष्ट भ्रष्ट करके इस स्थान को अगम्य बना दिया।

उसके पश्चात् ह्वेनत्सांग प्राचीन आंध्रों के देश में गया। यह प्राचीन काल में एक सशक्त राज्य रह चुका था तथा यहां के लोगों ने ईसा के कई शताब्दी पूर्व ही दक्षिण में एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित करके अपनी सभ्यता विकसित की थी तथा वे बाद में मगध तथा सम्पूर्ण भारत में महान् बन गये थे। जब उत्तर भारत में गुप्त वंश वालों ने उज्जयिनी के राजाओं के रूप में अपनी शक्ति बढ़ा ली और इन

लोगों ने आन्ध्रों का स्थान ग्रहण कर लिया, तब सातवीं शताब्दी में आन्ध्रों की शक्ति क्षीण हो गयी। इस राज्य की सीमा आठ सौ मील की थी, तथा यहाँ नियम से कृषि कार्य होता था। यहां के लोग शक्तिशाली, भावुक तथा भयंकर होते थे। इस राज्य में बीस संघाराम तथा तीस देवालय थे।

इस राज्य के दक्षिण धान्य कटक देश था, जिसकी सीमा बारह सौ मील थी तथा इसकी राजधानी का विस्तार आठ मीलों में था। जहां आज बैजवाड़ा नगर है, वहीं यह राजधानी थी। जमीन उपजाऊ थी, खाद्यान्न खूब पैदा होते थे, किन्तु देश में निर्जन भूभाग भी थे तथा कस्बों में आबादी घनी नहीं थी। लोग सांवला रंग लिये हुये पीत वर्ण के थे, भयङ्कर स्वभाव वाले थे परन्तु विद्या प्रेमी थे। पुराने संघाराम उजड़ चुके थे तथा खंडहर हो चुके थे। केवल नब्बे संघारामों में कुछ श्रमण लोग रहते थे। देवालयों की संख्या सौ के करीब थी जिनमें उपासकों का आधिक्य था।

व्हेनत्सांग के अनुसार इस नगर के पूर्व में दो संघाराम हैं। इनके नाम हैं पूर्वशिला तथा अपरशिला। इन्हें किसी पूर्ववर्ती राजा ने तथागत के सम्मान में में बनाया था। व्हेनत्सांग इस वर्णन के क्रम में कहता है कि उसने घाटियों को खुदवाकर सड़क बनाया, तथा पहाड़ियों को खुदवा कर गुफा बनवाया और इसमें छायेदार चबूतरे तथा गलियारे बनवाये। गुफा की छत को रोकने के लिये बड़े बड़े कमरों की योजना की गयी थी। डा० फर्ग्युसन के अनुसार पश्चिम वाला संघाराम वही है जिसे १७७६ ई० में खोद कर निकाला गया था तथा इसे अमरावती नाम दिया गया था, परन्तु डा० वर्गेस के अनुसार अमरावती स्तूप ईसा की दूसरी शताब्दी में या तो बन कर तैयार हो गया था या बन रहा था।

बृहत् आन्ध्र के दक्षिण पच्छिम में चोल राज्य पाँच सौ मील में फैला हुआ था। व्हेनत्सांग के अनुसार उसके समय में यह निर्जन तथा जङ्गलों से भरा पूरा हो गया था। आबादी बहुत कम थी तथा डाकुओं का भय सदैव तथा सर्वत्र व्याप्त था। यहाँ के लोग भी बड़े कठोर हृदय थे।

इसके भी दक्षिण में द्रविड़ राज्य था, जिसका विस्तार बारह सौ मील था। प्रख्यात नगर कांचीपुरम् इस राज्य की राजधानी था, इसे ही आजकल कांजीवरम कहते हैं। जमीन उपजाऊ थी, कृषि व्यवस्थापूर्ण होती थी। लोग साहसी तथा बहादुर थे, सत्यवादी एवम विद्याप्रेमी तथा परिश्रमी और ईमानदार थे। इसमें एक सौ संघारामों में दस हजार श्रमण रहते थे।

द्रविड़ राज्य के दूर दक्षिण में मालकूट राज्य था, जिसे डा० बर्नेल के अनु-

सार आजकल कावेरी का डेल्टा कहते हैं। यहाँ के लोग काले रंग के तथा सुदृढ़ चरित्र के थे। इनमें विद्या के प्रति कोई प्रेम नहीं था। वे अधिकांश व्यापारी थे। इसके भी दक्षिण में सुप्रसिद्ध मलयगिरि (मलाबार घाट की पहाड़ियों का दक्षिणी भाग) था, जहां चन्दन तथा कपूर की उत्पत्ति होती थी। इस पहाड़ी के पूर्व में पोतलक पर्वत था, जिस पर गांथाओं के अनुसार अवलोकितेश्वर जी कुछ दिन रहे। तिब्बत, चीन, जापान तथा उत्तरीभारत के बौद्ध इन अवलोकितेश्वर जी को महात्मा करके पूजते थे।

ह्वेनत्सांग लंका की ओर नहीं गया ता, फिर भी उसने उस द्वीप का वर्णन किया है। वह इस द्वीप की वनस्पति बहुलता, विस्तृत कृषि तथा घनी आबादी का वर्णन करता है। वह सिंह की, राक्षसों की तथा महेन्द्र की कथाएँ कहता है। ह्वेनत्सांग के अनुसार महेन्द्र ने ही इस द्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस द्वीप में एक सौ संघारामों में बीस सहस्त्र श्रमण रहते थे। वह कहता है कि यहाँ के समुद्र में मोती पाये जाते हैं और इसके दक्षिण पूर्व में लङ्का नाम का पहाड़ है।

द्राविड़ राज्य से ह्वेनत्सांग उत्तर की ओर घूमा, और कोंकण में पहुंचा जिसका विस्तार दस हजार मील था, जमीन उपजाऊ थी, खेती व्यवस्थित रूप से होती थी। लोग कृष्ण वर्ण के थे। उनका स्वभाव दृढ़ तथा भयंकर था, परन्तु वे वे विद्या को सम्मान का पद देते थे।

कोंकण के उत्तर पश्चिम में महाराष्ट्र का समृद्ध राज्य था। महाराष्ट्र एवम कोंकण के बीच लम्बे तथा भयानक जंगल पड़ते थे, जिनमें भयंकर जंगली जानवर बहुतायत से रहते थे। महाराष्ट्र का विस्तार एक हजार मील था। भूमि उपजाऊ थी, खेती नियमतः होती थी तथा लोग दृढ़ चरित्र के तथा ईमानदार थे। वे बदला लेना तथा देना नहीं भूलते थे "अपने उपकारक के वे पूर्ण कृतज्ञ होते थे, परन्तु शत्रुओं के लिये वे उतने ही भयानक होते थे। यदि कोई उनका अपमान कर देता था तो उससे बदला लेने के लिये जान की बाजी लगा देते थे। यदि कोई उनसे आपत्ति में पड़कर मदद माँग बैठता था तो वे उसे सहायता देते समय खुद को भूल जाया करते थे। वे यदि बदला लेना चाहते तो पहले ही अपने शत्रु को चेतावनी दे देते थे। फिर दोनो ही सशस्त्र होकर आमने सामने खड़े होते हैं और फिर एक दूसरे पर भाले से आक्रमण करते हैं। यदि कोई सेनापति लड़ाई में हार जाता तो उसे कोई अन्य दंड न देकर वे उसे स्त्रियों का कपड़ा पहना देते थे, और बाद में वह स्वयमेव आत्मघात कर लेता था। राजा क्षत्रिय जाति का है और उसका नाम

पुलकेशी है। उसकी योजनायें तथा कार्य दूर-दूर तक फैले हुए हैं, तथा उसके लोक रंजक कार्यों की प्रशंसा दूर-दूर तक सुनी जाती है। उसके सामन्त सहर्ष उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। इस समय कन्नौज के शीलादित्य महाराज ने पूर्व से लेकर पश्चिम तक सभी राज्यों को जीत लिया है, तथा उसकी सेनायें दूर-दूर तक गयी हैं। केवल इस देश के लोगों ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं किया है। शीलादित्य ने समस्त भारत के सैनिकों को इकट्ठा करके कई बार इन पर आक्रमण किया है, परन्तु वह इन्हें आज तक पराजित नहीं कर सका है।" शायद शीलादित्य के भाग्य में नहीं था कि वह पुलकेशी को हरा सके। इसके विपरीत स्वयम पुलकेशी ने शीलादित्य को हराया तथा महाराष्ट्र की स्वतंत्रता कायम रक्खा। ठीक इसी तरह पुलकेशी की ही एक सन्तान (शिवाजी) ने मुगल शाहंशाह को हजार वर्षों बाद भी कम परेशान नहीं किया। उसने भी मुगल आन को न मान कर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की और जिस समय मुगल तथा राजपूत अंग्रेजों की गुलामी मान चुके थे, तब भी पुलकेशी के ही वंशजों ने उनसे संघर्ष किया और भारत का स्वामित्व प्राप्त करने की चेष्टा की।

महाराष्ट्र की पूर्वी सीमा पर एक पहाड़ था, जिसके शिखर बहुत ऊँचे थे, और उसका सिलसिला बहुत दूर तक चला गया था। इस पहाड़ की एक अंधेरी घाटी में एक संघाराम है। इसकी दीवारें पहाड़ की ऊँचाई तक पहुंची हुई हैं। मंजिलों के बाद मंजिलें बनती चली गयी हैं। यहीं अजन्ता की प्रख्यात गुफायें हैं, जो सीधी खड़ी पहाड़ियों को काट कर बनायी है। वर्तमान काल के पाठकों को इसका पता डा० फर्ग्युसन तथा बर्गेस के लेखों से चल सकता है, जिन्होंने इस महान कलाकृति को अपने लेखों में अमर कर दिया है। आगे चल कर ह्वेनत्सांग कहता है कि यह विहार एक सौ फीट ऊँचा था तथा इसमें बुद्ध की जो प्रतिमा स्थापित की गयी थी, वह सत्तर फीट ऊँची थी। इसके ऊपर एक पत्थर का चँदोबा तना है जिसके आधार का पता देखने से नहीं चलता।

महाराष्ट्र के पश्चिम या उत्तर पश्चिम में भरुकच्छ या भरौंच है, जिसका विस्तार पाँच सौ मील है। यहाँ की भूमि में नमक अत्यधिक है अतः वनस्पतियाँ कम ही हैं। यहाँ के लोग समुद्री पानी को सुखा कर नमक तैयार करते हैं तथा अपनी जीविका अन्य ढंगों से समुद्र से ही उपार्जित करते हैं।

वहाँ से चलकर ह्वेनत्सांग प्राचीन काल में सर्वाधिक प्रसिद्ध मालवा राज्य में में पहुँचा। उसके शब्दों में "भारत में दो राज्य अपने विद्याप्रेम तथा विद्वानों के लिये प्रसिद्ध हैं; इनके नाम हैं मालवा, जो दक्षिण में है तथा मगध, जो पूर्व में है।"

आगे चल कर वह कहता है कि "इस देश में रक्षित प्रलेखों का कहना है कि इस शीलादित्य महान के साठ वर्षों पहले एक अत्यन्त बुद्धिमान, विद्याप्रेमी, गुणग्राकह तथा काव्य-कला-मर्मज्ञ व्यक्ति हुआ है।" यही शीलादित्य प्रथम जिसका शासन काल शायद ५५० से ६०० ई० तक है और वही शायद विक्रमादित्य के बाद गद्दी पर बैठा था। जिस सम्राट् को व्हेनत्सांग ने कन्नौज में देखा था तथा जो पुलकेशी को हराने के लिये आक्रमण कर रहा था वह शीलादित्य द्वितीय था, जिसका शासन सन् ६१० से ६५० ई० तक है।

व्हेनत्साङ्ग कालीन मालवा में दोनों धर्म समानरूप से माने जाते थे। उस देश में करीब एक सौ संघाराम तथा इतने ही देवालय थे।

वहां से चलकर व्हेनत्सांग ने अतली तथा कच्छ को देखा और फिर बल्लभी आया, जो प्रसिद्ध वल्लभी राजवंश का स्थान था। "यहां की मिट्टी का गुण, जलवायु तथा लोगों के शिष्टाचार वैसे ही है, जैसे मालवा के। आबादी घनी है। लोग सुख पूर्वक रहते हैं। यहां एक करोड़ की निधि रखने वाले लोग कई सौ की संख्या में हैं।'

इसके पश्चात् गुर्जर प्रान्त, सिन्ध तथा मुल्तान को देखता हुआ व्हेनत्सांग ने भारत को अन्तिम नमस्कार करके विदा लिया, परन्तु उसे विदा देने के पूर्व ही हमें उसकी दैनन्दिनी (डायरी) के कुछ पृष्ठों को उलट-पुलट कर देख लेना होगा, जिनमें उसने तत्कालीन शासन व्यवस्था तथा लोगों के रहन-सहन के ढङ्ग पर प्रकाश डाला है।

"चूँकि समूचे भारत में सभी के प्रति सहानुभूति एवं दया ही शासन प्रबन्ध का आधार है, अतः इस देश को कार्यकारिणी व्यवस्था सादी है।...राजा की प्राथमिक तथा वैयक्तिक कर्तव्यसीमा को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। उसका प्रथम कर्तव्य है कि वह समस्त राज्य की जनता की सुख सुविधा की व्यवस्था को, शासन को नियंत्रण में रक्खे तथा देवताओं के लिये बलिव्यवस्था प्रस्तुत करे। दूसरे भाग में यह उसका कर्तव्य है कि राजकीय कर्मचारियों एवं मन्त्रि परिषद के लोगों के लिये सुखपूर्ण जीवन बिताने योग्य वृत्ति का प्रबन्ध करे। तीसरे कर्तव्य के अन्तर्गत वह उन विशिष्ट लोगों को पुरस्कार इत्यादि की व्यवस्था करे जो अपने जीवन वृत्ति बनाने का कार्य न करके लोक हितकारी कार्यों में रत हों। राजा का चौथा कर्तव्य यह है कि वह धार्मिक संस्थाओं को इस प्रकार का दान दे कि वह वे सुविधापूर्वक चलती रहे। इस प्रकार की कर्तव्य पूर्तियां ही जिस देश के राजा का लक्ष्य होंगी, वहां कर अवश्य हल्के होंगे तथा राजा को साधारण जनता से काम लेने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती होगी और यदि कभी पड़ती भी होगी तो वह काम बहुत कष्टप्रद न होता होगा।

हर व्यक्ति अपनी भौतिक वस्तुओं का आप ही स्वामी है तथा हर व्यक्ति अपने जीवन यापन के लिये कृषि कार्य करता है। जो लोग राजकीय खेतों को जोतते हैं, वे अपनी उपज का १/६ राजा को कर के रूप में देते हैं। व्यापार में लगे हुये लोग सुविधापूर्वक इधर-उधर आते जाते रहते हैं नदियों को पार करने के लिये बनाये गये मार्गों पर तथा राजपथों पर जहां आवश्यकता पड़ती थी, वहां नाम मात्र का ही कर देना पड़ता था। जब कभी जन-कल्याण के लिये साधारण जनता से काम लेना पड़ता है, तो लिया जाता है, परन्तु उनका पारिश्रमिक अवश्य ही दे दिया जाता है। पारिश्रमिक तथा कार्य का अनुपात उदारतापूर्ण है।"

"सैन्य समूह सर्वदा सीमा रक्षा के लिये सीमान्त पर प्रस्तुत रहती है या विद्रोहियों को दण्ड देने के लिये जाया करती है। राजभवन के चारों ओर रात भर सैनिक लोग पहरा देते रहते रहते हैं। आवश्यकता के अनुसार सैनिक भरती किये जाते हैं तथा उन्हें वेतन दिया जाता है। सूबेदारों, मन्त्रियों न्यायाधीशों तथा अन्य उच्च कर्मचारियों को उनकी सेना के लिये वेतन के बदले में भूमि दी जाती है, जिसकी उपज से उनका जीवन यापन होता है।"

उपरोक्त वर्णन से पता चलता है कि समूचे साम्राज्य में सभी ऊंचे कर्मचारियों को वेतन के बदले में भूमि दी जाती थी। प्राचीन भारत की यही व्यवस्था आगे चल कर मुस्लिम युग में जागीरदारी के रूप में प्रगट होती है। व्हेनत्सांग ने जो वह लिखा है कि राजकीय भूमि जोतने वाले को उपज का षष्ठांश राजा को देना पड़ता है, उसका शायद यही तात्पर्य है कि सारे देश की भूमि राजा की ही मानी जाती थी। केवल वही भूमि राजा की नहीं होती थी, जिसको राजा दान रूप में किसी व्यक्ति, मन्दिर या संघारामों को दे देता था। जो भूमि कर्मचारियों को उनकी सेवा के बदले में दे दी जाती थी, वह भी राजा की भूमि नहीं मानी जाती थी। राज्य के सारे कार्यों का व्यय, युद्ध कालीन तथा शान्ति कालीन सब प्रकार के कार्य तथा राजभवन का सारा व्यय भूमि की लगान से तथा अन्य करों से पूरा होता था।

जहाँ तक भारतीय लोगों के जीवन क्रम का प्रश्न है, व्हेनत्सांग के वर्णन इस बात के प्रमाण है कि भारतीय लोगों का जीवन सादा होता था, परन्तु उनका चरित्र अत्यन्त सुदृढ़ होता था। व्हेनत्सांग के शब्दों में—'यद्यपि भारतीय लोग किसी बात को अत्यधिक गम्भीर रूप में नहीं ग्रहण करते, फिर भी वे सीधी बात कहने वाले, तथा सीधी चाल चलने वाले होते थे। वे लोगों का सम्मान करते थे तथा स्वयं भी सम्माननीय होते थे। आर्थिक मामलों में उनमें छल-छद्म नहीं होता

था। न्याय पालन में उनका विवेक बहुत ऊँचा था। वे जो कुछ भी करते हैं, वह यह सोच कर करते हैं कि इसका परिणाम उन्हें अगले जन्म में भोगना पड़ेगा। पुनर्जन्म में उनका दृढ़ विश्वास था और यही विश्वास उनको अनेक बुराइयों से बचाता था। इस जन्म का सारा ही समय वे अगले जन्म की तैयारी में बिता देते थे। इस लोक का सुख उन्हें कम ही आकर्षित कर पाता था। न तो वे छली है और न धोखेबाज। अपने नित्य के व्यवहार में वे सत्य का आचरण करते हैं तथा अनुचित प्रकार के कार्यों से सदा दूर ही रहते हैं। यदि कभी कोई प्रतिज्ञा वे कर लेते हैं तो उसका यथा शक्ति पालन करते हैं। शपथ तथा प्रतिज्ञा उनके लिये प्राण से भी बढ कर होते हैं।"

जिस किसी विदेशी यात्री ने भारत एवं भारतीयों को देखा परखा है, वे सभी एक स्वर से हमारे बारे में यही कहते हैं। मेगस्थनीज से लेकर ह्वेनत्सांग तक जितने भी यहां लोग आये, हिन्दुओं को उनके घरेलू व्यवहार में देखा, उनसे मिले जुले तथा उनके जीवन के विषय में जाना सुना, उन सब का एक ही मत है कि हिन्दू लोग हद दर्जे के ईमानदार तथा सत्य निष्ठ होते हैं। इसी प्रकार के अध्ययन करने वालों में वर्तमान युग के कर्नल स्लीमैन साहब भी हैं, जो भारत में रहे, यहां के लोगों से मिले जुले तथा उनके आचार विचार का पूर्ण अध्ययन किया। उनके शब्दों में—"गाँव के लोग बड़े ही सत्यनिष्ठ हैं, स्वभावतः गाँव की पञ्चायत में वे सत्य का पक्ष ही ग्रहण करते हैं। मैंने ऐसे सैकड़ों मामलों को देखा सुना है, जिनमें थोड़ा सा झूठ बोल कर अत्यधिक लाभ उठाया जा सकता था, परन्तु गांव वालों ने तब भी सत्य को नहीं छोड़ा। वे तब भी झूठ बोलने को तैयार नहीं होते थे जब एक झूठ से उनकी जान बँच सकती थी।"

————

सैंतालीसवाँ अध्याय

वल्लभी वंश तथा राजपूत

जिस समय गुप्त वंशीय सम्राट उन्नति के शिखर पर थे, उस समय गुजरात पर उन्हीं का अधिकार था, और जब पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वल्लभी वंश का उदय हुआ तथा गुजरात में उन्होंने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया तो उन्होंने गुप्त-वंश का ही सम्बत् स्वीकार किया, जो ३१९ ई० से प्रारम्भ होता है। गुजरात में वल्लभी वंश की शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। जिन दिनों गुप्त सम्राटों की शक्ति दिन प्रतिदिन क्षीणता को प्राप्त होती जा रही थी, उन्हीं दिनों गुजरात के एक सेनापति भट्टार्क ने गुजरात में अपनी शक्ति बढ़ाली थी तथा उसने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा भी कर दी थी। उसी भट्टार्क ने सौराष्ट्र में बल्लभी वंश की नींव डाली।

उस समय के कितने ही शिलालेख एवम अन्य प्रकार के लेख प्राप्त हुये हैं' जिनसे इस वंश की वंशावली पर तो पूर्ण प्रकाश पड़ता ही है साथ ही साथ उस वंश के इतिहास की भी जानकारी प्राप्त होती है। अतः पचास वर्ष पूर्व (आज से १२२ वर्ष पूर्व) गुजरात में खुदाई का जो कार्य हुआ था, उसमें ताम्रपात्र पर खुदे हुये दो लेख मिले थे। उन ताम्रपत्रों का प्रकाशन सन् १८३५ ई० में हुआ था। ये दोनों ही ताम्रपत्र इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण है।

वल्लभी वंश के संस्थापक भटार्क ने इतिहासकारों के शब्दों में जाकर सैकड़ों युद्धों में विजय एवम् यश प्राप्त किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब भी किसी राजवंश की स्थापना हुई है तो उसका संस्थापक अवश्य ही कोई वीर पुरुष रहा। अतएव भट्टार्क की वीरता तथा योग्यता में संदेह करने का कोई कारण नहीं हैं। उसके चार पुत्र थे, धरासेन, द्रोणसिंह, ध्रुवसेन, तथा धरापति। इन चारों पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र तो राजा की उपाधि न लेकर अपने को केवल सेनापति ही कहता रहा। परन्तु द्वितीय पुत्र द्रोणसिंह ने सम्राट (शायद कन्नौज के सम्राट्) को प्रसन्न करके राजा की उपाधि धारण करने की स्वीकृति प्राप्त कर ली। उसे इतिहास में श्री महाराज द्रोणसिंह के नाम से स्मरण किया गया है। उसके दोनों

भाइयों को श्री महाराज ध्रुवसेन अथवा श्री महाराज धरापति करके लिखा गया है।

धरापति का पुत्र गुहसेन था, जिसने शत्रुओं की अत्यधिक संख्या को पराजित किया। उसका पुत्र धरासेन द्वितीय था जो अपनी दानशीलता के लिये प्रसिद्ध है।

इन ताम्रपत्रों में से एक के आधार पर धरासेन द्वितीय के उत्तराधिकारी इस प्रकार हुये—शीलादित्य खरग्रह, धरासेन तृतीय, ध्रुवसेन द्वितीय, धरासेन चतुर्थ, शीलादित्य द्वितीय (यहाँ पर दो या तीन नाम पढ़े नहीं जा सके), खरग्रह द्वितीय, शीलादित्य तृतीय तथा शीलादित्य चतुर्थ। सन् १८७८ ई० में श्री हबीबुल्ला ने एक शिलालेख का पता लगाया था जो इस वंश के अन्य उत्तराधिकारियों का नाम बताता है। इस वंश का राजा शीलादित्य सप्तम्, आठवीं शताब्दी के अन्तिम काल में गद्दी पर था। इस प्रकार एक ही लेख से हमें उस वंश के सभी राजाओं का नाम मिल जाता है, जो एक के बाद एक तीन शताब्दी तक शासन करते रहे। भटार्क ने पांचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस वंश की स्थापना की तथा शीलादित्य के शासन काल का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम समय है। इन सभी राजाओं के नाम तथा उनके शासन काल को नीचे एक वंश वृक्ष के रूप में पाठकों की सुविधा के लिये दिया गया है।
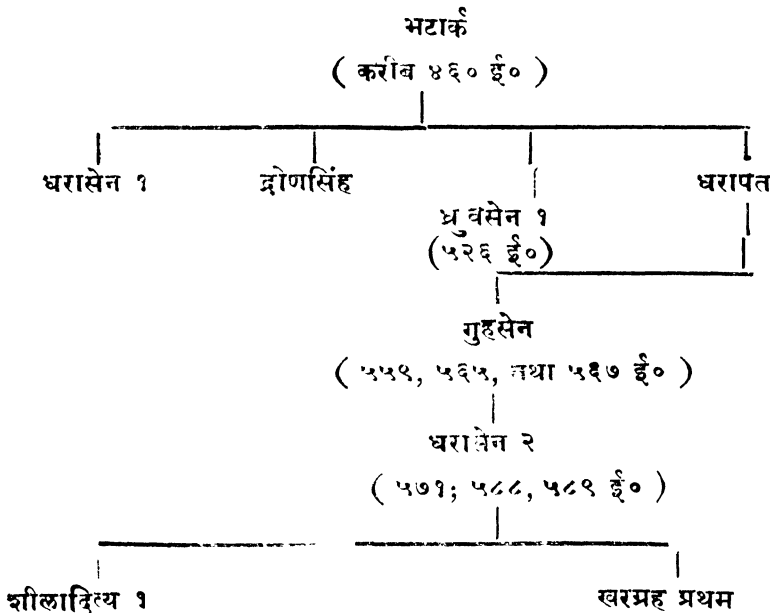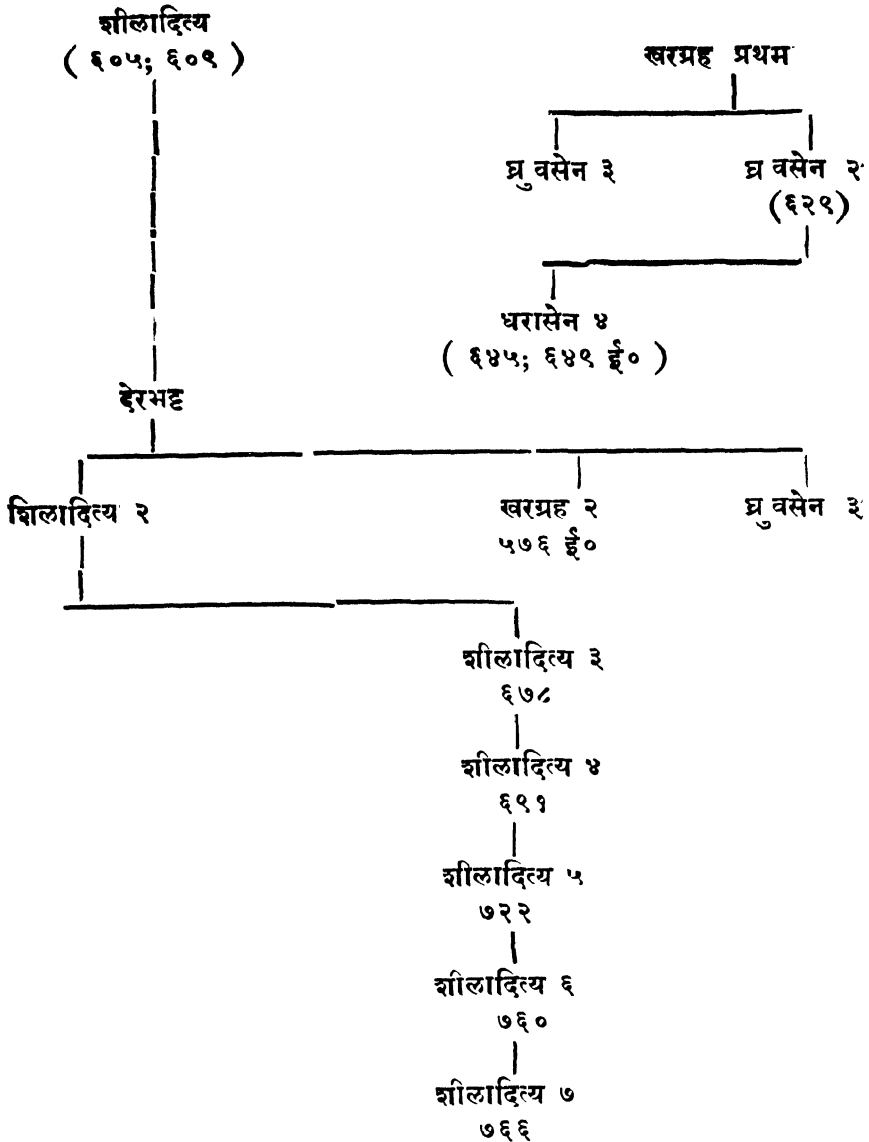
वल्लभियों के विषय में इतना कहना और बाकी है, कि जब ह्वेनत्सांग ने इस देश को देखा तो पाया कि यहाँ के लोग अति समृद्ध, सशक्त एवं विकास-भावना युक्त थे तथा सौराष्ट्र इन्हीं के अधिकार में था। दूर-दूर के देशों में पैदा होने वाली बहुमूल्य वस्तुएँ नाना प्रकार के संचार साधनों से आ आ कर इस देश की राजधानी में इक्ठे होते रहे हैं। इन सामानों के व्यापारी इस देश में उत्तम सामानों को लाकर यहाँ के बाजार में उचित फायदा उठाते हैं। वल्लभियों की व्यापार

कुशलता से देश में धन धान्य तथा सुन्दर बहुमूल्य वस्तुओं का ढेर लगता जाता है। इतिहास इस बात का पता नहीं देता कि इस वंश के सम्राटों का पतन कैसे हुआ, परन्तु इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि इधर वल्लभी वंश पतनोन्मुख हुआ और उधर पच्छिमी भारत में राजपूतों का उदय होना शुरू हो गया था। दोनों अपनी अपनी दिशा में बराबर बढ़ते गये।

कई कारणों से राजपूतों को पच्छिमी भारत में वल्लभी वंश का उत्तराधिकारी उसी प्रकार कहा जा सकता है जिस प्रकार वल्लभी वंश वाले गुप्त वंश के उत्तराधिकारी कहे जाते हैं। राजपूतों में सबसे प्रसिद्ध वंश मेवाड़ के राना लोगों का है। इस वंश वाले अपने को वल्लभियों का वंशज कहते हैं। इधर वल्लभियों का स्थान गुजरात में राजपूतों ने लिया, उधर आठवीं शताब्दी के अन्तिम समय में वल्लभीपुर पर पट्टन का प्रभाव शुरू हुआ। इस नवीन उत्थान अथवा पतन का समूचा इतिहास क्रमबद्ध नहीं है। बीच-बीच में कोई क्रम कहीं टूट जाता है, कहीं फिर सामने आ जाता है। समूचे उत्तरी भारत के भी इस युग का इतिहास तिमिराच्छन्न है। उत्तरी भारत में भी उज्जयिनी तथा कन्नौज के सम्राटों के वंशजों का नाम निशान तक नहीं रह गया था। दोनों का अस्तित्व तक समाप्त हो गया था तथा बाकी रह गयी युगों युगों तक गायी जा सकने योग्य उनकी महानता की स्मृति। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आठवीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत में इन शक्तियों का अन्त हो चुका था। अतएव ९ वीं एवम् १० वीं शताब्दी का उत्तरी भारत का इतिहास एक दम अस्तित्व विहीनसा है। दक्षिण में चालुक्यों का वर्णन मिलता है, धुर उत्तर में काश्मीर एवम् उसके राजा का वर्णन साहित्य में भी एवम् इतिहास में भी आता है। पूर्व में बङ्गाल उड़ीसा के भी तत्कालीन वर्णन मिलते हैं, परन्तु हिन्दुओं की शक्ति एवम उनका धार्मिक केन्द्र मध्य देश (जो कन्नौज से लेकर मगध तक फैला हुआ है) का इतिहास कहीं भी प्राप्त नहीं है। इस बीच इस भूभाग में कोई भी ऐसा राजा नहीं हुआ, जो इतिहास में या लोक गाथाओं में स्थान पा सके। कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना भी शायद इस काल में नहीं हुई जो उस समय के पढ़े लिखे व्यक्तिओं की लेखनी को चलने की प्रेरणा देती, न तो कोई आक्रमण ही इस युग में ऐसा हुआ, जिसका वर्णन कहीं मिलता हो और न कोई क्रान्ति ही ऐसी हुई, जिसका पता साहित्य से चल जाता। इन दो शताब्दियों ने न तो इतिहास में अपनी छाया दिखाई है और न साहित्य में। स्थापत्य कला तथा विशुद्ध कला के भी कोई नमूने आज तक नहीं पाये जा सके हैं। इस युग में बनी किसी इमारत का भी पता नहीं मिलता। इस काल के मध्यदेशीय इतिहास पर एक

ऐसा भारी पर्दा पड़ गया है जिसको उठा पाना आज तक के इतिहासज्ञों एवम् इतिहासकारों के लिए असम्भव रहा है।

दसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जब यह अपार दर्शक पर्दा उठता है तो इतिहास के रंगमञ्च पर सर्वथा नये दृश्य तथा सर्वथा नये अभिनेता अपना अपना अभिनय करते दिखाई पड़ते हैं। इस समय पौराणिक हिन्दू धर्म शक्ति प्राप्त कर चुका था। इस शक्ति प्राप्ति के साथ ही साथ तथा उसी के अनुरूप एक सर्वथा नई जाति का उदय हुआ, जिसे इतिहासकार राजपूत कहते आये हैं। यह नवीन जाति अपनी वीरता के लिये, प्रतिज्ञा पालन के लिये, अपनी अत्यधिक क्षमा के लिये जितनी प्रसिद्ध है उतनी ही प्रसिद्ध है अपनी आश्रित-रक्षा के लिये सर्वस्व गँवाने को तैयार रहने की भावना के लिये। ये राजपूत राजे अपनी मूल भूमि गुजरात से तथा दक्षिण से निकले और दिल्ली, कन्नौज, अजमेर तथा भारत के कोने-कोने में छा गये। वे जहाँ कहीं भी गये तथा जहाँ भी उनकी शक्ति स्थापित हुई वहीं ही उन्होंने पौराणिक धर्म को अपनाया तथा उसे यथासाध्य प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार उन लोगों ने ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा वृद्धि में सहायता दी। बदले में ब्राह्मणों ने भी उन्हें नये युग के क्षत्री कह कर उनकी भी प्रतिष्ठा में वृद्धि कर दी। उसी के अनुसार इस नई जाति ने अपने को सिंह कहना शुरू किया।

उपरोक्त परिणामों को दृष्टि में रखकर हम ६ वीं तथा १० वीं शताब्दी के उत्तरी भारत के इतिहास के बारे में कुछ अनुमान लगा सकते हैं। इस अन्धाकारावृत समय में यह सम्पूर्ण देश आपस के ही युद्धों में फँसा रहा, जिनके चक्कर में फँस कर कितनी ही पुरानी संस्थायें तथा व्यवस्थायें नष्ट-भ्रष्ट हो गयी तथा कितने ही राजवंशों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। प्राचीन राजवंशों का पतन होता गया। यह पतन इस प्रकार का था कि या तो वे स्वयम् क्षीणता को प्राप्त हो गये या आपसी युद्धों ने उन्हें नेस्तनाबूद कर दिया और उनके स्थानों में नये-नये राजवंशों की स्थापना हो गयी, जिनका युद्ध में विजय के सिवा अन्य किसी प्रकार का कोई अधिकार किसी देश की गद्दी पर न था। इसी प्रकार की अव्यवस्था एक बार भारतीय इतिहास में और आ चुकी थी। इन दोनों शताब्दियों में भी मानों उन्हीं की पुनरावृत्ति हो रही थी। ईसा के पूर्व की चौथी शताब्दी में मगध की उस नवीन जाति ने प्राचीन राजवंशों पर अपना स्वत्व स्थापित कर लिया, जिसे उस काल के लोगों ने अनार्य कहा है। केवल मगध पर ही अधिकार करके वे सन्तुष्ट न हो सके बल्कि उन्होंने अपनी सैन्य शक्ति के बल पर काशी, कोशल, कुरुओं के देश एवम् पांचालों के देश पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जिस समय मेगस्थनीज नामक

यूनानी राजदूत भारत में आया तो उसने पाया कि ये प्राच्य, अथवा मगध लोग उत्तरी भारत में सर्वाधिक शक्तिमान् थे। ठीक उसी प्रकार ईसा को आठवीं से लेकर दसवीं शताब्दी तक के तमसावृत्त इतिहास में, राजपूत जाति भी जिनकी गणना कभी भी आर्यों में न हुई थी, उस समय में ख्याति में आयी, जिस समय देश की अनेक आर्य जातियाँ आपसी संघर्षों एवम् युद्धों में फँसी हुई थी। यह नवीन जाति अपनी वीरता के कारण धीरे-धीरे कन्नौज, दिल्ली, लाहौर तथा अन्य स्थानों पर अधिकार करती चली गयी, जो किसी न किसी कारण खाली पड़े थे। जिस प्रकार ईसवी पूर्व के चौथी शताब्दी में, ठीक उसी प्रकार ईसा की आठवीं से लेकर दसवीं शताब्दी में राजवंशों का संघर्ष नहीं के बराबर रहा। यह संघर्ष वास्तव में जातियों का शक्ति प्राप्ति के लिये किया गया संघर्ष था न कि राजवंशों का। प्राचीन राजवंशों के स्थान में नई-नई जाति के लोगों ने आकर उनके सभी स्थानों पर अधिकार जमा लिया। उन राजनैतिक परिवर्तनों ने ऐसे सन्तुलन बनाये रखने के लिये प्रत्येक बार धार्मिक परिवर्तनों को भी जन्म दिया। ईसवी पूर्व की चौथी शताब्दी में मगध के नवीन शासकों के उदय ने जिस प्रकार बौद्ध धर्म को फलने फूलने का रास्ता साफ किया उसी प्रकार १०वीं शताब्दी की नव जागृत राजपूत जाति ने पौराणिक हिन्दू धर्म को पल्लवित पुष्पित करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। राजनैतिक उथल पुथल ने न केवल पुराने राजवंशों को ही समाप्त किया, वरन् उनके समय के प्रचलित धर्म को भी पीछे छोड़ दिया।

इस पुस्तक के परिचय वाले अंग में हम देख चुके हैं कि भारतीय इतिहास की आठवीं से लेकर दसवीं शताब्दी ठीक इसी प्रकार की है, जिस प्रकार की यूरोपीय इतिहास की पांचवीं से लेकर दसवीं शताब्दी। भारत में भी और यूरोप में भी प्राचीन संस्थाओं, व्यवस्थाओं एवं राजवंशों का नाश हुआ और उनके स्थान पर नवीन संस्थाएँ, व्यवस्थायें तथा राजवंशों का उदय हुआ। यूरोप में इस प्रकार जिस नवीन जाति का उदय हुआ, वह जर्मन जाति थी। तथा भारत में जो नवीन जाति शक्ति एवं अधिकार सम्पन्न हुई, वह राजपूत जाति थी, इन दोनों ही नवोदित जातियों को आगे चल कर एक सर्वथा नवीन बर्बर विदेशी शक्ति अर्थात् मुसलमानों का सामना करना पड़ा। इस नवीनतम् संघर्ष में यूरोप ने अपनी स्वतन्त्रता बचा ली। भारत ने भी संघर्ष किया परन्तु वह असफल रहा।

हम यह भी देख चुके हैं, कि भारत में जिस नवीन जाति का उदय हुआ, उस राजपूत जाति की गणना आर्यों में नहीं की जाती थी। कम से कम आठवीं शताब्दी के अन्त तक इन लोगों की गणना आर्य हिन्दुओं में नहीं की जाती थी।

इनका वर्णन न तो किसी भारतीय साहित्य में आया है और न किसी विदेशी पर्यटक ने ही इनकी कहीं चर्चा की है। उनके सम्बन्ध में किसी प्राचीन संस्कृति का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता अतएव उनके मूलश्रोत के विषयमें अनुमान लगाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। डा०विल्सन का मत है कि ये राजपूत लोग उन सब आक्रामकों की सन्तानें हैं, जो विक्रमादित्य के शासन के पूर्ववर्ती समयमें प्रायः नियमित रूप से भारत पर आक्रमण किया करते थे। यद्यपि विक्रमादित्य ने उन्हें करारी हार दी और उनकी शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया फिर भी वे सब के सब भारत से वापस लौट कर नहीं गये। उनकी एक बड़ी संख्या भारत में ही यत्र तत्र बिखर गयी। वे यहाँ की, विशेष कर दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत के देशों की साधारण जनता में मिल जुल कर रहने लगे। पुराणों में इस बात के संकेत स्पष्ट नहीं मिलते हैं कि राजपूत लोग भारतीय नहीं थे, बल्कि वे बाहर से आये। एक जनश्रुति इस प्रकार कही जाती है कि महर्षि वशिष्ट ने आबू पर्वत पर एक विशाल यज्ञ किया, जिसकी अग्नि से चार वीर पुरुष उत्पन्न हुये। इन्हीं चारों वीर पुरुषों से परिहार, परमार, चालुक्य तथा चौहान वंशों प्रारम्भ की उत्पति हुई। कालान्तर में विभाजन होते-होते इन्हीं चार जातियों से राजपूतों की छत्तीस जातियों का उदय हुआ।

चालुक्यों ने गुजरात में अपनी शक्ति स्थापित की। वहां उन्होंने पट्टन या पाटन नाम की नई राजधानी बसाई। गुजरात के वल्लभी लोगों की सत्ता को अपने अधिकार में लाकर इन लोगों ने वल्लभियों की शक्ति को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। परमार शाखा ने पश्चिमी मालवा को अपना केन्द्र बनाया तथा परिहारों ने मारवाड़ में अपनी शक्ति बढ़ा ली। चौहान लोग और भी पूर्व की ओर बढ़ कर दिल्ली तक जा पहुँचे इन चार के अतिरिक्त और भी राजपूत जातियाँ थी, जिनके मूल श्रोत को खोजने के लिये विभिन्न कल्पनायें की गयी हैं। मेवाड़ के राणा लोग गहलौत वंश से थे उनका कहना था कि गुजरात के वल्लभियों के माध्यम से वे राम के वंशज हैं। एक दूसरी परम्परा के अनुसार मारवाड़ के राठौर लोग पौराणिक नायक हिरण्यकश्यप की वंशावली में हैं। इसी प्रकार इन राजपूत जातियों के मूल श्रोत की विभिन्न कल्पनायें की गयी हैं।

राजपूतों का मूलश्रोत चाहे जो भी रहा हो, और चाहे उनके विषय में कितने ही विवाद व कितनी हो कल्पनायें क्यों न की गयी हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि नवोदित राजपूत जाति हिन्दू सभ्यता व हिन्दू धर्म की देन नहीं हैं। वे यहाँ बाहर से आये। किसी धर्म में जो लोग नये-नये प्रवेश करते हैं, उनके उत्साह की सीमा नहीं होती। राजपूत जाति भी इस नियम का अपवाद नहीं थी। उन्होंने जिस

धर्म में प्रवेश किया उसे उन्नत एवं सर्वग्राह्य बनाने में उन्होंने अपनी सारी शक्तियां लगा दी। इन नये क्षत्रियों की इस भावना का ब्राह्मणों ने लाभ उठाया। वे भी उत्साह पूर्वक धर्मोन्नति में लग गये। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को प्रधानता दी, सहायता दी और उनकी मन्त्रणा से कार्य करने लगे। इस उपकार का बदला ब्राह्मणों ने इस प्रकार दिया कि उन्हें वास्तविक क्षत्री की तरह ही मानने लगे। दसवीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते चारों ओर पौराणिक हिन्दू धर्म का ही बोल बाला हो गया। इस राजनैतिक एवम् धार्मिक परिवर्तनों ने कन्नौज, मथुरा एवं अन्य नगरों को इस प्रकार की समृद्धि तथा सौरभ प्रदान किया कि गजनी में बैठे हुये महमूद की जबान से राल टपकने लगी, और इसके परिणाम स्वरूप उसने भारत पर एक के बाद एक सत्रह आक्रमण किये तथा असंख्य धन जन की हानि की। इन नवीन राजाओं ने न केवल अपने आपसी झगड़े के द्वारा उस समय की सङ्गठित शक्ति को ही नष्ठ किया, वरन् वे स्वयं भी अपने विनाश का क्षेत्र तैयार करने लगे। उनकी आपस में भी नहीं बनी और इसी कारण वे कभी एक हो कर दुश्मन के मुकाबले में भी खड़े न हो सके।

———

अड़तालीसवाँ अध्याय

बंगाल तथा उड़ीसा

प्राचीन भारत की सभ्यता के इतिहास के द्वितीय काल जिसे हम ऐतिहासिक काव्य कहते आये हैं, मगध तथा अंग के राज्यों, (बिहार के दक्षिणी-पूर्वी भाग को अङ्ग कहते हैं) आर्यों के आधिपत्य में नहीं थे उसके बाद वाले काल में अर्थात् ईसवी पूर्व की दसवीं शताब्दी के बाद ही मगध पूरा पूरा आर्य सभ्यता के विस्तार में आ सका। उस समय मगध की शक्ति इस तरह बढ़ती गयी कि एक समय ऐसा भी आ गया जब उसने गङ्गा के मैदान में बसे हुये आर्य राजाओं को भी आत्मसात् कर लिया। मगध ने गङ्गा के मैदान को राजनैतिक रूप से अपने वश में अवश्य किया, परन्तु धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से उसने इस मैदान की ही अधीनता स्वीकृत की। मगध में आर्य संस्कृति तथा सभ्यता का प्रचार ज्यों-ज्यों अधिक होता गया. मगध का प्रकाश त्यों-त्यों बढ़ता गया और

धीरे-धीरे उसने बङ्गाल तथा उड़ीसा को भी प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार बङ्गाल तथा उड़ीसा में आर्य सभ्यता की प्रथम किरण मगध के माध्यम से पहुँची।

ईसा की चौथी शताब्दी में जब यूनानी लोगों ने भारत को देखा तो उस समय उड़ीसा में तथा बंगाल में शक्ति, प्रभुत्व एवम् गौरवपूर्ण राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। उन राज्यों को उन्होंने एक ही नाम से पुकारा। उसे वे लोग कलिंग का राज्य कहते थे। ईसा के पूर्व की तीसरी शताब्दी में कलिंग को अशोक ने जीत लिया। अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि इस विजय ने बंगाल तथा उड़ीसा में बौद्ध मत के प्रचार एवम् प्रसार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इतना ही नहीं उत्तरी भारत के सभ्य एवम् सुसंस्कृत लोगों से इन लोगों का सम्पर्क भी इसी विजय के कारण हुआ।

धीरे-धीरे अबाध एवम् अज्ञात रूप से बंगाल सभ्यता में भी और महत्ता में भी निरन्तर आगे बढ़ता रहा। बौद्ध-काल के अन्तिम समय तक आते-आते बंगाल की शक्ति को मान्यता मिलने लगी थी। गौड़ के समीपस्थ कर्णसुवर्ण के राजा शशांक (नरेन्द्र गुप्त) ने सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में ही शीलादित्य महान् के बड़े भाई राज्यवर्धन को युद्ध में परास्त किया था। जब ६४० ई० में ह्वेनत्सांग भारत में आया तो उत्तरी बंगाल में उसने सशक्त एवम् सुसभ्य राज्यों को देखा। पूर्वी बंगाल का समतल, आसाम का कामरूप तथा दक्षिणी बंगाल का ताम्रलिप्ति राज्य तथा पश्चिम बंगाल में कर्णसुवर्ण का राज्य था। ये सभी राज्य उसी भूभाग में थे, जिसमें आज के राजशाही, ढाका, बर्दवान, आसाम तथा कलकत्ता है। इन सभी राज्यों का वर्णन पिछले अध्याय में दिया जा चुका है, अतएव यहाँ उनके वर्णनों को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इसके बाद नवीं शताब्दी के पूर्व तक फिर बंगाल का वर्णन नहीं मिलता।

उधर ताम्रपत्रों पर लिखे गये कुछ दान पत्र मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि जब मुसलमानों ने भारत विजय किया। उसके तीन सौ वर्षों पूर्व तक बंगाल में पाल वंश तथा सेन वंश के लोगों का राज्य था। डा० राजेन्द्र लाल मित्र ने बड़े ही यत्नपूर्वक खोज करके इस विषय की सूचनायें एकत्र की हैं, तथा उन्हें 'पाल तथा सेन वंश' नाम के निबन्ध में रक्खा है, जो उन्हीं की लिखी पुस्तक "इन्डो आर्यन्स" के द्वितीय भाग में छप चुका है। नीचे दी हुई राजाओं की सूची उसी निबन्ध से ली गयी है। डा० मित्र ने हर राजा के राज्य काल का औसत २० वर्ष माना है।

(पश्चिमी तथा उत्तरी बङ्गाल में पालवंश)

	राजाओं का नाम		समय
१	गोपाल	...	८५५ ई०
२	धर्मपाल	...	८७५ "
३	देववाल	...	८९५ "
४	विग्रहपाल	...	९१५ "
५	नारायणपाल	...	९३५ "
६	राजपाल	...	९५५ "
७	अज्ञात	...	९७५ "
८	—	...	९९५ "
९	—	...	१०१५ "
१०	—	...	१०४० "

(सेन वंश-पूर्वी तथा समुद्रतटीय बङ्गाल)

१	वीरसेन	...	९८६ ई०
२	सामन्त सेन	...	१००६ "
३	हेमन्तसेन (पूरे बङ्गाल में)	...	१०२६ "
४	विजयसेन (सुखसेन)	...	१०४६ "
५	बल्लाल सेन	...	१०६६ "
६	लक्ष्मण सेन	...	११०६ "
७	माधम सेन	...	११३६ "
८	केशव सेन	...	११३८ "
९	लक्ष्मणेय (अशोक सेन)	...	११४२ "

मुसलमानों की विजय १२०४ ई० के करीब।

पाल वंशीय राजाओं ने अपनाया तो बौद्ध धर्म परन्तु वे हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु ही नहीं थे वरन् उदार भी थे। राज्य में हिन्दू धर्मानुयायी भी उच्च पदों पर रक्खे गए थे तथा हिन्दुओं को एवम् हिन्दू संस्थाओं को भी राज्य की ओर से भूमि दान में दी गयी थी। पाल वंश वालों का आधिपत्य पूर्वी बंगाल पर तो कभी भी नहीं रहा, परन्तु डा० मित्र के अनुसार उनका शासन भागीरथी के पच्छिमी तट पर वहाँ तक था जहाँ तक बिहार की सीमा थी। शायद इससे भी कुछ आगे तक वह राज्य रहा हो अर्थात् सारा प्राचीन मगध इनके आधिपत्य में रहा हो। उत्तर की

ओर वर्तमान तिरहुत, मालदा, राजशाही, दिनाजपुर, रंगपुर तथा वागुरा तक का भूभाग इनके शासन में था। ये सभी प्रदेश प्राचीन काल के महान पुंथवर्द्धन राज्य के अंग थे। गंगा का डेल्टा प्रदेश शायद उनके राज्य के बाहर था।

प्रथम पाल वंशीय राजा गोपाल का नालन्दा में एक छोटा सा शिलालेख मिला है, जो यह सिद्ध करता है कि इस महान् राजा ने मगध को जीत लिया था। इस बात की पुष्टि तारा नाथ जी द्वारा भी हो जाती है, जिनका कहना है कि—"गोपाल ने बंगाल में शासन करना प्रारम्भ किया तथा बाद में मगध को भी जीत लिया।" जनरल कनिंघम के अनुसार गोपाल ने ८१५ ई० में शासनाधिकार अपने हाथ में लिया। डा० मित्र के अनुसार गोपाल का शासन ८५५ ई० में प्रारम्भ हुआ। दोनों विद्वानों द्वारा मान्य तिथियों में चालीस साल का अन्तर है। गोपाल के उत्तराधिकारी धर्मपाल ने अपने साम्राज्य को बृहत्तर किया। उसने प्रवल की पुत्री कन्या देवी से ब्याह किया। प्रवल "कई देशों का राजा" था। धर्मपाल का उत्तराधिकारी था देवपाल, जो महान् विजेता था। कुछ शिलालेखों के अनुसार उसने कामरूप तथा उड़ीसा को भी विजय किया, परन्तु तारानाथ जी के अनुसार देवपाल ने हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच के समूचे उत्तरी भारत को अपने आधीन कर लिया था। एक अन्य शिलालेख के अनुसार देवपाल के समय में जितनी भी युद्ध यात्रायें हुई, उन सबका नेतृत्व उसके भाई जयपाल ने किया था, जिसके पुत्र विग्रहपाल ने दो एक अल्पकाल तक ही गद्दी पर बैठने वालों के बाद स्वयम् राज्यारोहण किया। इन अल्पकालीन राजाओं का नाम डा० मित्र की सूची में छूट गया है। भागलपुर में प्राप्त ताम्रलेख के अनुसार विग्रहपाल ने हैहय राजकुमारी से ब्याह किया। यह विश्वास किया जाता है कि हैहय लोग भी राजपूत थे। इन दोनों के संयोग से उत्पन्न राजकुमार नारायण पाल अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। इसी नारायण पाल का पुत्र राज्यपाल उस समय पूरे उत्तरी भारत पर शासन कर रहा था, जब १०१७ ई० में महमूद गजनवी अपनी विशाल बाहिनी के साथ कन्नौज के द्वार पर आ खड़ा हुआ। इस हिसाब से डा० राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा मानी गयी तिथि मान्य नहीं हो सकती।

राज्यपाल के उत्तराधिकारियों के बारे में कुछ अधिक जानकारी देने वाली सामग्री का अभाव है। जब तक हम महिपाल के शासन काल में नहीं आ जाते, जिसने तारानाथ के अनुसार बावन वर्षों तक राज्य किया था, और इसी लिये जेनरल कनिंघम ने महिपाल का शासन काल सन् १०२८ से १०८० ई० तक माना है। ऐसा कहा जाता है कि उड़ीसा का शक्तिशाली राजा महिपाल का करद था। महि-

पाल का जो भी उत्तराधिकारी हुआ, उसी के समय में पूर्वी बंगाल में सेन राजाओं की शक्ति बढ़ने लगी और धीरे-धीरे उन्होंने पूरे पूर्वी बंगाल प्रदेश को ही पालवंश के अधिकार में कर लिया। इस प्रकार पालवंशीय राजाओं का आधिपत्य केवल मगध पर ही शेष रहा, जहाँ वे सन् ११७८ ई० तक शासन करते रहे। उस वर्ष के बाद एकाएक ही उनकी शक्ति का खात्मा हो गया।

डा० राजेन्द्र लाल मित्र के मतानुसार सेन वंश का प्रथम राजा वीरसेन ही वह आदि सूर है, जो कन्नौज से पांच ब्राह्मण तथा पांच कायस्थ इसलिए अपने साथ लाया था कि बंगाल में शिक्षितों की भी कमी थी, विद्वानों की तो बात ही नहीं थी। आदि सूर ने इन्हीं दस व्यक्तियों के द्वारा बंगाल में विद्या प्रचार की योजना बनाई थी। जेनरल कनिंघम का मत है कि वीरसेन उन सेन राजाओं का सुदूर पूर्वज था जो बंगाल में बाद में स्थापित हुये और वीर सेन का शासन काल सातवीं शताब्दी में था। ऐसा सोचना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि जो दस व्यक्ति कन्नौज से आये थे, उनकी संख्या ग्यारहवीं शताब्दी तक इतनी बढ़ गयी कि बल्लालसेन को उन्हें अन्य लोगों से अलग करने के लिये नियम बनाने पड़े। जेनरल कनिघम के मतानुसार सामन्त सेन से लेकर लक्ष्मणेय तक जितने भी सेन राजा हुये, वे सब के सब सन् ९७५ से लेकर ११९८ ई० के बीच में हुये।

सामन्त सेन तथा उसके पुत्र हेमन्त सेन के बारे में प्रायः कुछ भी नहीं ज्ञात है। हेमन्त सेन का उत्तराधिकारी हुआ विजयसेन उपनाम सुखसेन, जो समूचे बंगाल का मालिक था। विजय सेन का ही पुत्र हुआ बल्लाल सेन, जो बड़ा प्रतापी तथा गौरवशाली हुआ।

आदिसूर ने जिन ब्राह्मणों का आयात किया था वे ही समय पाकर इतने अधिक बढ़ गये कि यह मालूम होने लगा कि कन्नौज के ब्राह्मणों, कायस्थों तथा बंगाल के ब्राह्मणों कायस्थों में कोई भेद ही नहीं रह जायगा। इस आशंका को दूर करने के लिये बल्लाल सेन ने नियम बना दिया कि बंगालियों एवम् कन्नौजियों में वैवाहिक सम्बन्ध न हों। वल्लाल का विचार था कि कन्नौजियों की शुद्धता कायम रक्खी जाय। बल्लाल तथा उसके उत्तराधिकारियों ने कितने ही उलझन पूर्ण नियम बनाये और इस प्रकार उन लोगों को भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया, जो किसी तरह इन कन्नौजियों के संसर्ग में आ चुके थे। एक सम्भावना इस बात की भी है कि ये नियम उपनियम स्वयम् नवागतों (कन्नौजियों) में ही बनाये हो और बल्लाल ने उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया हो।

लक्ष्मणसेन बल्लाल का उत्तराधिकारी हुआ। हलायुध उसका प्रधान मंत्री

था, जिसने 'ब्राह्मण-सर्वस्व' नामक ग्रन्थ की रचना की। मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार इस राजा ने गौड़ नगर को खूब उन्नत किया। लक्ष्मण सेन के बाद उसके दो पुत्र अर्थात् माधवसेन तथा केशवसेन उत्तराधिकारी हुये। इसके पश्चात् अन्तिम राजा हुआ लक्ष्मणेय, जिसके समय में बख्तियार खिलजी ने बंगाल को जीत लिया। यह घटना एक मत से सन् १२०४ ई० में तथा दूसरे मत से सन् ११९८ ई० हुई।

सेन परिवार की राजधानी विक्रमपुर में थी जो ढाका के समीप है। आज भी जब कोई यात्री बंगाल के दर्शनीय स्थलों को देखता हुआ ढाका के पास पहुँचता है तो वहाँ उसे बल्लाल के महलों के अवशेष दिखाये जाते हैं। जिस प्रकार पाल वंशीय राजा लोग सब के सब बौद्ध थे, उसी प्रकार सेन वंशीय सभी राजा हिन्दू मतानुयायी थे। मजे की बात यह है कि ज्यों-ज्यों इस प्रदेश में राजनैतिक परिवर्तन होते गये त्यों-त्यों धार्मिक परिवर्तन भी चालू रहे तथा इस प्रकार बौद्ध धर्म का अन्त पाल वंशीय अन्त के साथ ही हुआ तथा हिन्दू धर्म का अभ्युदय सेन वंशीय अभ्युदय के साथ ही हुआ। वास्तव में राजवंशों के उत्थान अथवा पतन की यह प्रक्रिया देखने सुनने में जितनी ही सरल है, उसके कारण उतनी ही अधिक गम्भीर हैं। किसी भी देश के इतिहास में यह विरोधाभास अवश्य ही परिलक्षित होता है। भारत में ८वीं, ९वीं तथा दसवीं शताब्दी में पौराणिक हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के शव पर ही खड़ा हुआ।

पाल तथा सेन वंशीय राजा लोग किस जाति तथा वर्ण के थे, इस प्रश्न को लेकर इतिहास जानने वाले विद्वानों में पिछले वर्षों बड़ा वादविवाद उठा था। अनेक मत के विद्वान अपने अपने मतों को सही सिद्ध करने के लिये अनेक प्रकार के तर्क दे रहे थे। इस वादाविवाद में भाग लेने वाले विद्वानों में डा० राजेन्द्र लाल मित्र तथा जेनरल कनिंघम मुख्य थे। इस वादाविवाद के विस्तार में जाने की हमको आवश्यकता नहीं है अतएव हम केवल उन परिणामों पर ही विचार करेंगे, जो हमारे काम के लिये विश्वासनीय प्रतीत होते हैं।

बंगाल में पालवंशीय राजा लोग उसी समय में राज्य कर रहे थे, जिस समय में पश्चिमी भारत में जयपाल तथा अनंग पाल सुबुक्तगीन तथा महमूद गजनवी के आक्रमणों को रोकने की कोशिश कर रहे थे। यदि हम यह मान लें कि पाल तथा सेन वंशीय राजा लोग उसी नवीन जाति में से थे, जिन्होंने भारत के स्थान-स्थान पर अपने नये राज्य नवीं तथा दसवीं शताब्दी में स्थापित किये थे। तो हमारा ऐसा अनुमान लगाना अनुचित न होगा। वे क्षत्रिय थे, परन्तु इन्हें क्षत्रिय केवल

इसलिए ही कहा जाता है कि उन्होंने राज्य स्थापित किये थे तथा उन्होंने युद्धों में विजय प्राप्त की थी। अतएव वे राजा जाति के थे अर्थात् क्षत्रिय थे। भारतीय वर्ण व्यवस्था में राज्य करना, प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का ही काम माना गया था, अतः जो भी राजा हुये उन्होंने स्वयम् को क्षत्रिय तो कहा ही, दूसरे लोगों ने भी उन्हें क्षत्रिय ही कहना प्रारम्भ किया। इसी के अनुसार राजपूतों ने अपने को सिंह कहना प्रारम्भ कर दिया। और भी आगे चलकर मराठा राजा शिवाजी ने भी अपने को क्षत्रिय ही कहा है।

बंगाल के सेन वंशीय लोग वही हैं, जिन्हें आजकल वैद्य कहा जाता है, अर्थात् वे औषधोपचार करने वाली जाति के हैं। इसी तर्क के बल पर यह माना जाता है कि सेन वंशीय राजा लोग भी इसी शाखा के थे। उस मान्यता को मान लेने के पहले यह भी जान लेना आवश्यक है कि भारत में दक्षिण तथा पश्चिम के भूभागों को छोड़ कर अन्य किसी भी स्थान में औषधोपचार करने वालों की कोई जाति विशेष नहीं होती थी। अतएव सेन वंशीय राजा लोग भी यदि वैद्य जाति के थे तो वे अवश्य ही दक्षिण पश्चिम भारत से आये होंगे। हमने पीछे इस बात को दिखाया है और आगे भी दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि मनु के समय में भी तथा कई शताब्दियों बाद तक वैद्यों की कोई अलग जाति नहीं थी। यही दशा कायस्थों की थी अर्थात उनकी भी कोई अलग जाति नहीं थी। लिपिक का कार्य करने वाले लोग भी और वैद्यों का काम करने वाले लोग समूची आर्य जाति के अन्तर्गत जो क्षत्रिय एवम् वैश्य वर्ण के लोग थे, उन्हीं में से होते थे। उनका अलग वर्ण विभाग तो बहुत बाद में हुआ। तब हम यह कैसे मान सकते हैं कि सेन वंशीय लोग वैद्य जाति के थे। जहाँ तक सूचनायें प्राप्त हैं, बंगाल ही भारत का एक ऐसा सूबा है, जहाँ वैद्य नाम की एक अलग जाति हैं। ऐसी दशा में यह कैसे माना जा सकता है कि सेन वंशीय राजा लोग वैद्य जाति के थे। जहाँ से यह लोग बंगाल में आये थे, वहाँ वैद्यों की कोई अलग जाति होती ही नहीं थी।

वास्तविकता तो यह है कि सेन वंशीय राजा लोग दक्षिणी पश्चिमी भारत के किसी राज घराने के ही उत्तराधिकारी थे, जो किसी न किसी कारण से अपना देश छोड़ कर बंगाल की ओर चले आये थे। यह भी सम्भावना है कि वे लोग सौराष्ट्र देशीय वल्लभी सेन वंश से हो या दक्षिण के किसी भी अन्य राज में सेन वंशीय कोई मूल पुरुष रहता रहा हो। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं होना चाहिये कि बंगाल के सेन वंशीय राजा किसी लड़ाकू जाति के अवश्य होंगे। इनके पूर्वजों ने चूंकि राज्य स्थापना की थी, और राज्य करना भारतीय वर्ण व्यवस्था के अनुसार क्षत्रियों का ही काम था, अतः ये लोग भी अपने को क्षत्रिय ही कहने लगे और इन्हीं के अनुसार

अन्य लोग भी इन्हें ऐसा ही कहने लगे। ये लोग वल्लभी वंश के भी हो सकते हैं और राजपूत तथा वैश्य जाति से भी हो सकते हैं।

पूर्वी बंगाल के जो निवासी सेन वैद्य जाति के हैं, वे अपना सम्बन्ध बड़ी आसानी से एवम् सफलता पूर्वक वल्लाल सेन या उसके उत्तराधिकारियों के साथ स्थापित कर सकते हैं, परन्तु प्राचीन सेन वंशीय लोगों को हाथ में चूर्ण एवम् मल-हम लेकर बंगाल में आया हुआ मानने से अधिक समझ में आने वाली तथा इति-हास सम्मत तो यह मान लेना होगा कि प्राचीन वैश्यों के वंशज या सेन वंशीय क्षत्रिय राजाओं के वंशज अब बंगाल की वर्तमान वैद्य जाति में समाहित हो गये हैं।

हमारे विषय के विचार से यह बात भी महत्वपूर्ण है कि इसी स्थान पर हम यह भी विचार कर लें कि बंगाल के लोग किस जाति के हैं। बंगाल में भूत काल में भी और आज भी शुद्ध आर्य रक्त रखने वालों का संख्या तुलनात्मक दृष्टि से बहुत थोड़ी है। यहाँ के ब्रह्मणों का रक्त शुद्ध आर्यों का है, परन्तु वर्ण ब्राह्मण इनसे अलग है। ये वर्ण ब्राह्मण जिस जाति की उपासना पद्धति अपनाते हैं, उसी जाति के हैं। कायस्थ भी आर्य रक्त के हैं, परन्तु छुद्र-कर्मा तथा कृषि-कर्मा लोग जैसे भन्डारी इत्यादि इनसे अलग हैं। ये लोग अपने को कायस्थ ही कहते हैं, तुरन्तु वास्तविक रूप में ये शूद्र हैं। वैद्य लोगों की संख्या सुकेन्द्रित एवम् बहुत कम है, तथा उनका रक्त शुद्ध आर्यों का है। ये लोग प्राचीन वैश्यों के वंशज है। व्यापारी वर्ग में से सुवर्णबनिक तथा कुछ अन्य लोग आर्य रक्त के ही हैं। कुम्हार, जुलाहे, लोहार, सुनार और अन्य कारीगर लोग वास्तव में प्राचीन वैश्यों की सन्तान हैं। विभिन्न पेशा अपनाने के कारण विभिन्न नामों से पुकारे जाने लगे हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखना चाहिये कि इन उपजातियों में कितने ही वे पराजित आदि वासी भी घुस आये हैं, जिन्होंने वही काम करना आरम्भ कर दिया, जिन्हें विजेता आर्यों का आदेश मिला। जिस आदि वासी ने जो काम सीखा वह उसी काम को पीढ़ी दर पीढ़ी करता गया और धीरे-धीरे उसके वंशज उसी प्रकार का कार्य करने वाले आर्यों में मिलते गये और एक दिन वे पूर्ण रीति से उसी उपजाति के अंग बन गये। इनके अतिरिक्त इस देश में कृषि कार्य करने वाले, पशु चराने वाले चरवाहे, शिकार करके जीवन यापन करने वाले व्याध, और मछली मार कर जीवन निर्वाह करने वाले मछवाहे, कैवर्त, चांडाल तथा कृषि-कार्य-रत्न मुसलमान लोग निस्सन्देह अनार्य जाति के हैं या यों कहना ठीक होगा कि वे बंगाल प्रान्त के आदि वासियों की सन्तान हैं। और भी आगे जाने पर बागदी, बौरी, डोम तथा हारी जाति के लोग हैं जो आदिवासियों के वंशज तो हैं, परन्तु अभी वे पूर्ण रूपेण हिन्दू संस्कारों को नहीं अपना सके हैं।

अब हम अपना ध्यान उड़ीसा के इतिहास पर केन्द्रित करते हैं। बंगाल की ही तरह आर्य लोग उड़ीसा में भी दार्शनिक काल में बसे। बंगाल में प्राचीन आर्यों के स्मारक नहीं पाये जाते, परन्तु उड़ीसा की पहाड़ियों में बनी हुई गुफायें तथा उन्हीं में निर्मित राज महल आज भी उन प्राचीन आर्यों की स्मृति बरबस दिला देते हैं, जो अति सुदूर अतीत में इतस्ततः भ्रमण करते हुये उड़ीसा में आकर बस गये। बौद्ध प्रचारकों के दल के दल इस प्रदेश में सद्धर्म का प्रचार करने के लिए आये तथा यहाँ की गुफाओं को निवास बना कर अपने जीवन को शांति की खोज तथा गम्भीर चिन्तन में लगाया। इन गुफाओं का यदि पुरातत्व की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो पता लगेगा कि इनमें से कितनी ही गुफायें अशोक महान् के पूर्ववर्ती काल की प्रतीत होंगी। कटक तथा पुरी के बीचोबीच दो वालुका निर्मित पहाड़ियाँ अचानक जंगल से निकली हुई मालूम होती है। इन्हें खंडगिरि तथा उदयगिरि कहते हैं। इनकी चोटियों पर तथा ढलानों पर अनेक वर्गाकार तथा अठपहल कोठरियाँ तथा कितने ही बड़े-बड़े भवन बने हुये दिखाई पड़ते हैं। इनमें से जो सर्वाधिक प्राचीन हैं, वे अकेली कोठरियों के रूप में हैं। वे शायद ही निवास योग्य जान पड़ती हैं। हाँ, वे लोग अवश्य इनमें रह सकते होंगे, जिन्होंने जीवन के सारे सुखों को लात मार कर एकान्त जीवन में ही सुख शान्ति की खोज करने के इच्छुक रहे हों। समय बीतने के साथ ही साथ यहां वृहद से वृहद्त्तर गुफा भवन बनते रहे। पहले की गुफायें सादी ही थी, अर्थात् उनकी दीवालों पर न तो चित्रकारी ही थी और न खुदाई का काम ही, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों इन महलों के आकार-प्रकार में तो वृद्धि हुई ही, साथ ही साथ सजावट में भी वृद्धि होती गयी। यहां तक कि सबसे बाद में बनाये गये भवन तो राज सभाओं एवम् राजा रानियों के निवास योग्य हैं। दीवालों तथा द्वारों पर अद्भुत खुदाई के काम किये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अशोक द्वारा कलिंग विजय के बाद ही इन सुन्दर बौद्ध कला कृतियों की अवतारणा हुई। हम पहले ही कह चुके हैं कि उड़ीसा में अशोक के कई शिलालेख पाये गए हैं।

उड़ीसा के बौद्धयुगीन इतिहास की हमें बहुत ही कम जानकारी है। इस स्थान के इतिहास पर सर्व प्रथम मि० स्टर्लिङ्ग का ध्यान आकर्षित हुआ, जिसने अपने अपार परिश्रम के फल को एशियाटिक रिसर्चेज के पन्द्रहवें भाग में प्रस्तुत किया। उस कृति के कारण डा० राजेन्द्र लाल मित्र एवम् हन्टर जैसे—दो एक यूरोपीय अनुसन्धान कर्ताओं ने इस कार्य की ओर ध्यान दिया।

ईसा की पांचवीं शताब्दी के तीन चरणों में यहाँ जिन लोगों का राज्य रहा

वे बौद्ध मतानुयायी थे, जिन्हें सन् ४७४ ई० में केशरी राजवंश के संस्थापक यर्थात् ययाति केशरी ने निकाल बाहर किया तथा इस भूभाग में केशरी वंश की नींव डाली, राजवंश के परिवर्तन ने धार्मिक परिवर्तन को भी जन्म दिया, अर्थात् केशरी वंश वाले बौद्ध धर्म को छोड़ कर हिन्दू धर्म को मानने लगे और उनके शासन में बराबर हिन्दू धर्म को ही प्रश्रय मिलता गया। इस राजवंश ने कुल मिलाकर सात शताब्दियों तक राज्य किया और उन्हीं की स्थापना के बाद से उड़ीसा प्रान्त का अधिकृत इतिहास प्रारम्भ हुआ। नीचे लिखी वंशावली मि० हन्टर की देन है, जिसे देखना पाठक पसन्द करेंगे :—

१	ययाति	केशरी ४७६	ई०	२३	मधुसूदन	केशरी ९०४	ई०
२	सूर्य	,, ५२६	,,	२४	धर्म	,, ९२०	,,
३	अनन्त	,, ५८३	,,	२५	जन	,, ९३०	,,
४	अलाबू	,, ६२३	,,	२६	नृप	,, ९४१	,,
५	कनक	,, ६७७	,,	२७	मकर	,, ९५३	,,
६	वीर	,, ६९३	,,	२८	त्रिपुर	,, ९६१	,,
७	पद्म	,, ७०१	,,	२९	माधव	,, ९७१	,,
८	वृद्ध	,, ७०६	,,	३०	गोविन्द	,, ९८९	,,
९	बट	,, ७१५	,,	३१	नृत्य	,, ९९९	,,
१०	गज	,, ७२६	,,	३२	नरसिंह	,, १०१३	,,
११	वसन्त	,, ७३८	,,	३३	कूर्म	,, १०२४	,,
१२	गन्धर्व	,, ७४०	,,	३४	मत्स्य	,, १०३४	,,
१३	जन्मेजय	,, ७५४	,,	३५	वाराह	,, १०५०	,,
१४	भरत	,, ७६३	,,	३६	वामन	,, १०६५	,,
१५	काली	,, ७७८	,,	३७	परशु	,, १०७८	,,
१६	कमल	,, ७९२	,,	३८	चन्द्र	,, १०८०	,,
१७	कुण्डल	,, ८११	,,	३९	सुजन	,, १०९२	,,
१८	चन्द्र	,, ८२९	,,	४०	सालिनि	,, १०९९	,,
१९	वीरचन्द्र	,, ८४६	,,	४१	पुरंजन	,, ११०४	,,
२०	अमृत	,, ८६५	,,	४२	विष्णु	,, ११०७	,,
२१	विजय	,, ८७५	,,	४३	इन्द्र	,, १११९	,,
२२	चन्द्रपाल	,, ८९०	,,	४४	सुवर्ण	१११९-११३२	,,

वंश समाप्ति

इन केशरी राजाओं की राजधानी थी भुवनेश्वर, जिसे इन राजाओं ने अनेक भव्य एवम् विशाल मंदिरों तथा सुन्दर भवनों से अलंकृत किया। इन मंदिरों एवम प्रासादों के खंडहर हिन्दू भवन निर्माण कला के उच्च आदर्शों के नमूनों के रूप में आज भी अपनी कहानी कह रहे हैं। समूचा स्थान इन भग्नावशेषों से भरा पड़ा है, और ये अवशेष आज भी केशरी राजाओं की कला एवम सौन्दर्य प्रियता का गान करते दिखाई देते हैं। उनके वैभव का, उनकी सम्पन्नता का प्रमाण इन खंडहरों के रूप में आज भी दर्शनीय हैं। अपने समय में यह नगर अपने भव्य भवनों तथा विशाल मन्दिरों के लिए अवश्य ही दूर-दूर तक प्रसिद्ध रहा होगा।

प्रथम केशरी राजा ययाति ने इस नगर को बसाया। इस नगर के नाम से ही पता चलता है कि वह राजा हिन्दू धर्म का मानने वाला तथा शिव का उपाशक था। उड़ीसा समस्त धर्म प्राण हिन्दुओं का केन्द्र यही भुवनेश्वर नगर था। इस राज्य का दूसरा नगर जयपुर भी ययाति केशरी का बसाया हुआ था, जिसमें स्थापित देवताओं की मानवाकार प्रतिमायें केशरी राजाओं के वैभव की गवाही दे रही हैं। स्थान-स्थान पर निर्मित विशाल शिवालय इन राजाओं की शिवाभक्ति का प्रमाण उपस्थित करते हैं। नृप केशरी ने ९४१ ई० से ९५३ ई० तक राज्य किया था। कहते हैं कि उसी ने कटक नगर को बसाया था।

केशरी राजवंश की समाप्ति सन् ११३२ ई० में हुई। उसके स्थान में एक सर्वथा नवीन राजवंश की स्थापना हुई, जिसे इतिहासकार 'गंगा वंश के नाम से पुकारते हैं। इस वंश को मूल श्रोत अब भी विवाद ग्रस्त है, परन्तु परिवार का नाम तथा मानी जानी वाली परम्परायें उस बात की ओर संकेत करती हैं कि यह वंश बंगाल से सम्बन्धित था और इस बात की प्रवल सम्भावना है कि ये लोग प्राचीन ताम्रलिप्ति अथवा तमलुक देश के आसपास से आये होंगे। जिस प्रकार केशरी वंश की स्थापना के साथ धार्मिक रद्दो बदल भी हुआ था, उसी प्रकार गंगा वंश की स्थापना के समय में भी एक धार्मिक क्रान्ति हुई। केशरी वंश वालों ने बौद्ध धर्म के स्थान पर हिन्दू धर्म को अपनाया तथा उसे यथा शक्ति प्रश्रय दिया, और गंगा वंश वालों ने केशरी वंश द्वारा सुपूजित शिव के स्थान पर विष्णु की उपासना प्रारम्भ किया, परन्तु जिस प्रकार शिवोपासना के प्रचलन से बौद्धों का नाम निशान नहीं मिटा, उसी प्रकार विष्णु की उपासना प्रचलित हो जाने से शिवोपासकों का सम्पूर्ण विनाश नहीं हो पाया। उपरोक्त तर्क का तात्पर्य यह हुआ कि गंगा वंश की स्थापना के साथ विष्णु की उपासना राजवंश में तथा उनके कृपापात्रों में ही प्रचलित हुई 'होगी। शेष जनता तो स्वतंत्र ही थी कि वह चाहे जिस उपासना पद्धति को अपनायें। यह बात

और है कि जिस धर्म को राजधर्म होने का गौरव प्राप्त हो जाता है, उस धर्म का प्रचलन सरलता से राजा के कृपापात्रों में भी प्रचलित हो जाता है तथा कृपा-कांक्षियों में भी। सारांश यह कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि राजधर्म ही जन-धर्म भी हो जाय। इस प्रकार गंगा वंश वालों के शासन काल में उड़ीसा में बौद्ध भी थे, शिवोपासक भी थे और विष्णु के उपासक भी। ये तीनों ही मत अपनी-अपनी स्वतंत्र धारा में साथ-साथ समानान्तर से चल रहे थे। डा० हंटर ने श्रमपूर्वक गंगा वंश की वंशावली का अनुसन्धान किया है, जो पाठकों की जानकारी के लिये नीचे दी जाती है :—

१	चारे गंगा	११३२ ई०	१३	शंखभसुर	१३३० ई०
२	गंगेश्वर	११५२ ”	१४	शंख वासुदेव	१३३७ ”
३	एक जातकमदेव	११६६ ”	१५	वाली ”	१३६१ ”
४	मदन महादेव	११७१ ”	१६	वीरा ”	१३८२ ”
५	अनङ्ग भीमदेव	११७५ ”	१७	काली ”	१४०१ ”
६	राजराजेश्वर देव	१२०२ ”	१८	नयंगतन्त	१४१४ ”
७	लांगुह्य नरदेश्वर	१२३७ ”	१९	नेत्रवासुदेव	१४२९ ”
८	— ”		२०	कपिलेन्द्र देव	१४५२ ”
९	केशरी ”	१२८२ ”	२१	पुरुषोत्तम देव	१४७९ ”
१०	प्रताप ”	१३०७ ”	२२	प्रताप रुद्र देव	१५०४ ”
११	प्यटकंठ ”	१३२७ ”	२३	कलिंग देव	१५३२ ”
१२	कपिल ”	१३२९ ”	२४	कलरुगदेव	१५३३-३४ ”

गंगा वंश की समाप्ति

इस वंश के कुछ प्रारम्भिक राजा लोग बड़े ही प्रभावशाली थे। गंगेश्वर (११५२-६६) का राज्य गंगा से गोदावरी तक विस्तृत था। अनंग भीमदेव (११७५-१२०२) भी बड़ा प्रतापी राजा था। कहा जाता है कि वर्तमान जगन्नाथ जी के मन्दिर को उसी ने बनाया था। आगे चल कर पुरुषोत्तम देव (१४७९-१५०४) ने दक्षिण के कांची के राजा को युद्ध में पराजित किया था और उसकी लड़की से ब्याह किया था। जिस समय सुप्रसिद्ध वैष्णव संत श्री चैतन्य ने उड़ीसा में पदार्पण किया था, तो प्रताप रुद्र गद्दी पर था।

गंगावंश के अन्तिम राजा कलरुगदेव को गोविंद विद्याधर ने मार डाला और स्वयम् गद्दी पर बैठा। वह सन् १५३४ से १५४१ ई० तक गद्दी पर रहा। इसके समय में ही उसका संघर्ष मुसलमानों से शुरू हो गया। उसके बाद चार

राजा गद्दी पर बैठे। चक्र प्रताप (१५४१-१५४९) नरसिंह जन (१५४९-१५५०) रघुराम चोत्र (१५५०-१५५१) तथा मुकुन्द देव (१५५१-१५५९)। राजा मुकुन्द देव के ही समय में प्रसिद्ध मुसलमान सेनापति काला पहाड़ ने उस प्रान्त पर हमला किया। उसने राजा को हराया और मार डाला। यह युद्ध जयपुर के निकट हुआ था। उसने जगन्नाथ पुरी को बुरी तरह लूटा और बर्बाद कर दिया तथा हिन्दू राज्य का अन्त कर दिया।

मुसलमानों ने उत्तरी भारत तथा बंगाल को जिस समय जीता था, उसके चार सौ वर्षों बाद तक अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने के बाद सन् १५६० ई० में उड़ीसा मुसलमानों के हाथ में चला गया।

उनचासवां अध्याय

काश्मीर तथा दक्षिणी भारत

किसी पिछले अध्याय में हमने काश्मीर के उस समय तक के इतिहास का चित्रण किया है, जिस समय मातृगुप्त वहाँ का शासक था, और जो महान् विक्रमादित्य का समकालीन तथा उसका मित्र था। मातृगुप्त के उत्तराधिकारी काश्मीर शासकों का नाम बारहवीं शताब्दी के मध्य तक मिलता है, और उसी समय कल्हण की राज तरंगिणी का विवरण भी समाप्त हो जाता है, प्रसन्नता की बात है कि राजतरंगिणी के लेखक के कार्य को कुछ अन्य लेखकों की अन्य कृतियाँ आगे बढ़ाती हैं, और इस प्रकार कल्हण का वित्तरण क्रम भंग नहीं होने पाता।

यहाँ हमें केवल इस बात का परिचय देना है कि मातृगुप्त की सातवीं पीढ़ी में दुर्लभ वर्द्धन काश्मीर की गद्दी पर था। उसके शासन के बाद की जितनी ऐतिहासिक तारीखें कल्हण ने दी हैं, वे सभी पूर्ण विश्वसनीय हैं। दुर्लभ वर्द्धन का शासन ५९८ ई० से प्रारम्भ होता है। कल्हण के अनुसार मातृगुप्त के बाद तथा दुर्लभ वर्द्धन के बीच में ६ राजा और हो चुके हैं और यदि इस प्रत्येक राजा का औसत शासन काल पन्द्रह वर्षों का मान लें तो मातृगुप्त का शासन काल छठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में पड़ता है।

कल्हण को शक सम्वत् के कारण कुछ भ्रम हो गया था। उसने समझ लिया

था कि मातृ गुप्त तथा विक्रमादित्य शक सम्वत् के प्रारम्भिक वर्षों में शासन कर रहे थे, इस लिये मातृगुप्त एवम् दुर्लभ वर्द्धन के बीच वाले ६ राजाओं के शासन काल को तोड़ मरोड़ कर उसने पाँच शताब्दियों तक खींचा है। इसी लिये उसने इस वंश के एक शासक विशेष को तीन सौ वर्षों तक गद्दी पर बैठाल रक्खा हैं। यह शासक रणादित्य था। इस विचार से देखने पर दुर्लभ वर्द्धन के शासन काल की पूर्ववर्ती तारीऐं पूर्णरूप से अविश्वसनीय हैं।

मातृगुप्त ने राजकाज छोड़ा	५५० ई०	संकट	५०४ ई०
प्रवरसेन	सन् ५५० से ५९८ ई०	सुगन्धा (रानी)	६०४ "
युधिष्ठर		पार्थ	९०६ "
नरेन्द्रादित्य		निर्जित वर्मन	९२१ "
रणादित्य		चक्र वर्मन	९२२ "
विक्रमादित्य		सुरवर्मन	९३३ "
बालादित्य		पार्थ द्वितीय	९३४ "
दुर्लभवर्द्धन कल्हण के अनुसार	५९८ "	चक्रवर्मन द्वितीय	९३५ "
चन्द्रापीड़	६३४ "	उन्मत्तवन्ति	९३७ "
तारापीड़	६८४ "	सुरवर्मा	९३९ "
ललितादित्य	६९३ "	यशकार	९३९ "
कुबलयापीड़	६९७ "	वर्नत	९४८ "
बज्रादित्य	७३४ "	संग्राम	९४८ "
पृथिव्यापीड़	७४१ "	पर्वगुप्त	९४८ "
संग्रामापीड़	७४५ "	क्षेमगुप्त	९५० "
जयापीड़	७४५ "	अभिमन्यु	९५८ "
ललितापीड़	७७६ "	नन्दिगुप्त	९७२ "
संग्रामा पीड़	७८८ "	त्रिभुअन गुप्त	९७३ "
चिप्पत जमापीड़	७९५ "	भीमागुप्त	९७५ "
अजितापीड़	८१३ "	रानी दिद्दा	९८० "
अनंगपीड़	८४९ "	संग्राम	१००३ "
उत्पल पीड़	८५२ "	हरिराजा	१०२८ "
अवन्ति वर्मन	८५५ "	अनन्तदेव	१०२८ "
शंकर वर्मन	८८३ "	रणादित्य	१०६३ "
गोपाल वर्मन	९०२ "	उत्कर्ष	१०८९ "

हर्ष	१०८९ "	सस्सल	११२१ "
उच्चल	११०० "	सेनदेव	११२७ "
रड्ड	११११ "		
सल्हन	११११ "	इस राजा के शासन के सत्ताईसवें वर्ष	
सुस्सल	१११२ "	तक का वर्णन राजतरङ्गणी में है।	
भिक्षाचर	११२० "		

कल्हण तथा उसकी राजतरंगिणी के अनुवादक अवश्य ही धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इतिहास जिज्ञासुओं को इतनी सुरुचिपूर्ण सामग्री प्रदान की। जितने भी राजाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें से मातृगुप्त की कहानी सर्वाधिक रंजक है। कहा जाता है कि वह विक्रमादित्य का दरबारी मित्र तथा राजकवि था। उसी दानवीर राजा ने अपने मित्र कवि को काश्मीर का राज्य पुरस्कार में दे दिया था। हमें यह तो नहीं मालूम कि मातृगुप्त ने शासन किस प्रकार किया, परन्तु वह अपने राजा को इतना प्यार करते थे कि उसकी मृत्यु का समाचार सुन कर उसने भी सन्यास ले लिया तथा धर्मान्वेषण के लिये बनारस चला गया।

मातृगुप्त का भतीजा था, प्रवरसेन, जिसने मातृगुप्त के बाद राज्यारोहण किया और जाते-जाते मातृगुप्त ने प्रवरसेन द्वारा बनाये गये वितस्ता के पुल को अपनी काव्यमय लेखनी द्वारा अमर बना दिया। आज न तो वितस्ता का पुल है और न उसका निर्माता प्रवरसेन, यदि इनके सम्बन्ध में कुछ अवशिष्ट है तो वह है कवि मातृगुप्त द्वारा किया गया उस सेतु का भाव मय वर्णन, जो आज भी पाठकों के हृदय को गुदगुदा कर रख देता है। प्रवरसेन एक सशक्त राजा हुआ। उसने अपना राज्य सौराष्ट्र तक बढ़ाया और यह कहा जाता है कि उसने शीलादित्य प्रथम को हराया था, जो विक्रमादित्य की गद्दी पर था। इस विजय के फल स्वरूप वह उज्जयिनी से उस राजसिंहासन को वापस लाया, जिसे विक्रमादित्य ने काश्मीर विजय के परिणाम स्वरूप ले जाकर उज्जयिनी में रक्खा था। कल्हण द्वारा प्रस्तुत इस विवरण से भी ह्वेनत्सांग द्वारा लिखी गयी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि विक्रमादित्य के बाद शीलादित्य गद्दी पर बैठा।

मातृगुप्त के वंश में दूसरा प्रभावशाली राजा हुआ ललितादित्य। उसने ६९७ ई० में शासन भार संभाला तथा छत्तीस वर्षा तक शासन करता रहा। उसने दूर-दूर के देशों को जीता तथा कन्नौज के समकालीन राजा यशोवर्मन को पराजित किया। यहीं उसकी भेंट भवभूति नामक कवि से हुई जो कालिदास के बाद भारत का सबसे बड़ा कवि माना जाता है। राजा भवभूति को कन्नौज से हटा कर अपने

साथ ले गया। इसके बाद द्वितीय अभियान में ललितादित्य ने कलिंग, गौड़ और यहाँ तक कि कर्णाट को भी अपने अधीन करके छोड़ा। इसके बाद "उसने एक द्वीप से दूसरे द्वीप होते हुये समुद्र को पार किया।" हम इतना निर्णय दे सकने की स्थिति में नहीं है कि इसमें से कितना सत्य है और कितना अतिशयोक्ति। इसके बाद विन्ध्याचल को पार करके स्वदेश को लौटते हुए वह अवन्ती में आया उसने अपनी राजधानी में अनेक भव्य भवन बनवाये। कहा जाता है कि उसने हिमालय को पार करके अज्ञात उत्तर प्रदेश को जीतने की इच्छा की थी, और इसी इच्छापूर्ति के प्रयास में हिमालय पार करते समय ही उसकी मृत्यु हुई।

उपरोक्त विवरण से यह तो स्पष्ट ही हो गया कि ललितादित्य सुप्रसिद्ध कवि भवभूति का समकालीन था। इतिहासकारों का यह भी मत है कि सिन्ध को जीतने वाले मुहम्मद बिन कासिम का भी वह समकालीन था। कहा जाता है कि उसने तुरुष्कों को हराया और सिंध के शासक को भी पराजित किया था। यदि हम ललिता दित्य द्वारा सिंध के शासक का हराया जाना स्वीकार कर लें तो यह मानना पड़ेगा कि सिंध का यह शासक खलीफा का कोई प्रतिनिधि रहा होगा। ऐसी दशा में यह भी मानना होगा कि सिंध में मुसलमानों का आधिपत्य आठवीं शताब्दी में भी था।

बज्रादित्य ने सन् ७३४ से ७४१ ई० तक राज्य किया। "उसकी कितनी ही पत्नियाँ तथा उपपत्नियाँ थीं। उसने कितने ही व्यक्तियों को म्लेक्षों के हाथ बेंच दिया और म्लेक्षों की कितनी ही खराब आदतों को सीखा।"

सशक्त राजा जयापीड़ ने सन् ७४५ से ७७६ ई० तक अर्थात् इकतीस वर्षों तक राज्य किया। उसने कितने ही विद्वानों को इस कार्य के लिये नियुक्त किया कि वे लोग पाणिनि द्वारा लिखे प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ पर प्रस्तुत पतंजलि के भाष्य का संग्रह करें। कहा जाता है कि उसने गौड़ देश जाकर वहाँ के राजा जयंत से भेंट की थी तथा उसकी पुत्री कल्याणी देवी से विवाह किया था। महत्वाकांक्षा के चक्कर में उसने नेपाल पर चढ़ाई की, वहीं वह पराजित तथा बन्दी हुआ। किसी प्रकार वहाँ से निकल भागने में सफल हुआ। अपने राज काज में वह ब्राह्मणों की अपेक्षा कायस्थों की बात अधिक मानता था। शायद इसीलिये एक ब्राह्मण इतिहासकार ने लिखा है कि राजा की मृत्यु एक ब्राह्मण के ही शाप से हुई।

अवन्ति वर्मन् ने सन् ८५५ ई० में नये राजवंश का प्रारम्भ किया। उसने सन्८८३ तक राज्य किया। उसके शासन काल में नदियों के भयानक बाढ़ से अत्य-धिक हानि हुई। कहा जाता है कि उसी राज्य के सुय्य नामक एक देश भक्त नाग-रिक ने देश के जल को बाहर इस प्रकार निकाल देने का सफल प्रयास किया

कि अतिरिक्त जल से देश की कोई हानि न होने पावे। उसने वितस्ता नदी से भी कुछ नहरें ऐसी निकलीं, जिससे बाढ़ का अतिरिक्त जल देश को बिना हानि पहुँचाये देश से बाहर बह जाय। बाईं ओर सिन्ध बहती थी और दाईं ओर वितस्ता। इन दोनों नदियों को एक नहर के द्वारा वैन्यस्वामित नामक स्थान पर मिला दिया गया। वितस्ता के जल को इस प्रकार निकास का मार्ग देकर उसने महापद्म नामक झील के जल को रोकने के लिये एक ऊँचा तथा सुदृढ़ बांध बनाया और इस प्रकार इस बात का सफल प्रयत्न किया कि यदि झील में पानी बढ़ जाय तो वितस्ता नदी उसे खींच ले और ले जाकर सिन्ध में गिरा दे।

हमने अभी तक जितने राजाओं का वर्णन दिया है, उनमें अवन्ति वर्मन पहला राजा था जो वैष्णव था। उसका उत्तराधिकारी शंकर वर्मन महान् विजेता हुआ। उसने अपना विजयध्वज गुजरात तक फहराया। वह भी आर्थिक विषयों में कायस्थों की राय को अधिक महत्व देता था, अतः ब्राह्मण वर्ग उससे संतुष्ट नहीं रहता था। उसकी मृत्यु सन् ९०२ ई० में हुई तथा उसकी रानी सुरेन्द्रवती दो अन्य रानियों के साथ सती हो गयी थी।

शंकरवर्मन की एक अन्य रानी भी थी। उसका नाम सुगन्धा था। वह बड़ी दुराचारिणी थी। उसने स्वयं ९०४ से ९०६ ई० तक शासन किया। शासन में धार्मिकों के दो वर्ग अथात तांत्रिक तथा एकांग लोगों की ही प्रधानता रही। तांत्रिकों ने ही रानी को गद्दी से उतार दिया। इसके बाद तांत्रिकों ने राजगद्दी को खिलवाड़ बना दिया। जिस किसी ने द्रव्य दिया या उनकी खूब खुशामद कर दी, वही राजा बना दिया गया। इसके बाद हमें जिन राजाओं का वर्णन मिलता है, वे प्रायः सभी निर्यात, दुराचारी तथा बिलासी थे। क्षेमगुप्त (९५० से ९५८ ई०) इनमें सर्वाधिक निर्लज्ज तथा कामुक था। उसका लड़का अभिमन्यु एक निर्दोष निश्छल एवम् निष्पाप राजा हुआ और उसने चौदह वर्षों तक राज्य किया। अभिमन्यु के बाद थोड़े-थोड़े समयों के लिये तीन राजा गद्दी पर बैठे। उसके बाद रानी दिद्दा का शासन आरम्भ हुआ, जो सन् ९८० ई० से १००३ ई० तक अर्थात् तेईस वर्षों तक चलता रहा। इस रानी ने एक-एक करके तीन बालनृपतियों की हत्या की और इसके बाद स्वयं गद्दी पर बैठी। जिन दिनों इस राज्य में इस प्रकार के खिलवाड़ हो रहे थे, उन्हीं दिनों भारत के धन, धान्य, धर्म का महान शत्रु एवं मूर्ति भंजन का महान् तथा सफल अभिनेता महमूद गजनवी पास में ही था। अभी रानी दिद्दा का राज्य काल समाप्त भी न हुआ था कि उसके अभियानों का दौर शुरू हो गया।

रानी दिद्दा के उत्तराधिकारी क्षेमपति ने तुरुष्क आक्रामक हम्मीर (शायद

महमूद से तात्पर्य है) का सामना करने वाले शाह राजा की मदद में एक सेना भेजी। प्रबल आक्रामक ने दोनों की सम्मिलित वाहिनी को पराजित करके 'शाहिराज्य को अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद एक दूसरी सेना भी उसका सामना करने के लिये भेजी गयी, परन्तु वह भी विजेता मुसलमान का सामना न कर सकी और भाग आयी।

राजा अनन्त ने पैंतीस वर्षों तक शासन करने के बाद अपने कामुक पुत्र रणादित्य के हक में गद्दी छोड़ दिया। रणादित्य ने छब्बीस वर्षों तक शासन किया। उसकी मृत्यु सन् १०८९ ई० में हुई। रणादित्य का उत्तराधिकारी हुआ उत्कर्ष, जिसे उसके सशक्त एवम् योग्यतर भाई हर्ष ने तुरन्त गद्दी से हटा दिया और स्वयं बारह वर्षों तक (१०८९-११०१) शासन करता रहा। देश में इस राजा ने जिस गृहयुद्ध की आग भड़का दी थी उसने आवश्यकता से अधिक आहुति लिया एवं स्वयं उसी के रक्त से उसकी पूर्णाहुति हुई।

काश्मीर की अलग अलग स्थिति ने हर्ष के कुछ दिनों बाद तक भी काश्मीर की स्वतन्त्रता को बनाये रक्खा, परन्तु इस काल में कोई ऐसी बात नहीं हुई, जिसमें पाठकों की रुचि हो। यह देश मुसलमान आक्रामकों का निशान बना और अन्त में अकबर ने इसे अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। अब हमें दक्षिण भारत का विवरण देना है।

हम देख चुके हैं कि दक्षिण भारत में हिन्दू सभ्यता का प्रचार एवं प्रसार दार्शनिक काल में आर्यों द्वारा ही हुआ था। यह प्रचार ईसा पूर्व की दसवीं शताब्दी के बाद हुआ था। हमने उसी काल में आन्ध्रों के महान् राज्य की स्थापना का विवरण देखा है साथ ही हमने यह भी देखा है कि सूत्र निर्माताओं के कितने ही नियमों की स्थापना भी दक्षिण में ही हुई। ईस्वी सन् के प्रारम्भिक वर्षों में आंध्रों ने अपनी विजय पताका मगध तथा उत्तरी भारत में फहराया और शताब्दियों तक सर्वाधिक शक्तिमान रहे। जब आन्ध्रों एवं गुप्त वंश वालों का पतन हो गया, तो गुजरात पश्चिमी भारत के स्वामी बने बल्लभी वंश वाले, जिनके उत्तराधिकारी हुये राजपूत लोग।

करीब-करीब उसी समय में राजपूतों की एक शाखा अर्थात् चालुक्यों ने दक्षिण में अपनी शक्ति की स्थापना की, जिसमें गुजरात में वल्लभी लोगों का उदय हो रहा था। चालुक्यों ने नर्वदा तथा कृष्णा नदियों के बीच के समूचे प्रदेश पर अधिकार जमा लिया। दक्षिण में चालुक्यों की शक्ति स्थापना पांचवी शताब्दी के अन्त समय में हुई तथा वह बराबर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही,

अर्थात् चालुक्यों की शक्ति दक्षिण में उस समय तक भी थी, जब उत्तरी भारत को मुसलमानों ने पादाक्रांत कर लिया था। चालुक्यों की पश्चिम में फैलने वाली शाखा कोंकण तथा महाराष्ट्र प्रदेश तक के देश को स्ववश किया था एवम् कल्याण को अपनी राजधानी बनाया था। चालुक्यों की पूर्वी शाखा दक्षिण के पूर्वी प्रदेशों पर राज्य करती थी तथा राजमहेन्द्री उनकी राजधानी थी, यह नगरी गोदावरी के के मुहाने के समीप थी। सर्व प्रथम सन् १८५८ ई० में सर वाल्टर इलियट ने इन दोनों शाखाओं के राजाओं की नीचे लिखी नामावली प्रकाशित की थी और तब से कितने ही इतिहास लेखकों ने उसका उदाहरण दिया है।

चालुक्य राज्य वंश

पश्चिमी शाखा राजधानी कल्याण

१ जयसिंह विजयादित्य प्रथम ४७० ई०
२ राजसिंह, विष्णु वर्द्धन
३ विजयादित्य द्वितीय
४ पुलकेशित प्रथम
५ कीर्ति वर्मा प्रथम
६ मंगलीश
७ सत्याश्रय पुलकेशिन द्वितीय ६०९ ई० हर्ष तथा ह्वेनत्सांग का समकालीन
८ अमर
९ आदित्य
१० विक्रमादित्य प्रथम
११ विनयादित्य
१२ विजयादित्य तृतीय
१३ विक्रमादित्य द्वितीय
१४ कीर्ति वर्मा द्वितीय
१५ कीर्ति वर्मा तृतीय ७०९ ई०
१६ तैलप प्रथम
१७ भीम राज
१८ कीर्ति वर्मा चतुर्थ
१९ विजयादित्य (चतुर्थ)

पूर्वी शाखा राजधानी राजमहेन्द्री

१ विष्णु वर्द्धन द्वितीय ६०५ ई०
२ जयसिंह प्रथम
३ इन्द्र राज
४ विष्णु वर्द्धन तृतीय
५ मंग युवराज
६ जयसिंह द्वितीय
७ कोविकलि
८ विष्णु वर्द्धन चतुर्थ
(६, ७, ८ — ये तीनों भाई भाई थे।)
९ विजयादित्य प्रथम
१० विष्णु वर्द्धन पंचम
११ नरेन्द्र मृगराज
१२ विष्णु वर्द्धन षष्टम
१३ विजयादित्य द्वितीय (कलिंग को जीता था)
१४ चालुक्य भीम प्रथम
१५ विजयादित्य तृतीय
१६ अम्म राज
१७ विजयादित्य चतुर्थ
१८ तैलप

पश्चिमी शाखा राजधानी कल्याण

२० विक्रमादित्य तृतीय या तैलप द्वितीय ९७३ ई०
२१ सत्यश्रय द्वितीय
२२ विक्रमादित्य चतुर्थ
२३ जयसिंह
२४ सोमेश्वर प्रथम
२५ सोमेश्वर द्वितीय
२६ विक्रमादित्य पंचम
२७ सोमेश्वर तृतीय ११२७ ई०
२८ जगदेक ११३८ ई०
२९ तैलप तृतीय ११५० ई०
३० सोमेश्वर चतुर्थ ११८२ ई०

सोमेश्वर को कलचुरि वंशीय बीजल ने गद्दी से उतार कर उत्तरी भाग को अपने कब्जे में कर लिया तथा दक्षिणी भाग पर मैसूर के बल्लालों ने अधिकार कर लिया।

पूर्वी शाखा राजधानी राजमहेन्द्री

१९ विजयादित्य पंचम
२० युद्ध मल्ल
२१ राजभीम द्वितीय
२२ अम्मराज ”
२३ धनार्णव (इसके बाद २७ वर्षों तक जैसे कोई राजा ही नहीं रहा)
२४ कीर्ति वर्मा
२५ विमलादित्य
२६ राजनरेन्द्र
२७ राजेन्द्र चोल
२८ विक्रमदेव चोल
२९ राज राजा चोल (एक वर्ष तक राजकीय प्रतिनिधि रहा)
३० वीरदेव चोल (१०७९ से ११३५ ई०) इसके बाद वारंगल के काकतीय राजाओं ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया और यह राजवंश राजा के रूप में समाप्त हो गया।

किसी देश का इतिहास उस देश के राजाओं की सूची मात्र से नहीं पूरा होता। हमारा दुर्भाग्य है कि चालुक्यों के विषय में उपरोक्त सूची के सिवा हमारे पास कोई अन्य सामग्री नहीं है। पश्चिमी शाखा का संस्थापक इतिहासकारों के कथनानुसार वल्लभी वंश के संस्थापक भटार्क सेना पति से सम्बन्धित था। इस वंश का चौथा राजा पुलकेशिन प्रथम था, जिसने व्हेनत्सांग के समय से करीब एक सौ वर्ष पहले अमरावती के बौद्धमठ को तोड़ फोड़ डाला तथा देश के उस भूभाग में से बौद्धधर्म को एक दम ने हटा कर ही दम लिया था। उसी ने चोल राज्य को जीता था, कांजावरम को जलाकर बर्बाद कर दिया तथा पल्लव को दक्षिण से निकाल बाहर किया। चालुक्यों के उदय के पूर्व दक्षिण में इन्हीं पल्लवों की शक्ति का प्राधान्य था। सातवीं पीढ़ी में पुलकेशिन द्वितीय हुआ जो कन्नौज के राजा शीलादित्य द्वितीय का समकालीन तथा उसका सफल प्रतिद्वन्दी था। व्हेनत्सांग के प्रदत्त विवरणों को प्रस्तुत करते समय इस राजा का जिक्र आ चुका है। ऐसा प्रतीत होता

है कि यह राजवन्श सन् ७५० ई० के आसपास अपनी शक्ति के उच्चतम् शिखर पर था। इसके पश्चात् कुछ दिनों के लिये इस राजवंश की शक्ति कुछ निर्बल पड़ गयी और यह निर्बलता तब तक बनी रही जब तक तैलप द्वितीय गद्दी पर नहीं बैठा, जिसने सन् ९५३ ई० के आस-पास फिर से अपनी शक्ति का विकास किया तथा अगली दो शताब्दियों तक पुनः यह राजवंश एक प्रधान शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित रहा। इसके बाद इस वंश का अन्त हो गया तथा इसके अधीनस्थ भूभाग के उत्तरी भाग पर कलचुरि वंशीय राजा बीजल ने अधिकार जमा लिया तथा दक्षिणी भाग को मैसूर के बल्लाल वंशीय राजाओं ने अपने अधिकार में कर लिया।

पूर्वी शाखा वालों ने उत्तर में कटक तक अपना राज्य बढ़ाया और राज महेन्द्री को अपनी राजधानी बनाया, जिसे आजकल लोग राज मुंद्री कहते हैं। इस राजवंश को अपने शासन काल में एकाधिक क्रांतियों का सामना करना पड़ा, परन्तु इस वंश वालों की प्रतिष्ठा दोनों क्रान्तियों में बनी रह गयी। इसी वंश की एक राजकुमारी चौल राजेन्द्र को ब्याही थी और इसीलिये यह राज्य उत्तराधिकार के परिणाम स्वरूप राजेन्द्र चौल के हाथों में चला गया। दक्षिण में चौलों की शक्ति वैसे ही अत्यधिक बढ़ी हुई थी। इधर चालुक्यों का भी राजा मिल जाने से इस वंश की शक्ति को चार चाँद लग गये। राजेन्द्र चौल के समय में इस वंश की शक्ति सर्वोच्च शिखर पर थी।

जिस प्रकार उत्तरी भारत के राजपूत राजाओं ने हिन्दू धर्म को ही प्रश्रय दिया उसी प्रकार दक्षिण में चालुक्य राजाओं ने हिन्दू धर्म की रक्षा की। इतना ही नहीं उन्होंने यथा शक्ति बौद्ध धर्म का विनाश भी किया। इस वंश वालों ने भारत की गृह निर्माण कला में कितना योग दिया, उसका वर्णन हम किसी अगले अध्याय में करेंगे।

अब यदि हम कृष्णा नदी के दक्षिण की ओर चलते हैं, तो हमें प्राचीन द्रविड़ देश मिलता है, जिसका विस्तार दक्षिण में केप कमोरिन तक है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब इस देश में आर्य-सभ्यता का प्रचार एवम् प्रसार हुआ, उसके पूर्व इस देश में द्राविड़ सभ्यता का बोल बाला था। हम पांड्यों के विषय में पहले ही कह चुके हैं। उन्होंने अपनी शक्ति धुर दक्षिण में स्थापित की थी और उनका समय ईसा से कई शताब्दी पूर्व था। स्ट्रैबो के कथनानुसार पांडियोन राजा का एक राजदूत आगस्टस के दरबार में गया था, उसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि वह राजदूत पांडियोन नहीं बल्कि पांड्य राजा के दरबार से ही गया था। पिरिप्लस के समय में पांड्य राज्य का विस्तार समूचे मलाबार तट पर था

और चूँकि अनेक प्राचीन लेखकों ने पांड्य राज्य का नाम लिया है, इससे अनुमान होता है कि यह देश ईसा के पूर्ववर्ती समय में पूर्ण सुसभ्य था और ईसवी बाद की कुछ शताब्दियों तक उनकी सभ्यता कायम रही। पाश्चिमी देशों के साथ इस देश के व्यापारियों का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। इस राज्य की राजधानी दो बार बदली गयी और अन्त में मदूरा शहर को राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। टालेमी के समय में मदूरा ही इस देश की राजधानी थी, और बाद में बहुत वर्षों तक यही नगरी राजधानी बनी रही।

पांड्य राज्य भारत के धुर दक्षिण में स्थित था, जिसमें आजकल के तिर्नावली तथा मदूरा के जिले शामिल थे। ईसा के पूर्व काल में ही इस राज्य के उत्तर में एक नये तथा सुसभ्य राज्य का उदय हुआ, जिसे चोल राज्य कहते थे! कावेरी नदी के किनारे किनारे उसके उत्तर भाग में स्थित था। कांची इस देश की राजधानी थी, जो ह्वेनत्सांग के समय में अपनी विद्या के लिये अति विख्यात थी, तथा यहां संस्कृत साहित्य के बड़े-बड़े विद्वान रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नगर के विद्वानों का विचार विनिमय उत्तर भारत के कन्नौज तथा उज्जयिनी के विद्वानों से हुआ करता था। आठवीं तथा उसके बाद की शताब्दी में चोल राज्य के प्रभाव में कर्णाट् तथा तेलगाना तक के प्रदेश थे।

एक तीसरा प्राचीन राज्य और था, जिसे चेर राज्य कहते थे और इसमें आजकल के मलाबार, त्रावणकोर तथा कोयम्बटूर के प्रदेश शामिल थे। टालेमी ने इसका वर्णन किया है, इससे प्रतीत होता है कि यह राज्य ईसा का पूर्व वर्ती था। मलाबार तथा कनारा को मिलाकर प्राचीन करेल राज्य बनता था जो या तो पांडय राजाओं द्वारा ही शासित होता था यह उन्हीं के संरक्षण में था।

इस बात का अनुसन्धान किया गया है कि अशोक की द्वितीय घोषणा में चोल, पदा तथा करेलपुत्र देशों का नाम आया है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि ये नाम चोल राज्य, पांड्य राज्य तथा चेर राज्य के हैं। इस प्रकार ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन हिन्दू राज्यों की यह त्रिमूर्ति ईसवी पूर्व की तीसरी शताब्दी में सुविख्यात थी। जो भारत के सुदूर दक्षिणी भाग में अवस्थित थी।

इन राज्यों की सीमा विभिन्न वंशों एवम् राजाओं के समय में घटती बढ़ती रहती थी। इनमें पांड्य लोग सर्वाधिकार प्राचीन हैं, परन्तु ईसवी काल में कांची के चोल राजा ही अधिक विख्यात हुये। उनकी शक्ति भी खूब बढ़ी हुई थी। इन लोगों का युद्ध चालुक्यों की पूर्वी शाखा से प्रायः चला ही करता था। 'पाठकों को मालूम होगा कि चालुक्यों की पूर्वीय शाखा में राजेन्द्र चोल' तथा उसके तीन

उत्तराधिकारियों का भी नाम आया है। क्योंकि तब वे ही उस देश के राजा थे।

ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में मैसूर में एक महान् राजपूत वंश का उदय हुआ, जिन्हें हम बल्लाल वंश के नाम से जानते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में उन्होंने समूचे कर्नाटक को जीत लिया तथा जैसा हम पीछे देख चुके हैं, उन्होंने चालुक्यों की पश्चिमी शाखा के राजाओं से उनके राज्य का दक्षिणी भाग लिया था। यह वंश तब तक दक्षिण की सर्वोच्च शक्ति बना रहा, जब तक कि सन् १३१० ई० में मुसलमानों ने इसको विजिय न कर लिया।

अब केवल एक और हिन्दू राज्य का विवरण देना शेष है। यह राज्य भी दक्षिण में ही था तथा इसका समय मुस्लिम काल में पड़ता है। कर्णाटक के बल्लालों का पतन होने पर, उसी के स्थान पर एक नये राज्य की स्थापना हुई। इस नये राजवंश ने १३४४ ई० में विजय नगर को राजधानी बनाया। ऐसा कहा जाता है कि इस राज्य के संस्थापक दो राजपूत हरिहर तथा बुक्काराम थे, जिन्होंने माधव विद्यारण्य नामक एक ब्राह्मण की भी सहायता ली थी। बुक्काराम का सर्वप्रथम दिया गया दान एक ताम्रपत्र पर है जो सन् १३७० ई० का है। माधव, जिसे सायण भी कहा जाता है, उसका प्रधान मंत्री था। वह भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध प्राचीन धर्मग्रन्थों का सुप्रसिद्ध भाष्यकार था। चौदहवीं शताब्दी में इस हिन्दू राज्य की स्थापना के साथ ही हिन्दू विद्याओं को एक बार पुनः शक्ति प्राप्त हुई। यद्यपि वह पुनर्जागरण अस्थायी ही रहा, फिर भी वेदों के महत्वपूर्ण भाष्य, दार्शनिक प्रणालियों, स्मृतियों के भाष्यों तथा व्याकरण के भाष्यों के लिये हम आज भी सायण के कृतज्ञ है तथा आज के विद्वान भी सायण कृत विविध भाष्यों को पूर्ण मान्यता ही नहीं देते, वरन् उनसे पद प्रदर्शन प्राप्त करते हैं।

प्रायः दो सौ वर्षों तक विजय नगर राज्य उन्नति-पथ पर अविराम गति से आगे बढ़ता गया। यह राज्य दक्षिण के उन मुस्लिम राज्यों के समकक्ष था, जो दक्षिण में कभी संधियों द्वारा तथा कभी युद्धों द्वारा घटते बढ़ते रहते थे। इस प्रदेश में हिन्दू तथा मुसलमानों में जो मेल इस समय में देखने में आया, वैसा पहले कभी देखा सुना नहीं गया। दक्षिण का बहमनी राज्य मुसलमान राज्य था, परन्तु उसके राज्य में उसके अधिकांश सैनिक राजपूत थे तथा विजय नगर के हिन्दू राज्य की सेना में मुसलमान सैनिकों की संख्या ही अधिक थी। मुसलमान सरदारों को जागीरें मिली हुई थीं तथा राज्य द्वारा मसजिदें भी बनवायी गयी थीं।

कालान्तर में बहमनी राज्य का पतन हो गया तथा उस राज्य की कब्र पर पाँच मुस्लिम राज्य कायम हो गये। इनमें से गोलकुंडा, अहमद नगर तथा बीजापुर

के मुसलमान शासक हिन्दू राज्य विजय नगर के विरोध में संगठित हो गये। सन १५६५ ई० में कृष्णा नदी के किनारे तालीकोट के मैदान में बड़ा घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें विजय नगर का राजा मारा गया तथा मुसलमानों की विजय हुई। वृद्ध परन्तु बहादुर राजा के मारे जाने के बाद उसका सर ले जाकर बीजापुर में विजय चिन्ह के रूप में रक्खा गया।

इस प्रकार विजय नगर राज्य का अन्त हो गया। यह दक्षिण भारत का प्रमुख हिन्दू राज्य था। इस विजय से भी मुसलमानों का समस्त दक्षिण विजय का स्वप्न पूरा नहीं, हुआ। दक्षिण में कर्णाटक त्रावंकोर इत्यादि छोटे-छोटे सरदारों के राज्य तब भी बने रह गये, जो प्रायः अपने पहाड़ी दुर्गों में रहते थे। जिस समय अंग्रेज जाति कर्णाटक में लड़ रही थी, तब भी इन राज्यों का अस्तित्व था।

विजय नगर के मृत राजा का भाई चन्द्रगिरि में रहने लगा और उसी के एक उत्तराधिकारी ने सेटंजार्ज (मद्रास) की बस्ती बसाने के लिये अंग्रेजों को पट्टा दिया था। यह बात सन् १६४० ई० की है। यह छोटा सा पट्टा ही भूत कालीन इतिहास को भारत के वर्तमान कालीन इतिहास के बीच की एक शृंखला है।

पचासवां अध्याय

धर्म

बौद्ध धर्म के पहले भारत में जिस हिन्दू धर्म का प्रचार था, उसे सभी लोग वैदिक धर्म के नाम से स्मरण करते हैं और बौद्ध धर्म के पराभव के बाद जिस हिन्दू धर्म का प्रचार अथवा प्रसार हुआ उसे लोग पौराणिक धर्म के नाम से जानते हैं। वैदिक धर्म एवम् पौराणिक धर्म में दो मुख्य अन्तर पाये जाते हैं। इनमें से प्रथम तो सैद्धान्तिक अन्तर है और दूसरा प्रयोगात्मक।

अति प्राचीन काल में आर्य लोग प्रकृति के साहचर्य में जीवन व्यतीत करते थे। प्रकृति के सभी तत्वों से प्राप्त सुखों एवम् दुःखों का उनको प्रत्यक्ष अनुभव था। इसी सुख दुख की प्रेरणा से जो वाणी आर्य ऋषियों के मुख से निकली, वेद उन्हीं का संग्रह मात्र है। वे प्राकृतिक तत्वों को ही प्रार्थनीय समझते थे और इसीलिये वैदिक धर्म में सर्वत्र तात्विक देवताओं का ही प्राधान्य है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, मरुत्, आश्विन तथा अन्य कितने ही देवों की कल्पना उन्होंने की और उनकी प्रार्थना में श्रुतिमधुर वैदिक पदों की रचना की। बाद में वेदों उपनिषदों के प्रणेताओं

को इन तात्विक देवों से भी अधिक सशक्त और व्यापक देव की कल्पना हो गयी थी, फिर भी वे प्राचीन तात्विक देवों की सेवा में बलियों की आयोजना करते रहते थे। इस प्रकार की बलि आयोजनायें राजा रंक तक सभी अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार करते थे। ये आयोजनाएं प्रायः उन्हीं देवों की सेवा में होतीथी, जिनके प्रति की गयी प्रार्थनायें ऋग्वेद में संकलित हैं। पौराणिक धर्म ने भी इन देवों को मान्यता प्रदान की, इनकी मूर्तियों की भी रचना की और साथ ही उपनिषदों में प्रतिपादित पारब्रह्म परमात्मा की कल्पना को भी मान्यता दी परन्तु उन्होंने उसी आदि शक्ति को तीन अपर व्यक्तियों के रूप में कल्पना की। सर्व शक्तिमान परमेश्वर की जिस शक्ति के द्वारा समस्त गोचर अगोचर की सर्जना की कल्पना की गयी, उस शक्ति को ब्रह्मा के रूप में मान्यता दी गई। उसकी जिस शक्ति से सृष्टि का पालन पोषण होता है, उसे विष्णु नाम दिया गया तथा अखिल सृष्टि की संहारकारिणी शक्ति को शिव नाम से सम्बोधित किया गया। इन त्रिदेवों की मान्यता ही पौराणिक धर्म की विशेषता है। ऐसी दशा में यह शंका न करना ही असम्भव है कि हिन्दुओं ने इन त्रिदेवों की मान्यता में बौद्धों का अनुकरण किया है।

ऊपर की पंक्तियों में वैदिक धर्म तथा पौराणिक धर्म का सैद्धान्तिक अन्तर प्रगट हो गया। अब हमें प्रयोगात्मक अन्तर पर ध्यान देना चाहिये। वैदिक धर्म में तात्विक देवताओं को मन्यता मिल चुकी थी, उनकी विविध प्रकार से की गयी प्रार्थनाओं के फल स्वरूप वेदों की रचना भी हो चुकी थी, उन देवताओं के नाम पर बलि प्रदान भी होता था, परन्तु उन देवों की साकार कल्पना नहीं की गयी थी, वे अब भी तत्वों के ही रूप में विद्यमान थे। इसके विपरीत पौराणिक काल में त्रिदेवों की साकार कल्पना की गयी, उनकी मूर्तियाँ बनायीं गयीं तथा उन मूर्तियों की षोड्शोपचार पूजन की विधिवत् व्यवस्था की गयी। वैदिक धर्म में जितनी भी बलि दी जाती थी, वह चाहे जिस देव को दी जाती थी, परन्तु बलि समर्पित होती थी अग्निदेव को ही। यहाँ तक कि दार्शनिक काल में भी राजा, पुरोहित से लेकर तुच्छातितुच्छ गृहस्थ भी अग्निदेव को बलि समर्पित करता था, जो विभिन्न देवताओं के नाम होती थी। मूर्ति पूजा का कहीं भी और तनिक भी प्रचलन नहीं था। बौद्ध धर्म में मिथ्याडम्बरों के प्रवेश से बुद्ध-प्रतिमा की उपासना की जाने लगी थी। यह बात ईसा काल के प्रथम शताब्दी की है। बौद्ध धर्म के पतन के बाद ही पौराणिक धर्म का उदय हुआ। ऐसी दशा में इस बात की प्रबल सम्भावना है कि हिन्दुओं की मूर्तिपूजा बौद्धों की मूर्तिपूजा का अनुकरण मात्र ही है। यह निश्चित है कि जब बौद्धयुग में मनुस्मृति की रचना की गयी, उसी समय से मूर्तिपूजा का बीजा-

रोपण हो गया था और मनु ने इसकी निन्दा भी की थी। मूर्तिपूजा का अंकुर बढ़ता ही गया और एक दिन ऐसा भी आया कि वही मूर्तिपूजा हिन्दू धर्म का एवं हिन्दुओं के उत्सवों का सर्वाधिक अंग बन गयी। इस काल में अग्निदेव को बलि समर्पण करना भूत काल की बात बन चुकी थी।

हिन्दुओं के वैदिक धर्म और पौराणिक धर्म का सैद्धान्तिक एवम् प्रयोगात्मक अन्तर इतना ही है। सामान्य हिन्दू धर्म की यह विशेषता है कि जब भी उसमें परिवर्तन व परिवर्द्धन होते हैं तो वे इस प्रकार किये जाते हैं, जिससे उनमें नवीनता की प्रतीत न हो। पौराणिक काल के लेखकों ने इसी परम्परा का सहारा लिया। उनका प्रयत्न यह रहा कि कहीं ऐसा न प्रतीत होने लगे कि धर्म में कुछ नवीनताओं का समावेश किया गया है। इसी चेष्टा के फलस्वरूप अपने त्रिदेवों के नाम उन्होंने वैदिक काल के तात्विक देवों में से लिया है। ऋग्वेद में ब्रह्मस्पति को प्रार्थनायें थीं और जब उपनिषदों के प्रणेता ऋषियों ने सर्वव्यापिका शक्ति की कल्पना की तो उन्होंने उस शक्ति का नामकरण किया ब्रह्मन्। अतएव यही नाम सृष्टि के विधायक के लिये सर्वाधिक उचित था। ऋग्वेद में सूर्य को विष्णु कहा गया है जो सब जड़ चेतन मत जगत का जीवनश्रोत तथा दाता है, इसलिये जिस शक्ति की कल्पना पोषक रूप में की गयी, उसके लिए विष्णु नाम ही सर्वाधिक उचित प्रतीत हुआ। ऋग्वेद में बादलों के गर्जन के देवता रुद्र थे और संहारिका शक्ति के लिये किसी भयानक नाम की आवश्यकता थी अतः तीसरी शक्ति नाम रुद्र रक्खा गया। एक बार जब इन त्रिमूर्तियों की कल्पना साकार होकर सामने आ गयी तो इनके व्यक्तित्व व चरित्र बन जाने में क्या बाधा थी। ईसा के प्रारम्भिक काल में मनुस्मृति के प्रणेता को इन सर्जक, पालक तथा संहारक देवों का पता नहीं था, परन्तु कालिदास का समय आते-आते ये त्रिदेव हमारे देश की राष्ट्रीय निधि बन चुके थे।

एक बार जब दैवी शक्ति की तीनों शाखाओं अर्थात तीनों देवों की कल्पना पूर्ण हो गयी तो आगे चलकर उनके लिये पत्नियों की खोज का प्रारम्भ हुआ, अतः इन तीनों देवों को प्रेरणा देने वाली शक्तियों अर्थात् तीन देवियों की भी कल्पना करना आवश्यक हो गया। ब्रह्मा की पत्नी के रूप में सरस्वती की कल्पना की गयी। सरस्वती की कल्पना का आधार यह हुआ कि ऋग्वेद में ब्रह्मा प्रार्थनाओं के देवता थे और प्रार्थना के लिये वाणी की आवश्यकता होती है, अतः सरस्वती को काव्य की देवी अथवा वाणी की देवी बनाया गया। विष्णु के लिये एक नवीन साथिनी की कल्पना की गयी, उन्हे लक्ष्मी कहा गया। लक्ष्मी का पता अवश्य ही प्राचीन संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता। हां एक सम्भावना यह हो सकती है कि हल के

कार से बनी हुई पंक्तियों का वर्णन ऋग्वेद में है, सीता की उत्पत्ति खेतों में बनी हुई उन्हीं पंक्तियों से हुई है, सीता रामायण की नायिका अर्थात् राम की पत्नी है और राम विष्णु के ही अवतार है, अतः सीता विष्णु की पत्नी हुई। उनका नामकरण सीता के बदले लक्ष्मी करके उन्हें अन्न की देवी मान लिया गया। अब रह गये रुद्र, उनके लिये चुनी गयी केनोपनिषद् की उमा, जो एक रहस्यमयी स्त्री थी तथा जिन्होंने इन्द्र को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। शतपथ ब्राह्मण में अम्बिका रुद्र की भगिनी है। मुंडकोपनिषद् में काली कराली आदि अग्निदेव की सात जिव्हावों के नाम हैं तथा स्वयं रुद्र ही अग्नि तथा वज्र हैं। इन तमाम बिखरी हुई सामग्रियों के आधार पर पौराणिक काल के लेखकों ने उमा, अम्बिका, दुर्गा तथा काली का सर्वसंहारक देव रुद्र, शिव तथा महादेव की पत्नी के रूप में कल्पित किया।

परन्तु इन तीन देवताओं की पत्नियों का वर्णन कर चुकने के बाद भी अभी वर्तमान हिन्दू धर्म के विषय में बहुत कुछ कहना शेष है। इन त्रिदेवों में से पालक देव विष्णु द्वारा धारण किये गये अवतारों के रूप में गाथाओं का संसार ही भरा पड़ा है। दशरथ के पुत्र राम रामायण महाकाव्य के नायक हैं, तथा उन्हें अवतार करके माना जाता है। महाभारत के अन्तिम समय में देवकी के गर्भ से कृष्ण की उत्पत्ति हुई, जिनकी ख्याति इतनी बढ़ी कि वे विष्णु के अवतार माने जाने लगे। ज्यों-ज्यों उनकी ख्याति बढ़ती गयी, उनको नायक मान कर गाई जाने वाली गाथायें भी बढ़ती ही गयी एवम् अन्त में तो वृन्दावन की गोपियों के साथ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं के माध्यम से पुराणों में अनेक कथाओं का वर्णन किया गया। वे एक यादव सरदार थे तथा छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि और आंगिरस के शिष्य थे।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, कृष्ण का नाम संस्कृत साहित्य के लिये बहुत प्राचीन नाम है, परन्तु पौराणिक काल में; अर्थात् विक्रमादित्य के समय में तथा उड़ीसा में केशरी वंशीय राजाओं के समय में शिवोपासना का अधिक प्रचलन हो गया था। कृष्ण के अवतारी व्यक्तित्व के साथ अनेक कथायें उनके जन्म के विषय में, कंस वध के विषय में जिसने निरपराधों की हत्या की थी, तथा अनेकानेक विषयों में लिखी गयी। इन कथाओं के प्रकाश में तथा भगवद्गीता के साथ बाइबिल के साम्य ने अनेक योरपीय विद्वानों को इस बात के लिये प्रेरित किया कि वे यह सोचने लगें कि हिन्दुओं ने ये कथायें बाइबिल से लेकर उन्हें कृष्ण के नाम के साथ जोड़ दिया है। इंडियन एंटीक्वेरी के पृष्ठों में एक बार इस विषय पर पूरा विवाद

ही उठ खड़ा हो गया था। सन १८६९ के आसपास लिखते हुये डा० लारिस्नर ने दावा किया था कि श्रीमद् भागवत की कथाओं के लिये हिन्दू लोग बाइबिल के आभारी हैं। बम्बई के मि० तैलंग तथा हीडेल वर्ग के डा० विन्डिग ने इस आभार को व्यर्थ बताया। डा० भन्डारकर ने कहा कि महाभाष्यों का समय ईसा की दूसरी शताब्दी है तथा उनमें ही कृष्ण को देवत्व मिल चुका था। इसी प्रकार डा० वेबर ने भी डा० लारिस्नर के प्रयत्न को अनावश्यक कष्ट की संज्ञा दी।

पहले शिव की ख्याति विष्णु के समान नहीं थी, परन्तु पौराणिक काल में शिव की प्रतिष्ठा में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। इस काल में अनेकानेक विद्वान हुये जिन्होंने अनेकों शिवस्तोत्रों की रचना करके शिव की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिया। लोग विष्णु को भूलने से लगे। पौराणिक गाथाओं में शिव की पत्नी के सम्बन्ध की गाथायें भी अत्यधिक हैं। सतपथ-ब्राह्मण में दक्ष प्रजापति द्वारा किये गये यज्ञ का वर्णन है, परन्तु इस यज्ञ से दक्ष कन्या तथा शिवप्रिया सती का भस्म होना पौराणिक कालीन कल्पना है। केनोपनिषद् में उमा हेमवती द्वारा इन्द्र को दिये गये ब्रह्मज्ञानोपदेश का वर्णन है। इन दोनों कथाओं को एक सूत्र में लाने के लिये पौराणिक काल में यह कल्पना की गयी कि सती ही इस जन्म में हिमालय पर्वत की पुत्री उमा के रूप में अवतरित हुई। उमा ने कैसे शिव को पति रूप में पाने की आकांक्षा की, किस प्रकार की तपस्या की और अन्त में किस प्रकार उस देवता ने उमा को स्वीकार किया, इन सब बातों का वर्णन पौराणिक काल के लेखकों की भावमय कल्पना का सुन्दर उदाहरण है। कालिदास इन प्रतिभावानों में सर्व-प्रथम थे।

हिन्दू त्रिदेवों की यही धार्मिक गाथा है। जिन तात्विक देवों की प्रार्थना ऋग्वेद में की गयी है, पौराणिक काल में वे देवता माने जाते रहे अवश्य, परन्तु वे गौण श्रेणी में आ गये थे। मुख्यता इन्हीं त्रिदेवों की थी। फिर भी इन्द्र के दरबार में वैदिक देवताओं अग्नि, वायु इत्यादि की भीड़ लगायी गयी थी, उनके पास देव सेना थी, देवरथ था, देवगज ऐरावत था, देववृक्ष कल्पतरु था, नाचने वाली अप्स-रायें थीं, गाने वाले गन्धर्व थे अवश्य, परन्तु उन सबकी विशेषतायें परिवर्तित हो गयी थीं। पौराणिक काल के इन्द्र अब सोमपान करने वाले वे इन्द्र नहीं रह गये थे जो वैदिक काल में आदिवासियों के विरुद्ध युद्ध में आर्यों की सहायता करते थे। समय बदल गया था और समय के साथ ही बदल गयी थी विचार धारा। पौराणिक काल के इन्द्र एक वैभव सम्पन्न राजा हैं जो अपने विलास के लिए प्रसिद्ध हैं तथा जिनके दरबार में संगीत एवम् नृत्य की अजस्र धारा सदैव ही प्रवाहित होती रहती

थी। इन्द्र की पत्नी शची या इन्द्राणी में अति सुकोमल एवम् पवित्र भावनाओं का संकलन हुआ है, जिनका आदर सभी देवगण करते थे। वेद की अप्सराओं ने सौन्दर्यपूर्ण व्यक्तित्व धारण कर लिया था, तथा रम्भा, तिलोत्तमा एवं उर्वशी अब इन्द्रलोक की कलाकार बन गयी थीं, जो इन्द्र को अवकाश के समय मनोरंजन प्रदान करती थीं। यह माना जाता है कि इन्द्र ने यह उच्च पद अपनी कठिन तपस्या द्वारा प्राप्त किया है, और वे सदैव इस विचार से भयभीत रहते हैं कि कहीं पृथ्वी का कोई अन्य मर्त्य मानव तपस्या द्वारा ही उस उच्च पद पर अपना अधिकार न स्थापित कर ले। इसलिए जहां कहीं भी किसी व्यक्ति के कठिन तपस्या करने का समाचार इन्द्र को मिलता है, प्रायः स्वर्गीय अप्सराएँ इन्द्र द्वारा पृथ्वी पर भेजी जाती है। योगियों की कठिन तपस्या को भङ्ग करना और अपने अपराजेय आकर्षण से उनके हृदय को दूषित करना ही इन अप्सराओं का मुख्य उद्देश्य होता है। असुर भी सदैव ही इन्द्र को चिन्तित किए रहते हैं। यद्यपि ये असुर स्वर्ग से निस्काषित कर दिए गए हैं, फिर भी वे प्रायः शक्ति एकत्रित करके, और आक्रमण करके तथा भयानक युद्ध करके स्वर्ग को फिर जीत लेते हैं। ऐसे अवसरों पर इन्द्र अपने अनुभाइयों सहित ब्रह्मा, विष्णु या शिव जैसे उच्चतर देवताओं से परामर्श करने के लिए दौड़ते हैं। ये उच्चतर देवता असुरों के विरुद्ध इन देवताओं की प्रत्यक्ष सहायता करने के लिये कभी खड़े नहीं होते। वे इतना अवश्य करते हैं कि वे इन पराजित देवताओं को सान्त्वना देते हैं, साथ ही उनको अपने खोए हुए पद अथवा अधिकार को पुनः प्राप्त करने का उपाय भी बताते हैं, इसी प्रकार के एक अवसर पर इन देवताओं ने शिव और पर्वत कन्या उमा का विवाह करने का परामर्श दिया। इस दम्पति से एक पुत्र पैदा हुआ जो कुमार, स्कन्द या कार्तिकेय के नाम से विख्यात है। कार्तिकेय ने स्वर्ग से निस्काषित देवताओं को विजय प्राप्त कराकर उन्हें पुनः स्वर्ग का अधिकार वापस दिलाया। कुमार (कार्तिकेय या स्कन्द) और उनके हाथी के सिर वाले भाई गणेश का वर्णन पुराने हिन्दू धर्म में कहीं नहीं है। ये दोनों भाई पुराणों की सृष्टि हैं।

इस प्रकार साधारण जन इन पौराणिक देवताओं से सम्बन्धित गाथाओं पर ही विश्वास रखते है। इन देवताओं की संख्या ३३ करोड़ मानी जाती है जो कि स्पष्टतः तैंतीस वैदिक देवताओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। इसके विपरीत बुद्धिमान एवं विद्वान व्यक्ति उपनिषदों के इसी मौलिक सिद्धान्त पर विश्वास रखते हैं कि ईश्वर केवल एक है और देवता, असुर और मानव पूरा ब्रह्मांड-उसी परमात्मा के अंश हैं और उसी परमात्मा में वापस मिल जाएँगे।

पुण्य कार्य करने पर लोगों को स्वर्ग में, कम या अधिक समय तक के लिए निवास करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसके विपरीत पाप पूर्ण कार्य न्यूनाधिक काल के लिए नरक की यातनाओं का मार्ग दिखाते हैं। अपने कर्मों का फल भोग लेने के पश्चात् आत्मा फिर चेतन शरीरों में पुनर्जन्म लेती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुओं के मस्तिष्क में ठीक उसी प्रकार से जड़ जमाए हुये है जिस तरह ईसाईयों के मस्तिष्क में ईसा द्वारा पुनर्जीवित हो जाने का विश्वास घर किए हुये है। एक कुछ न जाननेवाला हिन्दू भी किसी नवजात शिशु या पशु-पक्षियों में भी, किसी सम्भावित सम्बन्ध या रक्त सम्बन्ध का अनुमान करता है कि किसी पिछले जन्म में शायद वह स्वयम् ही ऐसा रहा हो, या शायद किसी अगले जन्म में वह फिर वैसा ही शरीर प्राप्त करे। केवल पवित्र विचार, ज्ञान, पुण्य तथा सत्कार्य एवं सभी सांसारिक भावनाओं तथा वासनाओं से मुक्ति द्वारा ही आत्मा इस सासांरिक बन्धन से मुक्त हो सकती है और परमात्मा में लीन हो सकती है। आत्मा को परमात्मा में लीन हो जाना ही हिन्दुओं की दृष्टि में परम मोक्ष है। मोक्ष का यह विचार सर्वप्रथम उपनिषदों द्वारा प्रारम्भ हुआ, तत्पश्चात् इसका रूपान्तरण बुद्ध धर्म के निर्वाण के सिद्धान्त के रूप में हुआ। इसके बाद पुनः यह विचार वेदान्त धर्म और आधुनिक या पौराणिक हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत किया गया। इसीलिए विद्वान एवं बुद्धिमान व्यक्तियों को यह राय दी गई है कि वे यह न समझें कि अपने सत्कार्यों द्वारा इन्द्र के स्वर्ग में स्थान पा जाने ही से मोक्ष हो जाता है, बल्कि सांसारिक वासनाओं एवं कामनाओं से मुक्ति पाकर परमात्मा में लीन ही हो जाना मोक्ष है और इसी प्रकार पुनर्जन्म अर्थात् आवागमन से छुटकारा मिलता है।

हिन्दू धर्म में इसके बाद हुई प्रगति में भी एक ही ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता दी गई है। इस एक ईश्वर के लिए हिन्दू धर्म के विविध पन्थों में विविध नाम चुने गये हैं। डाक्टर विलसन ने हिन्दुओं के धार्मिक वर्गों पर एक पुस्तक लिखी है। इसमें इन्होंने विभिन्न वर्गों की गणना की है और उनका वर्णन भी किया है। इसके अनुसार वैष्णओं या विष्णु के अनुयाइयों की उन्नीस शाखाएं हैं, शैवों या शिव के अनुयाइयों की ग्यारह शाखाएं है और शक्त या शक्ति के उपासकों की चार शाखाएं हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वर्ग भी हैं।

वैष्णव धर्म, अपने कुछ अंगों की दृष्टि से केवल बौद्ध धर्म का नवीन संस्करण ही प्रतीत होता है। इसमें भी सभी मनुष्यों तथा जातियों की सैद्धान्तिक एकता पर जोर दिया गया है और पशु पक्षियों के विनाश करने पर प्रतिबन्ध रखा गया है। लेकिन इन सिद्धान्तों को केवल एक ईश्वर-विष्णु-के प्रति श्रद्धा से सम्ब-

न्धित किया गया है। विष्णु प्रायः सामान्य लोगों द्वारा कृष्ण के रूप में पूजे जाते हैं। पौराणिक काल से ही, वृन्दावन की गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम लीला सम्बन्धी कथाओं ने जन्म है और जन साधारण में फैली हुई है। भारत के सबसे प्रसिद्ध और अग्रगामी लेखक बंकिम चन्द्र ने इस बात को पूर्णरूपेश सिद्ध कर दिया है कि महाभारत में कहीं भी इन कथाओं का वर्णन नहीं है। शिव तथा शक्ति के उपासकों में और भी भ्रष्ट सिद्धान्तों एवं क्रिया कलाओं का समावेश हैं।

आधुनिक हिन्दू धर्म के विभिन्न वर्गों के प्रमुख सिद्धान्त, अपने विविध अंगों सहित यही हैं। लेकिन किसी राष्ट्र का चरित्र निर्धारण करने में धार्मिक सिद्धान्तों की अपेक्षा धार्मिक रीतियां एवं कर्मकान्डों का अधिक महत्व होता है, और जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, धार्मिक रिवाजों और कर्मकान्डों की दृष्टि से वैदिक काल में तथा इस काल में बहुत अन्तर पड़ गया है।

बौद्ध आन्दोलन के पहले हिन्दुओं में, मन्दिरों में मूर्तियाँ रख कर उनकी पूजा करने की प्रथा प्रचलित नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मूर्ति पूजा उस समय प्रचलन में आई जब बौद्ध धर्म ही मुख्य धर्म था। हम पहले ही देख चुके हैं कि मनु स्वयम ही धार्मिक कर्मकान्डों की दृष्टि से कट्टर पुरातन पन्थी थे उन्होंने घर की अग्निवेदी पर ही आहुति करने की पुरानी प्रथा को प्रचलित रक्खा था। उन्होंने बहुत ही घृणापूर्वक मन्दिर के पुजारियों को मदिरा तथा मांस विक्रेताओं के वर्ग में रक्खा था। फिर भी मन्दिरों और मूर्तियों ने जनसाधारण के हृदय में अपना स्थान बना लिया था और छठीं शताब्दी तक इन मूर्तियों अथवा मन्दिरों को श्रद्धा एवं विश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा था। छठीं शताब्दी तक मूर्तिपूजा में ईश्वर पूजा के प्राचीन ढंग का स्थान काफी सीमा तक ले लिया था। ईसा के पश्चात् छठीं तथा आठवीं शताब्दी के बीच के साहित्य में कठिनाई से ही आहुति अथवा यज्ञ का कहीं वर्णन मिलता है, ऐसे यज्ञों एवं आहुतियों का वर्णन अवश्य है जो राजा सम्पन्न कराते थे। इसके विपरीत कालिदास तथा अन्य कवियों ने देवालयों तथा उनमें पूजी जाने वाली मूर्तियों का पर्याप्त वर्णन किया है।

इस प्रकार से, यह परिवर्तन निश्चित रूप से गलत दिशा में हुआ। मूर्ति पूजा किसी भी देश के निवासियों के मस्तिष्क पर कोई उच्चस्तरीय प्रभाव नहीं डालती, परन्तु भारत में, इस मूर्तिपूजा के साथ कुछ अन्य बुराइयों का भी समावेश हो गया। मनु के समय तक, वैश्य या जनसमूह अपने देवताओं की पूजा अपने ही ढंग से कर सकते थे, साथ ही अपने घर की अग्निवेदी पर ही वे आहुति भी दे सकते थे। जब पूजा का स्थान घर न हो कर देवालय हो गया, तब इन मन्दिरों

के पुजारियों की शक्ति बढ़ गई। जन साधारण के मस्तिष्क पर उनका प्रभाव बढ़ गया, और उन्होंने जनता की गर्दन एक धोखे की शृंखला से जकड़ दिया। लोगों की कल्पना शानदार धार्मिक भव्य भवनों तथा चमकती दमकती सजावट में ही बंध गई और उनमें अन्धविश्वास का बीज पनपने लगा। कविता, कला, शिल्पकला मूर्तिकला, तथा संगीत ने इसमें सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार कुछ ही शताब्दियों में राष्ट्र का धन उन शानदार उत्सवों तथा अनुष्ठानों पर व्यय किया जाने लगा जिनके द्वारा जनता अपने असीम और प्रगाढ़ धार्मिक उत्साह, भक्ति तथा श्रद्धा का बाहरी दिखावा करती थी। तीर्थ यात्राएं, जो अत्यन्त प्राचीन काल में बहुत कम प्रचलित थी या हम कह सकते हैं कि इनका अस्तित्व ही नहीं था, अब वृहद् स्तर पर संगठित की जाने लगी थी। मन्दिरों की सहायता के लिए भूमि तथा द्रव्य का दान दिया जाने लगा। धीरे-धीरे इन मूर्तियों तथा इनके पुजारियों के प्रति अन्धभक्ति का रूप धारण करने लगा। भारत वर्ष के बड़े-बड़े नगर देवालयों से पट गए। नए नए देवताओं और नई-नई मूर्तियों ने पत्थर के देवलाओं में स्थान ग्रहण किया, साथ ही बुद्धिहीन भक्तों अथवा पुजारियों के मस्तिष्क पर भी अपना अधिकार जमाया। अगले अध्याय में हम पौराणिक धार्मिक साहित्य के संक्षिप्त विवेचन द्वारा पौराणिक हिन्दू धर्म की उस व्याख्या का स्पष्टीकरण देने का प्रयास करेंगे, जिसे हमने पिछली पंक्तियों में प्रस्तुत किया है।

———
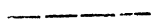
इक्यावनवां अध्याय

धार्मिक साहित्य

धर्मशास्त्र

गौतम, वशिष्ठ, बौद्धायन तथा आपस्तम्ब के धर्म सूत्रों में हमें दार्शनिक काल के रीति रिवाजों तथा नियमों के सम्बन्ध की काफी जानकारी प्राप्त है। मनु के धर्मशास्त्र ने भी बौद्ध काल के हिन्दुओं के जीवन के विषय में उतने ही महत्वपूर्ण तथ्यों का विवरण दिया। सौभाग्य से धर्मशास्त्रों की यह श्रृंखला पौराणिक काल में भी प्रचलित रही। याज्ञ वल्क्य हमें २० धर्मशास्त्रों की सूची प्रदान करते हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

१ मनु	५ याज्ञवल्क्य	९ आपस्तम्ब	१३ पराशर	१७ दक्ष
२ अत्रि	६ उसनस	१० सम्भ्वर्त	१४ व्यास	१८ गौतम
३ विष्णु	७ अंगिरस	११ कात्यायन	१५ शंख	१९ शातातप
४ हारीत	८ यम	१२ बृहस्पति	१६ लिखित	२० वशिष्ठ,

पराशर भी इन्हीं बीस धर्मशास्त्रियों की सूची प्रस्तुत करते हैं परन्तु उसमें विष्णु के स्थान पर कश्यप, व्यास के स्थान पर गर्ग तथा यम के स्थान पर प्रचेतस के नाम हैं। इन बीस धर्मशास्त्रों में से गौतम, आपस्तम्ब, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं दार्शनिक काल में वर्तमान थे, और मनु बौद्ध काल के हैं। शेष सोलह धर्म शास्त्री भी प्राचीन धर्मशास्त्रों पर आधारित हैं, परन्तु अपने वर्तमान स्वरूप में वे पौराणिक काल के या मुसलमानों द्वारा भारत की विजय के कुछ शताब्दी बाद के प्रतीत होते हैं।

और यहीं पर हमारी कठिनाई सामने आती है। पौराणिक युग की रीतियों का वर्णन करते समय हम बिना किसी शंका के इन सोलह धर्मशास्त्रों की सहायता नहीं ले सकते, क्योंकि हमें इसका निश्चित ज्ञान नहीं हैं कि इनमें से कौन-कौन ग्रन्थ पौराणिक युग के हैं और कौन पौराणिक काल के बाद में लिखे गए हैं। निस्सन्देह, उनमें से कुछ पौराणिक युग के ही हैं, या उससे भी पहले के हैं। परन्तु

कठिनाई यह है कि उनमें भी मुस्लिम विजय के बाद कुछ अंश बाहर से जोड़ दिए गए हैं। अन्य ग्रन्थों की भी कई प्रतिलिपियाँ हैं, और जिन प्रतिलिपियों का भारतवर्ष में प्रयोग किया जाता है, वे पुरानी नहीं, बल्कि आधुनिक प्रतिलिपियाँ हैं जो कि मुस्लिम शासन काल में लिपिबद्ध की गई हैं। कुछ अन्य धर्मशास्त्र, इस मुस्लिम शासन काल में पूर्णरूपेण लिखे गए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार, यदि हम धर्मशास्त्रों के आधार पर हिन्दुओं के आचारों एवं रीतियों का कोई विवरण देना चाहें तो वह विवरण मुस्लिम काल का हो गया न कि पौराणिक काल का, और इस समय हमें आवश्यक पौराणिक काल में हिन्दुओं के आचारों एवं नियमों की है। इन सोलह धर्मशास्त्रों पर कुछ विस्तार में विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

१ अत्रि—जो प्रतिलिपि हम लोगों ने देखी हैं, वह एक छोटा ग्रन्थ है जिसमें चार सौ से अधिक श्लोक नहीं है। यह लगातार एक ही छन्द में लिखा गया है। यह पुरातन वेदों के साथ-साथ आधुनिक शास्त्रों का भी अध्ययन करने पर जोर देता है (११) यह फाल्गु नदी में स्नान करने तथा गदाधर देव की यात्रा करने का परामर्श देता है (५७) उस जल का पान करने का भी निर्देश देता है जिसमें कि विष्णु एवं शिव के चरण धोए गए हों, अर्थात् इनके चरणामृत पान का आदेश देते हैं। यह ग्रन्थ सभी म्लेच्छों के प्रति घृणा प्रकट करता है (१८०, १८३), विधवाओं के सती होने की प्रथा की तरफ भी संकेत करता है (२०५)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शास्त्र मुस्लिम विजय के पश्चात् लिखा गया है या संशोधित किया गया है।

२ विष्णु—ऊपर गिनाए गए सोलह धर्मशास्त्रों में से, केवल यही धर्मशास्त्र गद्य में लिखा गया है, इसलिये यह अधिक पुराना माना जा सकता है। डाक्टर जोली ने काठक कल्पसूत्र के गृह्य सूत्र से इसकी निकट समानता की ओर संकेत किया है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि काठक कल्पसूत्र दार्शनिक—काल में लिखा गया है। डाक्टर बुहलर (Buhlar) की तरह डाक्टर जोली (Jolly) भी मानते हैं कि विष्णु धर्मशास्त्र का पर्याप्त भाग वास्तव में उसी कल्प सूत्र का प्राचीन धर्मशास्त्र का ही है। जो भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुराना धर्मशास्त्र फिर से संशोधित एवं रूपान्तरित किया गया है। डाक्टर बुहलर मानते हैं कि यह पूरा ग्रन्थ विष्णु के किसी उपासक अथवा शिष्य द्वारा पुनः संशोधित किया गया था। वे यह भी मानते हैं कि अन्तिम एवं प्रारम्भिक अध्याय, जो कि पद्य में हैं, किसी अन्य तथा कुछ और बाद के किसी लेखक द्वारा लिखा गया था। जिस काल में यह धर्मशास्त्र इस प्रकार दो बार संशोधित किया

गया वह ईसा के पश्चात् चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच में माना जा सकता है।

इस प्रकार जैसी आशा की जा सकती है, इस ग्रन्थ का स्वरूप बहुत ही मिश्रित प्रकृति का है। इसमें ऐसे अध्याय भी हैं जो कि दार्शनिक काल के शास्त्रकार वशिष्ठ एवं बौद्धायन द्वारा उद्धृत किये हुए दिखाये गये हैं। साथ ही इसमें ऐसे अंश भी है जो कि हरिवंश एवं अन्य आधुनिक ग्रन्थों से उद्धृत किए गये हैं। ६५ अध्याय में पुराने और शुद्ध काठक मंत्रों का समावेश है जो कि वैष्णव कर्मकांड के अनुसार बदल दिए गये हैं। इस ग्रन्थ का ९७ वाँ अध्याय सांख्य तथा योग दर्शन का वैष्णव धर्म से सम्बन्ध करने का प्रयत्न करता है, अध्याय ८५ में आधुनिक साप्ताहिक दिवसों (रविवार से शनिवार तक) तक की गणना की गई है जिनका प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में से कहीं भी कोई संकेत नहीं मिलता। बीसवें अध्याय (२९) और ३५ वें अध्याय में विधवाओं के सती होने की ओर संकेत है। ८२ वें अध्याय में म्लेच्छों के राज्य में श्राद्ध करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है और ८५ वां अध्याय लगभग ५० आधुनिक तीर्थ स्थानों का विवरण देता है। इस धर्म-के शास्त्र का प्रारम्भिक अध्याय क्रमिक श्लोकों में लिखा गया है। इसमें लक्ष्मी के साथ क्षीरसागर में शयन करते हुए विष्णु के समक्ष पृथ्वी का एक सौन्दर्यमयी नारी के रूप में उपस्थित होने का वर्णन है। सम्भवतः इस धर्मशास्त्र के सौ अध्यायों में से यह भाग सबसे बाद में लिखा गया है।

इस प्रकार हमारे धर्मशास्त्र प्रत्येक नए धर्म तथा आधुनिक रीतियों के कारण परिवर्तित या संशोधित होते गए हैं। इस क्रिया से ऐसे धार्मिक लोगों की आत्मतुष्टि भले ही हो गई हो पर इतिहासज्ञ के हाथ तो निराशा ही लगती है।

३—हारीत—यह भी एक प्राचीन धर्मशास्त्र हैं जो आधुनिक समय में पूर्णतः परिवर्तित रूप मे प्राप्य है। हारीत का उल्लेख बौद्धायन, वशिष्ठ और आपस्तम्ब द्वारा किया है जो कि दार्शनिक काल के धर्मशास्त्री थे। मिताक्षरा और दायभाग में प्राप्य हारीत के उद्धृत अंश सूक्तिमय गद्य में हैं। परन्तु हारीत के धर्म शास्त्र की जो प्रतिलिपि हम लोगों ने देखा है, वह श्लोक के रूप में है, इसकी विषय वस्तु भी आधुनिक है। पहले अध्याय में लक्ष्मी के साथ विष्णु के क्षीर सागर में शेष नाग की शैय्या पर शयन करने की पौराणिक कथा का वर्णन किया गया है। इस अध्याय के अनुसार विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। इसी कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई जिन्होंने सृष्टि की रचना की। द्वितीय अध्याय में नृसिंह देव की पूजा का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय विष्ण की पूजा का

वर्णन करता है, जब कि सातवें या अन्तिम अध्याय में योगशास्त्र का वर्णन किया गया है।

याज्ञवल्क्य ※—स्टेलर तथा लासेन के मतानुसार याज्ञवल्क्य विक्रमादित्य के पूर्ववर्ती हैं, परन्तु बौद्ध धर्म के उदय काल के परवर्ती है। पिछले वर्षों में प्राचीन भारत के इतिहास पर विभिन्न जनों ने जो अनुसन्धान किया है, उससे लोगों ने इसे मान लिया है कि मनु या तो ईसा के पूर्व वाली शताब्दी में या बाद वाले शताब्दी में हुये। चूँकि याज्ञवल्क्य मनु के परवर्ती थे अतः इनका समय ईसा की पांचवी शताब्दी में होना चाहिये या यों कह सकते हैं कि याज्ञवल्क्य का समय पौराणिक युग के प्रारम्भ का समय है। याज्ञवल्क्य द्वारा प्रस्तुत विषयों से हमारी यह मान्यता पुष्ट होती है। उन्होंने बौद्ध भिक्षुणियों का भी वर्णन किया है, अन्य कितने ही स्थलों पर बौद्ध आचारों तथा सिद्धान्तों का भी वर्णन प्रसङ्गभेद से आया हैं। मनु के अनुसार ब्राह्मण को चारों वर्गों की स्त्रियों से विवाह करने की स्वतन्त्रता है, परन्तु याज्ञवल्क्य ने इस प्राचीन नियम पर आपत्ति प्रगट की है। वैसे भी कई बातों में याज्ञवल्क्य मनु के समीपतर हैं न कि परवर्ती धर्म शास्त्रों के। अपने सम्पूर्ण विवरणों में याज्ञवल्क्य पूर्णतया पौराणिक काल के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं। इनका ग्रन्थ तीन अध्यायों में है तथा उनमें करीब एक सहस्त्र श्लोक है।

५—उसनस—जिस रूप में यह ग्रन्थ आज उपलब्ध है, वह अति आधुनिक की कृति प्रतीत होती है। यह हिन्दुओं के त्रिदेवों का वर्णन करता है। इसमें सती-प्रथा का वर्णन है, समुद्र पार की यात्रा करने वालों की निन्दा है तथा पापियों के लिये पानी या आग से आत्महत्या का निर्देश है। इस ग्रन्थ में उबा देने वाले कितने ही विधि, निषेधों का समावेश है तथा अनेकानेक प्रायश्चितों का वर्णन है। इन सब पर विचार करने से यह ग्रन्थ अपेक्षाकृत आधुनिक जान पड़ता है। इसमें नौ अध्याय तथा करीब छः सौ श्लोक हैं।

६—आंगिरस—इस नाम की जो कृति हमारे सामने है, उसमें तिहत्तर श्लोकों का एक अध्याय है। यह कृति अति आधुनिक है जिसके अनुसार उच्चवर्ण के लोगों के लिये नील की खेती करना वर्जित है।

७—यम—दार्शनिक काल के वशिष्ठ ने इसकी चर्चा की है, परन्तु जो यम-

---

※ पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि याज्ञवल्क्य दो हैं। एक तो प्राचीन, जो जनक के पुरोहित थे तथा दूसरे यह हैं, जिन्होंने धर्म शास्त्र का संकलन किया है।

स्मृति या आजकल प्राप्य हैं, वे आधुनिक काल की प्रतीत होती हैं। ऐसी दशा में वशिष्ठ ने जिस स्मृति की चर्चा की है वह स्मृति यह नहीं मालूम होती। हमारे सामने केवल अठहत्तर श्लोकों की एक छोटी-सी पुस्तिका है। अंगिरस की चर्चा भी इसमें है। इसके अतिरिक्त इसने धोबी, चमार, नर्तक, कैवर्त और भीलों को अछूत माना है।

८—सम्वर्त—यह एक आधुनिक कृति है जिसमें दो सौ से अधिक श्लोक हैं, जो महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होते। यम स्मृति की चर्चा करते हुये इस पुस्तक ने भी उपरोक्त कर्म करने वालों को अछूत माना है।

९—कात्यायन—(पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि ये वह कात्यायन नहीं है जिन्होंने पाणिनी की आलोचना की है) दार्शनिक काल का विवरण देते समय हमने गोभिल द्वारा प्रस्तुत गृह्यसूत्र की चर्चा की है। इन सूत्रों में जिन व्रतों का वर्णन नहीं हुआ है अथवा ऐसे नियम जो छूट गये हैं, उन सबकी जानकारी देने का प्रयत्न कात्यायन ने किया है। कात्यायन का धर्मशात्र अतीत काल का है, इसमें उन्नीस अध्याय है, जिनमें पाँच सौ श्लोकों को संजोया गया है। इस धर्मशास्त्र में गणेश तथा माताओं की उपासनाओं का वर्णन है। माताओं में गौरी, पद्मा, शर्चा, सावित्री, जया, विजया इत्यादि हैं। इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इनकी मूर्तियों या उज्जवल मोटे वस्त्र पर बने हुये चित्रों की उपासना की जानी चाहिये। इसका बारहवां अध्याय गद्य में है, जिसमें हिन्दुओं की त्रिमूर्ति की चर्चा है। उन्नीसवें अध्याय में उमा का नाम भी आया है। इसके बीसवें अध्याय में वह कथा दी गयी है, जिसमें सीता के बनवास में होने के कारण राम ने सीता के स्थान पर उनकी स्वर्णमूर्ति प्रतिष्ठापित करके यज्ञ किया था।

११—बृहस्पति—इस ग्रन्थ का केवल अस्सी श्लोकों का एक छोटा-सा ग्रन्थ हमारे सामने है, जो आधुनिक प्रतीत होता है और इसमें ब्राह्मणो को भूमिदान देने के महत्व का वर्णन है। इसमें पाठकों के मस्तिष्क में यह बात बिठाल देने का प्रयास किया गया है कि ब्राह्मण का क्रोध भाजन होने से बड़ा अनर्थ हो सकता है। बृहस्पति के ग्रन्थ का एक प्राचीन अनुवाद मिलता है जो "पूर्व की पवित्र ग्रन्थ माला" के अन्तर्गत प्रकाशित की गयी है।

१२—पाराशर—निश्चय रूप से यह ग्रन्थ आधुनिक काल का है। इसका संकलन कर्ता स्वयम ही स्वीकार करता है कि मनुस्मृति सत्ययुग के लिये, गौतम स्मृति त्रेता के लिये, शंख और लिखित की स्मृति द्वापर के लिये तथा "कलौ पाराशरस्मृतिः" अर्थात् कलियुग में पाराशर स्मृति ही मान्य है। इसमें जहां एक

ओर हिन्दु त्रिमूर्तियों की चर्चा है, वहीं विधवाओं के सती हो जाने की भी चर्चा है, यद्यपि इस काल में विधवा का भी विवरण मिलता है। पाराशर इस प्रकार की व्यवस्था भी देते हैं। उन्होंने कहा है कि यदि किसी स्त्री का पति ला पता हो गया हो, मर गया हो, साधु हो गया हों, देश से निकाल दिया गया हो या नपुंसक हो तो वह पुनर्निर्वाह कर सकती है। इस ग्रन्थ में बारह अध्यायों में करीब छः सौ श्लोक हैं।

१३—व्यास—व्यास पाराशर से भी अधिक आधुनिक हैं। यह सत्य है कि इसमें हिन्दू त्रिदेवों का वर्णन है फिर भी सती प्रथा का निर्देश इसकी आधुनिकता का प्रमाण है। अन्य धर्मशास्त्रों में अछूतों की गणना गिनायी गयी है परन्तु व्यास की तत्सम्बन्धी गणना सर्वाधिक सम्पूर्ण है। मुस्लिम काल में हिन्दुओं की जीवन चर्चा तथा सामाजिक दशा का चित्र खींचने के लिये पर्याप्त सामग्री इस ग्रन्थ में मिलती है। यह एक छोटा सा ग्रन्थ है, जिसमें चार अध्याय तथा दो सौ श्लोक हैं।

१४—शंख—विष्णु की तरह यह धर्मग्रन्थ भी प्राचीन है, परन्तु निकट भूत-काल में ही इसे फिर से पद्य वद्ध किया गया है, यद्यपि दो विवरण अब भी गद्य में है। डा० बुहलर का मत है कि यह गद्य भाग मूलतः शंख मूल संस्करण पर से लिये गए वास्तविक सूत्रों से ही सम्बन्धित है। शंख का यह मूल संस्करण दार्शनिक काल में ही लिखा गया था और सम्पूर्णतः सूक्तियों के रूप में ही था। बिना किसी सन्देह के, यह माना जा सकता है कि यह ग्रन्थ अपेक्षाकृत नया है। इसके तीसरे अध्याय (सात) में हम देवालयों तथा शिव की मूर्ति का उल्लेख पाते हैं। चौथे अध्याय (नौ) में ऊंची जातियों के पुरुषों को शूद्र स्त्रियों से विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है जब कि इस प्रकार के विवाह के लिए मनु अनुमति देते हैं। सातवें अध्याय (२०) में शास्त्रकार विष्णु के एक और नाम, वासुदेव का उल्लेख करता है। चौदहवें अध्याय में (१-३) में शास्त्रकार सोलह पवित्र स्थानों के नाम गिनाता है। इसी अध्याय (४) में म्लेच्छों के देश में यात्रा करने या श्राद्ध करने का निषेध किया गया है। परन्तु इस नवीन ग्रन्थ में भी विधवा विवाह की अनुमति दी गई है (१५ वाँ अध्याय-१३)। यह ग्रन्थ १८ अध्यायों में विभाजित किया गया है और इसमें तीन सौ श्लोक सम्मिलित है।

१५—लिखित—जिस रूप में यह हमें प्राप्त है, यह ९२ श्लोकों का एक छोटा-सा आधुनिक ग्रन्थ है। इसमें देवताओं के देवालयों (४), बनारस में निवास करने (११) तथा गया में पिंडदान करने का उल्लेख मिलता है।

१६—दक्ष—यह भी सात अध्यायों का एक आधुनिक ग्रन्थ है। यह पुरुषों

एवं स्त्रियों के घरेलू जीवन तथा कर्तव्यों का मोहक चित्र प्रस्तुत करता है यद्यपि यह चित्र 'विधवाओं के सती होने (अध्याय ४,२०) की प्रथा के उल्लेख से कुछ गन्दा सा हो गया है।

१७ शातातप—अपने वर्तमान स्वरूप में यह ग्रन्थ भी, व्यास की तरह ही १६ धर्मशास्त्रों में से एक है। यह त्रिनेत्रधारी रुद्र (अध्याय १७,१६) का, विष्णु की पूजा का (अध्याय १,२२), चार मुख वाले ब्रह्मा की मूर्ति का (दूसरा अध्याय ५) तथा हाथ में दंड लेकर भैंसे पर आसीन यम की मूर्ति (दूसरा अध्याय १८) का उल्लेख करता है। इस ग्रन्थ के अनुसार विष्णु की पूजा श्री वत्सलाछत वसुदेव, तथा जगन्नाथ आदि से भी की जाती हैं। इसके अनुसार विष्णु की स्वर्ण की मूर्ति बनवाकर इसे आभूषणों से सजाना चाहिये और पूजा के बाद इस मूर्ति को ब्राह्मणों को दान के रूप में दे देना चाहिये (अध्याय २, २२-२५)। सरस्वती, जो कि ब्रह्मा की स्त्री हैं, भी पूजा पाने का अधिकार रखती हैं (अध्याय २, २८)। यह ग्रन्थ इस बात की राय भी देता है कि पापों से मुक्ति पाने के लिए हरिवंश एवं महाभारत का पाठ सुनना चाहिये (अध्याय २, ३० व ३७)। इसके पश्चात् हमें गणेश, (२,४४) अश्विनी कुमार, (४, १४) कुबेर, (५, ३), प्रचेतस (५,१०) और इन्द्र की (५,१६) प्रतिमाओं का उल्लेख पाते हैं। इन सभी देवताओं की स्वर्ण प्रतिमाएँ बनवाकर तथा पूजा करा कर केवल ब्राह्मणों को ही देना चाहिये, ऐसा निर्देश इस धर्मशास्त्र द्वारा प्राप्त होता है। निस्सन्देह इस निर्देश का मुख्य उद्देश्य ब्राह्मणों को अधिकाधिक दान पाने की व्यवस्था करना ही है। इस ग्रन्थ के अनुसार ऐसे दानों से सभी तरह के पाप धुल जाते हैं और समस्त दैहिक, भौतिक, दैविक तथा पारिवारिक विपत्तियों से मुक्ति मिल जाती है। यह ग्रन्थ मुस्लिम विजय के बाद के हिन्दू धर्म के रूप का एक चित्र प्रस्तुत करता है, और इसका महत्व इसी कारण से अधिक है।

इस प्रकार इन ग्रन्थों के संक्षिप्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक काल के हिन्दू समाज की रीति रिवाजों का चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से, याज्ञवल्क्य तथा एकाध और ग्रन्थों को छोड़कर, ये सोलहों धर्म शास्त्र लगभग महत्त्वहीन सिद्ध होते हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि वे मुस्लिम शासन के अन्तर्गत हिन्दुओं के धर्म एवं रीति रिवाजों का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

जिस रूप में आजकल पुराणों की प्रतियाँ प्राप्त हैं वे भी कम या अधिक इसी कोटि के हैं। उनसे हमें हिन्दू जन जीवन की प्रवृतियों एवम् जीवन के बारे में इतनी जानकारी नहीं मिलती, जितनी विभिन्न देवों का मुख्यता के लिये किये

गये सामयिक विवादों की। हम जानते हैं कि मुसलिम काल में इस प्रकार के विवाद अधिक प्रचलित थे। अब हमें थोड़ा सा विचार पुराणों पर भी कर लेना चाहिये।

पुराण

विक्रमादित्य महान के दरबार में रहने वाले महान् कोषकार अमरसिंह के विषय में हम पीछे पढ़ आये हैं। उन्होंने पुराणों के पाँच लक्षण बताए हैं। प्रायः सभी विद्वान् इस विषय पर सहमत है कि ये पाँचो लक्षण इस प्रकार हैं :—१--सृष्टि का प्रारम्भिक ज्ञान अथवा ब्रह्मविज्ञान; २— सृष्टि का द्वितीय चरण, अर्थात् नित नये संसारों का उदय, विकास अथवा विनाश; ३—देवताओं का वंश वर्णन तथा परिवार में पिता की प्रधानता; ४—मन्वन्तरों का विवरण और ५—सूर्य वंशियों का वर्णन और उनकी वर्तमान सन्तानें। जिस रूप में आजकल के ये पुराण प्राप्त हैं, उनसे तो शायद ही उपरोक्त पांचो "लक्षणों" की पूर्ति होती है।

पुराणों में तीन वर्ग है। कुल पुराण अठारह हैं, इन्हें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु के तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। उनके नाम तथा उनमें लिखे गये उन श्लोकों की संख्या का विवरण नीचे दिया गया है, जिनका योग करीब चार लाखके है

वैष्णव		शैव		ब्रह्मा	
विष्णु	२३,०००	मत्स्य	१४,०००	ब्रह्मांड	१२,०००
नारद	२५,०००	कूर्म	१७,०००	ब्रह्मवैवर्त	१८,०००
भागवत	१८,०००	लिंग	११,०००	मारकन्डेय	९०००
गरुण	१९,०००	वायु	२४,०००	भविष्य	१४,५००
पद्म	५५,०००	स्कन्द	८१,१००	वामन	१०,०००
वाराह	२४,०००	अग्नि	१५,४००	ब्रह्म	१०,०००

उपरोक्त अठारहों पुराणों के सामने लिखी हुई श्लोक संख्याओं को ही देख कर पाठक इनके वृहदाकार का अनुमान लगा सकते हैं। इस छोटी-सी पुस्तक में इन पुराणों का संक्षिप्ततम् विवरण दे पाना भी एक असम्भव कार्य है। प्राचीन काल के विद्वानों ने इनमें सताब्दियों का श्रम लगा दिया है और परिणाम स्वरूप इन विशाल ग्रन्थों में अति प्राचीन धार्मिक, ऐतिहासिक एवं पारम्परिक गाथाओं का समावेश किया है तथा कितनी ही आधुनिक कालीन जातियों, व्यवस्थाओं, रीति-रिवाजों एवं विश्वासों का अनुपम विवरण प्रस्तुत किया है। अतएव हम उनमें वर्णित मुख्य विषयों की नामावली मात्र ही वर्णन कर सकने की स्थिति में हैं।

१—ब्रह्म पुराण—प्रारम्भिक अध्यायों में सृष्टि का वर्णन देने के पश्चात् सूर्य वंशीय एवं चन्द्रवंशीय राजाओं की वंशावली का वर्णन कृष्ण के समय तक का दिया गया है। इसके बाद संसार का वर्णन दिया गया है, फिर उड़ीसा का वर्णन है, जिसके सुन्दर बागों, सूर्य शिव तथा जगन्नाथ जी के मन्दिरों का वर्णन है। इसके आगे कृष्ण का जीवन वृत्त दिया गया है, जो विष्णु पुराणों में दिये गये तत्सम्बन्धी विवरण से शब्दशः मिलता है। इस पुराण की समाप्ति योग के वर्णन से होती है।

२—पद्म पुराण—स्कन्द पुराण के बाद सर्वाधिक विशाल पुराण पद्म पुराण ही है। इसमें पाँच भाग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं (१) सृष्टि, (२) भूमि, (३) स्वर्ग, (४) पाताल तथा (५) उत्तराखण्ड। सृष्टि खन्ड में ब्रह्म विज्ञान का वर्णन करने के पश्चात् पितृसत्ताक परिवारों का वर्णन तथा राजवंशों का इतिहास है और इसके बाद अजमेर स्थित पुष्कर झील की पवित्रता का वर्णन करने के पश्चात इस तीर्थ की यात्रा का निर्देश किया गया है। भूमि खन्ड में एक सौ सत्ताइस अध्याय है, जिनमें मुख्य रूप से तीर्थों का महात्म्य वर्णित है। इन वर्णनों में अनेकानेक श्रद्धास्पद व्यक्तियों के नाम भी आये हैं साथ ही तीर्थयोग्य स्थानों का निर्देश है। इसके बाद हमारी पृथ्वी का वर्णन है। स्वर्ग खन्ड में बैकुण्ठ को विष्णु का स्थान मान कर उसे सबसे ऊँचे स्तर पर स्थित माना गया है। इसमें विभिन्न वर्ण के लोगों के लिये तथा विभिन्न आश्रय के लोगों के लिये शिष्टाचार तथा जीवन क्रम निर्देशित किया गया है, साथ ही कितनी ही गाथायें भी दी गयी है, जो अधिकांशतः आधुनिक है। पाताल खन्ड में हमें नाग लोग का परिचय मिलता है। इस खन्ड में शेषनाग ने स्वयम् ही रामकथा का वर्णन किया है, जिसके बाद कृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन है और फिर विष्णु की उपासना का महत्व दिखाया गया है। इस पुराण का उत्तरखन्ड शायद अपेक्षा कृत नया है, इसका झुकाव स्पष्ट ही वैष्णवों की ओर अधिक है; विष्णु-भक्ति प्रवृत्ति क्या है या विष्णु में किस प्रकार की श्रद्धा रखनी चाहिये। वैष्णव को किस प्रकार का तिलक तथा शरीर पर किसी प्रकार के चिन्हों का प्रयोग करना चाहिये, विष्णु के विभिन्न अवतारों की गाथायें हैं तथा इस बात की व्यवस्था दी गई है कि विष्णु की मूर्तियाँ किस प्रकार बनायी जानी चाहिये। यह सभी बातें शिव के द्वारा उनकी प्रिया पार्वती को सुनाई गयी है। अन्त में वे दोनों ही विष्णु की उपासना करते हैं तथा इसके बाद इस विशाल ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है। इस पुराण में यह भी कहा गया है कि त्रिदेवों में से केवल विष्णु ही श्रद्धेय और उपास्य हैं। इस प्रकार के वर्णन अवश्य ही मुस्लिम

विजय के बाद में जोड़े गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। उस पुराण के प्रारम्भिक विवरणों में भीम्लेक्षों का नाम आया है और कहा गया है कि भारत में म्लेक्षों की उन्नति हो रही है। डा० विलसन के अनुसार इस पुराण का उत्तर खंड पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी में लिखा गया है।

३—विष्णु पुराण—यह पुराण छः भागों में विभाजित है। पहले भाग में विष्णु एवम् लक्ष्मी के सम्बन्ध में अनेक गाथायें दी गयी हैं। इन गाथाओं में ध्रुव तथा प्रहलाद की भी कथायें दी गयी है। द्वितीय भाग में सप्तद्वीप तथा सप्तसमुद्र सहित इस पृथ्वी का वर्णन दिया गया है जिसमें भारतवर्ष तथा उसके दक्षिण के भू भागों का भी विवरण दिया गया है। इसके पश्चात् सूर्य, चन्द्रमा तथा शेष ग्रहों का विवरण है। तृतीय भाग में वेद की चर्चा है तथा यह बतलाया गया है कि द्वापर युग में कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेद को चार भागों में विभाजित कर दिया। फिर अठारहों पुराणों की नामावली देकर चतुर्वर्ण के लोगों द्वारा किये जाने योग्य कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही चारों आश्रमों के करने योग्य व्रतों, उपासनाओं एवम श्राद्ध-कर्मादि का विस्तृत वर्णन दिया गया है। अन्तिम अध्याय में बौद्धों एवम जैनियों की निन्दा है। चतुर्थ भाग में सूर्यवंशी एवम् चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन है तथा अन्त में मगध के राजाओं की वही सूची दी गयी है, जिसे हम चतुर्थ काल अर्थात् बौद्ध काल के तृतीय अध्याय में दे चुके हैं। पांचवे भाग में कृष्ण के बाल चरित्र गोपियों के सङ्ग में की गई अनेक क्रीड़ाओं एवम उनके जीवन के अनेक अन्य पक्षों का सविस्तार वर्णन किया गया है। छठवें भाग में (जो अन्तिम भाग भी है) यह व्यवस्था दी गयी है कि बिना जाति वय का विचार किये ही कोई व्यक्ति केवल विष्णु की भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। योग के वर्णन एवम मुक्ति की व्याख्या के साथ इस पुराण को समाप्त किया गया है।

४ वायुपुराण—इस पुराण को शिव पुराण और शैवपुराण भी कहते हैं। यह पुराण चार भागों में विभक्त है। पहले भाग में सृष्टि का उद्भव एवम जीवधारियों के विकास की कथा है। द्वितीय भाग में भी ये विषय चालू रहते हैं, जिसमें विभिन्न कल्पों का वर्णन करते हुये अनेक पितृसत्ताक परिवारों का वर्णन दिया गया है, साथ ही इस ब्रह्मांड का एवम् अनेक मन्वन्तरों की गाथाओं का वर्णन दिया है तथा शिव की प्रशंसा में भी अनेक कथाओं को प्रस्तुत किया गया है। तृतीय भाग में विभिन्न जीवों का विवरण है, जिसके साथ-साथ सूर्य स्वम् चन्द्रवंशी राजाओं के विवरणों के साथ अनेक अन्य राजाओं का भी विवरण दिया गया है। चतुर्थ या

अन्तिम भाग में योग की महत्ता के वर्णन के बाद कहा गया है कि योगि जन का परम साध्य है शिव में लीन हो जाना।

५—श्रीमद्भागवत पुराण—इस पुराण को लोग प्रायः भागवत पुराण ही कहते है। यदि सारी हिन्दू जाति नहीं तो कम से कम वैष्णवों की दृष्टि में यह पुराण सर्वाधिक पवित्र पुराण है। सभी पुराणों की तरह इसका भी प्रारम्भ सृष्टि के उद्भव से होता है। इसके अनुसार वासुदेव ही सर्व शक्तिमान् एवम् सर्जक हैं, यह सारी रचना उन्हीं की माया है। यह पहला पुराण है जो सभी हिन्दू जातियों के साथ-साथ म्लेक्षों को भी वासुदेव की भक्ति का अधिकारी कहता है। वैष्णवों का यही परम सिद्धान्त हैं। तृतीय स्कन्ध में ब्रह्मा की उत्पत्ति का वर्णन है, विष्णु धृत वाराहावतार का वर्णन है तथा सांख्य दर्शन को प्रतिपादित करने वाले कपिलावतार का वर्णन है। चतुर्थ एवम पंचम स्कन्ध में ध्रुव, वेणु, प्रिथु, तथा भरत के जीवन वृत्त दिये गये हैं। छठवें स्कन्ध में विष्णु की उपासना का प्रचार किया गया है तथा सप्तम स्कन्ध में प्रहलाद की कथा प्रस्तुत की गयी है। अष्टम स्कन्ध भी विविध गाथाओं का भण्डार है। नवम् स्कन्ध में सूर्य वंश तथा चन्द्रवंश का वर्णन हैं। दशम् स्कन्द ही इस पुराण का सर्वाधिक मुख्य भाग है, जिसमें कृष्ण का जीवन आद्योपान्त दिया गया है। एकादस स्कन्ध में यादवों के विनास एवम कृष्ण के बेकुंठ वास की कथा प्रस्तुत की गयी है। द्वादश स्कन्ध में राजाओं की नामावली विष्णु पुराण की ही तरह दी गयी है और यही इस पुराण का अंतिम स्कन्ध हैं।

६—नारद पुराण—इस पुराण में विष्णु के अनेक स्तवन हैं और ऐसी गाथायें दी गयी है जो हरि के प्रति समर्पण की भावना को जन्म देती हैं। इसी से मिलती जुलती एक अन्य कृति भी है, जिसे वृहद् नारदीय पुराण कहते हैं। इसमें विष्णु की अनेक स्तुतियाँ हैं तथा धार्मिक आचारों एवम संस्कारों के पालन के कड़े निर्देश हैं, साथ ही अनेक गाथायें भी समाविष्ट हैं। ये दोनों ही कृतियाँ आधुनिक प्रतीत होती है। डा० विल्सन का मत है कि ये कृतियाँ वे नहीं हैं जिनकी गणना अष्टादश पुराणों में है।

७—मार्कण्डेय पुराण—इस पुराण में अधिकांश गाथायें ही गाथाएँ हैं। वृत्रासुर वध की कथा, बलदेव के प्रायश्चित्त की कथा, हरिश्चन्द्र की कथा तथा वशिष्ट और विश्वामित्र के वैमनस्य एवम संघर्ष की समूची कथा देने के पश्चात् जन्म, मरण, पाप तथा नरक का विवरण दिया गया हैं। इसके पश्चात् सृष्टि के उद्भव का एवम मन्वन्तरों का विवरण दिया गया है। भविष्य में आने वाले मन्वतर के वर्णन में दुर्गा के क्रिया कलापों का वर्णन सविस्तार दिया गया है और इसी के माध्यम से

चंडी या दुर्गा की उपासना करने की प्रेरणा दी गयी है। दुर्गा सप्तशती इस पुराण का ही एक अंश है जिसका पाठ आज भी हिन्दुओं के घरों तथा मन्दिरों में प्रायः होता रहता है।

८—अग्निपुराण—इसके प्रारम्भिक पृष्ठों में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। इसके बाद धार्मिक कृत्यों का वर्णन दिया गया है, जिनमें से अधिकांश कृत्य तांत्रिकों के हैं और शेष शैवों के हैं। इसमें पृथ्वी और ब्रह्मांड का भी वर्णन दिया गया है। इसके पश्चात् राजा के कर्तव्य निर्देशित किये गये हैं, युद्ध के नियम बताये गये हैं, बिधियों का वर्णन है और बाद में वेदों और पुराणों का विवरण दिया गया है। वंशावलियाँ संक्षिप्त रूप में ही दी गयी हैं। इन विषयों के अतिरिक्त इस पुराण में औषधियों की चर्चा भी है और पिंगल शास्त्र की भी।

९—भविष्य पुराण—सृष्टि के उद्भव के वर्णन के बाद संस्कारों का वर्णन देकर विभिन्न वर्ण के लोगों के कर्तब्य एवम जीवन क्रम सम्बन्धी निर्देश दिये गये हैं। इन सब में तिहाई अंश समाप्त हो गया है। इसके बाद का विवरण कृष्ण, उनके पुत्र साम्ब, वशिष्ठ, नारद तथा व्यास के वार्तालाप के रूप में है जिसमें सूर्य के महत्व का दिग्दर्शन कराया गया है। इसे भविष्योत्तर पुराण भी कहते हैं जो भविष्य पुराण की ही भाँति है।

१०—ब्राह्मवैवर्त पुराण—इसके चार भाग हैं, जिनमें ब्रह्मा, देवी, गणेश तथा कृष्ण के कार्यों का वर्णन है। इस पुराण की मूल व्यवस्था को जैसे उलट पुलट दिया गया है। इसका वर्तमान रूप साम्प्रदायिक है। इसमें कृष्ण को ही सर्वाधिक मान्यता की गयी है। पुराण के अधिकांश पृष्ठों में वृन्दावन का वर्णन है। कृष्ण की असंख्य स्तुतियाँ हैं। राधा एवम गोपियों के प्रेम का उबा देने वाला विस्तृत वर्णन है।

११—लिंग पुराण—यह कृति सृष्टि के उद्‌भव वर्णन से प्रारम्भ होकर, शिव को स्रष्टा मानती हुई आगे बढ़ती है। सृष्टि के अवकाश क्षण में लिंग का उदय होता है तथा ब्रह्मा और विष्णु इसके सम्मुख विनत होते हैं। लिंग से ही वेद उत्पन्न होते हैं, ब्रह्मा तथा विष्णु चमत्कृत होकर शिव की महानता स्वीकार करते हैं। फिर सृष्टि आगे बढ़ती है, भागवत पुराण के चौबीस अवतारों के समान ही शिव के अट्ठाईस अवतारों का वर्णन है, फिर ब्राह्मांड का वर्णन दे कर कृष्ण के समय तक के राजवंशों का वर्णन है। धार्मिक रीतियों, कृत्यों, स्तवनों तथा गाथाओं को प्रस्तुत करने के पश्चात् पुराण समाप्त होता है तथा सर्वत्र ही रहस्यवाद एवम अध्यात्मवाद से ओत-प्रोत है।

१२—वाराह पुराण—यह सारा पुराण ही विष्णु की स्तुतियों तथा उनके प्रति सर्वस्वार्पण की भावनाओं से भरा पड़ा है, बीच-बीच में धार्मिक गाथायें आती गयी हैं। वैष्णव तीर्थों के वर्णन के पश्चात् इस कृति की समाप्ति होती है।

१३--स्कंद पुराण--विशालतम पुराण है, तथा छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा हुआ है, योग जिनका इक्यासी सहस्त्र श्लोकों का है। काशी खंड में बनारस के शिवालयों का वर्णन है जिसमें शिवोपासन विधि को गाथाओं के माध्यम से समझाया गया है। उत्कल खंड में जगन्नाथ जी सहित उड़ीसा का माहात्म्य है। जो वैष्णव विद्वानों द्वारा बाद को जोड़ा गया ज्ञात होता है। स्कंद पुराण मूलतः शैवों का है, परन्तु यह वर्णन वैष्णवों के पुराण से सम्बन्धित है। इसमें इन खंडों में कितनी ही संहितायें तथा अनेक माहात्म्य दिये गये हैं।

१४—वामन पुराण—विष्णु के वामनावतार का विवरण प्रस्तुत करता है, लिंग-पूजन का भी विधान है, परन्तु इसका मूल उद्देश्य तीर्थों की महानता प्रदर्शित करना ही है, अतएव इस पुराण में अधिकांश माहात्म्य ही दिये गये हैं। दक्ष के यज्ञ माहात्म्य, मदन-दहन के वृत्तान्त के बाद उमा का शिव के संग विवाह के वर्णन क्रम में कार्तिकेय जन्म का वर्णन किया गया है। बलि की महानता तथा विष्णु द्वारा उनके नियंत्रण की कथा में अनेक तीर्थों का माहात्म्य भी सम्मिलित है।

१५—कूर्म पुराण—में मूलतः कूर्मावतार का वर्णन है, फिर भी वर्गीकरण में यह शैव पुराणों के अन्तर्गत आता है, क्योंकि इसके अधिकांश भाग में शिव तथा दुर्गा-पूजन का विधान है। प्रथम भाग में सृष्टि के वर्णन के बाद, सूर्य एवम् चंद्र-वंशियों का इतिहास है जो कृष्ण के समय तक का है। इसके बाद ब्रह्मांड-वर्णन के साथ-साथ मन्वन्तरों का वर्णन है। बीच-बीच में माहेश्वर के स्तवन हैं और कितनी ही शैव गाथायें हैं। द्वितीय भाग में वैदिक रीतियों से शिव-सान्निध्य की प्राप्ति का ढंग बताया गया है।

१६—मत्स्य पुराण—मत्स्यावतार से प्रारम्भ होता है। शतपथ ब्राह्मण की ही कथा इसमें भी है जो 'ओल्ड टेस्टामेंट' की 'नो आह' की गाथा से मिलती जुलती है। इसमें विष्णु ही मनु को तथा सृष्टि के बीजों को मत्स्य रूप धारण करके बचाते हैं। मत्स्य एवम मनु का वार्तालाप प्रारम्भ होता है तथा मत्स्य ही इस पुराण का वर्णन करता है। सृष्टि के उद्भव के साथ-साथ राजवंशों का भी वर्णन है तथा विभिन्न सम्प्रदायों की रीतियों का भी वर्णन है। वैष्णव गाथाओं को प्रस्तुत करने के बाद कुछ माहात्म्य भी किये गये हैं, जिनमें नर्मदा माहात्म्य भी है। विधियों

एवं नैतिकताओं के वर्णन के बाद मूर्ति रचना का विधान बताया गया है तथा राजाओं द्वारा दिये गये दान की महानता का वर्णन है।

१७—गरुड़ पुराण—सृष्टि के संक्षिप्त वर्णन से प्रारम्भ होकर, धार्मिक कृत्यों का विधान वर्णन करती हुई यह कृति, तांत्रिकों द्वारा की गयी प्रार्थनाओं का वर्णन करती है तथा ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र तथा औषधि इत्यादि का विवरण दिया गया है। यद्यपि इसका नाम गरुड़ पुराण है, फिर भी गरुड़ के जन्म का इसमें कोई विवरण नहीं दिया गया है, इससे यह सम्भावना पायी जाती है कि यह मूल पुराण नहीं है।

१८—ब्रह्मांड पुराण—स्कन्द पुराण के ही समान यह पुराण भी टुकड़ों में ही प्राप्त है। इसीलिये कितने ही लेखकों ने बीच-बीच में अपना बल लगाया है। विद्वानों का कहना है कि अध्यात्म रामायण इसी पुराण का अंश है।

ऊपर की पंक्तियों में अष्टदश पुराणों का जो संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उससे इन पुराणों की प्रवृत्ति का अनुमान तो लग ही जाता है। ये अठारहों कृतियाँ या तो मूलतः पौराणिक काल में लिखी गयीं या इसी काल में नवीन संस्करण लिखे गये जिसके कारण अत्यधिक क्षेपक सम्भव हो सके। जब अलबरुनी ग्यारहवीं शताब्दी में भारत में आया तो उस समय ये सभी पुराण प्राप्त थे। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय के बाद भी इनमें अत्यधिक संशोधन एवम् परिवर्द्धन हुआ है। शैवों और वैष्णवों ने इस परिवर्द्धन में अत्यधिक योग इसलिये दिया कि उनके देव विशेष ही प्रमुख माने जाँय। इस काल में वैसे भी शिव का प्राधान्य निर्विवाद था, क्योंकि सर्वत्र इनके ही स्तवन, इनका ही माहात्म्य तथा इनके ही शिवालय मिलते हैं। कृष्ण को तो शायद कालिदास, भारवि, भवभूति तथा वाणभट्ट इत्यादि देवरूप में जानते भी नहीं थे। विष्णु की प्रमुखता तो बाद में स्थापित हुई। माघ एवम जयदेव ने ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में उनका यश गान किया और इस प्रकार समूचे मुस्लिम काल में कृष्ण ही का प्राधान्य बना रहा। गोपियों के साथ कृष्ण की क्रीड़ा तथा तांत्रिक पद्धति से शिवोपासना का प्रचार भी मुस्लिम काल की देन है। इसीलिये इन पुराणों में प्रस्तुत विवरण के आधार पर पौराणिक कालीन हिन्दू-जन जीवन का वर्णन करना भ्रमपूर्ण होगा।

इन अष्टादश पुराणों के साथ-साथ इतने ही उपपुराण भी बताये जाते हैं, परन्तु इस विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा 'प्रस्तुत की गयी सूचियाँ मतभेद पूर्ण हैं। ये उपपुराण सम्भवतः मुस्लिम काल की देन हैं। इन उपपुराणों में प्रमुख हैं 'कालिका' जो शिव की स्त्री से सम्बन्धित है और शाक्तों का पुराण है। इसमें दक्ष

के यज्ञ में सती के भस्म होने का वृत्तान्त वर्णित है, जिसमें कहा गया है कि शिव अपनी स्त्री का शव लेकर सारे संसार में घूमे तथा उनका अंग प्रत्यंग स्थान-स्थान पर गिरता गया, इसीलिये ये स्थान विशेष पवित्र माने गये हैं। आज भी इन द्वादश ज्योतिर्लिंगों के स्थलों पर प्रतिवर्ष लाखों तीर्थ यात्री पुण्यार्जन के हेतु आते जाते रहते हैं। वेदगान करने वाले ऋषियों के सन्तानों की धार्मिक प्रणालियाँ एवम् रीतियाँ इसी प्रकार की हैं।

तन्त्र

मुस्लिम कालीन हिन्दू प्रवृत्ति इससे भी अधिक कुपंथ का अवलम्बन करती है। दार्शनिक काल की योग साधना का स्थान तंत्र साधनों ने ले लिया, जिसमें नाना प्रकार के अनैतिक यौन सम्बन्धी कामों को अविवेक पूर्ण ढंग से अपनाया गया। तांत्रिकों ने सुरा-सुन्दरी के उपभोग द्वारा भी सायुज्य प्राप्ति की बात को आगे बढ़ाया। भवभूति ने भी कुछ इस प्रकार का वर्णन आठवीं शताब्दी में किया था परन्तु इस समय तक इस पन्थ में अत्यधिक विकृति आ गयी थी। ये तंत्र विदेशी शासन के कुपरिणाम स्वरूप बड़े ही अविवेक पूर्ण ढंग से हमारे सामने आते हैं। अमानवीय शक्तियों की प्राप्ति के लिये जो विभिन्न पंथ अपनाये गये, वे सबके सब स्पष्टतया गठित हैं। आश्चर्य तो यह है कि ये सब अविवेकतायें हुईं शिव तथा उनकी पत्नी शक्ति के नाम पर। तंत्रों की संख्या चौंसठ कही जाती है। हमने उनमें से कुछ को देखा जो कलकत्ते से प्रकाशित हुई हैं।

अज्ञान ही विश्वास है और निर्बलता ही शक्ति के पीछे दौड़ती है और जब अंधविश्वास पूर्ण अज्ञानता एवम् तज्जनित निर्बलता शक्ति प्राप्ति का प्रयत्न करती है तो ऐसे ही अनर्थों की सृष्टि सम्भव होती है। ईश्वर ने जिन साधनों को पाने का अधिकार केवल सशक्तों, समर्थों एवम ज्ञानियों के ही लिये सुरक्षित रक्खा है, उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न जब निर्बलों, असमर्थों एवम् अज्ञानियों द्वारा प्रारम्भ होता है, तब ऐसा ही अनर्थ उपस्थित होता है। मुस्लिम कालीन हिन्दुओं की तंत्र साधना उस विकृत मतिष्क का परिचायक है, जो अज्ञानता, अंधविश्वास एवम दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, परन्तु प्राधान्य प्राप्ति की इच्छा रखता था। इस प्रकार की विकृति तभी सम्भव होती है जब राष्ट्रीय जीवन समाप्त हो जाता है, राजनैतिक जागृति लुप्त हो जाती है तथा ज्ञान का दीप बुझ जाता है।

———

बावनवाँ अध्याय

वर्ण

पिछले भाग में हम देख चुके हैं कि राजाओं एवम् पुरोहितों के अतिरिक्त जो भी आर्य भारत में थे, वे अपनी संगठित अवस्था में थे। बौद्ध काल तक यही अवस्था रही और आर्यों का विभाजन पेशे पर आधारित उपजातियों में नहीं हुआ था। पौराणिक काल में विभाजन की प्रवृति को बल मिला, क्योंकि इसी काल के साहित्य में विभिन्न उपजातियों के बीच स्पष्ट विभाजन रेखायें दिखाई पड़ती हैं। फिर भी इस काल का साहित्य यह नहीं कहता कि उपजातियों का यह विभाजन पूर्णता को पहुँच चुका था। हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि आर्य जाति तब भी सुसंगठित थी। ब्राह्मण पौरोहित्य का कार्य करते थे, क्षत्रिय राजकाज देखते थे, तथा वैश्य लोग नाना प्रकार के व्यवसायों में रत रहते थे। व्यवसाय जनित जातियाँ तो मुसलिम विजय के बाद के समय में अस्तित्व में आयीं, जब हिन्दुओं का राजनैतिक तथा राष्ट्रीय जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम इस अध्याय में याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त उन्हीं दो एक धर्मशास्त्रों का सहारा लेंगे, जो पौराणिक काल के हैं। मुस्लिम कालीन धर्मशास्त्रों पर भरोसा करना युक्ति युक्त नहीं होगा।

पौराणिक काल के सभी धर्मशास्त्र चार वर्णों की ही बात करते हैं अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रथम तीनों वर्णों के लोगों को अब भी सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों को करने का पूर्ण अधिकार था और वे तीनों ही वेद का अध्ययन कर सकते थे। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का कार्य क्रमिक रूप से यह था कि वे वेद पढ़े पढ़ावें, युद्ध कार्य तथा राजकाज देखें, जानवर पालें और कृषि कार्य व व्यापार कार्य करें। उनके जीवन क्रम का यह आदर्श था कि ब्राह्मण भिक्षा द्वारा जीवन यापन करके अपने जीवन को परोपकार के कार्यों में लगावें, क्षत्रिय लोग सबको शान्ति व सुरक्षा प्रदान करे और वैश्य लोग सबका भरण पोषण। (विष्णु पुराण २) शूद्रों का आदर्श था कि वे सब की सेवा करें और अपना जीवन विभिन्न प्रकार के कला कौशल पूर्ण व्यापार से करें।

याज्ञवल्क्य ने बतलाया है कि विभिन्न वरणो के स्त्री पुरुषों के संयोग से

किस प्रकार नई-नई उपजातियों का निर्माण हुआ। उनके द्वारा गिनाई गई तेरह उपजातियों का विवरण इस प्रकार है :—

पिता	माता	के संयोग से जो उपजाति अस्तित्व में
ब्राह्मण	क्षत्रिय	मूर्धाभिषिक्त
"	वैश्य	अम्बष्ठ
"	शूद्र	निषाद या पारशव
क्षत्रिय	वैश्य	माहिष्य
"	शूद्र	उग्र
वैश्य	शूद्र	करन
क्षत्रिय	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	"	वैदेहक
शूद्र	"	चांडाल
वैश्य	क्षत्रिय	मागध
शूद्र	"	क्षत्री (क्षत्रिय नहीं)
"	वैस्य	आयोगव
माहिष्य	करन	रथकार

इस स्थल पर यह कहना आवश्यक ही है कि यही उपजातियाँ आज की व्यावसायिक जातियाँ हैं। यह दूसरी बात है कि बाहर से आयी हुई अन्य जातियों के संसर्ग से और भी अनेक जातियों का उद्भव सम्भव हो सका, भले ही उनकी गणना आर्यों में नहीं की गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य को इस प्रकार के सम्मिश्रणों का पता था क्योंकि उपरोक्त वर्गीकरण के तुरन्त बाद ही वे कहते हैं कि निम्न वर्गीय जातियां अपने कर्मानुसार पांचवें या सातवें युग (पीढ़ी) में उच्च वर्ग में स्थान पा सकती हैं।

इस प्रकार की मिश्रित उपजातियों से हमें व्यवसाय जनित उपजातियों के उद्भव का पता नहीं चलता। इस विषय का पता तो पुराणों के अध्ययन से ही चल सकता है।

मनुस्मृति में कायस्थों का कोई वर्णन नहीं मिलता, शायद इसलिये कि बौद्ध काल में यह आवश्यक नहीं था कि प्रत्येक न्यायालय में लिपिक (क्लर्क) लोग नियुक्त ही किये जायँ। कार्यालयों में भी प्रति लिपिकार आवश्यक नहीं थे। पौराणिक काल में लिपिकों एवं प्रतिलिपकारों की संख्या अत्यधिक एवं प्रभाव पूर्ण थी। न्यायालयों में न्यायाधीशों के साथ, में सरकारी प्रपत्रों को प्रमाणित करने के लिये

सम्पूर्ण विधि विधान का पालन करने कराने के लिये उनकी आवश्यकता होती थी। अब ऐसे लोगों को ऊँचे पद भी मिलने लगे थे। विशेष कर आर्थिक विषयों में, प्रजा पर कर लगाने में, राज्य का लेखा विभाग सँभालने में तथा वर्तमान के राजस्व मन्त्री की भारी जिम्मेदारियों को सँभालने के लिये उनकी आवश्यकता पड़ा करती थी। मृच्छकटिक में न्यायाधीश के लिपिक का वर्णन आया है। कल्हण ने काश्मीर में लगान वसूल करने वाले कायस्थों की चर्चा की है। ब्राह्मण लोग कायस्थों से रुष्ट रहा करते थे क्योंकि कर वसूल करने में वे किसीकी भी रियायत नहीं करते थे। कल्हण स्वयं भी कायस्थों की निन्दा करता है। चाहे इनका मूल जो भी हो, पौराणिक साहित्य में कायस्थों की गणना प्रभावशाली वर्ग में की गयी है। हो सकता है कि ये कायस्थ पहले के क्षत्रिय या वैश्य रहे हों, क्योंकि ब्राह्मण लोग उन दिनों ऐसे पदों को स्वीकार ही नहीं करते थे। मुस्लिम विजय के बाद कायस्थों की एक सर्वथा नवीन उपजाति ही बन गयी।

याज्ञवाल्क्य ने राजधर्म का विवरण करते हुये कहा है कि राजा को चाहिये कि वह चोरों, ठगों, लुटेरों से विशेष कर कायस्थों से प्रजा को सुरक्षा प्रदान करे। ऐसी दशा में कायस्थों को लगान वसूल करने वालों को ही अर्थ में ग्रहण करना अधिक उचित हो गया, क्योंकि आज भी लगान वसूल करने वाले प्रजा के प्रेमपात्र नहीं होते। याज्ञवल्क्य ने अपनी मिश्रित उपजातियों की सूची में भी कायस्थों का वर्णन नहीं किया है इन सब बातों से पता चलता है कि कायस्थ कार्य विशेष करने वालों का वर्ग था, न कि कोई भिन्न उपजाति।

विष्णु पुराण में राजकीय प्रपत्रों के तीन वर्ग बताये गये हैं (१) राजाद्वारा प्रमाणित (२) साक्षियों द्वारा प्रमाणित तथा (३) अप्रमाणित। लेखक का मत है कि वही प्रपत्र राजा द्वारा प्रमाणित माना जाता था जो राजा द्वारा नियुक्त कायस्थ के हाथों लिखा गया हो तथा उस पर स्वयं उसके हस्ताक्षर हों। इस स्थल पर भी कायस्थ एक पदमात्र प्रतीत होता है, न कि कोई उपजाति। डा० जोली ने कायस्थ शब्द को क्लर्क के अर्थ में ग्रहण किया है।

अब वैद्यों की स्थिति पर विचार करना है। पौराणिक धर्मशास्त्र इन्हें भी कायस्थों के समान ही निन्द्य मानता है। यदि याज्ञवल्क्य ने कायस्थों को चोरों, डाकुओं के वर्ग में रक्खा है तो वैद्यों को भी ठगों एवं वेश्याओं के समान अविश्वसनीय माना है। याज्ञवल्क्य ने उपजातियों की सुची में वैद्यों को भी नहीं रक्खा है, जिससे पता चलता है, कि वैद्य एक प्रकार के व्यवसायी थे न कि उपजाति। कुछ लोग वैद्यों को अम्बष्ठ रूप से ग्रहण करने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं। वशिष्ठ

अम्बष्ठों को ब्राह्मण क्षत्रिय का मिश्रित रक्त मानते हैं तथा मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार वे ब्राह्मण पिता और वैश्य माता की सन्तान हैं। आगे चल कर वशिष्ठ कहते हैं कि अम्बष्ठ लोग औषधिका व्यवसाय करते हैं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि आर्यों में तब तक औषधोपचार नहीं प्रारम्भ हुआ, जब तक एक ब्राह्मण युवक ने वैश्य कन्या के रूप पर मोहित हो उससे सन्तान नहीं उत्पन्न किया और अम्बष्ठों के अस्तित्व के पूर्व आर्यों को औषधि विज्ञान की जानकारी ही नहीं थी। सुविज्ञ पाठक बिना किसी हिचकिचाहट के यह मान लेंगे कि वैद्य लोग वैश्यों में से ही थे जिन्होंने औषधि विज्ञान को जीवन साधन बना लिया। यह भी हो सकता है कि राज्य भ्रष्ट राजवंशों ने भी इसी विज्ञान को जीवन-साधन बना लिया हो।

ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि अभी व्यावसयिक उपजातियां नहीं बनी थीं, परन्तु कुछ ऐसे व्यवसायों का उद्भव हो चुका था, जिन्हें अपनाने वाले श्रद्धेय नहीं माने जाते थे। वास्तव में बात ऐसी थी कि पुरोहित वर्ग का प्रभाव पौराणिक काल में इतना बढ़ गया था कि वे अपने सिवा अन्य सभी व्यवसायियों को नीचा समझने लगे थे। यह वास्तविकता न केवल मनु के धर्मशास्त्र से वरन् याज्ञवल्क्य के भी धर्मशास्त्र से प्रमाणित होती है। याज्ञवल्क्य ने तो कितने ही व्यवसाय करने वालों की स्पष्ट निन्दा की है। इनमें वैद्य, स्वर्णकार, लोहार बुनकर, शस्त्र निर्माता, तेली वर्ग के लोग चोरों एवं वेश्याओं की श्रेणी में गिने गये हैं। इस प्रकार पौराणिक काल की जाति व्यवस्था दुहरा लक्ष्य लेकर चलती है। प्रथम तो उसने आर्य जाति को वर्गों में विभाजित कर मनमुटाव पैदा किया और दूसरे इस व्यवस्था ने पुरोहितों को महान् बनाने के लिये सारी आर्य जाति को निम्नस्तर बना दिया।

———

तिरपनवां अध्याय

हिन्दू भवन निर्माण एवं मूर्तिकला

पिछले किसी अध्याय में बौद्धों की भवन निर्माण कला की चर्चा की गयी है। पांचवी शताब्दी के साथ ही बौद्धों की इस कला का अन्त हो जाता है तथा ५०० ई० के बाद उनकी इस कला का शायद ही कोई नमूना देखने में आता हो। इसके विपरीत हिन्दुओं की भवन निर्माण कला का आरम्भ इसी समय से होता है और वह मुस्लिम विजय के पश्चात् भी चालू रहती है। कला सम्बन्धी ये स्थायी तथ्य पत्थरों पर अंकित हैं जो बौद्ध कला एवम हिन्दू कला के समयों के बीच की विभाजन रेखा को प्रमाणित करते हैं।

उत्तर-भारतीय-शैली

हिन्दू देवालय निर्माण कला के प्रारभिक नमूने ५०० ई० के बाद से मिलने प्रारम्भ होते हैं। इनका सर्व शुद्ध रूप तथा इनकी सर्वाधिक संख्या उड़ीसा में प्राप्त है। यदि किसी छात्र ने उड़ीसा का भुवनेश्वर मन्दिर अध्ययन की दृष्टि से देखा है, तो इस कला का कितना भी विस्तृत वर्णन उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकेगा।

उत्तर-भारतीय शैली की कुछ विशेषतायें हैं, जो उत्तर भारत में विखरे शताधिक विशाल देवालयों को देखने मात्र से स्पष्ट हो जाती हैं। इन देवालयों के विमानों की वाह्य रेखायें वक्र होती हैं तथा विमान के शिखर पर आमलक के स्वरूप का कंगूरा होता है। बाहर से देखने पर यह पता नहीं चलता कि देवालय कितनी मंजिलों का है। इनमें स्तम्भों की भी व्यवस्था नहीं होती। डा० फर्ग्युसन का मत है कि आज के बनारस के मन्दिरों के विमानों की रचना ठीक उसी शैली की है,

जिसमें बारह शताब्दी पूर्व में उड़ीसा के मन्दिर बनाये गये थे। स्मरणीय है कि बनारस का कोई भी शिवालय सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है।

कहा जाता है कि भुवनेश्वर में कई सौ मन्दिरों का निर्माण किया गया था, जिनमें कुछ अब भी अवशिष्ट हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। इनमें मुख्यतम है भुवनेश्वर का मन्दिर, जो छः सौ सत्रह तथा छः सौ सत्तावन ईसवी के बीच बना था। इसका मूल भाग एक सौ साठ फीट लम्बा है। बारहवीं शताब्दी में इनमें नट मन्दिर तथा भोग मन्दिरों का निर्माण किया गया। मंदिर का अन्तरंग छाछठ फीट वर्ग का है। वाह्य भाग खुदाई के कामों से सज्जित है। प्रत्येक पत्थर पर कुछ न कुछ अवश्य ही खुदा हुआ है। अनुमान है कि मन्दिर के निर्माण का तिगुना व्यय केवल खुदाई के कामों पर हुआ होगा। वास्तविकता यह है कि उस समय के हिन्दू अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन शिवालय की विशालता से उतना नहीं करते थे, जितना श्रम एवम कौशल पूर्ण कर्मों से। उनका विचार उचित रहा हो अथवा नहीं, परन्तु इतना अवश्य है कि कोई भी दर्शक इसे 'सुन्दर' ही कहेगा।

कोणार्क का प्रख्यात काले पत्थरों का बना मन्दिर शायद बारह सौ इकतालीस ईसवी में बनाया गया था। परन्तु डा० फर्ग्युसन का मत है कि इसका निर्माण सन् ८५० या ८७३ ई० में किया गया। इसकी फर्श चालीस फीट वर्ग है, छत भीतर की ओर झुकते-झुकते बीस फीट तक जा पहुँचती है। वाह्य भाग पत्थर की खुदाई के कामों से पटा पड़ा है। इसके पश्चात् जगन्नाथ जी का मन्दिर आता है, जो वैष्णवों का मुख्य तीर्थस्थल है। इस मन्दिर का विमान केन्द्र के पास पचासी फीट है तथा एक सौ बानबे फीट ऊंचा है। सामने के बरामदे को मिलाकर मन्दिर की कुल लम्बाई एक सौ पचपन फीट होती है। इसमें यदि नट मन्दिर और भोग मन्दिर को भी मिला दिया जाय तो यह तीन सौ फीट लम्बा होगा जो भुवनेश्वर के बराबर होगा। वैष्णव मन्दिर को देखने मात्र से यह प्रमाणित हो जाता है कि इस काल में न केवल विस्तार में ही कमी आ गयी थी, बल्कि कला भी पतनोन्मुखी हो रही थी।

बुन्देल खण्ड का भूभाग प्राचीन मन्दिरों एवम् शिवालयों के हिसाब से उड़ीसा के बाद आता है। खजुराहो करीब तीस मन्दिरों का एक समूह है जिनमें सभी सन् ९५० तथा १०५० ई० के बीच के बने हैं। यह वही समय है जब अन्धकार युग के बाद राजपूतों का उद्भव प्रारम्भ हुआ था। इन मन्दिरों की शैली उड़ीसा की ही परिवर्तित शैली है। इसमें बड़े-बड़े विमान के चतुर्दिक कई छोटे-

छोटे विमान बने होते हैं। इनका आधार ऊँचा है। जिसके चतुर्दिक विभिन्न मूर्तियों से सज्जित तीन पंक्तियाँ बनी हैं। इस मन्दिर की ऊँचाई एक सौ सोलह फीट है अर्थात धरातल से इसकी ऊँचाई अट्ठासी फीट है। वाह्य भाग भी मूर्तियों से पूर्ण सुसज्जित है।

भोपाल में एक मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी का है। मालवा के एक राजा ने इसे सन् १०६० ई० में बनवाया था। इसका विमान चार सजे हुई भित्तियों से घिरा है तथा आमलक पर पच्चीकारी की गयी है। खुदाई का काम भी अति कुशल हाथों की खुदाई से सज्जित है।

इसके बाद राजपूताना का नम्बर आता है। कुम्भा की रानी द्वारा निर्मित मन्दिरों को हम चितौर के भग्नावशेषों में देख चुके हैं। महाराणा कुम्भा एक महान् विजेता थे। वे जैनी थे। उन्होंने साद्रि का जैन मन्दिर तथा चित्तौड़ का विजय स्तम्भ बनवाया था। उनकी स्त्री मीरा बाई एक सनातनी हिन्दू थी। उन्होंने भी दो मन्दिर बनवाये थे, जो अब भग्नावस्था में हैं। इनके विमानों तथा बरानदों की शैली उड़ीसा के अनुरूप है।

महाराष्ट्र प्रदेश में भी प्राचीन मन्दिरों के नमूने पाये जाते हैं, परन्तु न तो वे उड़ीसा के मन्दिरों के समान अलंकृत ही हैं और न इनकी संख्या ही उतनी अधिक हैं। इन मन्दिरों में द्राविड़ शैली का प्राधान्य सर्वथा स्पष्ट है। महाराष्ट्रीय लोग स्वयम् द्राविड़ों की सन्ताने हैं तथा आर्य जाति के सम्पर्क से उन्होंने उत्तर भारत की शैली भी अपनायी है। अतः इन मन्दिरों की शैली में द्राविड़ शैली तथा उत्तर भारतीय शैली का सम्मिश्रण है।

प्रश्न होता है कि जब मालवा, राजपूताना, भोपाल, बुंदेलखंड, उड़ीसा और यहाँ तक कि महाराष्ट्र में भी इन मन्दिरों के नमूने प्राप्य हैं तो क्या कारण है कि आर्यों के मुख्यतम् वासस्थान गङ्गा जमुना के बीच के भूभाग में ये मन्दिर नहीं पाये जाते? उत्तर भी स्पष्ट है। इस भूभाग को मुसलमानों ने जीता, मन्दिरों एवं शिवालयों को तोड़कर इनके पत्थरों से मसजिदें एवं मीनारें बनवायीं, जिसके कारण यहां के हिन्दुओं ने आगे भी देवालयों का निर्माण नहीं कराया। राजनैतिक रूप से जागृत जीवन के अभाव में कला की उन्नति वैसे भी असम्भव है। राजपूताना, मालवा इत्यादि स्थानों के हिन्दू तब तक स्वतन्त्र थे, इसीलिये यहां इन मन्दिरों का निर्माण सम्भव हो सका। इसीलिए उक्त भूभागों में प्राचीन मन्दिर भी पाये जाते हैं और नये मन्दिरों का भी निर्माण होता रहा।

मानसिंह ने वृन्दावन में जो एक विशाल एवं भव्य मन्दिर बनवाया था, वह

इसलिए सम्भव हो सका कि उस समय अकबर जैसा सहिष्णु बादशाह गद्दी पर था। कहा जाता है कि इस मन्दिर के ऊँचे कंगूरों ने औरंगजेब के मस्तिष्क में ईर्ष्या उत्पन्न की, इसीलिये यह मन्दिर तोड़वा डाला गया। बाद में बृटिश सरकार ने इसका जीर्णोद्धार करवा दिया था।

इसके बाद के समयों में भी देवालयों का निर्माण होता रहा, परन्तु उनमें मुस्लिम शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस मिश्रित शैली का दर्शन हमें बनारस के विश्वेश्वर के शिवालय में होता है। उड़ीसा शैली के विमान इन मन्दिरों में छोटे कर दिये गए हैं तथा केन्द्रीय विमानों के चारों ओर छोटे विमानों की एक बड़ी संख्या बनायी गयी है, तथा उड़ीसा के कोणीय रचनाओं के बदले इनमें बड़े गुम्बद मिलते हैं, जो मुस्लिम शैली की देन है। बंगाल में साधारण गृहस्थों के भवनों की शैली में ही मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। पत्थरों से बने देवालय बंगाल में दिखाई ही नहीं पड़ते। यहां के देवालय ईंटों के हैं, जिनकी छतें गृहस्थों के भवनों के ही समान दोनों ओर ढालुआ हैं। कुछ मन्दिरों की भित्तियों पर कलापूर्ण डिजाइनें बनी हैं। नुकीले मेहराब मुस्लिम शैली की देन हैं। तात्पर्य यह है कि बंगाल के शिवालयों की शैली उत्तर भारतीय शैली से सर्वथा भिन्न है।

जैनियों ने उत्तर भारतीय शैली में बने उड़ीसा के मन्दिरों का अनुकरण किया, परन्तु बाद में उन्होंने भी मुस्लिम गुम्बदों को अपना लिया। मन्दिरों का समूहीकरण जैसा जैनियों ने किया है, वैसा किसी भी मत के अनुयायियों ने नहीं किया। साधारण धनी गृहस्थ लोग पीढ़ी दर पीढ़ी मन्दिरों का निर्माण करते चले गये हैं। यद्यपि इनमें हिन्दू देवालयों की भव्यता नहीं है, फिर भी जैन मतानुयायियों के नगर में इनके मन्दिरों का आकर्षण कम नहीं है। गुजरात में बने हुये जैन मन्दिर प्रायः ग्यारहवीं शताब्दी के हैं। एक घाटी के दोनों किनारों की पहाड़ियों पर बने इन मन्दिरों का दृश्य अति भव्य हैं।

गिरनार भारतीय इतिहास का एक उज्जवल पृष्ठ है। यहां अशोक का भी शिलालेख है और शाह तथा गुप्त वंशीय राजाओं का भी। दसवीं शताब्दी से यहां जैन मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। इनमें से एक मन्दिर दो भाइयों अर्थात् तेज पाल तथा वास्तुपाल द्वारा बनवाया गया है। इन्होंने आबू का सुप्रख्यात जैन मन्दिर भी बनवाया था। गिरनार से थोड़ी ही दूर पर महमूद गजनवी द्वारा ध्वस्त सोमनाथ का भी मन्दिर है।

जैन मन्दिरों में सर्वाधिक गौरव प्राप्त है आबू के दो सुभव्य मन्दिरों को। ये दोनों ही मन्दिर सफेद पत्थर के बने हैं, जो अवश्य ही तीन सौ मील से लाया गया

होगा। इनमें से एक को मन्त्री बिमल शाह ने सन् १०३२ ई० में बनवाया तथा दूसरे को पाल बन्धुओं ने ११९७ तथा १२४७ के बीच बनवाया। इनके स्तम्भों पर एवं गुम्बद के भीतरी भाग पर खुदाई के सुन्दर काम हैं।

दक्षिण भारतीय शैली

अब हमें द्राविड़ शैली पर विचार करना है, जो उत्तर भारतीय शैली से स्पष्ट तया भिन्न है। विशेष कर कृष्णा नदी के दक्षिण के मन्दिर इसी शैली के हैं।

इन मन्दिरों में न तो बौद्ध शैली के दर्शन होते हैं और न उत्तर भारतीय शैली के। उड़ीसा के प्रारम्भिक देवालयों में भी बौद्ध प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। इन मन्दिरों की शैली का प्रारम्भ इन्हीं मन्दिरों से हुआ ऐसा मालूम होता है।

द्राविड़ शैली में बौद्ध शैली का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। द्राविड़ों के प्राचीन मन्दिर पहाड़ों को खोद कर बनाये गये हैं, जिनमें उनकी प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

एलोरा कृष्णा नदी से उत्तर की ओर काफी दूर पर है। इस स्थान के भवनों पर एवम देवालयों को देखकर यही कहना पड़ता है कि ये द्राविड़ शैली में है। कैलाश मन्दिर ८वीं या ९वीं शताब्दी में बनाया गया। ऐसा सोचा जाता है कि चालुक्यों के पतनकाल में चोलों का राज्य विस्तार इस स्थान तक रहा होगा क्योंकि अन्य दशा में कृष्णा नदी के उत्तर में इतनी दूर द्राविड़ शैली के दर्शन कैसे होते। दो सौ सत्तर फीट लम्बा एवम एक सौ फीट चौड़ा गढ़ा खोद कर बनाया गया है, जिसके केन्द्र भाग में यह मन्दिर है, जिसका विमान अस्सी से नब्बे फीट तक ऊंचा है। इसके चतुर्दिक सोलह स्तम्भों पर आधारित वरामदा है तथा आगे बढ़कर इसका गोपुर एवम मुख्य द्वार हैं। इसकी रचना अन्य मन्दिरों की सी ही है, परन्तु इसकी विचित्रता इस बात में है कि यह समूचा देवालय खोदकर बनाया गया है न कि जोड़ कर। इसकी दृढ़ता, विशालता एवम भव्यता सभी मनोहारी हैं। चतुर्दिक बनी हुई कोठरियाँ बौद्धों की अनुकृति हैं। इन सात कोठरियों में प्रत्येक में एक एक हिन्दू देवताओं की मूर्तियां हैं, इससे प्रतीत होता है कि जैसे बौद्ध शैली में से हिन्दू शैली निकली आ रही हो।

जब हम अपना ध्यान दक्षिण में खोदे गये मन्दिरों की ओर आकर्षित करते हैं तो पता चलता है कि ये मन्दिर अत्यधिक प्राचीन नहीं हो सकते। यहाँ की सारी स्थापत्य कला मुसलमानों द्वारा विजित किये जाने के बाद की ही प्रतीत होती है और ये निर्माण उस समय भी शायद चल रहे थे, जब कर्णाटक में अंग्रेज तथा

फ्रांसीसी शक्ति-प्राप्ति के संघर्षों में उलझे हुये थे। इन मन्दिरों में तंजोर के पगोडा का स्थान सर्व प्रमुख है, जो किसी भी प्रकार चौदहवीं शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता और ऐसा माना जाता है कि इसे कांजीवरम के राजा ने बनवाया होगा। इसका लम्बाकार आधार दो मंजिलों का हैं, जिसके ऊपर बनाया गया मन्दिर मिश्र के पिरामिडों का सा दिखाई पड़ता है, जो तेरह मंजिल ऊंचा होकर आकाश से बातें करता प्रतीत होता है। इसका शिखर गुम्बदनुमा है तथा कहा जाता है कि यह एक ही पत्थर का है। इस मन्दिर की कुल ऊंचाई एक सौ नब्बे फीट है तथा इस मन्दिर का वैभव एवम सौन्दर्य प्रभावकारी हैं। यद्यपि इसकी रचना खुदे हुये मन्दिरों की रचना से भिन्न है तब भी दोनों ही की शैली एक है, अर्थात् दोनों ही द्राविड़ शैली में बनाये गये हैं।

सर्वाधिक आदरणीय एवम प्राचीन मन्दिर है चिल्लाम्बरम् का जो सागर तट पर कावेरी के मुहाने से थोड़ी दूर पर उत्तर की ओर है। इस मन्दिर का प्रारम्भ अवश्य ही ग्यारहवीं शती का है, परन्तु इसका अधिकांश भाग पन्द्रवीं सोलहवीं एवम सत्रहवीं शताब्दी में बनाया गया है। इन शतियों में इस मन्दिर के गोपुर बने, मुख्य द्वार बना, पार्वती का मन्दिर बना तथा एक सहस्त्र स्तम्भों का एक विशाल कक्ष बना। पार्वती मन्दिर का बरामदा अति भव्य है तथा कक्ष का प्रत्येक स्तम्भ एक ही पत्थर का बना है जिस पर सुन्दर खुदाई का काम किया गया है।

तंजोर के समीप श्रीरंगम् में एक प्राचीन भव्य मन्दिर है, जो अठारहवीं शती की एक अति सुन्दर कृति है और जिसकी निर्माण प्रगति उस संघर्ष के कारण रुक गयी जो त्रिचनापल्ली में शक्ति-प्राप्ति के लिये अंग्रेजों एवम फ्रांसीसियों के बीच निरन्तर दस वर्षों तक चलता रहा था। इसमें एक के बाद एक जो चौदह या पन्द्रह फाटक बने हैं वे दूर से देखने पर बड़े ही चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं। इसके केन्द्रस्थ भाग में जो मन्दिर है, वह शेष भाग के समान ही ऊंचा है। यह बात प्रायः दक्षिण के सभी मन्दिरों में दिखाई पड़ती है।

मदूरा में भी एक सुन्दर मन्दिर है जो सोलहवीं शती में प्रारम्भ किया गया था और सत्रहवीं शताब्दी में त्रिमुल्ल नायक द्वारा सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ। यह मन्दिर आठ सौ चालीस फीट लम्बा तथा ७२० फीट चौड़ा है, जिसमें नौ गोपुर तथा सहस्त्र स्तम्भों का एक विशाल कक्ष है। इस विशाल मन्दिर का प्रत्येक भाग अपनी सुन्दरता में इस श्रेणी के सभी मन्दिरों से बढ़कर है।

लंका को भारत से मिलाने वाले अनेक द्वीपों में से एक पर रामेश्वरम् का सुप्रख्यात मन्दिर है, जिसमें द्राविड़ शैली अपने शिखर पर पहुँची हुई प्रतीत होती

है। इसका भी विमान अधिक ऊंचा नहीं है। इसका निर्माण शायद सत्रहवीं शती में किया गया था। इसके चतुर्दिक आठ सौ अड़सठ फीट लम्बी तथा छः सौ बहत्तर फीट चौड़ी एक दीवाल का घेरा है और सर्वत्र बीस फीट लम्बे गलियारे हैं, जिनकी चौड़ाई बीस से तीस फीट तक है तथा ऊंचाई सर्वत्र तीस फीट है। मि० फर्ग्युसन के अनुसार स्वयम उनके देश में इस प्रकार की कृति एक भी नहीं है।

कांजीवरम या कांची में भी अनेक मन्दिर हैं जो अपनी निर्माण कला में इधर के किसी भी मन्दिर से टक्कर ले सकते हैं तथा इनकी विशालता भी कम नहीं है। इन मन्दिरों में अनेक मन्दिर अति विशाल हैं, जिनमें अनेक गोपुर विशाल कक्ष तथा सीढ़ियों सहित तालाब बने हुये हैं।

हमारे पाठकों को स्मरण होगा कि दक्षिण का विजयनगर राज्य अन्तिम हिन्दू साम्राज्य था जो अपनी स्वतंत्रता दो सौ वर्षों तक कायम रख सका था। यहाँ जिस प्रकार विद्या की उन्नति हुई थी, उसी प्रकार कला की भी उन्नति हुई और समूचे भारत में शायद ही कोई ऐसा नगर हो जहाँ प्राचीन वैभव के इतने अधिक भग्नावशेष पाये जा सकें, जितने विजय नगर में मिलते हैं।

विटोपा का मन्दिर अपनी कलापूर्ण सजावट तथा विशालता में अद्वितीय है तथा कितने ही अन्य मन्दिरों के भग्नावशेष विजयनगर के राजाओं की यशगाथा गा रहे हैं। इन राजाओं की सभी कृतियाँ नगर तक ही सीमित नहीं हैं। विजय नगर के सौ मील दक्षिण पूर्व में तरपुत्री नाम का स्थान में इन राजाओं द्वारा निर्मित अनेक देवालय हैं। एक भग्न मंदिर के दो गोपुर अब भी अच्छी दशा में हैं। उनमें से एक तो सम्पूर्ण है तथा दूसरे के केवल स्तम्भमात्र ही बन पाये थे। मि० फर्ग्युसन के अनुसार द्रविड़ शैली में इनका जोड़ मिलना कठिन है।

अब यदि दक्षिण में जैन मन्दिरों को देखा जाय तो पता चलता है कि धीरे धीरे वे भी द्रविड़ शैली को उसी प्रकार अपना रहे थे। जैसे उड़ीसा के जैन मन्दिरों में उत्तर भारतीय शैली अपनाई गयी थी। चन्द्रगिरि पहाड़ी पर जैनों के पन्द्रह मन्दिरों का एक समूह है। इन सभी में सामने ही एक सभा भवन है जिसके पीछे मुख्य मन्दिर है, जिसमें उनके तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित की गयी है। इन मंदिरों के अतिरिक्त जैनियों ने स्थान-स्थान पर तीर्थंकरों की प्रतिमायें स्थापित की हैं, जो उत्तर भारत में कहीं भी नहीं दिखाई पड़तीं। लोगों के कथनानुसार वे बुद्ध राजा की प्रतिमायें है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि इन लोगों के मस्तिष्क में गौतम के राजा होने की एक अस्पष्ट कल्पना है, जिसके अनुसार ये प्रतिमायें बनायी गयी हैं। इन्हीं प्रतिमाओं में से एक ने आर्थर वेलेसली का ध्यान उस समय आकर्षित किया

था, जब वह श्रीरंगपट्टम् घेरे के लिये सेनापति होकर जा रहा था। इस प्रतिमा की ऊँचाई सत्तर फीट तीन इंच थी, जो एक समूची पहाड़ी को काटकर बनायी गयी थी। मि० फर्ग्युसन के अनुसार 'मिश्र के सिवा इतना अधिक शानदार प्रतिमा कहीं देखने को नहीं मिल सकती यद्यपि मिश्र की भी कोई प्रतिमा इतनी अधिक ऊँची नहीं है।"

दक्षिण शैली

पिछली पंक्तियों में हम भवन-निर्माण कला की दो शैलियों का विवरण दे चुके हैं। उनमें उसमें उत्तर भारतीय शैली का प्रचार विंध्याचल के उत्तरस्थ भूभाग में था तथा द्रविड़ शैली का प्रचार कृष्ण नदी के दक्षिण में अवस्थित भूभाग में था। एक तृतीय शैली भी है, जिसे डा० फर्ग्युसन चल्लुक्य शैली कहते हैं जो विंध्याचल के दक्षिण तथा कृष्ण नदी के उत्तर वाले भूभाग में प्रचलित थी। इसी प्रदेश को हम दक्षिण कहते हैं। एक तो इस भूभाग में निरन्तर कई शताब्दियों तक मुसलमानों का आधिपत्य रहा और दूसरे निजाम शासित हैदराबाद भूभाग का आज तक पूर्ण अध्ययन नहीं किया गया। इसीलिये यह कहना पड़ता है कि शायद ही इस प्रदेश में हिन्दू भवन निर्माण कला का कोई अवशेष दिखाई पड़े। अलबत्ता मैसूर प्रदेश में दो एक नमूने अवश्य बँचे हैं। यह प्रान्त यद्यपि कृष्ण के दक्षिण में है, फिर भी उक्त देवालयों में चालुक्य शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

इस शैली की विशेषता यह है कि इन मन्दिरों का आधार बहुभुज होता है या सितारों के आकार का। भित्तियां कुछ दूर तक सीधी जाकर पिरामिडों की भांति भीतर की ओर झुक कर एक विन्दु पर पिरामिडों की भांति मिल जाती हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि मैसूर तथा कर्नाटक प्रदेश में सन् १००० से १३१० ई० तक बल्लालों का राज्य रहा। सोमनाथपुरम का मन्दिर वीणादित्य वल्लाल ने बनवाया। इस मन्दिर की ऊँचाई केवल तीस फीट है, परन्तु इसकी महत्ता इसका प्रभाव एवम् सौन्दर्य-पूर्ण शैली में है; न कि आकार में। दूसरा मन्दिर सन् १११४ ई० में वैलूर में विष्णु वर्द्धन ने बनवाया। इसमें मुख्य मन्दिर के चारों ओर चार पांच मन्दिर और बने हैं तथा कितने ही सहायक भवन बने हैं। यह समूचा समूह एक ऊँची भित्ति से घिरा है, जिसमें दो गोपुर हैं। इसमें अट्ठाईस खिड़कियां हैं, जो बड़े ही कलापूर्ण ढंग से बनायी गयी हैं। डा० फर्ग्युसन के अनुसार 'यदि इस मन्दिर का विस्तृत एवम्

पूर्ण विवरण देना सम्भव होता तो लोगों की समझ में यह बात सरलता से आ जाती कि भारतीय कारीगरों का कौशल किस सीमा तक आगे बढ़ा हुआ था।' इसी प्रकार हलविद के दोहरे मन्दिर के बारे में डा. साहब का मत है कि यह दोहरा मन्दिर तैयार हो गया होता तो हिन्दू कला को प्रचार की आवश्यकता ही न रह जाती। दुर्भाग्य वश सन् १३१० ई० में यह प्रदेश मुसलमानों के अधिकार में चला गया, जिसके कारण इस छियासी वर्ष से निरन्तर बनते रहने वाले मन्दिर का कार्य बीच में ही रुक गया। इस प्रकार की अंकन कला भारतीयों की ही धरोहर है। उपरोक्त लेखक आगे चल कर कहता है कि यदि मन्दिर कलापूर्ण कृतियों से सुसज्जित न किया गया तो उसे हिन्दू मन्दिर की संज्ञा देना ही अनुचित कार्य होगा।

इस प्रसंग को सम्पूर्णता से देने के लिये हम एक बार फिर डा० फर्ग्युसन का सहारा लेंगे। "यदि यह सम्भव होता है कि हम इस मन्दिर को शब्दों में बांध सकते तथा उसकी एक एक रचना को शब्दों का रूप दे पाते तो पाठकों की समझ में यह बात सरलता से आ जाती कि इस विवरण की तुलना एथेंस के पार्थेनन से करना कहाँ तक उचित है। यह बात नहीं है कि इन दोनों भवनों में साम्य है, इसके विपरीत तथ्य है कि इन दोनों में उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव का अंतर है। इनमें से एक यदि प्रथम अक्षर है तो दूसरा अन्तिम। दोनों कृतियां दो छोर पर हैं और इन्हीं के बीच सम्पूर्ण संसार की भवन निर्माण कला समाई हुई है।"

उपरोक्त विचारपूर्ण एवम् दार्शनिकता पूर्ण विवरण भारतीय इतिहास में रुचि रखने वाले छात्रों के लिये अवश्य प्रेरणा-प्रद होंगे। हमको यह सोचना पड़ेगा कि फर्ग्युसन ने ऐसा क्यों कहा कि भारतीय भवन निर्माण कला में सर्वत्र ही शुद्ध प्रतिभा का अभाव दृष्टिगोचर होता है। यह प्रश्न उठता है कि इस कला में एक ही कलाकृति में कल्पना तथा शुद्ध अनुभूति को मिश्रित क्यों किया गया। इनकी भित्तियों पर जीवित प्राणियों की मूर्तियों को उरेहने की इतनी उद्दाम प्रवृत्ति का दर्शन सर्वत्र ही क्यों होता है। इन धार्मिक कृतियों की भित्तियाँ जनसाधारण के दैनन्दिनीय कार्यों व्यापारों, भावनाओं, युद्धों, विजयों यहाँ तक कि पापों एवम् वासनाओं को भी अंकित करने का क्या तात्पर्य था।

प्रथम 'प्रश्न' का उत्तर देना तो सरल है। कपिल तथा कालिदास के देश में शुद्ध प्रतिभा का अभाव तो हो ही नहीं सकता, परन्तु देश का दुर्भाग्य था कि भारत में

शारीरिक श्रम के कार्यों को कभी भी इतना महत्व नहीं दिया जा सका कि प्रतिभावान् लोग इस क्षेत्र में आते। आगे चल कर जब वर्ण-व्यवस्था सुदृढ़ता को प्राप्त हो गयी तो यह एक प्रकार का विधान ही हो गया कि ऊँचे वर्ण के लोगों को शारीरिक श्रम का काम न करना चाहिये। ऐसी दशा में यह असम्भव था कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जैसे उच्चवर्णीय विचारक भवन निर्माण एवम् मूर्ति निर्माण के कामों में लगते। इस लिये भारत की सम्पूर्ण प्रतिभा इस क्षेत्र से अलग ही रह गयी। उन भारतीय वर्गों में जो यह सब काम करते थे उनमें सज्जा की कोमल एवम् प्रबल भावना का पूर्ण विकास हुआ था, जिसका दर्शन हमें मन्दिरों में मिलता है। इन कार्यों में जिस अनुपम कौशल का प्रयोग हुआ है वह भारत की वर्ण-व्यवस्था में ही सम्भव है अन्यत्र नहीं। श्रम की कितनी भी मात्रा उसके लिये अधिक न थी और डिजाइन की कोई भी बारीकी उनके हाथों को असाध्य नहीं लगती थी। ये कुशल व्यक्ति प्रारम्भ में भी कारीगर रहे और अन्त में भी कारीगर ही रहे। हिन्दू राजा बने और बिगड़ गये, फिर भी उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। पीढ़ी दर पीढ़ी अपरिवर्तित स्थिति में ही रह कर वे पत्थरों में प्राण-संचार करते रहे, जहाँ भी हाथ लगा, पत्थर का हीरा बन गया, परन्तु कारीगर बेचारे कारीगर ही रह गये। पत्थरों में जान डाल देने वाले खुद निर्जीव ही बने रह गये। जिन कृतियों के लिये भारत प्रशंसा का पात्र है हमें स्मरण रखना चाहिये कि उनके लिने न हम राजाओं के आभारी हो सकते हैं और न पुरोहितों के। हमें आभार मानना पड़ेगा, उनका जिन्होंने अपने खून को पसीना बना कर इन पत्थरों को अमर कर दिया है। इन कृतियों में न तो प्रतिभा लगी है और न रचनात्मक मस्तिष्क। इन्हें तो हाथों ने बनाया है, जो सदियों से एक ही काम करते-करते अत्य-धिक कुशल बन गये थे। जो प्रतिभा रोम एवम् ग्रीस के संगमर्मर को मिली, उस प्रतिभा का भारतीय कृतियों में सर्वथा अभाव है। भारत में न तो फीदियस ही हो सकता था और न माइकेल एन्जेलो ही।

दूसरे प्रश्न के उत्तर के लिये हमें अन्य कारणों की खोज करनी पड़ेगी और अवश्य ही वे कारण गम्भीर होंगे। केवल ग्रीस के मन्दिरों में ही नहीं बल्कि इंग्लैंड के चर्चों में भी यह प्रवृत्ति मध्यकाल में भी पायी गयी और आधुनिक काल में भी कि धार्मिक प्रतिष्ठानों एवम् स्थानों को केवल धार्मिक सज्जा से ही अधिक सुन्दर बनाया जाय। प्रोटेस्टैन्ट लोगों के चर्चों की खिड़कियों पर केवल ईसामसीह के तथा उनके अनुयायी सन्तों के ही जीवन वृत्त रंगे हुये देखे जा सकते हैं। कैथोलिक ईसाइयों के गिर्जों में भी कुमारी मरियम एवम् उनके बच्चे की संगमर्मर की प्रतिमायें बनायी जा

सकती हैं। इसके विपरीत मन्दिरों की अपरिमित भित्तियों पर असंख्य मूर्तियाँ खोद-कर बनायी गयी हैं। जिनमें न केवल देवी देवताओं की ही मूर्तियाँ हैं वरन् सारा ब्रह्मांड ही हथौड़ों की चोट में उभर आया है। इस अखिल ब्रह्मांड में जो कुछ भी हो वास्तविक और कल्पनीय है। भारतीय कारीगरों ने सभी पर सफलता पूर्वक अपनी छेनी चलाया है। इनमें अपने दैनन्दिन कार्य व्यापार में लगी जनता भी है, उनके युद्ध भी हैं और उनकी विजय स्मृतियाँ एवम् जुलूस भी। भारतीय कारीगरों की अजश्र श्रमधारा ने गन्धर्वों, अप्सराओं, नर्तकियों, अश्वों, गजों, सिंहों तथा लताओं और तरुओं को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। उन्होंने जो कुछ देखा, सुना, अनुभव एवम् कल्पना किया, सब उनकी छेनियों के माध्यम से पत्थरों पर अंकित होता गया।

हिन्दुओं के लिये इस समस्या का समाधान और ही है। योरप में धर्म का आदर्श भगवान् की महत्ता, ईसा के उपदेश, चर्चों में धर्मोपदेश एवम् धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। हिन्दुओं का एक-एक तुच्छातितुच्छ कार्य भी धर्म से सम्बन्धित है। केवल नैतिक कार्य ही नहीं बल्कि सामाजिक एवम् गृहस्थ जीवन के सभी नियम धर्म के ही अंश हैं। उनका भोजन, पान अन्य बन्धुओं एवम प्राणियों की समूची व्यवहार पद्धति धर्मनिर्देशित है; योद्धाओं का युद्ध, नर्तकी का नृत्य, वैश्य का व्यापार, ब्राह्मण का विवेक एवम् किसान की कृषि सभी धार्मिक व्यवस्था के ही अंश हैं। हिन्दुओं की ब्रह्म-कल्पना ही समग्र सृष्टि को एक कर देती हैं, 'सब वहीं से आये हैं, सब वहीं जायँगे' की भावना प्रत्येक वस्तु में अपनत्व स्थापित करने की प्रेरणा देती है। जैसा धर्मशास्त्रों में हमें समझाया गया है, धर्म शब्द रिलीजन या मजहब का समानार्थी नहीं है। धर्म शब्द का अर्थ अति व्यापक है, इतना अधिक कि समूचा मानव-कर्तव्य, मानव जीवन, उसके व्यवसाय, उसकी प्रवृति तथा उसके सभी नैत्यिक कर्म उस व्यापकता में समाहित हो जाते हैं। धर्म ही उनके अध्ययन की व्यवस्था देता है, उनके वाणिज्य व्यवसाय को निर्धारित करता है यहाँ तक कि उनके खानपान एवम् मनोरंजन के नियमों का भी निर्देश करता है। धर्म ही हमारे सामान्य प्रशासन तथा अपराध के दंड की व्यवस्था देता है, वही उत्तराधिकार के नियम निर्धारित करता है, वही मानव, दानव, पशु एवं वनस्पति जगत का भी नियन्तरा है। इतना व्यापक है हमारा 'धर्म' शब्द कि वह निर्जीव पदार्थों के लिये भी व्यवस्था देता है। आग का धर्म है जलाना, पेड़ों का धर्म है बढ़ कर छाया प्रदान करना तथा पानी का धर्म है नीचे धरातल की ओर बहना। यद्यपि आज का हिन्दू कारण विशेष से अपने धर्म से दूर जा पड़ा है फिर भी उसका प्रत्येक काम धर्म से नियंत्रित होता रहता है। हिन्दुओं का धर्म उनके गृहस्थ, सामा-

जिक, राजनैतिक राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को नियंत्रित किये हुये हैं अतः धर्मनिरपेक्षता की बात हिन्दुओं के समक्ष में आही नहीं सकती, आनी भी नहीं चाहिये। उसके लिये धर्म की व्यापकता ही उसकी सुविधा भी है और बाधा भी और इन्हीं सुविधा बाधा के बीच वह न जाने कब से जीवित चला आ रहा है।

हिन्दुओं की धार्मिक भावना इतनी समर्पणमय है और इसी भावना को चित्रित करने का सफल प्रयास इन पत्थरों पर किया गया है। मन्दिरों के पवित्रतापूर्ण वातावरण में कुछ भी परिहार्य नहीं समझा जा सका, यहाँ तक कि दैनिक पारिश्रमिक पर काम करने वाले श्रमिकों का व्यवसाय भी इन लोगों ने इस योग्य समझा कि उसे भी इन भित्तियों पर स्थान दिया जाय। चिन्ता दुख, शोक, वासना यहाँ तक कि पाप को भी नंगा करके रख दिया गया है। सारी सृष्टि हो उसी देव से निःसृत है, जिसकी मूर्ति इस मन्दिर में प्रतिष्ठित है और जहाँ तक उनका श्रम व कौशल उन्हें ले जा सका, वे वहाँ तक चलते गये हैं और समग्र सृष्टि को ही इन देवालय की भित्तियों पर खोद दिया है। गौरव पूर्ण तथा तुच्छ, नियंत्रित एवम् अनियंत्रित, चर या अचर जो कुछ भी परमात्मा ने बनाया है और जो कुछ भी सोचने, समझने, विश्वास करने, अनुभव, व कल्पना करने का अवसर दिया है, वह सब का सब भारतीय कारीगरों ने अपने निरन्तर श्रम, उद्योग व अध्यवसाय की सहायता से इन कठोर पत्थरों पर अमर कर दिया है और इस अमरता का पूरा श्रेय उनकी श्रद्धा व विश्वास को है।

चौवनवाँ अध्याय

ज्योतिष, बीजगणित तथा अंकगणित

कोलब्रुक पहला योरोपियन लेखक है, जिसने हिन्दू अंक तथा बीजगणित और ज्योतिषशास्त्र की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया और हम यह कह सकने की स्थिति में है कि आजतक किसी भी ऐसे निष्पक्ष तथा सावधान लेखक ने इस विषय पर लेखनी नहीं उठाया, जिसकी तुलना कोलब्रुक की सावधानी एवम् निष्पक्षता से की जा सके, यद्यपि इस विषय पर अब तक अनेक बार तर्क वितर्क हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम इस विषय की चर्चा करते समय कोलब्रुक की उस कृति से उद्धरण

दें, तो शायद अनुचित न होगा, जो आज से प्रायः एक सौ चालीस वर्ष पूर्व हिन्दी बीजगणित पर प्रस्तुत की गयी थी।

'जिन दिनों ग्रीस में विज्ञान का क ख ग पढ़ाया जा रहा था, उसके बाद ही भारतीयों ने विज्ञान में महत्वपूर्ण प्रगति कर लिया था। हिन्दुओं को गणित के शुद्ध अंकों की सुविधा प्राप्त थी तथा यूनानियों को खराब किस्म के अंकों की असुविधा का सामना करना पड़ रहा था। चूंकि बीजगणित के अंक का गणित से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः जहाँ अंकगणित में अच्छी प्रगति हो गयी हो, वहाँ बीजगणित में प्रगति करने की अधिक सुविधा होती है। ऐसी कोई सूचना नहीं मिलती जो यह बता सकती कि गणित की यह दोहरी प्रणाली कैसे विकसित हुई। वैसे इन दोनों शाखाओं के स्वतंत्र विकास की सम्भावना है।

'यदि यह मान भी लिया जाय कि बीजगणित का प्रथम बीज यूनान से भारत में आया तो यह भी साथ ही मानना पड़ेगा कि वह बीज भारत में आते ही यहाँ की उपजाऊ मिट्टी में तुरन्त ही अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवम् फलित हो गया। अब चाहे यह माने कि वह बीज सीधे सिकन्दरिया से भारत के गणितज्ञों के पास पहुँचा या वैक्ट्रिया होकर तब भारत में आया।'

यदि इस भारतीय नक्षत्र-शास्त्र पर कोलब्रुक का वर्णन पढ़ें, तो उचित ही होगा। "भारतीयों ने समय निर्धारण के लिये जितनी प्रगति की आवश्यकता होती है, ज्योतिष में उतनी प्रगति बहुत पहले ही कर ली थी। उनके धार्मिक एवम् सामान्य समय विभाजन यदि पूर्णतया नहीं तो मुख्यतया सूर्य और चन्द्रमा की गति पर अवलम्बित थे। वे निरन्तर निरीक्षण द्वारा चन्द्रमा की पारम्परिक गति को समझ चुके थे तथा उनकी गणना यूनानियों की गणना से अधिक ठीक थी। इन लोगों ने चन्द्रमा के भ्रमण-पथ को सत्ताइस या अट्ठाइस भागों में विभाजित किया, अर्थात् उन लोगों ने अपने सतत् निरीक्षण द्वारा यह ज्ञात कर लिया था कि चन्द्रमा का एक चक्कर सत्ताईस या अट्ठाईस दिनों में पूरा होता है। यह ज्ञान भारतीयों का निजी ज्ञान था और यहीं से अरब के लोगों ने सीखा। इस ज्ञान-प्राप्ति ने उन्हें और भी निरीक्षण करने की प्रेरणा दी। उन्होंने रात में स्थिर तारों का अध्ययन करके सूर्योदय काल का ज्ञान प्राप्त किया, अर्थात् किसी निश्चित तारे को देख कर तथा उसकी स्थिति का अनुमान करके वे जानने लगे थे कि सूर्योदय काल समीप है अथवा दूर। वेदों में सूर्य की स्तुति के साथ अन्य ग्रहों की स्तुति है और धार्मिक भावना से ओतप्रोत होकर उन लोगों ने

गगनस्थित तारागण का निरीक्षण एवम् अध्ययन प्रारम्भ किया था। शुक्र का भ्रमण काल भी भारतीयों की ही देन है।"

यह सत्य होते हुये भी कि भारतीय ज्योतिष वेदों के इतना ही प्राचीन है, हमको यह मानना पड़ेगा कि ईसा की शताब्दियों में इस विज्ञान की अधिकांश बातें यूनानियों की देन हैं। पिछले भाग में हम बता चुके हैं कि बौद्ध लोगों के 'सिद्धान्त' के लिये वे यूनानियों के आभारी थे।

उदाहरण के लिये हिन्दुओं ने जो दृश्य आकाश को बारह भागों में बाँट रक्खा है, वह यूनान की देन है, क्योंकि इन द्वादश राशियों के नाम तथा उनके प्रतीक एकदम से वही है, जो यूनानियों के। इस स्थिति में हम कह सकते हैं कि यद्यपि हिन्दुओं का ज्योतिष का आदि ज्ञान निजी है, परन्तु ईसा काल में वे यूनानियों से तत्सम्बन्धी सूचाओं को लेने लगे थे।

ज्योतिष तथा बीजगणित पर कुछ लिखने वाले आर्यभट्ट प्रथम भारतीय थे। स्वयम् अपने ही अनुसार उनका जन्म ४७६ ई० में हुआ था। उन्होंने आर्यभट्टीय नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें गीतिकापाद, गणितापाद, कालक्रिया पाद तथा गोलपाद नामक चार खंड हैं। डा० कर्ण ने इन्हें प्रकाशित किया है। इस कृति में पृथ्वी का अपनी कीली पर घूमने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है तथा यह भी बताया गया है कि सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण क्यों और कैसे होते हैं। आर्यभट्ट का कहना है कि जिस प्रकार एक जहाज में चलते हुये यात्री को जहाज के बाहर की अन्य वस्तुयें विपरीत दिशा में चलित प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार हमें लेकर चलती हुई पृथ्वी के कारण खगोल के सभी तारा और ग्रह पूर्व से पश्चिम को जाते देख पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यभट्ट का यह सूर्य ग्रहण एवम् चन्द्र ग्रहण का सिद्धान्त उनके ही समय में सर्वसाधारण में ज्ञात हो चुका था, क्योंकि स्वयम् कालिदास ने इस सिद्धान्त का उपयोग अपना एक उपमा में किया है। रघुवंश में उन्होंने लिखा है कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की जो छाया पड़ जाती है, उसी को लोग निष्कलंक मानते है। अपने गोलपाद में आर्यभट्ट ने बारह राशियों का नाम दिया है।

आर्यभट्ट का जन्म पाटलिपुत्र में हुआ था, जहाँ अशोक महान् की राजधानी थी तथा उनका लेख छठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल का है। उस समय उत्तर भारत में विद्या का पुनर्जन्म उज्जैन से प्रारम्भ हुआ, वह धीरे धीरे समस्त देश में फैल गया यद्यपि इसका पूर्ण श्रेय उज्जयिनी तथा विक्रमादित्य को ही है।

ज्योतिष विद्या में आर्यभट्ट के उत्तराधिकारी हुये बाराहमिहिर जो अवन्ती के ज्योतिषी आदित्य दास के पुत्र थे। डा० हन्टर तथा अलबरूनी ने उज्जयिनी के विद्वानों की जो सूची प्रकाशित की है, उसमें बाराहमिहिर का काल ५०५ ई० माना है। हम भी पहले कह चुके हैं कि बाराहमिहिर विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे। डा० भाऊ दाजी ने यह निश्चित कर दिया है कि आर्यभट्ट की मृत्यु सन् ५८७ ई० में हुई।

बाराहमिहिर ने अपनी पंचसिद्धान्तिका में पांच प्राचीन सिद्धान्तों का वर्णन किया है, जिन्हें हम पिछले भाग में देख चुके हैं। उन्होंने बृहत् बाराही संहिता भी लिखा है, जिसका प्रकाशन डा० कर्ण ने किया है। इसमें एक सौ छः अध्याय हैं, जिनमें विविध विषय वर्णित हैं। प्रथम बीस अध्यायों में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा ग्रहों का वर्णन है। इक्कीस से उनतालीस अध्यायों में वर्षा, वायु, भूकम्प तारे, इन्द्रधनुष, बिजली इत्यादि का वर्णन है। चालीस, इकतालीस एवम् बयालीसवें अध्यायों में पौधों एवम् बनस्पतियों का विवरण है, तैंतालीसवें से साठवें अध्यायों में भविष्य-वाणियाँ, भवननिर्माण, बागवानी, मन्दिर इत्यादि का वर्णन है। इकसठ से अठहत्तर तक विविध पशु पुरुष एवम् स्त्रियों का वर्णन किया गया है। उन्यासी से पचासी तक रत्नादि तथा कक्ष सज्जा का वर्णन है, छियासी से छियानबे तक विविध शकुनों का विवरण है तथा सत्तानवे से एक सौ छः तक विभिन्न विषय जैसे विवाहों, राशिचक्रों इत्यादि का वर्णन है।

उपरोक्त विषय गणना से यह प्रतीत होता है कि यह एक महान् कृति है। न केवल अपनी ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान के लिये ही यह ग्रंथ महान् है वरन् इस कृति में जो साधारण सूचनायें दी गयी हैं, वे इतिहासकारों के लिये अमूल्य हैं। अध्याय चौदह में पूरे भारत के भूगोल का वर्णन है जिसमें अधिकांश सूबों तथा प्रदेशों के नाम दिये गये हैं। अध्याय इकतालीस एवम् बयालीस में कितनी ही वनस्पतियों एवम् बनायी जाने वाली जीवनोपयोगी वस्तुओं का वर्णन किया गया है। विभिन्न पशुओं तथा रत्नों से लेकर दतुअन तक का वर्णन इस पुस्कक में है। हमारे लिये अध्याय अट्ठावन विशेष महत्व का है, क्योंकि इसमें विभिन्न देवों तथा महापुरुषों की मूर्तियों को बनाने के नियम भी निर्देशित किये गये हैं, जिसमें महात्मा बुद्ध का वर्णन करते हुये उन्हें सर्वोपकारक एवम् शान्तात्मा कहा गया है। इस प्रकार के आदर पूर्ण वर्णन से ईसा की छठवीं शताब्दी में भारतीयों की धार्मिक सहिष्णुता का पता चलता है।

अगली शताब्दी में ब्रह्मगुप्त ने अपना ग्रन्थ स्फुट सिद्धान्त लिखा, जिसमें इक्कीस अध्याय है। प्रथम दस अध्यायों में ज्योतिषीय व्यवस्थाएँ दी गयी है, जिसमें ग्रहों की स्थिति का निर्माण किया गया है तथा सूर्य एवम् चन्द्रग्रहण सम्बन्धी गणनायें दी गयी हैं। अगले दस अध्याय इन्हीं के पूरक में तथा अन्तिम अध्याय में ज्योतिष की प्रणाली के अन्तर्गत गोलकों का सिद्धान्त समझाया गया है।

ब्रह्मगुप्त के बाद राजनैतिक उथल पुथल युक्त तमसावृत्त काल आता है जो दो शताब्दियों से भी अधिक समय तक भारत के इतिहास पर छाया रहा। राजपूतों के उदय के साथ जब यह अन्धकार थोड़ा हटा तो प्रख्यात गणितज्ञ भास्कराचार्य का नाम चमक उठा। इनका जन्म १११४ ई० में हुआ था तथा इनका विशाल ग्रंथ सिद्धान्त शिरोमणि सन् ११५० में पूरा हुआ। इसके प्रारम्भिक अंग बीजगणित तथा लीलावती हैं तथा गोलाध्याय में गोलमिति एवम् त्रिकोणमिति का वर्णन है।

कितनी ही ऐसी समस्याओं को भास्कराचार्य ने बारहवी शताब्दी में सिद्ध कर लिया था जिनको यूरोप वाले सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में भी नहीं सिद्ध कर पाये। भारत में बीजगणित ने खूब उन्नति की। ज्यामिति एवम् ज्योतिष में बीजों का प्रयोग करके उन्हें सरलतम् बना देना भारतीयों का ही काम है। आश्चर्य है कि जिस भारत का गणित तथा ज्योतिष इतना उन्नत रहा वहाँ ज्यामिति को क्यों छोड़ दिया गया। यज्ञ की वेदियों को बनाने में हिन्दू ऋषियों ने विभिन्न आकारों की खोज की थी अवश्य, परन्तु पौराणिक काल में मन्दिरों के माध्यम से धर्म साधना होने लगी तथा इस प्रकार वेदियों का प्रचलन ही बन्द हो गया और साथ ही अवरुद्ध हो गया ज्यामिति की उन्नति का मार्ग।

अरबी लेखकों ने हिन्दू बीजगणित के ग्रंथों का अनुवाद किया और इस प्रकार यह विद्या आठवीं शती में अरब जा पहुँची। पीसा के लियानार्ड ने योरप में इसका प्रथम प्रचार किया। त्रिकोणमिति भी हिन्दू विद्वानों की ही देन है। अंक गणित में दश मलव के आविष्कार के लिये सारा संसार ही हिन्दुओं का आभारी है।

पचपनवाँ अध्याय

आयुर्वेद

भारत में विज्ञान की अनेक शाखायें जब पर्याप्त रूप से आगे बढ़ गयी थीं तब भी आयुर्वेद बहुत पीछे था। सन् १८२३ में प्रोफेसर विलसन ने 'ओरियन्टल मेगेजीन' में भारतीय आयुर्वेद का एक विवरण प्रकाशित कराया था। जनवरी १८३५ के एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में 'सोमा डी कोरोस' ने इसी विषय में एक लेख लिखा था। मि० हीन तथा ऐन्स्ली ने भी भारतीय आयुर्वेद से सम्बन्धित अनेक तथ्य एकत्रित किया था। १८३७ ई० में किंग्स कालेज लन्दन के डा० रायल ने उपरोक्त सभी विवरणों से प्राप्त सूचनायें इकट्ठी कीं, स्वयम् भी कितनी ही खोजें कीं और सभी की सहायता से उन्होंने तत्सम्बन्धी एक निबन्ध प्रकाशित किया। बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन गुप्त ने शल्य विज्ञान के प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत का प्रकाशन किया और सिद्ध किया कि भारतीयों ने इस विज्ञान में भी पर्याप्त प्रगति की थी। बंगाल मेडिकल सर्विस के स्वर्गीय डा० वाइज ने भारतीयों की प्राचीन औषधोपचार प्रणाली पर एक व्याख्या प्रस्तुत की। इसके बाद कई भारतीय विद्वानों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ और देशभक्त वैद्य अविनाश चन्द्र कविरत्न ने चरक और सुश्रुत (१८९० ई०) का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

यूरोप में आज भी लोगों का परिचय प्राचीन भारतीय आयुर्वेद से उतना नहीं है। उनकी प्रकृति यही रही है कि वे प्रत्येक ज्ञान में भारतीयों को यूनानियों का अनुगामी मानते आये हैं। इसलिये भी कि वे निष्पक्ष होकर तथ्यों की खोज नहीं कर पा रहे हैं। डा० वाइज के शब्दों में, औषधि विज्ञान के तथ्यों की खोज करने के लिये सर्वप्रथम यूनानियों की ही ओर देखने की प्रवृत्ति के कारण यूरोपीय विद्वानों के लिये वे सभी रास्ते बन्द हो गये हैं जो यूनान से नहीं निकलते। ऐसी स्थिति में हमारा कर्तव्य है कि नये तथ्यों के प्रकाश में हम पुरानी मान्यताओं को बदलने के लिए सदैव तत्पर हों, जिससे हम सही रास्ते पर लग सकें। यूनानियों ने स्वयम् इस बात का दावा नहीं किया कि सब प्रकार के विज्ञानों में वे ही अग्रणी हैं। स्वयम् यूनानी विद्वानों का ही कथन है कि कई शताब्दियों तक उन्हें साँप काटने की हो दवा नहीं मालूम थी, परन्तु भारत में ऐसी दवाइयाँ अति प्रचलित थीं। डायोकार्डज की मैटीरिया मेडिका अत्यन्त प्रसिद्ध है और डा० रायल के अनुसार उसका अधिकांश हिन्दू

मैटीरिया मेडिका से प्रमाणित है। थियोफ्रेसस के सम्बन्ध में भी यही उक्ति चरितार्थ होती है, जो ईसा की तीसरी शती में हुआ था। इसी प्रकार हिन्दुओं के आयुर्वेद की अति प्राचीनता तब पूर्णतया सिद्ध हो जाती है जब यूरोपीय औषधि विज्ञान के जन्म-दाता हियोक्रेटस के विषय में विद्वान् लोग यह मत स्थिर करते हैं कि उसकी मैटीरिया मेडिका की अधिकांश सामग्री भारत से उधार ली लगी है। यह श्रृङ्खला डा० वाइज के इन शब्दों से पूर्ण हो ही जाती है कि "हम लोगों का समूचा औषधि विज्ञान हिन्दुओं का आभारी है"।

दुर्भाग्य की बात यह है कि हिन्दू औषधि प्रणाली का जो प्रारम्भ कुरुओं और पाँचालों के समय में हुआ तथा जो समय के साथ ही आगे बढ़ता गया, उसकी सम्पूर्ण जानकारी दे सकने वाली सामग्री का इस समय पूर्ण अभाव है। प्राचीन भारतीय औषधि प्रणाली को आयुर्वेद कहा जाता है। जिस प्रकार समूचे युद्ध विज्ञान को धनुर्वेद कहा गया है, इसी प्रकार मानव के शारीरिक विकारों को दूर करने के जितने भी ढंग व उपचार हैं सब आयुर्वेद के अन्तर्गत हैं। डा० विल्सन के विश्लेषण के आधार पर प्राचीन आयुर्वेद को निम्न लिखित शाखाओं में बाँटा जा सकता है।

(१) शल्य—शरीर के भीतर पड़ गये विकार को बाहर निकालने की प्रक्रिया। यह विकार वाहर भी हो सकता था, जैसे तीर चुभ जाय, कांटा लग जाय या अन्य कोई भी नुकीली वस्तु शरीर में चुभ कर भीतर पहुँच जाय; तथा आन्तरिक भी हो सकता था, जैसे शरीर के मवाद बन जाय, कहीं सूजन आ जाय, या कफ अत्यधिक हो जाय।

(२) शलाका—शरीर के वाह्य भागों की चिकित्सा।

(३) काया चिकित्सा—आधुनिक औषधि विज्ञान की ही तरह। प्रथम दो चीर फाड़ से सम्बन्धित हैं।

(४) भूतविद्या—भूतप्रेतों से शरीर की रक्षा।

(५) कुमार भृत्य—शिशु चिकित्सा से सम्बन्धित था, जिसमें प्रसूता का भी उपचार सम्मिलितत था।

(६) आगद—किसी दवा के प्रभाव को दूसरी दवा से दूर करने की प्रक्रिया।

(७) रसायन—वर्तमान काल की केमिस्ट्री।

(८) बाजी करण— मानव-संख्या बढ़ाने की प्रक्रिया ।

भारत की तमाम विद्यायें जिस प्रकार बौद्ध काल में उन्नत हुई, उसी प्रकार आयुर्वेद ने भी इसी समय में उन्नति किया तथा इसी समय में इस विषय पर उत्तमोत्तम ग्रंथ भी लिखे गये, फिर भी उन ग्रन्थों के लेखकों ने यही माना कि यह विद्या स्वयम् उनकी देन नहीं है वरन् उन्होंने उसे देवताओं से प्राप्त किया था तथा केवल उसे लोगों पर स्पष्ट करने के लिये ही वे ऐसे ग्रन्थ लिख गये हैं। इन ग्रंथों में चरक तथा सुश्रुत सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं और अब तक के प्राप्त ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन भी हैं। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि ये दोनों ही विद्वान बौद्ध काल के हैं। उनके ग्रन्थों को पौराणिक काल में फिर से लिखा गया जब कि हिन्दू विज्ञान का पुनर्जागरण हुआ। उनकी कृतियों की ख्याति विदेशों में भी फैली। आठवीं शताब्दी में खलीफा हारूं के समय उनका अनुवाद अरबी भाषा में किया गया। सर्व प्रथम अरबी लेखक शेरापिन ने चरक का नाम क्सरक लिखा है। दूसरे अरबी लेखक ने उसका नाम सिरक लिखा है। इस प्रकार चरक के ग्रन्थ ने माध्यम अरब के विदेशों में प्रवेश प्राप्त किय और यह बात पौराणिक काल में हुई। चरक का ग्रन्थ आठ भागों में विभाजित है जा निम्न पंक्तियों में दिये गये हैं।

(१) सूत्र स्थान - इनमें औषधियों का मूल तत्व समझाया गया है, वैद्यों के कर्तव्यों का वर्णन है साथ ही दवाओं के प्रयोग, रोगों से निवृत्ति, मैटीरिया मेडिका इत्यादि विषय भी वर्णित हैं।

(२) निदान स्थान— इसमें रोगों का वर्णन है जैसे बुखार, रुधिर निकलना, ट्यूमर, मधुमेह, कोढ़, क्षय, उदासीनता इत्यादि।

(३) विमान स्थान - महामारियों का इलाज, भोजन की प्रकृति, रोगों के लक्षण और पहचान, औषधियों के प्रयोग और शरीर के रसों की विचित्रताओं का वर्णन इस स्थान में प्रस्तुत किया गया है।

(४) शरीर स्थान— आत्मा के प्रवृति की चिकित्सा, भावना, योनियों का वर्णन, तत्वों के गुण, शरीर का वर्णन, और आत्मा तथा शरीर का सम्बन्ध समझाया गया है।

(५) इन्द्रिय स्थान - ज्ञानेन्द्रियों एवम् कर्मेन्द्रियों के रोगों की उत्पत्ति

तथा विवरण, शरीर का रंग, बोलने की त्रुटियाँ, शक्ति एवम् मृत्यु के वर्णन इस भाग में हैं।

(६) चिकित्सा स्थान रोगों की चिकित्सा का विचार करने के बाद इस स्थान में स्वास्थ्य लाभ के नियम समझाये गये हैं। विविध रोगों की चिकित्सा कैसे करनी चाहिये इस विषय की जानकारी देने के बाद इसमें मद्यपान के दोष तथा अन्य गम्भीर बातें समझायी गयी हैं।

(७) कल्प स्थान - इस स्थान में शरीर शोधन के सिद्धान्तों तथा उपायों का वर्णन है।

(८) सिद्धि स्थान —सूची वेध्य औषधियों का वर्णन है तथा गुप्तेन्द्रियों के रोगों का विवरण एवम् उनकी चिकित्सा का विस्तृत वर्णन है।

इस ग्रन्थ को ऋषि आत्रेय ने अग्निवास को समझाया है। भूमिका में कहा गया है कि सर्व प्रथम ब्रह्मा ने आयुर्वेद का उपदेश प्रजापति को दिया, जिन्होंने अश्विनी कुमारों को यह ज्ञान दिया, उनसे इन्द्र ने पाया। भारद्वाज ने छः ऋषियों को इसका उपदेश दिया, जिनमें अग्निवास भी थे।

शायद सुश्रुत चरक के परवर्ती हैं। उस ग्रन्थ में कहा गया है कि इन्द्र ने धन्वतरि को यह ज्ञान दिया। धन्वन्तरि ने इसका उपदेश आठ ऋषियों को दिया और सुश्रुत को आदेश हुआ कि वे उन उपदेशों को लेखबद्ध कर दें। सुश्रुत की कृति भी चरक के ही समान खंडों में विभाजित है जो पाठकों की जानकारी के लिये नीचे दिये जाते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि चरक का ग्रन्थ औषधियों का ग्रन्थ और सुश्रुत का ग्रन्थ चीर फाड़ के नियमों एवम् क्रियाओं का है।

(१) सूत्रस्थान—इस में औषधियों का वर्णन है, शरीर के तत्वों का परिचय है, विभिन्न रोगों की चर्चा है तथा यह समझाया गया है कि किस प्रकार के कार्य के लिये किस प्रकार के औजार और किस प्रकार की औषधि प्रयुक्त होना चाहिये तथा शल्य क्रिया के बाद क्या सावधानी रखनी चाहिये। इसके बाद शारीरिक उपादानों की चर्चा करके चीर फाड़ के योग्य रोगों का वर्णन है। शरीर के भीतर के विकार को किस किस प्रकार से बाहर निकाला जाना चाहिये तथा घावों की एवम् नासूर की चिकित्सा कैसे करनी चाहिये इन सब का वर्णन करने के बाद कितनी ही सहायक बातें समझायी गयी हैं।

(२) निदान स्थान—रोगों का लक्षण एवम् उनकी पहचान का विवरण देने के बाद गठिया, पथरी, बवासीर, भगन्दर की चर्चा की गयी है। इसके बाद धाय शिक्षा, प्रसूता चिकित्सा तथा प्रजनन की इन्द्रियों का ज्ञान दिया गया है।

(३) शरीर स्थान—में शरीर रचना, आत्मा का इससे सम्बन्ध, पौगंडावस्था के विकार, गर्भधारण, शरीर बृद्धि विज्ञान इत्यादि विषय इस भाग में वर्णित हैं।

(४) चिकित्सा स्थान—रोगों के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है। घाव, नासूर, सूजन, अंगभंग, गठिया, बवासीर, पथरी, भगन्दर इत्यादि की चिकित्सा का विधान दिया है। असाधारण परिस्थिति उत्पन्न होने पर शिशु को मां के पेट से कैसे निकालना चाहिये यह विषय को भी इसी स्थान में दिया गया है।

(५) कल्प स्थान---इसमें प्रति विषों का वर्णन है। खान पान की वस्तुयें कैसे तैयार की जायँ, कैसे रखी जायँ, उन्हें जहरीली होने से कैसे बँचाया जाय तथा भोजन में विष है या नहीं इसकी परीक्षा कैसे की जाय। विभिन्न प्रकार के क्षार, वनस्पतियाँ, तथा जैविक विषों का वर्णन किया गया है और उनके प्रति विषों को समझाया गया है।

(६) उत्तर स्थान—या पूरक भाग---इसमें कितनी ही स्थानीय बीमारियों का वर्णन है। उनकी चिकित्सा के बाद कितने ही अन्य रोगों की चिकित्सा समझायी गई है। इनमें ज्वर, पेचिश, क्षय, ट्यूमर, हृदय रोग, कामला, रुधिर का निकलना, मूर्च्छा, उत्तेजना, खाँसी, स्वर की रूक्षता, पेट के कीड़े, वमन, हैजा, विभिन्न प्रकार के उन्माद, प्रेतबाधा, इत्यादि का वर्णन है।

ऊपर की पंक्तियों में चरक तथा सुश्रुत की कृतियों का जो संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे भारतीय आयुर्वेद की उन्नति-शीलता का पता चल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कितने ही प्राचीन सिद्धान्त आज कल्पनापूर्ण ही मालूम पड़ते हैं तथा कितने ही दृष्टिकोण आज गलत साबित किये जा चुके हैं फिर भी उनकी महत्ता कम नहीं होती। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये सिद्धान्त तथा दृष्टिकोण दो सहस्र वर्ष प्राचीन है। सम्पूर्ण औषधिविज्ञान तथा समूची चिकित्सा प्रणाली की जानकारी दे सकना तो इस स्थल पर सम्भव नहीं है, फिर भी हम दो एक औषधियों तथा शल्यक्रिया में प्रयोग किये जाने वाले कुछ औजारों का वर्णन अवश्य करेंगे।

हिन्दुओं को उस काल में भी रसायन शास्त्र का ज्ञान था और वे रसायनिक यौगिक पदार्थ तैयार कर सकते थे। इस पर हमें आश्चर्य इसलिए नहीं करना चाहिये कि रसायन में प्रयुक्त होने वाली सामग्री की कमी भारत में कभी नहीं रही। पश्चिम भारत में पत्थर का नमक मिलता ही था, सोडा नमक तिब्बत में मिल जाता था। इसी प्रकार सारी आवश्यक सामग्री भारत में प्राप्य थी। इन पदार्थों से भारतीयों का परिचय अत्यधिक प्राचीन है। क्षार एवम् तेजाब का ज्ञान हिन्दुओं को पहले से ही था और अरब वालों ने यहीं से सीखा था। धातुओं को औषधिरूप में प्रयोग करना भी वे जानते थे। वे ताँबे का उपयोग भी जानते थे। डा० रायल के शब्दों में 'यद्यपि प्राचीन काल के रोमन और यूनानी कितनों ही धातुओं को वाह्योपचार में काम में लाते थे, सामान्य रूप से यह माना गया है कि इन धातुओं का आन्तरिक प्रयोग सर्वप्रथम अरब वालोंने ही किया···। अरबों ने यह ज्ञान चरक और सुश्रुत से ही प्राप्त किया था, यह भी सिद्ध किया जा चुका है।' चरक और सुश्रुत के विवरणों से भी यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है कि वे रसायन शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे तथा घोल बनाना, वाष्पीकरण, विचूर्णीकरण इत्यादि क्रियाओं का उन्हें सम्यक् ज्ञान था।

जहाँ तक रसों एवम् बूटियों का प्रश्न है, सुश्रुत ने उन्हें निम्नांकित वर्गों में बाँटा है। जड़ें, गांठदार जड़ें, (जैसे प्याज इत्यादि), गांठयुक्त रेशे दार जड़ें, (जैसे आलू इत्यादि की), जड़ों की छालें, बड़े पेड़ों की छालें, विशिष्ट सुगन्धि युक्त वृक्ष, पत्ती, फूल, फल, बीज, जड़ियाँ, बूटियाँ, दुधार पौधे इत्यादि। सुश्रुत शायद संसार के प्रथम लेखक हैं जिन्होंने बानस्पतिक भूगोल को एक विषय बनाकर उसका वर्णन किया है। कौन सी जड़ी, पेड़, पौधे कहाँ और किस प्रकार की भूमि में पाये जाते हैं या पाये जा सकते हैं। उनके लिये कैसी जलवायु आवश्यक है। प्रत्येक औषधि में कौन सी वस्तु कितने नाप या परिमाण में डाली जानी चाहिये इसका भी पूर्ण विवरण दिया गया है। कौन से नाप तथा बाँट प्रयोग में लाना चाहिये इसे भी बताया गया है। प्रकृति ने जिन वनस्पतियों एवम् पदार्थों का भंडार भारत को बनाया, भारतीयों ने उनका पूर्ण एवम् विविध उपयोग किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ये औषधियाँ जो यहीं की वनिस्पतियों, धातुओं तथा अन्य उपादानों से इसी जलवायु में बनाई जाती थीं, उनका उपभोग प्रत्येक भारतीय के लिये भी फलप्रय था और और आज भी फलप्रद है। शरीर शोधन के लिये भारतीय आयुर्वेद में जिस प्रकार के मृदु एवम् कठोर विवेचकों की व्यवस्था है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। यहाँ नाना प्रकार

के विषों को शोध का उनसे बड़े बड़े रोग अति प्राचीन काल से अच्छे किये जाते रहे हैं। उत्तेजक औषधियों, शामक औषधियों तथा निद्रादायक औषधियों का पूर्ण ज्ञान भारतीयों को तब था जब अन्य देशीय जन इस विज्ञान का ककहरा (क ख ग) भी नहीं जानते थे।

अब कुछ शब्द शल्य क्रिया के बारे में। डा० रायल का कहना है कि लोगों को यह जानकर अवश्य आश्चर्य होगा कि प्राचीन शल्य चिकित्सकों को असाधारण परिस्थिति में किसी गर्भस्थ शिशु को निकालने में जो शल्य क्रिया करनी पड़ती थी, उसमें उन्हें कम से कम एक सौ सत्ताईस औजारों का प्रयोग करना पड़ता था। शल्य क्रिया भी कई वर्गों में विभाजित थी, जैसे छेदन क्रिया, भेदन क्रिया, लेखन क्रिया, व्याघ्रान क्रिया, ईष्यम, आहार्य, विश्रवण, तथा सेवन क्रिया। किसी भी शल्य चिकित्सक को छेदन से लेकर सेवन तक की क्रिया प्रत्येक चीरफाड़ में करनी पड़ती थी। इन क्रियाओं में जो औजार काम में आते थे, उनका वर्गीकरण डा० विल्सन ने इस प्रकार किया है, यन्त्र, शास्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृङ्ग, अलबु तथा जलौका। इनके अतिरिक्त धागा, पत्तियाँ, पट्टियाँ थथा अन्य कितनी ही वस्तुएँ आवश्यक होती थीं। इसी ग्रंथ में यह भी बताया गया है कि सभी औजार धातुओं से बनाना चाहिये जो चमकदार हों, सुन्दर हों, पालिश किये हों और तेज हों। उनकी धार इतनी बारीक हो कि वह एक बाल को भी खड़े-खड़े चीर सकें। नव अभ्यासियों के लिये कहा गया है कि वे बनस्पतियों पर, जानवरों के ताजे चमड़ों पर तथा मृत पशुओं के शरीर पर कोई अभ्यास करें।

प्रत्येक हिन्दू पाठक को यह बात अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि जब कि आज भारत के प्रत्येक जिले तथा गाँव में विदेशी ढङ्ग की दवाइयाँ तथा सफाई के साधन प्रचलित है, उसी देश के हिन्दू वैद्यों को सिकन्दर महान् ने आज से बाईस सौ वर्ष पूर्व अपने खेमें में इसलिये नियुक्त किया था कि जिन रोगों अथवा घावों का इलाज यूनानी वैद्यों से न हो सके, उन्हें हिन्दू वैद्यों के हाथ में दे दिया जाया करे तथा वे यह भी याद रक्खें कि आज से ग्यारह सौ वर्ष पूर्व बगदाद के प्रख्यात खलीफा हारुन-उल-रशीद ने मङ्क तथा सालेह नाम के दो हिन्दू वैद्यों को अरब देश का राजवैद्य नियुक्त किया था।

छप्पनवाँ अध्याय

नाटक

पौराणिक काल में भारत के विज्ञान ने उसे जितना गौरवान्वित किया, उससे भी कुछ आगे बढ़कर संस्कृत साहित्य की कविता और नाटक ने उसे गौरव प्रदान किया। न केवल भारतीयों के ही, वरन् विदेशियों के भी दिलों में कालिदास एवम भवभूति के लिये जो प्रशंसापूर्ण कोमल भावनायें है, वे आर्यभट्ट तथा चरक के लिये नहीं।

न तो यह सम्भव ही है और न समुचित ही, कि हम इस स्थल पर सम्पूर्ण तत्कालीन वाँङमय का परिचय देकर अपने पाठकों को कृत कृत्य कर सकें। हमारा प्रयत्न यथा सम्भव यही होगा कि हम प्रमुख कलाकारों की प्रमुख कृतियों का संक्षिप्त रूप से विवरण प्रस्तुत करके पाठकों को इस योग्य बना दें कि वे उस समय के समूचे साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डाल सकें। इस अध्याय में हम अपना विवरण केवल नाटकों तक ही सीमित रक्खेंगे। कथा साहित्य की चर्चा अगले अध्याय का विषय होगी।

इस गौरवपूर्ण काल का प्रारम्भ होता है सरस्वती के वरद पुत्र कालिदास के उद्भव से। यद्यपि कालिदास की काव्य एवम नाटक कृतियाँ और भी हैं, परन्तु वाह्यसंसार उनको शकुन्तला के रचयिता के ही रूप में अधिक जानता है। चाहे हिन्दू हो या अन्य जातीय, जो भी इस कृति को पढ़ेगा और समझेगा, यही कहेगा कि आजतक की मानव कल्पना वन पुत्री शकुन्तला जैसी कोमल भावनामय एवम पवित्र नारी की सृष्टि नहीं कर सकी।

राजा दुष्यंत आखेट खेलते-खेलते कण्व ऋषि के आश्रम में जा पहुंचते हैं, जहाँ अति सामान्य वस्त्र धारण किये तीन कुमारिकायें लता-सिंचन कर रही थीं। शकुन्तला इन्हीं में से एक है, जो विश्वामित्र के संयोग से अप्सरा मेनका के गर्भ से जन्मी थी और महात्मा कण्डव ने जिसे बचपन से ही पाल पोस कर बड़ी किया था। एक दिन जो कली अपने माता-पिता के लाड़ प्यार से विलग होकर जंगल में शकुन नामक पक्षी के पंख तले पड़ी असहाया बनी केहाँ-केहाँ कर रही थी, वही कली सोलह वसन्तों की मादकता का मान कर अब स्वर्गीय फूल के रूप में आ गयी थी, जिसे

देख पाकर सुर-नर-मुनि सबका चित्त चंचल हो उठता था। वह इसी जंगल में यहीं के पेड़, पौधों, लताओं पशुओं एवम पक्षियों में पली थी और इन्हीं में उसका मन रम गया था। राजभवन के अलंकृत सौन्दर्य को ही सदा देखने वाले दुष्यन्त के नेत्रों ने जब बनकुमारी शकुन्तला को निहारा तो वे अपलक निहारते ही रह गये। वन्य परिधानावृता शकुन्तला को देख पाकर राजा का परिस्थिति ज्ञान लुप्त हो गया। उन्हें ऐसा मालूम पड़ा जैसे कमलिनी अभी-अभी विकसित हुई थी। सामने आने का अवसर ढूंढ़ कर राजा शकुन्तला से वार्तालाप करके, उसके कुमार मन में एक अज्ञात भावना का समावेश कर देता है। प्रकृति पुत्री शकुंतला प्रेम की भावनाओं से अनजान, एक सुखद पीड़ा भार से आक्रांत हो उठती है।

उस अज्ञात भावना एवम पीड़ा भार का प्रभाव उसके शरीर पर परिलक्षित होता है, क्योंकि जब राजा दुबारा उसके दर्शन एवम रसालाप की कामना से अभि-भूत होकर आश्रम के समीप पहुँचता है तो उसको देखकर उसे सोचना पड़ता है कि शकुन्तला की शोभा यद्यपि अन्धड़ से छिन्न-भिन्न एवम शुष्क माधवी लता सी है, फिर भी वह मनोहारिणी है। युगल प्रेमी मिलते हैं, वार्तालाप करते हैं, और किसी निश्-चय पर पहुँच कर तत्क्षण गान्धर्व विवाह कर डालते हैं, जिसकी साक्षी हैं केवल वे ही दोनों ऋषि कुमारियां जो छाया के समान सदैव शकुन्तला के संग रहती हैं। विदा काल में दुष्यन्त ने अपनी मुद्रिका शकुन्तला को स्मृति स्वरूप दिया और प्रतिज्ञा किया कि राजमहल में पहुँच कर वह शकुन्तला को बुलवाने का प्रबन्ध करेगा।

इसके पश्चात् ही नाटक की उलझनें सामने आती हैं, और पाठक का मन रस विभोर हो आगे के परिणाम की प्रतीक्षा करने लगता है। सद्यः नियुक्त पति के विरह में विदग्ध शकुन्तला अपने प्रिय की कल्पना में इतनी विभोर हो उठती है कि उसे यह भी पता नहीं चलता कि कब और किस प्रकार दुर्वासा ऋषि आये, उसकी अन्यमनस्कता को अपना अपमान मान कर उसे यह श्राप देकर चले गये कि जिस प्रिय के विरह में वह इस प्रकार व्याकुल है, वही उसे भूल जायगा। शकुन्तला की सखियों की बार-बार क्षमा प्रार्थना पर क्रोधाविभूत ऋषि ने शाप का परिष्कार किया कि यदि शकुन्तला कोई स्मृति चिह्न अपने प्रियतम को दिखला सकेगी तो राजा उसे अवश्य ही पहचान लेगा। सचमुच ही राजा को शकुन्तला की स्मृति नहीं रहती और इधर शकुन्तला गर्भ धारण किये दिन रात प्रिय विरह में निमग्न रहने लगती है।

उसके पोषक पिता कण्व आश्रम में आकर सब समाचार सुनते हैं और परम प्रसन्नता पूर्वक उसे अपने दो शिष्यों एवं बृद्धा धाय के साथ राजमहल को भेज देते हैं। विदाई के समय का कवि कालिदास ने कोमल तम मानवीय अनुभूति का जैसा

मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है, उसे पढ़ कर किसी भी सहृदय का हृदय मूक व्यथा से भारा क्रान्त हो उठता है। विदाई को प्रस्तुत शकुन्तला जिस प्रकार एक-एक पेड़, पौधों लताओं, एवं पशु पक्षी से विदा लेती है उसका साम्यक अनुभव करने वाल व्यक्ति रोये बिना रह ही नहीं सकता। विदाई का चरम दृश्य तब उपस्थित होता है, जब अश्रु पूरित नेत्रों एवम अवरूद्ध कंठ से कण्व कह उठते हैं, कि "यदि मेरे जैसे सर्वस्व त्यागी एवम विरागी व्यक्ति को पालिता पुत्री की विदाई से इतना कष्ट हो रहा है तो ऐसे अवसरों पर गृहस्थों की क्या दशा होती होगी।"

कथानक आगे चलता है। दुष्यन्त 'शकुन्तला को भूल चुका होता है। शकुन्तला की अंगूठी राह में ही गिर जाती है। अतः शाप अपना प्रभाव दिखाता है। शकुन्तला को देखकर भी राजा नहीं .पहचानता तथा उसे ग्रहण करने से इनकार कर देता है। कण्व के शिष्य तथा गौतमी (धाय) उसे वहीं छोड़ कर चल देते हैं। नगर के बाहर शकुन्तला विलपती खड़ी रहती है कि इतने ही में उसकी मां आती है और उसे लेकर चल देती है।

एक मछवाहा एक मछली पकड़ता है, जिसके पेट में से दुष्यन्त वाली अंगूठी निकलती है। मछवाहा बाजार में अंगूठी बेंचते पकड़ा जाकर राजा के सम्मुख लाया जाता है। अंगूठी देखते ही उसे झट शकुन्तला की याद आ जाती है और शकुन्तला का प्रेम सहस्रगुना होकर उसके हृदय को जलाने लगता है, परन्तु राजा को बैठ कर शोक करने का भी समय नहीं मिल सका, क्योंकि उन्हें उसी समय दानवों के विरुद्ध इन्द्र की सहायता के लिए जाना पड़ा, जहाँ से लौटते समय रास्ते के ही एक जंगल में शेर के बच्चे से खेलता हुआ एक बालक दिखाई दिया। निस्सन्देह वही दुष्यन्त और शकुन्तला का पुत्र है, जिसके माध्यम से ही शकुन्तला भी प्रगट होती है। नतजानु होकर राजा क्षमा मांगता है और अंगूठी की बात सुनाता है। दोनों जाकर कश्यप तथा अद्दिति का आशीर्वाद ग्रहण करते हैं, और इसी आशीर्वाद के साथ अन्तिम परदा गिरता है।

विक्रमोर्वशी कालिदास का दूसरा नाटक है, जिसमें वैदिक काल के सूर्य का वर्णन है जो सदा ऊषा के पीछे पीछे घूमता रहता है, परन्तु कालिदास की कथा का नायक मानव राजा पुरुरवा है, कोई देवता नहीं। पुरुरवा एक दानव के हाथों से इन्द्र की अप्सरा उर्वशी को छुड़ाता है। इस देखा देखी में दोनों ही एक दूसरे पर मोहित हो जाते हैं। इन्द्र के दरबार में होने वाले नाटक में लक्ष्मी रूपा उर्वशी के मुंह से पुरुषोतम के स्थान पर पुरुरवा नाम निकल आता है, जिस पर कुपित होकर इन्द्र उसे स्वर्गच्युत कर देते हैं, परन्तु बाद में उर्वशी की प्रार्थना पर इन्द्र

अपने द्वारा दिये गये दंड को वरदान के रूप में बदलते हुये उर्वशी को आदेश देते हैं कि वह मृत्यु लोक में जाकर पुरुरुवा के साथ उतने दिन तक रहे, जितने दिन तक पुरुरूवा उर्वशी के पुत्र का मुख न देखे।

पुरुरुवा ने अपने प्रेम को अपनी रानी से छिपाने के लिये पश्चाताप भी प्रगट किया। रानी ने उनकी बात का विश्वास नहीं किया, परन्तु जब उसने देखा कि राजा को अत्याधिक दुःख होगा तो एक धार्मिक अनुष्ठान का बहाना करके वह स्वयम राजा के मार्ग से हट गयी और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उर्वशी की प्रीति का स्वाद लेने की स्वतंत्रता दे दी। रानी केवल पुष्पालंकार धारण किये श्वेत परिधान में जब अनुष्ठान में सम्मिलित होने के लिये राजा को निमंत्रित करने आयी तो राजा का पुराना प्रेम जागृत हो उठा, परन्तु रानी ने उनके पैरों को छूकर चन्द्रमा और रोहिणी को साक्षी करके प्रतिज्ञा की कि राजा का हृदय जिस किसी को भी प्यार करता होगा, वे भी उसे सम्मान की पात्री समझेंगी। इस प्रकार की प्रतिज्ञा से उर्वशी की सहेलियों का हृदय भी रानी की प्रशंसा से भर उठा और वे कह उठीं, "रानी पवित्र भावनाओं की देवी हैं और पत्नी रूप में सदा अनुकरणीया हैं।" कालिदास ने राजा तथा उर्वशी के प्रेम वर्णन में अपनी कोमलतम भावनाओं का उपयोग किया है। एक दैवी घटना वश उन दोनों में अल्पकालीन वियोग पूरा कर वियोग श्रृंगार वर्णन करने का भी अवसर निकाल लिया है। इस वियोग काल में राजा ने बन के एक-एक पशु, पक्षी, तरु, लता से उर्वशी का पता पूछा है। अन्त में उर्वशी मिलती है परन्तु साथ ही उर्वशी का पुत्र भी (जिसे कई वर्षों तक उर्वशी छिपाये रखती है) प्रगट हो जाता है और राजा उसे देख भी लेता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि उर्वशी के देवलोक में जाने का समय आ गया। इन्द्र एक बार फिर कृपा करते हैं, और नारद उनका संदेश पुरुरुवा को देते हैं कि "या वज्जीवन उर्वशी आपके साथ ही रहेगी।"

कालिदास का तीसरा नाटक है 'मालविकाग्निमित्र' जिसमें मालविका नाम की दासी एवम् राजा अग्निमित्र के प्रेम का वर्णन हैं, परन्तु भाषा विज्ञान को देखते हुये यह नाटक कालिदास का लिखा नहीं प्रतीत होता। अग्नि मित्र की स्त्री धारिणी की परम रूपवती दासी मालविका का चित्र राजा रानी की चित्रशाला में देखकर मोहित हो जाता है। वह मालविका की कला देखने के बहाने उसे अपने सामने बुलवाता है तथा उसका नृत्य देखकर मुग्ध हो जाता है। यह देखकर रानी उस दासी को ताले में बन्द कर देती है। परन्तु वह किसी प्रकार वहां से निकल कर राजा से जा मिलती है। उसी समय यवनों के विरुद्ध

सिंध पार के युद्ध में राजकुमार की विजय का समाचार सुन कर रानी बहुतों को उपहार देती है, तथा राजा के हृदय की विवशता समझ कर मालविका को ही राजा के हाथों उपहार स्वरूप भेंट कर देती है। इस प्रकार इस नाटक का सुखद अन्त तो होता है, परन्तु न तो शैली में और न भाषा लालित्य में ही यह नाटक शकुन्तला के टक्कर का है।

कालिदास ईसा की छठवीं शताब्दी में हुये और उन्होंने विक्रमादित्य के दरबार को गौरवान्वित किया था। एक शताब्दी बाद ही बिक्रमादित्य के जैसा ही प्रतापी बिद्वान तथा विद्या प्रेमी सम्राट हुआ, जिसने कालिदास की सफल स्पर्धा की। शीलादित्य द्वितीय ने सन् ६१० ई० से ६५० ई० तक राज्य किया। उसे श्री हर्षदेव नाम से भी जाना जाता है। प्रख्यात चीनी यात्री व्हेनत्सांग उसी के समय में आया था। वह केवल उत्तरी भारत का सम्राट ही नहीं था, वरन् एक सुप्रसिद्ध विद्वान भी था। कहा जाता है कि रत्नावली की रचना उसी ने की थी यद्यपि सम्भावना इस बात की है ,कि यह कृति हर्ष के दरबारी कवि वाणभट्ट की है। उस समय तक कालिदास की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी और बहुत से कवि लोग उन्हीं के कथानकों को बनाकर रचनायें करने लगे थे। रत्नावली में कालिदास का अनुकरण स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इस नाटक का प्रारम्भ मदनोत्सव से होता है, जिसमें समस्त नर नारी एक दूसरे पर रंग तथा गुलाल फेंकते हैं। महारानी उपवन में मदन-पूजन के लिए जाती हैं तथा राजा से उपस्थित होने की प्रार्थना कर जाती है। रानी की दासी सागरिका इतनी रूपवती है कि रानी उसे सर्वदा राजा की दृष्टि के परे रक्खा करती हैं। वह भी उपवन में आती है। तथा एक बृक्ष की ओट से राजा को देखकर मोहित हो जाती है। एकान्त में बैठकर वह अपने चित चोर का चित्र उरेहने लगती है, जिसे उसकी एक सहेली देख लेती है तथा उसी फलक पर राजा के चित्र के बगल में उसका भी चित्र बना देती है। प्रमादवश वह चित्रफलक वहीं पड़ा रह जाता है, जो राजा के हाथ पड़ जाता है। राजा सागरिका के चित्र पर मोहित हो जाता है। मोहित होने का यह क्रम मालविकाग्निमित्र का ही है। दुष्यन्त के समान ही राजा भी कमलपत्रों को उठाकर उन पर कुचाग्र चिन्ह पड़े होने की कल्पना करता है। शीघ्र ही प्रेमी युगल मिलते हैं, परन्तु महारानी के आकस्मित आगमन से उनकी वार्ता में बाधा पड़ती है। रानी को राजा की विवशता की प्रतीत हो जाती है। पुरुरवा की ही भाँति राजा भी नतजानु हो क्षमा याचना करता है, परन्तु महारानी क्रोधित हो वहाँ से चल देती हैं।

मालविका की ही भाँति सागरिका भी बन्द कर दी जाती है। उज्जयिनी के एक जादूगर ने तमाशा दिखाते दिखाते राजभवन में आग लग जाने का दृश्य उपस्थित किया। वास्तविकता को न समझ कर राजा सागारिका को बचाने के लिये दौड़ा तथा उसे बाहर उठा लाया, जहाँ कितनों ने ही उसे सिंहल की राजकुमारी रत्नावली के रूप में पहचाना। अन्त में मालविका की ही भाँति सागिरका भी राजा के हाथों में रानी द्वारा ही सौंप दी गयी।

नागानन्द एक अन्य नाटक है, जिसे लोगों के अनुसार हर्ष की ही कृति कहा जाता है, परन्तु सम्भव है कि वह भी किसी अन्य दरबारी कवि की कृति हो। हम इस कृति को महत्वपूर्ण इसलिये मानते हैं कि बौद्धों की विचार धारा का प्रतिनिधित्व करने वाला यही एक मात्र भारतीय नाटक है। इस नाटक में बौद्धों की भावना को हिन्दू देवी देवताओं से सलग्न किया गया है और यही मिश्रण इस नाटक की विशेषता है। विद्याधरों का राजकुमार जीमूत वाहन सिद्धों की राजकुमारी मलयवती को एक मन्दिर में गौरी पूजन में लगी हुई देखता है तथा उस पर मोहित हो जाता है। ठीक दुष्यन्त के ही समान वह राजकुमारी के सम्मुख प्रगट होता है तथा ठीक शकुन्तला की ही भाँति राजकुमारी भी उसका स्वागत करती है। शकुन्तला की सी ही विव्हलता का अनुभव मलयवती भी करती है तथा उसके लिये शीतलोपचार सामग्री का आयोजन किया जाता है। जीमूत वाहन प्रिया का चित्र मिट्टी के रंगों से वहीं एक शिला पर बनाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि पाम्पी निवासियों की ही तरह भारतीय चित्रकार भी मिट्टी के रंगों का प्रयोग करते थे। आड़ से ही मलयवती उसकी चित्र रचना को देखकर यह समझती है कि वह चित्र किसी अन्य स्त्री का है, जो राजकुमार की प्रिया है। उसका हृदय ईर्ष्या की अग्नि से जल उठता है तथा वह बेहोश हो जाती है। उसी समय सिद्धों के राजा का दूत आकर जीमूत वाहन का विवाह सिद्ध राजकुमारी से होने के निश्चय का संदेश देता है, जिसे सुनकर मलयवती हर्षित तथा राजकुमार दुखित हो उठते हैं, क्योंकि वे नहीं जानते हैं कि उनकी प्रिया ही सिद्ध राजकुमारी है। अतः वह इस परिणाम को अस्वीकृत कर देते हैं। अन्त में दोनों का भ्रम दूर हो जाता है और वे दोनों प्रेमालाप में लीन हो जाते हैं। बाद में दोनों का विवाह बड़े ही भव्य ढंग से होता है। यहाँ तक तो यह नाटक सामान्य हिन्दू नाटकों का सा ही है। अगले दो अंकों में यह आदर्श सफलता पूर्वक स्थापित किया गया है कि लोकोपकार के लिये अपना जीवन तक बलिदान कर देना चाहिये।

एक दिन जीमूतवाहन गरुड़ द्वारा नित्य प्रति एक नाग के खाये जाने से

समुद्रतट पर जो सांपों की अस्थियों का ढेर सा लग गया था उसे देख ही रहे थे कि उन्हें किसी के विलाप करने की ध्वनि सुनाई पड़ी। पास जाने पर ज्ञात हुआ है कि नागों तथा गरुड़ में यह समझौता हुआ था कि प्रतिदिन एक नाग लालवस्त्रों में समुद्र तट पर गरुड़ के खाने के लिए भेजा जाया करेगा। उसी के अनुसार उस दिन शंखचूड़ नामक नाग की बारी थी और उसकी मां का रोदन स्वर उन्हें सुनाई पड़ा था। नाना प्रकार से समझा कर जीमूत वाहन शंखचूड़ को वापस भेज देते हैं और स्वयं रक्त वस्त्र ओढ़ कर गरुड़ के भोजन रूप में बैठ जाते हैं। गरुड़ आता है खाने में चित्त लगाता है। उसे यह देख कर परेशानी होती है कि आज का उसका भक्ष्य बड़ा धैर्यशाली है, जो खाये जाते रहने पर भी तनिक भी पीड़ा, पदर्शन नहीं करता। वह खाना बन्द करके यह जानने का प्रयत्न करता है कि उसके कठोर चोंच की मार को अविचलित धैर्य से सहलेने वाला यह महान् पुरुष कौन है। गरुड़ को यह जानकर महान आश्चर्य मिश्रित दुख होता है कि वह विद्याधर राजकुमार को खा रहा है। जीमूत वाहन उसे अहिंसा पालन करने एवम पूर्वकृत हिंसा का प्रायश्चित्त करने का उपदेश देते हैं। प्रसन्नता पूर्वक गरुड़ अमृत वर्षा करते हैं, सभी नाग जीवित हो उठते हैं। चारों ओर प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। इसी बीच में मलयवती का विलाप भी वर्णित है, जिसमें वियोग श्रृंगार की कोमल भावनाओं का समावेश किया गया है। अन्त सुखद है और अन्त में "मा कश्चिद् दुःख माप्नुर्यात्" की प्रार्थना पर नाटक समाप्त होता है। यही प्रार्थना बौद्ध धर्म का सारतत्व है, यद्यपि यह प्रार्थना वेदों में है।

एक शताब्दी और बीतती है और तब हमें भारतीय काव्याकाश में भवभूति नामक उज्जवल सितारे के दर्शन होते हैं जो सर्वप्रकारेण कालिदास के ही समकक्ष हैं। भवभूति को श्री कंठ भी कहते हैं। वे ब्राह्मण कुल में विदर्भ या बरार में उत्पन्न हुये थे, परन्तु उनसे गौरवान्वित हुआ कन्नौज का दरबार, जो उस समय में अपनी गुण ग्राहकता के लिये दूर-दूर तक प्रख्यात था। भवभूति का प्रकृति वर्णन उन्हें अन्य कवियों के अलग वर्ग का सिद्ध करता है। कन्नौज दरबार में उनकी प्रतिभा और भी निखार पर आ जाती है। भवभूति के आश्रयदाता यशोवर्मन को काश्मीर नरेश ललितादित्य ने परास्त किया है तथा भवभूति को उसके सङ्ग काश्मीर चला जाना पड़ा।

भवभूति के तीन नाटक कहे जाते हैं। मालती माधव में माधव नाम का विदर्भवासी ब्राह्मणपुत्र पद्मावती या उज्जयिनी में विद्या प्राप्ति के लिये जाता है, जहाँ की मन्त्री पुत्री मालती उसे वातायन से देखती है तथा साक्षात् कामदेव

के समान माधव के रूप यौवन पर मोहित हो जाती है। वार्षिक मदनोत्सव में हाथी पर बैठी मालती को माधव भी देखता है तथा वह भी मन्त्री पुत्री पर मुग्ध हो जाता है। प्रेम पथ कंटकाकीर्ण तो होता ही है। मालती का ब्याह राजा के द्वारा नन्दन नाम के एक युवक से तै किया जा चुका होता है और अब मालती के पिता को साहस नहीं होता कि वह राजाज्ञा का उल्लंघन करे। एक बौद्ध भिक्षुणी उनकी सहायता करने का निश्चय करती है। वही अपने घर में दोनों को मिलाप भी करा देती है। परिस्थितियां माधव को कार्य साधन के हेतु तंत्र साधन का सहारा लेने की प्रेरणा देती हैं। इस तन्त्र साधना के वर्णन में भवभूति ने अपनी भव्य वर्णन शैली में पूर्ण सफलता पाई है। श्मशान में चामुंडा देवी का मन्दिर है, जहाँ की तान्त्रिक पुजारिन कपाल कुन्डला मुंडमाला से अपना शृंगार करती है। कच्चा मांस लेकर माधव देवी की पूजा को जाता है। इस मांस को तांत्रिक सिद्धों को भेंट करते हुये भूत प्रेतों की प्रार्थना में तांत्रिक देवों की वीभत्स प्रकृति का सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रार्थना में रत माधव को मालती की करुण पुकार सुनाई पड़ती है, जिसे अघोरचन्द नामक कापालिक ने कुमारिका बलि के लिये अपने शिष्यों से चुरवा मंगाया था। माधव वहां पहुँचकर कापालिक को मारकर अपनी प्रिया का उद्धार करता है। कपाल कुण्डला कापालिक की मृत्यु का बदला लेने की प्रतिज्ञा करती है। कुछेक छोटी मोटी घटनाओं के बाद मालती माधव भागने में सफलता पा जाते हैं। राजा उनको पकड़ने के लिये जिन सैनिकों को भेजता है, वे माधव द्वारा परास्त होकर निराश लौट आते हैं। उसकी वीरता पर प्रसन्न होकर राजा माधव को क्षमा ही नहीं कर देता प्रत्युत उसे मालती भी सौंप दी जाती है।

नाटक का सुखद अन्त यहीं पर हो सकता था, परन्तु अभी कपाल कुन्डला का वैर शोध शेष था इसलिये कथानक आगे बढ़ता है तथा मालती एक बार फिर चुरा ली जाती है। माधव द्वारा मालती की खोज के प्रसङ्ग में कवि ने प्रकृति का जो वर्णन किया है, वह संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। पहले की बौद्ध भिक्षुणी सौदामिनी अब योग साधन द्वारा दैवी शक्तियों को प्राप्त कर चुकी होती है और वह माधव की सहायता का निश्चय करती है। सौदामिनी के मुख से विंध्य-प्रदेश का जो वर्णन हुआ है वह अति सुन्दर है। वह विंध्य की हरीतिमा पूर्ण शिखरों का वर्णन करती है, साथ ही अंचल में स्थित नगरों एवम् प्रकृति के क्रीड़ास्थल गांवों की सुन्दरता की मनोहारिणी चर्चा करती है। पद्मावती की उच्च-अट्टालिकायें उसे स्वर्ग से उतरती हुई सी प्रतीत होती हैं। लवण की धारायें तथा

तटस्थित आम्रकान्तार जैसे पद्मावती नगरी को यौवनदान देते हुये से दिखाई पड़ते हैं। कलकल मर्मर ध्वनि से प्रभावित सिंधु (नदी) पहाड़ों से उतरती हुई भादों मास के घनगर्जन सी ध्वनि करती हुई रससिक्त नव यौवन प्राप्त युवक-युवतियों के हृदयों को रसाभिभूति-सी प्रदान करती है। इन पहाड़ों तथा अचलस्थित जंगलों की क्रोड़ से निकल कर मैदान में आती हुई गोदावरी ससुराल प्रस्तुत नव वधू की भांति गम्भीर गति से आगे बढ़ती है। सौदामिनी अपनी दैवी शक्ति से मालती को खोज लाती है तथा प्रेमी युगल परिणाम के पवित्र बन्धन में बंध कर सुखपूर्वक नाटक के समाप्ति की सूचना देते हैं।

भवभूति के अन्य दो नाटक रामायण की पृष्ठभूमि में लिखे गये हैं। 'महावीर चरितम्' में राम के जन्म से लेकर विवाह, वन गमन, सीताहरण, लंका विजय तथा राज्याभिषेक तक का वर्णन है, जिसमें एक के बाद एक सुग्रीव, विभीषण तथा राम के राज्याभिषेक का प्रसङ्ग आता है। भवभूति की यह कृति अवश्य ही दूसरी की उनकी अन्य कृतियों की तुलना में अवश्य ही उतनी सुन्दर नहीं है फिर भी इसके कुछ स्थल अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। विशेषतया वह प्रसंग तो अत्यन्त ही सुन्दर है, जिसमें विद्या में ब्राह्मणों की समानता का दम भरने वाले क्षत्रिय राजा जनक ने यमदग्नि-पुत्र परशुराम के क्षत्रिय विरोध की चर्चा करते हुये कहा है कि "यद्यपि परशुराम ने हम लोगों का प्रबल विरोध किया है और अब तक हम लोग उनके क्षत्रिय विरोध को धैर्यपूर्वक सहन करते हैं, परन्तु आगे यदि उन्होंने हमें तृणवत समझ कर व्यवहार किया तो हमें भी उनके विरुद्ध धनुष धारण करना पड़ेगा, भले ही वह ब्राह्मण हों।"

गोदावरी का जन्म स्थान ही कवि का जन्म स्थान भी है। उसका वर्णन कवि ने बड़े ही उत्साहपूर्ण शब्दों में किया है "जन्म स्थान के ऊँचे पेड़ों से युक्त जंगलों के बीच में अपना गर्वपूर्ण मस्तक उठाये प्रश्रवणगिरि चतुर्दिक दृष्टिपात सा करता प्रतीत होता है और आकाश से जल ग्रहण करके अपनी गुफाओं के द्वारा गोदावरी के रूप में लोक कल्याणार्थ वाह्य संसार में भेज देता है।

तीसरा नाटक है उत्तर राम चरित्र जिसमें राज्याभिषेक के उपरान्त गर्भिणी सीता के परित्याग से लेकर लव और कुश के राम से सम्मिलन तक का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में कवि का सशक्त प्रवृत्ति वर्णन वैसे ही सर्वत्र उभरा हुआ है जैसे सीता के विरह वर्णन में उनकी करुणा। दोनों ही संस्कृत साहित्य में अपना सर्वोच्च स्थान बनाये रखती है।

रामायण की इस कथा का बिस्तृत वर्णन आवश्यक नहीं है। राम और सीता के वार्तालाप से नाटक प्रारम्भ होता है। राज्याभिषेक हो चुका है। लक्ष्मण कुछ चित्र उनके सामने रखते हैं जिनमें स्वयं उन लोगों का ही पिछला बनवास का जीवन चित्रित किया गया है। सीता उन्हें देख-देख कर एक विचित्र दुःख पूर्ण आह्लाद का अनुभव करती हैं। राम भी अतीत की स्मृतियों का वर्णन बड़े प्रेम से करते-हैं। "प्रिये क्या तुम्हें वे दिन याद हैं जब इस माया जाल से दूर केवल हम दोनों एक दूसरे में समाये हुये आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। हम लोगों का सारा ध्यान एक दूसरे पर केन्द्रित था ?" चित्रों को देखते ही देखते गर्भिणी सीता को आलस्य घेर लेता है और तब राम उन्हें वहीं अपनी बांहों का तकिया देकर लिटा देते हैं और कहते हैं कि--"जब से तुम ब्याह कर आयी हो तब से जंगलों में, कुटिया में और महलों में इसी बांह ने ही तुम्हारे तकिये का काम दिया है और भविष्य में भी सदैव देती रहेगी।" इस रसालाप को सुनते ही सुनते सीता को नींद आ जाती है और वे सावधानी पूर्वक सीता को सुला कर ज्यों ही बाहर आते हैं त्यों ही दूतों द्वारा उन्हें यह समाचार मिलता है कि लंका में रहने के बाद भी सीता को ग्रहण कर लेने से प्रजा में असन्तोष फैल रहा है। राम को अपनी मर्यादा इतनी प्रिय है कि वे इस असन्तोष को सहन करने में अपने को असमर्थ पाकर सीता को पुनः त्याग कर देते हैं। बारह वर्ष बीत जाते हैं, सीता के गर्भ से लव और कुश उत्पन्न होकर अब कुमारावस्था को प्राप्त हो चुके हैं। वे सभी ऋषि बाल्मीकि के आश्रम में रह रहे हैं, जहाँ की बासन्ती सीता की अभिन्न हृदया सखी है। विधुरा सीता का मुख ओस कण युक्त पीत कमल सा हो गया है। कवि ने इस प्रकार की आयोजना की है कि अदृश्य रह कर ही सीता राम को देख सकें और वह मिलाप गोदावरी तट पर ही हो। इस साक्षात्कार में राम के प्रति सीता को जिन श्रद्धा एवं विश्वासपूर्ण कोमल भावनाओं का चित्रण हुआ है, वह हिन्दू नारी में ही प्राप्य है। बासन्ती जब-जब राम की निष्ठुरता की भर्त्सना करती है तब-तब सीता उसे ऐसा करने से रोकती है, परन्तु बासन्ती राम को इतना फटकारती है कि राम जोर-जोर से रोने लगते हैं। सीता से यह सहन नहीं हो पाता परन्तु तमसा (एक दूसरी सखी) समझाती है कि राम को रोने दिया जाय क्योंकि रोने से दुःख हल्का हो जाता है और हृदय फटने से बँच जाता है। राम रोते-रोते बेहोश हो जाते हैं और इस दुःख को सहन करने में असमर्थ सीता तुरन्त आकर उनके मस्तक को स्पर्श करती हैं, स्पर्श पाते ही राम की चेतना लौट आती है और वे चिल्ला उठते हैं "अरी ओ बासन्ती, मेरी प्रसन्नता से तू भी प्रसन्न हो, क्योंकि अभी-अभी मैंने सीता का स्पर्श सुख प्राप्त किया है।

विश्वास रक्खो मैं भ्रम में नहीं हूँ, क्योंकि उस हाथ के स्पर्श को पहचानने में मुझे भ्रम हो ही नहीं सकता।"

तमसा सीता को बरबस खींच ले जाती हैं, परन्तु सीता की तत्कालीन हृदय स्थिति का जो वर्णन कवि ने किया हैं वह सर्वथा प्रशंसनीय है। कवि बार-बार राम को एक निर्बल-पति के रूप में ही देखता है। सीता त्याग उसकी राम में निरी साहसहीनता का परिचायक है। जिस समय जनक ने अपनी पुत्री की दुर्दशा का हाल सुना तो वे बड़े क्रोधित हुये और कहने लगे "उस जाति को लज्जित होना चाहिये जिसने सीता की पवित्रता पर सन्देह किया। राम को अपनी जल्दबाजी पर भी लज्जित होना चाहिये, जिन्होंने अपनी अयोग्य प्रजा के कहने पर मेरी पुत्री की इतनी दुर्दशा की।"

इसके बाद की रामाश्वमेध की कथा सर्वश्रुत है कि किस प्रकार महर्षि बाल्मीक की मध्यस्थता से कथा का सुखद अंश सामने आया। राम लव, कुश को लेकर अयोध्या लौटे आये। परन्तु कवि ने राम की एक बार और भर्त्सना किये बिना नहीं छोड़ा। राम, सीता, लव, कुश के सम्मिलन एवम अयोध्या वासियों की श्रद्धांजलि प्रगट करने के साथ नाटक की समाप्ति होती है।

कालिदास एवम भवभूति के विवरण देने मात्र से मुझे यह सन्तोष हो गया कि जैसे हमने समूचे संस्कृत साहित्य का वर्णन कर दिया। इस काल में शताधिक नाटक लिखे और अभिनीत किये गये होंगे, उनमें से सर्व श्रेष्ठ कृतियाँ ही जीवित हैं और शेष विस्मृति के गर्त में जा पड़ीं। मि० विल्सन ने अवशिष्ट नाटकों की संख्या साठ बताई है। इनमें से आज मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस तथा वेणी संहार नामक नाटक ही बहुश्रुत हैं। मृच्छकटिक का प्रणेता शूद्रक माना जाता है तथा इसके रचना काल का पता नहीं चलता। आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर यह छठवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसकी शैली भी अन्य नाटकों के समान है तथा इसमें भी उज्जयिनी का वर्णन आया हैं। पौराणिक त्रिमूर्तियों को इसमें मान्यता दी गयी हैं, बौद्ध विरोधी भावनायें स्पष्ट परिलक्षित होती हैं, न्यायकार्य में मनु-स्मृति को प्रमाण मानने की प्रवृत्ति दृष्टि गोचर होती है।

मुद्रा राक्षस काफी बाद की कृति है तथा इसके रचयिता हैं विशाख-दत्त। इस नाटक के अन्तिम वक्तव्य पर ध्यान देने से पता चलता है कि मुसलमानों की शक्ति स्थापना उस समय तक भारत में हो चुकी थी। इस नाटक की महत्ता इस बात पर भी है कि यह ईसा के पूर्व की तीसरी शती की उस ऐतिहा-सिक क्रांति का वर्णन करता है, जिसने चाणक्य की सहायता प्राप्त चन्द्रगुप्त

मौर्य को भारत का सम्राट बना दिया था। चाणाक्य एवम मंत्री राक्षस के कूटनीतिक दावपेचों का वर्णन जिस कुशलता से इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है वैसा संसार की किसी भी भाषा में दुर्लभ है।

वेणी संहार के रचयिता के रूप में भट्ट नारायण का नाम लिया जाता है। कहा जाता है कि जिन पाँच ब्राह्मणों को आदि सूर कन्नौज से बंगाल लाया था, भट्ट नारायण उन्हीं में से एक थे। आज के कितने ही बंगाली ब्राह्मण अपने को इस नारायण का ही वंशज मानते हैं। इसमें द्यूत कर्मान्तर दुःशासन द्वारा द्रौपदी के केशाकर्षण की कथा है, जो महाभारत से ली गयी है। केश खींचने से द्रौपदी की वेणी जो खुली तो दुर्योधन की मृत्यु के बाद ही बाँधी गयी। अपनी भाषा शैली के कारण यह नाटक मुस्लिम विजय के बहुत पहले का नहीं प्रतीत होता।

सत्तावनवाँ अध्याय

काव्य

जिस प्रकार नाट्य साहित्य में कालिदास सर्वाधिक प्रख्यात हैं, उसी प्रकार संस्कृत काव्य साहित्य में भी पौराणिक काल में अनेक महा काव्यों द्वारा संस्कृत का भंडार भरा गया और उनमें जो सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं, उनमें दो तो केवल कालिदास के ही हैं। पहला रघुवंश है और दूसरा है कुमारसम्भव।

रघुवंश में सूर्य वंश के संस्थापक से लेकर राम तक के राजाओं का विशद वर्णन है। विषय तो इतिहास का है, परन्तु कवि की असाधारण प्रतिभा ने इसमें सभी स्थलों पर जैसा सजीव वर्णन उपस्थित किया है उसने इसे महाकाव्य का रूप दे दिया है। इस महान ग्रन्थ में सभी रसों का परिपक्व अति सुन्दर रूप से बन पड़ा है। राजाओं के चरित्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों को भी अनुपम प्रतिभा द्वारा इस प्रकार सजाया सँवारा गया है, जैसे ससुराल जाती हुई नव वधू का शृंगार किया जाता हैं। भावनाओं और कल्पनाओं की उड़ान केवल मनन करने की वस्तु है, समझाने की नहीं। आदि से लेकर अन्त तक कवि की अनुपम छन्द व्यवस्था, सुन्दर विषय वर्गीकरण एवम चुनी हुई उपमाओं की जैसी छवि इस महाकाव्य में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। महाकाव्य के सुरम्यतम स्थलों में से एक स्थल यह भी है

जिसमें लङ्का विजय एवम सीता प्राप्ति के अनन्तर राम पुष्पक विमान में बैठ कर लङ्का से आयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। विमान सागर की नील विक्षुब्ध लहरों को पार करता हुआ सरित, शैल, काननों को लाँघता हुआ अयोध्या की ओर उड़ता है और राह में पड़ने वाली एक-एक वस्तु का संक्षिप्त वर्णन सीता को बताते चलते हैं। इन स्थानों का अलंकारिक वर्णन तो काव्य की अक्षय निधि है ही साथ ही छठवीं शताब्दी के उज्जयिनी वासियों के भौगोलिक ज्ञान का भी परिचय इससे मिल जाता है।

हमारी राय में कुमार सम्भव में कालिदास की प्रतिभा का अधिक निखार हुआ है। इसमें राजाओं के वंश वर्णन से उन्हें छुट्टी मिल चुकी है और उनकी कल्पना के पंख निकल आये हैं और उमा का शिव के प्रति प्रेम वर्णन एवम् दोनों के विवाह वर्णन में कवि ने जिस सूझ बूझ का परिचय दिया है, वह उसकी अनोखी प्रतिभा का परिचायक है। उमा गिरिराज हिमालय की पुत्री हैं, जिनसे सुन्दर बालिका न देखी गयी न सुनी गयी। "वह दिन धन्य था और धन्य थी वह शुभ घड़ी, जिसमें मैना देवी ने पुत्री का दर्शन किया। मधुर-मधुर वायु प्रवाह की संगति में समस्त आकाश जैसे सद्यः जाता बालिका की गुलाबी आभा से अरुणिम हो उठा था" प्रारम्भिक जीवन का अलंकार मय चित्रण करने के पश्चात् कवि उस बालिका के यौवनागम काल में प्रवेश करता है। देवता लोग दानवों से संत्रस्त हैं, जानते हैं कि शिव शुक्र सम्भूत व्यक्ति से ही दानवों का विनाश सम्भव है। इस कार्य के लिये वे उमा को उस सन्तान की माता का पद देना चाहते थे। शिव की अखंड समाधि कैलाश पर्वत पर लगी हुई है। ऐसा प्रबन्ध किया जाता है कि उमा शिव की सेविका बन कर अहर्निश उनके साथ रहें और यथा शक्ति उनको प्रसन्न करने का प्रयत्न करें। समस्त संसार के साहित्य में उमा की सी सुन्दर और सजीव मूर्ति ढूंढने से भी नहीं मिल सकती। अति साधारण वस्त्रों में पुष्पालंकृता उमा भगवती जगदम्बा की प्रतिमूर्ति ही प्रतीत होती हैं। वे अहर्निश तपस्विनी की भाँति शिव की आवश्यकताओं का जुगाड़ करती रहती है। वो शिव की सेवा में जब कभी थोड़ा सा भी झुकती हैं तो उनकी वेणी में लगे फूल भूमि पर गिर कर भूमि को तारका वलि युक्त निशीथ आकाश से प्रतिस्पर्द्धा करने को तत्पर कर देते हैं। शिव बार-बार आशीष देते हैं कि तुम्हें ऐसा वर प्राप्त होगा जो केवल तुम्हीं को प्यार करता है। यदि कामदेव ने बीच में ही बाधा न डाल दिया होता तो सारा कार्य सुविधा-पूर्वक हो जाता। शिव को तनिक सा असावधान पाकर कामदेव ने अपना कुसुम सायक उन पर ही छोड़ दिया। कवि के ही शब्दों में उस कुसुम सायक का प्रभाव देखिये।

"चन्द्रमा जैसे सागर को विक्षुब्ध कर देता है, उसी भाँति उस वाण ने शिव के हृदय में हलचल मचा दी। हृदयोदधि में कामना की उत्ताल तरंगे उठने लगीं। बड़े ही प्रयत्न पूर्वक शिव ने अपने को संयत किया और वे अपनी चंचलता के कारण की खोज करने लगे। सामने ही आम्रकुंज में खड़े कामदेव पर उनकी दृष्टि पड़ी और उस दृष्टि की ज्वाला में जलकर कामदेव तत्क्षण क्षार में परिवर्तित हो गया। सारी सृष्टि हाहाकार कर उठी। कामदेव की पत्नी रति विलाप करने लगी और उमा भी निराश हो बनो में घोर तपस्या में रत हुईं। ग्रीष्म का असहाय ताप, वर्षा की निरन्तर झड़ी एवम शिशिर की घोर शीत भी उन्हें चलित न कर सके। शिव फिर समाधिस्थ हुये।

कितने ही लोगों ने चेष्टा की कि इतनी सुकुमारी कन्या ऐसी विकराल सज्जा वाले शिव को पति रूप में प्राप्त करने के प्रयत्न से विरत हो जाय पर उमा अडिग ही रही और अन्त में शिव विवाह के लिये प्रस्तुत हो गये, और आगे चलकर कुमार का जन्म सम्भव हो सका।

कालिदास का एक छोटा सा काव्य है मेघदूत। जिसमें एक दंडित यक्ष अपनी प्रिया से वियुक्त होकर दूर देश में पड़ा है। वर्षा ऋतु में वियोग असह्य हो जाता है एवम् यक्ष बादल को अपना दूत समझ कर उससे अपनी प्रियतमा को सन्देशा भेजता है। बादल को प्रिया का पता बताते हुये वह रास्ते का निर्देश भी करता है, जिसके प्रसंग में विन्ध्याचल से हिमालय तक के रास्ते का अलंकार पूर्ण वर्णन सुन्दर छन्दों में करता है। रास्ते में पड़ने वाले वनों, नदियों एवं नगरों का मनोहारी वर्णन तो वह करता ही है साथ ही उनके निवासियों का भी वर्णन करता चलता है। राह में पड़ने वाली विभिन्न नगारियों की अट्टालिकाओं पर क्रीड़ारता रुचिर वसना, भूषणा लंकृता तरुणियों के भ्रूविलास का भी वर्णन करने से वह नहीं चूकता। इस वर्णन से भी कालिदास के विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है। उनको यह भी पता था कि वर्षा ऋतु का जल भरा बादल दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व को अर्थात् हिमालय की ही ओर चलता है।

भारवि एक दूसरे प्रख्यात कवि हुये हैं जो या तो कालिदास के समकालीन थे या उनके परवर्ती। भारवि का महा काव्य है "किरातार्जुनीय" जो न तो छन्द योजना और न कल्पना की उड़ानों में ही कालिदास के समकक्ष है और न भाषा प्रवाह में ही। हां भारवि विख्यात है अपने अर्थ गौरव के लिए। उनके वर्णनों में जो शक्ति और प्रभावोप्दाकता है वह सर्वथा अतुलनीय है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। द्रौपदी तथा चारों भाइयों सहित युधिष्ठिर बनवास में हैं। द्रौपदी

बराबर उन्हें प्रेरणा देती रहती है कि वे किसी भी अनुबन्ध का खयाल छोड़ कर दुर्योधन से लड़कर अपना राज्य ले लें। वह बार-बार कहती है कि शान्ति तथा अधीनता स्वीकार करना क्षत्रियों का कर्तव्य नहीं है। अविश्वासी का विश्वासनीय न बने रहने का आग्रह वह बार-बार करती है। उसकी राय है कि वीर लोग ही वसुन्धरा का भोग करते हैं। भीम द्रौपदी की बात का समर्थन करते हैं, परन्तु युधिष्ठिर अपनी शान्ति की भावना पर अचल रहते हैं। उसी समय वेद व्यास युधिष्ठिर से मिलने आते हैं और वे अर्जुन को सलाह देते हैं कि वह उग्र तप करके ऐसे अस्त्र प्राप्त करे जो युद्ध भूमि में उसके सहायक हों। तत्क्षण अर्जुन अपने भाइयों से बिदा होकर चल देते हैं और द्रौपदी उनके इस कार्य का पूर्ण समर्थन करती है। वहां से चलकर अर्जुन हिमालय पर पहुँचते हैं और वहां घोर तपश्चर्या में रत हो जाते हैं।

तपस्यारत अर्जुन का वर्णन करने में कवि ने अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया है। उस निर्जन स्थान के पशु पक्षी भी अर्जुन की उपस्थिति से प्रभावित एवं आह्लादित हैं। इन्द्र का दूत अर्जुन की इस तपश्चर्या का सन्देश इन्द्र को देता है, "हिमालय की उस दूर की पहाड़ी पर एक स्वर्गीय पुरुष बलकल वसनों में इस प्रकार की उग्र तपश्चर्या में लीन है कि सारी पृथ्वी शान्त हो उठी है। हे स्वामी! मैं नहीं जानता कि वह देव है या दैत्य या मनुज अथवा कोई सम्राट्। मैं यह भी नहीं जान पाया कि वह किस कार्य की सिद्धि हेतु इतनी उग्र तपस्या कर रहा है।" इन्द्र अपने पुत्र की उग्र तपस्या का समाचार पाकर प्रसन्न मना आशीर्वाद देते हैं। फिर भी वे अर्जुन की परीक्षा कर लेना चाहते हैं। इस कार्य में उन्होंने सर्वोत्तम अप्सराओं का प्रयोग किया पर वे सब निराश लौट आयीं। भारवि ने चार अध्यायों में इन अप्सराओं का सौन्दर्य-वर्णन किया है। उन अप्सराओं ने देखा कि निरन्तर तपश्चर्या एवं तज्जनित व्रतोवपास से अर्जुन का शरीर पीला पड़ गया है, फिर भी वे स्त्रियों के लिए अगम्य जान पड़ते हैं। विवश होकर इन्द्र स्वयं एक वृद्ध ब्राह्मण के वेश में उपस्थित हुये और उन्होंने तपश्चरण की व्यर्थता समझाने की चेष्टा की, परन्तु वे भी असफल रहे। ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने अनुपम सांसारिक वैभव, भौतिक शक्ति तथा ख्याति की निस्सारता समझा कर तप से विरत हो जाने का असफल उपदेश दिया। अर्जुन ने कहा "पिता तारकावलि खचित आकाश सुन्दर अवश्य है, परन्तु दिन के लिये उसकी शोभा व्यर्थ है, उसी प्रकार आपके उपदेश मान्य हैं, परन्तु मेरे लिये समुचित नहीं हैं। इन्द्र इससे कुछ अधिक ही प्रसन्न हुये और जब उन्होंने देखा कि न तो तर्क से और न लोभ से अर्जुन को डिगाया जा

सकता है तो उन्होंने शिवोपासना की सलाह दी, क्योंकि इस कार्य के लिए वे सक्षम हैं।

उनके इस उपदेश को अंगीकार करके अर्जुन ने शिव की इतनी उग्र तपस्या की कि शीघ्र ही शिव को भी परीक्षा लेने की तैयारी करनी पड़ी। वे एक सबल किरात के वेश में उस वन में आते हैं और एक माया कृत वाराह अर्जुन के ऊपर आक्रमण करने की दशा में मारा जाता है और दोनों अर्थात् अर्जुन एवम् किरात उसे अपने द्वारा मारा गया बताते हैं और इस प्रकार एक विवाद उठ खड़ा होता है, जिसका निर्णय युद्ध द्वारा तै करने का निश्चय होता है। कवि ने इस युद्ध का वर्णन छः अध्यायों में किया है।

युद्ध वर्णन की हिन्दुओं की अपनी शैली है। सर्पबाण चले, अग्न्यास्त्र चले, वायु बाणों एवम् जलबाणों की वर्षा की गयी, परन्तु किरत से पार पाना अर्जुन के लिये कठिन हो गया। अर्जुन ने सोचा कि "इतनी देर तक युद्ध में मेरे सामने टह-रने वाला यह नया योद्धा कहाँ से आ गया, जिसके सामने मेरा सारा युद्ध कौशल व्यर्थ हो रहा है। एक से एक योद्धाओं को मैंने क्षणों में ही युद्ध से विरत कर दिया, परन्तु क्या आज सूर्य को चन्द्रमा के सम्मुख नत होना पड़ेगा। युद्ध के क्रम में अर्जुन के सभी शस्त्रस्त्र कट गये और वे निहत्थे ही मल्लयुद्ध के लिये किरात की ओर झपटे। देर तक मल्लयुद्ध होता रहा। अन्त में अर्जुन ने शिव को पछाड़ने के लिये उनके पैरों को पकड़ लिया। पैर पकड़ने की क्रिया को अपनी अभ्यर्थना समझ कर तुरन्त ही शिव ने छद्म वेश त्याग दिया और अर्जुन को सहर्ष आशीष देकर अनेक अस्त्र मंत्र सहित प्रदान किया और विजयी होने का वरदान भी दिया।

इस छोटे से कथानक को अपनी वर्णन विदग्धता के बल पर महाकाव्य रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें न तो कोमल भावों का प्रदर्शन ही है और न कल्पनात्मक भावों की उड़ाने ही सम्भव हो सकी हैं, परन्तु वर्णन की सशक्त शैली एवम भाव पूर्ण व्यंजना ने इस काव्य को अमरत्व प्रदान कर दिया है।

अब हम सातवीं शताब्दी में आ जाते हैं। चीनी यात्री इत्सिंग के वर्णन से हम यह जान चुके हैं कि भतृहरि शीलादित्य द्वितीय के समकालीन थे। भतृहरि के शतक ही उन्हें पौराणिक मतानुयायी सिद्ध करने को पर्याप्त हैं, परन्तु उनमें यत्र तत्र बौद्ध भावनाओं का भी समावेश हो गया है, जो समय का प्रभाव है। प्रो० लासेन के अनुसार शतकत्रय के छन्दों में जिस गम्भीरता भावप्रवणता एवम शब्द चयन के दर्शन होते हैं- वे अपने सर्जक को अमर बनाने के लिये पर्याप्त हैं।

दो अन्य महाकाव्य भी पाठकों को प्रिय हैं, परन्तु वे बाद की रचनायें हैं

श्रौर शायद ग्यारहवीं या बारहवीं शती में रचे गये, जब भारत में राजपूतों का सम्पूर्ण उत्थान हो चुका था। एक है श्री हर्ष का नैषधचरितम् तथा दूसरा है माघ का शिशुपाल वधम् *। इन दोनों के कथानक महाभारत से लिये गये हैं। नैषधचरितम् में निषध देश के सुप्रसिद्ध राजा नल एवम् उनकी विदर्भ देशीय पत्नी दमयन्ती की कथा है। डा० बुलर के मतानुसार यह कृति बारहवीं शती की है। राजशेपर के श्रनुसार श्री हर्ष का जन्मस्थान यद्यपि बनारस है परन्तु उन्हें बंगाल का पूर्ण ज्ञान था। उधर चौदहवीं शती के विद्वान् विद्यापति ने उन्हें बंगाली माना है। काल क्रम से दोनों ही विद्वान् मान्य हो सकते हैं, अर्थात् सम्भव है कि उनका जन्मस्थान तो बनारस ही रहा हो, परन्तु बाद में वे बंगाल की श्रोर चले आये हों।

शिशुपाल वधम् में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कृष्ण द्वारा शिशुपाल के मारे जाने का वृत्त प्रस्तुत किया गया है। इस महाकाव्य की शैली से भारत की शैली का दूर का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। भोज-प्रबन्ध के अनुसार माघ कवि ग्यारहवीं शताब्दी में धाराधिपति भोज के समकालीन थे।

बारहवीं शताब्दी में बंगाल के जयदेव ने संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक सुन्दर गीतकाव्य लिखा जो गीतगोविन्द के नाम से प्रख्यात है। डा० बुलर की खोज के फलस्वरूप गीतगोविन्द की एक प्रति काश्मीर में पायी गयी, जिसके अनुसार जयदेव बंगाल के लक्ष्मणसेन के दर्बार में थे और वहीं से उन्होंने कविराज की उपाधि भी पायी थी। इस ग्रन्थ में सर्वत्र कृष्ण की क्रीड़ाओं के माध्यम से संयोग शृङ्गार को प्रश्रय दिया गया है, जिसकी कोमल भाव युक्त गेय पदावलियाँ बरबस श्रोता को आकर्षित कर लेती हैं। संस्कृत साहित्य का यह अकेला गेय काव्य है जो अपनी कोमल कान्त पदावली के लिये सारे भारत में विख्यात है। इसमें कृष्ण राधा की निर्बाध प्रेम जनित क्रीड़ाओं का वर्णन है, जिसमें स्थान स्थान पर अनुप्रास एवम् अलंकारों की छटा देखते ही बनती है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में विष्णु धृत दशावतारों का वर्णन संक्षिप्त प्रसंग के साथ गेय पदों में ही प्रस्तुत किया गया है। यत्र तत्र प्रकृति वर्णन तथा प्रकृति का मानव हृदय पर एवम् मानव हृदय का प्रकृति पर पड़ने वाले प्रभाव की सूक्ष्म व्यंजना मनोहारी रूप से की गई है। ऋतु वर्णन इनका बेजोड़ ही है।

---

* किसी समालोचक का विचार है कि "नव सर्गे गते माघे, नव शब्दम् न विद्यते"। अर्थात् माघ की रचना के नौ सर्ग पढ़ जाने पर संस्कृत् साहित्य की समूची शब्दावली का ज्ञान हो जाता है तथा पाठक को फिर नये शब्द के दर्शन नहीं होते।

—अनुवादक

अट्ठावनवाँ अध्याय

कथा साहित्य

भारत की ख्याति विदेशों में अपने विज्ञान, नाटक तथा काव्यों के द्वारा उतनी नहीं फैली, जितनी अपने कथा साहित्य के कारण। अभी विदेशी केवल सभ्यता के पथ पर प्रथम चरण भी रख पाने को प्रस्तुत न हो पाये थे कि ईसा से शताब्दियों के पूर्व जातक कथाओं द्वारा आर्यों का कथा-साहित्य अपनी ज्योत्सना से भारतीय हृदयों को प्रकाशित करने लगा। डा० राईस डेविड्स के कथनानुसार आर्यों की इन कथाओं ने दूर दूर देशों का भ्रमण किया। पंच तन्त्र की कहानियाँ शताब्दियों तक कहे सुने के बाद अपने वर्तमान रूप में सरलतम् संस्कृत भाषा में संग्रहीत की गयीं। नौशेर खाँ के शासन काल (५३१-५७२ ई०) में इसका अनुवाद फारसी भाषा में किया गया, जिससे सिद्ध होता है कि यह संग्रह-कार्य यदि और पहले का नहीं तो छठवीं शताब्दी का तो अवश्य ही है। फारसी भाषा से ये कहानियाँ अरबी में अनूदित हुईं और सीमियन सीघ नामक यूनानी ने इन कहानियों को अरबी भाषा से ग्रीक भाषा में लिया। यह अनुवाद सन् १०८० ई० में किया गया था। पासिनस नामक लातिनी भाषा के विद्वान् ने ग्रीक भाषा में लिखित कहानिथों का अनुवाद लातिनी (लैटिन) भाषा में किया। सन् १२५० ई० में हिब्रू भाषा के प्रख्यात विद्वान् रबी जोल ने ग्रीक भाषा से हिब्रू भाषा में इसका अनुवाद किया। सन् १२५१ ई० में अरबी भाषा में लिखित कहानियाँ स्पैनिश भाषा में अनूदित की गई। इन कहानियों का प्रथम प्रकाशन जर्मन भाषा में पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ और तब से योरप की तमाम भाषाओं में इनके अनुवाद धड़ल्ले से प्रकाशित होने लगे तथा वहाँ पिलले की कहानियाँ या विदपे की कहानियों के नाम से प्रचलित हुये। इस प्रकार एक हिन्दू द्वारा संग्रहीत पशुओं की लोककथायें कितनी ही शताब्दियों तक संसार के बाल-परिवारों को अपने साधारण परन्तु सारगर्भित प्रसंगों से मनोरंजन के माध्यम से ज्ञान प्रदान करती रही हैं।

भारतीय कथा साहित्य का अनुसन्धान करते हुये जब हम छठवीं से सातवीं शताब्दी में प्रवेश करते हैं, तो संस्कृत साहित्य को सर्वथा परिवर्तित रूप में पाते हैं। पंचतंत्र का कथाओं के सरल संस्कृत के स्थान पर हमें सर्वथा सुसज्जित, परिवर्तित एवम् परिमार्जित संस्कृत का दर्शन होता है। दंडिन की रचना दशकुमार चरितम् सातवीं

शताब्दी के प्राथमिक वर्षों की रचना है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रगट है, इस ग्रन्थ में दस राजकुमारों की कथायें हैं जो विभिन्न देशों के तो थे ही, साथ ही वे अपने साथ विभिन्न अनुभवों को भी लाये थे। उनकी कथायें अधिकांश मानवेतर शक्ति प्राप्त व्यक्तियों की साहसिक कथायें हैं। इसकी भाषा पूर्णतया परिष्कृत, इसके वर्णन अलंकारात्मक तथा लेखनशैली वैदग्धपूर्ण है। जिस प्रकार कालिदास की उपमा, भारविका अर्थ-गौरव, प्रसिद्धि है, उसी प्रकार दंडिन् का पदलालित्य भी अद्वितीय है। संस्कृत साहित्यालोचकों ने माघ में इन तीनों गुणों का समावेश किया * है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि कादम्बरी के प्रणेता बाणभट्ट ने शीलादित्य द्वितीय के दर्बार को अलंकृत किया था। नाटक वाले अध्याय में हमने इस सम्भावना को भी मान्य समझा था कि शायद रत्नावली नाटक की रचना बाणभट्ट ने ही की हो। हर्ष का जीवन वृत्त भी बाणभट्ट की ही रचना है, जिसे हम 'हर्ष चरित' के नाम से जानते हैं। बाणभट्ट के पिता का नाम चित्रभानु था तथा माता का नाम राज्य देवी। बाणभट्ट की चौदह वर्ष की आयु में ही उनके पिता का स्वर्गवास हो गया और वे बेसहारा हो गये। भद्रनारायण, ईशान तथा मयूर इत्यादि विद्वान् बाणभट्ट के प्रारम्भिक जीवन के मित्रों में से थे।

कादम्बरी का कथानक वनस्थली में विकसित होने वाला कथानक है, जिसके विकास में लेखक ने प्रारब्ध की प्रबलता एवम् अवश्यम्भाविता का अनुसरण किया है। कथा इतनी लम्बी है कि इस स्थल पर उसका सारांश भी दे सकना सम्भव नहीं है। कादम्बरी के नायक तथा नायिका एकाधिकार पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं और प्रत्येक जन्म में उनका आपसी आकर्षण बना रहता है। दुर्दमनीय वासनाओं के चित्र, सीमातीत वेदना तथा अदम्य प्रेम के चित्र तथा जंगलों की निर्जनता में तपश्चर्या के चित्रों को प्रस्तुत कवि ने जिस उत्साह एवम् वाग्विदग्धता का प्रदर्शन किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। लेखक के भाव गाम्भीर्य एवम् शब्द योजना तथा उसका भाषा पर अधिकार देख कर सराहना करनी ही पड़ती है। इसके पात्रों में निजी चरित्र की दृढ़ता

---

* उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिने पदलालित्यम, माघे सन्ति त्रयोगुणाः!

अर्थात् कालिदास की उपमाएँ, भारविका अर्थगौरव तथा दंडिन का पद लालित्य बेजोड़ है, परन्तु माघ में ये तीनों ही गुण पाये जाते हैं।

—अनुवादक

कम ही दिखाई पड़ती है तथा वे सदैव ही भाग्य से प्रेरित कार्य करते रहते से दिखाई पड़ते हैं। भाग्य की आँधी में वे क्षुद्र तिनकों के समान उड़ा करते हैं, जिनका सौन्दर्य मात्र इतना ही है कि वे कभी भाग्य को दोष देते नहीं दिखाई पड़ते। प्रत्येक चरित्र भाग्याधीन रह कर ही कार्य रत रहता है। इस प्रकार हिन्दुओं की 'भाग्यमेव फलति' (भाग्य अमिट है) की भावना का प्राधान्य सर्वत्र परिलक्षित होता रहता है। जीवन के दुःखों को भाग्य की देन कह कर सन्तोषपूर्वक सहन कर लेने की उच्च हिन्दू भावना की जैसी व्यंजना कादम्बरी में हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इसकी वर्णन शैली सुसज्जित, अतिशयोक्ति पूर्ण, प्रयासयुक्त तथा सीमातीत है। एक एक शब्द के पहले सुनियोजित विशेषण मालाओं की आयोजना की गई है, उपमाओं की भरमार है तथा अर्थालंकारों से समूचा वर्णन भाराक्रान्त सा प्रतीत होता है। एक एक वर्णन पृष्ठ पर पृष्ठ घेरते चले गये हैं।

सुबन्धु भी बाणभट्ट के ही समकालीन थे। उन्होंने वासवदत्त नामक एक छोटी सी कथा लिखी है। राजकुमार कन्दर्पकेतु ने स्वप्नावस्था में वासवदत्ता को देखा और मुग्ध हो गया। उधर राजकुमारी ने कन्दर्प केतु को स्वप्न में देखा और मोहित हो गई। राजकुमार कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) गया और राजकुमारी से मिला और एक यन्त्र चालित घोड़े पर उसे ले उड़ा और विन्ध्याचल पर रक्खा। वहाँ उसे नींद आ गयी और जगने पर उसने देखा कि राजकुमारी गायब है। दुखी होकर राजकुमार आत्महत्या करना ही चाहता था कि आकाशवाणी हुई, जिससे पता चला कि राजकुमारी का उससे फिर मिलाप होगा। अत्यधिक परिभ्रमोपरान्त उसने एक पाषाण प्रतिमा देखा जो राजकुमारी के अनुरूप थी। उसके स्पर्शमात्र से वह प्रतिमा राजकुमारी रूप में परिवर्तित हो गई। एक साधु ने उसका रूप परिवर्तन इन शब्दों के साथ कर दिया था कि प्रेमी के स्पर्शमात्र से वह फिर वास्तविक रूप धारण कर लेगी। प्रेमियों का यह जोड़ा सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगा।

अभी दो एक कथाओं का वर्णन करना शेष रह गया है। दक्षिण भारत की जनता में जो कथायें प्रचलित थीं, उन्हें ही संकलित करके बृहत् कथा का नाम दिया गया है। १२ वीं शताब्दी में काश्मीर की रानी सूर्यावती के पोते का देहान्त हो गया। उनके दुखी हृदय को धीरज देने के लिये सोमदेव नामक एक विद्वान् ने बृहत् कथा को संक्षिप्त कर उसे संस्कृत भाषा में अनुवादित करके उसका नाम रक्खा कथा सरित् सागर। इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा गया है कि पाणिनी के आलोचक मागध सम्राट् चन्द्रगुप्त के मन्त्री कात्यायन ने इन कहानियों को कहा था। दक्षिण के एक पिशाच (दक्षिण की जाति विशेष) ने इन कहानियों को सुना, याद किया और

स्वदेश लौट कर पैशाची भाषा (पिशाचों की भाषा) में गुणाढ्य नामक विद्वान् को सुनाया, जिसने लेख बद्ध करके इन्हें प्रकाशित कर दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस ग्रंथ से कात्यायन का सम्बन्ध जोड़ना निरी कल्पना है, तथ्य नहीं। ये कहानियाँ दक्षिण की ही हैं और प्रारम्भ में पैशाची भाषा में ही थीं।

सोमदेव द्वारा लिखित कथा सरित् सागर के आठ भाग हैं जिनमें कुल मिला कर एक सौ चौबीस अध्याय हैं। उस समय तक जो कुछ भी वृत्त ज्ञात था, सभी इन कहानियों में भर दिया गया है। यत्र तत्र इसमें रामायण महाभारत की भी कहानियाँ मिलती हैं, कुछ कहानियाँ पुराणों की भी हैं, पंचतंत्र की अधिकांश कहानियाँ हैं तथा बैतालपचीसी की सभी कहानियाँ इसमें संग्रहीत हैं। सिंहासन बत्तीसी की कुछ कहानियों के साथ उज्जयिनी के विक्रमादित्य की अनेक शौर्य कथायें हैं। इन कहानियों में भारत के जन जीवन एवम् विश्वासों की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है।

इन कहानियों के अनुसार विक्रमादित्य महेन्द्रादित्य का पुत्र था उसकी माता का नाम सौम्यदर्शना था, तथा उसका दूसरा नाम विषमशील भी था। उसका जन्म इसलिये हुआ था कि वह भारत में प्रबल पड़ रहे म्लेक्षों का नाश करे, क्योंकि देवताओं को यह शिकायत थी कि भारतवर्ष में म्लेक्षों का प्रभाव बढ़ रहा है। विक्रमादित्य ने जन्म लेकर इस उद्देश्य की पूर्ति की। हितोपदेश प्राचीन पंचतंत्र की ही कुछ कहानियों का संग्रह है। इसकी विशेषता यह है कि यद्यपि उस समय जन भाषा प्राकृत थी, फिर भी यह ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया है।

बररुचि विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे। वे पहले पंडित थे जिन्होंने प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है। वे अपने ग्रथ में चार जनभाषाओं का वर्णन करते हैं, (१) महाराष्ट्री या प्राकृत, (२) शौरसेनी, जो महाराष्ट्री के समान है तथा उसी के समान संस्कृत से उद्भूत है, (३) पैशाची तथा (४) मागधी। अन्तिम दोनों शौरसेनी से निकली हैं।

बौद्धों की पवित्र भाषा पाली थी तथा पौराणिक काल में धीरे धीरे उसका स्थान प्राकृत ने ले लिया तथा प्रायः हजार वर्षों तक प्रचलित भाषा रहने के बाद पाली मृत भाषा हो गयी। बौद्धों के पतन के साथ ही पाली भाषा भी मृत हो गई, क्योंकि बौद्धों के प्रति बढ़ती हुई घृणा ने बौद्धों द्वारा व्यवहृत की जाने वाली भाषा के प्रति भी घृणा उत्पन्न कर दिया। इधर ब्राह्मणों का प्रभुत्व दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था और वे बौद्धों की किसी भी वस्तु को जीवित नहीं रहने देना चाहते थे।

इस प्रकार के राजनैतिक एवम् सामाजिक कारणों ने मिल कर पाली भाषा को मृत भाषा की श्रेणी में ला दिया तथा प्राकृत भाषा उसके स्थान पर अधिष्ठित हुई।

न केवल भारत के लिये वरन् संसार के सभी देशों पर एक नियम लागू होता है कि जब भी किसी देश में महान् क्रान्ति के फलस्वरूप शासन परिवर्तित होता है, तो देश के धार्मिक जीवन को तो प्रभावित करता ही है, साथ ही भाषा को भी प्रभावित करता है। ऐसा नहीं होता कि घंटों, दिनों या महीनों में सब भाषा ही बदल जाय। होता यह है कि नया शासक वर्ग एक सर्वथा परिवर्तित भाषा अपना लेता है और धीरे धीरे यही भाषा कालान्तर में सब भाषा का रूप ले लेती है। जब गंगा नदी के आस पास के आर्य लोग अपनी ही जाति वाले उन लोगों से विद्या में आगे बढ़ गये, जो पंजाब में रह रहे थे तो हम देखते हैं कि गंगा तीर निवासी आर्यों में एक सर्वथा नवीन संस्कृत भाषा का विकास हुआ, जो पंजाब के आर्यों की वैदिक भाषा से भिन्न थी। पंचनद प्रदेशीय वैदिक संस्कृत से भिन्न जिस संस्कृत भाषा का विकास हुआ उसे हम ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृत कह सकते हैं। आगे चल कर जब मगध साम्राज्य स्थापित हुआ और बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म का स्थान ले लिया तो भाषा परिवर्तन क्यों नहीं होता। वह भी हुआ। ब्राह्मणों * की संस्कृत का स्थान लिया पाली भाषा ने। बौद्ध धर्म के ग्रन्थ पाली में लिखे गये उपदेश पाली में होने लगे। राज काज पाली में होने लगे तथा जब जनता को मालूम हो गया कि अब पाली पढ़ने बोलने में ही कल्याण है तो उसने भी धीरे धीरे दो एक पीढ़ियों में चल कर पाली को ही अपना लिया।

इधर बौद्ध धर्म पतनोन्मुख हुआ, उधर विक्रमादित्य महान के कारण पौराणिक हिन्दू धर्म आगे बढ़ा और साथ ही साथ पाली भाषा को अत्यधिक पीछे छोड़ कर प्राकृत भाषा सन्मुख आ गयी, जिसे प्रथमतः शासक वर्ग ने अपनाया और बाद में जनता ने। इसी प्रकार प्रचीन राजवंशों के स्थान पर जब राजपूती राजवंश स्थापित हुये तो प्राकृत का स्थान लिया हिन्दी ने या विभिन्न प्रान्तों की प्रान्तीय भाषाओं ने।

उपरोक्त सारी बात तो समझ में आ जाती है, यदि कोई बात समझ में नहीं आती तो यही कि कालिदास तथा भवभूति ने क्या मृतभाषा में रचना की थी? क्या यह सम्भव है कि शकुन्तला तथा उत्तर रामचरित की रचना मृत भाषा में सम्भव

---

* ब्राह्मणों की संस्कृत से ब्राह्मण जाति की संस्कृत नहीं समझना चाहिये। इसका तात्पर्य है संस्कृत भाषा के उस रूप से जो ब्राह्मण ग्रन्थों में उपयुक्त है।

— अनुवादक

थी ? क्या संसार के किसी भी देश में ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जब कि मृतभाषा में इतनी सुन्दर रचनायें प्रस्तुत की गयी हों ?

जिन लोगों ने संस्कृत एवम् प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है उन लोगों के लिये इन प्रश्नों का उत्तर देना सरल है। बात यह है कि पौराणिक युग में संस्कृत भाषा को उस प्रकार की मृत भाषा नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार की मृतभाषा वर्तमान योरप में लैटिन भाषा हो गयी है। संस्कृत एवम् प्राकृत भाषा का अन्तर उतना नहीं है जितना अन्तर लैटिन भाषा तथा वर्तमान इतालवी भाषा में है। जिस समय भारत की साधारण जनता प्राकृत को अपनाये हुई थी, उस समय में भी संस्कृत विद्वानों एवम् राजदर्बारों की भाषा संस्कृत ही थी। उस समय के सारे वादविवाद संस्कृत में ही होते थे। जिस प्रकार पाठशालाओं में, उसी प्रकार राज-दर्बारों एवम् शिक्षित जनों में संस्कृत बोली तथा समझी जाती थी। सभी प्रकार की राजकीय घोषणायें तथा वक्तव्य संस्कृत में ही प्रसारित किये जाते थे। काव्य संस्कृत में रचे जाते थे, संस्कृत के नाटकों का अभिनय प्रचलित था। हर शिक्षित व्यक्ति संस्कृत समझता और बोलता था। साधारण समाज में प्राकृत भाषा बोलने वाले लोग भी कमीवेश संस्कृत को समझ लिया करते थे। उस समय में भी संस्कृत पढ़ी जाती थी, बोली जाती थी, और हर प्रकार की रचनायें उसी भाषा में की जाती थी। आज के युग में संस्कृत जिस प्रकार की मृतभाषा हो गई है, वह स्थिति पौराणिक काल में नहीं थी। इस प्रकार कालिदास तथा भवभूति, आर्यभट्ट तथा बराह मिहिर, चरक तथा सुश्रुत की रचनायें मृतभाषा में नहीं लिखी गई थीं।

उनसठवाँ अध्याय

प्राचीन युग की समाप्ति

अब तक हम भारत की प्राचीन सभ्यता के अपूर्ण इतिहास में द्रुतगति से आगे बढ़ते आये हैं। अब उस इतिहास की समाप्ति का अवसर आ गया है। यह विषय विज्ञान का है और हमारे लिये यह सम्भव नहीं हो सका कि हम इस विषय की विशालता का सम्यक् अनुपात बनाये रख सकते। इस छोटी सी पुस्तक में विस्तृत विवरण प्रस्तुत

करना सम्भव था भी नहीं। अतएव मुख्य निर्धारक तथ्यों को ही आधार बना कर पूर्ण चित्र देने का प्रयास हमने किया है, इस विषय की कितनी ही सामग्री तो अलभ्य ही बनी रह गयी, परन्तु जो मिली भी उसमें से भी केवल उन्हीं सामग्रियों का उपयोग हमने किया जो विषय वर्णन के लिये अत्यन्त आवश्यक थीं। इस काट-छाँट की प्रक्रिया में केवल वे ही चित्र उभर पाये हैं जो प्रत्यक्ष रूप से प्राचीन भारतीय सभ्यता के प्रमुख तत्वों पर प्रकाश डालते हैं। यदि इन चित्रों को एक में मिला कर देखने से हमारे देशवासियों के मस्तिष्क में अपने पूर्वजों की सहायता का तनिक भी अनुभव हो सका है तो हमारा प्रयास सफल है। अब हम पाठकों को थोड़ी ही देर तक और रोक कर इस अनुपमेय चित्र संग्रह के कुछ अन्तिम चित्रों को प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे, जो हमारी सामाजिक मान्यताओं, संस्कारों एवम् रीति रिवाजों पर प्रकाश डालते हैं, मुस्लिम विजय के पूर्व हमारी सभ्यता किस स्थिति में थी, इसकी सम्यक् जानकारी दिये बिना यह विवरण अपूर्ण ही रह जायगा।

हिन्दू-इतिहास का यह अंतिम अध्याय स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित है। दिल्ली एवम् अजमेर के राजपूतों का विवरण वर्तमान कालीन इतिहास लिखने वाले करेंगे, क्योंकि काल विभाजन के नियमों के अनुसार वे आधुनिक काल में पड़ते हैं। ग्यारहवीं एवम् बारहवीं शताब्दी के ये राजपूत राजागण प्राचीन कालीन सम्राटों जैसे विक्रमादित्य तथा शीलादित्य से भिन्न प्रकार के हैं। राजपूतों का सम्बन्ध आधुनिक युग से हैं जब कि इस पुस्तक में वर्णित सम्राट् प्राचीन युग में आते हैं। बीच की नवीं एवम् दसवीं शताब्दी जो तमसावृत्त काल है वही प्राचीन एवम् आधुनिक युग के बीच विभाजक रेखा का काम करता है।

अतएव इस अध्याय में अपना विवरण केवल प्राचीन युग के समाप्ति काल तक ही सीमित रक्खेंगे। हम प्रयास करेंगे कि छठवीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक के भारतीय जन जीवन का ऐसा स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करें जो इस विषय की सम्पूर्ण जानकारी पाठकों के समक्ष रख सकें। कालिदास एवम् भवभूति के समय का सम्यक विवरण प्रस्तुत करने का हमारा ध्येय उन्हीं के माध्यम से सम्पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। अगले अध्याय में हम आनुनिक युग का प्रारम्भिक चित्रण देने का प्रयास करेंगे। दसवीं, ग्यारहवीं एवम् बारहवीं शताब्दियों का विवरण प्रस्तुत करने में एक विद्वान् एवम् उदार विदेशी के विवरणों से सहायता लेंगे, जिसने अपने अनुभवों का लिखित रूप हमारे लिये छोड़ रक्खा है।

दुष्यन्त के चरित्र के रूप में कालिदास ने निज कालीन राजाओं के चरित्रों का

आदर्श अंकित किया है। उसका विक्रमादित्य ही शकुन्तला का दुष्यन्त है। दुष्यन्त के चरित्र से ही हम तत्कालीन राजाओं के चरित्र का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, जो अपने शानदार दर्बारों में देश के सर्वप्रमुख विद्वानों की संगति प्राप्त करने के लिये उन्हें नाना प्रकार की सुविधायें दे देकर अपने आश्रय में रखने को अपना गौरव समझते थे। उनका जीवन बाहर अपने विद्वानों, रक्षकों एवम् सैनिकों की संगति में बीतता था, तथा भीतर रानियों पवम् दासियों के सान्निध्य में। इन राजाओं की प्रवृत्ति युद्ध-प्रिय थी एवम् वे स्वाभाविक रूप से कर्मठ और आलस्यहीन होते थे, उसे बाह्य जीवन में दो ही वस्तुयें प्रिय थीं; युद्ध और आखेट। शान्तिकाल में राजा पूर्ण सैनिक साजो सज्जा से वनों में आखेट खेलने के लिये जाया करता था। कहने की आवश्यकता नह कि उस युग में भारत में विशाल बनों का आधिक्य था, मध्यकालीन योरपीय सामन्तों के समान ही इन राजाओं के साथ भी एक विदूषक अवश्य हो रहता था जो प्रायः ब्राह्मण हुआ करता था, जो समय असमय अपनी हास्यपूर्ण उक्तियों से राजाओं की चिन्ता दूर करने का प्रयत्न किया करता था। सैनिकगण अहर्निश राजमहल की रक्षा में खड़े रहते थे और महल के भीतर स्त्री रक्षिकायें राजा को रक्षा एवम् सेवा में सतत् लगी रहती थीं। अंतःपुर का प्रधान कोई अनुभवी वृद्ध पुरुष ही हुआ करता था, जिसके गोद में सर रख कर राजा सरलता से सुख की नींद सो सकता था। कवियों द्वारा प्रस्तुत विवरणों से प्रतीत होता है कि शकों की शक्ति को समूल नष्ट कर देने से राजा भी शक युवतियों की सेवा स्वीकार करने की प्रवृत्ति रखता था, तथा वे घर एवम् बाहर सर्वत्र ही राजा की रक्षा एवम् सेवा में सदैव तत्पर रहती थीं। वे धनुर्धारिणी स्त्रियाँ मृगया तक में राजा के साथ जाया करती थीं। यदि हम कथा सरित् सागर के विवरणों को विश्वासनीय मानते हैं तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि उज्जयिनी का सम्राट् किसी जाति विशेष की स्त्री को पसन्द अथवा नापसन्द नहीं करता था। अपने अनेक शौर्य कार्यों में उसने अनेक जाति की अनेक सुन्दर स्त्रियों से ब्याह किया था। उसकी मदन सुन्दरी थी जो एक भील राजकुमारी थी तथा जिसके ब्याह के समय भीलराज ने घोषणा की थी कि धनुर्धारी भीलों की बीस सहस्र सेना सदा सम्राट् की सेवा को तत्पर रहेगी। उसी ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि एक बार महाराज ने मलयपुर की राजकुमारी मलयवती की चित्र देख कर उस पर मोहित हो गया तथा दूसरी बार एक बिहार में बंगाल की राजकुमारी कलिंगसेना की पत्थर की मूर्ति देखकर आसक्त हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों ही राजकुमारियों को राजा ने अपनी रानी बना लिया (कथा सरित्सागर भाग ८)।

विक्रमोर्वशीयम तथा मालविकाग्निमित्र के रचयिताओं ने राजाओं के अन्तःपुर

में नित्य होते रहने वाले सौतों के झगड़ों तथा घातप्रतिघातों को अवश्य ही मधुर बना कर प्रदर्शित किया होगा। उस समय के राजाओं में बहुपत्नीत्व की परम्परा सी चल गई थी। बहुपत्नीत्व की इस परम्परा के लिये वासनाधिक्य उतना सहायक नहीं था जितना कि राजनैतिक दाँव-पेंच। साम्राज्य विस्तार, सीमा पर शान्ति एवम् प्रबलशत्रु दमन के लिये आवश्यक शक्ति एवम् प्रभाव प्राप्ति के हेतु राजवंशीय विवाहों का आयोजन किया जाता था। इस महारानियों के अतिरिक्त कितनी ही निम्नस्तरीय स्त्रियाँ दासियों के रूप में रह कर राजा की कृपापात्री बन कर राजमहिषियों द्वारा दंडित होती रहती थीं। इन सब परिस्थितियों के बावजूद भी पट्टमहिषी अर्थात् प्रधान राजमहिषी उच्चतम सम्मान की पात्री समझी जाती थीं। वही अन्तःपुर की शासिका होती थी और प्रत्येक राजकीय उत्सव में प्रमुख सम्मान की अधिकारिणी होती थी। निम्नस्तरीय स्त्रियों के भी आवासगृह अलग-अलग बने होते थे, जो पुरुष कर्मचारियों से अलग बने होते थे। योरप का इतिहास बताता है कि तत्कालीन रोम और पाम्पी के राजप्रसादों की व्यवस्था भी ठीक इसी भांति की थी। संस्कृत कवियों ने इन स्त्रियों के शान्तिपूर्ण जीवन का सुन्दर चित्रण यत्र-तत्र किया है, परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि स्त्रियों का स्थान पुरुषों से एकदम अलग-अलग था। इसके विपरीत वे प्रत्येक सामाजिक कार्य में पुरुषों के समान ही उपस्थित रह कर भाग लेती थीं। पौराणिक काल में स्त्रियों का क्षेत्र पुरुषों के साथ ही था, यद्यपि दोनों के कार्यों में स्पष्ट विभाजन था। शकुन्तला और मलयवती जिस संकोच हीनता के साथ दुष्यन्त एवम् जीमूत वाहन की स्वागत करती हैं उससे किसी प्रकार के पर्दे की प्रथा का समर्थन नहीं किया जा सकता। मालती युवती हो गई थी, परन्तु वसन्तोत्सव में भाग लेने के लिये हाथी पर सवार होकर जा रही थी, जब कि माधव ने उसे देखा था। कथा सरितसागर के परिचयात्मक या प्रथम भाग में कात्यायन की माता दो ब्राह्मण अतिथियों के साथ वार्तालाप करती चित्रित की गई है। वर्ष की स्त्री भी उन विप्रों से वार्तालाप के प्रसंग में अपने पति दुर्भाग्य की बात कह चुकी थी। इस विशाल ग्रंथ की अनेकानेक कहानियों में स्त्रियों के के चित्रण प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु कहीं भी वे उस अस्वस्थ विभाजित वातावरण में चित्रित नहीं की गई है जिस दशा में हम उन्हें मुसलमान काल में पाते हैं। मृच्छकटिक में चारुदत्त की पतिगतप्राणा सुशीला पत्नी उसके मित्र मैत्रेय से निस्संकोच वार्तालाप करती दिखायी गई है। कादम्बरी, नागानन्द तथा रत्नावली की नायिकायें परिचित एवम् अपरिचित व्यक्तियों एवम् नायक मित्रों में साथ निस्संकोच वार्तालाप करती दिखाई देती हैं। प्रत्येक उच्चस्तरीय ग्रंथों में इसी प्रकार के चित्रण किये गये हैं। राजमहलों की स्त्रियाँ तथा बालायें अवश्य ही कुछ अधिक नियन्त्रण में रहती थीं,

परन्तु वे राजमित्रों से स्वतन्त्रता पूर्वक वार्तालाप करती हुई दिखायी गई हैं। जब नरवाहनदत्त के मन्त्री नवीन राजमहिषी के प्रति सम्मान प्रगट करने के लिये द्वार पर प्रस्तुत हुये और अपने उपस्थित होने की सूचना उन्होंने राजमहिषी को भेजा तो रानी ने इस आवश्यक शिष्टाचार को भी नापसन्द किया और कहा कि "मेरे प्रियतम के मित्रों के लिये मेरा द्वार सदैव खुला रक्खा जाना चाहिये। मेरे पास तक पहुँचने के लिये पराये लोगों को आज्ञा की आवश्यकता है न कि राजा के मित्रों के लिये। उनका तो मेरे द्वार पर प्रत्येक क्षण स्वागत है। वे तो मुझे अपने देह के ही समान प्रिय हैं"। (कथा सरितसागर अध्याय ३६)।

विवाह प्रायः माता पिता ही करते थे। वैसे गन्धर्व विवाह भी मान्य था। सिद्धराज का दूत जब जीमूतवाहन के व्याह का संदेश उन्हें ही देता है, तो उनका मित्र शेखरक कहता है कि इस प्रकार का संदेश कुमार के माता पिता के पास भेजा जाना चाहिये न कि कुमार के पास। संदेश-वाहक तत्क्षण उनके पिता के पास जाता और वे बिना जीमूतवाहन की राय लिये ही विवाह स्वीकार कर लेते हैं। यदि हम कवियों द्वारा प्रस्तुत विवरणों को विश्वसनीय मानते हैं तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि वयप्राप्त होने के बाद ही विवाह का आयोजन किया जाता था। मालती माधव की नायिका युवती हैं परन्तु अपरिणीता है। मालविका, मलयवती तथा रत्नावली आदि सभी कुमारियाँ यौवन प्राप्त हैं परन्तु वे सभी की सभी अविवाहितायें हैं। शकुन्तला भी विवाह योग्य हो चुकी थी, परन्तु दुष्यन्त से मिलने के पूर्व तक कण्व ने उसकेह विवाह की चर्चा भी नहीं की थी। विवाहोत्सव पौराणिक काल में भी प्रायः वैसे ही होते थे जैसे वैदिक काल में हुआ करते थे या जैसे आज कल हुआ करते हैं। ग्रन्थि बंधनोपरान्त अग्नि प्रदक्षिण एवम् सप्तपदी की शर्तों का कथन विवाह यज्ञ की मुख्य क्रियायें थी यद्यपि साथ साथ हवन इत्यादि अनेक क्रियायें सम्पन्न की जाती थीं।

लड़कों के समान ही लड़कियों को भी पढ़ाया लिखाया जाता था तथा उच्च-स्तरीय साहित्यिक कृतियों में युवतियों के प्रेमपत्रों तथा साहित्यिक रचनाओं का वर्णन किया गया है। मृच्छकटिक का विदूषक मैत्रेय कहता है कि उसकी हँसी नहीं रुक पाती, जब वह किसी स्त्री को श्लोक पाठ करते या किसी पुरुष को गाते हुये सुनता है। मैत्रेय चाहे या न चाहे, परन्तु इस वर्णन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उस काल की स्त्रियां उसी प्रकार संस्कृत पढ़ती थीं, जिस प्रकार पुरुष संगीत का अभ्यास करते थे। लोगों का उस समय में ऐसा विचार था कि संगीत साधना स्त्रियों का ही कार्य है। इसीलिये इस काल के साहित्य में कई स्थान पर युवतियाँ संगीतरता दिखाई गयी हैं। जिस समय जीमूत वाहन गौरी मंडप में पहुँचते हैं तो यहाँ मलयवती को

गाते हुये देखता हैं, जिसमें वह मन्द्र, मध्य एवम् तार सप्तकों का प्रयोग करती है। कवि के अनुसार वह अंगुलियों के सहारे विलम्बित, मध्य एवम् द्रुत लयों का ठीक ठीक निर्देशन कर रही थी तथा तानों की व्यवस्था तीनों लयों में कर रही थी। तीनों ग्राम भी यथावत् स्पष्ट हो रहे थे।

कथासरित्सागर से पता चलता है कि राजकुमारी मृगावती नृत्य कला कुशला थी तथा ब्याह होने के पूर्व ही वह सम्बन्धित कलाओं में पूर्ण विद्वत्ता प्राप्त कर चुकी थी। प्राचीन उच्चवर्गीय साहित्य रचनाओं में इस प्रकार के संगीत कुशलता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार चित्र कला का ज्ञान स्त्रियों को भी था एवम् पुरुषों को भी। जीभूत वाहन को चित्र बनाते हम देख ही चुके हैं तथा सागरिका द्वारा राजा को चित्रांकन की चर्चा हमने नाटकों के विवरण में किया है। नागानन्द से यह भी पता चलता है कि पत्थरों पर चित्रांकन करने के लिये मिट्टी के रंग प्रयोग में आते थे। उत्तर रामचरित का तो आरम्भ ही चित्र दर्शन से होता है। कथा सरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य के दर्बार में नगर स्वामिन् नामक चित्रकार को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की जाता थी तथा वह अन्य विद्वानों की भांति राज दर्बार में ही रहता था तथा सम्राट को भांति भाँति की नवेलियों के चित्र बनाकर दिखाया करता था।

संस्कृत कवियों का दाम्पत्य प्रेम-वर्णन संसार भर के साहित्य में अनुपम है। उत्तर रामचरित में राम के प्रति सीता के परम कोमल एवम् गम्भीर प्रेम का चित्रण हम देख चुके हैं। प्राचीन कृतियों के पाठकों को ऐसे शताधिक उदाहरण मिल जायँगे, जिनमें पति के उज्वल प्रेम एवम् पत्नी के समर्पण मय * प्रेम का वर्णन होगा। महाकाव्यों में तो कम परन्तु कथा सरित्सागर में कौटुम्बिक जीवन की अनेक सुन्दर और असुन्दर झाकियाँ दिखाई पड़ती हैं। भयानक गरीबी के अनेक चित्र हैं परन्तु

---

* "हिन्दू कवि शायद ही कभी अपनी स्त्रियों की निन्दा करते हैं। प्रायः वे उनका प्रेम एवम् सर्वस्व समर्पण की भावना से युक्त चित्रण ही प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार वे बन्दी जनों को भारतीय स्त्रियों के प्रति और भी ऊँची कल्पना करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं और शायद इसी प्रकार उन यूनानी गायकों को भी उपदेश देते हुये दिखाई पड़ते हैं जो विधाता की कोमलतम कृति स्त्री जाति को अति घृणा के योग्य समझते हैं। इस प्रकार के कार्य में न तो यूरीपिडस ही पीछे रहता है और न एरिस्टोफेन्स ही" विल्सन, थियटेर आफ द हिन्दूज (लन्दन १८९१) भाग १ पृष्ठ ७७ की टिप्पणी।

कौटुम्बिक एवम् सम्बन्धियों के झगड़ों के भी चित्र कम नहीं हैं। कहीं पर पति की निर्दयता वातावरण को बोझिल बनाये हुये हैं तो कहीं पर पत्नी की वाचालता एवम् कलहप्रियता ने कुटुम्ब को नरक बना रक्खा है। सम्मिलित कुटुम्ब के आपसी झगड़े तो शताधिक हैं, साथ ही बहू के प्रति सास ननद के अत्याचारों की कथायें भी कम नहीं हैं। कहीं पर सास के वाक् शब्दों ने प्रतिगत प्राण पत्नी के जीवन को दुःसह बना रक्खा है तो कहीं ननद ने अपने षड्यंत्रों से चाणक्य को भी मात दे दिया है। इसी प्रकार की एक कर्तव्यरता बहू कीर्तिसेना है जो सास ननद के अत्याचारों से ऊब कर कह उठती है कि "यही कारण है कि लोग कन्या के जन्म पर दुखी होते हैं, क्योंकि कन्यायें श्वसुर गृह में सास ननद के हाथों नाना प्रकार की यंत्रणा भोगती हैं और उसके पिता माता कुछ भी नहीं कह पाते।" (कथा सरित्सागर अध्याय २९)

ऐसे अनेक विवरण उद्धृत किये जा सकते हैं जिनके अनुसार विधवा विवाह पौराणिक काल में न तो वर्जित ही था और न गर्हित ही माना जाता था। याज्ञवल्क्य का इस विषय में कहना है कि "यदि कोई विधवा फिर से विवाह कर लेती है तो उसे पुनर्पतिका या पुनर्भत्रिका कहते हैं।" इस विषय पर लिखते हुये शास्त्रकार विष्णु ने कहा है कि "यदि कोई अक्षतयोनि विधवा फिर से विवाह कर लेती है तो उसे पुनर्भू कहा जाता है"। पाराशर जो इन दोनों के परवर्ती हैं, का भी यही निर्देश है कि यदि किसी स्त्री का पति मर गया हो, कई वर्षों से गुम हो गया हो, विधर्मी हो गया हो, नपुंसक, कोढ़ी या दीर्घरोगी तथा यदि सन्यासी हो गया हो तो उसे चाहिये कि वय, जाति का विचार करके किसी अन्य व्यक्ति से व्याह कर ले। कथा सरित्सागर के छियासठवें अध्याय में एक कथा दी गयी है कि मालवा की एक स्त्री ने एक के बाद एक ग्यारह विवाह किया। ग्यारहवें पति की मृत्यु पर वह फिर बारहवीं बार व्याह करने को तत्पर थी, परन्तु "अब पत्थर भी उस पर हँसने लगे थे अतः उसने विवाह का विचार त्याग दिया और सन्यास ग्रहण कर लिया।"

इसके पूर्व ही हम हिन्दू स्त्रियों के प्रेम, त्याग एवम् समर्पण की भावना की चर्चा कर चुके हैं। ज्यों ज्यों हिन्दू जाति की राष्ट्रीय भावना लुप्त होती गयी और स्त्रियों का आदर उनके दिलों में कम होता गया त्यों त्यों स्त्रियों की त्याग भावना एक दूसरी धारा में प्रवाहित होने लगी। पौराणिक काल के पूर्व किसी भी प्रकार के भारतीय साहित्य में स्त्रियों के मृतपति के साथ सती होने की चर्चा नहीं की गयी है। न तो मनु ने इस प्रकार की किसी प्रथा का नाम नहीं लिया है और न याज्ञवल्क्य ने ही। सती प्रथा की सर्व प्रथम चर्चा पौराणिक कालीन साहित्य में ही मिलती है।

अग्नि प्रवेश द्वारा आत्महत्या की बात सिकन्दर के आक्रमण काल से ही भारतीय साहित्य में पाई जाती है, सम्भव है कि उसके पूर्ववर्ती साहित्य में भी इस की चर्चा हो। पौराणिक काल में स्त्रियों के पातिव्रत कर्तव्य की भावना का ज्यों ज्यों अधिक विकास होता गया त्यों त्यों यह सोचा जाने लगा कि पति के जीवित रहने पर तो स्त्रियाँ पति की संगिनी रहें ही, परलोक में भी पति का संग पाने के लिये वे उसी के संग परलोक गमन भी करें। अब रह गया यह विचार करना कि किस प्रकार वे पति के संग जायँ। पिछले दिनों की अग्नि-प्रवेश-प्रथा थी ही, साथ ही पति के देह को जलाना तो पड़ता ही था। इसलिये सर्वाधिक सुविधापूर्ण मार्ग यही माना गया कि स्त्रियाँ पति के साथ चिता में ही जल जाया करें। इस जल जाने की प्रथा को सती प्रथा कहा गया, जिसका कारण शायद यह था कि शंकर की स्त्री भी पति के अपमान से पीड़ित हो अग्नि प्रवेश किया था। यह मत प्रतिपादित किया गया कि स्त्रियों का पति के संग सती हो जाना ही सर्वाधिक पवित्र स्त्री धर्म है। अपने ज्योतिष ग्रंथ में बराहमिहिर ने इसीलिये स्त्री जाति को प्रशंसनीय माना है कि वे जीवित ही अग्नि में प्रवेश कर जाने का साहस रखती हैं और स्त्री के मरने पर पुरुष फिर से विवाह करके आनन्दोपभोग करने लगता है। फिर भी अग्नि प्रवेश की प्रथा केवल स्त्रियों तक ही सीमित नहीं थी। मालती माधव में मालती का पिता अपने बच्चे के मरने पर दुःखाधिक्य से अग्नि प्रवेश को तत्पर होता है। जीमूत वाहन की मृत्यु का समाचार पाकर उसके माता पिता भी अग्निप्रवेश की ही बात सोचते हैं। कथा सरित्सागर में अध्याय एक सौ अठारह से एक सौ बाईस तक एक कथा दी गयी है, जिसकी नायिका प्रेम से निराश होकर अग्नि-प्रवेश की तैयारी करती है। इस प्रकार के कथा साहित्य से हटकर जब इतिहास की ओर दृष्टिपात करते हैं जो वहाँ भी महमूद गजनवी से पराजित होने पर एक राजा को अग्नि में प्रवेश करते देखते हैं। थोड़ा विचार करने पर मालूम होगा कि आत्महत्या की इस प्रवृत्ति का कारण है पराजित भावना एवम् तज्जनित निराशा। मनुष्य के लिये जब जीवन में आशा की एक क्षीण झलक भी नहीं दिखाई देती तथा उसे अपना ही जीवन भार स्वरूप प्रतीत होने लगता है और उसे निश्चय हो जाता है कि जीवित रहने पर लोगों की घृणा व निन्दा ही उसे मिल सकेगी, तभी वह आत्महत्या की राह पकड़ लेता है। यह प्रवृत्ति क्रूरता की सीमा को तब जा पहुँची जब पुरुषों ने अपने को बँचाकर इसे केवल स्त्रियों के लिये आवश्यक बना दिया। हिन्दू राष्ट्रीयता का ज्यों ज्यों पतन होता गया त्यों त्यों यह प्रथा भी दृढ़ होती गयीं।

नर्तकियाँ और गायिकायें पौराणिक काल में भी थी, परन्तु यूनान की तरह

भारत में भी वे सम्मान की पात्री समझी जाती थीं। उन्हीं की बहनें आज जिस प्रकार घृणित एवम् पतित समझी जाती हैं, वैसी दशा उस समय में नहीं थी। पौराणिक काल में उनका जीवन अधिक पवित्र, ऊँचा एवम् श्रद्धेय था। अम्बपाली वैभव एवम् गौरव में लिच्छवि सामन्तों से स्पर्द्धा करती थी और जिसने गौतम बुद्ध तक को निमंत्रित कर भोजन कराने में सफलता प्राप्त की थी, वह भी तो एक वारांगना ही थी। इसी प्रकार ग्रीक वारावनिता अस्पाशिया ने प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात को निमंत्रित किया था। मृच्छकटिक की नायिका बसन्तसेना भी एक नर्तकी ही थी जो राजमहल से स्पर्द्धा करने योग्य महल में रहती थी। उसके प्रासाद में भाँति भाँति के आमोद प्रमोद की व्यवस्था थी तथा वह लिच्छवि काल का गौरव समझी जाती थी। उसके आवास में एक से एक कुशल कारीगर तथा रत्नपारखी सेवक थे। वह दीन दुखियों, का दुख दूर करने को सदा तत्पर रहती थी, उसका शिष्टाचार अनुकरणीय था तथा वह उज्जयिनी का रत्न थी।

कथा सरित्सागर में अड़तीसवें अध्याय में दक्षिणी भारत की राजधानी प्रतिष्ठानपुर में एक वारांगना मदनमाला रहती थी, जिसका प्रासाद बड़े बड़े महाराजों के प्रासादों को लज्जित कर देता था। उसके अपने रक्षक थे, अपने सिपाही थे तथा अपने हाथी घोड़े थे। इस वारवनिता को छद्मवेश में आगत सम्राट् विक्रमादित्य का मनोरंजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसने राजा को स्नान कराया, पुष्पार्पण किया, वस्त्रालंकार पहनाया एवम् अनेक विधि से उन्हें प्रसन्न किया। उसी ग्रन्थ के एक सौ चौबीसवें अध्याय में उज्जयिनी के देवदत्ता नाम की नर्तकी की कथा दी गई है, जिसका भवन किसी भी राजभवन का समता करता था।

पौराणिक काल में उज्जयिनी नगरी ही भारत की सर्वाधिक गौरवान्विता नगरी थी। विद्या और वैभव, सौन्दर्य एवम् कला, समृद्धि तथा राजशक्ति सभी में यह नगरी अनुपम जी। यदि कालिदास के मेघदूत के नायक यक्ष ने बादल से यह कहा कि मेरे प्रिया के पास जाते समय 'यदि तुमने उज्जयिनी नगरी को भरपूर नहीं देखा तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ हो जायगा' तो उसने कुछ गलत नहीं कहा।

जिस नगरी की इतनी प्रशंसा ग्रन्थों में पढ़ने को मिले, उसे देख पाने का लोभ कौन संवरण कर सकेगा? एक विचित्र प्रशंसा की भावना हृदय में लिये मैं स्वयम् इस नगरी के वैभवव को देखने गया हूँ। इसका प्राचीन गौरव ध्वस्त हो गया है। चारों ओर एक वीरानगी सी छायी हुई है, फिर भी खंडहर बता रहे थे कि किसी दिन ये इमारतें बुलन्द रही होंगी। हमने महाकाल का मन्दिर देखा। कालि-

दास के यक्ष ने इस मन्दिर को भी देख लेने के लिये मेघ को प्रेरित किया था। हमने पाया कि इस मन्दिर के ध्वंसावशेषों की सहायता से इस मन्दिर का भूतकालीन चित्र सफलता से कल्पना में आ सकता है। हमने देखा कि मृच्छकटिक के वर्णन के आधार पर इस नगरी का एक सुन्दर काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्रबल तथा न्यायपूर्ण राज शक्ति की छत्रछाया में श्रेष्ठि चत्वर था जिसमें बड़े बड़े धनाढ्य श्रेष्ठि जन प्रभूत धन धान्य के साथ व्यापार रत रहते थे और समय पड़ने पर जिनसे सम्राट् भी कर्ज लेने में नहीं हिचकते थे। बड़े बड़े जौहरी तथा कुशल कारीगर इन श्रेष्ठियों के चतुर्दिक मँडराया करते थे। एक से एक बढ़ कर सुगंधियों से बाजार महका करता था। इस चत्वर में बने मालों की सारे संसार में माँग रहती थी। खलीफा हारूँ रसीद ने उज्जयिनी की बनी वस्तुओं की प्रशंसा की थी तथा यहाँ की वस्तुओं ने प्रसिद्ध बर्बर शार्लमैन एवम् उसके लुटेरे साथियों को चमत्कृत कर दिया था। यूरोप के नौसिखुये व्यापारी अरबों से यहाँ का माल खरीद कर तगड़ा मुनाफा कमा रहे थे। सारे दिन इस नगर की गलियाँ विविध प्रकार एवम् वर्ग के मानवों से भरी रहती थीं।

परन्तु प्रत्येक नगरों की ही भाँति यहाँ भी व्यसनगृह बने हुये थे जिनमें नाना प्रकार के पापाचार होते रहते थे। द्यूत क्रीड़ागृह मद्यपान गृह इत्यादि राजाज्ञा से चलते थे। कालिदास की शकुन्तला के अनुसार नगर में अनेक पान गृह थे जिनमें निम्न वर्गीय पुरुष अपना धन मान गँवाते रहते थे, परन्तु हिन्दुओं में खेतिहर, व्यापारी, औद्योगिक वर्ग के लोग मद्य को हाथ से छूते भी नहीं थे। नगरों की सामान्य बुराइयों की भी यहाँ कमी नहीं थी। चारूदत्त के ब्राह्मण मित्र मैत्रेय के अनुसार उज्जयिनी में शाम की भीड़ भाड़ से गंठ कटे, उचक्के, जेब कतरे घूमा करते थे जो आवश्यकतानुसार गला काटने का काम भी कर सकते थे। रात में चोरियाँ भी होती ही थीं। स्वयम् चारुदत्त के घर में भी चोरी हुई थी। मृच्छकटिक के आधार पर उस समय के एक सजे हुये घर की कल्पना इस प्रकार की जा सकती है। 'बाहरी द्वार खुदाई के कामों से भरपूर, कपाटों में घन्टियाँ लगी हुईं, घर की फर्श विविध रंगों से अलंकृत, फाटक पर फूलमालायें लटकी हुई हैं। प्रथम द्वार में प्रवेश करने के पश्चात् जिस श्वेत प्रासाद का वर्णन मृच्छ कटिक में किया गया है, उसमें निवास करने को कौन न लालायित हो उठेगा। आठ प्रांगणों से युक्त यह भवन किसी राजा का नहीं वरन् एक श्रेष्ठी का है जिसके पृष्ठ भाग का उद्यान देवताओं का क्रीड़ास्थल सा दिखाई देता था। इस प्रकार के उद्यानों के अतिरिक्त कितने ही नगर के वाह्य भाग सार्वजनिक एवम् व्यक्तिगत आमोद प्रमोद के लिए प्रस्तुत थे।

धनिकों के पास दास भरे पड़े थे। गृहस्थी के सारे काम काज दासों के ही जिम्मे रहता था। इनकी संख्या की कमी व आधिक्य से उस समय धनिकों की हैसियत आँकी जाती थी। प्रत्येक देश की भाँति भारत में भी दास व्यापार धड़ल्ले से होता था। कभी कभी लोग अपने को भी बेंच देते थे। मृच्छ कटिक का एक जुआरी अपना सब कुछ हार कर कुछ कर्जदार बन गया। चुकाने का कोई अन्य साधन न देखकर उसने अपने को ही बेंच देने का प्रस्ताव किया। अति प्राचीन काल में हरिश्चन्द्र ने न केवल अपने स्त्री, बच्चे को बेंचा था, वरन् स्वयम् अपने को भी बेंच डाला था।

आने जाने के साधनों में बैल जुते रथ ही अधिकांश काम में लाये जाते थे। वसन्तसेना एक ऐसे ही रथ में बैठ कर ही अपने प्रेमी चारुदत्त से मिलने गयी थी। घोड़ों के द्वारा खींचे जाने वाले रथ भी यदा कदा राजवर्गीय व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाये जाते थे। युद्धों एवम् आखेटों में घोड़ों के रथ ही काम में लाये जाते थे।

मृच्छ कटिक में तत्कालीन न्याय प्रणाली का भी एक चित्र प्रस्तुत किया गया है। चारुदत्त के ही ऊपर यह झूठा अभियोग लगाया गया कि उसने वसन्तसेना को मार डाला है। मृच्छ कटिक का खलनायक राजा का साला है तथा मूर्खता एवम् विकामुकता प्रदर्शन में अद्वितीय है। यह एक निम्न वर्गीय व्यक्ति था, जिसको बहन के चक्कर में पड़ कर राजा ने अनेक तुच्छ लोगों को ऊँचे पदों पर बिठा रक्खा था। इस प्रकार के निम्नवर्गीय व्यक्तियों के राजा द्वारा इसी ढंग के संरक्षक को चर्चा प्रायः सभी नाटककारों ने की है। ऐसे ही लोग राज्य व्यवस्था के कलंक हुआ करते थे। इसी साले साहब के षड्यंत्र से चारुदत्त पर यह अभियोग लग गया था। न्यायाधीश की इच्छा नहीं है कि उसी दिन चारुदत्त का मुकदमा देखा जाय। वासुदेव (राजा के साले) के दबाव पर चरुदत्त को उसी दिन न्यायालय में बुलाया गया।

न्यायालय में न्यायाधीश आता है, उसके साथ कायस्थ भी है। वासुदेव भी न्यायालय में वादी होकर उपस्थित रहता है। परिस्थितियाँ बुरी तरह चारुदत्त के विपरीत रहती हैं, फिर भी न्यायाधीश कहता है कि हिमालय डिग सकता है परन्तु चारुदत्त जैसे भले व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। गवाहियाँ एकदम से चारुदत्त को दोषी सिद्ध कर देती हैं, फिर भी न्यायाधीश मृत्यु दंड नहीं देना

चाहता। इसी समय वसन्तसेना की आभूषण पेटिका लिए यहाँ की परिस्थिति से अनभिज्ञ मैत्रेय प्रवेश करता है, परिस्थितियाँ इतनी गम्भीर हो जाती हैं कि निरपराध चारुदत्त को अपने अपराध की स्वीकृति देनी ही पड़ती है और अन्त में उसे प्राण दण्ड दिया जाता है, ठीक बध के समय वसन्तसेना जो मरी नहीं थी प्रगट हो जाती है और बन्दी को छोड़ दिया जाता है। कुछ भीड़ वासुदेव को ही मार डालना चाहती है परन्तु चारुदत्त यह कह कर उसे बँचा देता है कि विजित शत्रु को क्षमा कर देना ही उसके लिये सबसे बड़ा दण्ड है।

साठवाँ अध्याय

आधुनिक युग का प्रारम्भ

पिछले अध्याय में एक नाटक का सहारा लेकर पौराणिक कालीन हिन्दू-जन-जीवन की रूप रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमने इस बात का यथा सम्भव प्रयत्न किया है कि पाठकों के चित्त पर इस प्रकार का एक स्पष्ट चित्र अंकित हो सके कि वे उससे इस बात की जानकारी प्राप्त कर लें कि प्राचीन युग के अन्तिम काल में हमारा भारत किस अवस्था में था। उसकी सामाजिक दशा, यहाँ के निवासियों का रहन सहन उनकी धार्मिक मान्यतायें तथा उनके रीतिरिवाजों का सम्यक् ज्ञान हुये बिना हम मुस्लिम विजय के पूर्वकालीन भारत की दशा का अनुमान ही नहीं लगा सकते थे। इसके पश्चात् इस अध्याय में हम यह देखना चाहेंगे कि आधुनिक युग का प्रारम्भ किन परिस्थितियों में हुआ। पिछले अध्याय की ही भाँति हम इस अध्याय में भी एक विद्वान को आधार बना कर अपना विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। हमें यह नहीं जानना है कि हमारे अपने लोग हमारे विषय में क्या कहते हैं। हमें तो यह जानना चाहिये कि जो परकीय हैं वे हमारे विषय में क्या कहते हैं। इसी दृष्टिकोण से हमने एक सहृदय, उदारमना, स्पष्टवादी और विस्तृत दृष्टिकोण वाले विदेशी अलबरुनी को आधार बनाया है, जिसने ग्यारहवीं शती के भारतीय जन जीवन का यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया।

अलबरुनी के भारत विषयक ग्रंथ को विद्वान् लोग चिरदिनों से जानते हैं, परन्तु अबतक (सन् १८९० तक) किसी भी विद्वान् ने इस ग्रंथ का अनुवाद करके प्रकाशित कराने का कष्ट नहीं किया है। सभी इसका महत्व जानते मानते हैं, परन्तु उसे सर्वसुलभ बनाने का प्रयत्न कभी नहीं किया गया। आदरणीय डा० एडवर्ड ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है और इस प्रकार भारतीय इतिहास पर शोध करने वाले छात्रों पर महान् उपकार किया है।

सन् ९७३ में वर्तमान खीवा नामक राज्य में अलबरुनी का जन्म हुआ। सन् १०१७ ई० में महमूद गजनवी ने खीवा प्रान्त को जीत लिया और युद्ध बन्दी के रूप में अलबरुनी को गजनी ले आया। चूंकि उसकी जन्मभूमि की भी दुर्दशा इसी व्यक्ति के हाथों हुई थी, अतः स्वाभाविक था कि उसकी सहज सहानुभूति भारतीयों के साथ हो। महमूद गजनवी के हाथों भारत की दुर्दशा देख देख कर उसे अपने देश की दुर्दशा का खयाल आ जाया करता होगा। इससे यह समझ लेने की भूल नहीं करना चाहिये कि उसने हिन्दुओं के साहित्य एवम् समाज की बुराइयों को छिपाने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत उसकी प्रवृत्ति यह रही है कि उसने हिन्दू समाज, साहित्य को जैसा पाया, वैसा ही ईमानदारी से व्यक्त भी कर दिया। हमारी भलाइयों एवम् बुराइयों के प्रति उसने समान दृष्टिकोण अपनाया है। उसके विवरणों से प्रतीत होता कि भारतीय जीवन एवम् साहित्य के अध्ययन में उसने कष्टपूर्ण प्रयत्न किया है। बाद के मुसलमान लेखकों ने जिस प्रकार के पक्षपात से काम लिया है, उसका लेश मात्र भी अलबरुनी में नहीं दिखाई पड़ता। जहाँ बुराई दिखाई पड़ी वहाँ उसको ईमानदारी से पाठकों के समक्ष रख दिया, जहाँ भलाई देखी वहाँ उसे भी छिपाने का प्रयत्न उसने नहीं किया।

महमूद गजनवी ने भारत में जो विनाश लीला उपस्थिति किया, उसके प्रति अलबरुनी ने बड़ा ही निन्दापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया है। उसने लिखा है कि "महमूद ने इस देश को इस तरह ध्वस्त कर दिया, और इस देश के धनधान्य को इस प्रकार चूस लिया, कि समस्त हिन्दू जाति पूर्णतया छिन्न भिन्न होकर धूलि कणों के समान इतस्ततः बिखर गये और शेष रह गयी केवल अपनी वैभव की कहानी। ये कण केवल बिखरे ही नहीं, विलीन भी हो गये। महमूद की इस ध्वंसलीला ने हिन्दुओं के दिलों में मुसलमानों के प्रति जिस बीज को बो दिया है, उसका फल मुसलमानों को कितने दिन तक चखते रहनापड़ेगा, इसे भविष्य ही बता सकेगा। केवल इस विनाश-

लीला के कारण हिन्दू कला, विद्या और विद्वान् भारत के उस कोने में छिप गये जहां महमूद की पहुँच असम्भव मालूम पड़ी। काश्मीर, नैपाल, बनारस ऐसे ही स्थानों में से हैं।"

(अध्याय १)

हिन्दुओं के विषय में सबसे खटकने वाली बात अलबरुनी को यह लगी कि 'वे सबसे अलग अलग रहने का प्रयत्न करते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे संसार के अन्य राष्ट्रों से बिल्कुल अलग जा पड़े हैं। संसार के सभी राष्ट्रों को म्लेच्छ कह कर वे उनसे घृणा करते हैं और इसीलिए उन्होंने सब की सहानुभूति खो दिया है। संसार की सभी जातियों से उनका आदान प्रदान बन्द है।' आगे चलकर वह कहता है कि—"न वे दूसरों की बातों को ग्रहण करने के इच्छुक हैं और न जो कुछ वे जानते हैं, उसे दूसरों को प्रदान करने की भी उनकी कभी इच्छा नहीं रखते। अपनी विद्याओं को न केवल परकीयों से वरन स्वकीयों से भी गुप्त रखने की उनकी प्रवृत्ति देश की उन्नति में भी बड़ी बाधा पहुँचायी है। उनका विचार है कि इस पृथ्वी पर एक उनका ही देश मानवों का देश है तथा शेष देशों के निवासी म्लेच्छ हैं। इस विचार धारा ने इस देश को अत्यधिक क्षतिग्रस्त किया है। वे यह भी सोचते हैं कि इस संसार में जानने योग्य जो कुछ और जितना कुछ है, सब उन्हीं के पल्ले पड़ गया है तथा संसार की शेष जातियाँ ज्ञान विज्ञान शून्य है। इस विषय में उनका हठ इस सीमा को पहुँचा हुआ है कि यदि कोई कहे कि खुरासान या फारस में कोई बड़ा भारी विद्वान् है या किसी नये ज्ञान की खोज हुई है, तो वे उसे अज्ञानी तो कहेंगे ही, झूठा कहने में भी नहीं हिचकेंगे। यदि वे यात्राओं पर निकलते और विश्व की अन्य जातियों के सम्पर्क में आते तो उनकी यह विचार धारा अवश्य ही बदल जाती, क्योंकि वे जिनकी सन्ताने हैं, उनकी मनोवृत्ति तनिक भी संकुचित नहीं थी।"

(अध्याय १)

राजनैतिक मामलों में भी हिन्दू जाति पतन की सीमा पर पहुँच चुकी थी छठवीं शताब्दी में जिस देश जाति ने विक्रमादित्य का एक छत्र शासन देखा था, वही देश और वही जाति राजनैतिक रूप से भी और सामाजिक रूप से भी टुकड़ों में बँट गयी थी। देश में इतने अधिक शासक थे कि उनकी गणना में भ्रम होने की आशंका निरन्तर बनी रह सकती है। सभी स्वतंत्र थे और सभी एक दूसरे से संघर्षरत रहते थे। उनको एक सूत्र में पिरोने वाली किसी भी संयोजिका शक्ति का अभाव था।

काश्मीर की रक्षा उसकी शक्ति के कारण नहीं, प्रत्युत उसकी पर्वतमालाओं के कारण हो रही थी। महमूद ने इसे जीतने की कोशिश की पर नाकाम रहा। अनंगपाल ने भी महमूद से हारकर काश्मीर की घाटियों में शरण लिया था। सिंध प्रान्त छोटी छोटी मुस्लिम रियासतों में बँटा हुआ था। महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर पर जो हमला किया था, उसका कोई स्थायी प्रभाव गुजारात पर नहीं पड़ा था। चालुक्यों की जो शाखा महमूद के आक्रमण के पूर्व गुजरात पर शासन कर रही थी, महमूद के हमले के बाद भी वही शासन करती रह गयी। मालवा में एक अन्य राजपूत जाति का राज्य था, जिसके एक राजा भोज देव थे जिन्होंने प्रायः पचास वर्षों तक (९९७ से १०५३ ई०) शासन किया। भोज का गुणग्राहकता एवम् विद्या प्रेम ने एक बार धारा नगरी को उज्जयिनी की समता में ला खड़ा किया तथा लोग एक बार फिर विक्रमादित्य की याद करने लगे।

उस समय का कन्नौज बंगाल के पाल राजाओं की आधीनता में था। पाल राजा मुंगेर में रहते थे। सन् १०१७ में महमूद गजनवी ने कन्नौज को लूटा और ध्वस्त कर दिया, फलस्वरूप बारी नामक स्थान को राजधानी बना कर महिपाल ने १०२६ ई० तक राज्य किया। कन्नौज के दोनों पिछले राजा राज्यपाल तथा महिपाल बौद्ध थे, परन्तु साधारण जनता में से बौद्ध धर्म का नाम निशान तक मिट गया था। कन्नौज के आसपास के प्रदेश को मध्यप्रदेश कहते थे क्योंकि उत्तरी भारत का केन्द्रस्थ भाग यही था। स्मरण रखना चाहिये कि यह केन्द्र भौगोलिक था, न कि ऐतिहासिक या राजनैतिक। इसे राजनैतिक केन्द्र केवल इस अर्थ में कहा जा सकता था कि एक समय यह प्रदेश एक महान् सम्राट के व्यक्तित्व से गौरवान्वित हुआ था।

अलबरुनी ने भी कन्नौज को केन्द्र मानकर तत्कालीन सभी प्रमुख नगरों की दूरी दिया है। उनमें से कितने ही नगर आज भी आबाद हैं। उसने मथुरा की चर्चा की है, जो वासुदेव कृष्ण के कारण प्रसिद्ध हो गया था। प्रयाग का वर्णन करते हुये वह कहता है कि यहाँ पर अनेक हिन्दू धर्म शास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित करते रहते हैं। बनारस की चर्चा उसने विद्या के केन्द्र रूप में की हैं। मुंगेर, पाटलिपुत्र एवम् गंगासागर की भी चर्चा उसके विवरणों में है। दक्षिण में धारा एवम् उज्जयिनी नगरियों की चर्चा की गयी है तथा उत्तर पश्चिम में उसने काश्मीर, मुल्तान तथा लाहौर का नाम लिया है। केन्द्र से दूरस्थ स्थानों में वह रामेश्वरम् का वर्णन करता है

साथ ही लंका के उन समुद्र को भी नहीं भूला है, जहाँ मोती पाये जाते हैं। और भी थोड़ा हट कर वह लंकद्वीप एवम् मालद्वीप की याद दिलाता है।

(अध्याय १८)

देश वर्णन से हटकर अब हम जन वर्णन पर आते हैं। संक्षिप्त रूप में अल-बरुनी ने भारतीय वर्णव्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया है, जिससे पता चलता है कि पौराणिक काल का महत्वपूर्ण वैश्य वर्ग तेजी से शूद्रत्व की ओर बढ़ता जा रहा था। एक स्थान पर अलबरुनी ने लिखा है कि 'वैश्यों एवम् शूद्रों में विशेष अन्तर नहीं है।" (अध्याय १९) दूसरे साधनों से भी यह पता चलता है कि वैश्यों का वेद पाठ का अधिकार उनसे छिन चुका था। 'ब्राह्मण लोग क्षत्रियों को तो वेद पढ़ाते हैं, परन्तु पढ़ने को कौन कहे, वैश्यों एवम् शूद्रों को तो वेद मन्त्रों को सुनने तक का अधिकार नहीं दिया गया था।' (अध्याय १२) आगे चल कर अलबरुनी लिखता हैं कि 'यज्ञानुष्ठान करने कराने का सारा भार ब्राह्मणों ने अपने हाथ में कर रक्खा है और यदि यह सिद्ध हो जाय कि किसी वैश्य या शूद्र ने वैदिक मंत्र का उच्चारण किया है तो राजा द्वारा उसकी जीभ कटवा ली जाती है।

(अध्याय ६४)

यदि हम अलबरुनी के उपरोक्त विवरण की तुलना वैश्यों की उस स्थिति से करें जो मनु द्वारा प्रस्तुत की गयी है, तो हमें इस जाति के क्रमिक पतन के इतिहास का पता चल जाता है साथ ही ब्राह्मणों के प्रभाव वृद्धि का भी पता चल जाता है। प्राचीन काल में वेद पठन एवम् यज्ञादिक में वैश्य लोग ब्राह्मणों के समानाधि-कारी थे, वही वैश्य लोग नवीं तथा दसवीं शताब्दी के धार्मिक परिवर्तनों के चक्कर में पड़ कर ग्यारहवीं शताब्दी में इस स्थिति में आ गये कि वेद पढ़ने तथा यज्ञ करने की बात तो दूर रही, उन्हें वेद मंत्रों को सुनने का भी अधिकार नहीं रह गया। जब तक भारत में राजपूतों का स्वातंत्र्य कायम रहा, उनके वेद पठन एवम् यज्ञ आदि के अधिकार भी ब्राह्मणों के समकक्ष रहे, परन्तु उनके स्वातंत्र्य का अन्त होते ही ब्राह्मणों ने उन्हें भी इस अधिकार से वंचित कर दिया। वे यह भी मानने लगे कि क्षत्रिय जाति का अन्त हो गया है तथा जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे शूद्र मात्र हैं। यह स्थिति बारहवीं शताब्दी की है। इस प्रकार यह मान्यता स्थापित हो गयी कि वेद पढ़ने पढ़ाने, यज्ञ करने कराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है अन्य किसी को भी नहीं। यदि आज के पाठक यह जानना चाहते हैं कि आखिर प्राचीन क्षत्रिय एवम् वैश्य जातियाँ

कहां विलीन हो गयीं तो उन्हें पता चलेगा कि धार्मिक क्रान्तियों के चक्रवात में पड़कर क्षत्रिय एवम् वैश्य जातियाँ कायस्थ, वैद्य, सुवर्णवनिक, कर्मकार इत्यादि नामों में परिवर्तित हो गयीं। इन जातियों का वर्णं न तो मनु ने किया है और न याज्ञवल्क्य ने ही। इन नई जातियों के वर्णन व्यवस्था में ही स्थान भी सुरक्षित कर दिया गया है। वर्तमान शिक्षा प्रसार से लोगों को आंखें खुल रही हैं और शिक्षा के परिणाम स्वरूप ज्यों राजनैतिक जागृति आती जाती जा रही है त्यों त्यों लोग अपने अधिकारों के प्रति जागरुक होते जा रहे हैं।

शूद्रों से भी नीचे आठ जातियों को अलबरुनी ने गिनाया है। इनको अंत्यज कहा गया है और इसमें मोची, धरकार, भंगी, मछवाहे इत्यादि हैं। इनकी कोई जाति नहीं होती न इनके कोई धार्मिक संस्कार ही होते हैं। डोम, चांडाल लोग वर्णव्यवस्था के बाहर माने गये हैं।

वर्णव्यवस्था से मुक्ति पाकर हिन्दुओं के रीति रिवाजों की ओर चलना चाहिये। इस क्षेत्र में हिन्दू जाति की पतन की सीमा दिखाई पड़ती है। अलबरुनी के अनुसार "हिन्दू लोगों में बाल विवाह की परम्परा ने घर कर लिया है।" यदि किसी स्त्री का पति मर गया तो उसे फिर से विवाह की आज्ञा नहीं थी। या तो वह यावज्जीवन वैधव्य पाले या आग में जल मरे। वैधव्य की दुर्गतियों से छुटकारा पाने के लिये जल जाना ही श्रेयकर मानती थीं। हम देख चुके हैं कि पौराणिक काल में बाल विवाह की बात ही नहीं सुनी जाती थी अतः यह बाद की देन है। सती प्रथा भी आधुनिक युग की देन प्रतीत होती है। वैवाहिक प्रणालियों के विषय में माता पिता ही श्रेष्ठतम् व्यक्ति थे। बाल विवाह में वर एवम् कन्या की अनुमति का प्रश्न ही कहां उठ सकता था। वर की ओर से वधू को जो कुछ भी आभूषण इत्यादि के रूप में मिलता था, उसे स्त्री धन की संज्ञा दी गयी है। वर एवम् कन्या पक्ष की पांच पीढ़ियों तक सपिंडता मानी जाती थी। शास्त्रतः अंतर्जातीय विवाह का विधान होने पर भी लोकरीति इसके पक्ष में नहीं थी। रोटी बेटी का व्यवहार संकुचित जाति व्यवस्था तक ही सीमित थी। अलबरुनी के अनुसार "यद्यपि शास्त्र की आज्ञा है, परन्तु ब्राह्मण की शादी ब्राह्मणों में ही होती है।"

(अध्याय ६९)

अलबरुनी ने हिन्दुओं के तत्कालीन व्रत त्यौहारों का जो विवरण दिया है,

वह आजकल के व्रतों, त्यौहारों की संगति में है। वर्ष का प्रारम्भ चैत्र से माना जाता था। चैत्र शुक्ल एकादशी को चैत्र हिंडोली त्यौहार मनाया जाता था, जिसमें कृष्ण की सुसज्जित मूर्ति को झूला झुलाया जाता था। इसी मास की पूर्णिमा को मदनोत्सव (वर्तमान होली) मनाया जाता था। इस त्यौहार की चर्चा पौराणिक काल के साहित्य में पायी जाती है। प्राचीन काल के मदन का स्थान इस काल में कृष्ण को मिल गया था।

वैशाख शुक्ल तृतीया को गौरी तृतीया कहते थे, जिसमें स्त्रियाँ गौरीपूजन करती थीं। शुक्ल दशमी से पूर्णिमा तक क्षेत्रों की पूजा की जाती थी। ज्येष्ठ मास फलों का मास माना जाता था। ज्येष्ठ शुक्ल द्वितीया को प्रथम फल को पानी में फेंक कर कामना की जाती थी कि उन्हें अच्छे फलों की प्राप्ति हो। ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को रूप-पंच नामक त्यौहार मनाया जाता था। आसाढ़ मास में खूब भिक्षा देने का रिवाज था और गृहस्थों के घरों में नये पात्र खरीदे जाते थे। श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को ब्राह्मण भोजन कराने का विधान था। क्वार के महीने में ईख की कटाई होती थी और महा नवमी का त्यौहार मनाया जाता था और भगवती दुर्गा को नवधान्य चढ़ाये जाते थे।

पूरा भाद्रपद मास त्यौहारों का मास माना जाता था। मृतपूर्वजों के नाम पर दान देना इस मास का मुख्य कर्तव्य था। भाद्रकृष्ण षष्ठी को स्त्रियों का त्यौहार माना जाता था। भाद्रकृष्ण अष्टमी को ध्रुवगृह त्यौहार मनाया जाता था, जिसमें स्वस्थ सन्तान प्राप्त करने के लिये गर्भवती स्त्रियाँ व्रत रखती थीं। कृष्ण एकादशी को पार्वती त्यौहार स्त्रियाँ ही मनाती थीं। भाद्रपद की पूर्णिमा के बाद का पखवारा पूरा का पूरा ही व्रतों का पखवारा माना जाता था। ग्यारहवीं शताब्दी के त्यौहार अब शानदार त्यौहारों में बदल गये हैं।

कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को दीवाली मनायी जाती थी, जिसमें संध्याकाल में सर्वसाधारण द्वारा असंख्य दीप जलाये जाते थे। यह लक्ष्मी पूजन का त्यौहार था। बंगाली लोग इसी उत्सव के स्थान पर अब दुर्गापूजा मानते हैं। अगहन सुदी तृतीया तथा पूर्णिमा स्त्रियों का त्यौहार था। पौष मास में मिष्ठान वितरण को महत्व दिया जाता था। माघ शुक्ल तृतीया को गौरी के सम्मान में सभी स्त्रियाँ व्रत रखती थीं। इस मास में अन्य कई त्यौहार मनाये जाते थे। फालगुन शुक्ल अष्टमी को ब्राह्मण भोजन कराया जाता था और शुक्ल पूर्णिमा को होली का त्यौहार कहते थे।

(अध्याय ७९

पिछली पंक्तियों में हिन्दुओं के व्रतों एवम् त्यौहारों का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे तत्कालीन जन जीवन की कुछ जानकारी हो जाती है। सारा भारत देवालयों एवम् मूर्तियों से भरा हुआ था। इन देवालयों में दूर-दूर से चल कर लोग पापनाशन एवम् पुण्यार्जन के लिये आते रहते थे। अलबरुनी मुल्तान में सूर्यदेव के मन्दिर की, थानेश्वर में चक्रधारी विश्व विष्णु के मूर्ति की तथा सोमनाथ के लिंग की चर्चा करता है। इतिहासकारों के अनुसार सोमनाथ के लिंग के टुकड़े गजनी की एक मस्जिद की सीढ़ियों में लगाये गये थे, जिस पर पैर रख कर मुसलमान लोग आया जाया करते थे। जिस लिंग के स्नान के लिये सहस्रों मील से गंगाजल लाये जाने की व्यवस्था होती थी, वह अन्त में इस दुर्भाग्य को प्राप्त हुआ।

बनारस की पवित्रता स्थापित हो चुकी थी और प्रायः धनाढ्य जन अपना अन्तिम समय यहीं बिताने की इच्छा करने लगे थे। पुष्कर, थानेश्वर, मथुरा, काश्मीर तथा मुल्तान के प्रसिद्ध सरों की भी चर्चा की गयी है। लेखक हिन्दुओं के तालाब खोदवाने की प्रवृत्ति की खूब सराहना करता है। वह कहता है कि प्रत्येक पवित्र स्थान में "हिन्दू लोग स्नानार्थ बड़े-बड़े सीढ़ी युक्त तालाब खोदवाते हैं।" इन तालाबों की रचना कला की उसने बड़ी प्रशंसा की है। "हमारी जाति वाले (मुसलमान) इनको देख-देख कर चमत्कृत होते हैं"।

(अध्याय ६६)

हिन्दुओं की असंख्य मूर्तियों में तीन देवों का प्राधान्य था। सर्जक ब्रह्मा, पालक विष्णु तथा संहारक शंकर को मिलाने से ये त्रिदेव बनते थे। अलबरुनी के अनुसार हिन्दुओं की यह त्रिदेव कल्पना ईसाइयों की तत्तसम्बन्धी कल्पना के मेल में है जिसमें उन्होंने पिता, पुत्र एवम् पवित्र आत्मा की कल्पना की है।

हमें यह देख कर प्रसन्नता होती है कि एक विदेशी मुसलमान ने हमारे धर्म-शास्त्रों का इतना सूक्ष्म अध्ययन किया है। उसने त्रिदेवों का ही अध्ययन नहीं किया वरन् उसके भी ऊपर जाकर उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित एकेश्वर वाद की भावना तक जा पहुँचा है। वह एकाधिक बार कहता है कि "असंख्य देवी देवताओं की यह भीड़-भाड़ तो ज्ञान हीन जनता के लिये है। शिक्षित हिन्दू का विश्वास तो उन देवी देवताओं से परे उस परमेश्वर पर जो अनादि है, अनन्त है, पूर्ण स्वतन्त्र है, सर्व शक्तिमान है, सत् है, चित् है और आनन्द स्वरूप है। हिन्दू लोग केवल

उसे ही स्थित मानते हैं और यह सब जो दृश्य अदृश्य जगत् ही सब उसी के प्रतीक हैं"।

(अध्याय २)

अलबरुनी के अनुसार हिन्दू धर्म पवित्र है, नित्यनवीन है और जीवनप्रद है। इसमें उपनिषदों की भावना पर पूर्ण विश्वास है। उपनिषद् संसार भर के मानव रचित ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। अलबरुनी इस बात पर दुःख प्रगट करता है कि हिन्दुओं की इतनी ऊँची धार्मिक कल्पनायें सम्पत्ति बनकर रह गई हैं केवल उन थोड़े से हिन्दुओं की, जो शिक्षित है और शेष, हिन्दू जनता देवी, देवताओं, मन्दिरों एवम् तीर्थस्थलों को ही वास्तविक धर्म मान कर सन्तोष प्राप्त किये बैठी हैं। वह कहता है कि "जिस देश में अमृत सरोवर लहरा रहे हों, वहाँ की आम जनता को विष क्यों पीना पड़ रहा है, यही समझ के परे हैं।"

अपने विवरण के दूसरे स्थलों पर अलबरुनी हिन्दुओं की पुनर्जन्म भावना की चर्चा करता है, जिसके अनुसार इस जन्म में किये गये तमाम शुभ अशुभ कार्मों का सुफल अथवा कुफल आने वाले जन्म में भोगना पड़ता है, तथा सत्य ज्ञान-प्राप्ति के बिना इस आवागमन से मुक्ति नहीं मिल सकती। अलबरुनी के अनुसार सत्य की प्राप्ति के अनन्तर "आत्मा तात्विक रचना को छोड़ देता है, उसके सभी बन्धन टूट जाते हैं और सागर की बूंद सागर में ही विलीन हो जाती है, तब प्रतिभावान ही प्रतिभा बन जाता है, और आत्मा की किसी भी प्रकार की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती।"

(अध्याय ५)

अलबरुनी ने भारतीय न्याय प्रणाली की भी चर्चा की है। वह कहता है कि न्यायालय लिखित शिकायतें की जाती थीं, जिसमें अभियुक्त के ऊपर लगाये गये अभियोग का पूर्ण विवरण दिया रहता था। परन्तु मौखिक अभियोगों को भी विचारार्थ स्वीकृत किया जाता था। विभिन्न प्रकार की शपथें ली जाती थीं और साक्षियों के आधार पर निर्णय दिया जाता था। (अध्याय ७०) जितने भी विदेशी भारत में आये हैं सब ने भारत की दंडनीति की आलोचना की है। अलबरुनी इस उदारता की तुलना ईसाइयों द्वारा प्रतिपादित उदारता से करते हुये कुछ ऐसी न्यायपूर्ण बातें कही हैं, जिन्हें पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। वह

कहता है कि "इस मामले में हिन्दुओं की नीति ईसाइयों की उस नीति के समान स्तर पर प्रतीत होती है, जिसमें कहा गया है कि 'कोट छीनने वाले को कमीज भी दे दो' तथा 'एक गाल पर तमाचा मारने वालों के समक्ष दूसरा गाल भी कर दो' निस्सन्देह यह ऊँचा जीवनदर्शन है, परन्तु दुख इस बात का है कि संसार में केवल दार्शनिक ही नहीं रहते, इसके अधिकांश व्यक्ति अज्ञानी एवम् दोषी हैं, जो केवल कोड़ों या तलवार के भय से ही सीधे रास्ते पर लाये जा सकते हैं, और इसीलिये ईसाई हो जाने के बाद भी कास्टैंटाइन निरन्तर तलवार और कोड़े का प्रयोग करता रहा।"

(अध्याय ७१)

यदि ब्राह्मण किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति को मार डाले तो उसे केवल कुछ प्रायश्चित करने पड़ते थे, जिसमें उपवास, प्रार्थना तथा भिक्षादान का विधान होता था। यदि कोई ब्राह्मण को ही मार डाले तो उसे देश निकाले की सजा दी जाती थी, परन्तु किसी भी अवस्था में उसे प्राणदंड की सजा नहीं दी जा सकती थी। चोरी का दंड चुरायी गयी सम्पत्ति की कमी वेशी पर आधारित होता था। कुछ विशेष अवस्था में ब्राह्मण एवम् क्षत्रिय का एक हाथ या एक पैर भी काट लिया जाता था। छोटे वर्णों के चोरों को प्राणदंड तक दिया जा सकता था। व्यभिचारिणी स्त्री को पतिगृह से हटा कर देश निकाले की सजा का विधान था।

(अध्याय ७१)

पिता की मृत्यु पर उसकी जायदाद उसकी सभी सन्तानों में बँट जाती थी, तथा पुत्री को पुत्र का चौथाई भाग ही देने की व्यवस्था थी। विधवा को जायदाद पर हक नहीं दिया गया था, परन्तु यावज्जीवन उसे कुटुम्बियों से भरण-पोषण पाने का अधिकार था। प्रत्यक्ष उत्तराधिकार की सीमा में पुत्र, पौत्र का अधिकार भाई के अधिकार से सबल माना जाता था। मृत व्यक्ति का कर्ज उत्तराधिकारी के सर पड़ता था।

(अध्याय ७२)

जिस प्रकार दंडनीति में ब्राह्मण सुविधा-प्राप्त थे, उसी प्रकार की व्यवस्था में भी उन्हें अत्यधिक सुविधायें दी गयी थीं। भूमि से जो कुछ भी उत्पन्न होता था उसका षष्ठांश राजा का भाग माना जाता था। मजदूर, कारीगर तथा कलाकारों को

आय के अनुसार उनसे कर लिया जाता था। ब्राह्मण सभी प्रकार के करों से मुक्त थे।

(अध्याय १०)

साहित्य के विषय में अलबरुनी वेदों से प्रारम्भ करता है, जिनके बारे में वह कहता है कि वेदों को लिपिबद्ध इस लिये नहीं किया गया था कि लिखित साहित्य में उच्चारण की वास्तविक शुद्धता जाती रहती है। वह व्यास द्वारा वेदों के चार विभाजित भागों की बात करते हुये कहता है कि व्यास के चार प्रमुख शिष्य थे, जिनमें से उन्होंने ऋग्वेद पैल को, यजुर्वेद वैशम्पायन को, सामवेद जैमिनिको तथा अथर्ववेद सुमन्तु को पढ़ाया था। अपने साहित्य वर्णन के प्रसंग में उसने रामायण, महाभारत, हरिवंश इत्यादि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, तथा यत्र तत्र उनकी कहानियाँ भी दिया है। वह पाणिनि सहित आठ प्रमुख वैयाकरणों को गिनाता है तथा पिंगल शास्त्र का भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। सांख्य शास्त्र के साथ वह कुछ अन्य शास्त्रों की भी बात करता है, परन्तु इन सब का सुना सुनाया विवरण दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। बुद्ध और बौद्ध सम्बन्धी उसके विवरण तथ्यानुसार नहीं प्रतीत होते। बीस स्मृतियों का भी जिक्र उसने किया है। हिन्दू कालीन इतिहास के छात्र के लिये यह एक महत्वपूर्ण बात है कि अलबरुनी ने अठारह पुराणों के नामों की दो विभिन्न सूचियाँ प्रस्तुत की है, जिनमें एक सूची तो वही है जो इस पुस्तक में दी गई है, क्योंकि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व ही अष्टादश पुराणों की रचना हो चुकी थी। अलबरुनी ने तन्त्र साहित्य को भी स्थान दिया है। चूँकि वह स्वयम् भी एक गणितज्ञ था अतः उसने बड़े ही उत्साह पूर्वक आर्यभट्ट, बराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त इत्यादि ज्योतिषियों का वर्णन किया है साथ ही ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों (सूर्य, वशिष्ठ, पुलिश, रोमक तथा ब्रह्मा) का भी विवरण उसने प्रस्तुत किया है। उसने बाराहमिहिर की अत्यधिक प्रशंसा करते हुये उसे ५२६ वर्ष पूर्व का कहा है।

हमारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि भारतीय ज्योतिष के विषय में अलबरुनी जो कुछ भी लिखा है, उन सब बातों का विस्तृत विवरण यहाँ प्रस्तुत करें। उसकी गणना में कहीं-कहीं त्रुटिपूर्ण भी हो गई है फिर भी उसने इस विषय का न्यायपूर्ण विवरण देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उसने सूर्य के बारहों नामों को गिनाया है जैसे चैत्र के सूर्य को विष्णु, बैशाख के सूर्य को अर्यमा, विवस्वन ज्येष्ठ के सर्य को और

इसी प्रकार क्रमशः आषाढ़ श्रावण इत्यादि के सूर्य को अंश, पर्जन्य, वरुण, इन्द्र, धातृ, मित्र, पुषन्, भाग, तथा त्वष्ट्रि कहते हैं। बारह राशियों के आधार पर बारह मासों के शुद्ध नामों को भी उसने दिया है। जैसे अश्विनी के नाम पर आश्विन, कृत्तिका से कार्तिक, मृगशिर से मार्गशीर्ष, पुष्य से पौष, मघा से प्रारम्भ होने वाली राशि के मास का नाम माघ, पूर्वा फाल्गुनी से फाल्गुन, चित्रा से चैत्र, विशाखा से वैशाख, ज्येष्टा से ज्येष्ठ, पूर्वाषाढ़ से आषाढ़, श्रवण से श्रावण तथा पूर्वाभाद्रपद से भादवँ। ग्रहों के हिन्दू नामों की गणना भी उसने किया है।

आगे चल कर अलबरुनी कहता है कि हिन्दू छात्रों को यह जान कर गर्व होगा कि प्राचीन हिन्दू विद्वान पृथ्वी की आकर्षण शक्ति को जानते मानते थे। उसका कहना है कि हिन्दू लोगों की मान्यता थी कि जिस प्रकार पानी का धर्म है निचाई की ओर बहना वैसे ही पृथ्वी का धर्म है प्रत्येक वस्तु को केन्द्र की ओर खींचना। (अध्याय २६) पृथ्वी की गोलाई का ज्ञान भी हिन्दू ज्योतिषियों को था। उसने उन दो दिनों की भी चर्चा की है जिनमें दिन रात बराबर होते हैं। वैदिक काल में साल का सब से बड़ा दिन उत्तरी गोलार्द्ध में तब होता था जब सूर्य अश्लेषा पर आता था और धनिष्ठा पर होने से सब से बड़ी रात्रि होती थी परन्तु छठवीं शताब्दी में (बराहमिहिर के समय में) ये घटनायें कर्क तथा मकर की संक्रान्ति पर होती हैं अर्थात् २२ जून तथा २२ दिसम्बर को ये घटनायें होने लगीं।

प्राचीन विद्वानों को भारत के भूगोल का भी पर्याप्त ज्ञान था। वायु पुराण के आधार पर उसने तत्कालीन भारतीय प्रान्तों की सही-सही गणना की है। इसके उसने भारतीय गणित की चर्चा करते हुये कहा है कि "गणित में भारतियों का ज्ञान सारी दुनिया के लोगों से बढ़ा चढ़ा है। संसार की किसी भी जाति की गणना चार संख्याओं से आगे नहीं गई है, परन्तु हिन्दू विद्वानों ने इकाई के बाद अठारह अंकों में स्थान दिया है अर्थात् वे १,०००,०००,०००,०००,०००,००० को एक शब्द में

कह देंगे 'परार्द्ध'। तथा महाशंख की संख्या के लिए दाईं ओर एक शून्य और बढ़ाना पड़ेगा।

उसने भारतीय लिपियों एवम् उनके स्थानों को भी गिनाया है। काश्मीर तथा बनारस में सिद्धमातृ की लिपि, मालवा में नागर लिपि प्रयुक्त होती है। इसी प्रकार भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मारवाड़ी, सैंधव, कर्णाट्, आन्ध्री, द्राविड़ी तथा गौरी लिपि से काम लिया जाता है। कहीं पर तालपत्र पर लिखा जाता है और कहीं भोजपत्र पर। एक अध्याय में उसने भारतीय आयुर्वेद का भी वर्णन किया है। उसके अनुसार आयुर्वेद कुछ विशेष लोगों की ही सम्पत्ति था और इस शास्त्र के साथ कितने ही अन्धविश्वास लिपटे हुये थे। रसायन क्रिया से वृद्धों को युवक बना देने की बातें करते वैद्य लोग दिखाई पड़ते हैं और इस प्रकार अज्ञान जनता को दोनों हाथों लूटते हैं। लालची राजाओं के लोभ ने उन्हें रासायनिक क्रिया से स्वर्ण बनाने की प्रक्रिया में कई बार इन वैद्यों का शिकार बनाया है। कीमियागीरी की इस क्रिया में कितने ही अमानवीय कर्म करने कराने का विधान था। (यह न भूलना चाहिये कि आज तक किसी ने भी सोना बनाने में सफलता नहीं प्राप्त की है)।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी के भारत एवम् तत्कालीन योरप में अत्यधिक साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों ही देशों में धार्मिक क्रिया कलापों पर पुरोहितों (ब्राह्मणों एवम पादरियों) का आधिपत्य हो गया था और दोनों ने अपनी सुविधा के लिये जन साधारण का शोषण प्रारम्भ कर दिया था। दोनों ही देशों के राजाओं तथा सामन्तों ने अपनी युद्ध प्रवृत्ति का बड़ा ही दुरुपयोग किया। ये दोनों ही श्रेणियाँ अपने अपने देश के अन्धकारमय युग से निकल कर देश पर छा गये थे। दोनों ही देशों की प्राचीन भाषाओं को हटाकर नई भाषा में प्रचलित की गयी थी। दोनों ही देशों में जन साधारण को अज्ञान के गर्त में ढकेल कर उन्हें शानदार उत्सवों, नाना प्रकार के व्रतों और त्यौहारों में उलझा दिया गया था। दोनों ही देशों के राष्ट्रीय जीवन के दीप निर्वाणोन्मुख थे।

इस स्थल पर आकर दोनों देशों का साम्य समाप्त हो जाता है। योरप में

बैरन्स अधिक समझदार थे वे तुरन्त जब तब साधारण में हिलमिल कर जनयुद्धों में भाग लेने लगे परन्तु भारतीय राजा अपने को वर्ण व्यवस्था के भँवर से न निकाल सके। इसलिये जहाँ योरप के सामन्तों ने योरप के जन साधारण में एक नई शक्ति का संचार किया वहाँ भारतीय राजाओं ने यहाँ के ऊपर वर्णों को राजनीति से इतना विमुख एवम् उदासीन कर दिया कि बार बार के आक्रमण जनित दुर्दशाओं में फँस कर भी भारतीयों की आत्म चेतना न लौटी, उनकी उदासीनता न टूटती थी और नहीं ही टूटी। उनके मन्दिर तोड़ डाले गये, नगर के नगर उजाड़ कर दिये गये, उन्होंने जंगली जीवन बिताया, जिन मूर्तियों के आगे नित्य श्रद्धा से सर झुकाते थे उन्हें भी यवनों की ठोकरों ने तोड़ डाला पर बाहरे हिन्दू जाति, तेरी निद्रा टूटने को कौन कहे तूने करवट भी तो नहीं बदला।

भारतीयों ने अपनी वर्णव्यवस्था का आवश्यकता से अधिक दन्ड सहा है। बारहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक हिन्दू जाति का इतिहास शून्य मात्र से लिखा गया है। जो आर्य आज से चार हजार वर्ष पूर्व ही सभ्य जीवन बिता रहे थे उन्हीं की सन्तानें आज सर्वाधिक भूमिनत एवम् दीन हैं। छः शताब्दियों की सुषुप्ति के पश्चात् अब (सन् १८९० ई०) फिर जन जागरण के संकेत दिखाई पड़ने लगे हैं। इस प्रकार की बातें होने लगी हैं कि धर्म की मृत धाराओं को छोड़ कर जो कुछ पवित्र है, उत्साहजनक एवम् जीवन प्रद है उसे ही अपनाया जाना चाहिए। इस प्रकार के प्रयत्न चल रहे हैं कि सामाजिक संगठन इस भांति का हो कि वह राष्ट्रीय संगठन बन जाये। जन साधारण में राष्ट्रीय जागृति के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं।

सम्भव है कि भारतीयों में जनजागरण लाने का श्रेय अंग्रेजों को ही मिले। बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में यूनान एवम् रोम ने अपने को ढाल लिया है और वे दिनों दिन उन्नति करते जा रहे हैं। इन्हीं अंग्रेजों की छत्र छाया में अमरीका तथा आस्ट्रेलिया की सरकारें स्वायत्त शासन का उपभोग कर रही हैं। सभ्यता

का प्रभाव और उन्नति का प्रकाश कभी गंगातट को भी छूकर अनुप्रमाणित करेगा। यदि यूरोप की सभ्यता, धर्म एवम् विज्ञान की सहायता से भारतीयों में तनिक राष्ट्रीय जागृति आयी तो हम समझ लेंगे कि भारत को अपने प्राचीन कृत्य का पुरस्कार पूर्णतः मिल गया। *

* पाठकों को यह सदा स्मरण रखना होगा कि पुस्तक मूल रूप में सन् १८८० ई० में छपी थी।